॥ श्रीः ॥

चौखम्बा संस्कृत भवन ग्रन्थमाला
२७

श्रीधनञ्जयविरचितं

दशरूपकम्

श्रीधनिककृतावलोकटीकासहित-'प्रदीप'-हिन्दी-
व्याख्यया समलङ्कृतम्

डॉ० केशवराव मुसलगाँवकरः
एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी) डी० फिल्, साहित्यरत्न

सम्पादक-भूमिकालेखकश्च

डॉ० राजू (राजेश्वर) शास्त्री मुसलगाँवकरः
एम० ए०, पीएच्० डी०, साहित्याचार्य:
फैलो – आई० सी० पी० आर०
दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी - ५



चौखम्बा संस्कृत भवन
संस्कृत, आयुर्वेद एवं इंडोलाजिकल पुस्तकों के प्रकाशक एवं विक्रेता
पोस्ट बाक्स नं० ११६०
चौक, (दि बनारस स्टेट बैंक बिल्डिंग)
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी
मुद्रक : चारु प्रिंटर्स, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०५७
मूल्य : रु० १७५/-
[redacted] रु. [redacted]

फोन : ३२०४१४

ISBN-81-86937-17-X

प्रधान कार्यालय :-

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

पोस्ट बाक्स नं० ११३६
के ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन (गोलघर समीप मैदागिन)
वाराणसी – २२१००१ (भारत)
फोन : ३३३४४५

सहयोगी संस्था :-

चौखम्भा पब्लिकेशन्स्

४२६२/३, अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली – ११० ००२ (भारत)
फौन : (कार्यालय) ३२६८६३९, (आवास) ७८७६१३३

कम्प्यूटर टाइपसेटर –
मालवीय कम्प्यूटर्स, लंका, वाराणसी, फोन - ३१५३१८

The
Chaukhambha Sanskrit Bhawan Series
27



DAŚARŪPAKA

of

DHANAÑJAYA

With "**Avaloka**" Sanskrit commentary of **Dhanika**
Edited with "**Pradīp**" Hindi Commentary

By

Dr. KEŚAVARĀO MUSALGĀONKARA
M.A., D. Phil, Sahityaratna

Introduction By

Dr. RĀJŪ (RĀJEŚWAR) ŚĀSTRĪ MUSALGĀONKARA
M.A., Ph. D., Sahityacharya, Fellow - I.C.P.R.,
Dept. of Philosophy, Banaras Hindu University
Varanasi - 5

CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN
Sanskrit, Āyurveda & Indological Publishers
and Distributors
POST BOX NO. 1160
Chowk, (The Banaras State Bank Building)
Varanasi - 221001 (INDIA)

Post Box No. 1160
Chowk (The Banaras State Bank Building) Varanasi.
Phone : 320414

Edition : First, 2000

ISBN-81-86937-17-X

Head Office :

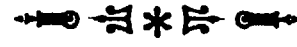
CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Post Box No. 1139
K 37/116, Gopal Mandir Lane (Golghar Near Maidagin)
VARANASI - 221001
Phone : 333445

Sister Concern :

CHAUKHAMBHA PUBLICATIONS
4262/3, Ansari Road, Darya Ganj,
New Delhi - 110 002 (INDIA)
Phone : [0] 3268639, [R] 7876133

Computer Type-Setter :
Malaviya Computers, Lanka, Varanasi, Ph. 315318

समर्पणम्



जिन्होंने ऐहिक-आमुष्मिक फल की प्राप्ति हेतु
मुझे सुरभारतिविद् बनाया
उन
श्रीहरिवदाराध्य पूज्य माता-पिताजी के
श्रीचरणों में
सादर-सविनय

- केशवराव मुसलगाँवकरः

प्राक्कथन

शंकया भक्षितं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
सा शंका भक्षिता येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

समय बड़ा बलवान् है, देखिए न, जिस यज्ञ कर्म के लिये वेद प्रवृत्त हुए वे यज्ञ भी काल पर ही निर्भर हैं।

'वेदास्तावदयज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञाः प्रोक्तास्तेतु कालाश्रयेण ।'

उस काल–समय की इच्छा के बिना कोई कार्य सम्पादित नहीं होता। प्रत्येक कार्य का समय निश्चित होता है। निश्चित समय के पूर्व कभी नहीं। इतना निश्चित है। चौखम्भा संस्कृत संस्थान के प्रधान श्री मोहनदास जी ने धनञ्जय के 'दशरूपक' की संस्कृत–हिन्दी व्याख्या करने का कार्य आज से दस वर्ष पूर्व मुझे सौंपा था। तदनुसार ये दोनों व्याख्याएँ कई वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हो जानी चाहिये थी, किन्तु समय अनुकूल न होने से ऐसा न हो सका आज भी केवल हिन्दी व्याख्या को प्रकाशक महोदय ने प्रकाशित किया है।

नाट्यशास्त्र के इतिहास में रस सिद्धान्त का प्रत्यक्ष समर्थन करने वाला स्वतन्त्र चिन्तक **धनञ्जय** का **'दशरूपक'** एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। भरत के नाट्यशास्त्र के रूपक विषयक सिद्धान्तों का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवेचन इसकी अपनी विशेषता है। यह ग्रन्थ उत्तरवर्ती नाट्यशास्त्र तथा रसशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थ – **भाव प्रकाशन, प्रतापरुद्रीय, एकावली, साहित्यदर्पण, नाट्यदर्पण, रसमंजरी** – आदि का उपजीव्य रहा है। ये ग्रन्थ इसकी प्रभविष्णु प्रभा को किञ्चित भी मलीमस नहीं कर सके। वस्तुतः यह नाट्य ग्रन्थ **धनञ्जय** एवं **धनिक** बन्धुद्वय की अमोघसाधना समवेत अम्लान प्रतिभा द्वारा पल्लवित किया हुआ रसपूर्ण एवं मधुर फल है। ऐसे नाट्यशास्त्रीय मौलिक विचारधारा के ग्रंथ की व्याख्या मैं अपने अग्रज **म० म० डॉ० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर** के सान्निध्य एवं उनके वरदहस्त के प्रभाव से आज नदीष्ण विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत कर सका हूँ। यह मेरे गुरुजन माता–पिता का कृपा–प्रसाद ही समझा जाना चाहिए।

छात्रों, शोध–छात्रों, तथा अध्यापकों को अधिक से अधिक सहायता पहुँचायी जा सके इस बात को ध्यान में रखते हुए यह संस्करण तैयार किया गया है। कारिका, वृत्ति तथा उदाहरणों की व्याख्या करने में मूल का सदा ध्यान रखने की दृष्टि से मूल को मोटे–काले अक्षरों में तथा वृत्ति को सफेद–बारीक अक्षरों में रखा गया है।

परामर्श में वृत्तिभाग के शास्त्रार्थपूर्ण स्थलों को अभिनवगुप्त की **'भारती'** सहित विभिन्न सन्दर्भ ग्रंथों के आलोक में मीमांसापरक दृष्टि से स्पष्टरूप से समझाने की चेष्टा की गई है। वस्तुतः यह ग्रन्थ मीमांसक मूर्धन्य कुमारिल सम्प्रदाय के आधार पर ही लिखा गया है ।

यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यह है कि अनलंकृत व्याख्या को सजाने एवं उसे सर्वांगपूर्ण बनाने में मेरे कनिष्ठ पुत्र **डॉ० राजेश्वर शास्त्री मुसलगाँवकर,** एम० ए०, पीएच० डी०, साहित्याचार्य ने अपनी विदग्धता से प्रारम्भ में शोधपरक भूमिका के साथ इस संस्करण को **'विशेष परामर्श'** आदि से सज्जित करने का वैसा ही अथक परिश्रमपूर्वक कार्य किया है जैसे कोई निपुण कलाकार सूखे काष्ठ को अपनी कला से संशोधित कर सुन्दर, आकर्षक एवं सर्वाङ्गपूर्ण बनाकर उपयोगी बना देता है। एतदर्थ वह मेरे आशीर्वाद का पूर्ण अधिकारी है। ईश्वर उसका अभ्युदय करें। ईश्वर से यही प्रार्थना है। अतः व्याख्या और परामर्श में दो–भिन्न शैलियाँ देखने को मिलेंगी।

दीर्घ काल के पश्चात् 'दशरूपक' को प्रकाशित होते देखकर मेरे मित्रों ने मुझसे पूछा कि 'इस ग्रंथ में आपने क्या नवीन बताया है? इस पर मुझे **अभिनवभारती** में कथित एक प्रसङ्ग का स्मरण हो आया, वह यह है – **रसाध्याय** में लोल्लट आदि पूर्व आचार्यों के मतों का अभिनवगुप्त ने परीक्षण कर संशोधन किया, इस पर पूर्वपक्षी अभिनव से पूछते हैं – **''उच्यतां तर्हि परिशुद्धं तत्त्वम् ।''** यह सुनकर अभिनव ने उत्तर दिया– **'उक्तमेव हि तत् मुनिना, न तु अपूर्वं किञ्चित् ।'** ऐसा ही यहाँ भी है। इस ग्रंथ में जो कुछ बताया गया है, वह पूर्व सूरियों का ही कहा हुआ है। मैंने तो उनके कथन का केवल अनुवाद किया है। मैंने अपनी कुछ नई बात नहीं कहा है।

दशरूपक के इस संस्करण को वर्तमानरूप देने में संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी के कतिपय संस्करणों से प्रभूत सहायता उपलब्ध हुई है। इसके अतिरिक्त **साहित्यदर्पण, नाट्यदर्पण, भावप्रकाशन, ध्वन्यालोक–लोचन** आदि के उपलब्ध संस्करणों से भी यथेच्छ सहायता ली गई है। अतः उन अनुवादक, व्याख्याकार भूमिका लेखक आदि का मैं हृदय से आभार मानता हूँ।

चौखम्भा संस्कृत संस्थान–वाराणसी के सुयोग्य अनुभवी संचालक श्री मोहनदास जी गुप्त इसे प्रकाशित कर छात्रों एवं विद्वानों तक पहुँचा रहे हैं – एतदर्थ उन्हें भूरिशः धन्यवाद देते हुए उनके आयुरारोग्य की कामना भूतभावन विश्वनाथ से करता हूँ। साथ ही श्री रामरञ्जन मालवीय [Malaviya Computers] को हृदय से आशीर्वाद देता हूँ, तथा उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ ।

दीपावली १९९९

विदुषां वशंवदः

केशवराव मुसलगाँवकरः

जनक गंज,
बक्षी की गोठ, लश्कर (ग्वालियर)
म० प्र० – ४७४००१
दूरभाष संकेत – ३२३६५७



विषयानुक्रमणिका

दशरूपक

तृतीय प्रकाशः

{रूपकों के प्रकार}



भूमिका

सरितामिव प्रवाहा: तुच्छा: प्रथमं यथोत्तरं विपुला: ।
ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्या: ।।

{नदी के प्रवाह के समान शास्त्र का भी प्रवाह प्रारंभ में छोटा—सा होता है किन्तु बाद में वही बढ़ते—बढ़ते विशालरूप धारण कर लेता है। ऐसे ही शास्त्र लोकादर के भाजन होते हैं।}

नाट्यशास्त्र की परम्परा

भारतवर्ष विश्व के उन देशों में से एक है जहाँ सांस्कृतिक परम्पराएँ सर्वाधिक प्राचीन हैं। अतएव हमारा वैदिक—साहित्य विश्व के वर्तमान साहित्यिक ग्रन्थों मे उतना ही अधिक प्राचीन है। आज के सुसंस्कृत राष्ट्रों को जिन कलाओं का ज्ञान प्राप्त है, उनमें से अधिकांश कलाएँ वैदिकयुग में प्रसिद्ध थीं। सङ्गीत, नृत्य, काव्य तथा नाटक कलाओं की रचना विधियों का अस्तित्व वैदिकयुग में था, क्योंकि वेदों में इन कलाओं, कलाकृतियो एवं उनके कलाकारों का उल्लेख किया गया है। अत: हमारी कलापरम्परा भी उतनी ही प्राचीन है। वैदिक साहित्य के पश्चात्वर्ती वात्स्यायन के कामसूत्र में चौसठ कलाओं की जो सूची उपलब्ध है उसमें नाट्यकला का भी उल्लेख देखने को मिलता है। ऋग्वेद में हमें ऐसे सूक्त प्राप्त होते हैं जिनमे संवाद अथवा कथोपकथन हैं। ये सूक्त सबसे अधिक प्राचीन प्रणाली के रूप में हमें प्राप्त होते हैं जिनका आधार ग्रहणकर परवर्ती नाट्यकृतियों की रचना संभव हुई थी। यजुर्वेद के समय में तो नाट्यकला का विकास (भले ही वह आदि रूप में था) पर्याप्त मात्रा में हो चुका था (इसे हम आगे देखेंगे) ऐसा परिलक्षित होता है।

भरतपूर्वकालीन संस्कृत नाटकों की परम्परा

नाटक और उनके रङ्गमञ्चीय—प्रयोग के विषय में भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध विवेचन, निश्चय ही तत्कालीन उपलब्ध संस्कृत नाटकों पर तथा उनके बार—बार होने वाले प्रयोगों पर आधारित है, ऐसा समझना कोई क्लिष्ट या निराधार कल्पना नहीं होगी। लेखक के सम्मुख विभिन्न कृतियों के उदाहरणों के अभाव में ऐसे सर्वाङ्गपूर्ण नाट्यशास्त्र की निर्मिति केवल कल्पना के आधार पर नहीं हो सकती यह निर्विवादित सत्य है। वस्तुत: (काव्य) नाट्य—क्रिया एक कला है। इसलिए (काव्य) नाट्य—शास्त्र एक कला का शास्त्र है। कला का शास्त्र प्रयोग प्रधान होता है तदनुसार (काव्य) नाट्यशास्त्र भी आरम्भ में प्रयोग प्रधान था। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र इसका स्पष्ट प्रमाण है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि नाट्य के प्रायोगिक उपक्रमों से ही नाट्यचर्चा का उदय होता है, क्योंकि (काव्य) नाट्य—चर्चा

(गुणदोष विवेचन और संशोधन) का उद्‌गमस्थल रसज्ञ 'सहृदय' की मनोभूमि में होता है। इस दृष्टि से तत्कालीन कवि समाज एवं ब्रह्मसभा में उपस्थित रहने वाला विदग्ध सहृदय दर्शक स्वयं भरत को ज्ञात–अनेक नाट्य कृतियों (जो आज काल कवलित होने से तथा भरत के नाट्यशास्त्र में उदाहरण रूप में उपन्यस्त न होने से ज्ञात नहीं है) का आलोचक तथा नाट्य सिद्धान्तों का प्रस्थापक भी रहा होगा। अत: निश्चय ही संस्कृत नाटकों की एक दीर्घ परम्परा भरत के पूर्व रही होगी, इसमें सन्देह के लिए अवकाश नहीं है। यह परम्परा किस प्रकार प्रस्थापित हुई अर्थात् संस्कृत नाटक की उत्पत्ति कब और कैसी हुई– इसका विचार अब उद्‌बोधक होगा।

नाट्योद्‌गम–नाट्यवेद

भारतीय परम्परा के अनुसार किसी भी नये शास्त्र के प्रवर्तन के समय उसका उत्स वेदों में देखा जाता है। वेद ज्ञान–स्वरूप है, उनमें त्रिकाल का ज्ञान बीज–रूप में निहित है। भारतीय मनीषी अपने किसी ज्ञान को अपनी स्वयं की उद्‌भावना नहीं मानते। 'नाट्य–वेद' की उत्पत्ति की कथा में भी यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इस प्रवृत्ति के अनुसार नाटक की उत्पत्ति का सम्बन्ध ब्रह्मा, विष्णु और महेश के साथ घनिष्ट रूप में जोड़ा गया है। नाट्यशास्त्र के आरम्भ में भरतमुनि ने ब्रह्मा[१] और महेश्वर की स्तुति इस कारण से की है क्योंकि उन्होंने ब्रह्मा को नाटक तथा शिव को नृत्य का जनक माना है। इस मत[२] का उल्लेख स्वयं अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के प्रथम श्लोक की व्याख्या करते हुए किया है।

भरत प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' के आरम्भ में (१, १, ४२) एक कथा वर्णित है। तदनुसार एक समय जब भरतमुनि शान्तभाव से बैठे हुए थे, आत्रेय प्रभृति मुनिगण उनके सम्मुख उपस्थित होकर प्रश्न करने लगे कि भगवन् ! आपने जिस वेद तुल्य 'नाट्य–वेद' का निर्माण किया है, वह किस प्रकार उत्पन्न हुआ है ? और किसके लिए बनाया गया है ? उसके बनाने का हेतु क्या है ? उसके कितने अङ्ग हैं ? उसका कितना परिमाण है ? और उसका प्रयोग किस प्रकार किया जाता है ? – इन सभी बातों को आप हमें कृपाकर विस्तारपूर्वक बतलाइये।[३] यह सुनकर भरतमुनि ने कहा– वैवस्वत मनु के समय त्रेता युग प्रारम्भ हुआ। लोगों में रजोगुण की बढ़ती प्रवृत्ति परिलक्षित होने लगी। फलत: काम तथा लोभवश लोग ग्राम्य–धर्म की ओर प्रवृत्त हो गए तथा ईर्ष्या और क्रोध से मदान्ध होकर वे सुख–दु:खों से अभिभूत होने लगे। लोक–पालों द्वारा प्रतिष्ठित जम्बूद्वीप देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नागों से समाक्रान्त होने पर (अर्थात् अनेक जातियों का प्रादुर्भाव होने पर), इंन्द्र प्रभृति देवताओं ने ब्रह्मदेव से आकर कहा कि हे पितामह ! हम ऐसा कोई **'क्रीड़नीयक'** या खेल चाहते हैं जो दृश्य भी हो और श्रव्य भी हो **''क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्''** – जो श्रवण के लिए मधुर एवं देखने को लिए सुन्दर हो, ऐसी क्रीड़ा हम चाहते हैं। जो वेद व्यवहार है वह शूद्र जाति को सिखाया नहीं जा सकता,

१. अभि० भा० भाग १–१, २. अभि० भा० भाग १–२

३. ना० शा० १।४।५।

अतएव आप समस्त वर्णो के योग्य किसी पाँचवे वेद की रचना कीजिए!"[१] यह सुनकर ब्रह्मा ने 'एवमस्तु' कहकर देवगणो को बिदा किया, चारो वेदो का समाधिस्थ होकर स्मरण किया और संकल्प किया कि मैं धर्म, अर्थ और यश का साधन, उपदेश युक्त, शास्त्रज्ञान से समन्वित, भावी जगत् के लिए समस्त कर्मो का अनुदर्शन कराने वाला, समस्त शास्त्रार्थो से युक्त, समस्त शिल्पों का प्रदर्शक, इतिहास[२] युक्त 'नाट्य' नामक वेद की रचना करूँगा।

नाट्यशास्त्र में इस बात का उल्लेख है कि ब्रह्मा ने नाट्यवेद की उत्पत्ति के समय नाट्यविधायक विविध तत्त्वों को विभिन्न वेदो और उनकी शाखाओं से ग्रहण किया था। उन्होंने **'ऋग्वेद'** से पाठ्य–अश ग्रहण किया, **'सामवेद'** से गीत का अश, **'यजुर्वेद'** से अभिनय और **'अथर्ववेद'** से रसो का संग्रह किया। इस प्रकार 'नाट्यवेद' का निर्माण करने के पश्चात् ब्रह्मा ने इन्द्र को देवताओ के द्वारा इसका प्रयोग करने के लिए कहा, किन्तु इन्द्र ने अपनी असमर्थता प्रकट की। क्योंकि नाटक केवल अनुकरण मात्र नहीं है, वह उससे कहीं अधिक है। उसमे इच्छा, ज्ञान, और कर्म–शक्ति की नितान्त आवश्यकता होती है जो मनुष्य में निसर्गत है। देवताओं में उसका सर्वथा अभाव होता है। देवता सिद्धि दे सकता है, साधना नही कर सकता। नाटक साधना का विषय है।' इन्द्र की बात सुनकर ब्रह्मा ने इतिहासयुक्त 'नाट्यवेद' भरतमुनि को ग्रहण करने के लिए कहा। भरतमुनि ने उसे ग्रहणकर अपने सौ पुत्रों को उसकी शिक्षा दी। इस प्रकार इतिहास 'नाट्यवेद' में और जोड़ा गया। नाट्य के आवश्यक तत्त्वों – **पाठ्य, गीत, अभिनय** और **रस** – के साथ कथानक का योग होने पर शास्त्र के अनुसार नाटक का प्रथम प्रयोग उक्त पाँच तत्त्वो को लेकर ही सम्पन्न हुआ । भरतमुनि ने इसमें केवल तीन वृत्तियों – **भारती, सात्वती** और **आरभटी** का ही योग किया था। भरत पुत्रों ने उक्त तीन वृत्तियो का प्रयोग सहजगत्या कर लिया किन्तु चौथी **कैशिकी** वृत्ति का प्रयोग वे नहीं कर सके। क्योंकि इस वृत्ति के प्रयोग मे सुकुमार साज सज्जा, स्त्री सुलभ चेष्टाएँ, कोमल शृङ्गारोपचार (२२–४७) की नितान्त आवश्यकता थी। ब्रह्मा ने इस कमी का अनुभव किया और नाट्य को सुन्दर बनाने के लिए अप्सराओं की सृष्टि की। इस प्रकार 'नाट्य वेद' में स्त्रियों का प्रवेश हुआ।

इन्द्र के ध्वजारोपण के अवसर प्रथम बार उक्त चारों वृत्तियों से संयुक्त नाटक खेला गया, इसे देखकर देवगण प्रसन्न हुए और भरतमुनि को अनेक नाट्योपयोगी उपकरण दिए और रक्षा करने का आश्वासन भी दिया। इस नाट्यप्रयोग में देवों की

१. ना० शा० १।७।२०।

२. **'इतिहास** शब्द को भी प्राचीन काल में 'वेद' की संज्ञा से अभिहित किया जाता था। इतिहास से युक्त होने के कारण ही 'नाट्यशास्त्र' भी पाँचवा वेद माना गया है। एतदर्थ प्रमाणों के लिए देखिए – **'छान्दोग्योपनिषद्'** (७।७) **'सुत्तनिपात'** (२।७) **कौटिल्य का अर्थशास्त्र** तथा **विन्टरनित्स** कृत भारतीय साहित्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३१३।

विजय और दैत्यों की पराजय प्रदर्शित की गई थी। इसमें अपने सम्मुख ही देवताओं द्वारा किये हुए अपने पराजय को देखना दैत्यो को रुचिकर नहीं हुआ। उन्हाने ब्रह्मदेव के सम्मुख नाट्यप्रयोग के प्रति अपना क्षोभ प्रकट किया। इस पर ब्रह्मदेव ने कहा—मुझे किसी विशिष्ट वर्ग का जय—पराजय प्रदर्शित करना इष्ट नहीं है। इस सृष्टि में यदि शुभ है तो अशुभ भी है। इस लोक के लोगों का चरित्र न तो एक सरलरेखा की तरह होता है और न उनकी अवस्थाएँ ही एकाकार होती हैं। कोई यहाँ सांसारिक सौख्य की चरमसीमा पर आनन्द का उपभोग करता परिलक्षित होता है तो कोई यहाँ दु:ख—कष्टों के अथाह गर्त में पड़ा हुआ दिखाई देता है। वस्तुत: यह संसार विचित्रता का एक विलक्षण आगार है। यहाँ सुख तथा दु:ख, हर्ष तथा विषाद, प्रसन्नता तथा उदासीनता—नाना प्रकार की मानसिक विकृतियों की विशाल परम्परा ही दृष्टिगोचर होती है। ऐसे वैचित्र्यपूर्ण लोकचरित का अनुकरण ही **'नाट्य'** है। ब्रह्मदेव ने दैत्यो से कहा— दैत्यों ! नाट्य मे सम्पूर्ण त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन होता है। अतएव, इसमें कहीं धर्म देखने को मिलेगा तो कहीं क्रीड़ा, कहीं अर्थ होगा तो कहीं शम। धर्म में प्रवृत्त लोगों का धर्म, कामसेवियों का काम, दुर्विनीत लोगों का निग्रह, मत्तो का दमन, — इस प्रकार त्रैलोक्य में जिसका जिस प्रकार का वृत्त देखा जाता है वैसा ही वह नाट्य में प्रस्तुत किया जाता है। अनेक प्रकार के भावो से सम्पन्न एवम् नाना अवस्थाओ से युक्त लोकवृत्तानुकरण नाट्य में मिलेगा ।[१] संक्षेप में सर्वसामान्य भावनाओं का सेर्वसामान्यरूप से चित्र अंकित करना ही मेरा अभीष्ट है। इस नाट्य में विशिष्ट या वैयक्तिक कुछ भी नहीं है। इसलिए देवताओं पर क्रोध नही करना चाहिए। ब्रह्माजी ने इस प्रकार दैत्यों की भ्रान्ति दूर की। तत्पश्चात् नाट्य यथावत चलता रहा।

किम्वदन्ती (कथा) का निष्कर्ष

'नाट्यवेद' के भूतल पर अवतरण की कथा कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। **प्रथम** यह कि यद्यपि इसके मूलतत्त्व — **पाठ्य, गीत, अभिनय** और **रस** — वेदों से ही गृहीत हैं, तथापि यह 'नाट्यवेद' स्वतन्त्र वेद है। और वह स्वयं अपना प्रमाण है अर्थात् अपनी प्रामाणिकता के लिए वह किसी अन्य प्रमाण का मुखापेक्षी नहीं है। **दूसरा** यह कि यह वेद वेदों की तरह केवल ऊँची जातियों के लिए ही नहीं है, अपितु यह सार्ववर्णिक है। {वस्तुत: प्रतिपादितरूप में नाट्यशास्त्र को प्रतिष्ठित चार वेदों की गरिमा प्रदान करने के लिए ही इसे पाँचवा नाट्य वेद कहा गया है} **तीसरा** यह कि 'नाट्यवेद' ज्ञान स्वरूप है, इसमें त्रिकाल का ज्ञान बीजरूप में सुरक्षित है। **चौथा** यह कि 'नाट्यवेद' का श्रुतित्व (नाट्यशास्त्र के दूसरे से पाँचवें अध्याय तक निर्दिष्ट) उसके विधियों—विधिकर्मों में निहित है। क्योंकि मीमांसकों के अनुसार श्रुति का तात्पर्य केवल विधि से है, जहाँ विधिलिङ् का प्रयोग होता है वही श्रुति होती है। नाट्यशास्त्र इन विधियों पर अधिक बल देता है। इसीलिए 'नाट्यवेद' एक स्वतंत्र पाँचवां वेद है। **पाँचवाँ** यह कि वैदिक आचार और क्रिया परंपरा के प्रवर्तित होने के बहुत पश्चात् त्रेता युग में इस शास्त्र का निर्माण हुआ, जब जम्बूद्वीप देवता, दानव,

---

१. ना० शा० (१।१०६—०९, ११२) (१।११९—१२१)।

यक्ष, राक्षस और नागों से समाक्रान्त हो चुका था, अर्थात् भारतवर्ष में अनेक नयी जातियों का प्रादुर्भाव हो चुका था।

उक्त कारणों के अतिरिक्त यह किम्वदन्ती (कहानी) अन्य कारणों से भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। नाट्य को किस दृष्टि से देखना चाहिए, यह हम उक्त किम्वदन्ती से समझ सकते हैं। साथ ही कुछ अन्य बातें भी स्पष्ट हो जाती है, जो क्रमशः इस प्रकार हैं –

१. साहित्यकार के आवश्यक गुण

नाटयवेद के ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग की शक्ति साहित्यकार में होनी चाहिये। अन्य प्रकार से देवतागण श्रेष्ठ तो अवश्य थे, किन्तु नाट्य को धारण करने के लिए उनमें आवश्यक गुण नहीं थे। क्योंकि देवता केवल भोग–योनि है। उस योनि में क्रिया शक्ति का नितान्त अभाव रहता है, जबकि मनुष्य में ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग की शक्ति होती है। अर्थात् कुशलता (विवेचक शक्ति) वैदग्ध्य, प्रगल्भता तथा जितश्रमता (आलस्य का अभाव) – ये गुण एक साहित्यकार में होने चाहिये। उक्त गुणों के न होने पर काव्य (नाट्य) का निर्माण नहीं हो सकता। केवल इतना ही नहीं, रसिकता भी प्राप्त नहीं हो सकती।

२. कैशिकी अर्थात् सौन्दर्यव्यापार

बिना कैशिकी के नाट्य अथवा काव्य नहीं हो सकता। "कैशिकी" ललित वृत्ति है। नाट्य का विषय कुछ भी हो, उसमें लालित्य का होना नितान्त आवश्यक है। भरत के नाट्य प्रयोग मे देवता और असुरो के युद्ध का वर्णन था। अर्थात् वह नाट्य का डिम या समवकार नामक भेद था, उसमे प्रधान रस वीर या रौद्र था, किन्तु उसमें कैशिकी आवश्यक थी। **कैशिकी का अर्थ है – सौन्दर्यव्यापार।**

अभिनवगुप्त के मत में –**"सौन्दर्योपयोगी व्यापारः कैशिकी वृत्तिः।"**[१] वे कहते हैं – नाट्य (काव्य) में जो कुछ भी लालित्य है वह सब कैशिकी के ही कारण है –**"एवं यत्किंचित् लालित्यं तत्सर्वं कैशिकी विजृम्भितम्।"** अनेक विद्वानों की धारणा है कि कैशिकी का शृङ्गार से ही सम्बन्ध है। किन्तु यह धारणा उचित प्रतीत नहीं होती। वस्तुतः उसका अन्य रसों से भी सम्बन्ध है। वीर अथवा रौद्र रस को आरभटी वृत्ति अभिव्यक्त करती है, किन्तु काव्य एवं नाटक में इन रसों की अभिव्यक्ति में जो सौन्दर्य या वैचित्र्य प्रतीत होता है वह कैशिकी जन्य होता है।[२] कोई भी रस क्यों न हो उसकी अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक अभिनय में वैचित्र्य एवं सौन्दर्य होना आवश्यक है। वह यदि उसमें निहित न हो तो रस की अभिव्यक्ति ही नहीं हो सकती । इसीलिए **अभिनवगुप्त** ने कहा है – **"इति सर्वत्र. कैशिकी**

---

१. अ० भा० १।४१।

२. रौद्रादिरसाभिव्यक्तौ अपि कर्तव्यतायां योऽभिनयः उपादीयते सोऽपि सुंदरवैचित्र्य–व्यामिश्रणया दुःश्लिष्टः अश्लिष्टो एव वा न रसाभिव्यक्ति हेतुर्भवति। (अ०भा० १।४४)

प्राणाः ।'' **भरतमुनि** ने भी कैशिकी को **''नृत्याङ्गहारसंपन्ना रसभाव– क्रियात्मिका''** कहा है, एवं उसकी प्रतीकस्वरूप अप्सराएँ **'नाट्यालंकारचतुर'** थीं ऐसा कहा है । **नाट्यालंकार का अर्थ है नाट्य वैचित्र्य हेतु ।**

३. नाट्य को हम किस दृष्टि से देखें

काव्य–नाटक दर्शक को किस दृष्टि से देखना चाहिये, यह भी उपर्युक्त कथा से ज्ञात होता है। नाटक में देवताओ द्वारा अपना पराजय देखकर दैत्य क्षुब्ध हो गये। नाटक के कर्ता ने हमारा प्रत्यादेश किया है, यह उनकी भ्रान्तिमूलक धारणा हुई। नाट्य का उन्होंने व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध जोड़ दिया। किन्तु ब्रह्मा ने उन्हे सत्य दृष्टि दी। नाट्य तो देवताओ का महत्त्व भी नहीं बढ़ाता और न हि दैत्यों का अधिक्षेप करता है। त्रैलोक्य में जो लोकचरित देखा जाता है, उसी का वह अनुकरण (अनुव्यवसाय) है। 'नाट्य' व्यक्ति विशेष की अनुकृति न होकर अवस्था की अनुकृति है। इसी हेतु **नाट्य** को **अनुव्यवसाय** कहा गया है। लोक में प्रसिद्ध अवस्था दर्शाने के लिये व्यक्ति केवल प्रतीकरूप में ग्रहण किये जाते हैं। क्योंकि बिना प्रतीक के लोक जीवन के भाव एवं अवस्थाएँ अभिव्यक्त ही नही हो सकती। अतः नाट्य मे व्यक्त अवस्थाओं का आस्वादन व्यक्तिनिरपेक्ष होकर ही करना चाहिये। नाट्यगत अवस्थाओ की व्यक्ति निरपेक्षता रस के आस्वादन का मूल तत्त्व है और यह त्रिकाल सत्य है।

४. नाट्य–लेखक के लिए आवश्यक सतर्कता

भरत के विचार में जिस प्रकार सहृदय–दर्शक को नाट्य देखते समय व्यक्तिनिरपेक्ष दृष्टि रखनी चाहिये उसी प्रकार कवि को भी अपनी नाट्य–कृति में विशिष्ट व्यक्ति को अंकित न करते हुए व्यक्तिनिरपेक्ष अवस्था का ही अङ्कन करना चाहिये। कीर्ति–यश–लाभ के मोह में वह विशिष्ट व्यक्ति का चित्रण करता है। इस मोह का उसे दमन करना चाहिये। अन्यथा उसका अधःपतन होता है। इसका संकेत भरतमुनि ने **'नटशाप'** की आख्यायिका में दिया है।

५. लोक स्वभाव की अभिनयाभिव्यक्ति ही नाट्य है

नाट्य से तात्पर्य है – भावों तथा अवस्थाओं की अनुकृति। इस अनुकृति में सौन्दर्य व्यापार का योग आवश्यक है। लोक स्वभाव जब सौन्दर्यव्यापार के द्वारा अभिव्यक्त होता है तब वह नाट्य होता है। भरतमुनि ने कहा है –

योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।
अङ्गाद्यभिनयोपेतः नाट्यमित्यभिधीयते ।। (१।११९)

उक्त श्लोक में कथित लोकस्वभाव में भाव एवं अवस्था का अन्तर्भाव होता है, तथा सौन्दर्य व्यापार अभिनय से संपन्न होता है। **अभिनवगुप्त** के अनुसार नाट्य का फल लोक स्वभाव का दर्शन है और उसका एकमात्र साधन अभिनय ही है। अतः **भरतमुनि** ने कहा है –

'अनेकभेदबहुलं नाट्यस्मिन् (अभिनये) प्रतिष्ठितम् ।' ८।८

भरतमुनि और उनका नाट्यशास्त्र

भरत का **'नाट्यशास्त्र'** नाट्यशास्त्र पर सबसे प्राचीन मुद्रित ग्रंथ आज (३६ या ३७ अध्यायों में) उपलब्ध है। यह केवल नाट्यशास्त्र का ही नहीं, अपितु इसे अलङ्कार शास्त्र, सङ्गीत, नृत्य तथा नाटक का भी प्राचीनतम और प्रामाणिक पथ प्रदर्शक ग्रंथ यदि कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसके पूर्व हम देख चुके हैं कि ब्रह्मा ने नाट्यकला को जन्म दिया था। नाट्य कला विषयक यह ज्ञान मौखिक परम्परा के रूप में ही दीर्घकाल तक चलता रहा होगा। परन्तु आज प्राप्त होने वाले नाट्यशास्त्र ग्रथ के सङ्कलित किए जाने के पूर्व, ऐसा कहा जाता हैं कि इस नाट्यशास्त्रीय ज्ञान को 'ब्रह्मभरत' के नाम से सङ्कलित किया गया था। यह भी ज्ञात होता है कि **शारङ्गदेव** ने सात कपालो (रागाङ्गों) के दृष्टान्तो को इसी ग्रंथ से ग्रहण किया था। 'कपालानाम् क्रमाद् ब्रूमो ब्रह्मप्रोक्ताम् पदावलीम्'।[१] **अभिनव भारती** में भी इस कृति का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त भरतमुनि ने स्वयं अपने नाट्यशास्त्र के प्रथम श्लोक में इस ज्ञान परम्परा का उल्लेख यह – **'ब्रह्मणा यदुदाहृतम्'** कहकर किया है।

वर्तमान मुद्रित नाट्यशास्त्र के पूर्व दो अन्य ग्रंथों **'सदाशिवभरत'** नामक और **'आदिभरत'** नामक–का भी पता चलता है। 'आदिभरत' मे **शारदातनय** के अनुसार बारह हजार श्लोक थे, जिसे 'द्वादश साहस्री' कहा जाता है। इस प्रकार हम दखते हैं कि वर्तमान मुद्रित नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व नाट्यशास्त्र सम्बन्धी तीन ग्रंथ– ब्रह्मा, शिव एवं भरत–के नाम से उपलब्ध थे अभिनव भारती में (भाग १–८) **'मतत्रय'** प्रयुक्त शब्द इनकी ओर ही संकेत करता है।

सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र मुद्रित होने के पूर्व उसके कतिपय अध्यायों के कई लघु संस्करण प्रकाशित हुए। **'हाल'** ने सन् १८६५ में अपने सम्पादित 'दशरूपक' के परिशिष्ट में नाट्यशास्त्र के १८ वें, २० वें और ३४ वें अध्याय का प्रकाशन कराया था। **पी० रेगनाड** ने भी नाट्यशास्त्र के १४ वें और १५ वें अध्याय और सन् १८८४ में **'रेटोरिके संस्कृते'** में ६वें और ७वें अध्याय का प्रकाशन कराया। **'निर्णय सागर'** प्रेस से काव्यमाला सीरीज में ३७ अध्यायों का सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र प्रकाशित हुआ और फिर उसके पश्चात् अर्थात् सन् १९३९ में काशी में **पं० बटुकनाथ शर्मा** और **पं० बलदेव उपाध्याय** ने काशी संस्कृत सीरीज चौखम्भा से एक दूसरा ३६ अध्यायों का संस्करण प्रकाशित कराया। इसी प्रकार **श्री रामकृष्ण कवि** ने अभिनवगुप्त की महत्वपूर्ण टीका 'अभिनवभारती' के साथ नाट्यशास्त्र को 'गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज' में प्रकाशित कराया। हाल ही में चौखम्भा संस्कृत संस्थान ने **पं० बाबूलाल शुक्ल** द्वारा सम्पादित नाट्यशास्त्र प्रकाशित किया है। उक्त नाट्य शास्त्र के विभिन्न संस्करणों के रूप में, पाठ भेदों, अध्यायों तथा उनकी श्लोक संख्या में बहुत अन्तर दिखाई देता है। फिर भी इतना तो अवश्य है कि भरत का यह प्राचीनतम ग्रंथ अपने में अलङ्कार शास्त्र, सङ्गीत, नृत्य तथा नाटक–सभी को समाये हुए है। इसमें ३७

---

१. सङ्गीतरत्नाकर, अ० १, प्रकरण ८–१४।

अध्याय हैं। विद्वानों की धारणा है कि इसके ३६ अध्याय प्राचीन हैं। ३६ अध्याय वाला संस्करण अधिक विश्वसनीय माना जाता है, क्योंकि अभिनवगुप्तपाद ने स्वयं इसे **'षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्.....'** कहा है। अतः विद्वानों के अनुसार इसका ३७ वॉ अध्याय बाद में जोड़ा गया है। संक्षेप में इस ग्रंथ की विषय वस्तु इस प्रकार है – इसका **'नाट्योत्पत्ति'** नामक प्रथम अध्याय नाट्य की उत्पत्ति का विवेचन प्रस्तुत करता है। **द्वितीय अध्याय** में नाट्यगृह—अर्थात् प्रेक्षागृह आदि के निर्माण विधि का वर्णन है। **तृतीय अध्याय** में रङ्गदेवता की पूजा का संविधान वर्णित है। **चतुर्थ अध्याय** में देवताओं के समक्ष अमृत—मन्थन तथा महादेव के सामने त्रिपुरदाह नामक रूपक के अभिनय की कथा वर्णित है। एवं ताण्डव नृत्य के प्रादुर्भाव और उसके शिक्षण का निरूपण है। **पञ्चम अध्याय** में पूर्वरङ्ग, नान्दी तथा प्रस्तावना का विवरण है। **षष्ठ अध्याय** में स्थायी भावों तथा रस आदि का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। **सप्तम अध्याय** में भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव तथा व्यभिचारी भावों का विस्तृत विवेचन किया गया है। **अष्टम अध्याय** में सात्विक, आङ्गिक, वाचिक तथा आहार्य—इन चतुर्विध अभिनयों का स्वरूप निरूपण किया गया है। **नवम अध्याय** से **द्वादश अध्याय** तक आङ्गिक अभिनय का पर्याप्त विवेचन देखने को मिलता है। **त्रयोदश अध्याय** में भारती आदि वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों का निरूपण किया गया है। **चतुर्दश—पञ्चदश** में वाचिक अभिनय का विश्लेषण है। **शोडष** में छन्द, नाट्यलक्षण, अलङ्कार, काव्य के दोष, तथा गुण आदि की चर्चा की गई है। **सप्तदश** मे भाषाओं के लक्षण है। **अष्टादश** में रूपको के लक्षण हैं। **एकोनविंश** और **विंश** अध्यायों में वस्तु सन्धि, सन्ध्यङ्ग तथा भारती आदि वृत्तियों के अङ्गों का विवेचन है। **इक्कीसवें अध्याय** में आहार्य अभिनय, **बाईसवें अध्याय** में युवतियों के अलङ्कार तथा नायिका की अवस्थाओं का निरूपण किया गया है। **तेईसवें अध्याय** में नारी की प्रकृति तथा **चौबीसवें अध्याय** में नायक—नायिका के प्रकारों का वर्णन है। २५ वें अध्याय में अभिनय सम्बन्धी निर्देश एवं नाट्योक्ति है। २६ तथा २७ वे अध्यायों में नाट्य प्रयोग है। २८ वें अध्याय में आतोद्य—प्रयोग तथा २९ वें अध्याय में आतोद्य विधान है। ३० वें अध्याय में सुषिर आतोद्य का विधान है। ३१—३२ वें अध्यायों में ताल—लय विश्लेषण है। ३३ वें अध्याय में गायक—वादक के गुण—दोषों का विवेचन किया गया है। ३४ वें अध्याय में मृदङ्गों का वर्णन तथा ३५ वें अध्याय में पात्रों की भूमिका की व्यवस्था है। ३६ वें अध्याय में पूर्वरङ्ग के विधान की कथा एवं ३७ वें अध्याय में नाट्यावतार तथा नाट्य महात्म्य है। यहीं नाट्यशास्त्र स्वर्ग से पृथ्वी पर कैसे आया यह बताया गया है।[१]

इस प्रकार, नाट्यशास्त्र ३७ अध्यायों में नाट्य सम्बन्धी सभी बातों की शास्त्रीय विवेचना एवं क्रियाविधि बताई गई है। **म० म० पी० वी० काणे** के विचार में

१. यह विषय सूची मुख्यतया बड़ौदा के संस्करण के आधार पर अंकित की गई है। अन्य संस्करणों में अध्याय, अध्यायों की श्लोक संख्या तथा विषय प्रतिपादन में पर्याप्त भेद दिखाई देता है।

साहित्य शास्त्र की दृष्टि से ६, ७, १६, १८, २० तथा २२ वे अध्यायों का ही महत्व है। स्थूलतः यह विचार भले ही ठीक प्रतीत हो किन्तु यह नाट्य तथा काव्य के आन्तरिक सम्बन्ध पर आधारित न होने से समुचित नहीं है।

इसी प्रकार भरत प्रणीत नाट्य शास्त्र के विषय में चर्चित एक अन्य मत का यहाँ उल्लेख करना भी आवश्यक है। कतिपय विद्वानों की यह धारणा है कि उपलब्ध नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत न होकर भरत का कोई शिष्य था। यह विचार आचार्य अभिनवगुप्त के समय में प्रचलित था। आचार्य अभिनवगुप्त ने उक्त धारणा का स्पष्ट शब्दों में खण्डन किया है, साथ ही यह सिद्ध भी किया है कि **नाट्यशास्त्र** भरतमुनि की ही रचना है। अपने खण्डन का उपसंहार करते हुए **अभिनवगुप्त** ने इन पंक्तियों को लिखा है –

"एतेन सदाशिवब्रह्मभरतमतत्रयविवेचनेन ब्रह्ममतसारता प्रतिपादनाय मनत्रयी–सारासारविवेचनं तद्ग्रन्थखण्डप्रक्षेपेण विहितमिदं शास्त्रम्, न तु मुनिरचितमिति यदाहुर्नास्तिकधुर्योपाध्यायास्तत्प्रत्युक्तम् ।"

नाट्यशास्त्र का रचनाकाल

नाट्यशास्त्र के रचनाकाल के विषय में विद्वानों का मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान् इसका समय ईस्वीं पूर्व प्रथम या द्वितीय शतक मानते हैं। **कीथ** इसका रचनाकाल ई० स० तृतीय शताब्दी मानने के पक्ष में हैं। किन्तु सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र का आलोडन करने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि इसका कुछ अश पर्याप्त पुराना है। **म० म० डॉ० पी० वी० काणे** के विचार में वर्तमान नाट्यशास्त्र का छठां और सातवॉ अध्याय (रसभाव विवेचन) ८वें से १४वें तक के अध्याय (अभिनय का विवेचन) तथा १७ वें से ३५ वें तक के अध्याय किसी एक समय ग्रथित हुए थे। जबकि छठें और सातवें अध्याय के गद्यभाग और आर्याएँ सन् ई० के दो सौ वर्ष पूर्व लिखी जा चुकी थीं। आज प्राप्त होने वाले नाट्यशास्त्र को जब अन्तिम रूप दिया गया तब उन्हें सम्मिलित कर दिया गया है। (पृ० १८) गच्छताकालेन सन् ईस्वी की तीसरी या चौथी शताब्दी में नाट्यशास्त्र को आद्योपान्त सजाया गया और उसमें सूत्रभाष्य शैली के गद्य, पुरानी आर्याएँ तथा श्लोकों को जोड़ दिया गया। साथ ही सम्पादक ने भी कुछ व्याख्यात्मक कारिकाएँ लिखकर जोड़ी (पृ० २२) डॉ० काणे ने अपने पक्ष के समर्थन में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इतना तो स्पष्ट है कि भरत के नाट्यशास्त्र का वर्तमानरूप दीर्घ परम्परा प्राप्त शास्त्रों का एक मिला–जुला रूप है। इसे अन्तिमरूप कब दिया गया, यह तो कहना कठिन है, परन्तु ईस्वी सन् पूर्व द्वितीय शताब्दी तक उसे यह रूप प्राप्त हो गया होगा, क्योंकि ई० सं० प्रथम शती के **कालिदास** ऐसे ही रूप से परिचित रहे होंगे, इसका संकेत उनके विक्रमोर्वशीय नाटक के प्रथम अङ्क के इस **"मुनिना भरतेन यः प्रयोगो .... सलोकपालः।"** – पद्य में मिल जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाण भी जो नाट्यशास्त्र की प्राचीनता सिद्ध करने में सहायक हैं वे नाट्यशास्त्र में ही उपलब्ध हैं। जैसे कि नाट्यशास्त्र में **ऐन्द्रव्याकरण** तथा **यास्क** के उद्धरणों की उपलब्धि तो होती है किन्तु **पाणिनि** के उद्धरण देखने को नहीं मिलते।

साथ ही बीच–बीच में सूत्रपरिपाटी का प्रयोग दिखाई देना, टीकाकारों द्वारा भरत की रचना को **'सूत्र'** तथा उन्हें **'सूत्रकृत्'** कहा जाना और **अभिनवगुप्त** के द्वारा नाट्यशास्त्र को **'भरतसूत्र'** के नाम से उल्लिखित किया जाना आदि ऐसे प्रमाण हैं, जो वर्तमान नाट्यशास्त्र को कालिदास से दो शताब्दी पूर्व का सिद्ध करने में सहायक होते हैं। हमारे विचार में नाट्यशास्त्र को वर्तमान स्वरूप ईस्वीं सन् पूर्व द्वितीय शताब्दी में प्राप्त हो चुका था जब ईसा पूर्व प्रथम शती के मनु को उसके विस्तार के विरुद्ध नाट्यशास्त्र के नृत्य, गीत, वाद्य, अभिनय, नट आदि को अपने इस वचन –**'कामजो दशको गण:'** (म० स्मृति ७–४७) के द्वारा गर्हित बताकर समाज में उसके प्रचार–प्रसार पर अंकुश लगाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। उन्होंने विद्यार्थियों के लिए नृत्य, सङ्गीत, तथा वाद्य को त्याज्य बताया है। ऐसा ही आदेश उन्होंने गृहस्थो और राजाओं को भी दिया है। उनके मतानुसार द्विजवर्ण के व्यक्तियों को अभिनेताओ से दिया गया भोजन नहीं करना चाहिए। अभिनेता एक अप्रतिष्ठित ब्राह्मण है, अत: उसे श्राद्ध एव देव विषयक यज्ञों के भोज में निमंत्रित नहीं करना चाहिए। वे **अभिनय** को एक **उपपातक** मानते हैं। अत· निश्चय ही **मनु** के बहुतपूर्व नाट्यशास्त्र ने प्रतिष्ठित वर्तमान स्वरूप प्राप्त कर लिया था।

पाश्चात्य पण्डितों की दृष्टि में नाट्योद्गम

नाट्यशास्त्र मे वर्णित कथा से इतना तो स्पष्ट हो हा जाता है कि नाटकों में जो पाठ्य अंश होता है उसका मूलरूप 'ऋग्वेद' मे, जो गेय अंश होता है, वह 'सामवेद' में, जो अभिनय है, वह यजुर्वेद मे तथा जो रस अश होता है, उसका मूलरूप 'अथर्ववेद' मे प्राप्त हो जाता है। इसका सामूहिक निष्कर्ष यही है कि वैदिक युग सङ्गीतकला और नाट्यकला से अभिज्ञ था।

पाश्चात्य और भारतीय पण्डितों को भी इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि 'ऋग्वेद' में अनेक सूक्त हैं जिन्हें निर्विवाद रूप में संवाद या 'डायलॉग' की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। इनमें भी कुछ ऐसे स्थल है, जहाँ स्पष्ट रूप से संवादों के साथ सूक्ष्मरूप से नाटकीय अंश विद्यमान है। इनकी संख्या लगभग पन्द्रह (१५) है, जिनमे दो या अधिक वक्ताओं के मध्य वार्तालाप प्रस्तुत किया गया है। इन नाट्यात्मक संवादों में **'यम–यमी'** का संवाद–(ऋग्वेद–१०।१०) तथा **'पुरुरवा उर्वशी'** संवाद (ऋग्वेद १०।९५) प्रसिद्ध हैं। यह 'पुरुरवा उर्वशी' संवाद (ऋग्वेद १०।९५) प्रसिद्ध हैं। यह **'पुरुरवा उर्वशी'** संवाद ही कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक का मूलाधार है। १० वें मण्डल के १०८ वें सूक्त में इन्द्रदूती सरमा अपने सारमेय पुत्रों के लिए पणियों के पास जाती है और उनसे बातचीत करती है। कहीं–कहीं तीन व्यक्तियों के भी संवाद देखने को मिलते हैं। प्रथम मण्डल के १७९ वें सूक्त में इन्द्र, अदिति और वामदेव का संवाद है। इन्द्र–इन्द्राणी तथा वृषाकपि का संवाद (१०।८६); तथा अगस्त्य लोपामुद्रा संवाद (१।१७९) आदि प्रमुख हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ११९ वें सूक्त में तो इन्द्र को अकेला ही बोलते हुए प्रदर्शित किया गया है। सोम–पान के नशे में अपना गुण गान करते हुए इन्द्र के इस **'एकालाप'** को 'नाट्य–छटा' की संज्ञा से (या Dramatic monologue) अभिहित

किया जा सकता है। **जर्मनी** के कुछ विद्वानों के अनुसार जिनमें **डॉ० विण्डिश, ओल्डेन वर्ग और पिशेल** प्रधान हैं, ऋग्वेद के ये उक्त संवाद सूक्त गद्य–पद्यात्मक थे। कालान्तर में गद्यभाग तो लुप्त होता गया और बाद में पद्यभाग ही शेष रहा। इस भाग को वे **'आख्यान'** कहते हैं। **डॉ० पिशेल** के विचार में नाटक के गद्य–पद्यात्मक भाग इन्हीं संवाद सूक्तों के अनुकरण पर है। **डॉ० ओल्डेनबर्ग** के विचार में **'ऐतरेय ब्राह्मण'** का **'शुनः शेप'** उपाख्यान तथा 'शतपथ ब्राह्मण' का 'पुरुरवा–उर्वशी कथानक इन्हीं उपाख्यानों का अवशिष्टरूप है। **प्रो० श्रोदर** के विचारानुसार संवाद–सूक्त गायन, नर्तन के साथ अभिनीत किये जाते थे। अश्वमेधादि जैसे यज्ञो के विशिष्ट अवसरों पर गायन–वादन, नाट्यसंवाद, तथा ऐन्द्रजालिक क्रियाओं का प्रदर्शन भी मनोरंजनार्थ किया जाता था। कतिपय विद्वानो के विचार में याज्ञिक क्रिया के अनुष्ठान मे तत्कालीन साधारण जन–समाज में प्रचलित नाच–गान आदि की बातें आ मिली हैं। निश्चय ही ऐसे लोकनृत्य और लोक नाट्य उन दिनों प्रचलित थे। **'कौशीतकी ब्राह्मण'** (२४।५) में नृत्य–गीत आदि को कलाओं मे परिगणित किया गया है। **'पारस्कर गृह्मयसूत्र'** मे (२–७–३) द्विजातियों को यह सब करने की अनुमति नहीं है। अतः यह सहजगत्या ज्ञात होता है कि उन दिनो लोक में बहुत से नृत्य, गीत, और नाट्य प्रचलित थे। अर्वाचीन युग के विद्वानो ने यज्ञ के **'सोमविक्रय'** प्रकरण को और **'महाव्रत'** के विविध अनुष्ठानों को एक प्रकार से नाटकीय अभिनय ही माना है। निश्चय ही इन अनुष्ठानों को नाटक की सज्ञा नही दी जा सकती। विशुद्ध कोटि का नाटक वह है जहॉ अभिनेता सोच समझकर दूसरे व्यक्ति की भूमिका मे अवतरित होता है, स्वय आनन्दित होता है और दूसरो को भी आनन्द–समुद्र मे मग्न करता है। शास्त्र मे यह उल्लिखित है कि नाटकों में जो **अभिनय तत्त्व** है वह **'यजुर्वेद'** से लिया गया है। अभिनय के अनेक सुव्यवस्थित प्रसङ्गो का 'यजुर्वेद' मे अस्तित्व ही इस बात का प्रमाण है कि अभिनय कला की उत्पत्ति यजुर्वेदकाल में हो चुकी थी और यह भी संभव है कि **यजुर्वेदियों ने ही अभिनयकला का विस्तार किया हो।** आज भी एक ही व्यक्ति नाना रूपो को धारण कर जो 'बहुरुपिया' कहलाता है, अपने हास्यमय अभिनय प्रदर्शन द्वारा नागरिकों का मनोविनोद करता है। संभव है, कि ऐसे बहुरूपिया को वैदिक काल में 'विश्वरूप' कहा जाता हो। इसकी पुष्टि –**''यजुर्वेद''** में **रुद्राध्याय** के चतुर्थ अनुवाक में आये –**'नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः।'** इस मन्त्र में प्रयुक्त 'विश्वरूप' शब्द की उपलब्धि से हो जाती है। यद्यपि इस प्रकार का अभिनय–प्रदर्शन नाट्य का प्रारम्भिक रूप ही माना जा सकता है। इसी अध्याय में आगे रुद्र के दो रूपों–घोरतनु और शिवतनु–का वर्णन आया है। यह भी अधिक संभव है कि **'मालविकाग्निमित्र'** के –**'रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा** (१–४)– इस मङ्गल श्लोक के प्रेरणास्रोत का आधार भी रुद्राध्याय की उक्त कल्पना रही हो।

मेक्समूलर ने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १९६ वें सूक्त के सम्बन्ध में, जिसमें इन्द्र और मरुतों का वार्तालाप है, अनुमान किया था कि यज्ञ में उक्त संवाद का अभिनय किया जाता था। संभवतः दो दल होते थे, एक इन्द्र का प्रतिनिधित्व करता

था, दूसरा मरुतों का इस पर से उन्होंने नाट्योत्पत्ति धार्मिक क्रियाओं से मानी है। जिनमें स्वयं उपाध्याय–पुरोहित वेषान्तर करके उन–उन संवादों को कहता था। **प्रो० लेवी** ने भी इस विचार का समर्थन किया था। प्रो० लेवी ने यह भी बताया था कि वैदिक काल में गाने की कला पर्याप्त प्रौढ़ावस्था में थी। ऋग्वेद (१।९२।४) में ऐसी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है जो उत्तम वस्त्र पहनकर नृत्य करती थीं और प्रेमियों को आकृष्ट करती थीं। **'अथर्ववेद'** में – (७।१।४१) पुरुषों के भी नाचने और गाने का उल्लेख है। **डॉ० हर्टल** का विचार है कि संवाद सूक्तों का गायन होता था। संवादों के गान में तथा परस्पर वार्तालाप में एक से अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, क्योंकि यह कार्य एक व्यक्ति से संभव नहीं है। इसलिए वे इन संवाद सूक्तों में नाटक के बीजों की संभावना व्यक्त करते हैं। इस पर **डॉ० कीथ** कहते हैं कि संवाद सूक्तों का गायन नहीं होता था, अपितु **'शंसन'** मात्र होता था। जो भी हो, उपर्युक्त विद्वानों के विचारों का निष्कर्ष यही है कि रूपकों का मूल उद्गमस्थल वेद ही है। और नाट्य शास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने भी यही कहा है। अत: इतना तो निश्चित ही है कि नाट्य के बीज वेदों में ही सन्निहित हैं।

वेदों के पश्चात् हमारे आर्ष साहित्यिक ग्रथों (रामायण–महाभारत); बौद्ध–जैन ग्रथों, **वात्स्यायन** के कामसूत्र, **पाणिनी** की अष्टाध्यायी के सूत्रों और **महाभाष्य** आदि मे नाटकों का संकेत ढूढ़ा जा सकता है, किन्तु हमारे विचार में भारतीय नाटकों के विकास में, हमें इस तत्त्व के लिए बहुत भटकने की आवश्यकता नहीं है। पाश्चात्य विद्वान् तो दुराग्रहवश भारतीय नाट्योत्पत्ति को ई० पूर्व मानने के पक्ष में नही है, किन्तु इतना तो मानना ही होगा कि उसका आदि रूप निश्चित रूप से संहिताओं में है। जिसे हमने नाट्यशास्त्रोक्त आख्यान में देखा है। वैदिक साहित्य में नाट्य का यह अंकुरितरूप गच्छताकालेन पल्लवित पुष्पित होता हुआ पुष्ट होकर **महाभाष्यकार पतञ्जलि** के पूर्व ही से कवि भास (३०० ई० पू०) से लेकर ई० सन् प्रथम शतीं के अश्वघोष कृत **'शारीपुत्र प्रकरण'** जैसे नाटकों में होता हुआ बीसवीं शती तक संस्कृत नाटकों की अक्षुण्ण परम्परा में दिखाई देता हैं। संस्कृत के नाटककारों में एक से एक बढ़कर नाटककार हुए हैं, जिनमें प्रसिद्ध हैं – **भास, कालिदास, शूद्रक, भवभूति, मुरारि, विशाखदत्त, भट्टनारायण, श्री हर्ष** आदि जिन्होंने संस्कृत नाट्य साहित्य को समृद्ध किया है और इस समृद्धि का श्रेय **भरतमुनि** के नाट्य शास्त्र जैसे लक्षण ग्रंथों को देना होगा, जिनसे उक्त कविगण नाटकीय सिद्धान्तों से मार्गदर्शन प्राप्त करते रहे होंगे।

नाट्यशास्त्र का उद्देश्य

सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र का आलोडन करने के पश्चात् नाट्यशास्त्र के लक्ष्यीभूत तीन व्यक्ति उभरकर सामने आते हैं – **प्रथम**– अभिनेता, **द्वितीय**– श्रोता (प्रेक्षक या सहृदय सामाजिक) और **तृतीय**– कवि या नाटककार। इनमें से प्रथम और मुख्य लक्ष्यीभूत व्यक्ति अभिनेता है, जिसे शिक्षा देने के लिए ही इस शास्त्र की रचना की गई है। जिससे वे अपनी भूमिकाओं का अभिनय बड़ी निपुणता के साथ निर्दोषरूप में कर सकें। **'दशरूपक'** – आदि उत्तरकालीन लक्षण ग्रंथों की तरह नाट्यशास्त्र कवि

या नाटककार के लिए मार्गदर्शक ग्रन्थ[1] मात्र नहीं है। वस्तुत: यह अभिनेताओं के लिये ही अधिक है, नाटकों की रचना करने वाले कवियों और नाटकों का रसग्रहण करने वाले सहृदय—सामाजिकों के लिये कम। **धनञ्जय** का मुख्य उद्देश्य नाटककारों को नाट्य निबन्धन की विधि मात्र बताना है। अभिनेता पर उनकी दृष्टि बहुत कम है और सहृदय प्रेक्षक पर तो बहुत स्वल्प मात्रा मे है। नाट्यशास्त्र के चतुर्थ और पंचम अध्यायों में वर्णित **करण, अङ्गहार, चारी** और **महाचारी** आदि की विधियाँ, जो विस्तारपूर्वक समझाई गई हैं, **नृत्य, गीत, वेशभूषा** का जो विस्तृत विवेचन किया गया है, वह सब अभिनेताओं को दृष्टि में रखकर ही किया गया है। रंगमञ्च का विधान अभिनेताओं की सुविधा को ही ध्यान में रखकर ही प्रस्तुत किया गया है। यहाँ तक की प्रेक्षणशालाओं का निर्माण भी अभिनेता की सुविधा को दृष्टि में रखकर ही करने के लिए निर्देशित किया गया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि रङ्गमञ्च के निर्माण में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि रङ्गभूमि पर अभिनय करने वाले नटों की आवाज, उनके कथोपकथन की शब्द—ध्वनि प्रेक्षण—शाला के अन्तिम छोर तक सहजगत्या पहुँच सके और सहृदय सामाजिक (दर्शकगण) अभिनेताओं की मुखाकृति पर उभरने वाली प्रत्येक भाव भंगिमा को अञ्जसा देखकर रसग्रहण कर सके। इसके अतिरिक्त वाचिक, नेपथ्यसम्बन्धी और आंगिक, जितने भी अभिनय प्रकार शास्त्र में वर्णित हैं, वे सब अभिनेता को प्रयोगज्ञ बनाने की दृष्टि से ही वर्णित हैं। अभिनेताओं को प्रयोगज्ञ बनाने की दृष्टि से ही भरत ने प्राश्निकों (असेसरों) की नियुक्ति का विधान भी किया है। तात्पर्य यह है कि नाट्य शास्त्र प्रमुख रूप से नाटक के अभिनेताओं को दृष्टि में रखकर ही लिखा गया है।

(२) नाट्यशास्त्र का द्वितीय लक्ष्यीभूत श्रोता, प्रेक्षक या सहृदय सामाजिक है। लक्षण ग्रन्थकारों ने प्रेक्षक को एक विशेष दृष्टिकोण से देखा है। उनके विचारानुसार चाहे श्रोता (पाठक) हो या दर्शक, उसे बहुश्रुत तथा व्युत्पन्न होना आवश्यक है। बहुश्रुतता तथा व्युत्पन्नता के अभाव में श्रोता या दर्शक काव्य की नाट्याभिनय की बारीकियों को समझने में निस्सन्देह असमर्थ रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अधुना जिसे **'क्रिटिकल ऑडिएन्स'** (Critical Audience) कहा जाता है, वही 'नाट्यशास्त्र का लक्ष्यीभूत दर्शक (सहृदय सामाजिक) है। संस्कृत नाटकों में **'अभिरूपभूयिष्ठा'** और **'गुणग्राहिणी'** कहकर दर्शक मण्डली का जो परिचय दिया गया है, वह दर्शकों में नाट्याभिनय के गूढ़ अभिप्रायों को समझने की योग्यता को लक्ष्य करके ही दिया गया है। संस्कृत काव्य के पाठक तथा नाट्याभिय के दर्शक को कैसा होना चाहिए, इस विषय में **आचार्य अभिनवगुप्त** के विचार माननीय हैं। वे उस काव्य पाठक या नाट्य दर्शक को **'सहृदय'** या योग्य दर्शक कहते हैं जिसका हृदय काव्य नाटकादि के परिशीलन के अभ्यास से निर्मल हो गया हो, और जिसका मनोदर्पण वर्ण्यविषय से तादात्म्य प्राप्त करने की योग्यता रखता हो। नाट्यशास्त्र के २७ वें, अध्याय में भरत ने स्पष्ट शब्दावली में कहा है कि नाटक के लक्ष्यीभूत

---

१. ३। ७६ द० रू०

दर्शक की सभी इन्द्रियाँ व्यवस्थित होनी चाहिए। उनके अनुसार रसानुभाव के लिए दर्शक की वह मानसिक अवस्था नितान्त आवश्यक है जिसमें दर्शक का अन्त:करण व्यक्तिगत तीव्र दु:ख या सुख से ग्रस्त न हो। जो सामाजिक शोकावह दृश्य को देखकर शोकाभिभूत न हो सके और आनन्दजनक दृश्य को देखकर उल्लसित न हो सके, जो इतना संवेदनशील न हो कि दैन्यभाव के प्रदर्शन के अवसर पर दीनत्व का अनुभव न कर सके, उसे नाट्याभिनय के प्रेक्षक का स्थान नहीं देना चाहिए।[१] संक्षेप मे उसे सर्वतोभावेन व्युत्पन्न होना चाहिए और अपने संवेदनशीलत्व पर पूर्ण नियन्त्रण रखने में समर्थ होना चाहिए। नाट्यशास्त्र यह स्वीकार करता है कि सभी गुण किसी एक प्रेक्षक सामाजिक में नहीं हो सकते, क्योंकि ज्ञेय विषय अनेक हैं तथा जीवन छोटा है।[२] इसके अतिरिक्त वयस् के अनुसार रुचि भेद, सामाजिक स्थिति और शास्त्र ज्ञान का अल्पाधिक होना स्वाभाविक ही है। तथापि उस सहृदय दर्शक में अधिक से अधिक गुणों का समावेश वाञ्छनीय है।

(३) तृतीय लक्ष्यीभूत कवि या नाटककार है। नाट्यशास्त्र में उन नाटककारों को भी शिक्षा दी गई है, जिनके पास काव्य प्रतिभा है। इस शिक्षा की सहायता से वे दोषहीन नाटकों की रचना कर सकते हैं। शास्त्रकार ने नाटकों के निबन्धन की विधियों का उल्लेख किया है। साथ ही वह नाटक लेखक के लिए कथा—वस्तु के विविध अङ्गों और अभिनय की विभिन्न चेष्टाओं के संयोग से वर्ण्य—पात्रों के चरित्र और घटना—प्रवाह के परस्पर आघात प्रत्याघात द्वारा विकसित होने वाले नाटकीय रसानुभूति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कौशलों का परिचय उपन्यस्त करता है। वह इस विश्वास के साथ नाटकीय लक्षणो को प्रस्तुत करता है कि कवि या नाटककार शास्त्रोक्त इन सूक्ष्म विधियो कौशलों को सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर कथा वस्तु का वैदग्ध्यपूर्ण निबन्धन कर सकेगा जिससे कि कुशल अभिनेता और सहृदय सामाजिक दर्शक या पाठक दोनों को ही रसग्रहण करने में सरलता होगी। उत्तरकालीन लक्षण ग्रंथों के आचार्यो ने भरत के नाट्यशास्त्र में उल्लिखित विस्तृत नाट्य—रचना के नियमों का संक्षेपीकरण किया है और अभिनेता तथा पाठक (सामाजिक दर्शक) की अपेक्षा कवि या नाटककार को ही अधिक दृष्टि में रखकर लघु—काय ग्रंथों का निर्माण किया है। **दशरूपक** उक्त विशेषताओं को उपन्यस्त करने वाला एक लघु लक्षण ग्रंथ है। उसका मुख्य उद्देश्य नाटककारों को नाट्यनिबन्धन की विधि निर्देशित करना है। अभिनेता की ओर उसका ध्यान स्वल्प है और सहृदय प्रेक्षक तो उसके दृष्टिपथ में सूक्ष्म रूप से स्थित है।

नाट्यकला का उद्देश्य

नाट्योत्पत्ति की कथा में कहा गया है कि त्रेतायुग में रजस् गुण की प्रधानता के कारण मानव समाज उस सत्य मार्ग से विचलित हो रहा था जिसको वेदों ने निर्धारित किया था। मनुष्यों को धर्म के सत्य मार्ग पर वेदों की सहायता से चलाना असंभव हो गया था। क्योंकि शूद्रवर्ण के लिए वेदाध्ययन निषिद्ध था। अत: देवतागण एक ऐसे साधन **'क्रीडनीयक'** क्रीडावस्तु को चाहते थे जिससे वर्ण निरपेक्ष होकर

१. ना० शा० २७।५४। २. ना० शा० २७।५५—५६।

सम्पूर्ण मानव समाज को एक साथ शिक्षा दी जा सके। वे वेदों की आदेशात्मक शिक्षा से भिन्न कोई ऐमी शिक्षा प्रणाली चाहते थे जो आनन्दपूर्ण हो, जो आदेश की कटुता से रहित हो।[1] इस दृष्टि से नाट्यकला को नितान्त उपयोगी समझा गया। क्योंकि नाट्यकला का प्रयोजन आँखों और कानों को सुखद लगने वाले प्रदर्शन के साधन से प्रत्यक्ष (ज्ञात) रूप से नहीं अपितु परोक्ष (अज्ञात) रूप से शिक्षा बोध देना है। नाट्यकला ज्ञातरूप में वेदो जैसा कोई आदेश नहीं देतो अपितु दर्शको का चरित्र नायक से तादात्म्य स्थापित कराते हुए पुण्य मार्ग के कल्याणों को मधुरता से ज्ञात करा देती है। नाट्यकला मानव जीवनोपयोगी शिक्षा–(बोधरूपी) औषधि को सम्मुख कर देती है, केवल इतना ही नहीं उस औषधि की कटुता को दूर करने के लिए या तो अभिराम दृश्य और कर्णसुखद मधुर स्वररूपी शक्कर की चाचनी उस पर चढ़ा देती है, जिससे शिक्षारूपी औषधि की कटुता का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार नाट्यकला के प्रदर्शन का प्रयोजन दर्शको को शिक्षा देते हुए उनका चारित्रिक उत्थान करना है। साथ ही मानव मन को दुःखद एवं चिन्ताकारी वस्तुओं से मुक्त करना है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भरत के मत में नाट्य का उद्देश्य बोध और मोद है। ये दोनों प्रयोजन–बोध (ज्ञानार्जन) और मोद (आनन्द) आपाततः पृथक् दिखाई देने वाले तत्त्वरूप से अन्तस् में एक ही हैं, क्योंकि बोध (ज्ञानार्जन) भी अन्ततः साध्य न होकर आनन्द (मोद) का साधन ही तो है। चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति को ही केवल नाट्य का प्रयोजन मानने वाले **भामह** और **दण्डी** का उपहास करने वाले धनञ्जय ने **दशरूपक** में आनन्द को ही नाट्य का उद्देश्य माना है (द० रू० १–६) इस प्रकार यह निर्भ्रान्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि नाट्य (काव्य) का चरम उद्देश्य आनन्द ही है, क्योंकि बोध (ज्ञानार्जन) चारित्रिक उत्थान आदि स्वय अपनी सिद्धि नहीं है, उन सबका उद्देश्य भी आनन्द ही है।

नाटक तथा लोकजीवन

यद्यपि **'नाट्यशास्त्र'** अपने में समाहित की हुई नाट्यधर्मीरूढ़ियों का एक बृहदाकार ग्रन्थ है। तथापि उसमें सर्वत्र लोकाश्रित प्रयोग पर ही अधिक बल दिया गया है। आचार्य **भरत** के विचार में नाटक की वास्तविक प्रेरणाभूमि लोक–चित्त है। और उसकी सफलता की वास्तविक कसौटी भी लोक चित्त ही है। भरतमुनि ने **छब्बीसवें अध्याय** में अभिनय विधियों को विस्तारपूर्वक बतलाया है। किन्तु साथ में यह भी स्पष्ट निर्देशित कर दिया है कि दुनिया के प्रवृत्ति–वृत्त की यहीं इति नहीं हो जाती। क्योंकि इस स्थावर जङ्गमात्मक जगत् की सारी चेष्टाओं तथा भावों का शास्त्र द्वारा स्वरूप निश्चित किया जाना संभव नहीं है।[2] नाट्यशास्त्र डंके की चोट पर कहता है कि नाटक चाहे वेद या अध्यात्म से उत्पन्न हुआ हो, तो भी वह तभी सिद्ध होता है जब वह लोकसिद्ध हों क्योंकि नाटक लोकस्वभाव से ही उत्पन्न होता है। अतः नाटक की सफलता में लोक ही अधिकृत प्रमाण है।[3]

१. अभि० भा०, भाग–१–१०, ११। २. ना० शा०, २६।१२६।
३. ना. शा., २६।१२१।

''वेदाध्यात्मोपन्नं तु शब्दच्छन्दस्समन्वितम् । लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तथा ।। तस्मान्नाट्य प्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते ।।''

वस्तुत: नाट्य का स्वभाव ही तो लोक चरित का अनुकरण है –

''लोकस्य चरितं यत्तु नानावस्थान्तरात्मकम् । तदङ्गाभिनयोपेतं नाट्यमित्यभिसंज्ञितम् ।।''[१]

ऐसी स्थिति में नाटक का संविधान ऐसा होना चाहिए जो लोक वार्ता की नाना अवस्थाओं से समन्वित हो। सच पूछा जाय तो यह बात निर्विवाद है कि नाट्य और कुछ नहीं है, वह तो लोक–धर्म में प्रवृत्त होने वाली शास्त्र धर्म, शिल्प और क्रियाओं का एक प्रकार से कीर्तन हीं तो है। अर्थात् प्रजाजन से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र, धर्म, शिल्प तथा क्रिया (कार्य) का प्रदर्शन ही नाट्य है।

''यानि शास्त्राणि ये धर्मा या शिल्पानि या: क्रिया: । लोकधर्म प्रवृत्तानि तन्नाट्यमिति संज्ञितम् ।''[२]

जगत् के प्राणियों के शील–स्वभाव नाना प्रकार के होते हैं और नाटक स्वभाव–शील पर आधारित होता है। **''नाना शीला: प्रकृतय: शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्। तस्मात् लोक प्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्योक्तृभि: ।''**[३] ऐसी स्थिति में जगत् के प्राणियों के शील–स्वभाव का अभिनय प्रस्तुत करने के लिए अभिनेता को लोक व्यवहार की सूक्ष्म बातों का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। अत: भरतमुनि का आदेश है कि जिन नियमों का निर्देश नाट्यशास्त्र में नहीं किया गया है, उनका ग्रहण लोक से कर लेना चाहिए – 'नोक्तानि च मया यानि लोकग्राहयानि तान्यपि ।'[४]

जिससे कि अभिनेता सहृदय–सामाजिक के चित्त में उनकी अनुभूति सरलरीति से करा सकें। एतदर्थ भरतमुनि ने उसे 'प्रयोगज्ञ' होने के लिए कहा है, क्योंकि जो अच्छा प्रयोग नहीं जानता वह सफलता भी नहीं प्राप्त कर सकता। कहा भी है **'एवमेते ह्यभिनया वाङ्नेपथ्याङ्गसम्भवा:। प्रयोगज्ञेन कर्तव्या नाटके सिद्धिमिच्छता ।।'**[५] नाट्य प्रयोग परस्परवाणी (वाचिक) नेपथ्य (आहार्य) तथा शरीर (आङ्गिक) के सहकार के कारण सम्मिलितरूप में ही प्रस्तुत किया जाता है तथा इसी के सम्मिलित रूप से ही नाट्य प्रयोग में सिद्धि हो सकती है।

नाट्यधर्मी और लोकधर्मी रूढियाँ[६]

अत: भरत ने नाट्यप्रयोग में दो प्रकार के धर्मी माने है – (१) **लोकधर्मी** और (२) **नाट्यधर्मी**। लोकधर्मी से तात्पर्य उन धर्मो से है जो लोक सिद्ध है। तथा जिसका ग्रहण अभिनय में नितान्त आवश्यक है। यह लोक का शुद्ध और स्वाभाविक अनुकरण है। अर्थात् लोक में प्रचलित कार्य, आचार एवं व्यवहारों का शुद्ध अनुकरणात्मक प्रस्तुतीकरण 'लोकधर्मी' कहलायगा। इसमें लोकजीवन की यथार्थ

---

१. ना० शा०, २६।१२३।
२. ना० शा०, २६।१२५।
३. ना० शा०, २५।१२३।
४. ना० शा०, २१।२२३।
५. ना० शा०, २५।१२५।
६. ना० शा०, १४।६९.७२।

सहजवृत्तियों का प्रभाव परिलक्षित होता है। नाट्यधर्मी का तात्पर्य नाट्य में प्रयुक्त होने वाली अनेक परंपरागत वस्तुओं से है। लोक का जो सुखदु:खात्मक आङ्गिक अभिनय है, वह भी नाट्यधर्मी है। संक्षेप में रङ्गमञ्च पर किए जाने वाले संकेत मूलक आङ्गिक अभिनय नाट्य धर्मी है, जो सीधे अनुकरण के विषय नहीं है। इसके अन्तर्गत शास्त्रीय उक्तियाँ या संकेत वाक्य, स्वागत, जनान्तिक या आकाशभाषित आदि तथा रङ्गमञ्च पर प्रयोज्य वस्तु तथा भावों का संकेत करने वाली विविध विधियों तथा निर्देशों का समोवश होता है। इनके अतिरिक्त लोकदृष्ट सुख, दु:खादिके आङ्गिक अभिनयादि से प्रस्तुत नाट्य तथा अभिनय विधान एवं उनका प्रतिपादक नाट्यशास्त्र– ये सभी नाट्यधर्मी कहलाते हैं। भरतमुनि के अनमार तात्पर्यार्थ यह है कि अभिनयरूप साधन के द्वारा भावों तथा अवस्थाओं का प्रकटन (अभिव्यक्ति) लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी–इन दो नाट्य धर्मो से ही होता है। अर्थात् दोनों नाट्यधर्म ही अभिनय की इतिकर्तव्यता है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि 'लोकधर्मी' अनुभावाभिनय से संबद्ध है और नाट्यधर्मी नाट्यस्थित सौन्दर्य व्यापार से सम्बद्ध है। **अभिनवगुप्त** के अनुसार दोनों ही धर्मी लोकस्वभाव का अनुवर्तन करते हैं। उनके अनुसार नाट्यस्थित अभिनय तत्तत् लोकप्रवृत्ति विशेषों से संबद्ध होना चाहिये। साथ ही वह सौन्दर्य से परिपूर्ण भी होना आवश्यक है। इसमें लोक प्रवृत्तियों से सम्बद्ध अभिनयाश: 'लोकधर्मी' है एवं अभिनय का ही सौन्दर्याधायक अंश 'नाट्यधर्मी' है।[१]

वस्तुत: नाट्य में लौकिक धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई धर्म ही नहीं होता। फिर भी कवि और अभिनेता अपने नाटको और अभिनय के प्रदर्शन में आकर्षण को उत्पन्न करने के लिए लोकागत प्रक्रिया पर अपनी कल्पना का संस्कार अवश्यक करते हैं और उसे सौन्दर्यान्वित करते हैं। इस प्रकार कल्पना के द्वारा मूल में सौन्दर्याधान का अंश ही नाट्यधर्मिता है इस प्रकार लोकधर्मी ही नाट्यधर्मी का आधार है। भित्ति तथा उस पर लिप्त सौंदर्याधायक रङ्ग में जिस प्रकार आधार और आधेय का सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी में सम्बन्ध होता है।[२]

संक्षेप में नाट्य वस्तु को और अधिक आकर्षक एवं सुशोभित करने के लिए रङ्गमंच पर जो कुछ भी प्रदर्शित किया जाता है वह सब नाट्यधर्मी कहलाता है। इस दृष्टि से अभिनय भी नाट्यधर्मी ही है। वस्तुत: लोकधर्मी का सिद्धान्त नाट्य में यथार्थवाद का पोषक है, और नाट्यधर्मी का तथ्य नाट्य में आदर्शवाद तथा मानवीय रूढ़ियों का प्रतिपादक है। नाटक में दोनों ही ग्राह्य है। निश्चय ही अभिनय–कौशल की उत्कृष्टता के लिए तथा लोक जीवन की चेष्टाओं के उपस्थापन के लिए, दोनों ही रूढ़ियों का ज्ञान रखना अभिनेता के लिए विशेष आवश्यक है।

नाट्य–प्रयोग की सफलता का प्रमाण लोकजीवन है।

अभिनय चाहे वाचिक हो, नेपथ्य–सम्बन्धी हो या आङ्गिक, जितने भी अभिनय शास्त्र में वर्णित हैं, वे सब अभिनेता को प्रयोगज्ञ बनाने की दृष्टि से ही हैं। अभिनेता अपने अभिनय में लोक जीवन की चेष्टाओं की यथार्थता जितनी बारीकी के

१. अ० भा० भाग–२, पृ० २१३ २. अ० भा० भाग २, पृ० २१४

साथ प्रस्तुत करता है, उतना हा नाट्य–प्रयोग सफल कहलाता है। 'निश्चय ही अभिनेता की कुशलता प्रत्यक्ष जीवन में प्राणिमात्र के व्यवहार को यथार्थ हूब–हूब रूप में अपने अभिनय के द्वारा प्रस्तुत करने में ही है। अत: अभिनेता अपने अभिनय में लोक–जीवन की चेष्टाओं की यथार्थता जितनी बारीकी के साथ प्रस्तुत करता है, उतना ही नाट्य–प्रयोग सफल कहलाता है। प्राचीन काल में कभी–कभी अभिनेताओं में अपने–अपने अभिनय कौशल की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में वाद–विवाद का अवसर उपस्थित हो जाता था। प्राय: ये विवाद दो प्रकार के होते हैं – **शास्त्रीय** और **लौकिक**। शास्त्रीय विवाद का एक उदाहरण–कालिदास के **'मालविकाग्निमित्र'** में देखने को मिलता है। इस प्रकार के विवाद का विषय रस–भाव, अभिनय, भंगिमा, मुद्राओं से सम्बन्धित होता था। **दूसरे प्रकार** का (अर्थात् लौकिक विवाद में प्राय:) लोकजीवन की विशेष चेष्टाओं को प्रस्तुत करने की विधि से सम्बन्धित होता था। ऐसे विवादपूर्ण प्रसङ्गों पर भरतमुनि ने **'प्राश्निक'** (असेसर) नियुक्त करने का आदेश दिया है।[१] प्राश्निक नाट्य–प्रयोग के प्रत्येक अङ्ग का परीक्षण कर उसकी सफलता का निर्णय देने के कारण न्यायाधीश के समान मान्य होते थे। और उनका निर्णय भी सभी मान्य करते थे। यदि वैदिक क्रिया–कलाप अर्थात् यज्ञों के अभिनय प्रदर्शन विषयक कोई विवाद उत्पन्न होता था तो यज्ञविद् कर्मकाण्डी मीमांसक निर्णायक–प्राश्निक के रूप में नियुक्त किया जाता था। यदि नृत्य की भंगिमा–उसमें रहने वाली मुद्राओ आदि के विषय में कोई विवाद हुआ तो नर्तक निर्णायक होता था। इसी प्रकार छन्द के विषय में छन्दोविद्, पाठ–विस्तार के सम्बन्ध में वैयाकरण, राजकीय आचरण के विषय में यदि कोई शङ्का हो तो उसके समाधान के लिए राजा स्वयं निर्णायक होता था। राजकीय वैभव या राजकीय अन्त:पुर का आचरण या नाटकीय सौष्ठव का विवाद होता था तो राजकीय दरबार के चतुर वक्ताओं को आमन्त्रित किया जाता था। प्रणाम की भंगिमा, आकृति और उसकी चेष्टाएँ, वस्त्र और आचरण की योजना तथा नेपथ्य रचना के प्रसङ्ग में चित्रकारो को निर्णायक बनाया जाता था। स्त्री–पुरुष के परस्पर–आकर्षण विषयक विवादों में गणिकाएँ उत्तम निर्णायक समझी जाती थी। भृत्य के आचरण के विषय में विवाद उपस्थित होने पर राजा के भृत्य प्राश्निक का कार्य करते थे (२७। ६३–६३)। इस प्रकार उपर्युक्त विवरण जहाँ एक प्रकार से नाट्य–प्रयोग को यथार्थ के धरातल पर लाने के प्रयास को व्यक्त करता है, वहीं दूसरी ओर नाट्य प्रयोग की प्राचीन भारत की उन्नत स्थिति को भी दर्शाता है। साथ ही नाट्यशास्त्र स्पष्टरूप से बताता है कि लोकधर्मी विधियों की कसौटी लोक–जीवन ही है।

अभिनय–मीमांसा

''अनेकभेदबहुलं नाट्यमस्मिन् (अभिनये) प्रतिष्ठितम् ।'' (ना० शा० ८।८)

भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में अभिनय का विवेचन बड़े विस्तार से किया है। **'अभिनय'** शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए वे कहते हैं – **'णीञ्'** धातु में **अभि**

---

१. प्राश्निक के लक्षण नाट्यशास्त्र के २७ वें अध्याय (२७। ४९–५२) में दिये गए हैं।

उपसर्ग लगाने से अभिनय शब्द बनता है। जिसका अर्थ है नाटक के प्रयोग के द्वारा मुख्यार्थ को श्रोता या सहृदय सामाजिक के हृदय तक पहुँचाना और विभावन कराना, अर्थात् अभिनय के द्वारा नाट्य के अनेक अर्थो का विभावन या रसास्वादन कराना।[१] (ना० शा० ८।७–८)। अथवा इसे ऐसा कह सकते हैं – 'अभिनय' शास्त्र की शब्दावली में 'प्रदर्शन' का एक विशेष साधन है। जिसके द्वारा प्रदर्शनीय वस्तु को दर्शक के सम्मुख प्रत्यक्षरूप से उपस्थित किया जाता है। **आचार्य अभिनवगुप्त** कहते है कि अपने एक मात्र साधन –अभिनय– के द्वारा लोकस्वभाव का दर्शन कराना ही नाट्य का फल है । वे कहते हैं कि लोक स्वभाव का दर्शन अन्य किसी प्रकार से होने पर वह नाट्य नही होता। और इसीलिए भरत मुनि ने कहा है – 'अनेकभेदबहुलं नाट्यमस्मिन् (अभिनये) प्रतिष्ठितम् ।'[२] वस्तुत: 'नाट्यशास्त्र' मे अभिनय शब्द बहुत व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इसमें नाटक के प्राय: सभी तत्त्वो का समावेश अनायास ही हो जाता है। वेश–विन्यास, रङ्गमच की सजावट, नाट्यगान, और रस के भी सभी आश्रय एव उपादान इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। तात्पर्य यह है कि नाट्यशास्त्रीय परपरा मे जब अभिनय शब्द का व्यवहार किया जाता है तो निश्चय ही कुछ भी छूटता नही है, सभी तत्त्वों का इसमे समावेश हो जाता है। कतिपय लोग 'नाट्यशास्त्र' के इस अभिनय शब्द का अर्थ केवल **'इमिटेशन'** (Imitation) (अनुकरण) और **'जेश्चर'** (Gesture) (भाव–भङ्गी) करते हैं, वह युक्ति–युक्त न होने से समीचीन नही है। इस दृष्टि से भारतीय और पाश्चात्य नाट्य लक्षणों मे विरोध प्रतीत होता है। **अरस्तू** के विचार मे – "महाकाव्य, त्रासदी, कामदी, और रौद्र–स्तोत्र, वशी–वीणा तथा सङ्गीत के अधिकाश भेद अपने सामान्यरूप मे 'अनुकरण' के ही प्रकार है" (अनुवाद खण्ड, पृ० ७, अरस्तू का काव्य शास्त्र डॉ० नगेन्द्र)। नाट्य तत्त्व के मीमांसक आचार्य अभिनव गुप्त तो नाट्य को किसी भी अर्थ मे 'अनुकार' मानने को तैयार नही है। वे नाट्यशास्त्र की अपनी टीका 'अभिनव भारती' में स्पष्टरूप से कहते हैं – **"तदिदमनुकीर्तन मनुव्यवसाय विशेषो वा नाट्यापरपर्यायो नानुकार इति भ्रमितव्यम् ।"**[३] अर्थात् यह अनुव्यवसाय विशेष रूप 'अनुकीर्तन' जिसको कि नाट्यनाम से भी कहा जाता है, अनुकरण रूप है, ऐसा समझने की भूल नही करनी चाहिए । **अभिनव** कहते हैं – **नाट्य अनुकार नहीं है।** वस्तुत नाट्य में व्यक्तिगत सादृश्य का दर्शन नही रहता प्रत्युत अपने ही साधारणीभूत भावों का तथा बोध का अतएव त्रैलोक्यगत भावों का साधारण्य की भूमिका पर से प्रत्यक्ष दर्शन होता है। इस प्रकार अपने भावबोधरूप सस्कार ही नाट्य मे प्रत्यक्ष का विषय बनते हैं, इसलिये नाट्य अनुव्यवसाय विशेष है।"[४] आचार्य

---

१ णीज् प्रापणार्थको धातु:। अभि + णी + अच् । नाट्यदर्पणकार इसे इस प्रकार कहते हैं – "सामाजिकानामाभिमुख्येन साक्षात्कारेण नीयते प्राप्यते अर्थोऽनेनेत्यभिनय:' – ना दर्पण, तृतीय विवेक–स्वोपज्ञ विवरणम् ।।

२. (ना० शा० ८।८) (अ० भा० भाग–१, पृ० ४४)।

३. अ० भा० पृ० १८७।

४. भारतीय सा० शास्त्र पृ० २८३, डॉ० देशपाण्डे।

अभिनवगुप्त ने इस तत्त्व पर पर्याप्त विचार मथन करने के पश्चात् यही कहा है कि नाट्य अनुकीर्तन है, न कि अनुकृति। उनके विचार मे अनुकरण का अर्थ 'नकल' है। नकल या स्वाङ्ग भी अभिनय का एक प्रकार होता है। परन्तु या स्वाङ्ग भी अभिनय का एक प्रकार होता है। परन्तु वह अत्यन्त निम्नश्रेणी की वस्तु है। वे केवल किसी का उपहास करने के लिए भरे जाते है। स्वाङ्ग भरना या नकल करना जहाँ एक ओर किसी अनुकार्य व्यक्ति का अनुकरण कर उसका उपहास बनाकर दर्शको मे निम्न श्रेणी के हास्य को उत्पन्न करता है, वहीं वह जिसका स्वाङ्ग भरा जाता है, उसके मन में क्रोध—द्वेष आदि भावो को उत्पन्न करता है। नाट्य में यह बात नही होती। नाट्य न तो किसी का स्वाङ्ग भरकर उसका उपहास करता है और न उसके अपमान का कारण बनता है और न प्रेक्षकों में निम्न श्रेणी के हास्य को ही उत्पन्न करता है। अपितु वह प्रेक्षको के लिए अलौकिक आनन्द को प्रदान करता है।[1] इतना ही नही भारतीय आचार्यो के विचार मे नाट्यकला में ऐसी शक्ति निहित है जो कि पर ब्रह्म को इन्द्रिय ग्राह्य रूप मे प्रदर्शित कर सहृदय को परतत्त्व के सत्य स्वरूप का अनुभव करा सकती है।

अत यह धारणा कि अभिनय केवल अनुकरण है या उसमे केवल शरीर के अङ्गो की विशेष प्रकार की भगिमाएँ '(जेश्चर्स) ही प्रमुख होती है, सर्वथा यथार्थ से रहित है। अभिनय के चारों अङ्गों (अर्थात् आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक) पर भरत ने और अन्यों ने भी एक समान बल दिया है। आगिक अभिनय मे देह, मुख, और (शरीर) चेष्टा के अभिनय समाविष्ट है। सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व नयन, भौंहे, नासिका, अधर, चिबुक, और पैर— इन अङ्गो के सैकडो प्रकार के अभिनय **'नाट्यशास्त्र'** और नन्दिकेश्वर कृत **'अभिनयदर्पण'** आदि ग्रथो मे उल्लिखित हैं।[2] नाट्य शास्त्र मे यह निर्देशित किया गया है कि किस अङ्ग या उपयोग का अभिनय किस अवसर पर कैसे प्रभावोत्पादक हो सकता है। साथ ही यह भी निर्देशित किया गया है कि एक वाक्य को आरम्भ करने (शाखा) से पूर्व तथा उसके अन्त (अंकुर)[3] मे हाथ का परिचालन किस प्रकार से करना चाहिए। और ऐसा ही उन नृत्य—गतियों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है जिनको शास्त्रीय भाषा में करण और अङ्गहार कहा जाता है। भरतमुनि ने निर्भ्रान्त शब्दों में कहा है कि आङ्गिकाभिनय के विषय में जो आदेश उन्होंने दिये हैं उनका संशोधन तथा विस्तार अपने भावो को प्रदर्शित करते हुए लोगों के शारीरिक परिचालनो को दृष्टिपथ में रखकर, उनके आधार पर कर लेना चाहिए ।[4]

अभिनय में वाचिक अभिनय का विशेष महत्त्व है। क्योंकि—भाषा से उन भावों का ज्ञान होता है जिनको मूर्तरूप प्रदान करने में आंगिकाभिनय तथा अन्य दो प्रकार के अभिनय प्रयत्नशील रहते हैं। (अर्थात् वे वाक्यार्थ को ही अभिव्यक्त करते हैं।) 'नाट्यशास्त्र' (१५—२) में **भरतमुनि** ने कहा है कि वचन का अभिनय बड़ी

१. वहीं, पृ० १९०। २. अभि० भा०, भाग २—३।
३. अभि० भा०, भाग २—३ तथा सङ्गीत रत्नाकर, अध्याय ७—८७—८।
४. अभि० भा०, भाग २—६।

सतर्कता से करना चाहिए, क्योकि भाषा नाट्य का शरीर है[1] और रस उसकी आत्मा। इस प्रसङ्ग मे भरतमुनि ने वर्ण से लेकर विविध रचनास्वरूपो से सम्बन्धित समस्त तथ्यो का वर्णन अत्यन्त विशद रूप मे किया है। वाक्यार्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए अभिनेता को कुछ बातो का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

भरत के विचार मे नाट्य के पाठ्याश मे अपेक्षित गुण प्राप्त करने के लिए वाक्यार्थ और तज्जन्य रस के अनुरूप षड्जादी स्वरों के उपयोग का ज्ञान अर्थात् अर्थानुरूप स्वरों के उच्चारण में परिवर्तन करने की कला अवगत होनी चाहिए। शब्दो का शुद्ध उच्चारण और स्वरों का यथोचित नियमन ही श्रेष्ठ वाचिक अभिनय का मूलाधार है। इस दृष्टि से उपयुक्त स्थलो पर उपयुक्त **'यति'** और **'काकु'** के साथ बोलना, उपसर्ग–समास, विभक्ति सन्धि आदि को समुचित रीति से प्रकट करना, छन्दो को उचित स्वर लहरी मे कहना, शब्दो के प्रत्येक स्वर और व्यजन का उपयुक्त रीति से बोलना, उच्चारण करते समय शब्दो पर बलाबल देने आदि का विशेष ध्यान रखना, इत्यादि बाते अभिनय अङ्ग के रूप मे मानी जाती है ।[2] शारीरिक और वाचिक अभिनयो के अतिरिक्त यथार्थ अभिनय के प्रदर्शन के लिए अन्य दो अभिनयो मे आहार्य और वस्त्रालङ्कारो की उपयुक्त रचना भी आवश्यक समझी गयी है। क्योकि समग्र नाट्यप्रयोग 'आहार्य' अभिनय पर ही निर्भर करता है।[3] वस्तुत रस को प्रकट करने मे आहार्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है।[4] **भरतमुनि** के विचार में अभिनय को न तो पूर्णतया यथार्थ स्वरूप का ही होना चाहिए और न नितात कृत्रिम स्वरूप का ही होना चाहिए। उत्कृष्ट अभिनय के लिए यथार्थ और कृत्रिम स्वरूप का सामजस्यपूर्ण मिश्रण अपेक्षित होता है। इसी को दृष्टि में रखकर उन्होंने लोकधर्मी (यथार्थस्वरूप) एव नाट्यधर्मी (नट परम्परागत) – दो स्वरूपों के अभिनयों का नाट्यशास्त्र में उल्लेख किया है, जो उपर्युक्त तथ्य की पूर्णरूप से पुष्टि करता है। वस्तुत· नाट्य–प्रयोग को रङ्गमच पर सफलतापूर्वक प्रदर्शित करने के लिए वस्त्रादि एव प्रसाधन (Make up) परमावश्यक हं। चित्र को अंकित करने के लिए जैसे आधार पर की आवश्यकता होती है, वैसे ही नाटक के नायको के विविध प्रकार के स्थायी भावों को यथार्थमूलक एवं प्रभावोत्पादक रूप से प्रदर्शित करने के लिए आहार्य अर्थात् वस्त्रादि, एव प्रसाधन नितान्त आवश्यक होते हैं। अत: भरतमुनि ने आहार्य और वस्त्रालङ्कारों के चार प्रकारों की रचनाओं **पुस्त, अलङ्कार, अङ्गरचना** और **सङ्गीत** को उल्लिखित किया है। तीन प्रकार के पुस्तों का प्रयोग पर्वत, रथ, विमान, आदि के यथार्थ का रूप देने के लिये तत्कालीन रङ्गमच पर किया जाता था। उनका निर्माण बॉस या सरकण्डों से होता था और उन्हें कपड़ों या चर्म से आवृत किया जाता था और फिर रङ्गमंच पर अभिनेता ऐसी चेष्टा करता था जिसमे उन वस्तुओं का

१. "वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैषा तनु: स्मृता। अङ्गनेपथ्य सत्वानि वाक्यार्थ व्यञ्जयन्ति हि।।" (ना० शा०, १५। २)

२. ना० शा० १५। ६–७। ३. ना० शा० २३। १, २।

४. अभि० भा० भाग ३, १०८–१०९।

बोध दर्शक समाज को हो जाता था।[१] इन पुस्तो को क्रमश: **सन्धिम, व्यञ्जिम,** और **चेष्टिम** के नाम से जाना जाता था। अलङ्कारों मे विविध प्रकार के **माल्य, आभरण, वस्त्र** आदि की गणना की जाती थी। **अङ्गरचना** में पुरुष और स्त्रियों के विविध प्रकार के वेष–विन्यासो का प्रयोग किया जाता था। नाट्यशास्त्र मे उल्लिखित नेपथ्य कर्म का यह विस्तृत विवेचन, यथा सभव रङ्गमच को यथार्थरूप देने की दृष्टि से ही किया गया है। परन्तु उक्त तीनो प्रकार के अभिनयो मे कही अधिक महत्त्वपूर्ण अभिनय सात्त्विक अभिनय है। यह (सात्त्विकाभिनय) मनोगत भाव से उद्भूत होने के कारण आगिक अभिनय से भिन्न कोटिका माना गया है। नाट्य प्रदर्शन मे मनोगत भाव को प्रकट करना, सर्वाधिक श्रम और मन की एकाग्रता से साध्य होने के कारण, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। मनोगत भाव को प्रधान रूप से प्रकट करने वाला अभिनय सर्वोत्तम माना जाता है। और सात्त्विकाभिनय रहित अभिनय निकृष्टरूप का।[२] और इसीलिए भिन्न–भिन्न रसो और भावो के अभिनय मे अभिनेता या अभिनेत्री की वास्तविक परीक्षा हो जाती है। इसीलिए भरत ने कहा है कि सम्पूर्ण नाट्यप्रदर्शन मे 'सत्त्व' की मौलिक महत्ता है। **'नाट्य सत्त्वे प्रतिष्ठितम्।'** क्योकि सात्त्विक भावो – **स्तम्भ, रोमाञ्च, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु** और **प्रलय**–की अभिव्यक्ति के लिए नट मे सत्त्व का होना नितान्त आवश्यक है। सत्त्व के लिए मन की एकाग्रता का होना आवश्यक है, क्योकि रोमाच, अश्रु तथा वैवर्ण्य जैसे भावो का अभिनय अन्यमनस्क भाव से नही हो सकता।

इस प्रकार सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक–इनमे से केवल एक या दो से नही किन्तु इन चार प्रकार के अभिनयो के द्वारा जब अवस्थानुकरण किया जाता है तब वह अभिनय नाट्य कहलाता है। यहाँ – अवस्थानुकरण से यह तात्पर्य है कि चाल, ढाल, वेश–भूषा, आलाप–प्रलाप आदि के द्वारा अनुकार्य पात्र की प्रत्येक अवस्था का अनुकरण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि नटो मे अनुकार्य पात्र की **'तादात्म्यापत्ति'** हो जाय। अर्थात् नट अनुकार्य दुष्यन्त की प्रत्येक प्रवृत्ति की ऐसी अनुकृति करे कि सहृदय दर्शक नट को दुष्यन्त ही समझने लगे। अभिनय के अवसर पर दुष्यन्त और नट का भेद लुप्त हो जाय, उनमे परस्पर अभेद प्रतिपत्ति हो जाय। भरत कहते हैं कि यह **'अभेदप्रतिपत्ति'** वैसी ही है जैसे आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर मे प्रविष्ट होती है तब वह दूसरी अवस्था जैसी बन जाती है। और वह नट वही अनुकार्य बन जाता है।[३] इस प्रकार हम देखते हैं कि भरत ने निश्चित रूप से नाट्य का सम्बन्ध सुख–दु:खात्मक जगत् के अभिनयरूप से स्वीकार किया है। अब यदि भरत ने नाट्य को **'लोकवृत्तानुकरण'** कहा है तो निश्चय ही यहाँ उनके अनुकरण का तात्पर्य अभिनय से है। वस्तुत: अभिनय–कला नाटक के मंचीय रूप से सम्बद्ध है। एक प्रकार से वह नाटक को दृश्यत्व रूप प्रदान करती है।

---

१. ना० शा०, २३–५–७।   २. अभि० भा०, भाग० ३–१५०।

३. ना० शा०, ३५। २६–२७।

भरत के पूर्ववर्ती नाट्याचार्य

वर्तमान नाट्यशास्त्र का 'अथ' से 'इति' पर्यन्त अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि नाट्यशास्त्र की परम्परा बहुत प्राचीन है। नाट्यशास्त्र के ६ठें, ७वें तथा अध्यायों में भी जो लम्बे–लम्बे गद्यांश आए हैं, जिनकी शैली निरुक्त और महाभाष्य की शैली है। कम से कम १५ श्लोक और १६ आर्याएँ आनुवंश्य (अर्थात् वंशानुक्रम से प्राप्त होने का उल्लेख मिलता है।) हैं। इनके अतिरिक्त कुछ सूत्र निबद्ध आर्या, हैं। कुछ श्लोक हैं जिन्हें **'अत्र श्लोका:'** या **'अत्रार्या'**–कहकर उद्धृत किया गया है और जिनके विषय में **अभिनवगुप्त** ने कहा है कि ये प्राचीन आचार्यो के कहे हुए श्लोक हैं।[1] इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि वर्तमान नाट्यशास्त्र में पूर्वपरम्परा के अनेक तत्त्व मिलते हैं। नाट्यशास्त्र के पूर्ववर्ती आचार्यो में पाणिनी[2] की **'अष्टाध्यायी'** में उल्लिखित दो सूत्र– कर्ताओं **कृशाश्व** और **शिलालि** के नाम मिलते हैं। **भावप्रकाशन** में **वासुकि** नाम के एक प्राचीन आचार्य के नाम का पता चलता है। इनके अतिरिक्त भरत ने स्वयं नाट्यशास्त्र के अन्त में अपने पूर्ववर्ती चार आचार्यो –**कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य** और **दत्तिल**– का उल्लेख किया है। **नखकुट्ट** और **अश्मकुट्ट** का भी उल्लेख देखने में आता है। उक्त आचार्यो के अतिरिक्त **डॉ० काणे** ने अभिनव भारती के आधार पर **'विशाखिल'** – नामक आचार्य का पूर्ववर्ती आचार्यो में उल्लेख किया है। किन्तु इनके नामों का ही आज ज्ञान होता है, उनके निर्मित ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हैं फिर भी इतना तो निर्विवादित सत्य है कि उपलब्ध नाट्य सम्बन्धी ग्रंथों में भरत का 'नाट्यशास्त्र' सर्वाधिक प्राचीन है।

नाट्यशास्त्र के परवर्ती व्याख्याता–आचार्य

कई परवर्ती आचार्यो ने भरत के 'नाट्यशास्त्र' या सूत्रों पर कई टीकाएँ या भाष्य लिखे थे। **भरतटीका, हर्षकृत वार्तिक, शाक्याचार्य राहुलकृत कारिकाएँ, मातृगुप्त टीका, कीर्तिधर टीका, शंकुक** आदि की टीकाओं की चर्चा तो मिल जाती है, पर वे आज अनुपलब्ध हैं। इनमें से कुछ के उद्धरण व मत **अभिनवगुप्त** की टीका में मिलते हैं। **भरत** के रस विषयक प्रसिद्ध सूत्र **'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्ति:'** की व्याख्या करने वालों में **लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक** एवं **अभिनगुप्त**– ये चार आचार्य प्रसिद्ध हैं। अभिनवगुप्त ने अपनी टीका में उक्त तीनों आचार्यो के मतों का पर्याप्त विश्लेषण किया है।

भरत के रसपरक सिद्धान्त के व्याख्याकार

१. लोल्लट –

भरत के नाट्यशास्त्र द्वारा रस सिद्धान्त का व्यापक रूप में प्रवर्तन होने के पश्चात् – साहित्य के क्षेत्र में दो धाराएँ परिलक्षित होने लगीं – (१) **रस विरोधी धारा,** और (२) **रसवादी धारा**। दोनों धाराएँ समानान्तर रूप से निरन्तर प्रवाहित थीं। कालक्रमानुसार रसवादी धारा के वर्ग में प्रथम नाम मिलता है लोल्लट का। अभिनव

---

१. अभिनव भारती, भाग १, पृ० ३२८। २. ई० पू० चौथी शताब्दी ।

गुप्त की नाट्यशास्त्र पर लिखी हुई प्रसिद्ध टीका में भट्टलोल्लट के मत (रस विषयक उनके विचार) का उल्लेख देखने को मिलता है। लोल्लट ने ही सर्वप्रथम भरत के रसपरक सिद्धान्त की व्याख्या लिखी होगी, जो आज उपलब्ध नहीं है। भरत के रस विषयक प्रसिद्धसूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रस निष्पत्तिः'– को व्याख्या में उन्होंने **'संयोगाद्'** से **'कार्यकारण भावरूप सम्बन्ध'** तथा **'निष्पत्तिः'** मे **उत्पत्ति** अर्थ ग्रहण किया। अतः इनका मत **'उत्पत्तिवाद'** कहलाता है। लोल्लट अभिधावादी थे। उनके विचारानुसार शब्द के प्रत्येक अर्थ की प्रतिपत्ति अभिधा से ठीक उसी प्रकार हो जाती है, जैसे बाण अकेला ही कवच को चीरकर, शरीर मे प्रविष्ट होता हुआ प्राणो का अपहरण कर लेता है– काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने उनके इस विचार को इस प्रकार उद्धृत किया है– **'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधा व्यापारः।'** लोल्लट के विषय मे यह कहा जाता है कि वे मीमांसक थे, किन्तु अब तक इसका कोई विश्वस्त आधार नही मिला है। और प्रमाण के अभाव मे किसी प्राचीन प्रवाद की आवृत्ति करना अनुसन्धान के नियम के विरुद्ध है।[१] **डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय** के अनुसार वे शैव थे। लोल्लट काव्य शास्त्र के अतिरिक्त दर्शन के भी पण्डित थे और कदाचित् कविता के प्रति उनका अनुराग था। **हेमचन्द्र काव्यानुशासन** मे उद्धृत पद्यों को भट्टलोल्लट प्रणीत बतलाया गया है।[२] लोल्लट के मत का प्रभाव धनञ्ज्य और धनिक पर भी परिलक्षित होता है। इनके समय का पता अभी तक ज्ञात नही हो सका है। विद्वान् इतना ही अनुसन्धान कर पाये हैं कि वे उद्भट के परवर्ती तथा अभिनव के पूर्ववर्ती थे। **डॉ० वाटवे** उनका समय सन् ७०० से ८०० ईस्वी मानते हैं और अन्य विद्वानो के विचार मे वे प्रसिद्ध काश्मीरी दार्शनिक कल्लट (नवीं शताब्दी का मध्य) के समसामयिक थे।

२. शङ्कुक –

भरत–सूत्र के दूसरे प्रसिद्ध व्याख्याता हैं – शङ्कुक। ये भी भट्टलोल्लट की तरह ही केवल नाम शेष हैं। इनके मत से सम्बद्ध कतिपय उद्धरण **'अभिनवभारती'** तथा **'ध्वन्यालोक लोचन'** में तथा एक उद्धरण **'काव्य प्रकाश'** में देखने को मिलता है। इनका नाम भी इन्हें काश्मीरी आचार्य सूचित करता है। **डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय** इन्हें भी शैवमतानुयायी मानने के पक्ष में हैं। दूसरी ओर **डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त** इन्हें बौद्ध न्याय से प्रभावित पाते हैं[३] कुछ भी हो, ये नैयायिक अवश्य थे। भरतसूत्र पर इनकी व्याख्या 'अनुमितिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। शङ्कुक ने ही सर्वप्रथम लोल्लट के 'उत्पत्तिवाद' तथा सहृदय–सामाजिको में रसानुभव (रस की स्थिति) न मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन किया है। तात्पर्य यह है कि लोल्लट की तरह शंकुक ने भी रस को नाट्य रस के अर्थ में ही ग्रहण किया है। किन्तु लोल्लट जहाँ अनुकार्य (राम आदि) और अनुकर्ता (नट) पर ही रूक जाते हैं, वहाँ शंकुक रस को सहृदय–सामाजिकों में मानी है।

---

१. 'रससिद्धान्त' – डॉ० नगेन्द्र, पृ० १४८–१४९

२. भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० ३३–३४ (प्र० सं०) पं० बलदेव उपाध्याय

३. रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन (शोध प्रबन्ध) श्रीप्रेमस्वरूव गुप्त, अलीगढ़ वि० वि०

आविर्भाव—समय की दृष्टि मे शकुक भी भट्टलोल्लट के ही समसामयिक रहे होगे, अर्थात् नवम शती मे।

३. भट्टनायक —

भरत—सूत्र के तीसरे प्रमुख व्याख्याकार हैं भट्टनायक। आपने रस का प्रत्यक्ष समर्थन किया है। इनका आविर्भाव काल आनन्दवर्धन के पश्चात् और अभिनव के पूर्व अर्थात् १० वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे माना जा सकता है। अभिनव गुप्त ने इनके मत का विवेचन खण्डनात्मक रूप में अपने टीका ग्रथों — (१) **अभिनवभारती** और (२) **ध्वन्यालोक लोचन**— मे अधिक विस्तार एव आदर के साथ किया है। कहा जाता है कि भट्टनायक ने **'हृदयदर्पण'** — नामक एक स्वतन्त्र ग्रथ की रचना की थी। किन्तु दुर्भाग्यवश यह ग्रथ आज केवल नाम शेष रह गया है। अभिनवगुप्त द्वारा अपनी 'अभिनवभारती' मे किये गए उल्लेख से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भट्टनायक शैव आनन्दवादी थे। उनके मत मे यह जगत् एक नाटक के समान है, जिसके प्रयोग मे मनुष्य निरन्तर रसास्वादन करते हैं। अभिनवगुप्त के समान भट्टनायक भी **'शान्तरस'** को मूल रस मानने के पक्ष में थे — **'स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्तादुत्पद्यते रसः ।'**[1] उनके विचार मे हृदय की परिपूर्णता से काव्य का उद्भव सभव होता है — **'एतदेवोक्तं हृदयदर्पणयावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम् ।'**[2] अर्थात् जब तक हृदय भाव से ओतप्रोत (पूर्ण) नही होता, तब तक पद्य के रूप मे कवि उसे उद्गीर्ण नहीं कर सकता। उनके विचार में काव्य का रस योगादि द्वारा प्राप्त रस से उत्कृष्ट होता है।[3]

शास्त्रीय विचारो में भट्टनायक 'मीमासा' को मानने वाले थे। मीमांसा मे 'भावना' की प्रमुखता रहती है। इसी भावना को इन्होंने काव्यमार्ग मे प्रस्तुत कर रस की व्याख्या करने का प्रयास किया है। मीमांसक भावना के समान उनका भावना नामक काव्य व्यापार भी अंशत्रय (अर्थात् साध्य, साधन तथा इतिकर्तव्यता से युक्त) विशिष्ट होता है। **अभिनवगुप्त** ने दो स्थानों पर भट्टनायक पर व्यंग्योक्ति का प्रयोग करते हुए उनकी हँसी उडायी है —

जैमिनि सूत्रे ह्येवं योज्यते न काव्येऽपि'[4]

'यत्तु भट्टनायकेनोक्तम् ... तेन नाट्यङ्गता समर्थिता । फलं तु पुरुषार्थ—त्वात् ।' इति केवलं जैमिनिरनुसृतः ।। (अ. भारती)

उक्त इन दो वचनों के आधार पर ज्ञात होता है कि अभिनवगुप्त भट्टनायक को मीमांसक मानते थे। यहाँ विशेष उल्लेखनीय यह है कि भट्टनायक मीमांसक होने के नाते 'अभिधा' पर विशेष आग्रह रखते अवश्य हैं, किन्तु इनकी 'अभिधा' शक्ति रूप नहीं, प्रत्युत काव्य में प्राधान्य रखने वाला विशिष्ट कवि व्यापार है।

१. अ० भा० हिन्दी, पृ० ३५।
२. ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ८७।
३. वहीं, पृ० ९२।
४. ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ६३।

विशेष — कतिपय विद्वान् भट्टनायक को 'साख्यमतानुयायी' मानते है। यह धारणा साधार न होने के कारण युक्तियुक्त नही है। **अभिनवगुप्त** ने उन्हे मीमासक ही माना है। भट्टनायक ने साख्य मत से प्रभावित रस के सुखदु·खात्मक स्वरूप का खण्डन कर दिया है। इसके अतिरिक्त भट्टनायक ने 'रसनिष्पत्ति' की प्रक्रिया को प्रस्तुत करने में जिन शब्दों का प्रयोग किया है, वे शुद्धरूप से 'मीमासा' शास्त्र में प्रयुक्त होने वाले शब्द हैं — 'भावन' मीमांसा शास्त्र मे एक सज्ञा है। भावना का लक्षण है —'भवितुर्भवनानुकूलो—भावक व्यापार विशेष·।' निर्माण होने वाली वस्तु के निर्माण के प्रति अनुकूल, निर्माता का व्यापार (प्रयत्न) ही भावना है। मीमासको की परिभाषा मे भट्टनायक द्वारा व्यक्त भावना के रसप्रक्रिया के सिद्धान्त को इस प्रकार देखा जा सकता है काव्यगत भावना मे रस साध्य है, विभावादि का साधारणीकरण साधन है एव गुणालङ्कार तथा अभिनय इतिकर्तव्यता है।

४. अभिनवगुप्ताचार्य

बहुमुखी प्रतिभाशाली अभिनवगुप्त रस—सम्प्रदाय के सर्वप्रमुख आचाय हैं। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की जिनमें काव्यशास्त्र से सम्बद्ध उनके दो ग्रन्थ हैं — **ध्वन्यालोक लोचन** और **अभिनव भारती**। ध्वन्यालोक लोचन मे उन्होंने आनन्दवर्धन के **'ध्वनि सिद्धान्त'** का विशदीकरण किया है। और 'अभिनवभारती' भरतनाट्यशास्त्र का भाष्य है। इस प्रकार अभिनवगुप्त एक ओर ध्वनि सम्प्रदाय के सस्थापक आचार्य हैं, तो दूसरी ओर नाट्यशास्त्र के गम्भीर दार्शनिक भाष्यकार।

इन दो ग्रंथों के अतिरिक्त इन्होंने तन्त्रशास्त्र और शैवागम पर भी ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें **'तन्त्रालोक'** तथा **'ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका'** पर लिखी **'विमर्शिनी'** टीका प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त भी अभिनव गुप्त का अनेक गुणराशि से समन्वित एक तीसरा भी व्यक्तित्व है, वह है परगुणग्राहकता का, निरभिमानता का, व्यंग्योक्ति के साथ हास्यपुटता का और विविध शास्त्र—ज्ञान सम्पन्नता का। यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यह है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती—भरत के रस—सूत्र के व्याख्याताओं के सिद्धान्त—मतों का गहन परीक्षण करने के उपरान्त अपने मत की प्रस्थापना करते हुए पूर्ववर्ती व्याख्याताओं के अस्वीकार्य्य सिद्धान्त के लिए **खण्डन शब्द का प्रयोग न कर** उसके (खण्डन शब्द के) स्थान पर **'संशोधन' शब्द का प्रयोग किया है।** उनका अभिप्राय यह है कि हमने अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के विचारों का परीक्षण करने के उपरान्त उनका केवल 'संशोधन' मात्र किया है खण्डन नहीं। क्योंकि पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा स्थापित सिद्धान्तों की समुचित सङ्गति लगा देने में मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना का सा ही फल मिलता है।

'तस्मात् सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि। पूर्व प्रतिष्ठापित योजनासु मूल प्रतिष्ठा फलमामनन्ति।'

अभिनव का यह कथन काव्य शास्त्र के आचार्यों का मूल्यांकन करने के लिए नितान्त स्मरणीय होने से महत्त्वपूर्ण है। वस्तुत: शास्त्र या काव्यशास्त्र के वे ही आचार्य·उद्भावक आचार्य कोटि में परिगणित नहीं हैं, जिन्होंने नवीन सिद्धान्तों का

आविष्कार किया है,—आख्यान और पुनराख्यान करने वाले गभीर चेता आचार्य भी उसी कोटि में आते हैं। स्वयं अभिनव के विषय में भी यही सत्य है।''[१]

अभिनव गुप्त का मत

अभिनवगुप्त ने अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तो—**उत्पत्तिवाद, अनुकृतिवाद,** तथा **भुक्तिवाद** आदि का प्रबल शब्दो में प्रतिवाद किया और 'अभिव्यक्तिवाद' की दार्शनिक भित्ति पर स्थापना की ।[२] अत· ये 'अभिव्यक्तिवादी' की संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं। अभिनव 'रस' को व्यङ्ग्य मानते हैं इनके अनुसार भरत के रस सूत्र के 'संयोगाद् तथा निष्पत्ति., का अर्थ **'व्यंग्यवयञ्जकभावरूपात्'** तथा **'अभिव्यक्तिः'** है। ये रस की स्थिति सहृदय मे मानते है। जिस प्रकार भट्टलोल्लट ने 'उत्तरमीमांसा' के, शंकुक ने 'न्याय' के और भट्टनायक ने 'मीमासा' के आधार पर अपने मतों की स्थापना की है। उमी प्रकार अभिनवगुप्त ने 'शैवाद्वैत'[३] के सिद्धान्त पर अपने मत की स्थापना की है।

रस की चर्वणा तथा निष्पत्ति[४] के अतिरिक्त अभिनव ने एक और नई स्थापना की है, वह है — 'शान्त रस' की स्थापना । लोल्लट — प्रतिपादित रसों की अनन्तता का निषेध कर अभिनव ने रस—सख्या नौ ही मानी है, और 'शान्त' को महारस माना है।

अभिनव गुप्त की 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा—विमर्शिनी नामक रचना के आधार पर इनका समय दसवीं शती का अन्त तथा ११ वीं शती का प्रथम भाग है। अभिनव गुप्त की रस विषयक उपपत्ति से प्रभावित प्राचीन साहित्य मीमांसकों के निर्णयानुसार भरत के रससूत्र के आधार पर जिन चार आचार्यो ने रस का विवेचन किया है। उनमें अभिनव कृत विवेचन ही भरत के अभिप्राय के अनुकूल है। 'काव्य प्रकाश' के प्रसिद्ध टीकाकार **माणिक्यचन्द्र** ने **'संकेत'** नामक टीका में लिखा है —

''न वेत्ति यस्य गांभीर्य गिरितुङ्गोऽपि लोल्लटः। तत् तस्य रसपाथोधेः कथं जानातु शङ्कुकः ।। भोगे रत्यादि भावानां भोगं स्वस्योचितं ब्रुवन्। सर्वथा रससर्वस्वमभाङ्क्षीत् भट्टनायकः ।। स्वादयन्तु रस सर्वे यथाकामं कथंचन। सर्वस्वं तु रसस्यात्र गुप्तपादा हि जानते ।।''

---

१. अभिनव भारती — कारिका ३१, अध्याय ६, पृ० ४६९ रस सिद्धान्त — डॉ० नगेन्द्र, पृ० १६९
२. देखिए — हिन्दी अभिनव भारती, अ० ६
३. डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय के अनुसार अभिनव वेदान्त मत के अनुयायी नही थे जैसा कि कुछ लोग मानते हैं अभिनव वेदान्त मत के विरोधी थे, इसलिए उनके रस सिद्धान्त का आधार वेदान्त मत न होकर शैव मत है। देखिए — स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृ० ११५
४. अभिनव कहते हैं कि यह निष्पत्ति रस की नहीं है अपितु रस विषयक रसना की **निष्पत्ति है।' देखिए, ना० शास्त्र, चौ० प्रकाशन, सपादित श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री — अध्याय — ६, पृ० २७४—७५**

अभिनव (उनकी) रसविषयक उपपत्ति को **मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, प्रभाकर, मधुसूदन, जगन्नाथ** आदि उत्तरवर्ती प्रसिद्ध साहित्यमीमासको ने सर्वतोभावेन माना है।

अन्य उत्तरवर्ती काव्यशात्रीय ग्रंथों में नाट्य विवेचन

उपर्युक्त टीकाकारों और काव्य शास्त्र के स्वतंत्र ग्रथ निर्माताओं के अतिरिक्त कुछ आचार्यो ने काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन किया है, जिनमे नाट्य विषयों का भी विवेचन किया गया है। इनमें **भोजराज** (११ वीं शती) ने **'शृङ्गारप्रकाश'** और **'सरस्वतीकण्ठाभरण'** में अन्य काव्याङ्गों के साथ–साथ नाट्य विषयो का भी प्रतिपादन किया है। **हेमचन्द्राचार्य** ने **'काव्यानुशासन'** मे भी कुछ नाटकों की विवेचना की है। **विद्यानाथ** के **'प्रतापरुद्रयशोभूषण'** और **विश्वनाथ** के **'साहित्यदर्पण'** मे काव्याङ्गो के विवेचन के साथ–साथ नाट्य विवेचन भी है। अपनी विषय–प्रतिपादन की प्रमादपूर्ण शैली के कारण अन्तिम ग्रथ –साहित्यदर्पण–अधिक प्रसिद्ध है। वैसे देखा जाय तो इन उक्त नवीन ग्रंथों का प्रधान उद्देश्य कवि को नाटक लिखने की विधि से अवगत कराना मात्र है। इन ग्रंथो मे कथावस्तु, नायक–नायिका, रसविचार, रूपक लक्षण, आदि का ही विस्तार है। यद्यपि इन सबका मूल भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ही है। तथापि इनमें परस्पर मतभेद भी कम नही है। साहित्य जगत् मे पठन–पाठन की दृष्टि से आज इनमे सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है **'दशरूपक'** ने। इस प्रकार सम्पूर्ण नाट्यशास्त्रीय ग्रथो पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि भरत मुनि के पश्चात् एक भी मौलिक ग्रंथ नाट्य शास्त्र पर नहीं लिखा गया। जो ग्रंथ लिखे भी गए, वे या तो भरत कृत नाट्यशास्त्र के संक्षिप्त या लघुरूप थे, अथवा **धनञ्जय** के दशरूपक का ही उलथामात्र, अर्थात् दूसरे शब्दों में प्रस्तुत किये हुए थे। सभवत: किसी मौलिक उद्भावना के अभाव का कारण यह रहा हो कि उत्तर कालीन आचार्यो पर भरतमुनि और अभिनवगुप्त का ऐसा दीप्त प्रभातालोक इन आचार्यो पर पड़ा कि उनकी प्रतिभा ही कुण्ठित हो गई, वे हतप्रभ से हो गये फलत· वे इन दोनों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो को ही अन्तिम मानते रहे या उन्हीं विचारो के आलोडन मे ही वे अन्त तक व्यस्त रहे। फलत: नवीन ग्रंथो की रचना न हो सकी।

दशरूपक

धनञ्जय

प्रस्तुत ग्रन्थ 'दशरूपक' के लेखक धनञ्जय विष्णु के पुत्र थे। ये मालवा के परमारवंशीय राजा मुञ्ज (९७४–९९५ ई०) के सभासद थे। इसका उल्लेख धनञ्जय ने अपने ग्रन्थ के अन्त में किया है।[१] भरतमुनि का नाट्यशास्त्र अत्यधिक गहन और विस्तीर्ण होने से मन्दबुद्धि जनों के लिए बुद्धिभ्रम का कारण हो सकता है। यह

---

१. विष्णो: सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्ध हेतु: । आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठी वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ।। ४। ८६

समझकर उन्होने इस ग्रन्थ मे नाट्यशास्त्रीय नितान्त उपयोगी[1] बातों को संक्षिप्त करके कारिकाओं में इस ग्रंथ की रचना की। यद्यपि सरलता की दृष्टि से इस ग्रन्थ की अधिकांश कारिकाएँ अनुष्टुप् छन्दों में ही लिखी गई हैं। तथापि कुछ कारिकाओं में दुरुहता भी परिलक्षित होती है। अत. उनके भाई **धनिक** ने कारिकाओं का अर्थ स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही इस ग्रन्थ पर **'अवलोक'** नामक वृत्ति लिखी है। हर्षचरित की दुरूहता को दूर करने वाली शंकर कृत 'संकेत' टीका की तरह 'अवलोक'– वृत्ति ने धनञ्जय की कारिकाओ की दुरुहता को दूर कर दिया है। निश्चय ही इस वृत्ति के अभाव में दशरूपक की कारिकाओं को समझना कठिन होता। इस दृष्टि से वृत्ति को कारिकाओं का ही अभिन्न अङ्ग समझना चाहिए। ग्रंथ की पूर्णता और महत्ता में बन्धुद्वय–धनञ्जय और धनिक–का पूर्ण योगदान रहा है, यह निर्विवादित सत्य है।

धनिक

धनिक दशरूपक की कारिकाओ के रचयिता धनञ्जय के ही लघु–भ्राता थे। दशरूपक के प्रत्येक प्रकाश के अन्त मे अंकित अवलोक की पुष्पिका से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे विष्णु के ही पुत्र थे।[2] और वे अपने बड़े भाई धनञ्जय के साथ ही मुञ्ज की सभा के सभासद थे। इसके अतिरिक्त इनकी जीवनी के विषय में कोई माहिती प्राप्त नहीं होती।

कारिकाओ की वृत्ति 'अवलोक' में सर्वत्र उनका बहुमुखी पाण्डित्य मुखरित होता चलता है। साहित्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा मीमासा पर उनका पूर्ण अधिकार परिलक्षित होता है। ग्रन्थ के चारो प्रकाशो मे उद्धृत उदाहरणों मे **२४ उद्धरण** स्वयं धनिक स्वरचित हैं, जिनमे चार प्राकृत के हैं। इससे स्पष्ट होता है कि धनिक संस्कृत तथा प्राकृत के उत्तम कवि थे। धनिक ने 'अवलोक' के अतिरिक्त **'काव्य निर्णय'** नामक साहित्यशास्त्र का ग्रन्थ भी लिखा था। इसकी सात कारिकाएँ चतुर्थ प्रकाश में स्वयं उद्धृत कर वे कहते हैं –**'यथावोचाम काव्यनिर्णये'**– (हमने अपने 'काव्य निर्णय' नामक ग्रंथ में बतलाया भी है।) संभवत: यह ग्रंथ कारिकाओं में था। परन्तु दुर्भाग्यवश आज यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। फिर भी उनका साहित्यशास्त्र का अगाध पाण्डित्य हमें ग्रंथ के चतुर्थ प्रकाश में शान्तरस की योजना, रसों के विरोध तथा अविरोध एवं काव्य के रस–भाव आदि के साथ उल्लिखित सम्बन्ध को अंकित करने में देखने को मिलता है।

ग्रन्थ के नामकरण का आधार

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का बीसवाँ अध्याय **'दशरूप–विकल्पन'** (२०–१) या 'दशरूप विधान'– के नाम से जाना जाता है। नाट्यशास्त्र दशरूपक का उपजीव्य होने के कारण धनञ्जय ने अपने ग्रन्थ का नाम 'दशरूपक' रक्खा। नाट्यशास्त्र में

---

१. नाट्यानां किन्तु किञ्चित्प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि ।' (१।४)

२. ''इति श्रीविष्णो सूनोर्धनिकस्य कृतो दशरूपावलोके रस विचारो नाम चतुर्थ प्रकाश: समाप्त:''।।

निम्नलिखित दश रूपकों का विधान अकित है – **नाटक, प्रकरण, अङ्क** (उत्सृष्टिकाङ्क), **व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम** और **ईहामृग**। इन दस मुख्य रूपों या रूपकों का इसमे वर्णन होने से इसे 'दशरूपक' कहा जाता है। 'हॉस' (Haas) के अनुसार इस ग्रथ का नाम ग्रंथकार ने **'दशरूप'** रक्खा था और इसीलिए धनिक ने अपनी टीका का नाम **'दशरूपावलोक'** रखा है। किन्तु हॉस की यह कल्पना मात्र है। क्योकि यहॉ ध्यातव्य यह है कि नाट्यशास्त्र मे नाटक, प्रकरण आदि दस रूपकों के प्रकारों का विवेचन वर्णित होने पर भी 'रूपक' शब्द की व्याख्या का उल्लेख कही देखने में नहीं आता। भरत ने सर्वत्र **'रूप'** शब्द का ही उपयोग किया है। उदाहरणार्थ – १७।२६, १४९, १५०; १८।१, ४, ९, ११६; १९।४५, १३० इन स्थलों पर तथा अध्याय के अन्त में **'दशरूपनिरूपणम्'** या **'दशरूप–विधानम्'** – इस नाम का उल्लेख किया गया है। अत यह सभव है कि प्रारम्भ में नाट्यस्वरूप काव्य की सज्ञा **'रूप'** ही रही होगी, और 'रूपक'—सज्ञा का प्रचार उत्तरकालीन नाट्यग्रंथों में हुआ हो। क्योंकि उत्तरकालीन आचार्यो —धनञ्जय आदि ने अभिनेय स्वरूप के काव्य को अर्थात् नाट्य को, नाट्य दृश्य होने के कारण, नाट्य को 'रूप' कहा जाता है, कहा है। **'अवस्थानृकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते'**। जो भी हो आज यह ग्रंथ 'दशरूपक' इस नाम से जाना जाता है।

दशरूपक के प्रतिपाद्य–विषय का संक्षिप्त विवरण

इसके पूर्व हम बता चुके हैं – दशरूपक कारिकाओं में निबद्ध नाट्यशास्त्रीय विषयो का एक संक्षिप्त एवं महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। धनजय ने इस ग्रंथ की कारिकाओ की रचना की है और उनके छोटे भाई धनिक ने उन कारिकाओं पर 'अवलोक' नाम की वृत्ति लिखी है। प्रस्तुत ग्रंथ में **चार** प्रकाश हैं। **प्रथम** में कथावस्तु का विवेचन है, **दूसरे** में नायक का, **तीसरे** में पूर्वाग और भारती आदि वृत्तियों का और चौथे में रस का विवेचन ग्रंथकार ने किया है।

प्रथम प्रकाश –

प्रथम प्रकाश में भारतीय परम्परानुसार ग्रंथकार ने अपने इष्ट देवो तथा आचार्य भरत मुनि की वन्दना करने के पश्चात् **'अनुबन्ध चतुष्टय'**[१]– विषय, अधिकारी, संबंध तथा ग्रंथ का प्रयोजन– का विवेचन किया है। अर्थात् ग्रंथकार की ग्रन्थ–रचना में प्रवृत्ति, रचना करने का उद्देश्य तथा नाट्य एव काव्य के उद्देश्य का उल्लेख। काव्य के उद्देश्य को बतलाते हुए ग्रंथकार ने भामहोक्त काव्य (रूपक) के लक्ष्य (फल) की ओर सकेत करते हुए उनकी हँसी उड़ायी है।[२] और आनन्दानुभूति को ही नाट्य का प्रयोजन स्वीकार किया है। किन्तु भामहोक्त **'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासुच** । करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ।।'

इस कारिका पर स्वस्थ विचार करने पर ज्ञात होता है कि यद्यपि धर्म, अर्थ तथा काम आदि भी उनके विचार में काव्य के प्रयोजन हैं, किन्तु ये प्रयोजन प्रधान न

---

१. 'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धत्वम्'

२. १।६ द० रू०

होकर गौण है, 'कीर्ति और प्रीति' एक दूसरे से भिन्न दिखाई देने पर भी अन्तस् में दोनों का परिणाम एक—आनन्द ही है, कीर्ति भी प्रीति—आनन्द की एक साधन है, साध्य नहीं। कीर्ति का पर्यवसान आनन्द में ही होता है। भामह पर व्यंग्योक्ति करने के पश्चात् ग्रंथकार ने नाट्य का (रूप—रूपक) लक्षण बतलाकर उसका नृत्य तथा नृत्त से भेद निर्देशित किया है। इसके साथ ही रूपक के दस भेदों — नाटक, प्रकरण आदि का उल्लेख कर रूपकों के भेदक तत्त्वों — वस्तु, नेता तथा रस—को अंकित किया है।

विभिन्न रूपकों की कथावस्तु का आधार[1]

प्रत्येक रूपक के लिये एक कथा आवश्यक होती है। धनञ्जय ने दशरूपक के प्रथम प्रकाश के अन्त में रूपक को—**'नेतृ—रसानुगुण्या कथा'** कहकर सम्बोधित किया है। रस प्रधान है, रस और नायक के अनुकूल ही कथा की रचना की जाती है। रूपककार अपने रूपक के लिये कथा या तो रामायण-महाभारत और इतिहास प्रसिद्ध ग्रंथों से ग्रहण करता है या कल्पना का आश्रय लेकर कल्पित कथा की रचना करता है।[2] इस प्रकार कथा के दो भेद होते है — (१) **प्रख्यात** और (२) **उत्पाद्य** (कल्पित)। कभी—कभी नाटककार अपने रूपक के लिए कथा का कुछ अंश इतिहास से और कुछ अपनी कल्पना से ग्रहण कर रूपक की रचना करता है। ऐसी स्थिति में उस रूपक की कथा मिश्र (इतिहास + कल्पना) कहलाती है। इस प्रकार कथा तीन प्रकार की होती है — (१) **ऐतिहासिक** (२) **उत्पाद्य** (कल्पित) और (३) **मिश्र।** प्रख्यात कथा में नाटककार विशेष बन्धन मे होता है, क्योंकि वह अपनी कल्पना के अनुसार कथा की वास्तविकता या उसकी ऐतिहासिकता मे परिवर्तन नही कर सकता। कल्पित कथा मे वह बन्धन में नही होता, क्योंकि नाटक का इतिवृत्त उसका स्वयं का कल्पित होता है — **'उत्पाद्यं कविकल्पितम्।'** ऐसे काल्पनिक इतिवृत्त का प्रयोग **'प्रकरण, भाण, प्रहसन** आदि मे किया जाता है। मिश्र कथा मे थोड़ा बहुत बन्धन होता ही है।

आधिकारिक और प्रासंगिक कथा

जब नाटककार अपने नाटक के लिये किसी इतिवृत्त का (अर्थात् ऐतिहासिक, काल्पनिक या मिश्र कथा का) आहरण कर लेता है तब उसके दो रूप हो जाते हैं (१) **मुख्य कथा** और (२) **प्रासंगिक कथा।** मुख्य कथा को आधिकारिक और सहायक कथाओ को प्रासंगिक कहा जाता है। अधिकारिक कथा रूपक के नायक के फल की प्राप्ति से सम्बद्ध होती है। वह नायक के जीवन—लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है अत: उसे आधिकारिक या प्रधान (मुख्य) कथा कहा जाता है। प्रासङ्गिककथा रूपक की आधिकारिक कथा को आगे बढ़ाने मे सहायक होती है। किन्तु बहुत—से रूपकों की रचना ऐसी होती है कि उनमें प्रासगिक कथा के लिये कोई अवकाश ही नहीं होता। प्रासंगिक कथा—वस्तु के भी दो भेद होते हैं — (१) **पताका** और (२) **प्रकरी।**

---

१ द० रू० १।६८,

२. भवभूति कृत उत्तररामचरित की कथा रामायणीय कथा पर आधारित है। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की कथा महाभारत और पद्मपुराण पर और भास कृत 'स्वप्नवासवदत्तम्', तथा विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' ऐतिहासिक वृत्त पर आधारित है।

जो कथा रूपक में आधिकारिक कथा के समानान्तर दूर तक चलती चली जाती है, वह सानुबन्ध होती है, उसे 'पताका' कहा जाता है। इस पताका कथा–वस्तु का नायक अलग से होता है, वह आधिकारिक कथा के नायक का साथी–सहायक होता है तथा प्रधान नायक से गुणों में कुछ न्यून होता है। इसे पताका नायक कहा जाता है। जैसे **रामायण में सुग्रीव,** यह पताका नायक है। और उसकी कथा पताका। जो कथा नाटक में थोड़ी दूर तक चलकर रुक जाती है, वह **'प्रकरी'** नामक प्रासंगिक कथावस्तु होती है। जैसे – **रामायण में शबरी या जटायु का प्रसङ्ग।** यहाँ उल्लेखनीय यह है कि पताका और प्रकरी में एक और भेद है। पताका के नायक का कुछ अपना स्वार्थ भी होता है, किन्तु प्रकरी के नायक का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। ये दोनों पताका और प्रकरी कथाएँ आधिकारिक कथावस्तु को गतिशील बनाने में अपना योग देती हैं। सुग्रीव और शबरी के कथा–प्रसङ्ग रामकथा को आगे बढाने मे सहायक हुए है।

कथावस्तु और अर्थप्रकृतियाँ, अवस्थाएँ तथा सन्धियाँ

प्रत्येक नाटक आदि मे प्रधान कथावस्तु के नायक का एक लक्ष्य होता है, उसे ही फल कहा जाता है। उस फल की सिद्धि के उपायो का नाम अर्थप्रकृतियाँ हैं।

अर्थप्रकृतियाँ

अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं –(१) **बीज,** (२) **बिन्दु,** (३) **पताका,** (४) **प्रकरी,** और **कार्य** । इनमे पताका और प्रकरी के विषय में इसके पूर्व बताया जा चुका है। धनञ्जय के अनुसार कथावस्तु के आरम्भ को जो स्वल्पोद्दिष्ट बात के रूप मे होता है, **बीज** होता है।[१] यही रूपक के फल का हेतु होता है। उदाहरणार्थ –भीम के क्रोध से परिपुष्ट युधिष्ठिर का उत्साह बीज है, इसका फल है– द्रौपदी का केश–संयमनरूपी कार्य। इस प्रकार बीज आरम्भ में सक्षिप्त में कहा हुआ रूपक की कथा–वस्तु का वह अंश है जो आगे चलकर फल सिद्धि का हेतु बनता है। अत: बीज हेतु (कारण) है और कार्य फल। यहाँ 'कार्य' को समझ लेना चाहिए। यहाँ कार्य का अर्थ प्रयोजन नही है। यहाँ तो –**'क्रियते अर्थात् सम्पाद्यते फलसिद्धिरनेनेति कार्यम्'** – अर्थात् नायक का वह व्यापार जो उसकी इष्ट सिद्धि–फल प्राप्ति मे सहायक होता है। इस विषय मे **'नाट्यशास्त्र'** –**'भावप्रकाशन'** तथा **सा० दर्पण** दशरूपककार से सहमत है। 'बिन्दु' को परिभाषित करते हुए धनञ्जय कहते हैं कि अवान्तर अर्थ का जब विच्छेद होता है तब मूल कथा से जोड़ने का काम बिन्दु करता है।[२] दशरूपककार कृत यह परिभाषा कुछ अस्पष्ट–सी है। धनिक ने वृत्ति में कहा है कि अर्थप्रकृतियाँ प्रयोजन सिद्धि का हेतु होती हैं।[३] नाट्यदर्पणकार–रामचन्द्र–गुणचन्द्र ने इन अर्थ प्रकृतियों को 'उपाय' कहा है। इन (अर्थप्रकृति के) पाँच उपायों में – दो – बीज

---

१. द० रू० १।१७

२. द० रू० १।१७, अवान्तरार्थ विच्छेदे = अवान्तरेण अप्रधानेन कथानकेन अर्थस्य इतिवृत्तस्य विच्छेदे = विश्रृङ्खलिते।

३. अर्थप्रकृतय: = प्रयोजनसिद्धिहेतव:। द० रू० १।१८

और कार्य – अचेतन हैं, तीन बिन्दु, पताका और प्रकरी–चेतन हैं। नाट्यदर्पणकार ने निर्भ्रान्त शब्दों में कहा है कि (रूपक के इतिवृत्त में) न तो ये उस क्रम से आते हैं जिस क्रम से उन्हे परिगणित कराया गया है, और इनका आना न अवश्यम्भावी या अपरिहार्य ही है। इन पाँचो का सन्निवेश यथारुचि किया जाना चाहिए। अनेक रूपको के इतिवृत्त ऐसे हो सकते हैं जिनमें पताका या प्रकरी की आवश्यकता ही न पड़े। या बहुत से ऐसे भी हो सकते हैं जिनमे इनका क्रम उलटा हो सकता है। वस्तुत ये अर्थ प्रकृतियाँ रूपक के इतिवृत्त के उपाय मात्र हैं। इस प्रकार ये अर्थ प्रकृतियाँ 'फल' के हेतुभूत कवि निबद्ध उपाय हैं। इनमें 'बिन्दु' मुख्य होता है, क्योकि नाटक मे अंकित घटना प्रवाह नाटककार के वश मे नही रहता, अर्थात् जब–जब वह अभीष्ट लक्ष्य से हटकर दूसरी ओर मुड़ने लगता है, तब–तब नाटककार नायक, प्रतिनायक, सहकारी आदि पात्रों की सहायता से उसे (नाटक के घटना प्रवाह को) लक्ष्य की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है। इसीलिये यह सम्पूर्ण इतिवृत्त मे विद्यमान रहता है। पताका, प्रकरी और बिन्दु कवि के अभीष्ट लक्ष्य तक ले जाने के साधन हैं, इसीलिये इन्हे 'चेतन' माना गया है। वस्तुत बीज, बिन्दु और कार्य–ये तीन आवश्यक अर्थ प्रकृतियाँ है। एक प्रकार से बिन्दु पात्रो की चेतन चेष्टाएँ हैं, पर कार्य अचेतन साधन, जैसे, सैन्य–सामग्री, दुर्ग, कोश, धन आदि।

पाँच अवस्थाएँ और पाँच सन्धियाँ

दशरूपककार–धनञ्जय के अनुसार फल की इच्छावाले कथा–नायक आदि के द्वारा प्रारम्भ किए गए कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं – **आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति** और **फलागम**। अन्य नाट्यशास्त्राचार्य इन्हे नायक के चरित्र (वृत्त) की पाँच अवस्थाएँ कहते हैं। **भरतमुनि** ने इन्हे साधक के व्यापार की पाँच अवस्थाएँ कहा है।[1] धनञ्जय ने भरत का ही अनुसरण किया है। विचार करने पर विदित होता है कि वृत्त और व्यापार मे कोई विशेष अन्तर नही है। क्योकि नाटक मे वर्णित पात्र जो कुछ करता है, (व्यापार, कार्य) वही उसके चरित का अङ्ग होता है। नायक के व्यापार की ये उक्त पाँच अवस्थाएँ हैं जो नाटक के इतिवृत्त के रूप में अंकित होती है। वास्तव मे ये स्वय इतिवृत्त या नाटक की कथावस्तु नहीं हैं, इतिवृत्त मे क्रमशः विकसित होने वाले नायक के व्यापार हैं।

इस प्रकार अर्थप्रकृतियाँ नाटक के कथानक को अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए नाटककार द्वारा वर्णित उपाय हैं और अवस्थाएँ नायक के व्यापार हैं। नाटक के नायक के मन में फल–अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए औत्सुक्य **(आरम्भ)**, उस फल को प्राप्त करने के लिए **प्रयत्न** (प्रयत्न), उस फल के प्राप्त होने की आशा **(प्राप्त्याशा)**, फलप्राप्ति में आने वाले विघ्नों के दूर हो जाने से उस फल के प्राप्त होने की निश्चिंतता **(नियताप्ति)** और अभीष्ट फल की प्राप्ति **(फलागम)**, ये पाँच अवस्थाएँ होती हैं। इनसे नाटक की कथावस्तु मे विचित्रता और घटनाओं की समृद्धि का आधान होता है।

---

१. ना० शा० २१।७।

पाँच सन्धियाँ

भरत ने नाट्यशास्त्र में कहा है कि इतिवृत्त काव्य का शरीर होता है और पाँच मन्धियाँ उसके पाँच विभाग हैं।[१] दशरूपककार धनंजय के अनुसार किसी एक प्रयोजन द्वारा अन्वित कथा भागों को किसी दूसरे प्रयोजन से युक्त करने वाला सम्बन्ध सन्धि कहलाता है।[२] इनकी संख्या पाँच हैं – (१) **मुख** (जो विविध प्रकार के प्रयोजनों एव रसों की निष्पत्ति का हेतु होती है) (२) **प्रतिमुख** (बीज का उद्भेद या फूटना) (३) **गर्भ**–दिखाकर अदृष्ट हो गए बीज का अन्वेषण, (४) **अवमर्श** या विमर्श – (बीज अर्थ का पुन प्रकट होना) और (५) **उपसंहृति** या निर्वहण (बिखरे अर्थो का एक उद्देश्य की ओर उपसंहरण) यहाँ विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि **धनञ्जय** ने कहा है कि पाँचो अर्थप्रकृतियाँ, पाँचो अवस्थाओं मे समन्वित होकर क्रमश· पाँच मन्धियाँ बनती हैं।[३] उनका यह कथन भ्रामक है।[४] उक्त मन्धियाँ नाटकीय इतिवृत्त के भाग है। कुल मिलाकर इनके ६४ अङ्ग हैं।

संध्यङ्ग का प्रयोग आवश्यकतानुसार

भरतमुनि के अनुसार नाटककार के लिए उक्त सभी अङ्गो का नाटक मे प्रयोग करना अनिवार्य नही है। वे कहते हैं कि कुशल नाट्यकार इन सन्ध्यङ्गो की योजना रस और भावो की स्थिति देखकर अपने रूपक मे करे। उनकी योजना औचित्यानुसार हो। उन्होंने कहा है कि क्वचित् कदाचित् ही सभी अङ्ग किसी एक ही रूपक मे देखने को मिले। कभी--कभी तो दो–तीन से भी काम चल जाता है। अत. कार्य और अवस्था को देखकर इन अङ्गों का प्रयोग करना चाहिए।[५] धनञ्जय ने इतना तो कह दिया है कि अमुक–अमुक सन्धि मे अमुक--अमुक अङ्ग आवश्यक हैं, शेष गौण। किन्तु कभी--कभी नाटक मे आवश्यक अङ्गो में से भी कोई नहीं मिलता। वृत्तिकार के द्वारा उद्धृत उदाहरणो मे भी व्युत्क्रम देखने मे आता है। इस प्रकार दशरूपककारोक्त सध्यङ्ग–योजना नाटक के व्यावहारिक रूप मे ठीक नही बैठती। फिर भी धनंजय ने इतना तो कह दिया है कि कुछ विशेष प्रयोजन हैं जिनके लिए इन संध्यङ्गों का प्रयोग किया जाना चाहिए (१) **इष्ट अर्थ की रचना,** (२) **गोप्य अर्थ को छिपाना,** (३) **प्रकाश्य अर्थ को प्रकट करना,** (४) **अभिनेय में राग की वृद्धि,** उसमें (५) **चमत्कार का समावेश,** एव (६) **काव्य की कथा–वस्तु का विस्तार।**

समस्त कथावस्तु का दो प्रकार का विभाजन

(१) सूच्य और (२) दृश्य–श्रव्य

नाटककार और अभिनेता की कठिनाइयों को दूर करने की दृष्टि से नाट्यशास्त्र–दशरूपक आदि ग्रंथों में कुछ उपायों को प्रस्तुत किया गया है। वस्तुत:

---

१ ना० शा० २१।१। २. द० रू० १।२३।

३ द० रू० १।२२–२३।

४. नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशरूपक – डॉ० हजारीप्रसाद, पृ० ३८–३९,

५. ना० शा० २१।१०५–६।

नाटककार और अभिनेता की अनेक कठिनाइयाँ रहती हैं। प्रथम यह कि विस्तृत इतिवृत्त को सीमित समयावधि में दिखाना होता है। दूसरी यह कि इतिवृत्त के सभी प्रसङ्ग मार्मिक नहीं होते, उन्हें न दिखाने पर कथानक दर्शक को समझ में न आए, अतः नाटककार इतिवृत्त के कुछ मार्मिक अंशों को तो रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित करने के लिए चुन लेता है और शेष अंशों को किसी न किसी कौशल का सहारा लेकर सूचित मात्र कर देता है, जिससे दर्शकों को पूर्ण इतिवृत्त (कहानी) बिना विच्छिन्न हुए, समझ में आ जाता है। इस प्रकार कथा दो भागों में विभक्त हो जाती है (१) **दृश्य** और (२) **सूच्य**।

सूच्य के अन्तर्गत पाँच उपाय आते हैं — (१) **विष्कम्भक** (२) **चूलिका** (३) **अङ्कास्य** (४) **अङ्कावतार** और (५) **प्रवेशक** । दृश्य कथा को तो अभिनय द्वारा मञ्च पर प्रदर्शित किया जाता है। सूच्य कथांश पात्रों के संवाद द्वारा दर्शकों को सूचित किये जाते हैं। ये सूचना देने वाले पात्र प्रायः अप्रधान होते हैं। कभी-कभी सूच्य कथांशों की सूचना नेपथ्य से भी दी जाती है। ये सभी सूचनाप्रकार **'अर्थोपक्षेक'** कहलाते हैं। इन सभी का विवरण धनंजय ने उपन्यस्त किया है।[१] इनके अतिरिक्त पात्रों के पारस्परिक संवाद कई तरह के होते हैं — **प्रकाश, स्वगत, अपवारित** तथा **जनान्तिक**। प्रकाश पात्रों की वह उक्ति है, जो सर्वश्राव्य हो और जिसे सभी सामाजिक- दर्शक सुन सकें। **स्वगत** वह उक्ति है जिसे मञ्च पर स्थित अन्य पात्र नहीं सुन सकते। **अपवारित** और **जनान्तिक** उक्ति को मञ्च पर स्थित सीमित पात्र ही सुन पाते हैं। अपवारित में पात्र उपस्थित पात्रों में से किसी एक ही पात्र को अपनी बात सुनाना चाहता है। जनान्तिक में दो पात्र को अपनी बात सुनाना चाहता है। जनान्तिक में दो पात्र आपस में गुप्त मंत्रणा करते हैं। दर्शकों के लिए तो ये सभी संवाद श्राव्य होते हैं, केवल 'स्वगत' 'जनान्तिक' आदि का अभिनय किया जाता है। ये नाटकीय रूढ़ियाँ हैं। इनके अतिरिक्त 'आकाशभाषित' का प्रयोग भी नेपथ्य से किया जाता है।

द्वितीय प्रकाश (नेता या नायक)

इस प्रकाश में रूपकों के दूसरे भेदक तत्त्व नायक (नेता) का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ग्रंथकार ने प्रारम्भ में नायक के सामान्य गुणों को[२] बताया है, बाद में उसके चार भेद — **धीरोदात्त, धीर ललित, धीर प्रशान्त** और **धीरोद्धत**—बताकर उनके विशेष लक्षणों का विवेचन किया है। उक्त चारों प्रकार के नायकों के पूर्व जो 'धीर' विशेषण अंकित किया गया है, उससे कभी—कभी भ्रम हो जाता है। देखिए, जो उद्धत है वह धीर कैसे हो सकता है ? उद्धत तो निसर्गतः ही चपल और चण्ड स्वभाव का होता है। अतः यहाँ 'धीर' विशेषण का अर्थ स्वाभाविक बोध—सम्पन्न के रूप में ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार धीरोद्धत का अर्थ है जो स्वभावतः ही उद्धत है। **नाट्यदर्पणकार** ने तो देवता और राक्षस आदि को धीरोद्धत ही कहा है। इस प्रकार

---

१. द० रू० १।५८—६३।

२ देखिए — द० रू० २।१—५ कारिकाएँ और उनकी वृत्ति ।

उदात्त, प्रशान्त, ललित और उद्धत नायक स्वभाव से ही ऐसे होते हैं। अतः उनके साथ 'धीर' विशेषण लगाया गया है।

नायक के परिकर में पताकानायक

पीठमर्द तथा नायक के कञ्चुकी को छोड़कर अन्य सहचरो विट और विदूषक का उल्लेख किया गया है। रूपक मे नायक के चरित्र को और अधिक उज्ज्वल बनाने की दृष्टि से प्रतिनायक के स्वरूप का भी विवेचन किया गया है। ग्रथकार ने नायक का एक दूसरे प्रकार का वर्गीकरण भी किया है। यह वर्गीकरण नायक के प्रेमव्यापार एवं तत्सम्बन्धी व्यवहार को ध्यान में, रखकर किया गया है। इस प्रकार प्रेमव्यापार में नायक के ४ रूप होते हैं – **दक्षिण, शठ, धृष्ट** तथा **अनुकूल**।[१] इनके अतिरिक्त नायक के **आठ** सात्त्विक गुणो – **शोभा, विलास, मधुरता, गम्भीरता, स्थिरता, तेजस्विता, लालित्य** तथा **औदार्य** का भी उल्लेख किया गया है।

नाटकादि रूपकों मे नायिका का भी उतना ही महत्त्व है, जितना नायक का। अतः नायिका नायक की सहचरी होने के कारण, इसी प्रकाश मे नायिकाओं का भी वर्णन किया गया है।[२] गुणों की दृष्टि से नायिका भी नायक के ही गुणों से युक्त होती है। ग्रन्थकार ने सर्व प्रथम नायिका को **तीन** भेदों में विभक्त किया है – **स्वकीया, परकीया,** तथा **साधारण स्त्री** (अर्थात् वेश्या)। पुन· **स्वकीया** के तीन भेदो को बताया है **मुग्धा, मध्या** तथा **प्रगल्भा**। पुन· **मध्या** और **प्रगल्भा** के ६ + ६ भेदों को बताया गया है, मुग्धा को केवल एक ही तरह की मानी गई है। इस प्रकार नायिका के **१३** भेदों का उल्लेख किया गया है।

इसके अतिरिक्त नायिका की दशा को ध्यान में रखकर उसके आठ प्रकारों का उल्लेख किया गया है। (१) **स्वाधीन पतिका,** (२) **वासक सज्जा,** (३) **विरहोत्कण्ठिता,** (४) **खण्डिता,** (५० **कलहान्तरिता,** (६) **विप्रलब्धा,** (७) **प्रोषित प्रिया,** (८) **अभिसारिका।** नायक की तरह नायिका की सहायिकाओं का भी उल्लेख है। नायिका के प्रसङ्ग में युवतियों के **बीस सात्त्विक अलङ्कारों** का भी वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् वृत्तियों का वर्णन है।

नाट्य वृत्तियाँ

धनञ्जय ने नायक के मानसिक, वाचिक तथा कायिक व्यापार को ही **'वृत्ति'** कहा है। सभी प्रकार के काव्य के अस्तित्व का का कारण वृत्तियॉ होने से माता और उसकी सन्तति में जो सम्बन्ध रहता है, वही वृत्ति तथा काव्य का सम्बन्ध होने से वृत्तियॉ **'नाट्य–माता'** कहलाती हैं। नाटक, प्रकरण और नाटिका में सभी प्रकार के अभिनय देखने को मिलने के कारण–इन तीनों रूपकों में सभी वृत्तियाँ मिलती हैं। कुछ में केवल तीन और कुछ में 'भारती' वृत्ति ही प्रधानरूप से मिलती है।

'सात्वती' वृत्ति में मानसिक, कायिक और वाचिक अभिनय होते हैं! यह वृत्ति मुख्यतः मानस–व्यापार की वृत्ति है। इसका प्रयोग रौद्र, वीर और अद्भुत रसों

---

१. देखिए – द० रू० २। ६–८

२. देखिए – द० रू० २।१५–२७

में होता है। **'तत्त्व'** का अर्थ मनोभाव होता है। इसलिये कहा जाता है कि उसी **'तत्त्व'** (मनोभाव) को प्रकाशित करने वाली होने के कारण इसे **'सात्वती'** कहते हैं। **'कैशिकी' वृत्ति** का अभिनय केवल स्त्रियाँ ही कुशलतापूर्वक कर सकती हैं, क्योंकि स्त्रियों मे निसर्गत: मृदुता और पेशल–परिहास करने की प्रवृत्ति होती है। शृङ्गार और हास्यरस का इसमें प्राधान्य रहता है। **'आरभटी' वृत्ति** में छल, प्रपच धोखा आदि होते हैं। इसमे वीर, रौद्र आदि दीप्त रसो का प्रयोग होता है। **'भारती'** – संस्कृत–बहुल वाग्व्यापार है। यह सभी रसो मे होती है। कहा जाता है कि इनके नाम विभिन्न जातियो के नामों पर आधारित हैं।[१]

नाटक, प्रकरण आदि रूपको मे प्रयुक्त होने वाली इन वृत्तियों के प्रयोग के आधार पर विचार करने पर तो ज्ञात होता है कि केवल नाटक, प्रकरण और नाटिका ही पूर्णाङ्ग रूपक हैं। डिम, व्यायोग, समवकार और ईहामृग मे तीन ही वृत्तिया का प्रयोग होता हैं इसलिए ये अपूर्ण हैं । भाण, प्रहसन, वीथी और उत्सृष्टिकाङ्क मे तीनो का प्रयोग तो होता है पर उनमे मुख्य वृत्ति भारती ही रहती है। अत: ये और भी विकलाङ्ग हैं। इस प्रकार इन रूपकों मे तीन (नाटक, प्रकरण और नाटिका) उत्तम श्रेणी के हैं, चार (डिम, व्यायाग, समवकार, ईहामृग) मध्यम श्रेणी के हैं, और शेष अवर श्रेणी के । नाट्यदर्पणकार ने इस बात की ओर ध्यान दिया था। उन्होंने दोही भेद किये हैं। नाटिका के साथ प्रकरणी को भी साथ मे रखकर उन्होंने चार को एक श्रेणी मे रखा है और शेष दूसरी श्रेणी मे।

तृतीय प्रकाश

इस प्रकाश मे ग्रथकार ने नाटक, प्रकरण, आदि दशरूपको का विवेचन किया है। इसी प्रसङ्ग में धनजय ने नाटक और प्रकरण के संङ्कीर्णरूप नाटिका का भी विवेचन किया है। उन्होंने 'प्रकरणिका' को नहीं माना है।[२] इसी प्रकाश मे ग्रथकार ने 'प्रस्तावना' के तीन प्रकारों – **कथोद्धत, प्रवृत्तक,** तथा **अवगलित** – का भी विवेचन किया है। इसके पश्चात् तेरह वीथ्यङ्गो का निरूपण किया गया है।

चतुर्थ प्रकाश

अब तक प्रथम प्रकाश से तीसरे प्रकाश तक ग्रंथकार–धनजय ने रूपक के बाह्यस्वरूप का विवेचन ही किया है । प्रस्तुत प्रकाश मे धनंजय ने रूपक के आत्मतत्त्व–**'रस'** की तर्कपूर्ण व्याख्या प्रस्तुतकर रस विषयक अपने विचारों को भी रक्खा है। ग्रंथकार धनञ्जय ने प्रस्तुत प्रकाश की प्रथम कारिका मे स्पष्ट शब्दों में कहा है कि विभाव, अनुभाव सात्त्विकभाव तथा व्यभिचारी भावों के द्वारा आस्वादन योग्य होकर स्थायी भाव ही रस कहलाता है।[३] यह रस रसज्ञ सहृदय में ही पाया जाता है। (अर्थात् रस का आस्वादन सहृदय सामाजिक को होता है।) अनुकार्य राम, दुष्यन्त

---

१. देखिए – (V. S. Agrawala, India as Know to Panini, Lucknow. P. 450)

२. द० रू० ३।४२–४५। ३. द० रू० ४।१।

आदि मे नही पाया जाता। नर्तक अर्थात् नट को रसानुभूति (रसास्वाद) होती है या नही इस विषय मे धनजय का स्पष्ट मत है कि अनुकर्ता को भी रसास्वाद (रसानुभूति) हो सकता है, इसका वे निषेध नही करते। किन्तु अनुकर्ता (नट) यदि सहृदय है, तो सामाजिक के रूप मे वह रसास्वाद कर सकता है।[१] इसी प्रकाश में विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भावो के स्वरूप तथा प्रकार का भी निरूपण ग्रथकार ने किया है।[२] धनिक ने रसो के परस्पर विरोध–अविरोध का भी निरूपण किया है।

रस [३] तथा भाव

'रसनिष्पत्ति' – भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यन्त विवादपूर्ण एव महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। देखा जाय तो वास्तव मे रस का विवेचन यहॉ 'रस की निष्पत्ति' के प्रश्न से ही प्रारम्भ होता है, क्योकि भरत ने मूलत रस के स्वरूप का नहीं, रस की निष्पत्ति का ही व्याख्यान नाट्यशास्त्र मे किया है – **'विभावानुभावव्यभिचारि–संयोगाद्रस निष्पत्तिः'**। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (भावों) के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र मे 'सयोग' तथा 'निष्पत्ति' इन दो शब्दो का अर्थ स्पष्ट नही है, और इन्ही को लेकर परवर्ती आचार्यो मे शास्त्रार्थ होता रहा है। भरत ने स्वय 'निष्पत्ति' की व्याख्या करते हुए कहा है कि जिस प्रकार नानाविध व्यजनो से सुसस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्नचित्त पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते है, इसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावो एव अभिनयो द्वारा व्यजित वाचक, आगिक तथा सात्त्विक अभिनयो से संयुक्त स्थायी भावो का आस्वादन करते है और हर्षादि को प्राप्त होते है। भरत के अनुसार यहॉ सयोग का अर्थ है 'ससर्ग' और सिद्धि के दो अर्थ हो सकते हैं – (१) उत्पत्ति और (२) निर्मिति। भरत ने यद्यपि रस के प्रसङ्ग मे 'उत्पत्ति'[४] शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है, किन्तु वह औपचारिक ही है। निर्मिति का अर्थ है – विद्यमान उपकरणो के सयोग से नव–रूप–रचना, जो आधारभूत उपकरणो की ही परिणति होते हुए भी उनसे भिन्न होती है। रस की निष्पत्ति का यही अर्थ भरत को मान्य है। परवर्ती काव्यशास्त्र में भरत के इस सूत्र का अनेक प्रकार से व्याख्यान–विवेचन किया गया है। विवेचनकारो मे भट्टलोल्लट, शकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त प्रसिद्ध हैं। इन आचार्यो के विषय मे पूर्व में चर्चा की जा चुकी है, तथापि यहाँ उनके रसविषयक विवेचन का साराश स्पष्टता के लिए प्रस्तुत करते हैं –

भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

लोल्लट के अनुसार भरत–रससूत्र में प्रयुक्त **'निष्पत्ति'** का सीधा **अर्थ** है **उपचिति,** क्योंकि स्थायी की उपचित अवस्था का नाम ही **'रस'** है। विभावों से

---

१. द० रू० ४।३८–४२। २. द० रू० ४।२–३३।

३. यह भरत मत डॉ० नगेन्द्र के रस सिद्धान्त के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

४. 'स च . . .. आदिभिः उत्पद्यते: । ना० शा०, अध्याय ६, पृ० ३२०, ३२५, ३२७ रौद्र, वीर, भयानक रसों का वर्णन, Vol - I गायकवाड संस्करण,

स्थायी भाव की उद्‌बुद्धि होती है। इस उद्‌बुद्धि को उत्पत्ति भी कहा जा सकता है। स्थायी भाव जो वासनारूप मे स्थित रहता है, विभावो के कारण ही रसात्मक रूप को प्राप्त होता है। अनुभावो से उस स्थायी भाव की प्रतीति होती है। व्यभिचारियो से उसकी पुष्टि होती है। इस प्रकार उपचिति की प्रक्रिया मे उद्‌बुद्धि (उत्पत्ति) प्रतीति और पुष्टि—इन तीन क्रियाओ का आरम्भ मे योग है और अन्तत ये तीनो ही मिलकर उपचिति की क्रिया को पूर्ण करती है अत **निष्पत्ति** का **अर्थ** है — **निर्मिति।** उनके अनुसार **'संयोग'** का सीधा **अर्थ** है — विभावादि के साथ स्थायी भाव का सयोग— **'विभावादिभि: सयोगाऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्ति:'** ये विभावादि स्थायी भाव को उपचित कर रस रूप में परिणत कर देते है। अत· विभावादि **उपचायक** हैं और स्थायी भाव **उपचेय।** अर्थात् स्थायीभाव तथा विभावादि में **उपचेय—उपचायक** सम्बन्ध है। उनके अनुसार विभावो मे स्थायी भाव की उत्पत्ति होती है, अत विभावो के साथ उसका **उत्पाद्य—उत्पादक भाव** सम्बन्ध बनता है। अनुभावो से उसकी प्रतीति होती है, अत· अनुभावों के साथ उसका **गम्य—गमक भाव** सम्बन्ध है और व्यभिचारी भावों से उकी पुष्टि होती है, अत· व्यभिचारीयो के साथ उसका **पोष्य—पोषक भाव** सम्बन्ध है। उनके रस निष्पत्ति विषयक मत को **काव्यप्रकाश** चतुर्थ उल्लास—के आधार पर इस प्रकार उपन्यस्त किया जा सकता है — विभावों— ललना— **नायिका आदि आलम्बन** और **उद्यान आदि उद्दीपन** कारणो से, **रति आदि स्थायी भाव उद्दीप्त होता है, आलिङ्गन—कटाक्षादि अनुभावों के द्वारा अनुभूत होता है, तथा सहकारी औत्सुक्य—निर्वेदादि व्यभिचारियों से पुष्ट होता है, वही रति भाव रसरूप में उत्पन्न होता हैं ।** यह रस नट या सहृदय प्रेक्षक के हृदय में उत्पन्न नही होता। रस मुख्य रूप से अनुकार्यगत राम आदि मे होता है और गौणरूप से अनुसंधान के बल से नटगत भी अर्थात् नट मे भी रस की उत्पत्ति हो जाती है। लोल्लट का कथन है कि नट मे वासनावेश होने से रसभाव उत्पन्न होते हैं **(रसभावानामपि वासनावेशवशेन नटे संभवात्।)** तात्पर्यार्थ यह है कि रङ्गमच पर स्थित नट अनुकार्य राम आदि की नकल करता है, उनकी वेशभूषा मे आकर उनके जैसा व्यवहार करता है, अत· सहृदय दर्शक उसे (नट को) राम या दुष्यन्त समझ लेता है। उसका यह समझना भी भ्रान्ति जनित ही होता है। दर्शक को इस भ्रान्ति से ही क्षणमात्र के लिए आनन्द मिल जाता है।

उक्त लोल्लट का मत निर्दुष्ट नहीं है। सहृदय दर्शक में रस की स्थिति न मानना लोल्लट के मत का प्रमुख दोष हैं इसके अतिरिक्त अनुकार्य राम—दुष्यन्त आदि तो ऐतिहासिक पुरुष हैं, वे तो अब भूतल पर नहीं हैं। अत: सम्प्रति उनके अभिनय में — उनमें रसोत्पत्ति कैसे हो सकती है ? वर्तमान काल में तो नाट्यरस का आस्वादकर्ता सामाजिक ही है। यदि दर्शक को रसास्वाद प्राप्त न हो तो वह नाटकादि के प्रति प्रवृत्त—उन्मुख क्यों होने लगा ? उनके अनुसार विभावादि तथा रस में — कार्य—कारण वाद की कल्पना भी दोषपूर्ण है। इस विचार का खण्डन अभिनवगुप्त के मत में देखने को मिलता है।

लोल्लट के मत में दोषों को देखकर न्याय मतानुयायी शङ्कुक ने भरत के रस—सूत्र की व्याख्या दूसरे प्रकार से की। उनके मत का सारांश इस प्रकार है —

शङ्कुक का अनुमितिवाद

लोल्लट के उत्पत्तिवाद का सर्वप्रथम खण्डन शंकुक ने किया हैं अपने रस विषयक सिद्धान्त के प्रतिपादन करने में श्री शंकुक ने 'प्राच्यन्याय' (प्राचीन न्यायशास्त्र) की विधि को अपनाया है। इनके मतानुसार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव रस की अनुमिति कराते हैं। अर्थात् प्रत्यक्षरूप विभावादि से स्थायीभाव का अनुमान उसी प्रकार से किया जाता है जैसे उठते हुए धूम के प्रत्यक्ष दर्शन से पर्वत के शिखर पर घने जङ्गलों में प्रच्छन्न अग्नि के अस्तित्व का ज्ञान होता है। इसी प्रकार नट में रामादि के से अनुभावादि देखकर हम वहाँ रस की स्थिति का अनुमान कर लेते है। इस प्रकार विभावादि रस के अनुमापक हैं, और रस अनुमाप्य। उनमे भट्टलोल्लट द्वारा कथित उत्पाद्य–उत्पादक भाव नहीं होता। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए शकुक ने **'चित्रतुरगादिन्याय'** की भी कल्पना की है। इस कल्पना का उपयोग धनजय ने भी किया है। नाटक के प्रदर्शन मे दृश्यों के यथाक्रम विन्यास और निपुण अभिनय मे दर्शक को, अभिनेता तथा मूल व्यक्ति (अर्थात् अनुकार्य राम) मे, जिसका वह रङ्गमच पर अभिनय करता है, अभेद का बोध होता है, उसका यह ज्ञान वैसा ही है जैसा चित्रांकित अश्व की सजीव आकृति को देखकर यह सविकल्पक ज्ञान संपन्न होता है कि 'यह वही अश्व' है। इस प्रकार से सहृदय दर्शक अभिनेता को मूल व्यक्ति मान कर विभावादि से स्थायी भाव का अनुमान कर लेता है। यह अनुमानित स्थायी भाव मूल नायक राम के यथार्थ स्थायीभाव के अनुकृतरूप होने के कारण और चित्ताकर्षक विभावादि के साथ सम्बन्धित होने के कारण विशेष रूप से मुग्धकारी हो जाता है। और उसका विकास दर्शक के हृदय की उस दशा में हो जाता है जो आनन्ददायक होती है। आनन्ददायक होने के कारण ही इसको 'रस' कहते हैं। ''अत: यहाँ 'रसनिष्पत्ति' का अर्थ हुआ काव्य, रङ्ग–कौशल, आदि की सहायता से नट द्वारा स्थायीभाव की अनुकृति सीधे शब्दों में, स्थायी भाव का अभिनय। इस प्रकार शंकुक के मत में रस का आधार नट है। सहृदय दर्शक, विभावादि के द्वारा इस रस का अनुमान करता है, अत: उसकी दृष्टि से रस की अनुमिति होती है। इसलिए निष्पत्ति का अर्थ होता है 'अनुमिति' और 'संयोग' गम्य–गमक भाव का वाचक हो जाता है।

लोल्लट ने रस को अनुकार्य की प्रत्यक्ष अनुभूतिरूप मानकर नाट्यगत भाव और प्रत्यक्ष भाव में जो भ्रान्ति उत्पन्न कर दी थी, श्रीशङ्कुक ने उसका निराकरण किया। इसके अतिरिक्त अनुकार्य के वास्तविकरूप को भी शङ्कुक ने ही स्पष्ट किया। लोल्लट ने अनुकार्य के प्रसङ्ग में मूल पात्र और कवि निबद्ध पात्र के बीच भ्रान्ति उत्पन्न कर दी थी–शंकुक ने स्पष्ट कहा कि नाट्य में अनुकार्य का अर्थ है–कवि निबद्ध पात्र। मम्मट के **काव्यप्रकाश** में उद्धृत शङ्कुक के मतानुसार – 'सहृदय एक ओर वस्तु सौन्दर्य और दूसरी ओर अपनी वासना के बल पर इस रस का चर्वण करता है।' निष्कर्ष यह है कि शंकुक ने प्रेक्षक के पक्ष को ग्रहण किया है और रस के सन्दर्भ में उसकी सत्ता को उचित मान्यता प्रदान की है। फिर भी शंकुक का मत निर्दुष्ट नहीं है। रस को अनुमितिगम्य मानना उचित नहीं। रस प्रत्यक्ष प्रमाण

संवेद्य है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान का तिरस्कार कर रसास्वाद में अनुमिति की कल्पना करना कोई औचित्य परिलक्षित नही होता।[१]

भट्टनायक का भुक्तिवाद

भरत—सूत्र के तीसरे प्रमुख व्याख्याकार है — भट्टनायक। अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती और ध्वन्यालोक लोचन—दोनो ही मे उनके मत का विवेचन किया है।

भट्टनायक अभिनवगुप्त के वृद्ध सम—सामयिक थे। इन्हे ध्वनितत्त्व स्वीकार न था। आनन्दवर्धन के "रस ध्वनित होता है"— इस मत के खण्डन के लिये इन्होंने **'हृदयदर्पण'** नामक ग्रथ की रचना की। इनके मत के अनुसार रस उत्पन्न नही होता, अनुमित नही होता अथवा अभिव्यक्त भी नहीं होता। अपितु—भावकत्व नामक व्यापार द्वारा रस भावित होकर भोजकत्व नामक व्यापार द्वारा रसिक—सहृदय—उसका आस्वाद लेता है। आपने अपने मत की सिद्धि के लिए तीन व्यापारो की कल्पना की है— **अभिधा, भावकत्व** और **भोजकत्व** अभिधा शब्दार्थ का सामान्य तथा प्रथम व्यापार है जिसके द्वारा काव्य में शब्दार्थ का बोध होता हैं दूसरा व्यापार है — भावकत्व। इसकी सत्ता केवल काव्य और नाट्य में ही मिलती है। इस व्यापार द्वारा सहृदय के चित्त का व्यक्तिगत राग—द्वेष जन्य अज्ञान दूर हो जाता है अर्थात् अपने—पराये की भावना तिरोहित हो जाती है और विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। यही इस व्यापार का प्रमुख गुण है। और अन्त मे रस भावित हो जाता है। यही रस की निष्पत्ति है। निष्पत्ति का अर्थ है स्थायी भाव का भावित होना। विभावादि के साथ सयोग होने से स्थायी भाव भावित होकर रस रूप में परिणत हो जाता है। यही रस की निष्पत्ति है। **संयोग** का अर्थ है — **भावक—भाव्य सम्बन्ध।** रस का स्थान सहृदय का चित्त है। रसास्वाद का साधन भोजकत्व व्यापार है। भट्टनायक के इस सिद्धान्त पर मीमांसादर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है, सांख्यदर्शन का नहीं, जैसा कि कुछ विद्वान् समझते हैं। **'भावन'** मीमांसाशास्त्र में एक संज्ञा है। **भावना** के **तीन** अंश हैं — **साध्य, साधन** तथा **इतिकर्तव्यता ।** मीमांसकों की परिभाषा मे कहा जा सकता है — काव्यगत भावना में रस साध्य है, विभावादि का साधारणीकरण साधन है एवं गुणालङ्कार तथा अभिनय इतिकर्तव्यता है। **'काव्यं रसान् भावयति'** — इस वाक्य का अर्थ यह हुआ — गुणालङ्कार अथवा अभिनय द्वारा संपन्न होने वाले विभावादि के साधारणीकरणरूप साधन से काव्य—रसों का निर्माण करता है काव्यगत शब्दों में स्थित यह साधारणीकरण का व्यापार ही भावना है। भावना का अर्थ भावकत्व 'काव्य रसों का भावक है' अर्थात् काव्य में भावकत्व है। **'तच्चैतत् भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत् काव्यस्य तद् विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम।'** (लोचन) यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यह है कि भट्टनायक ने एक महत्वपूर्ण बात का उल्लेख किया है कि रसास्वाद के लिये विभावादि का साधारणीकरण होना चाहिये। इसके साथ यह भी संकेत किया है कि रसास्वाद के व्यापार में रसिक का भी अन्तर्भाव है। लोल्लट और

१. रस सिद्धान्त, पृ० १५८।

शकुक–दोनो की उपपत्तियो में रसिक बाह्य तथा तटस्थ है, किन्तु भट्टनायक ने उसे रस का भोजक अर्थात् आस्वादक निर्धारित किया है।[१]

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

भट्टनायक के पश्चात् भरत–रस–सूत्र के चतुर्थ एवं प्रमुख व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने 'अभिव्यक्तिवाद' की स्थापना की। जैसा कि इसके पूर्व हम चर्चा कर चुके हैं अभिनवगुप्त व्यञ्जनावादी तथा ध्वनिवादी आलङ्कारिक है। वे रस को ध्वनि का ही एक प्रमुख भेद–रसध्वनि मानते हैं। इसलिए वे रस को व्यंग्य मानते हैं तथा उसे अभिधा या लक्षणा के द्वारा प्रतीत न मानकर व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त मानते हैं। इनके अनुसार काव्य या नाटकादि मे प्रयुक्त विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारिभाव रस के अभिव्यजक हैं। और रस अभिव्यंग्य। अत **निष्पत्ति** का अर्थ–**अभिव्यक्ति** और संयोग का अर्थ है – **व्यंग्य–व्यंजक सम्बन्ध।** इनके अनुसार स्थायी भाव प्रत्येक सहृदय–दर्शक के चित्त में संस्कार रूप से स्थित रहते हैं। इन्होंने पूर्वाचार्यो की तरह भावकत्व तथा भोजकत्व रूप दो व्यापारो की कल्पना नही की है। परन्तु भावकत्व व्यापार के स्थान पर **'साधारणीकरण'** व्यापार तथा अभिधा–लक्षणा के साथ शब्द की व्यंजना नामक तृतीय वृत्ति अवश्य स्वीकार की है।

हमारा दैनिक जीवन विविध प्रकार की घटनाओ प्रसङ्गों से प्रभावित होता रहता है। उन घटनाओं के अनुभव हमारे मानस मे अनेक रत्यादि भावो को जन्म देते रहते हैं। किन्तु ये सभी भाव ठीक उसी तरह छिपे पड़े रहते हैं जैसे मिट्टी के नवीन पात्र मे छिपी मिट्टी की गन्ध । यह नितान्त अव्यक्त स्थिति में रहती है। किन्तु जल का सयोग होते ही वह तत्काल व्यक्त हो जाती है। उसी प्रकार सहृदय सामाजिकों के अन्त करण में 'रति' आदि की 'वासना' पहले से ही अव्यक्त रूप में विद्यमान रहती है, और वह जब सहृदय काव्य पढ़ता है या नाटकादिका अवलोकन करता है, तो उन काव्य–नाटकादि में वर्णित विभावादि व्यंजकों के संयोग से वह रति आदि वासना–भाव अभिव्यक्त हो जाते हैं। अर्थात् वह भाव रसरूप में व्यक्त हो जाता है। (रति आदि भावों के आनन्द का अनुभव होने लगता है।) उसी को रस की अभिव्यक्ति या निष्पत्ति कहते हैं। किन्तु इस आनन्द का अनुभव सहृदय ही कर सकता है, क्योंकि इसके लिए पूर्व संस्कार अपेक्षित हैं। यह रस लौकिक भावानुभव से सर्वथा भिन्न होता है, अत: इसे अलौकिक कहा जाता है। किन्तु इस अलौकिक दशा में पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि विभावादि अपने वैयक्तिकरूप का त्याग कर दें, साथ ही सामाजिक भी निर्वैयक्तिकता को ग्रहण कर लें। ऐसी स्थिति में दर्शक के सम्मुख मानस पटलपर–राम–सीता, दुष्यन्त–शकुन्तला अपने–अपने व्यक्तित्व का त्याग करके केवल नायक तथा नायिका के रूप में अंकित होते हैं, सामने उभर कर आते हैं, इसके साथ ही प्रेक्षक भी केवल रसानुभवकर्ता बन जाता है। इस प्रकार विभावादि केवल विषय–मात्र तथा सामाजिक केवल विषयि–मात्र रह जाता है। इस प्रक्रिया को ही साधारणीकरण कहा जाता है । आचार्य **अभिनवगुप्त** ने अभिनव 'भारती' में

१. **भारतीय सा० शास्त्र, डॉ० देश पाण्डे,** पृ० २९०.९२, 'रससिद्धान्त'– पृ० १९५

निर्भ्रान्त शब्दों में कहा है कि साधारणीकरण केवल आलम्बन विभाव या आश्रय का ही नहीं, सभी तत्त्वों का—अनुभावादि का भी होता है। साधारणीकरण के कारण ही सहृदय को रसानुभूति होती है। क्योंकि इस दशा में वैयक्तिक रागविद्वेषादि का लोप हो जाता है। वे कहते हैं रसानुभूति का आनन्द अलौकिक है। इसका आस्वाद प्रपाणक के आस्वाद के सदृश होता है। प्रपाणक मे सभी द्रव्यों – इलायची, कालीमिर्च, मिश्री, केशर, कपूर, आदि – के मिश्रण से एक अभिनव स्वाद की सृष्टि होती है, जो प्रत्येक द्रव्य—वस्तु के अलग—अलग स्वाद से सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है। इसी प्रकार नाटक—काव्यादि के विभावादि सभी का आस्वाद परस्पर मिलकर रस की एक विशेष प्रकार की चर्वणा को जन्म देते हैं।

रस विवेचन के प्रसङ्ग मे यह तथ्य निश्चित् रूप से ध्यानस्थ रहना आवश्यक है कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी, स्थायी आदि के विषय में जो विवेचन किया जाता है वह औपाधिक होता है । वस्तुत. रसास्वाद रसिक की एक अखण्डाकार घन प्रतीति है । यह प्रतीति खण्डश. नही होती । कहने का तात्पर्य यह है कि – ये विभाव, अनुभाव ये रहे, ये सचारी, यह इनका सयोग, और यह रहा रस, इस क्रम से रसिक को रस प्रतीति नहीं होती । रसिक द्वारा अनुभूत अखण्ड रसानुभाव को विश्लेषण करते हुए जब हम उसका स्वरूप देखने का प्रयास करते हैं तब अपने अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम इन विभावादि खण्डो की कल्पना करते हैं । अतएव विभावादि की रसनिरपेक्ष रूप में सत्ता ही नही है । दूसरी बात यह है कि रसाभिव्यक्ति का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर नित्य **प्रदीपघटन्याय** उद्धृत किया जाता है, **दशरूपकावलोककार** ने भी प्रदीपघटन्याय को उपस्थित किया है । इस न्याय की अपनी एक सीमा है जिसे ध्यान रखना आवश्यक है । प्रदीप तथा घट दोनो की परस्पर निरपेक्ष सत्ता होती है, उसी प्रकार विभावादि काव्यनाट्यगत होते हैं, तथा स्थायीभाव रसिक के हृदय में लौकिक अवस्था मे वासनासस्काररूप में स्थित रहता है, यहाँ तक स्थिति समान है । किन्तु जैसे बाहर से लाए दीपक के प्रकाश मे मूल अवस्था मे जो घट है वही प्रकट होता है वैसे रस का प्रकटीकरण नहीं होता । विभावादि का उचित सयोग रसिक की प्रतीति मे प्रविष्ट होते ही रसिक के तदुचित वासना संस्कार का उद्बोधन अथवा प्रकाशन होता है । किन्तु इस प्रकाशित स्थायी के मूल रूप में परिवर्तन हो जाता है । वह लौकिक स्थायी रहता ही नहीं । विभावादि की अलौकिकता का एव प्रमाता अथवा रसिक के अपरिमित प्रमातृत्व का मूलस्थायी पर सस्कार होने से उस स्थायी के रूप में पूर्णत: परिवर्तन हो जाता है तथा वह साधारणीभूत होता है तथा इसी अवस्था में वह चर्वणा का विषय बनता है ।

भाव—जगत्

उपर्युक्त विवरण में हमने देखा कि जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से 'षाडवादि' रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावो से संयुक्त होकर स्थायीभाव भी 'रस' रूप को प्राप्त होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि रस की स्थिति भाव पर आश्रित है। और रस तथा भाव का अनिवार्य एवं अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

भरत मुनि ने 'भाव' शब्द का प्रयोग भावित या वासित करने वाले के अर्थ में किया है। वे कहते हैं कि वाचिक, आंगिक और मुखरागादि सात्त्विक अभिनय द्वारा कवि के अन्तर्गत भाव को भावन कराते हुये होने के कारण यह भाव कहा जाता है। नाना अभिनय से सम्बन्ध वाले रसों को भावित कराने के कारण ये भाव कहे जाते हैं ।[१] इस प्रकार यह विदित होता है कि भरत ने 'भाव' शब्द का प्रयोग अभिनेता को दृष्टि में रखकर किया है।

'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः'[२] – मनोवैज्ञानिक शब्दावली में भाव को मनोविकार या मनोवेग भी कहा गया है। हमारे बाह्य जगत् के सम्पर्क से उत्पन्न मन के विकार जो चेतना को व्याप्त कर लेते हैं, भाव कहलाते हैं। ये भाव मनुष्य के मानस में सुप्तावस्था मे पड़े रहते हैं। इनको इस प्रकार समझते हैं – जब हम अपने दैनिक जीवन मे किसी से प्रेम करते हैं, किसी के प्रति क्रोध करते हैं, विभिन्न स्थितियो मे उत्साह करुणा प्रदर्शित करते हैं; कभी–कभी शेर–साँप को देखकर भयभीत होते है या कभी–कभी रोग ग्रस्त मनुष्य के शरीर पर दुर्गन्ध युक्त स्रवित कोढ़ को देखकर जुगुप्सा का भी अनुभव करते हैं। इस प्रकार हम अपने जीवन में जब उक्त भावो का बार–बार अनुभव करते हैं तब इनका प्रभाव हमारे चेतनपन पर पड़ता हुआ शनै. शनै. हमारे अचेतन मन के अन्तराल मे अपना स्थान बना लेता हैं। और जब हम काव्य नाटकादि मे तत्तत् भाव का वर्णन पढ़ते हैं या अभिनय द्वारा रङ्गमंच पर देखते हैं, तब वे सुप्तावस्था में पड़े हुए भाव हमारे चेतन मन पर उभरने लगते हैं। ये ही भाव काव्यादि मे वर्णित विभावादि के द्वारा पुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो जाते हैं। यह स्थिति रसावस्था–अलौकिक आनन्द की है, जिसे **'ब्रह्मास्वादसहोदर'** कहा है। ये रस के साधन काव्यशास्त्र में विभावादि – (भाव–विभाव (आलम्बन + उद्दीपन) अनुभाव तथा सञ्चारिभाव) क्या हैं? इन्हें मूल ग्रंथ में देखना चाहिए। काव्यशास्त्र के आचार्यो ने आठ या नौ तरह के भाव माने हैं। जिनमें भरत के अनुसार आठ स्थायी हैं, आठ सत्त्वज हैं और ३३ व्यभिचारी = (४९) हैं। धनञ्जय स्थायी भावों और सात्त्विक भावों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं मानते, पर अन्य नाट्य शास्त्रियों ने उनका अलग उल्लेख किया है। धनंजय ने आठ और अभिनवगुप्त ने नौ भावों को स्वीकार किया है। ये भाव हैं – रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, विस्मय, भय तथा शोक। इनके अतिरिक्त नवॉ भाव है, 'शम' – इन्हीं भावों की परिणति क्रमशः आठ या नौ रसों में होती है। शृङ्गार, वीर, बीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्‌भुत, भयानक, करुण तथा नवें भाव 'शम' का रसरूप शान्त है। उक्त आठ रसों में–शान्त की गणना न करने पर चार प्रमुख हैं, और चार गौण। शृङ्गार से हास्य को, वीर से अद्‌भुत को, बीभत्स से भयानक को, रौद्र से करुण को उद्‌भूत माना जाता है।

इस प्रकार शृङ्गार–हास्य, वीर–अद्‌भुत, बीभत्स–भयानक, रौद्र–करुण–इन रस युग्मों की स्थिति बन जाती है। इनका सम्बन्ध मन की चार स्थितियों से लगाया

---

१. ना० शा० ७।१–३।   २. ना० शा० ६।३७।

गया है। रसास्वाद के अवसर पर सहृदय का मानस या तो विकसित होता है – या फैलता है या क्षुब्ध होता है या उसमें विक्षेप की क्रिया होती है । प्रत्येक रस के युग्म में प्रत्येक स्थिति का अनुभव क्रमशः होता है। यथा–शृङ्गार–हास्य रस मे सहृदय का मानस विकसित होता है, वीर–अद्भुत मे मन का विस्तार, बीभत्स–भयानक में क्षोभ तथा रौद्र–करुण में विक्षेप का अनुभव होता है।

रस का स्वरूप

भरत के मत में संसार का सुख–दुःख से युक्त जो स्वभाव है, आंगिकादि (चुतुर्विध) अभिनयों के साथ मिल जाने पर वहीं नाट्य कहलाता है। भरत ने नाट्य को सुख–दुःख समन्वित माना है और अभिनव गुप्त ने उसकी व्याख्या मे कहा है – रति–हास–उत्साह–विस्मय–सुख प्रधान हैं तथा क्रोध–भय–शोक–जुगुप्सा दुःख प्रधान।[१] किन्तु दशरूपक के टीकाकार धनिक ने सभी रसों को सुखात्मक माना है।[२]

इस प्रकार रूपक के तीन भेदक तत्त्वो – वस्तु, नेता तथा रस की विवेचना समाप्त हुई। इनके अतिरिक्त नाटकादि में सङ्गीत नृत्य आदि कलाओं का भी विशेष स्थान है। दशरूपककार धनंजय ने, नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करना ही प्रमुख लक्ष्य होने के कारण, अपने ग्रंथ में सङ्गीत तथा नृत्य की विवेचना नही की है। सभवतः उत्तरवर्ती आचार्य इन विषयों को सङ्गीतशास्त्र के विषय मानने लगे थे। नाटकीय वृत्तियों का विवेचन हम इसके पूर्व कर चुके हैं।

रस विरोध तथा उसका निराकरण

संस्कृत काव्य शास्त्र मे रसो के परस्पर सम्बन्ध–विरोध और अविरोध तथा विरोध परिहार आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

रसों के विरोध

अविरोध का भरतमुनि ने कहीं स्पष्ट विवेचन नही किया है। सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने इस ओर ध्यान दिया है।[३] दशरूपककार ने इसका विवेचन किया है। कभी–कभी कवि अपने काव्य–नाटक– में एक से अधिक रसों का समावेश कर देता है। ऐसी स्थिति मे उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि वर्णित रस कहीं परस्पर विरोधी तो नहीं है। तथा वे प्रमुख भाव या रस का विरोधकर क्षति तो नहीं पहुँचाते। स्थायीभाव या भाव की परिभाषा उपन्यस्त करते हुए धनंजय कहते हैं कि वह लवणाकर के सदृश है, जो वस्तुओं को आत्मसात् कर लेता है, उन्हें भी अपने सदृश– अर्थात् खारी बना लेता है। स्थायी भाव वहीं है, जो सजातीय तथा विजातीय भावों को आत्मरूप बना लेता है। वह अनुकूल या प्रतिकूल भाव से विच्छिन्न नहीं हो पाता।[४]

भावों का परस्पर विरोध दो प्रकार से हो सकता है– या तो वे भाव एक साथ एक काव्य–नाटक में न रह सकें (सह + अनवस्थान) या वे एक दूसरे के प्रति बाधक बन जायें, अर्थात् एक भाव का दूसरे भाव की प्रतीति में बाधा उपस्थित करना (बाध्य

१. हिन्दी अ० भा०, पृ० २१९–२०। २. द० रू० ३।४–५।
३. ध्वन्यालोक – ३।१८। ४. द० रू० ४।३४।

बाधकभाव)। यदि दोनों भावों की प्रतीति भिन्न–भिन्न रस रूप में हो रही हो, तो ऐसी स्थिति में विरोध होना संभव है, किन्तु उनकी प्रतीति मिश्रित रूप से एक रस के रूप में होने पर विरोध नही हो सकेगा। क्योंकि विरोध होने पर तो एकरूपता ही सम्भव न हो सकेगी। जहाँ तक व्यभिचारियों का प्रश्न है, उनका स्थायी भाव के साथ कोई विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि वे तो स्थायी भाव के अङ्ग बनकर काव्य में वर्णित होते हैं। इनमें सहानवस्थानरूप विरोध हो ही नहीं सकता। जैसे (पुष्प) माला के एक सूत्र में अनेक पुष्पों की तरह, अविरोधी व्यभिचारियों का सम्बन्ध रहता ही है।

आलम्बन अलग–अलग होने पर स्थायी भाव या रस का विरोध नहीं हो सकता। जैसे–भवभूति के मालतीमाधव नाटक मे शृङ्गार रस है, उसके पाँचवे अङ्क में बीभत्स रस का चित्रण किया गया है। ऐसी स्थिति में क्या यह विरोधी है ? नही, क्योकि यहाँ दोनो रसो के आलम्बन भिन्न–भिन्न हैं। शृङ्गार का आलम्बन मालती है, और बीभत्स का श्मशान। वही रौद्र रस का उपनिबन्धन कवि ने किया है, यहाँ अघोरघण्ट--कापालिक माधव के क्रोध का आलम्बन होता है। इस प्रकार भिन्न--भिन्न आलम्बन होने पर विरोधी रसो का उपनिबन्धन किया जा सकता है। दो परस्पर विरोधी रसो के विरोध परिहार का एक मार्ग यह भी है कि दोनों के मध्य मे ऐसे रस का समायोजन कर दिया जाय जो दोनों (रसों) का विरोधी न हो।

जहाँ एक ही रस प्रमुख हो, वहाँ अन्य विरोधी या अविरोधी रसो को उस प्रधान रस का अङ्ग मानकर, विरोधाभाव मानना तो ठीक है, किन्तु जहाँ कई रसो का समप्राधान्य होने पर रस विरोध का परिहार कैसे किया जाय ? इसके उत्तर मे वृत्तिकार धनिक ने अनेक काव्य–पद्यों को उपन्यस्त किया है, जिनमे एकाधिक भावों का समप्राधान्य परिलक्षित होता है। धनिक कहते हैं कि इन उद्धृत काव्य–पद्यो मे प्रधान भाव तथा प्रधान रस एक ही है, दूसरे उपन्यस्त रस या भाव अप्रधान ही है। जैसे दो उदाहरण लिये जा सकते हैं –

(१) "एक्कत्तो रुअइ ... . हि अअम् ।।"

(२) "एकेनाक्ष्णा ... .. प्रगल्भा ।" पूर्ण पद्य ग्रथ मे देखने चाहिए।

प्रथम पद्य में शङ्का करने वाला – (प्रश्नकर्ता) दो रसों शृङ्गार तथा वीर का समप्राधान्य मानता है। वृत्तिकार धनिक कहते हैं कि यहाँ वीर रस को ही प्रधानता है, शृङ्गार रस गौण है और उसी वीर रस का पोषक बनकर आया है।

दूसरे पद्य में एक साथ रति, शोक तथा क्रोध की व्यंजना हो रही है शंका करने वाले के विचार में इस (दूसरे) पद्य में तीनों भावों का समप्राधान्य है। किन्तु धनिक प्रश्नकर्ता के विचार से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि पद्य में प्रमुखता भविष्यद्विप्रलम्भ की है; अत: यहाँ अनेक तात्पर्य की समप्रधानता नहीं है। क्योंकि संपूर्ण पद्य का एक ही विषय है – शाम के समय चक्रवाकी अपने प्रिय के भावी वियोग की आशङ्का से दु:खित हो रही है। ऐसी स्थिति में संपूर्ण वाक्य भावी विप्रलम्भ का ही सूचक है। अत: क्रोध या शोक के अर्थ का कोई अलग तात्पर्य नहीं निकलता। सूर्य विषयक क्रोध तथा शोक दोनों रति के ही अङ्ग बन जाते हैं। अत: यहाँ प्रधानता एक ही भाव की है।

आचार्यों के विचार में रस–विरोध के आधार तीन हैं। (१) **आलम्बन–ऐक्य** तथा (२) **आश्रयऐक्य** और (३) **नैरन्तर्य्य**–इन तीन दृष्टियों से रसों मे परस्पर विरोध होता है। शृङ्गार और शान्त का विरोध विभाव--ऐक्य और नैरन्तर्य्य दोनों की दृष्टि से है, शृङ्गार और रौद्र तथा श्रृङ्गार और करुण का विरोध आलम्बन–ऐक्य की दृष्टि से है।

परवर्ती मम्मट–विश्वनाथ आदि आचार्यो ने उक्त आधार पर ही प्रस्तुत विषय का विवेचन किया है। यद्यपि दशरूपककार धनजय–धनिक ने परस्पर विरोधी रसो का अधिक विस्तृत विवेचन नही किया है। तथापि वह महत्त्वपूर्ण हैं।

धनञ्जय तथा धनिक की मान्यताएँ

धनञ्जय–धनिक तथा व्यञ्जनावृत्ति

दशरूपककार धनञ्जय और वृत्तिकार धनिक दोनो ही भाट्ट मीमासको के विचारो से अत्यधिक प्रभावित रहे हैं। मीमासको के अनुसार ध्वनि अथवा व्यञ्जना रूप पृथक् व्यापार मानने की कोई आवश्यकता नही है। वे कहते हैं कि ध्वनि का अन्तर्भाव **'तात्पर्यशक्ति'** मे ही हो जाता है।[१]

तात्पर्यवादियो का कथन है – वक्ता का अन्तिम अभिप्राय जब तक ज्ञात होता है, तात्पर्य शक्ति का विस्तार है। इनके विचारानुसार आवश्यकतानुसार तात्पर्य शक्ति का विस्तार हो जाना है। अत पृथक् ध्वनि व्यापार मानने की कोई आवश्यकता नही है। भाट्टमीमासक व्यञ्जनावृत्ति मे बोधित प्रतीयमान अर्थ को तात्पर्यार्थ से भिन्न नही मानते। इनके मत मे प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तात्पर्य वृत्ति से हो सकती है। इसके विपरीत ध्वनिवादी रस को व्यङ्ग्य मानते हैं, तथा उसकी प्रतीति के लिए व्यञ्जना व्यापार की कल्पना करते हैं। धनिक ने दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश में ध्वनिवादी के मत का खण्डन करते हुए अपने मत को इस प्रकार उपन्यस्त किया है –

''जिस प्रकाश शब्दों के द्वारा वाच्य अथवा प्रकरण आदि के द्वारा बुद्धि में सन्निविष्ट क्रिया ही कारको से अन्वित होकर वाक्य का अर्थ होती है, उसी प्रकार विभावादि से युक्त होकर स्थायी–भाव (रति आदि) भी वाक्यार्थ होता है।[२] धनञ्जय द्वारा प्रस्तुत उक्त कारिका का अर्थ, तात्पर्यार्थ ही है। वृत्तिकार धनिक ने भी इसे स्पष्ट

---

१ ''**मीमांसकों** के इस का मूल है– यह सूत्र **'यत्परः शब्दः सशब्दार्थः'** (अर्थात् शब्द जिसके लिये प्रयुक्त होता है वह शब्दार्थ होता है।) इसका अर्थ यह हो सकता है कि जिस अर्थ को बोध कराने के लिये शब्द प्रयुक्त होता है वही उसका अर्थ होता है। (तदर्थत्व) दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि शब्द सबन्ध मर्यादा से सीमित रहकर जिस अर्थ की सूचना देता है वही उसका अर्थ होता है। (तत्परत्व) पहले अर्थ की व्यापकता स्पष्ट है, परन्तु मीमांसक सबन्ध मर्यादा को भी मानते हैं। इसलिये जिसे वे तात्पर्य करते हैं वह सीमित हो जाता है। उससे व्यंजना वृत्ति का काम नहीं चल सकता। क्योंकि व्यंजना वृत्ति संसर्ग –मर्यादा से बँधी नहीं होती। दशरूपककार तात्पर्य वृत्ति को पहले अर्थ में ग्रहण करते हैं।''

२. द० रू० ४। ३७।

रूप से तात्पर्य शक्ति गम्य माना है। **तात्पर्यवादियों** के इस **प्रश्न** – क्या काव्य और स्थायीभाव तथा रस में परस्पर वाच्य–वाचक भाव सम्बन्ध है ? काव्य वाचक है और स्थायी भाव तथा रस उस काव्य के वाचक हैं ? – का उत्तर ध्वनिवादी 'नहीं'– कहकर देता है। ध्वनिवादी कहता है – काव्य तथा स्थायी भाव एवं रस में परस्पर वाच्य–वाचक भाव सम्बन्ध नही है। अर्थात् भाव एवं रस न तो वाच्य हैं और काव्य न उनका वाचक है। क्योकि रति आदि भाव तथा रस का कथन कहीं भी अपने शब्दों से नहीं किया जाता। इसके अतिरिक्त जहाँ भी काव्य में शृङ्गार आदि तथा रति आदि शब्द सुनाई पड़ते हैं, वहाँ भी ये (शृङ्गार अथवा रति आदि शब्द) विभाव आदि के वर्णन द्वारा ही आस्वाद्य होते हैं, न कि केवल अपने शब्दों के वाच्य होने से। ध्वनिवादियों के अनुसार रस व्यंग्य होता है। उनके विचार में शृङ्गार अथवा रति आदि शब्द से अभिधा वृत्ति के द्वारा रस की प्रतीति नहीं होती। विभाव तथा अनुभाव आदि के द्वारा परिपुष्ट हुआ रति आदि भाव ही 'रस' कहलाता है। ध्वनिवादी कहते हैं कि रस की प्रतीति अभिधा शक्ति के द्वारा यदि होती है तो ऐसी स्थिति में जो केवल वाच्य–वाचक भाव मात्र का ज्ञान रखने वाले हैं, वे अरसिक भी रसास्वाद करने लगेंगे। किन्तु ऐसा नहीं होता। अत: रस तथा विभावादि में परस्पर कोई अन्य सम्बन्ध स्वीकार करना होगा। वस्तुत: विभावादि व्यंजना के द्वारा रस को अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार इनमें परस्पर **व्यङ्ग्य व्यंञ्जक भाव** हैं। ध्वनिकार की व्यञ्जना तथा व्यङ्ग्यार्थ का खण्डन करते हुए **धनिक** कहते हैं कि स्थायी भाव तथा रस काव्य के वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ हैं। वे कहते हैं कि लोक में जितने भी प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया जाता है चाहे वे लौकिक भाषा के वाक्य हों अथवा वैदिक भाषा के, उन सबका तात्पर्य कार्य में ही होता है। यदि किसी वाक्य का तात्पर्य कार्य में नहीं तो वह ग्राह्य न हो सकेगा। जैसे पागलों का प्रलाप ग्राह्य नहीं होता। इनके विचार में वाक्य के शब्दो का कार्य अथवा लक्ष्य हैं – आनन्दानुभूति कराना। इस आनन्दानुभूति के कारण विभावादि से युक्त स्थायी भाव ही हैं। वाक्य की अभिव्यक्ति उन–उन विभावादि का प्रतिपादन करती है और उनके द्वारा रस के रूप में पर्यवसित होती है। काव्य शब्दो के पदार्थ हैं – विभावादि, तथा वाक्यार्थ है– स्थायी भाव एव रस। इस प्रकार उनमें वाच्य–वाचक भाव स्वीकार करना पड़ेगा। अपने ग्रन्थ–'काव्यनिर्णय' से कुछ कारिकाओं को उद्धृत कर अपने मत को स्पष्ट करते हुए धनिक कहते हैं –

व्यञ्जनीय अर्थात् व्यङ्ग्य कहलाने वाला अर्थ तात्पर्यरूप अर्थ से भिन्न नहीं होता। अत: उसमें ध्वनि अर्थात् व्यञ्जना नामक वृत्ति की कल्पना करना उचित नहीं है। 'तात्पर्यनातिरेकाच्च व्यंजकस्य न ध्वनि:।' 'एतावत्येव विश्रान्ति स्तात्पर्यस्येति किं कृतम्। यावत्कार्य प्रसारित्वात् तात्पर्य न तुलाधृतम् ।।'

तात्पर्यवादी कहता है कि तात्पर्य की विश्रान्ति केवल नियत अर्थ में ही हो जाती है, ऐसा नियम किसने बनाया है ? वस्तुत: कार्य का जब तक बोध नहीं हो जाता तब तक तात्पर्य शक्ति का प्रसार होता है; क्योंकि तात्पर्य कोई नपी तुली वस्तु नहीं है। जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि तात्पर्य का विषय यहीं तक है आगे नही ।।

इस प्रकार दशरूपककार धनंजय और वृत्तिकार धनिक—दोनो को ही व्यंजना वृत्ति या रस का व्यंग्यत्व कथमपि स्वीकार नही है।

तात्पर्यवृत्ति और धनंजय—धनिक

आलङ्कारिकों में दशरूपककार धनञ्जय एवं टीकाकार धनिक ने भी क्रमश· अभिधा और तात्पर्यशक्ति से ही प्रतीयमान अर्थ का बोध दिखाकर ध्वनिवादियों का बड़े समारोहपूर्वक खण्डन किया है। धनञ्जय ने चतुर्थ प्रकाश मे —

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया ।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायीभावस्तथेतरैः ।।

यह कारिका लिखी है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार वाक्य में कहीं वाच्या अर्थात् श्रूयमाण और कही **'द्वारम्'** आदि अश्रूयमाण क्रियावाले वाक्यों मे प्रकरणादिवश बुद्धिस्थ क्रिया ही अन्य कारको से सम्बद्ध होकर वाक्यार्थरूप मे प्रतीत होती है, उसी प्रकार **विभाव, अनुभाव, संचारीभाव** आदि के साथ मिलकर **रत्यादि स्थायी भाव** ही वाक्यार्थ रूप मे प्रतीत होता है। अर्थात् पदार्थससर्गबोध के समान तात्पर्याशक्ति से ही उनका बोध हो जाता है।

उपर्युक्त कारिका की व्याख्या करते हुए **धनिक** ने एक गूढ़ **शंका** उपस्थापित की है कि जो पदार्थ नही है, वह वाक्यार्थ कैसे बन सकता है ? अर्थात् पदों के अर्थो से ही वाक्यार्थ बनता है, तब जो रति आदि स्थायीभाव शब्द के अर्थ नहीं है, वे वाक्य का अर्थ कैसे हो सकते हैं ? इस शंका का समाधान **धनिक** ने बड़े ही मार्मिक रीति मे किया है, पाठक इसे तत्स्थल पर ही देखे । तथापि प्रकृत शंका के समाधानार्थ वार्तिककार **कुमारिल** की अधोलिखित कारिका प्रस्तुत कर रहे हैं, जो तात्पर्यवृत्ति के रहस्य एव सामर्थ्य को बताती है —

अशाब्दे चापि वाक्यार्थे न पदार्थेष्वशाब्दता ।
वाक्यार्थस्य नैतेषां निमित्तान्तरसम्भवः ।। (वाक्या २३०)

उपर्युक्त धनिकोक्त शंका का समाधान वार्तिककार के अनुसार यह है कि वाक्यार्थ बोध साक्षात् शब्दजन्य भले ही न हो तथापि वह अशाब्द नहीं है, क्योंकि उसका उत्पादक पदार्थविषयक बोध 'शाब्द' ही होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वाक्यार्थ बोध शाब्द इस हेतु नहीं है कि वह शब्दजन्य है अपितु शाब्दबोध रूप पदार्थबोध से उत्पन्न होने के कारण वह भी शाब्दबोध ही है।

प्रकृत प्रसंग में न्यायरत्नाकरकार **पार्थसारथी मिश्र** कृत विवेचन भी विषयोपकारी है। उनके अनुसार अभिधा के समान शब्दों की तात्पर्य नामक एक अन्यवृत्ति भी होती है। अभिधावृत्ति के द्वारा जो शब्द पदार्थ का बोधक होता है, वही शब्द तात्पर्य वृत्ति के द्वारा वाक्यार्थ का बोधक हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि शब्दों का तात्पर्य वाक्यार्थो में ही होता है, पदार्थो में नहीं, क्योंकि पदार्थ अनन्यलभ्य नहीं है अर्थात् अन्य प्रमाणों से वे सिद्ध हो जाते हैं। किन्तु वाक्यार्थ ही अनन्यलभ्य होता है। इस हेतु यह कहना कि वाक्यार्थबोध (रत्यादिरूप वाक्यार्थ बोध) अशाब्द है, उचित नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पदों की अभिधा और तात्पर्य ये दोनो

प्रधान वृत्तियाँ हैं। अभिधा के द्वारा पद पदार्थविषयक बोध उत्पन्न करते हैं और तत्पश्चात् वे ही पद अपनी तात्पर्य वृत्ति के द्वारा वाक्यार्थविषयक बोध को उत्पन्न करते हैं।[१]

उपर्युक्त सारणी से प्रभावित धनञ्जय एवं धनिक ने तात्पर्यवाद का उपस्थापन किया है। उनका भी कहना है कि तात्पर्यशक्ति के द्वारा ही ध्वनि का ग्रहण होता है, अतएव ध्वनिरूप पृथक् व्यापार मानने की आवश्यकता नही है। काव्यार्थ मे वाच्यार्थ से पृथक् रूप में जो अर्थ प्रतीत होता है वह प्रधान होगा अथवा गौण होगा। जब वह प्रधान होता है, तब वाक्यार्थ की अन्तिम विश्रान्ति उसी मे होने से, वह उस वाक्य का तात्पर्य ही तो होता है। इस हेतु उसका ग्रहण तात्पर्यशक्ति से ही हो जाता है। यहाँ यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि इस तात्पर्यग्रहण की प्रक्रिया में एक पृथक् अर्थ (वाच्यार्थ) मध्यम अवस्था में पाया जाता है। किन्तु वह वाच्यार्थरूप अर्थ तात्पर्य प्रतीति के उपाय रूप मे ही रहता है। जैसे पदार्थप्रतीति वाक्यार्थ प्रतीति का उपाय है, वैसे ही ये मध्यगत वाक्य तात्पर्य प्रतीति के उपाय ही है।

उपर्युक्त तात्पर्यवाद की व्यवस्था से क्षुभित ध्वनिवादी कहते हैं कि शब्द का वाच्यार्थ और प्रतीयमान अर्थ एक नहीं होते हैं। इनमे प्रथम अर्थ शब्द का वाच्यार्थ होता है, किन्तु द्वितीय अर्थ प्रथम अर्थ की अवगमन शक्ति पर निर्भर रहता है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि वाचक शक्ति तो केवल शब्द में ही रहती है, किन्तु अवगमनशक्ति सगीत आदि अवाचक स्वरो में भी रह सकती है। और तो और, शरीरचेष्टा आदि मे भी अभिप्राय का व्यक्तीकरण होते देखा जा सकता है। **'अनया मृगाक्ष्या कटाक्षेणाभिप्रायो व्यंजितः'** यह वाक्य दर्शाता है कि कटाक्षादि के कारण भी अभिप्राय व्यक्त हुआ है। ऐसी परिस्थिति मे तात्पर्यवादी के इस कथन का 'अवगमनशक्ति और वाचक शक्ति एक ही ही है' क्या अर्थ है ? तात्पर्यशक्ति—जो वाच्यार्थ से ही सम्बद्ध रहती है – अवगमन व्यापार तथा व्यंजना व्यापार दोनो को अन्तर्भूत कर लेती है – उनके इस कथन में भी क्या सार है ?

उपर्युक्त ध्वनिवादी के आक्षेप का प्रतिवाद धनिक ने बड़े ही मुखर शब्दों में किया है। उनका अभिप्राय यह है कि – प्रथम प्रतीत अर्थशक्ति में ही तात्पर्यशक्ति को सीमित क्यों माना जाता है ? प्रथम अर्थ में ही तात्पर्यशक्ति अवरुद्ध हो जाती है, ऐसा हमारा अभिप्राय नहीं था । वक्ता का अन्तिम अभिप्राय जब तक ज्ञात नहीं हो जाता, तब तक तात्पर्यशक्ति का विस्तार होता है। तात्पर्य का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है। वह कोई नपा–तुला पदार्थ नहीं है[२] कि इससे अधिक नहीं हो सकता, वह तो

---

१. सति तेषां शाब्दत्वेन द्वारेणास्ति वाक्यार्थस्यापि शब्दप्रतिपाद्यत्वम्। तथा च तत्परत्वाच्च शब्दानां शाब्दत्वं सिध्यति। वाक्यार्थे हि शब्दानां तात्पर्यम् न पदार्थेषु तेषा प्रमाणान्तरसिद्धत्वात्। अतः यद्यप्यभिधा व्यापारः पदार्थेष्वेव पर्यवसितः, तथापि तात्पर्यव्यापृतेरपर्यवसिताया वाक्यार्थपर्यन्तत्वात् तात्पर्ये शब्दस्य प्रामाण्यात् सिध्यति शब्दे प्रमेयतया वाक्यार्थस्य शाब्दत्वमिति (वाक्या० २३०)

२. द० रू० ४।३७।

यावत्कार्यप्रसारी है। जहाँ जैसी और जितनी आवश्यकता हो वहाँ तक तात्पर्य का व्यापार हो सकता है। इसी प्रकार का भाव न्यायसूधाकार **भट्टसोमेश्वर** ने व्यक्त किया है।[1]

ध्वनि तथा तात्पर्यवाद के क्षेत्र दीर्घविचार विमर्श के पश्चात् इतने अधिक समीप प्रतीत होते हैं कि ध्वन्यालोक का एक अभिनवगुप्त पूर्व टीकाकार अपनी टीका में ध्वनि का तात्पर्य से समीकरण कर देता है – **यस्तु ध्वनिव्याख्यानायोद्यत: तात्पर्यशक्तिमेव विवक्षासूचकत्वमेव वा ध्वननमवोचत् स नास्माकं हृदयमावर्जयति।** और **'यस्तु अत्रापि तात्पर्यशक्तिमेव ध्वननं मन्यते, न स वस्तुतत्त्ववेदी।**[2] इस प्रकार इस टीकाकार के मत का अभिनवगुप्त ने उल्लेख करके इस मत के विषय मे अपनी प्रतिकूलता प्रदर्शित की है। **भोज** ने तो – **तात्पर्यमेव वचसि ध्वननमेव काव्ये**– इस प्रकार दोनों मतों में समन्वय करते हुए **'चैत्रवैशाख'** और **'मधुमाधव'** के समान इन्हें पर्याय ही निर्धारित किया है। वे कहते हैं – **अदूरविप्रकर्षात्तुद्वयेन द्वयमुच्यते। यथा सुरभिवैशाखो मधुमाधवसंज्ञया ।।**

प्रकृत प्रसंग मे यह **प्रश्न** उपस्थित होता है कि यदि ध्वनि और तात्पर्य परस्पर पर्याय हैं, तब ध्वनिवादी का यह आग्रह क्यों है कि **'ध्वनि'** को एक पृथक् व्यापार माना जाना चाहिये ? यदि भोज का यह कथन कि व्यवहार मे जिसे तात्पर्य कहा जाता है उसी को काव्य में ध्वनि कहा जाता है – सत्य है तब यह क्या शब्द का ही भेद है ? अथवा ध्वनि से तात्पर्य को भिन्न मानने मे तात्पर्यवादियों का कुछ दूसरा ही अभिप्राय है ? इन प्रश्नों के उत्तर अपेक्षित हैं ।

धनञ्जय व धनिक का रससम्बन्धी मत

ध्वनिवादियों का सबसे प्रबल आधार है रसास्वाद। इनका कथन है कि रसास्वाद की उपपत्ति के लिये ध्वनि को स्वीकार करना आवश्यक है। किन्तु तात्पर्यवादी–धनञ्जय–धनिक कहते हैं कि रसास्वाद–भी तात्पर्य ही में आ जाता है। वाक्य का पर्यवसान नित्य क्रिया में होता है। 'गाम् आनय'' – इस वाक्य का पर्यवसान बैल को ले आने की क्रिया में होता है। ''दरवाजा दरवाजा'–द्वारं–द्वारं –'' इस वाक्य का पर्यवसान वक्ता के अभिप्राय के अनुसार, दरवाजा बन्द करने अथवा खोलने की क्रिया में होता है। वैसे ही विभावादि का पर्यवसान ''आस्वाद क्रिया'' में होता है। मीमांसकों के मत में वाक्यार्थ का पर्यवसान क्रिया में ही होता है। अत: रसास्वाद भी तात्पर्य शक्ति में ही अन्तर्भूत होता है। इसके पूर्व हमने देखा है कि धनञ्जय व धनिक को रस का व्यङ्गत्व स्वीकार नहीं है। वे विभावादि तथा रस में भाव्य–भावक सम्बन्ध मानते हैं। उनके विचारानुसार विभावादि या काव्य भावक है, रसादि भाव्य। भट्टनायक रस की निष्पित्ति के सम्बन्ध में –भावकत्व तथा भोजकत्व– दो व्यापारों की कल्पना करते हैं। धनंजय और धनिक ने कहा है कि – भाव का अर्थ ही यह है कि वे सामाजिकों को शृङ्गारादि रस की भावना करते हैं। जैसा कि भरत ने कहा है कि सामाजिकों को ये चिन्ता आदि भाव के अभिनय से सम्बन्धित रसों की

---

१. तात्पर्याख्यशब्दव्यापारस्य सर्वत्रभावात्। न्यायसुधा, पृ० १४४५।

२. ध्वन्यालोक १।५।

भावना—चर्वणा—आस्वादन— कराते हैं, अतः नाट्य—प्रयोक्ता जनों के द्वारा ये भाव कहे गये हैं ।[१] भट्टनायक के अनुसार धनञ्जय व धनिक ने रस की स्थिति सहृदयगत ही मानी है और यह स्वीकार किया है कि सहृदयगत स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होता है वे कहते हैं — सामाजिक नाटकादि में नटों के द्वारा अर्जुनादि का अभिनय देखकर अपने ही उत्साहादि स्थायी भावों का आस्वादन करता है। जैसे बालक मिट्टी के हाथी—घोड़ों से खेलते हुए उनसे रस प्राप्त करता है।[२] अर्थात् विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा व्यभिचारी भावों द्वारा आस्वाद्य होकर स्थायी भाव ही रस बन जाता है।[३] इस प्रकार धनञ्जय व धनिक व्यंजना वृत्ति को स्वीकार न करके काव्य में वर्णित विभावादि के साथ रस का अभिनव के समान व्यंग्य—व्यंजक सम्बन्ध न मानकर भट्टनायक की तरह भाव्य—भावक सम्बन्ध ही मानते हैं। **''अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः, किं तर्हि भाव्य भावक सम्बन्धः। काव्यं हि भावकं भाव्या रसादयः ।''**[४]

परिणामतः उनके मतानुसार संयोग का अर्थ होता है भाव्य—भावक सम्बन्ध और निष्पत्ति का अर्थ होता है भावित होना—जो भट्टनायक का वास्तविक मत है।

इस प्रकार धनंजय—धनिक—दोनों ही अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों को ही अंश—अंश रूप में स्वीकार, करते हैं। लोल्लट ने व्यंग्यार्थ को 'दीर्घ दीर्घतराभिधाव्यापारजन्य माना है। भट्टनायक के रस की भावना विषयक मत को धनंजय ने स्वीकार किया है। यद्यपि भट्टनायक ने निष्पत्ति का अर्थ 'भुक्ति' किया है, भावना नहीं, तथापि भावना भी भट्टनायक के मत में निहित है। इस प्रकार धनंजय का यह मत भी भट्टनायक के मत का नवीनीकरण ही है। शंकुक के अनुसार नट के द्वारा अनुकार्य रामादिका अभिनय देखकर सामाजिक उसे रामादि ही समझते हैं। यहाँ भी धनञ्जय का मिट्टी के हाथी का दृष्टान्त शंकुक के 'चित्रतुरगन्याय' का स्मरण कराता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धनंजय के रस सम्बन्धी मत में कोई नवीनता नहीं परिलक्षित होती। हाँ, इतना अवश्यक है कि धनंजय ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के मतों का अंशात्मक दाय स्वीकार कर उसे नवीन रूप में प्रस्तुत किया है। परमार्थतः धनञ्जय एवं धनिक ने रस विषक विवाद को पूर्ण संशोधित करके एक स्वस्थ मत का उपस्थापन किया है । इस क्लिष्ट चर्चा का सरल पद्धति द्वारा किया वर्णन उनकी अपनी स्वतंत्र विशेषता है । **अभिनवगुप्त** ने भी कहा है कि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों की भलीभाँति सङ्गति लगा देने में मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना का—सा ही फल मिलता है — 'पूर्व प्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठा फलमामनन्ति ।'

रसानुभवकालीन चतुर्विध चित्तवृत्ति

विभाव, अनुभाव, संचारिभाव के योग से स्थायीभाव का परिपोष होकर जो आस्वादन होता है उसी को रस कहते हैं। यह आस्वादन अथवा रस वस्तुतः चित्त की एक अवस्था विशेष है। जैसा कि इसके पूर्व कहा गया है, हमारे अन्तःकरण में

१. ना. शा. ७।३।
२. द० रू० ४।४१—४२
३. द० रू० ४।१
४. द० रू० ४।३७

अनादिकाल से जो संचित वासनाएँ[1] हैं, जिन्हें हम संस्कार भी कहते हैं, उन्हीं को साहित्यशास्त्र या नाट्यशास्त्र के आचार्यो ने वर्गीकरण करके **स्थायीभाव** यह नाम दिया है। यह वर्गीकरण वस्तुतः रसानुभूतिकाल में चित्त की जो अवस्था होती है उसी के आधार पर किया गया है। रति, हास आदि जो आठ स्थायीभाव दिखलाए हैं, उनको भी संक्षिप्त करके चार प्रकार की मनोदशाओं का निरूपण धनञ्जय ने किया है। रसास्वाद के समय चित्त की जो भिन्न–भिन्न अवस्थाएँ होती हैं उन्हें विकास, विस्तार, विक्षोभ और विक्षेप इन चार रूपों में विभक्त किया गया है। प्रेम के समय अथवा शृङ्गार रस के अनुभव काल में जो चित्त की अवस्था होती है, उसका नाम 'विकास' रखा गया है। इसी प्रकार वीररस के अनुभवकालीन चित्तवृत्ति को 'विस्तार', बीभत्सानुभूतिकालीन स्थिति को 'विक्षोभ' और रौद्रानुभूतिकालिक मनःस्थिति को 'विक्षेप' नाम दिया गया है।

इस प्रकार चित्त की चार प्रकार की दशा होने से शृङ्गार, वीर, बीभत्स और रौद्र इन चार रसों को ही धनञ्जय ने मौलिक रस माना है और शेष चार करुण, हास्य अद्भुत और भयानक को उनके आश्रित, क्योंकि इन चारों में भी वही चार प्रकार की मनोदशा होती है। इस हेतु हास्य में शृङ्गार के समान चित्त का 'विकाश', अद्भुत में वीर रस के समान चित्त का 'विस्तार', भयानक रस में बीभत्स के समान 'विक्षोभ' और करुण रस में रौद्ररस के समान चित्त में 'विक्षेप' का प्राधान्य होता है। इस प्रकार रसानुभूतिकाल में चित्त की चार प्रकार की मनोदशा सम्भव होने के कारण चार ही मौलिक रस हैं और शेष चार की उनके द्वारा उत्पत्ति होती है। यह धनञ्जय का **रसचतुष्टयवाद** है।

धनञ्जय के द्वारा नाट्य में शान्तरस का निषेध

रसों की अनन्तता में विश्वास रखने वाले लोल्लट के पश्चात् काव्य–नाटकादि में रस को महत्त्व देने वाले तथा उनकी संख्या पर विशेष ध्यान देने वाले उत्तरवर्ती आचार्यो में धनञ्जय और अभिनव गुप्त हुए हैं। धनंजय ने रस–संख्या के सम्बन्ध में प्रचलित विवाद का समाधान करते हुए यह व्यवस्था दी कि नाट्य में तो आठ रसों की ही सम्भावना है, कुछ विद्वान् शम स्थायी भाव और उसके परिपाक शान्त रस को भी स्वीकार करते हैं, परन्तु रूपकों में उसकी पुष्टि नहीं होती —शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।[2] इसकी व्यंजना यह हो सकती है कि काव्य–श्रव्यकाव्य–में नव रस की स्थिति धनञ्जय को मान्य है, किन्तु विवेच्य विषय रूपक होने के कारण शान्त रस का वर्णन उनकी दृष्टि में अप्रासंगिक है। उक्त कारिका की वृत्ति में धनिक ने शम स्थायी भाव तथा शान्त रस की अस्वीकृति के कारणों को इस प्रकार उपन्यस्त किया है —

१. कुछ लोक शान्तरस को मानते ही नहीं, क्योंकि भरत मुनि ने उसके विभावादि का प्रतिपादन तथा लक्षण नाट्यशास्त्र में नहीं किया है।

---

१. हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ४८०।

२. द० रू० ४।३५।

२. कुछ लोगों का मत यह है कि अनादि काल से आये हुए राग द्वेषों के भाव नष्ट नहीं हो सकते।

३. कुछ लोग शान्त का अन्तर्भाव वीर, बीभत्स, आदि रसों में ही कर देते है

धनंजय का कहना है कि शम में समस्त व्यापारों की समाप्ति होनी चाहिए, ऐसी परिस्थिति में इस व्यापार समाप्ति सूचक का अभिनय नहीं हो सकता। अत: अनभिनेय होने के कारण शान्त की स्थिति रूपकों में अस्वीकृत करनी ही पड़ेगी।

इसी सम्बन्ध में कुछ विद्वान् बुद्ध, युधिष्ठिर, जीमूतवाहन आदि में शान्त रस की स्थिति की ओर संकेत करते हैं। कुछ उन्हें धीरप्रशान्त कोटि के नायक मानते हैं। जो लोग नागानन्द नाटक में शान्तरस मानते हैं, उन्हें वृत्तिकार धनिक इस प्रकार उत्तर देते हैं –

नागानन्द नाटक को देखने पर ज्ञात होता है कि रूपक का नायक जीमूतवाहन एक ओर मलयवती से प्रेम करता है, दूसरी ओर विद्याधर–चक्रवर्तित्व भी प्राप्त करता है। ये दोनों बातें शमभाव के विरुद्ध परिलक्षित होती हैं। वस्तुत: जीमूतवाहन दयावीर है, तथा नागानन्द में अङ्गीरस वीर है। इस वीर रस का मलयवती–प्रेम, तथा विद्याधर चक्रवर्तित्त्व के लाभ में कोई विरोध दिखाई नहीं देता। अत: नाटक में शान्त रस की स्थिति को स्वीकार नही किया जा सकता ।

दशरूपक का वैशिष्ट्य

धनञ्जय उस युग के स्वतन्त्रचेता आचार्य हैं, जब सस्कृत काव्यशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों का गम्भीर विवेचन, ध्वनि–सिद्धान्त का आविष्कार और उसके प्रकाश में काव्य के अन्य सिद्धान्तों का स्थान–निर्धारण हो रहा था। तब धनञ्जय ने ध्वनि सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करने वाले आचार्यो की चिन्तन परम्परा से भिन्न विचारधारा – 'तात्पर्यवाद' का समर्थन करते हुए अपने ग्रन्थ 'दशरूपक का निर्माण किया। वस्तुत: रससिद्धान्त का प्रत्यक्ष समर्थन करने वाला तत्कालीन ग्रन्थ है **दशरूपक**। यह ग्रंथ भरत के नाट्यशास्त्र पर आधृत है, नाट्यशास्त्र एक बृहदाकार ग्रन्थ है। उसमें विस्तृत रूप में पड़ी हुई सामग्री को खोजकर सबका एक साथ तारतम्य बैठाकर, उस सामग्री को एक सूत्र में ग्रथित कर उसका यथार्थ अर्थ निकालना सबके लिये सरल कार्य नहीं है। धनजय ने अपने पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्रों का विचारपूर्वक मंथन करके यथा सम्भव उनकी सामग्री को भली प्रकार से परीक्षण कर ग्रहण किया है और अपने मौलिक विचारों को यथास्थान उपन्यस्त किया है। यथा – धनञ्जय और धनिक बन्धुद्वय के विचार में रस का अर्थ केवल काव्य–चमत्कार नहीं है । रस से उनका अभिप्राय उस आनन्दोद्भूति से है जो विभावादि से युक्त स्थायी के कारण होती है । उन्होंने रस को स्थायिभाव के आस्वाद के रूप में ही ग्रहण किया है। ''चतुर्थ प्रकाश में रस के स्वरूप, काव्य और रस के सम्बन्ध रस–विरोध और उसके परिहार, शान्तरस और नाट्य में उसकी असिद्धि, विभिन्न रसों के अवयवों और मुख्य भेदों का मनोयोग के साथ स्पष्ट शैली में, प्रतिपादन किया गया है[१] ।''

१. रस सिद्धान्त, पृ० ४१।

अतः निर्भ्रान्त शब्दों में कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ अपने पूर्ववर्ती ग्रंथों से रिक्थ में प्राप्त सामग्री पर आधृत होने पर भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व रखता है। इसकी विचार सरणि और प्रतिपादन शैली अपनी है यही कारण है कि कई शताब्दियों की दीर्घयात्रा करने पर भी आज यह अपना महत्त्व अक्षुण्ण बनाए हुए है। उत्तरवर्ती अन्य नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में – भावप्रकाशन, नाट्यदर्पण, प्रतापरूद्र–यशोभूषण, साहित्यदर्पण एव रसतरंगिणी को प्रभूतमात्रा मे प्रभावित किया है । भूमिका मे यह प्रयास किया गया है कि पाठक नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों को भलीभांति आत्मसात कर सकें। विश्वास है कि नाट्यशास्त्र के व्यापक अर्थ को स्पष्ट करने वाली यह मेरी विस्तृत भूमिका उन जिज्ञासु पाठकों के लिए–एक प्राचीन दुर्ग के प्रधान कक्ष तक पहुँचाने वाले एव विभिन्न उलझें हुए आन्तरिक मार्गों की पथप्रर्शिका के रूप मे उपादेय सिद्ध होगी।

पूजनीय पितृचरणो ने प्रस्तुत व्याख्या को सर्वतोमुखी बनाया है। वस्तुतः व्याख्याकार वही है, जो ग्रन्थ की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार के मौलिक चिन्तन को पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करे, जो उस ग्रन्थ की मौलिक विशेषता होती है । पूज्यपितृचरणों ने **'शास्त्रं शास्त्रान्तरेणसम्बद्धम्'** का अनुसरण करते हुए दशरूपक पर चिर काल से अपेक्षित एक परिष्कृत टीका का प्रणयन कर ग्रन्थ मे यत्र तत्र व्याप्त शास्त्रान्तरों की निगूढ ग्रन्थियों को उद्घाटन बड़े ही मनोयोग से किया है, जिसे पिपीठिषा संम्पृक्त अनुसंधित्सु पाठक तत्तत् स्थानों पर देख सकते हैं ।

एतदर्थ दशरूपक के संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी के कतिपय संस्करणों से सहायता उपलब्ध हुई है। विशेषतः 'नाट्यशास्त्र की भारतीय परपरा और दशरूपक', लेखक – हजारी प्रसाद और डॉ० नगेन्द्र का 'रस सिद्धान्त' विशेष उपयोगी रहा है। तदर्थ मैं उनका कृतज्ञ हूँ ।

स्यादेव मेऽलसतया मतिमान्द्यतो वा
दोषः क्वचित्क्वचिदथापि न कापि शंका ।
नैसर्गिकी खलु गुणीकरण प्रवीणा
शक्तिः सदा विजयते भुवि सज्जनानाम् ॥

राजू (राजेश्वर) शास्त्री मुसलगाँवकरः

१३, दीनदयाल नगर
नवाबगंज, वाराणसी – १०



।। श्रीः ।।

श्रीधनिककृतावलोकसहितं

दशरूपकम्

पं० केशवसदाशिवशास्त्रिरचित 'प्रदीप' – हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमः प्रकाशः

इह सदाचार प्रमाणयद्भिरविघ्नेन प्रकरणस्य समाप्त्यर्थमिष्टयो प्रकृता–भिमतदेवतयोर्नमस्कार क्रियते श्लोकद्वयेन –

नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठः पुष्करायते ।
मदाभोगघनध्वानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे ।। १ ।।

देहे ससन्ध्यङ्गगणे समस्ते यत्स्थापनं स्पर्शनवृत्तिकारि ।
तदिन्द्रियं यस्य वपुर्नमामि तमान्तरस्पर्शमयं महेशम् ।।

– आचार्य अभिनवगुप्तपाद

प्रदीप – **'दशरूपक'** नाट्यशास्त्र का प्रकरण ग्रन्थ है । इसके रचयिता धनञ्जय ने इसमें रूपक के दस भेदों का विवेचन किया है । यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर भरत के नाट्यशास्त्र के ही सिद्धान्तों का संक्षेप मात्र है और इसीलिए इसे प्रकरण ग्रन्थ कहा जाता है । यह कारिकाओं मे लिखा हुआ ग्रन्थ है । **धनञ्जय** ने केवल इसके कारिका भाग की रचना की है । इसकी 'अवलोक' नामक वृत्ति (टीका, व्याख्या) के रचयिता धनञ्जय के ही छोटे भाई **धनिक हैं** ।। १ ।।

इहेति । प्रकृत ग्रन्थ रचना के प्रसङ्ग में शिष्टाचार को प्रासङ्गिक मानते हुए (प्रस्तुत) प्रकरण ग्रन्थ की निर्बाध समाप्ति के लिए (ग्रन्थकार) प्रकृत और (अर्थात् नाट्याभिमानी) और अभिमत इष्ट देवता को नमस्कार कर रहे हैं –

यत्कण्ठः मदाभोगघनध्वानः नीलकण्ठस्य ताण्डवे । पुष्करायते तस्मै गणेशाय नमः **इत्यन्वयः** ।। १ ।।

कारिकार्थ – नम इति। नीले कण्ठ वाले शिव के ताण्डव नृत्य करने पर मदजल की परिपूर्णता से गम्भीर तथा धीर ध्वनि वाला गणेश का कण्ठ मृदङ्ग के समान आचरण करता है । उन भगवान् गणेश को नमस्कार है । {भगवान् शङ्कर के ताण्डव नृत्य में जिनके मद की अभिवृद्धि से (मेघ सदृश) गम्भीर ध्वनिवाला कण्ठ मृदङ्ग का काम करता है, उन गणेश जी को नमस्कार है} ।। १ ।।

यस्य कण्ठ पुष्करायते – मृदङ्गवदाचरति, मदाभोगेन घनध्वान – निबिडध्वनि·, नीलकण्ठस्य – शिवस्य, ताण्डवे – उद्धते नृत्ते, तस्मै गणेशाय नम । अत्र खण्डश्लेषाक्षिप्यमाणोपमाच्छायालङ्कार – नीलकण्ठस्य – मयूरस्य ताण्डवे यथा मेघध्वनि पुष्करायत इति प्रतीते ।।

वृत्त्यर्थ – यस्येति । जिस (गणेश) का कण्ठ पुष्कर (मृदङ्ग) के समान आचरण करता है (मृदङ्ग की तरह विदित होता है) {क्योकि} वह मद के आभोग से, मदजल की अभिवृद्धि से गम्भीर अर्थात् निबिड ध्वनि करने वाला है । {कब और कहॉ गम्भीर ध्वनि करता है ? – इसका उत्तर देते हैं–} नीलकण्ठ अर्थात् शिवके ताण्डव नृत्य मे, उन गणेशजी को नमस्कार है । यहॉ {मङ्गलाचरण मे} खण्डश्लेष के द्वारा आक्षिप्त उपमालङ्कार की आपातत प्रतीति होती है, {क्योकि} नीलकण्ठ अर्थात् नीले–वर्ण के कण्ठवाले मयूर के ताण्डव–नृत्य में जिसप्रकार मेघकी ध्वनि मृदङ्ग का काम करती है, (उसी प्रकार शिव के ताण्डव नृत्य के अवसर पर गणेशजी की गम्भीर कण्ठ–ध्वनि भी प्रतीत होती है) ।। १ ।।

परामर्श – उक्त मङ्गलाचरण मे प्रयुक्त 'नीलकण्ठ' शब्द का अर्थ 'मयूर' भी होता है । मयूर पक्ष मे इसका अर्थ करने पर **'मदाभोगघनध्वान:'** –इस पद मे प्रयुक्त 'घनध्वान ' – इस खण्ड का अर्थ – **'मेघध्वनि'** मेघ की ध्वनि समझा जा सकता है। यहॉ पद के एक अश के दो अर्थ व्यक्त होने के कारण खण्डश्लेष अलङ्कार के द्वारा शिव तथा गणेश पर मयूर तथा मेघ का उपमानोपमेय भाव आक्षिप्त हो जाता है, इसलिए यहॉ उपमा की झलक मात्र है । अर्थात् उपमा अस्पष्ट है । क्योकि मेघध्वनि रूप गुण पदार्थ का मृदङ्ग एव मुखरूप द्रव्य पदार्थ का परस्पर सादृश्य नही होने पाता। यहॉ कण्ठ और पुष्कर (मृदङ्ग) उपमानोपमेय है । और ध्वनि तुल्यधर्म है । भावार्थ यह है कि मयूर के नृत्य के समय मेघो की गम्भीर–ध्वनि जैसे मृदङ्ग का काम करती है, वैसे ही शिव के उद्धत (ताण्डव) नृत्य के अवसर पर गणेश जी की (मदजल की अधिकता के कारण) गम्भीर कण्ठध्वनि भी वैसी ही प्रतीत (ज्ञात) होती है ।

प्रत्येक शुभकार्य के प्रारम्भ में ईश्वर का नाम स्मरण करना सभी आस्तिक अपना धर्म समझते हैं । इसीलिए ग्रन्थ के आरम्भ में भी किसी न किसी रूप में अपने इष्टदेवता का नाम स्मरण किये जाने की परम्परा समस्त भारतीय–साहित्य मे पायी जाती है । ईश्वर नाम स्मरण को **'मङ्गलाचरण'** कहा जाता है । ग्रन्थ के आरम्भ में अपने इष्टदेवता के नाम का स्मरण (मङ्गलाचरण) करने से ग्रन्थ के निर्माण कार्य में उपस्थित होने वाली सम्भावित विघ्न बाधाओं के ऊपर विजय प्राप्त करने की क्षमता ग्रन्थकार को प्राप्त होती है । इसी सनातन परम्परा के अनुसार शिष्टों के आचार को प्रमाण मानते हुए ग्रन्थकार ने भी अपने ग्रन्थारम्भ में आने वाले विघ्नों के नाश के लिए (अर्थात्– ग्रन्थ की निर्विघ्नरूप से समाप्ति के लिए तथा गुरु–शिष्यों के अध्ययनाध्यापन द्वारा उसका सम्प्रदाय जीवित एवं गतिशील रहने के लिए) दो श्लोकों से अपने प्रकृत और अभिमत दो देवताओ – १. गणेश और २. विष्णु को नमस्कार किया है ।

दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः ।
नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च ॥ २ ॥

एकत्र मत्स्यकूर्मादिप्रतिमानामुद्देशेन, अन्यत्रानुकृतिरूपनाटकादिना यस्य भावकाः – ध्यातारो रसिकाश्च, माद्यन्ति – हृष्यन्ति, तस्मै विष्णवेऽभिमताय प्रकृताय भरताय च नमः ॥

किसी भी कार्य के आरम्भ में मङ्गल अवश्य करना चाहिए – यह सिद्धान्त नैयायिकों अथवा साहित्यिकों का ही नहीं है, अपितु व्याकरण महाभाष्यकार आदि का भी है । **महाभाष्यकार** कहते हैं 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाण्यध्येतारश्च बुद्धियुक्ता यथा स्युरिति' ग्रन्थ के आदि, मध्य तथा अन्त में मङ्गल अवश्य करना चाहिए । मङ्गल करने में विरचित हुए शास्त्रों का (ग्रन्थों का) प्रचार–प्रसार होता है । उन ग्रन्थों के अध्येता वीरता से पूर्ण तथा दीर्घायु एवं बुद्धिमान् होते हैं ।

यह मङ्गल **तीन** प्रकार का होता है – 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्' – १ **आशीर्वादात्मक**, २ **नमस्कारात्मक**, ३ **वस्तुनिर्देशात्मक** ।

अपने या अपने शिष्य के लिये वाञ्छितार्थ की प्राप्ति के निमित्त परमेश्वर से प्रार्थना करना ही आशीर्वाद है ॥ परमेश्वरात् स्वस्य स्वशिष्यस्य वा वाञ्छितार्थप्रार्थनम् – **आशीर्वादः** ॥ प्रणाम के योग्य गुरु अथवा परमेश्वर के प्रति अपनी न्यूनता बोधन के लिए प्रणाम करने वाले पुरुष के शरीर–मन–वाणीकृत व्यापार विशेष को ही नमस्कार कहते हैं ॥ स्वापकर्षबोधानुकूलः स्वीयव्यापारविशेषो – **नमस्कारः** ॥ ग्रन्थ में प्रतिपादित विषय रूप वस्तु का निर्देश मात्र करना ही 'वस्तुनिर्देश' है ॥ ग्रन्थप्रतिपाद्यवस्तुनो निर्देशनं – **वस्तुनिर्देशः** ।

प्रकृत में ग्रन्थकार ने प्रथम **नमस्कारात्मक मङ्गल** किया है और तत्पश्चात् द्वितीय श्लोक में **वस्तुनिर्देशात्मक** मङ्गल किया है ॥ १ ॥

यस्य दशरूपानुकारेण भावकाः माद्यन्ति तस्मै सर्वविदे विष्णवे भरताय च नमः **इत्यन्वयः** ॥ २ ॥

कारिकार्थ – दशरूपेति । जिनके मत्स्य, कूर्म आदि दश अवतारों के नामोच्चारणादिसे (या दशावतारों की लीला के श्रवणादिसे) भावुक भक्तजन प्रसन्न होते हैं, (हृदयाह्लादसे रोमाञ्चित हो उठते हैं) उन सर्वज्ञ भगवान् विष्णु को, तथा जिन आचार्य भरत के द्वारा निर्धारित (दस नाटकादि) रूपक–भेदों के अवलोकन से सहृदय सामाजिक गण प्रसन्न होते हैं, उन सर्वज्ञ आचार्यभरत को भी नमस्कार है ॥ २ ॥

वृत्त्यर्थ – एकत्रेति । एक पक्ष में (अर्थात् भगवान् विष्णु के पक्ष में) मत्स्य, कूर्म आदि (धारण किये दस अवतारों की) प्रतिमाओं को लक्ष्य करके, दूसरे पक्ष में (अर्थात् नाट्य–सूत्रों के प्रणेता आचार्य भरत के पक्ष में) अनुकरणरूप नाटक आदि (दसरूपकों) के द्वारा जिसके भावक (ध्यान करने वाले और सहृदय सामाजिक गण) हर्षित हो उठते हैं, उन भगवान् विष्णु को तथा प्रकरण प्राप्त आचार्य भरत को नमस्कार है ॥ २ ॥

श्रोतु· प्रवृत्तिनिमित्त प्रदर्श्यते –

कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषयं सरस्वती विदुषः ।
घटयति कमपि तमन्यो व्रजति जनो येन वैदग्धीम् ।। ३ ।।

तं कंचिद्विषय प्रकरणादिरूप कदाचिदेव कस्यचिदेव कवे: सरस्वती योजयति । येन प्रकरणादिना विषयेणान्यो जनो विदग्धो भवति ।।

परामर्श — दशरूपानुकारेण — दस अवतारों — मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्की — के रूप, स्वभावादि के अभिनय या अनुकरण से, ओर आचार्य **भरत** के पक्ष में — रूपकों के दस भेदो—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथि, अङ्क और ईहामृग — के अभिनयों से । आचार्य भरत ने ही सर्वप्रथम रूपक को दस भेदो में विभक्त किया है, यह प्रसिद्धि है । सर्वविदे — विष्णु के पक्ष में — सब कुछ जानते हैं, इसलिये सर्वज्ञ है, श्रुति कहती है — 'य सर्वज्ञ सर्ववित्' मुण्डक उपनिषद् (१ १ ७) आचार्य **भरत** के पक्ष मे — रूपक के दसो प्रकारों की विशेषताओं — वस्तु, नेता तथा रस — के जानकार, आचार्य ।। २ ।।

श्रोतुरिति। अब ग्रन्थकार (प्रकृत ग्रन्थ को पढने के लिए) श्रोता के प्रवृत्त होने का कारण (प्रयोजन) दिखलाते हैं —

सरस्वती दयया कदाचिदेव कस्यचित् एव विदुष: तम् कम् अपि विषय घटयति येन अन्यो जन· वैदग्धीम् व्रजति **इत्यन्वय:** ।। ३ ।।

कारिकार्थ — कस्यचिदिति । {प्रकरणादि (रसात्मक) ग्रन्थों की रचना सभी कवि नहीं कर सकते यह तो } भगवती सरस्वती किसी ही (विरले) विदग्ध कवि को यदा—कदा (प्रसन्न होकर) कृपाकरके किसी ऐसे विषय से संयुक्त कर देती है कि (उसके द्वारा प्रणीत) उस (काव्यात्मक) प्रकरण आदि विषय को पढकर अन्य व्यक्ति विदग्ध (व्युत्पन्न) बन जाता है ।। ३ ।।

वृत्त्यर्थ — तमिति । उस प्रकरणादिरूप (नाटकादिरूप, काव्यस्वरूपात्मक) विषय से यदा—कदा किसी ही कवि को सरस्वतीदेवी सयुक्त कर देती हैं, जिस प्रकरण आदि विषय द्वारा (उस विषय को पढनेवाला पाठक) दूसरा व्यक्ति विदग्ध बन जाता है ।। ३ ।।

परामर्श — प्रकरणादिरूप किसी विषय या ग्रन्थ का निर्माण हर कोई कवि सर्वाङ्गपूर्ण या सुन्दर नहीं कर पाता, यह तो देवी सरस्वती की ही कृपा है जिससे कभी कोई प्रतिभाशाली कवि या विद्वान् ऐसे नाटक आदि ग्रन्थ का प्रणयन करता है कि उस कृति को पढनेवाला अन्य व्यक्ति निपुण—विदग्ध बन जाता है । इस प्रकार ग्रन्थकार ने यहाँ देवी सरस्वती का स्मरण कर उसके कृपा—प्रसाद से प्राप्त होने वाली विदग्धता को व्यक्त करते हुए अपने निरभिमान का द्योतन किया है ।

. प्रथम और द्वितीय श्लोक के द्वारा मङ्गलाचरण करने के पश्चात् प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय, प्रयोजन आदि **अनुबन्ध चतुष्टय** का निरूपण कर्तव्य होता है । मनुष्य की

स्वप्रवृत्तिविषय दर्शयति –

उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरिञ्चि–
श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः ।
शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्म कः कर्तुमीष्टे
नाट्यानां किन्तु किञ्चित्प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि ।। ४ ।।

प्रवृत्ति तभी हो पाती है कि जब उसे इष्ट–साधनता और कृतिसाध्यता का ज्ञान रहता है। अर्थात् यह कार्य मेरे लिए हितकर है और मैं इस कार्य को अच्छी तरह कर सकता हूँ। ऐसा समझकर ही मनुष्य उस कार्य मे प्रवृत्त होता है, अन्यथा नहीं । 'इदं मत् इष्टसाधनम्' इस ज्ञान में 'इद' शब्द से **विषय**, 'इष्ट' शब्द मे **प्रयोजन**, 'साधनम्' शब्द से **सम्बन्ध** और 'मत्' शब्द से **अधिकारी** का ज्ञान होता है । इन चारो का ज्ञान ही मनुष्य को किसी कार्य मे प्रवृत्त करता है । अतएव 'प्रवृत्ति–प्रयोजक–ज्ञानविषयत्वम् अनुबन्धत्वम्' यह अनुबन्ध का लक्षण विद्वानो ने किया है । इससे स्पष्ट है कि विषय, सम्बन्ध, अधिकारी और प्रयोजन इन चारो को अनुबन्ध शब्द से कहा जाता है । प्रत्येक ग्रन्थ के आरभ मे उक्त चारो अनुबन्धो का निरूपण करना ग्रन्थकार हेतु आवश्यक माना गया है । उक्त चार अनुबन्धों मे से विषय तथा प्रयोजन ये दो मुख्य होते है । इसलिए इनका शब्द से निरूपण करना आवश्यक है । अवशिष्ट, अधिकारी तथा सम्बन्ध ये दो अनुबन्ध पूर्वोक्त दो अनुबन्धो की अपेक्षा–गौण हैं । इनका ज्ञान, बिना शब्द के भी अर्थात् हो सकता है ।

इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार श्लोक (४ एवं ५) में विषय और श्लोक ६ मे प्रयोजन का प्रतिपादन कर रहे हैं ।। ३ ।।

स्वप्रवृत्तिविषयमिति ! (अब ग्रन्थकार प्रकृत ग्रन्थ की रचना में) अपनी प्रवृत्ति का कारण दिखलाते हैं –

उद्धृत्येति । विरञ्चिः अखिलनिगमात् सारम् उद्धृत्य उद्धृत्य यम् नाट्यवेदम् चक्रे यस्य मुनिः भरतः प्रयोगम् (चक्रे) नीलकण्ठः अपि ताण्डवम् (चक्रे) शर्वाणी अस्य लास्यम् (चक्रे) कः अपरम् प्रतिपदम् लक्ष्म कर्तुम् ईष्टे, किन्तु प्रगुणरचनया किञ्चित् लक्षणम् संक्षिपामि **इत्यन्वयः** ।। ४ ।।

अब ग्रन्थकार धनञ्जय अपने प्रकृत ग्रन्थ के विषय को उपन्यस्त करते है –

कारिकार्थ – उद्धृत्येति । ब्रह्मा ने वेदों से सार ग्रहण कर जिस नाट्यवेद का प्रणयन किया, जिस (नाट्य) वेद से सम्बद्ध अभिनय प्रयोग को हाथ तथा पाँव के समायोग एवं अङ्गविक्षेप के द्वारा भरत मुनि ने सम्पन्न किया (अर्थात् अभिनय के नियमों से समन्वित नाट्यशास्त्र की रचना की) शिव ने ताण्डव (उद्धत) नृत्य को किया, तथा पार्वती ने लास्य (कोमल) नृत्य को किया, उस (नाट्यवेद) का सम्पूर्ण लक्षण वर्णन करने में कौन समर्थ है। इसलिए उस (नाट्यवेद) के एक भाग दशरूपक का संक्षेप में वर्णन करता हूँ ।। ४ ।।

य नाट्यवेद वेदेभ्य सारमादाय ब्रह्मा कृतवान्, यत्सबद्धमभिनय भरतश्चकार करणाङ्गहारनकरोत्, हरस्ताण्डवमुद्धत, नृत्त कृतवान् लास्य सुकुमार नृत्त पार्वती कृतवती, तस्य सामस्त्येन लक्षण कर्तु क शक्त. ? तदेकदेशस्य तु दशरूपस्य सक्षेप क्रियत इत्यर्थ ।।

विषयैक्यप्रसक्त पौनरुक्त्य परिहरति –

व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः ।
तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा ।। ५ ।।

व्याकीर्णे – विक्षिप्ते विस्तीर्णे च रसशास्त्रे मन्दबुद्धीना पुसा मतिमोहो भवति, तेन तस्य नाट्यवेदस्यार्थस्तत्पदैरेव सक्षिप्य ऋजुवृत्त्या क्रियत इति ।।

वृत्त्यर्थ – यमिति । अर्थात् – ब्रह्मा ने चारो वेदो से सार–भाग को ग्रहण कर जिस नाट्य–वेद का प्रणयन किया, जिस नाट्य–वेद से सम्बद्ध अभिनय प्रयोग को करणों (हाथ तथा पॉव के समायोग) एव अङ्गहारो (अङ्गविक्षेप) के द्वारा भरत मुनि ने (व्यावहारिक रूप में) समन्वित कर पल्लवित किया, जिस नाट्य–वेद को शिव ने अपने उद्धत (ताण्डव) नृत्त मे तथा पार्वती ने अपने लास्य (कोमल) नृत्य से संयोजित कर सम्पन्न किया, उस नाट्य–वेद के अङ्ग–प्रत्यङ्गो के निरूपण मे कौन समर्थ हो सकता है। फिर भी मैं प्रकृष्ट प्रतिपादन शैली के द्वारा उस (नाट्य–वेद) के लक्षणों को सक्षेप मे (प्रकृत ग्रन्थ के रूप मे) प्रस्तुत कर रहा हूँ ।। ४ ।।

परामर्श – करणाङ्गहारान् – विभिन्न अङ्गो और प्रत्यङ्गो की कलात्मक अभिनय–मुद्राओं के मेल से 'करण' बनते हैं । और अनेक करणो के मेल से 'अङ्गहार' बनते हैं। 'हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करण भवेत्' 'अङ्गहारोऽङ्गविक्षेपो ।' **भरत** के अनुसार करणो की सख्या – १०८ तथा अङ्गहारो की ३२ है ।। ४ ।।

विषयैक्येति । ब्रह्मा, भरत मुनि आदि नाट्यविदों द्वारा नाट्यवेद का तो विवेचन किया जा चुका है; तो पुनः उसी का वर्णन करना क्या चर्वित–चर्वण न होगा; इस आशङ्का का समुचित उत्तर देते हुए दशरूपककार कहते हैं –

व्याकीर्णे मन्दबुद्धीना मतिविभ्रमः जायते तेन तस्य अर्थः तत्पदैः अञ्जसा सक्षिप्य क्रियते **इत्यन्वयः** ।। ५ ।।

कारिकार्थ – व्याकीर्ण इति । भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र (रसशास्त्र) सदृश विशाल ग्रन्थ में (जहाँ नाट्य रचना विषयक तत्त्व बिखरे हुए हैं) मन्द बुद्धि वाले व्यक्तियों को बुद्धिभ्रम हो जाता है । वे यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते । इसलिए प्रकृतग्रन्थ में नाट्य–वेद का ही अर्थ उसके ही पदों (शब्दों) के द्वारा सरल बोधगम्य शैली से संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत कर दिया है । अतः प्रकृत ग्रन्थ–(दशरूपक) कोई स्वतन्त्र नवीन ग्रन्थ न होकर उसी नाट्यशास्त्र का ही एक लघुरूप है । इसलिए इस ग्रन्थ में पूर्वाचार्यों के प्रतिपादित नाट्य सम्बन्धी तत्त्वों का कोई पिष्टपेषण नहीं ।। ५ ।।

वृत्त्यर्थ – व्याकीर्ण इति । बिखरे हुए एवं विशाल रसशासत्र (नाट्यशास्त्र) में मन्द–बुद्धिवाले व्यक्तियों को बुद्धि–भ्रम (Confusion) हो

इद प्रकरणं दशरूपज्ञानफलम् । दशरूप कि फलमित्याह —

आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धि· ।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ॥ ६ ॥

तत्र केचित् —

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीति च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥ — (भामह·)

इत्यादिना त्रिवर्गादिव्युत्पत्ति काव्यफलत्वेनेच्छन्ति । तन्निरासेन स्वसवेद्य परमानन्दरूपो रसास्वादो दशरूपाणा फल, न पुनरितिहासादिवत् त्रिवर्गादिव्युत्पत्ति-मात्रमिति दर्शितम् । नम इति सोल्लुण्ठम् ॥

जाता है । अत. उस नाट्यवेद का ही अर्थ (तत्प्रयुक्त) उसी शब्दों के माध्यम से संक्षिप्त रूप मे सरल रीति से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ॥ ५ ॥

इदं प्रकरणमिति । इस प्रकरण (ग्रन्थ) का फल है— दशरूपको का ज्ञान, — (अर्थात् इस ग्रथ मे चर्चित रूपक के नाटकादि दस भेदों का ज्ञान) । तो दशरूप का फल क्या है? इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार देते हैं कि —

यः अल्पबुद्धिः साधुः आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु इतिहासादिवत् व्युत्पत्तिमात्रं फलम् आह अपि तस्मै स्वादु—पराङ्मुखाय नमः **इत्यन्वयः** ॥ ६ ॥

कारिकार्थ — आनन्देति । जो अल्पबुद्धिवाले सज्जन (व्यक्ति) अलौकिक— आनन्द को प्रस्रवित करने वाले रूपकों का फल भी इतिहास आदि (ग्रन्थों के अध्ययन) की तरह केवल व्युत्पत्ति को (अर्थात् लौकिक ज्ञान की प्राप्ति और कला आदि में विदग्धता प्राप्त करना) ही मानते हैं, (अलौकिक) रसास्वादन से विमुख उन व्यक्तियों को भी नमस्कार है ॥ ६ ॥

वृत्त्यर्थ — तत्रेति । इस विषय में कुछ आचार्यों का कहना है कि 'सत्काव्य के सेवन से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में एवं कलाओं में प्रवीणता आती है तथा (कवि एवं सेवनकर्ता—दोनों को) कीर्ति तथा प्रीति की प्राप्ति होती है ॥

इत्यादिनेति । इस प्रकार ये लोग काव्य का फल, धर्म आदि त्रिवर्ग की प्राप्ति—उसके ज्ञान को ही मानते हैं, इस विचार का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार ध नञ्जय कहते हैं कि स्व—संवेद्य परम आनन्दरूप रसास्वाद की प्राप्ति ही दशरूपकों का फल है, इतिहासादि के अध्ययन की तरह त्रिवर्ग की प्राप्ति—मात्र ही नहीं है । यहाँ — श्लोक में — **'स्वादुपराङ्मुखाय नमः'** — स्वाद से पराङ्मुख व्यक्तियों को जो नमस्कार किया गया है, वह इस मत के प्रवर्तक (आचार्य—भामह) के उपहास के लिए प्रयुक्त हुआ है ॥ ६ ॥

परामर्श — काव्य के प्रयोजन के विषय में लक्षण ग्रन्थकार आचार्यों ने अपने—अपने मतों को समुचित सिद्ध करने का प्रयास किया है । इस विषय में उनका मतैक्य परिलक्षित नहीं होता । वस्तुतः यह प्रयोजन विषयक वैमत्य आंशिक रूप में

नाट्यानां लक्षणं संक्षिपामि इत्युक्तम्, किं पुनस्तन्नाट्यमित्याह —

अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् —

काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम् ॥

ही है, सर्वगत नहीं । पूर्व मे **'धर्मार्थकाममोक्षेषु'** इत्यादि को उद्धृत करके जिस मत का खण्डन किया गया है, वह भामह का है । दशरूपककार धनञ्जय यह व्यक्त करना चाहते हैं कि दशरूपको के अनुशीलन का फल स्वसवेद्य परमानन्दरूप रसास्वाद है, नकि इतिहास आदि की तरह केवल त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ तथा काम — आदि का ज्ञान । किन्तु कारिका का ध्यानपूर्वक अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि -'धर्म, अर्थ, तथा काम' आदि भी उनके विचार मे काव्य के प्रयोजन है, यह कारिका मे प्रयुक्त **'व्युत्पत्ति मात्रं फलमल्पबुद्धिः'** से व्यक्त होता है — अर्थात् केवल व्युत्पत्तिमात्र ही नही, अपितु और कुछ भी है, वह है — स्वसंवेद्य परमानन्द रूप रसास्वाद । इसका तात्पर्य यही है कि धर्म, अर्थ, तथा काम आदि भी उनके विचार मे काव्य के प्रयोजन हैं, किन्तु ये प्रयोजन मुख्य न होकर गौण हैं ।

इस विषय मे लोचनकार **अभिनवगुप्तपाद** ने समुचित उत्तर दिया है कि जो लोग कीर्ति और प्रीति को काव्य प्रयोजनो मे मुख्य मानते हैं, उन्हे भी अन्त में कीर्ति से प्रीति ही प्राप्त होती है । जो प्रीति और व्युत्पत्ति को प्राप्य मानते हैं, उन्हे भी अन्त मे प्रीति प्राप्त होती है । कहा भी गया है — 'कीर्ति को स्वर्गरूप फल वाली कहते हैं ।' यदाह — **'कीर्तिं स्वर्ग — फलमाहुः'** — स्वर्ग क्या है ? निरतिशय आनन्द, जिस आनन्द से बढकर अन्य कोई आनन्द नहीं । **अभिनवगुप्त** के मत मे — धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष — इस चतुर्वर्ग की व्युत्पत्ति का भी पार्यन्तिक फल प्रीति या आनन्द ही है । अत पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि और आनन्द — ये दोनो प्रयोजन परस्पर विरोधी नही हैं । क्योंकि चतुर्वर्ग की परिणति आनन्द में ही तो होती है ।

उपर्युक्त कारिका में वृत्तिकार ने 'केचित्' कहकर **भामहादि** पर कटाक्ष किया है । यह सर्वथा उचित प्रतीत नहीं होता है । क्योंकि भामह ने तो स्पष्ट शब्दों में 'प्रीति' का उल्लेख किया है । धनञ्जय — धनिक के विपरित व्यक्ति विवेककार **महिमभट्ट** भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं — इनके अनुसार काव्य और शास्त्रका अभीष्ट फल एक ही है — **'विधिनिषेधात्मकव्युत्पत्ति** अर्थात् कर्त्तव्याकर्तव्य का, सदसत् का ज्ञान । 'सामान्येनोभयमपि च तत् शास्त्रवद्विधिनिषेधव्युत्पत्ति (व्यक्ति विवेक) ॥ ६ ॥

नाट्यानामिति । इसके पूर्व चतुर्थकारिका में ग्रन्थकार ने कहा है — 'नाट्य के लक्षणों को संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत कर रहा हूँ' — अत अब यहाँ वह नाट्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि —

कारिकार्थ — अवस्थेति । अवस्था के अनुकरण को ही नाट्य कहते हैं ॥ ७ ॥

वृत्त्यर्थ — काव्येति । काव्य में निबद्ध या वर्णित धीरोदात्त (नायक) आदि की अवस्थाओं का अनुकरण — चार प्रकार के अभिनय के द्वारा (काव्य में वर्णित पात्र अर्थात् अनुकार्य मूल पात्र के साथ) **'तादात्म्यापत्ति'** अर्थात् एकरूपता की प्राप्ति

— रूपं दृश्यतयोच्यते ।

तदेव नाट्य दृश्यमानतया रूपमित्युच्यते, नीलादिरूपवत् ।।

ही नाट्य है । दूसरे शब्दो मे काव्य (रूपको) मे निबद्ध या चित्रित धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, और धीरप्रशान्त प्रकृति के (काव्य) नायको (तथा उन–उन स्वभाव की नायिकाओ या अन्य वर्णित पात्रो) का आङ्गिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक — इन चार प्रकार के अभिनयो के द्वारा अवस्थानुकरण किया जाता है, वह नाट्य कहलाता है ।। ७ ।।

परामर्श — आचार्य–भरत अवस्था को —'**अवस्था सुखदुःखार्थसम्भवा**' - कहते हैं । अवस्थानुकरण मे ग्रन्थकार का तात्पर्य यह है कि रूपको मे वर्णित अनुकार्य पात्रो की सुख–दुःखात्मक आदि समस्त अवस्थाओ का, उनकी क्रिया–कलापो का, वेषभूषा का, बोलने का, भावो को व्यक्त करने की शैली का — अनुकरण इस प्रकार किया जाय — (अभिनय) कि अनुकर्ता और वर्णित पात्रो मे — 'तादात्म्यापत्ति' — एक रूपता की ऐसी प्रतीति हो जाय कि उन दोनो — अनुकर्ता — नट और अनुकार्य — पात्र — मे कोई भेद न दिखाई पडे । यथा — नट दुष्यन्त की प्रत्येक प्रवृत्ति का ऐसे अनुकरण करे कि नट और दुष्यन्त में — उसके शरीरसचालन, बोलने की शैली, उसकी वेश–भूषा, एव अवस्था के अनुसार उत्पन्न होने वाले भावो — विचारो मे कोई भी अन्तर न दिखाई पडे और सामाजिक - दर्शक गणो को ऐसा अनुभव हो सके कि नट ही राजा दुष्यन्त है । तात्पर्यार्थ यही है कि रङ्गमच पर दुष्यन्त और नट मे भेद प्रतीत न हो, उनमे परस्पर अभेदप्रतिपत्ति हो जाय । नायक चार प्रकार के होते हैं — धीरोदात्त, धीरोद्धत्त, धीरललित और धीरप्रशान्त । अभिनय चार प्रकार का होता है — आङ्गिक, — (अङ्ग का सचालन), वाचिक — (बोलने की शैली) आहार्य (वेशभूषा) एव सात्त्विक (भाव आदि) — इन चार प्रकार के अभिनय द्वारा (इन सबका वर्णन आगे किया जायगा ।) ।। ७ ।।

दृश्यतया रूपम् उच्यत **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ — रूपमिति । दृश्य (चक्षुर्ग्राह्य, आँखों से दिखाई पड़ने के कारण) होने के कारण वही नाट्य 'रूप' (भी) कहा जाता है ।।

वृत्त्यर्थ — तदेवेति । — वह नाट्य ही (रङ्गमञ्च पर अभिनीत होने पर) दिखाई पड़ने के कारण 'रूप' कहा जाता है, जैसे नील–पीत, लाल वर्ण का पदार्थ आँखों से दिखाई पड़ने के कारण 'रूप' कहलाता है ।।

परामर्श — नाट्य का रङ्गमञ्च पर नटों द्वारा अभिनय किया जाता है । दर्शक उस नाट्य को अभिनीत होते हुए आँखों से देखते हैं । अतः वह (नाट्य) दृश्य है । जिस प्रकार हम नीले, पीले, लाल वर्ण को देखते हैं, तथा हमारे आँखों से देखे जाने के विषय को रूप कहा जाता है, उसी प्रकार चक्षुर्ग्राह्य (आँखों से देखे जा सकने के कारण) होने से नाट्य 'रूप' भी कहलाता है। **शारदातनय** ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि — नाटक में स्थित वाक्यार्थ, पदार्थ का अभिनयरूप नट का कर्म ही

रूपकं तत्समारोपात् –

नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्रूपकं मुखचन्द्रादिवत् इत्येकस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य 'इन्द्रः पुरन्दरः शक्रः' इतिवत्प्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शितः ॥

'नाट्य' कहलाता है – ॥ नाटकस्थितवाक्यार्थपदार्थाभिनयात्मकम् । नटकर्मैव नाट्य स्यादिति नाट्यविदामतम् ॥ (भा॰ प्र॰ १०–७६) ॥

तत् समारोपात् रूपकम् **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ – रूपकमिति । (काव्य में वर्णित राम आदि की अवस्था का नट मे) आरोप किया जाने के कारण वह नाट्य रूप 'रूपक' कहलाता है ॥

वृत्त्यर्थ – नट इति । जैसे रूपक अलङ्कार मे मुख पर चन्द्रमा का आरोप करने के कारण – 'मुखचन्द्र ' (मुखरूपी चन्द्रमा) कहा जाता है, वैसे ही नाट्य मे (अनुकर्ता) नट पर काव्य मे वर्णित रामादि पात्रो की अवस्था का आरोप होने कारण नाट्य भी 'रूपक' के नाम से जाना जाता है । (नाट्य, रूप और रूपक के अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं) –

एकस्मिन्निति । जिस प्रकार इन्द्र, पुरन्दर और शक्र – ये तीनो शब्द एक ही (देवता) अर्थ के वाचक हैं, फिर भी किसी विशेष कारण से उनमे भिन्नता है, अर्थात् विशेष निमित्त से किसी विशिष्ट अर्थ में उनका प्रयोग किया जाता है । एक ही देवता को ऐश्वर्य सम्पन्न होने के कारण 'इन्द्र', शत्रुओ के पुरो का विदारण करने के कारण 'पुरन्दर' और समर्थ होने के कारण 'शक्र' कहा जाता है । उसी प्रकार एक ही अर्थ के वाचक – नाट्य, रूप तथा रूपक – इन तीनो शब्दो मे प्रवृत्ति – निमित्तक[१] भेद (एक ही अर्थ मे प्रयुक्त होने पर भी प्रवृत्ति के अनुसार भेद) अवश्य है । यह भेद अलग–अलग कारणो से हुआ है । इसी प्रकार एक ही दृश्यकाव्य अवस्थाओ का अनुकरण होने के कारण **नाट्य** है, दृश्य होने के कारण **रूप** है और नट मे राम आदि का आरोप होने के कारण **रूपक** है ॥

परामर्श – रङ्गमंच पर दर्शनीय वस्तु को भाषा में प्रकट करने के कारण काव्य को रूपक कहा जाता है । इस प्रसङ्ग में यह ध्यातव्य है कि वृत्तियाँ समस्त रुपको की मातृरुपा हैं और इन्हीं से ये दशरूपक विनिसृत हुए हैं – ॥ यद्यपि सर्वेषामभिनेयानां काव्यानां वृतयश्चेष्टा मातर इव ॥ (अभि॰ भा॰ १८।४) ॥

दशरूप की सङ्गति को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्तपाद कहते हैं कि जैसे सङ्गीत मे एक ग्राम अथवा स्वरसमुदाय की दूसरे ग्राम से भिन्नता स्वरों की विभिन्न योजनाओं के कारण उत्पन्न होती है, उसी प्रकार से वृत्तियों की विभिन्न योजनाओं के कारण रूपकों के विभिन्न भेद उपपन्न होते हैं । जिस प्रकार से सभी ग्रामों की

---

१. **प्रवृत्तिनिमित्त – इसका तात्पर्य है, शब्द के प्रयोग का कारण । किसी विशेष निमित्त –कारण–से शब्द किसी विशेष अर्थ का द्योतक होता है। जैसे पुरन्दर, शत्रुओं के पुर को नष्ट करने के कारण पुरन्दर कहलाता है, वहाँ पुरन्दर कहलाने का कारण विशेष है ।**

— दशधैव रसाश्रयम् ।। ७ ।।

विधायक श्रुतियाँ होती है फिर भी उन ग्रामों की परस्पर भिन्नता का कारण किसी एक स्वर में विभिन्न संख्या में श्रुतियों का होना है, जैसे कि अन्य सब बातों में समानरूप होते हुए भी यदि पञ्चम में चार के स्थान पर तीन श्रुतियाँ है तो एक भिन्न ग्राम की रचना हो जाती है, उसी प्रकार एक ही वृत्ति का प्रयोग जब उसके समस्त अङ्गों से पूर्ण रूप में अथवा कुछ अङ्गों से रहित रूप में किया जाता है तो रूपक के विभिन्न भेद उत्पन्न होते हैं —

।। स्वरसमुदायरूपत्वाविशेषेऽपि स्वराणां पर्यायेण प्राथम्यप्राधान्याल्पत्व भूयस्त्वपूर्णत्वापूर्णत्वारोहान्त्यत्वमध्यत्वादिप्रविभागभेदे, यथान्यः षड्जग्रामोऽन्यो मध्यमग्राम, तथैव वृत्तीनां स्वरस्थानीयानां प्राथम्यप्राधान्यादिना दशकेन रूपकं रूपकान्तराद्भिद्यते । यथा चतुःश्रुतिः पञ्चमस्त्रिश्रुतिश्च भवन् ग्रामान्तरत्वं करोति तथैव वृत्तिः श्रुतिस्थानीयैरङ्गैः क्वचित्सम्पूर्णा क्वचिन्न्यूनेत्येवमपि रूपकं विभाग इति ।।

(अभि० भा० १८।५-६)

आचार्य भरत ने जिन दस प्रकार के रूपकों का उल्लेख प्रत्यक्ष रूप में किया है वे परस्पर अत्यन्त भिन्न स्वरूप है । वे नाट्य रचना के मूल रूप है । भरत द्वारा उल्लिखित रूपक के भेदों की इस गणना में उन रूपकों का समावेश नहीं किया गया है जिनमें दो प्रकार के रूपकों के विशेष गुणों का सम्मिश्रण होता है, जैसे कि नाटिका । जिसमें नाटक तथा प्रकरण में विशेष लक्षणों का सम्मिश्रण होता है ।

आचार्य भरत का अभिमत है कि दो प्रकार के रूपकों के विशेष लक्षणों को मिलाकर रूपक के अन्य अप्रधान स्वरूपों को बनाया जा सकता है । इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाट्य रचना के अन्य भेद जैसे त्रोटक, सट्टक, रासक आदि भी आचार्य भरत को अभिमत थे । **कोहल** आदि शास्त्रकारों ने इन भेदों का सुव्यवस्थित विश्लेषण भी किया है । (नाट्यशास्त्र १८। ७-८)।।

यद्यपि नाट्यशास्त्रोक्त दशरूप विधान को देखने से ज्ञात होता है कि इन दस रूपकों का भेदक तत्त्व वस्तु, नेता तथा रस ही है, तथापि यहाँ इनका स्पष्ट कथन नहीं किया गया है ।।

(तत्) रसाश्रयम् दशधा एव **इत्यन्वयः** ।। ७ ।।

कारिकार्थ — दशधैवेति । रसों पर आश्रित (वह नाट्य) केवल दस ही तरह का होता है ।। ७ ।।

{ यहाँ 'दशधैव' (दशधा + एव) — 'दस ही प्रकार के' कहने का तात्पर्य यह है कि शुद्ध रूप में दस प्रकार का नाट्य होता है । जो रसाश्रित होता है । किन्तु — इनके अतिरिक्त — अन्य अभिनेय काव्यों में रस का साङ्कर्य (मिश्रण) रहता है । इस तथ्य को बतलाने के लिए कारिका में 'एव' का प्रयोग अवधारण के लिए — 'ही' (शब्दार्थ की सीमा बाँधने के लिए, निश्चयात्मकता को व्यक्त करने के लिए) किया गया है ।}

६ दश.

रसानाश्रित्य वर्तमानं दशप्रकारकम्, एवेत्यवधारणं शुद्धाभिप्रायेण । नाटिकाया सङ्कीर्णत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् ॥

तानेव दशभेदानुद्दिशति –

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥ ८ ॥

ननु –

'डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासकाः ।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥'

इति रूपकान्तराणामपि भावादवधारणानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह –

अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम् –

वृत्त्यर्थ – रसानाश्रित्येति । रसाश्रित रहने वाला रूपक ही शुद्ध रूपक है। यह दस प्रकार का मात्र होता है । नाटिका का परिगणन इन दस प्रकार के रूपकों में नहीं किया गया है, क्योंकि नाटिका में नाटक और प्रकरण का साङ्कर्य – सम्मिश्रण – होता है । वह शुद्ध रसाश्रित नहीं होती । उसमें रसों का साङ्कर्य रहता है उसका वर्णन सङ्कीर्ण रूपकों में आगे किया जायगा । इस कारण ग्रन्थकार धनञ्जय ने रूपक केवल दस प्रकार के माने हैं ॥ ७ ॥

रूपक के उन दस भेदों का उल्लेख (यहाँ) करते हैं –

नाटकम् सप्रकरणम् भाणः प्रहसनम् डिमः व्यायोग समवकार वीथी अङ्क ईहामृग **इत्यन्वयः** ॥ ८ ॥

कारिकार्थ – नाटकमिति । 'नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी अङ्क और ईहामृग' (ये रूपक के दस भेद हैं) ॥ ८ ॥

वृत्त्यर्थ – नन्विति । किन्तु – नृत्य के १. डोम्बी २. श्रीगदित ३. भाण ४. भाणी ५. प्रस्थान ६. रासक और ७. काव्य – ये सात भेद होते हैं, वे भाण की तरह ही होते हैं ।' - इस विषय में कुछ विद्वानों का यह कहना है कि नृत्य के उक्त सात भेदों – डोम्बी आदि – में से 'भाण' को जैसे नाट्य के दस भेदों में परिगणित किया गया है, वैसे ही शेष छहों को भी रूपक के ही भेदों में परिगणित किया जाना चाहिए । इस प्रकार रूपक के दस ही भेद होते हैं – 'दशधैव' – ऐसा निश्चयात्मक कथन समुचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि उक्त कारण के आधार पर तो दूसरे रूपक भी सिद्ध होते हैं। इस शङ्का का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार धनञ्जय कहते हैं ॥ ८ ॥

अन्यत् भावाश्रयम् नृत्यम् **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ – अन्यदिति । भाव पर आश्रित रहने वाला नृत्य (रसाश्रित नाट्य से) भिन्न है ॥

वृत्त्यर्थ – रसाश्रयेति । – (पूर्वकथनानुसार) नाट्य या रूपक रसों पर आश्रित हैं, और नृत्य भाव पर । अतः वे दोनों (नाट्य और नृत्य) एक दूसरे से

रसाश्रयान्नाट्याद्भावाश्रयं नृत्यमन्यदेव । तत्र भावाश्रयमिति विषयभेदान्नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेनाङ्गिकबाहुल्यात्तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशाल्लोकेऽपि च 'अत्र प्रेक्षणीयकम्' इति व्यवहारान्नाटकादेरन्यन्नृत्यम् । तद्भेदत्वाच्छ्रीगदितादेरवधारणोपपत्ति ।।

नाटकादि च रसविषयम्, रसस्य च पदार्थीभूतविभावादिकसंसर्गात्मक-- वाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थाभिनयात्मकत्व रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम् । नाट्यमिति च 'नट अवस्पन्दने' इति नटे किञ्चिच्चलनार्थत्वात्सात्त्विकबाहुल्यम् । अत एव तत्कारिषु नटव्यपदेश । यथा च गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेऽप्यनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्यन्नृत्यं तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकान्नाट्यात्पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति ।'

भिन्न है । इन दोनो की भिन्नता चार प्रकार की है । प्रथम है, विषय भेद की दृष्टि से -- नाट्य रसाश्रित है, और नृत्य भावाश्रित. द्वितीय है, स्वरूप भेद की दृष्टि से 'नृत्य' शब्द 'नृत्' धातु से बनता है, जिसका अर्थ है — गात्रविक्षेप (शरीर का सचालन) अर्थात् नृत्य मे आङ्गिक अभिनय अधिक होता है, इसके विपरीत नाट्य मे चारो प्रकार के अभिनय होते है । एक प्रकार से नृत्य मे शरीर का सञ्चालन ही मुख्य होता है । तृतीय है — कर्तृभेद की दृष्टि से — नाट्य कर्ता को 'नट' कहा जाता है और नृत्य कर्ता को 'नर्तक' । चतुर्थ है, सज्ञा भेद की दृष्टि से लोक मे भी 'इस ('नृत्य') मे दर्शनीयता है' ऐसा व्यवहार किया जाता है नृत्य केवल देखा जा सकता है, उसमे 'कथोपकथन' जैसा सुनने के लिए कुछ नही होता । उक्त आधार पर नाट्य नृत्य से भिन्न वस्तु है । अत 'दशधैव' - दस ही रूपक है, इस प्रकार का ग्रन्थकार धनञ्जय कृत अवधारण श्रीगदितादि के सम्बन्ध मे नितान्त समीचीन है।

नाटकादीति । (वस्तुत) नाटकादि रूपक भावमात्र पर आश्रित नही होते, वे रस परक होते है । {इसका सङ्केत पूर्ववर्ती कारिका न० ७ मे 'दशधैव रसाश्रयम्' नाट्य रसाश्रय तथा दस प्रकार का होता है, यह कहकर — कर दिया गया है } रस की निष्पत्ति समस्त काव्य के उस वाक्यार्थ मे होती है, जो काव्य मे प्रयुक्त पदो के अर्थरूप विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारी भावो के ससर्ग से युक्त होता है । { अर्थात् नाट्य का विषय रस है ओर वह रस के पदार्थ स्वरूप विभाव — अनुभाव — सचारीभाव आदि के द्वारा वाक्यार्थ में आश्रित रहता है । यहाँ ध्यातव्य यह है कि नाटकादि रूपको मे वाक्यार्थ का अभिनय होता है, भाव का नही । इसलिए नाट्य रसाश्रय है । रस की निष्पत्ति पदो के समष्टिरूप वाक्य मे होती है ।} इसलिए नाट्य मे वाक्यार्थ रूप अभिनय का पाया जाना ही रसाश्रय है, दूसरे शब्दो मे वाचिक अभिनय की स्थिति ही रसाश्रयता है — इस तत्त्व को बताया गया है ।

नाट्यमिति — नाट्य शब्द 'नट अवस्पन्दने' धातु से बना है, जिसका अर्थ है — कुछ—कुछ चलना, इसलिए नाट्य में सात्त्विक अभिनय की प्रचुरता होती है । वैसे इसमे स्वल्प मात्रा मे आङ्गिक क्रिया होती अवश्य है, किन्तु सात्त्विक अभिनय की बहुलता होती है । इसीलिए नाट्याभिनय करने वाले को 'नट' कहा जाता है । जैसे नृत्य और नृत्त दोनो मे गात्र — विक्षेप समान रूप से रहता है, (दोनो मे समान

प्रसङ्गान्नृत्तं व्युत्पादयति —

— नृत्तंताललयाश्रयम् ।

तालश्चञ्चत्पुटादि, लया द्रुतादि, तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविक्षेपोऽभिनयशून्यो नृत्तमिति ।।

रूप से शरीर का सञ्चालन होता है) फिर भी दोनो — नृत्य और नृत्त — मे भेद है, क्योंकि नृत्य मे अनुकरण होता है और नृत्त मे नही । इसी प्रकार वाक्यार्थरूप (वाचिक) अभिनय वाले नाट्य से पदार्थरूप अभिनय वाला नृत्य भी भिन्न है ।।

परामर्श — 'नाट्य' और **'नृत्य'** मे — साम्य और वैषम्य को इस प्रकार समझा जा सकता है —

भेदक तत्व	नाट्य	नृत्य
१. विषय भेद	१ यह रसाश्रित होता है ।	१ यह भावाश्रित रहता है ।
	२ इसमे अवस्था का अनुकरण होता है ।	२ इसमे भावो का अनुकरण होता है ।
२. स्वरूप भेद	३ इसमे सात्त्विक अभिनय की प्रचुरता रहती है ।	३ इसमे आङ्गिक अभिनय की प्रचुरता रहती है ।
	४ इसमे चारो तरह के अभिनय पाये जाते है ।	४ इसमे केवल आङ्गिक अभिनय पाया जाता है ।
३. कर्तृ भेद	५ अभिनयकर्ता को नट कहा जाता है ।	५ नृत्य के कर्ता को नर्तक कहा जाता है ।
४. संज्ञा भेद	६ यह नाट्य कहलाता है ।	६ यह नृत्य 'प्रेक्षणीयक' कहलाता है ।
	७ नाट्य मे श्रवणीय तत्त्व (कथोपकथन आदि) होता है नाट्य दृश्य के साथ श्रव्य भी होता है ।	७. नृत्य मे श्रवणीय कुछ नही होता, यह केवल दर्शनीय होता है । (दृश्य)
	८ इसमे वाक्यार्थ का अभिनय किया जाता है ।	८ नृत्य मे पदार्थ का अभिनय किया जाता है ।
	९ इसमे भाव की चरम परिपोष सीमा, अर्थात् रस की परिपुष्टता होती है ।	९ नृत्य मे केवल भावो की अभिव्यञ्जना मात्र होती है ।

प्रसङ्गेति । उपर्युक्त विवेचन मे 'नृत्त' का उल्लेख किया गया है, इसलिए उसकी व्युत्पत्ति (पूरी–पूरी जानकारी) दी जाती है —

कारिकार्थ — नृत्तमिति । नृत्त ताल एव लय पर आश्रित रहता है ।।

वृत्त्यर्थ — ताल इति। चञ्चत्पुट (हाथ की ताली) इत्यादि भेदो को ताल कहा जाता है । द्रुत इत्यादि (अर्थात् द्रुत, मध्यम, विलम्बित) लय है । केवल इन्ही

अनन्तरोक्तं द्वितीयं व्याचष्टे –

आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम् ॥ ९ ॥

नृत्यं पदार्थाभिनयात्मकं मार्ग इति प्रसिद्धम्, नृत्तं च देशीति ॥

ताल और लय की अपेक्षा से होने वाले अभिनय से शून्य, अङ्ग विक्षेप (केवल शरीर के सचालन) को नृत्त कहते है ॥

परामर्श – लघु, गुरु, प्लुत से युक्त सशब्द एवं निःशब्द क्रिया द्वारा गीत, वाद्य, नृत्य को परिमित करने वाला काल **ताल** कहलाता है –

गीतं वाद्यं तथा नृत्तं यस्ताले प्रतिष्ठितम् ।
कालो लघ्वादिमितया क्रियया सम्मितो मितिम् ॥ (सङ्गीतरत्नाकर)

भरतोक्त तालो मे चञ्चत्पुट (चतुरस्र) और त्र्यस्र अर्थात् चाचपुट दो प्रकार है – त्र्यस्रश्च चतुरस्रश्च स तालो द्विविध स्मृत ॥

लय – ताल क्रिया के अनन्तर (अगली ताल क्रिया से पूर्व तक) किया जाने वाला विश्राम 'लय' कहलाता है । शीघ्रतम लय 'द्रुत' उससे द्विगुण 'मध्य' तथा उससे द्विगुण 'विलम्बित' कहलाती है । चित्र, वार्तिक एव दक्षिण मार्ग मे विश्रान्ति काल के परिमाण मे भेद होने के कारण क्रमश लय मे क्षिप्रभाव, मध्यभाव और चिरभाव के कारण लय के अनेक भेद होते है –

क्रियानन्तरविश्रान्तिर्लय स त्रिविधो मत ।
द्रुतो मध्यो विलम्बश्च द्रुत शीघ्रतमो मत ॥
द्विगुणद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ ।
मार्गभेदाच्चिरक्षिप्र – मध्य – भावैरनेकधा ॥
(सङ्गीतरत्नाकर–तालाध्याय)

नृत्त मे केवल अङ्ग विक्षेप – (शरीर का सचालनमात्र) होता है । इसमे अभिनय नही होता । नृत्त ताल के आधार पर मात्रा का अनुसरण करता है । तथा लय के आधार पर गति (द्रुत, मध्य, विलम्बित) का आश्रय लेता है । अर्थात् नृत्त ताल और लय के द्वारा नियन्त्रित होता है । नृत्य का आधार भाव है और नृत्त का ताल एव लय ॥

अनन्तरोक्तमिति । उपरिवर्णित दोनो (नृत्य तथा नृत्त) की व्याख्या करते है–

आद्यम् पदार्थाभिनय· मार्ग· तथा पर देशी **इत्यन्वयः** ॥ ९ ॥

कारिकार्थ – आद्यमिति । प्रथम, पदार्थाभिनयात्मक नृत्य मार्ग भी कहलाता है; तथा द्वितीय नृत्त देशी भी कहलाता है ॥ ९ ॥

वृत्त्यर्थ – नृत्यमिति – नृत्य मे शास्त्रोक्त नियमानुसार पदार्थाभिनयरूप–शरीर–सचालन होता है । अत यह मार्ग के नाम से प्रसिद्ध है, नृत्त में केवल ताल और लय के आधार पर शरीर का सचालन मात्र होता है, इसमे शास्त्रोक्त नियमो का नियन्त्रण नहीं होता। इसलिए यह 'देशी' भी कहलाता है ॥ ९ ॥

द्विविधस्यापि द्वैविध्य दर्शयति –

मधुरोद्धतभेदेन तद् द्वयं द्विविधं पुनः ।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ।। १० ।।

सुकुमार द्वयमपि लास्यम्, उद्धत द्वितयमपि ताण्डवमिति । प्रसङ्गोक्तस्यो–पयोग दर्शयति, तच्च नाटकाद्युपकारकमिति, नृत्यस्य क्वचिदवान्तरपदार्थाभिनयेन नृत्तस्य च शोभाहेतुत्वेन नाटकादावुपयोग इति ।।

परामर्श – { 'मार्ग का उदाहरण है, – दक्षिण भारत का 'भरतनाट्यम्' तथा 'देशी' का उदाहरण है, – लोकनृत्त, जङ्गली जातियो – भीलो का – नृत्त ।} ।। ९ ।।

द्विविधस्येति । उक्त उन दो प्रकार (नृत्य और नृत्त) के भेदो के पुन दो प्रकार (मधुर तथा उद्धत) के भेद दिखाते हैं –

तत् द्वय मधुरोद्धतभेदेन पुन द्विविधम्, तत् लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् (भवति) **इत्यन्वयः** ।। १० ।।

कारिकार्थ – मधुरोद्धतेति – वे दोनो – नृत्य (मार्ग) और नृत्त (देशी) मधुर तथा उद्धत भेद से पुन. दो प्रकार के होते है । यथा – १. मधुर नृत्य और २. उद्धत नृत्य । इसी प्रकार १. मधुर नृत्त और २. उद्धत नृत्त । इन दोनो भेदो का लास्य एवं ताण्डव रूप से नाटकादि मे उपयोग होता है ।। १० ।।

वृत्त्यर्थ – सुकुमारमिति – सुकुमार नृत्य एव नृत्त को 'लास्य' के नाम से अभिहित किया जाता है तथा उद्धत नृत्य एवं उद्धत नृत्त को 'ताण्डव' के नाम से जाना जाता है । {यहाँ ध्यातव्य यह है कि 'लास्य' का प्रयोग स्त्री द्वारा किया जाता है और ताण्डव का प्रयोग पुरुष द्वारा ।}

प्रसङ्गोक्तस्येति – ये दोनो प्रकार के नृत्य तथा नृत्त नाटकादि रूपको के उपस्कारक होते हैं । वृत्तिकार कहते हैं कि प्रसङ्गवश वर्णित (नृत्य एव नृत्त)का – 'ये नाटकादि के उपकारक होते हैं' – कथन के द्वारा उपयोग दिखलाया है । यदि कहीं मध्य में अवान्तर पदार्थ का अभिनय करना आवश्यक हो तो नृत्य का और यदि कहीं शोभा बढाने की आवश्यकता हो तो नृत्त का उपयोग नाटक प्रकरणादि रूपको मे किया जाता है ।। १० ।।

परामर्श – तात्पर्य यह है कि – उक्त दोनो – **नृत्य** और **नृत्त** – का आवश्यकतानुसार उपयोग होता है । यथा – मधुर भावों के अभिनय के लिए लास्य नृत्य का एव मधुर रस के उद्बोधन के लिए लास्यनृत्त का उपयोग होता है । इसी प्रकार उद्धत भावो के अभिनय के लिए 'ताण्डव' नृत्य का और उद्धतरस के उद्बोधन के लिए ताण्डव 'नृत्त' उपयोग नाटककार करते हैं । दोनों ही नाटक की शोभा बढाते हैं – किन्तु – नृत्य भावाभिनय द्वारा और नृत्त शोभा मात्र से ।

नृत्य और नृत्त में समानता तथा भिन्नता – (१) दोनो शब्दो का निर्माण **'नृत्'** धातु से 'नृती' गात्रविक्षेपे के अर्थ में हुआ है । (२) **नृत्य** (मार्ग) और **नृत्त**

अनुकारात्मकत्वेन रूपाणामभेदात्किंकृतो भेद इत्याशङ्क्याह –

(देशी) मधुर एवं उद्धत के नाम से पुनः दो प्रकार के होते हैं । मधुर का ही अपर नाम है – 'सुकुमार' । यथा – मधुर (सुकुमार) नृत्य (२) उद्धत नृत्य, इसी प्रकार (१) मधुर नृत्त और (२) उद्धत नृत्त । सुकुमार को लास्य भी कहा जाता है और उद्धत को ताण्डव । (३) दोनों ही नाटक – रूपक के उपकारक होते हैं । (४) नृत्य नाट्यशास्त्रोक्त नियमों के अनुसार किया जाता है। नृत्त में शास्त्रोय नियमों का कोई बन्धन नही होता, वह तो लोक पर निर्भर रहता है । जङ्गली जातियों के द्वारा किया जाने वाला नर्तन नृत्त के अन्तर्गत आता है । (५) नृत्य भावाश्रित होता है और नृत्त ताल एवं लय पर आश्रित (६) नृत्य भावाभिनय द्वारा और नृत्त शोभा के द्वारा नाट्य के उत्कर्ष को बढ़ाता है ।

आचार्य धनञ्जय के नृत्य एवं नृत्त विषयक विवेचन को यदि स्पष्ट रूप में समझना हो तो **शारदातनय** अलम् है । उन्होंने स्पष्ट करते हुए कहा है कि – पदार्थ मात्र का अभिनय रूप नर्तक का जो कर्म है, वह नृत्त तथा नृत्य भेद से दो प्रकार का होता है । वे दोनों (नृत्त तथा नृत्य) दो प्रकार के होते हैं । भाव के आश्रित मार्ग (नृत्य) होता है और भाव से रहित देशी (नृत्त) कहलाता है । त्रिमार्गीय ताल में निश्चित 'मार्ग' कहा जाता है और ताल तथा लय के आश्रित 'देशी' कहलाता है । पुनः ये दोनों (मार्ग तथा देशी) मधुर तथा उद्धत भेद से दो प्रकार के होते हैं । मधुर 'लास्य' कहलाता है और उद्धत 'ताण्डव' जाना जाता है । ये सभी १. गीत, २. वाद्य, तथा ३. गीत–वाद्य मिश्रित भेद से तीन प्रकार के होते हैं ।

रस प्रधान अभिनय रूप मार्ग–नृत्त नट के आश्रित होता है । जो नर्तक के आश्रित होता है, वह भावाभिनयरूप मार्ग–नृत्य होता है । रस तथा भाव से युक्त और अङ्ग–संचालन (गात्र–विक्षेप) के आश्रित मार्ग और देशी का मिश्ररूप (नृत्य) नट और नर्तक के आश्रित होता है ।

लास्य और ताण्डव – जहाँ ललित (सुकुमार) अङ्गहारों से तथा ललित लयो से सम्पन्न कराकर कैशिकी–वृत्ति की गीति का प्रयोग किया जाता है, वह 'लास्य' कहलाता है । तथा जब उद्धतकरण और अङ्गहारों से सम्पन्न कराकर गीत के समय आरभटी वृत्ति का प्रयोग किया जाता है, वह 'ताण्डव' जाना जाता है । ये दोनों (नृत्य) नाटकादि में पूर्वरङ्ग के होंगे । वे दोनों (नृत्य) नट के कर्मरूप होने के कारण 'नाट्य' कहे जाते हैं । ताल, गीत, वाद्य, नृत्त और अभिनय क्रम से जो सुकुमार प्रयोग निश्चित होता है, वह 'लास्य' कहा जाता है । (भा० प्र० १०।७७–८२) ॥ १० ॥

रूपकों को परस्पर एक दूसरे से पृथक् दर्शाने वाले तत्वों का विवेचन –

अनुकारेति । सभी रूपकों में अनुकरण होता ही है, इसलिए सभी में समानता परिलक्षित होती है, उनमें कोई भेद लक्षित नहीं होता, ऐसी स्थिति में उन दशरूपकों में किस आधार पर भेद किया जाता है? ऐसी शङ्का करके ग्रंथकार उत्तर देते हैं –

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः –

वस्तुभेदान्नायकभेदाद्रसभेदाद्रूपाणामन्योन्यं भेद इति ।।

वस्तुभेदमाह –

– वस्तु च द्विधा ।

कथमित्याह –

तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः ।। ११ ।।

प्रधानभूतमाधिकारिकम् यथा रामायणे रामसीतावृत्तान्तं, तदङ्गभूतं प्रासङ्गिकम्

तेषाम् भेदकः, वस्तु नेता रसः (च) **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – वस्त्विति । 'वस्तु' (कथावस्तु, इतिवृत्त) नायक (नेता, धीरोदात्तादि) और रस (शृङ्गारादि) उन दशरूपको के भेदक तत्त्व हैं ।।

वृत्त्यर्थ – वस्त्विति । ये ही तीनों तत्त्व इन दस रूपकों को एक दूसरे से भिन्न करते हैं । वस्तु भेद नायक भेद तथा रस भेद की दृष्टि से ही इनमें परस्पर भेद है ।।

परामर्श – शारदातनय इतिवृत्त के विषय मे कहते हैं –

वस्तु नाटक का कविकल्पित शरीर है । नाट्य तथा अभिनय के ज्ञाता उसे 'इतिवृत्त' कहते हैं, या फिर नायक आदि का चरित–वर्णन इतिवृत्त कहा जाता है । कहीं प्रयोजनवश जो वर्तमान चरित भी वृत्त कहानी की तरह कल्पित होता है वह 'इतिवृत्त' कहा जाता है ।

।। वस्तु तत्स्यात्प्रबन्धस्य शरीरं कविकल्पितम् । इतिवृत्तं तदेवाहुर्नाट्या–भिनयकोविदाः ।। चरितं नायकादीनामितिवृत्तमितिस्मृतम् । प्रयोजनवशात्तत्तु वर्तमानमपि क्वचित् ।। वृत्तवत्कल्प्यमिति यदितिवृत्तं तदुच्यते ।। (भा० प्र० ७।१३१–१३२)

'इतिवृत्त' का विवेचन करते समय यह ध्यातव्य है कि – पात्रों का अभिनय नाट्य के इतिवृत्त के आधार पर अभिनीत होता है । इतिवृत्त नाट्य का शरीर कहा जाता है । आत्मा के निवास के लिए शरीर की आवश्यकता की भाँति नाट्य की आत्मा 'रस' को विद्यमान रहने के लिए इतिवृत्तरुपी नाट्यशरीर की अपेक्षा रहती है । अतः इतिवृत्त की रचना भी नाट्य मे 'रस' की भाँति महत्त्वपूर्ण होती है ।। १० ।।

वस्तुभेदमिति । अब **वस्तु (इतिवृत्त या कथावस्तु) के भेदो को बतलाते है –**

कारिकार्थ – वस्त्विति । कथावस्तु दो प्रकार की होती है ।।

कथमिति । किस प्रकार से ? – यह कहते हैं –

तत्र मुख्यम् आधिकारिकम् अङ्गम् प्रासङ्गिक विदुः **इत्यन्वयः** ।। ११ ।।

कारिकार्थ – तत्रेति । उनमें मुख्य कथावस्तु को 'आधिकारिक' और (प्रधान कथा की) अङ्गभूत कथावस्तु को 'प्रासङ्गिक' कहते हैं ।। ११ ।।

वृत्त्यर्थ – प्रधानेति – प्रधानभूत कथा को 'आधिकारिक' कथावस्तु कहते है, जैसे – वाल्मीकि कृत रामायण में राम तथा सीता का वृत्तान्त । जो कथा उस

यथा तत्रैव विभीषणसुग्रीवादिवृत्तान्त इति ॥

निरुक्त्याऽऽधिकारिकं लक्षयति –

अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तन्निर्वर्त्यमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥ १२ ॥

फलेन स्वस्वामिसम्बन्धोऽधिकारः फलस्वामी चाधिकारी, तेनाधिकारेणाधिकारिणा वा निर्वृत्तम् – फलपर्यन्तता नीयमानमितिवृत्तमाधिकारिकम् ॥

प्रासङ्गिक व्याचष्टे –

प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः ।

प्रधानभूत कथा का अङ्ग होती है, वह प्रासङ्गिक कहलाती है । जैसे उसी वाल्मीकि रामायण मे विभीषण, सुग्रीव, आदि का वृत्तान्त । (अङ्गरूप कथा प्रधान कथा को आगे बढ़ाती है।) ॥ ११ ॥

परामर्श – कोई भी इतिवृत्त निसर्गत आधिकारिक एव प्रासङ्गिक नही होगा । कवि शेमुषी जिसे आधिकारिक बनाती है उसकी अपेक्षा मे अन्य घटनाक्रम प्रासङ्गिक हो जाता है । जैसे एक राशि को दो भागो मे करना । अर्थात् एक इतिवृत्तरूप वृक्ष की दो शाखाएँ – आधिकारिक एव प्रासङ्गिक है – ॥ न निसर्गत किञ्चिदाधिकारिकम्, अन्यद्वा । कविधिया यदेतदाधिकारिक कृत तदापरम्य प्रासङ्गिकतास्तीति द्विधाशब्देन सूचित, तदेवेद दर्शितम् ॥ (अभि० भा० १९, २) ॥ ११ ॥

निरूक्त्येति । व्युत्पत्ति के अनुसार आधिकारिक (इतिवृत्त) का लक्षण कहते है –

फलस्वाम्यम् अधिकार तत्प्रभु अधिकारी च तन्निर्वृतम् अभिव्यापि वृत्तम् आधिकारिकम् स्यात् **इत्यन्वयः** ॥ १२ ॥

कारिकार्थ – अधिकार इति । (नाटक के) फलपर स्वामित्व प्राप्त करना अधिकार कहलाता है । तथा उस फल के स्वामी को अधिकारी कहा जाता है । (अर्थात् नाटक का फल ही अधिकार है, और उस फल का भोक्ता अर्थात् नायक अधिकारी) उस (नाटक के) फल के भोक्ता (नायक) के द्वारा फल की सम्प्राप्ति होने तक निर्वाहित वृत्त या कथा आधिकारिक वस्तु कही जाती है ॥ १२ ॥

वृत्त्यर्थ – फलेनिति – फल के साथ स्व–स्वामिभाव सम्बन्ध को अधिकार कहते है और फल के स्वामी को अधिकारी कहते हैं । उस अधिकारी के द्वारा किया गया वृत्त जो फल की सम्प्राप्ति तक पहुँचने वाला हो 'आधिकारिक' इतिवृत्त है ॥ १२ ॥

प्रासङ्गिकमिति । (अब) प्रासङ्गिक (वस्तु) की व्याख्या करते है –

परार्थस्य यस्य प्रसङ्गत स्वार्थः, (तत्) प्रासङ्गिकम् **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ – प्रासङ्गिकमिति । जो कथा या इतिवृत्त दूसरे (अर्थात् मुख्य आधिकारिक कथा) के लिए निर्मित होता है, किन्तु प्रसङ्गवश जिसका अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है; वह प्रासङ्गिक वृत्त है ॥

यस्येतिवृत्तस्य परप्रयोजनस्य, सतस्तत्प्रसङ्गात्स्वप्रयोजनसिद्धिस्तत्प्रासङ्गिक-मितिवृत्त प्रसङ्गनिर्वृत्तेः प्रासङ्गिकम् ॥

प्रासङ्गिकमपि **पताका–प्रकरीभेदाद्** द्विविधमित्याह –

सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥ १३ ॥

दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका, सुग्रीवादिवृत्तान्तवत् । पताकेवा-साधारणनायकचिह्नवत्तदुपकारित्वात् । यदल्पम् दूरं नानुवर्तते सा प्रकरी, श्रमणादिवृत्तान्तवत् ॥

वृत्त्यर्थ – यस्येति । दूसरे (अर्थात् आधिकारिक कथा या इतिवृत्त) के उद्देश्य की सिद्धि के लिए (कवि द्वारा) निर्मित होने पर भी जिस कथा का अपना प्रयोजन या उद्देश्य भी प्रसङ्गवश सिद्ध हो जाता है, उस कथा को प्रासङ्गिक इतिवृत्त कहा जाता है ॥

परामर्श – तात्पर्यार्थ यह है कि नाटक या काव्य में मूल कथा को गति प्रदान करने के लिए गौण कथाओं का भी निर्माण कवि करता है । यद्यपि इनका प्रधान प्रयोजन आधिकारिक–कथा की फल निर्वहणता में सहायता प्रदान करना है, किन्तु उपयुक्त काल आने पर उस कथा का अपना भी फल सिद्ध होता है, जैसे–रामायण में आयी हुई सुग्रीव कथा, यह प्रासङ्गिक इतिवृत्त है, क्योंकि यह रामायण की मुख्य कथा की फल–प्राप्ति में तथा उसके विकास में सहायक है और अपने प्रयोजन – बालिवध तथा राज्यलाभ – की सिद्धि में भी सफल है । इस प्रकार प्रासङ्गिक इतिवृत्त की दो विशेषताएं हैं – (१) मुख्य कथा में सहायक होना, और (२) प्रसङ्गवश अपनी स्वार्थसिद्धि करना ॥

प्रासङ्गिक कथा के भेद –

प्रासङ्गिकमिति । प्रासङ्गिक कथा भी पताका और प्रकरी के भेद से दो प्रकार की होती है । (अर्थात् प्रासङ्गिक इतिवृत्त भी दो प्रकार का है – पताका और प्रकरी) इसी का कथन करते हैं –

सानुबन्धम् पताकाख्यम् प्रदेशभाक् प्रकरी च **इत्यन्वयः** ॥ १३ ॥

कारिकार्थ – सानुबन्धमिति । अनुबन्ध सहित – अर्थात् प्रधान इतिवृत्त के साथ गौणरूप से दूर तक चलनेवाला – प्रासङ्गिक इतिवृत्त 'पताका' तथा एक प्रदेश में सीमित रहनेवाला (अर्थात् थोड़ी दूर तक चलने वाला) प्रासङ्गिक वृत्त 'प्रकरी' कहलाता है ॥ १३ ॥

वृत्त्यर्थ – दूरमिति । जो प्रासङ्गिक कथा (आधिकारिक कथा का) दूर तक अनुवर्तन करती है, उसे 'पताका' कहा जाता है; यथा, – सुग्रीव आदि का वृत्तान्त; – यह पताका है, क्योंकि वह प्रधान कथा के साथ दूर तक चलता रहता है । पताका (ध्वजा) नायक का असाधारण चिह्न होती है और वह (युद्ध में) नायक का उपकार करती है (क्योंकि युद्ध मे नायक की पताका को ही दूर से देखकर उसके

वीर—सैनिक उसके पास पहुँचते है) इसी प्रकार दूर तक चलने वाला प्रासङ्गिक इतिवृत्त भी आधिकारिक कथा अथवा नायक का उपकारक होने के कारण पताका कहलाता है । जो (प्रासङ्गिक कथा) अल्प होती है, दूर तक अनुवर्तन नही करती उसे 'प्रकरी' कहा जाता है, यथा – (रामायण मे) श्रमणा शबरी आदि की कथाएँ ।। १३ ।।

परामर्श — पताका – नाटक के मुख्य नायक की लक्ष्य सिद्धि उन व्यक्तियो के सहयोग पर निर्भर होती है जो राजमंत्री अथवा अन्य भृत्यो के समान उसके आश्रित न होकर स्वतंत्र व्यक्ति होते है। वे या तो निजी लक्ष्यसिद्धि के लिए या बिना किसी स्वार्थ को मन मे रक्खे हुए भी नाटक के प्रधान नायक के सहयोगी बन जाते हैं। जैसा कि उन नाटको मे जिनके प्रधान नायक राम है, रावण की लङ्का मे सीता की अवाप्ति सुग्रीव के सहयोग पर अवलम्बित है। परन्तु सुग्रीव का अपना एक निजी स्वार्थ भी है और उसकी सिद्धि भी उनको हो जाती है। तात्पर्य यह है कि राम के सहयोग से वे अपने राज्य को पुन प्राप्त कर लेते है। अत नाटक के उस उपकथानक को जिसका प्रधान नायक मूल कथानक के नायक को सहयोग प्रदान करता है और किसी निजी लक्षण की सिद्धि भी नाटक के प्रधान नायक के सहयोग से करता है, शास्त्रीय शैली मे **पताका** कहा जाता है।

।। यस्य सम्बन्धिवृत्त सविदनुसन्धान परस्य प्रयोजन सम्पत्तये भवदपि स्वप्रयोजन सम्पादयति। सचेतनानुसन्धाना पताका सिद्धि प्रधानस्योपकारिणी। एव सुग्रीवविभीषण प्रभृतिरपि रामादिनोपक्रियमाणे रामादेरात्मनश्चोपकाराय प्रभवमाने प्रसिद्धिप्राशस्त्यं सम्पादयतीति ।। (अ० भा० १९–२४) ।।

प्रकरी — परन्तु नाटक मे जब किसी उपकथानक का नायक किसी निजी लक्ष्य की सिद्धि मूल कथानक के प्रधान नायक के सहयोग से नही करता, अपितु किसी न किसी रूप मे नाटक के प्रधान नायक का सहयोगी बनता है तो उसे 'प्रकरी' कहते हैं। (ना० शा० अ० १९–२५) 'पताका' के रूप मे जो उपकथानक है वह नाटक के मूल कथानक के साथ घनिष्ट रूप से सम्बद्ध रहता है और मूल कथानक के कार्य को प्रारम्भिक दशा से लेकर उसकी तीसरी अथवा चौथी कार्यावस्था तक वह विस्तारित रहता है। परन्तु प्रकरी रूप उपकथानक नाटक के एक ही स्थल पर वर्तमान रहता है और उसी स्थल पर उसका अन्त भी हो जाता है। इस आधार पर प्रकरी को एक अन्तर्कथा भी कह सकते हैं ।

।। यतश्च तत परार्थमेव केवल सर्वमुनतिष्ठति सा प्रकरी। यथा वेणीसहारे भगवान् वासुदेव । प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षया करोतीति ।। (अभि० भा० १९–२५)।।

प्रकृत प्रसङ्ग मे ध्यातव्य यह है कि 'प्रकरी' के जिस स्वरूप का प्रतिपादन धनञ्जय को अभीष्ट है वह अभिनव गुप्त की व्याख्या के अनुसार भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित उसके स्वरूप से कुछ अशो मे भिन्न है। धनञ्जय के मतानुसार पताका तथा प्रकरी मे मात्र भेद इतना ही है कि पताका की अपेक्षा प्रकरी का कथानक लघुकलेवर का होता है। तथापि धनञ्जय प्रकरी की यह विशेषता कदापि नही मानते है कि उसका नायक मूल कथानक के प्रधान नायक का स्वलक्ष्य सिद्धि के प्रयोजन के बिना सहयोगी होता है।

पताकाप्रसङ्गेन **पताकास्थानकं** व्युत्पादयति –

प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम् ।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ।। १४ ।।

प्राकरणिकस्य भाविनोऽर्थस्य सूचकं रूपं पताकावद्भवतीति पताकास्थानकम् । तच्च तुल्येतिवृत्ततया तुल्यविशेषणतया च द्विप्रकारम् – अन्योक्तिसमासोक्तिभेदात् ।।

संक्षेप में, पताका और प्रकरी –

१. <u>पताका</u> –

– दीर्घ काल तक आधिकारिक कथा का अनुवर्तन करती है

– आधिकारिक इतिवृत्त के प्रयोजन की सिद्धि के लिए होने पर भी स्वयं का भी प्रयोजन – स्वार्थ – रखती है ।

– गौण रूप में रहने पर भी मूल कथा की तरह ही नाटक में चलती रहती है ।

२. <u>प्रकरी</u> –

– अल्पकाल के लिए आधिकारिक कथा का साथ (अनुवर्तन) करती है ।

– यह अपने किसी फल के लिए नहीं, अपितु आधिकारिक इतिवृत्त – (कथा) की सहायता के लिए ही होती है ।

– यह आधिकारिक इतिवृत्त का कोई अनुबन्ध नहीं करती ।। १३ ।।

पताकास्थानक –

पताकाप्रसङ्गेनेति । पताका के प्रसङ्ग से अब यहाँ 'पताकास्थानक' की व्युत्पत्ति करते हैं –

प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनः तुल्यसंविधानविशेषणम् अन्योक्तिसूचकम् (तच्च) पताकास्थानकम् **इत्यन्वयः** ।। १४ ।।

कारिकार्थ – प्रस्तुतेति – जहाँ प्रस्तुत आगन्तुक (भावी) कथावस्तु की समान वृत्त या समान विशेषण द्वारा अन्योक्ति रूप में सूचना हो, उसे पताका स्थानक कहते हैं ।। १४ ।।

वृत्यर्थ – प्राकरेति । प्रसङ्गप्राप्त अर्थात् जिस कथा का प्रकरण चल रहा हो उसमें भावी (आगे आने वाली) घटना की सूचना जिसके द्वारा मिलती है, उसे 'पताकास्थानक' कहते हैं । यह पताका के सदृश ही होती है, इसलिए इसे पताका स्थानक कहते हैं । यह 'तुल्य इतिवृत्त' और 'तुल्य विशेषण' भेद से दो प्रकार की होती है, अर्थात् समासोक्ति और अन्योक्ति भेद से दो प्रकार की होती है ।

{कवि अपने रूपक में कथा प्रसङ्ग में अवसर प्राप्त होने पर भावी (भविष्य में होने वाली) घटना का सङ्केत कर देता है, यह सङ्केत समान घटनाओं के आधार पर होता है, या समान विशेषणों के आधार पर होता है । प्रथम में अन्योक्ति या अप्रस्तुत

यथा **रत्नावल्याम्** –

'यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया ।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्या सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥' (३ ६)

प्रशंसा का आधार लिया जाता है, और द्वितीय में समासोक्ति का (अर्थात् तुल्य विशेषणों के आधार पर)} यथा – **यथेति** ।

रत्नावली नाटिका के निम्नोक्त पद्य में समान इतिवृत्त रूप (तुल्य इतिवृत्त) अन्योक्ति (अप्रस्तुत प्रशंसा) तरीके का **'पताकास्थानक'** है – अस्ताचलोन्मुख सूर्य अपनी प्रेयसी कमलिनी को सम्बोधित करता है –

यात इति । 'हे कमलनयने ! मैं जा रहा हूं, यह मेरे जाने का समय है । कल-- प्रातः काल तुम्हें मैं ही जगाऊँगा ।' इस तरह अस्ताचल पर फैले हुए अपने करों से सूर्य कमलिनी को आश्वासन दे रहा है – (अपने लौट आने का) ।'

{(प्रस्तुत श्लोक में) यहाँ-- सूर्य की बात के व्याज से कल पुनः मिलने की सूचना नायिका सागरिका को दी गई है । इसलिए समान इतिवृत्त द्वारा भावी घटना का सूचक यह प्रथम पताकास्थानक (अन्योक्ति का) है } ॥ १४ ॥

परामर्श – श्री सिद्धेश्वर चट्टोपाध्याय कहते हैं - नाटक लक्षण रत्नकोष में - In the gradual development of a plot the playwright introduces at places new turns to the course of action and gives hint to the future event by bringing in something not expected at the present moment. These spots are पताकास्थानक

प्रस्तुत प्रसङ्ग में महाराज उदयन अपने मित्र विदूषक को कहते है यहाँ यह ध्यातव्य है कि इस उक्ति – के द्वारा – सूर्य और कमलिनी के वृत्तान्त में महाराज उदयन और सागरिका (रत्नावली) के भावी मिलन की सूचना दी गई है । प्रस्तुत प्रसङ्ग में – समान घटना के रूप में एक ओर सूर्य और कमलिनी का मिलन और दूसरी ओर महाराज उदयन तथा सागरिका का मिलन का सङ्केत है ।

अन्योक्तिमय पताकास्थानक के उदाहरण में ग्रन्थकर्ता के द्वारा प्रस्तुत उदाहरण शंकास्पद प्रतीत होता है । वह इस प्रकार है – सन्ध्याकाल के प्रसङ्ग में वर्णित इस पद्य मे – **'यातोऽस्मि....'** प्राकरणिक तो सूर्यकमलिनी का वृत्तान्त नितान्त स्पष्ट है, वस्तुतः सूर्यवर्णन ही यहाँ प्रस्तुत है, तो फिर अप्रस्तुत प्रशंसा कैसी सम्भव होगी? राजा की उक्ति शाम के समय कही गई है, अतः प्राकरणिक तथा प्रस्तुतार्थ उसे ही मानना होगा। डॉ० व्यास के इस विचार में हम सहमत हैं कि धनिक की वृत्ति पंक्ति ही समस्त गडबडी का कारण है । साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ, और भरत दोनो ही यहाँ अन्योक्ति समासोक्ति का प्रयोग नहीं करते । (साहित्यदर्पण – ६।४४७४९, ना० शा० २१, ३१–३५)

ग्रन्थकार के अनुसार पताकास्थानक का प्रथम उदाहरण अन्योक्ति का और दूसरा समासोक्ति का है । परन्तु अधिकाश विद्वानो के विचार में दोनो स्थलो पर

यथा च तुल्यविशेषणतया –

'उद्दामोत्कलिका विपाण्डुररुच प्रारब्धजृम्भा क्षणा–

दायास श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मन ।

अद्योद्यानलतामिमा समदना नारीमिवान्यां ध्रुव

पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुख देव्या करिष्याम्यहम् ।।' (रत्ना० २ ४)

एवमाधिकारिकद्विविधप्रासङ्गिकभेदात् त्रिविधस्यापि त्रैविध्यमाह –

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् त्रेधापि तत् त्रिधा ।

प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ।। १५ ।।

समासोक्ति ही है। किन्तु ग्रन्थकार के पक्ष में ही यदि विचार करना है तो यह कहा जा सकता है कि जिसको प्रकरण का ही पता नही है, उसे उदाहृत श्लोक में सर्वप्रथम प्रस्तुत नायक–पक्ष का ज्ञान होगा, उसके पश्चात् अप्रस्तुत कमलिनी पक्ष का, अत प्रस्तुत से अप्रस्तुत का ज्ञान हो जाने पर अप्रस्तुत प्रशसा (अन्योक्ति) मानने मे कोई बाधा नहीं होगी ।

यथा चेति । समान विशेषणों के द्वारा (समासोक्ति भेदवाला पताका स्थानक) –

उद्दामेति । मैं चटकती कलियो वाली, पीले वर्ण की, प्रफुल्लित होती हुई इस उपवन लता को देख रहा हूँ, जो वायु के निरन्तर वेग के कारण अपनी विशालता को व्यक्त कर रही है तथा मदन नामक वृक्ष से लिपटी हुई है । इस लता को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि मैं काम वेग से समाञ्चित, काम पीड़ा से पीली पड़ी हुई, जँभाई लेती हुई, निरन्तर दीर्घ नि श्वासो के कारण व्याकुल, सकाम दूसरी स्त्री को देखने के समान आज वासवदत्ता के मुख को अवश्य ही क्रोध से लाल कर दूँगा ।

{यहाँ लता के वर्णन मे तुल्य विशेषणों के द्वारा उदयन और सागरिका के भावी मिलन जो वासवदत्ता के क्रोध का कारण बनेगा, व्यक्त है । इसलिए यह समान विशेषणो द्वारा भावी घटना की सूचना देने वाला (दूसरा) पताका स्थानक है} ।। १४ ।।

एवमाधिकारिकेति । इस प्रकार इतिवृत्त आधिकारिक, पताका तथा प्रकरी (प्रासङ्गिक के दो भेद) तीन प्रकार हैं यह पुन तीन प्रकार का होता है, उसे बतलाते हैं –

तत् त्रेधा अपि प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्व भेदात् त्रिधा, इतिहासादे प्रख्यातम्, कविककार्टपतम् उत्पाद्यम्, ताभ्याम् सङ्करात् मिश्र च (तत् च) दिव्यमर्त्यादिभेदत (अस्ति) **इत्यन्वयः** ।। १५–१६ ।।

कारिकार्थ – प्रख्येति । इस प्रकार, इतिवृत्त के तीन प्रकार – १. आधिकारिक, (और प्रासङ्गिक के दो), २. पताका और ३. प्रकरी हैं । पुनः ये तीनों भी– प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र–भेद से तीन–तीन प्रकार के होते हैं । यथा–इतिहास आदि से ग्रहण किया हुआ इतिवृत्त, प्रख्यात है, कवि के द्वारा कल्पित इतिवृत्त उत्पाद्य है और प्रख्यात तथा उत्पाद्य के

मिश्रं च सङ्करात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः ।

इति निगदव्याख्यातम् ।।

तस्येति**वृत्तस्य किं फल**मित्याह –

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ।। १६ ।।

धर्मार्थकामाः फलम् । तच्च शुद्धमेकैकमेकानुबन्धं द्वित्र्यनुबन्धं वा ।।

तत्साधन व्युत्पादयति

मिश्रण से निर्मित रचना मिश्र रचना होती है । (ये सभी इतिवृत्त) दिव्य, मर्त्य तथा दिव्यादिव्य भेद से भी (अनेक प्रकार के) होते है । वस्तु के अनन्त भेद हैं ।

{इसे इस प्रकार समझा जा सकता है – इतिहास- पुराण आदि में प्रसिद्ध कथा प्रख्यात कथा है, (यथा – राम, कृष्ण कथा) कवि द्वारा कल्पित उत्पाद्य कथा है (यथा, मालतीमाधव की कथा) प्रख्यात एवं उत्पाद्य का मिश्रण मिश्र कथा है – (यथा – अभिज्ञानशाकुन्तलम् की कथा) इस प्रकार तीन प्रकार की कथा--वस्तु पुनः दिव्य दिव्यादिव्य एवं मर्त्य भेद से भिन्न--भिन्न होती हैं । अतः इनका अन्त नही है }।। १५--१६ ।।

इतिवृत्त का फल –

तस्येति । उस इतिवृत्त का क्या फल होता है इसे बतलाते हैं -

कार्यं त्रिवर्गः तत् शुद्धम्, एकानेकानुबन्धि च (भवति) **इत्यन्वयः** ।। १६ ।।

कारिकार्थ – कार्यमिति। उस इतिवृत्त का फल है, त्रिवर्ग, (धर्म, अर्थ और काम) यह फल कभी तो शुद्ध (अर्थात् त्रिवर्ग में से कोई एक) हो सकता है, कभी दो वर्ग (एक से अनुगत) और कभी तीनो वर्ग (अर्थात् दो से अनुगत) होता है' ।। १६ ।।

वृत्त्यर्थ – धर्मेति । धर्म, अर्थ और काम इतिवृत्त का फल है । यह फल कभी शुद्ध, कभी एक से अन्वित एक, एवं कभी यह फल दो से अन्वित एक, और कभी तीन से अन्वित एक होकर कार्य है ।। १६ ।।

परामर्श – तात्पर्यार्थ यह है कि रूपक का इतिवृत्त ही कारण है, जिसके द्वारा त्रिवर्ग की प्राप्तिरूप फल मिलता है, इतिवृत्त– कारण का कार्य ही फल है । इसलिए कारिका मे – 'कार्यं त्रिवर्गः ।' ऐसा उल्लेख है । इस प्रकार फल के भी तीन भेद होते हैं – १. एकानुबन्धि (शुद्ध) २. द्वयनुबन्धि और ३. त्र्यनुबन्धि । फल–प्राप्ति के साधन – (अर्थ प्रकृतियाँ) ।। १६ ।।

तत्साधनमिति । (त्रिवर्गरूप) उस (फल) के साधन की विवेचना करते हैं –

---

१ अग्निपुराण मे – 'त्रिवर्गसाधन नाट्यम् ।'

भरत कहते हैं –धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ।।

दशरूपककार कहते है – 'व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः ।' १/६ यह कहकर लोकोत्तर आनन्द को माना है, केवल व्युत्पत्तिमात्र नहीं ।

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।

स्तोकोद्दिष्टः कार्यसाधकः पुरस्तादनेकप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद् बीजं यथा **रत्नावल्यां** वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलदैवो यौगन्धरायणव्यापारो विष्कम्भके न्यस्त –'यौगन्धरायण –कः संदेहः ('द्वीपादन्यस्मात्–' (१.६) इति पठति') इत्यादिना 'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ' (१.७) इत्यन्तेन ।।

यथा च **वेणीसंहारे** द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमक्रोधोपचितयुधिष्ठिरोत्साहो बीजमिति । तच्च महाकार्यावान्तरकार्यहेतुभेदादनेकप्रकारमिति ।।

अवान्तरबीजस्य सञ्ज्ञान्तरमाह –

कारिकार्थ – स्वल्पेति। सूक्ष्म कथन होते हुए आगे चलकर अनेक प्रकार से विस्तार युक्त वस्तु जो मुख्य फल का साधक हेतु होती है, बीज कहलाती है । रूपक के आरम्भ में अल्परूप मे सङ्केतित वह तत्त्व विशेष (जो रूपक के फल का प्रधान हेतु है) जो आगे चलकर वस्तुसंविधान में अनेक रूप मे पल्लवित होता है, बीज कहलाता है ।।

वृत्त्यर्थ – स्तोकोद्दिष्ट इति । यह बीज मे सदृश ही देखने मे स्वल्पाकार होता है, किन्तु (इतिवृत्त के विकास के साथ) आगे चलकर शाखा, पत्र,तना, आदि से युक्त एक विशाल (वट) वृक्ष की तरह विशाल रूप मे परिणत हो जाता है । इसलिए बीज के समान होने के कारण इसे भी 'बीज' के नाम से अभिहित किया जाता है । वस्तुतः नाट्य के बीज मे ही समस्त नाट्य ही सन्निहित रहता है ।

जैसे **'रत्नावली'** नाटिका में (निक्षिप्त बीज) वत्सराज उदयन को रत्नावली की प्राप्ति (जो रत्नावली नाटिका के इतिवृत्त का कार्य–फल है)का कारण, दैव की अनुकूलता से युक्त (मन्त्री) यौगन्धरायण का उद्योग – (प्रयत्नरूप – व्यापार)ही **बीज** रूप मे विष्कम्भक मे उपन्यस्त है ।

यौगन्धरायण के इस कथन – 'इसमें क्या सन्देह है' 'कः सन्देहः' – 'द्विपादन्यस्मात् (१–७) (इस श्लोक को पढता है) से आरम्भकर 'प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धि हेतौ'– अर्थात् स्वामी के अभ्युदय के लिये जो कार्यारम्भ किया गया है – इस कथन तक (बीज का निर्देश किया गया है)

यथा चेति। इसी प्रकार **'वेणीसंहार'** नाटक मे द्रौपदी का केश सयमन (रूपक का फल है) का हेतु, भीमसेन के क्रोध से बढा हुआ युधिष्ठिर का उत्साह ही **'बीज' है** । (यह बीज **भीमसेन** की इस – 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्र. (१।८) उक्ति से लेकर 'मन्थायस्तार्णवाम्भ (१।२२) तक उपन्यस्त किया गया है ।) यह बीज भी महाकार्य (अन्तिम फल) तथा अवान्तर कार्य (गौण फल) का हेतु होने के कारण अनेक प्रकार का है ।।

अवान्तरेति । महाकार्य (अर्थात् अन्तिम फल) को विवेचन हो चुकने पर अवान्तर बीज का दूसरा नाम बताते हैं –

. अवान्तरार्थ विच्छेदे अच्देदकारणम् बिन्दु **इत्यन्वयः** ।। १७ ।।

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ।। १७ ।।

यथा **रत्नावल्याम**वान्तरप्रयोजनानङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सत्य–नन्तरकार्यहेतु –'उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते । सागरिका – (श्रुत्वा) कह एसो सो उदयणणरिन्दो जस्स अहं तादेण दिण्णा ।' (कथमेष स ... ननरेन्द्रो यस्याहं तातेन दत्ता) (रत्ना० १ २३) इत्यादि । बिन्दुर्जले तैलबिन्दुवत्प्रसारित्वात् ।।

इदानीं पताकाद्य प्रसङ्गाद्व्युत्क्रमोक्त क्रमार्थमुपसंहरन्नाह

बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणा: ।

कारिकार्थ – अवान्तरेति । अवान्तर कथा (अवान्तरार्थ की) की समाप्ति पर प्रधान–कथा के साथ सम्बन्ध को यथावत् रखने वाली वस्तु, – अर्थात् प्रधान कथा के साथ सम्बन्ध को न टूटने देने वाली वस्तु – ही 'बिन्दु' है ।। १७ ।।

{यह बिन्दु इतिवृत्त को जोडता है और उसे आगे बढ़ाने का कारण भी होता है । संक्षेप में अवान्तर कथा के विच्छिन्न होने पर जो घटना उसे प्रधान कथा के साथ जोडने वाली होती है, उस जोड देने के हेतु को 'बिन्दु' कहते है ।}

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – **रत्नावली** नाटिका मे कामदेव की पूजा एक अवान्तर कथा है, पूजा समाप्त हो जाने पर (एक प्रकार से) इस कथा (पूजावृत्त) का कार्य समाप्त हो जाता है । और इसके पश्चात् मूलकथा रुक जाती है तथा कथा मे विशृङ्खलता आ जाती है । प्रधान इतिवृत्त को जोडने और उसके आगे के कार्य को गति देने वाला यह वैतालिको का कथन – ''समस्त राजागण कमल - कान्ति को नष्ट करने वाले तथा नेत्रों के आनन्द को बढ़ाने वाले महाराज उदयन के चरणों की आराधना की प्रतीक्षा मे सभाभवन मे पधार रहे हैं'' (१ । २३) वैतालिको के शब्दों को सुनकर **सागरिका** का यह कथन – ''तो क्या ये वे ही उदयन हैं जिनके लिये मैं पिताजी द्वारा दी गई हूँ'' इत्यादि । अवान्तर कथा–प्रसङ्ग को मूलकथा से जोड देता है । अत यह बिन्दु है । अवान्तर कथा को मूलकथा से जोडने वाली कडीरूप यह बिन्दु कथा मे आगे चलकर ठीक वैसे ही फैल जाता है जैसे तेल की बूंद जल मे सर्वत्र फैल जाती है । इसीलिए इस कारण को 'बिन्दु' कहा जाता है। वस्तुत बिन्दु एक प्रयोजन की सिद्धि होने के पश्चात् विशृङ्खल होते हुए कथांश को जोडकर आगे की ओर गतिशील करता है, और नाट्य मे ऐसे अवसर प्राय आते हैं । अत नाट्य मे अनेक बिन्दु होते हैं ।। १७ ।।

इदानीमिति । इसके पूर्व ग्रन्थकार ने 'पताका' और 'प्रकरी' का वर्णन क्रम के अनुसार नही किया था, अत उनका अब क्रम से विवेचन करते हैं –

ता बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणा एता पञ्च अर्थप्रकृतय परिकीर्तिता **इत्यन्वय:** ।। १८ ।।

कारिकार्थ – बीजेति । रूपक में बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य – ये पाँच अर्थप्रकृतियाँ होती हैं । ये पाँचो काव्य के प्रयोजन सिद्धि में कारण होती है । {इसके

अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः ॥ १८ ॥

अर्थप्रकृतय — प्रयोजनसिद्धिहेतव ॥

पूर्व बीज, बिन्दु, पताका और प्रकरी के विषय में बताया जा चुका है । कार्य:— जिस फल या साध्य की सिद्धि के लिए रूपक में समग्र सामग्री एकत्र की जाती है वह 'कार्य' कहलाता है } ॥ १८ ॥

परामर्श — नाट्यसाहित्य के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि रूपको मे केवल वह मूल कथानक ही नही होता जिसकी पॉच अवस्थाएँ होती हैं, वरन् उनमे मूल कथा से भिन्न कुछ ऐसे अश भी होते है जिनको मूल कथानक का आवश्यक विधायक अश नही माना जा सकता है।

स्वभावत इस प्रसङ्ग मे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मूल कथानक से भिन्न इन अशो को प्रदर्शित करने का नाटकीय प्रयोजन क्या है ? नाट्यशास्त्रकारो ने इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर दिया है। ये अश इष्टलक्ष्य की 'प्राप्ति' के साधन होते है। शास्त्रीय भाषा मे इनको अर्थप्रकृति अर्थात् लक्ष्य प्राप्ति के साधन कहा जाता है।। यत्रार्थ फल तस्य प्रकृतय उपाया फलहेतव इत्यर्थ (अभि० भा० १९—२०)।। ये अर्थ — प्रकृतियाँ या तो नायक के इष्टलक्ष्य की प्राप्ति मे सहायक होती है अथवा कथानक को नाटकीय रूप देने मे नाटककार के लिए साधनस्वरूप होती है। इस विषय मे **अभिनवगुप्त** ने इनकी अनिवार्यता को स्पष्ट रूप से कहा है। अर्थ प्रकृतियो का सप्रदर्शन नितान्त आवश्यक है, उनका अभिधान न होने पर उपाय आदि का स्वरूप ज्ञात नही हो सकेगा। जिसके फलस्वरूप प्रारम्भ, यत्नादि अवस्थाओ की याथातथ्येन प्रतीति न होगी और अन्तत आधिकारिक इतिवृत्त का ज्ञान ही नही हो सकेगा ।

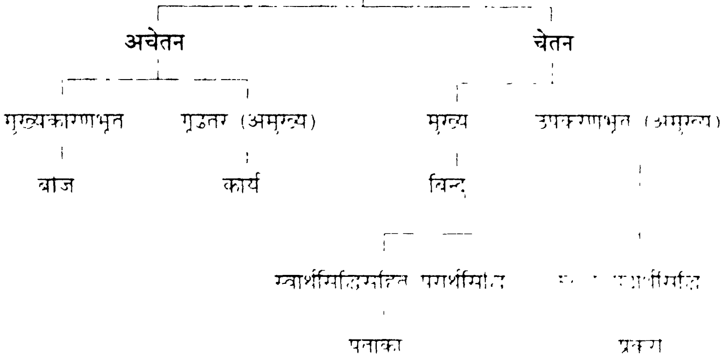
॥ तदनभिधाने उपायादिस्वरूपापरिज्ञानात् प्रारम्भाद्यवस्थाना परमार्थतोऽसवेदने आधिकारिकत्वमविदित स्यात्॥ (अभि० भा० १९—२०)

अर्थ प्रकृतियो का तार्किक विश्लेषण करते हुए **अभिनवगुप्तपाद** ने इन पॉच उपायो के दो भेद किये है — जड़ और चेतन। जड भी दो प्रकार के — मुख्यकारणभूत और गूढतर (अमुख्य)। जहॉ क्रम से मुख्यकारणभूत उपाय को 'बीज' तथा 'गुढतर' को 'कार्य' कहते हैं। बीज नाटक के इतिवृत्त का उपाय है, यह मुख्य है क्योकि यही क्रमश अकुरित पल्लवित होकर फलरूप मे परिणत होता है। आमुख मे शैलूष बीजभूत उक्तियो का कथन करता है तत्पश्चात् मुख्य कथा का समर्थ पात्र उसकी पुनरावृत्ति करता है। यह कथा का वह वृत्तवैचित्र्य है जो घटनाओ के सघात से मुख्य पात्र के सम्मुख किसी के द्वारा उपस्थित कर दिया गया होता है। वह प्रयत्न पूर्वक किया हुआ पात्र विशेष का कार्य न होने से उसे अचेतन माना जाता है।

चेतन उपाय भी दो प्रकार के है — मुख्य और उपकरण भूत (अमुख्य और उपकरणभूत दो प्रकार के —स्वार्थसिद्धि सहित परार्थ सिद्धि तथा शुद्धा (केवल परार्थसिद्धि) । जहॉ क्रम से मुख्य उपाय 'बिन्दु' है। स्वार्थ सिद्धि सहित परार्थ सिद्धि 'पताका'. तथा केवल परार्थसिद्धि प्रकरी है। पताका, प्रकरी और बिन्दु चेतन उपाय हैं।

इनमे भी बिन्दु मुख्य होता है। नाटक का घटना प्रवाह जब विस्खलित होने लगता है, तब नाटककार नायक, प्रतिनायक, सहकारी आदि पात्रों की सहायता से उसे अभीष्ट दिशा की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है। इस हेतु यह सम्पूर्ण कथा मे वर्तमान रहता है। पताका, प्रकरी तथा बिन्दु कवि को अभीष्ट लक्ष्य की ओर ले जाने वाले साधन है इस हेतु इन्हे चेतन कहा जाता है।

निम्नलिखित सारणी से अर्थप्रकृतियों का स्वरूप परिज्ञान हो जाएगा



।। तत्र जडचेतनतया द्विधाकरणम्, जडश्च मुख्यकारणभूतः गुणतरो वा, आद्यं बीजं द्वितीयं कार्यं करणीयं प्रयोक्तव्यमित्यर्थः। चेतनोऽपि द्विधा मुख्य उपकरणभूतश्च, अन्योऽपि द्विधा। स्वार्थ सिद्धिसहितया परार्थसिद्ध्या युक्तः शुद्धयापि च। तत्राद्यो बिन्दुः द्वितीयः पताका तृतीयः प्रकरी ।। (अभि भा० १९, २१)

अर्थप्रकृति के अर्थ का विवेचन करते हुए **धनिक** ने इन्हे (नाटक के नायक की) प्रयोजन सिद्धि के हेतु -- **'प्रयोजनसिद्धिहेतवः--'** कहा है । कुछ विद्वानों को इस परिभाषा पर शङ्का होती है । वे कहते हैं – अर्थप्रकृतियाँ पाँच है -- बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य । इनमे प्रथम चार अर्थप्रकृतियाँ तो प्रयोजनसिद्धि के हेतु के रूप मे मानी जा सकती है, किन्तु पाँचवी अर्थप्रकृति जो 'कार्य' कही गई है, वह प्रयोजन सिद्धि की हेतु कैसे हो सकती है? क्योंकि 'कार्य' नामक अर्थप्रकृति स्वय प्रयोजन है, ऐसी स्थिति मे 'प्रयोजन' स्वय उसी का सिद्धि हेतु कैसे बन सकता है ।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि आचार्यो ने इन पाँच अर्थप्रकृतियो मे से केवल तीन अर्थप्रकृतियो – बीज, बिन्दु तथा कार्य– को ही आवश्यक माना है । उनके विचार मे 'पताका' और 'प्रकरी' का सभी रूपकों मे रहना आवश्यक नही है । क्योंकि जिस रूपक के नायक को अपने प्रयोजन की सिद्धि मे सहायक की आवश्यकता नही होती, वहाँ पताका और प्रकरी भी नही होती ।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार रूपक का नायक सहायतापेक्षी हो अथवा सहायतानपेक्षी हो, प्रासङ्गिक वृत्त की योजना की गयी हो या न की गयी हो, कार्य

अन्यदवस्थापञ्चकमाह –

अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ॥१९ ॥

यथोद्देश लक्षणमाह –

की योजना आवश्यक है, क्योंकि सैन्य–दुर्ग–कोष आदि साधन वर्णन के अभाव मे कार्यारम्भ की सफलता का अभिव्यञ्जन सभव नही ।

भरतोक्त कार्यस्वरूप की विवेचना करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है कि – जिस उद्देश्य विशेष की दृष्टि मे प्रधान–नायक, पताकानायक और प्रकरी–नायक का कार्य व्यापार चला करता है, उसके लिये जो भी आवश्यक साधन समुदाय है वह सब 'कार्य' रूप अर्थप्रकृति के अन्तर्गत रहा करता है । प्रधान उपाय तो 'बीज' है, किन्तु उसका सहायक जो भी उपाय है वह सब 'कार्य' रूप ही है (कार्यते फलमिति कार्यम्) इस प्रकार रूपककार द्वारा 'बीज' रूप से निक्षिप्त इतिवृत्त की सफलता के लिए नियोजित जो भी वृत्त–वैचित्र्य है, वह सब कार्य रूप ही है ।

प्राज्ञै प्रधाननायक पताकानायक प्रकरीनायकै चेतनरूपै यद्वस्तु फल रूप प्रयुज्यते सम्पाद्यते सपाद्यत्वेन अनुसधीयते तत्फल प्रयोजनो य सम्पूर्णतादायी पूर्वपरिग्रहीतस्य प्रधानस्य बीजाख्योपायस्य फलम्, सर्वोऽर्थ यस्य सहकारी तत्कार्यमित्युच्यते, चैतनै कार्यते फलमिति व्युत्पया ॥ (१९–२६) अभि० भा०

इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि सम्पाद्यमान फल को प्राप्त करने मे चेतन का जो ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, क्रिया रूप जो आरम्भ है उसे कार्य कहते है । **अभिनव गुप्त** ने एक स्थान पर स्पष्ट कहा है कि 'चेतनै कार्यते फलम्' अर्थात् चेतन विशिष्ट नायको द्वारा फल प्राप्ति हेतु किया गया आरम्भ ही कार्य है। क्योंकि कृति (क्रिया) चेतन निष्ठ ही होती है ॥ १८ ॥

कार्य की पाँच अवस्थाएँ –

अन्यदिति । पॉच अर्थप्रकृतियो का निर्देश कर चुकने के पश्चात् अब ग्रन्थकार (नाटक की) कार्य की पॉच अवस्थाओं का विवेचन करते हैं –

फलार्थिभि प्रारब्धस्य कार्यस्य आरम्भयत्न–प्राप्त्याशा नियताप्तिफलागमा पञ्च अवस्था **इत्यन्वयः** ॥ १९ ॥

कारिकार्थ – अवस्था इति । (निर्धारित) लक्ष्य की सिद्धि चाहने वाले नायकादि द्वारा अपने अभीष्ट फल–प्राप्ति के लिए जो कार्य–प्रपञ्च किया जाता है, उसकी पाँच अवस्थाएँ होती है – १. आरम्भ, २. यत्न, ३. प्राप्त्याशा, ४. नियताप्ति और ५. फलागम ॥ १९ ॥

{इन्हें ही अग्रेजी मे – Action, Reaction, Climax, Anticlimax और Conclusion इन शब्दों के द्वारा जाना जाता है }॥ १९ ॥

· **यथोद्देशमिति ।** उपर्युक्त कार्य की पॉच अवस्थाओ मे से सर्वप्रथम **'आरम्भ'** नामक कार्य की अवस्था का लक्षण बताते हैं –

औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे ।

'इदमहं सम्पादयामीत्यध्यवसायमात्रमारम्भ इत्युच्यते, यथा **रत्नावल्याम्**— 'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे । इत्यादिना सचिवायत्तसिद्धेर्वत्सराजस्य कार्यारम्भो यौगन्धरायणमुखेन दर्शित ॥

भूयसे फललाभाय औत्सुक्यमात्रम् आरम्भ **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ — औत्युक्यमिति । महान् फल प्राप्ति के लिए (हृदय मे उत्पन्नमात्र) उत्सुकता ही आरम्भ है ॥

वृत्त्यर्थ — इदमहमिति । 'मै इसे करूँगा ।' — इस प्रकार का निश्चय ही 'आरम्भ' कहलाता है । इस प्रकार इष्टसिद्धि की प्राप्ति के प्रति हृदय मे उत्पन्न तीव्र उत्कण्ठा ही आरम्भ है । { यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'आरम्भ' मन का व्यापार है, शरीर का नही ।} जैसे **रत्नावली नाटिका** मे — ''स्वामी के अभ्युदय के लिये जो कार्यारम्भ किया गया है, उसमे भाग्य ने इस तरह मदद की है '' आदि कथन के द्वारा वत्सराज उदयन के उस कार्यारम्भ की सूचना यौगन्धरायण के मुख से दिखाई गई है, जिस (कार्य की सिद्धि) की सफलता सचिव के अधीन है । क्योकि उदयन 'सचिवायत्त–सिद्धि' राजा है, अर्थात् उदयन धीर ललित नायक होने से उसकी सिद्धि सचिव के भरोसे होती है (यहाँ सचिव यौगन्धरायण ने उदयन—रत्नावली मिलन रूप फल के प्रति उत्सुकता व्यक्त की है ।) ॥

परामर्श — अभिनवगुप्त कहते है —

॥ महत प्रधानभूतस्य फलस्य युज्यमानस्य तत्तन्नायकोचितस्य यद्बीजमुपायसम्पत् तस्य यदौत्सुक्यमात्र तद्विषयस्मरणोत्कण्ठानुरूप, अनेनोपायेनैतत् सिद्ध्यतीति, तस्य बन्धोहृदये निरूढि प्रारम्भ । सा च नायकस्य अमात्यस्य नायिकाया प्रतिनायकस्य दैवस्य वा ॥ (अभि० भा० १९–९)

अर्थात् — वह परिस्थिति जिसमे पारलौकिक शक्तियों के अनुग्रह अथवा निजी चेष्टाओ से नायक के परमलक्ष्य की सिद्धि के लिए साधन प्राप्त किए जा चुके है, अथवा वह परिस्थिति जिसमे परमलक्ष्य को प्राप्ति के साधनो को प्राप्त नही किया गया है। प्रथम परिस्थिति मे नाटकीय कार्य का आरम्भ साधनो के पुन सगठित अथवा उनका स्मरण करने से, इष्ट साध्य की प्राप्ति मे वे साधन इष्टसिद्धि तक ले जाने वाले है अथवा नही यह निश्चित करने मे तथा परिणामस्वरूप उनको प्रयुक्त करने के सङ्कल्प से होता है। द्वितीय परिस्थिति के आरम्भ मे, अर्थात् जिसमे साधन प्राप्त नही हैं, उनको जानने के लिये मानसिक चेष्टा प्रदर्शित की जाती है, अथवा 'इस साधन से यह कार्य सम्पन्न होगा' इत्याकारक उन साधनो मे साध्य प्राप्ति कराने की शक्ति का निश्चय हो जाने के उपरान्त उनको प्राप्त करने की चिन्ता प्रकट की जाती है।

यह आवश्यक नही है कि नाटक का प्रारम्भ सदैव नायक ही करे। इस विषय मे **दशरूपकार धनञ्जय** ने कोई भी व्यवस्था नही दी है, तथापि धनिक ने अमात्य मुख से प्रारम्भ की सूचना अवश्य दी है। परन्तु इस विषय में **अभिनव गुप्त**

अथ प्रयत्नः –

प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ।। २० ।।

तस्य फलस्याप्राप्तावुपाययोजनादिरूपश्चेष्टाविशेष प्रयत्न । यथा **रत्नावल्यामा**लेख्याभिलेखनादिर्वत्सराजसमागमोपाय – 'सागरिका–तहावि णत्थि अण्णो दसणउवाओ त्ति जहा तहा आलिहिअ जहासमीहिअ करिस्सम् ।' (तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा–तथालिख्य यथासमीहित करिष्यामि ।) इत्यादिना प्रतिपादित ।।

ने पात्रों की गणना मे स्थिति को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है। उनका कहना है कि अपनी प्रारम्भिक परिस्थिति के अनुरूप नाटक का प्रारम्भ केवल नायक राजा अथवा राजमंत्री मे नही अपितु नायिका, प्रतिनायक अथवा दिव्यप्राणी मे भी किया जा सकता है ।।

अथेति । अब **'प्रयत्न'** का विवेचन करते हैं –

तदप्राप्तौ अतित्वरान्वित व्यापार तु प्रयत्न **इत्यन्वयः** ।। २० ।।

कारिकार्थ – प्रयत्नस्त्विति । (हृदय मे) जिस फल को प्राप्त करने की उत्सुकता उत्पन्न हुई थी, उसकी प्राप्ति न होने पर, उसे प्राप्त करने के लिए और अधिक उत्सुक होकर, अत्यधिक तेजी के साथ कार्य का प्रारम्भ करना 'प्रयत्न' कहलाता है ।। २० ।।

वृत्त्यर्थ – तस्येति । अर्थात् अभीष्ट फल प्राप्त न होने पर, तदर्थ विशेष योजनाबद्ध व्यापार या कार्य प्रपञ्च, आदि प्रयत्न है । इसमे रूपक का नायक या नायिका अपने अभिष्ट वस्तु को प्राप्त करने के (विविध) व्यापार मे सलग्न रहते हैं । जैसे – **रत्नावली नाटिका** मे उदयन से समागम के लिए उत्सुक सागरिका उसे प्राप्त करने के उपाय रूप मे उदयन के चित्र का आलेख तैयार करती है । "उन्हे देखने का कोई दूसरा मार्ग नही है, अत जैसे–तैसे चित्र उतारकर ही देखूँगी ।" – इत्यादि सागरिका के (कथन के) द्वारा 'प्रयत्न' की सूचना दी गई है । रामचरित सम्बन्धी रूपक–प्रबन्धो मे समुद्रसेतुबन्धन आदि व्यापार प्रयत्न ही हैं ।। २० ।।

परामर्श – यत्न नाटक के नायक को ही करना पडता है। यह यत्न अत्यन्त शीघ्र इष्टसिद्धि के एक मात्र उपाय को जानने की चेष्टा एव सम्पूर्ण शक्ति से उसका अनुसरण करना मात्र ही है। अर्थात् उस फल की प्राप्ति को न देखते हुए, उस फल के प्रति बडी उत्सुकता के साथ (नायक का) जो उपाय, योजनायुक्त व्यापार या चेष्टा होती है, वह प्रयत्न कहलाती है – ।। तदुपायव्यतिरेकेण फलप्राप्तिमपश्यत फलदर्शनमसभाव्यमान विवेचयत फलमुद्दिश्य यो व्यापार उपायविषयपरमौत्सुक्य–गमनलक्षण, तेन विनेद फल न भवति तस्मात् स एवोपायोऽन्वेष्य इत्युपायविषय–स्मरणेच्छासन्तानस्वभाव , स प्रयत्न ।। (अभि० भा० १९–१०) ।।

भावप्रकाशनकार **शारदातनय** का भी यही मन्तव्य है – ।। अपश्यत फलप्राप्ति यो व्यापार फल प्रति । पर चौत्सुक्यगमन स प्रयत्न प्रकीर्तित ।। (भा० प्र० ७।१६६) ।।

प्राप्त्याशामाह –

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसंभवः ।

उपायस्यापायशङ्कायाश्च भावादनिर्धारितैकान्ता फलप्राप्तिः प्राप्त्याशा । यथा **रत्नावल्यां** तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्ताभिसरणादौ समागमोपाये सति वासवदत्तालक्षणापायशङ्काया – 'एव जदि अआलवादावली विअ आअच्छिअ अण्णदो ण णइस्सदि वासवदत्ता ।' ('एवं यदि अकालवातालीवागत्यान्यतो न नेष्यति वासवदत्ता ।') इत्यादिना दर्शितत्वादनिर्धारितैकान्ता सागरिकासमागमप्राप्तिरुक्ता ।।

जैसे **रत्नावली** नाटिका में–जब कोई भी उपाय सागरिका को ऐसा नहीं मिलता है जिससे वह राजा उदयन को प्रत्यक्ष देख सके तो वह निश्चय करती है कि वह स्वयं अपने प्रिय का चित्रण एक चित्र में करे और इस प्रकार अपना दर्शन लालसा को तृप्त करे। यही नाटक के कार्य की द्वितीय अवस्था **यत्न** है।

प्रयत्न नामक अवस्था में दो बातें विशेष होती हैं– प्रथम यह कि इसमें अभीष्ट वस्तु प्राप्त करने के लिए काम किया जाता है और द्वितीय यह कि इसमें उत्सुकता की चरमावस्था होने के कारण काम की गति में तीव्रता होती है ।। २० ।।

प्रप्त्याशामिति । ग्रन्थकार अब कार्य की तीसरी अवस्था **'प्राप्त्याशा'** का लक्षण बताते हैं --

उपायापायशङ्काभ्याम् प्राप्तिसम्भवः प्राप्त्याशा **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – उपायेति। जहाँ उपाय (फलप्राप्ति साधन) तथा विघ्न (फलनाश) की आशङ्का के कारण फल प्राप्ति के सम्बन्ध में कोई दृढ निश्चय नहीं हो पाता, फलप्राप्ति की सभावना उपाय तथा विघ्न (की आशङ्का) दोनों में दोलायमान रहती है, वहाँ 'प्राप्त्याशा' नामक अवस्था होती है ।।

वृत्त्यर्थ – उपायेति । अर्थात् जहाँ फल प्राप्ति की सभावना तो रहती है, किन्तु वह अपाय (विघ्न) तथा उपाय दोनों की आशङ्काओं में घिरी रहती है । (ऐकान्ता अर्थात् फलप्राप्तेरवश्यम्भावः फल प्राप्ति की अवश्य भाविता) इस अवस्था में फलप्राप्ति होने के लक्षणों के रहने से फलप्राप्ति की सम्भावना तो लक्षित होती है, किन्तु विघ्न की उपस्थिति के कारण (फलप्राप्ति की सम्भावना) निश्चित नहीं हो पाती । जैसे – **'रत्नावली'** नाटिका में वेष बदलकर उदयन के साथ मिलन के लिए सागरिका के तत्पर रहने पर भी विदूषक द्वारा वासवदत्तारूप विघ्न की सभावना को इस कथन 'ठीक तो है, अगर असमय की आँधी बनकर देवी वासवदत्ता न आ जाय ।' में अनिश्चित मिलन को व्यक्त किया गया है । इस प्रकार यहाँ महाराज उदयन से समागम की प्राप्ति अनिश्चित सी है । विदूषक की उक्त उक्ति से नायक उदयन तथा सहृदय दर्शकों को यह सन्देह हो जाता है कि कहीं फलप्राप्ति में कोई विघ्न न आ जाँय ।।

परामर्श – 'यत्न' नामक अवस्था ही नाटक के समस्त पात्रों को दो वर्गों में विभक्त कर देती है। १ प्रथम वर्ग में वे व्यक्ति होता है जो लक्ष्य सिद्धि में नायक

नियताप्तिमाह –

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ।। २१ ।।

अपायाभावादवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति ।।

के सर्वथा सहयोगी होते हैं। तथा २ द्वितीय वर्ग मे वे पात्र होते है जो नायक की लक्ष्य सिद्धि मे बाधा उत्पन्न करते हैं। अतएव नाटकीय कार्य की तीसरी अवस्था अर्थात् प्राप्त्याशा मे दो विरोधी दलो के परस्पर सघर्ष को प्रदर्शित किया जाता है। यदा कदा कथानक की गति से यह ज्ञात होता है कि नायक के लक्ष्य की सिद्धि अत्यन्त निकट है, परन्तु मार्ग मे ऐसी बाधाएँ आती हैं जिनके कारण लक्ष्य की सिद्धि कभी सुदूर और कभी असम्भव ज्ञात होने लगती है। कार्य की इस अवस्था मे नायक को प्राप्त साधनो की सहायता से उत्पन्न सफलता की आशा से परिपूर्ण प्रदर्शित किया जाता है परन्तु इस आशा मे विफलता का भय भी मिश्रित रहता है क्योंकि विरोधी दल का अस्तित्व बना रहता है जो बहुधा नायक अथवा नायिका की सभी चेष्टाओ को विफल बनाने का प्रयास अपनी पूर्णशक्ति से निरन्तर किया करता है।

इस प्रकार नाटकीय कार्य की तृतीयावस्था को दो दृष्टिकोणो से देखा जा सकता है – **क**–कार्य एव **ख**–भाव। कार्य के दृष्टिकोण से यह अवस्था दो परस्पर विरोधी दलो का सघर्ष है जिसमें एक की विजय का अर्थ दूसरे की पराजय है। भाव के दृष्टिकोण से कार्य की यह वह अवस्था है जिसमें नायक अथवा नायिका के अन्त करण मे लक्ष्यसिद्धि की आशा का सचार इसलिए होता है क्योंकि इष्टसिद्धि के साधन ज्ञात हो जाते हैं। परन्तु इस आशा में विफलता का भय भी रहता है क्योंकि विरोधी वर्ग का भान भी रहता है। इस प्रकार यह संभावना योग्य और असभावना विशिष्ट नायक की तृतीय अवस्था है –

।। उपायमात्रेण लब्धेन यदा कदाचित् विशिष्टफलप्राप्तिरीषत् कल्प्यते सभावनामात्रेण स्थाप्यते न तु निश्चीयते तदा प्राप्ते सभव । सभावना योग्यत्वमसभावना विशिष्टत्व नाम तृतीया कर्तुरवस्था। (अभि० भा० १९–११) ।।

नाट्यदर्पणकार के विचार मे रूपक – प्रबन्धो मे जो प्राप्त्याशा की योजना की जाती है, वह नायक चरितो के अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व की ही अभिव्यक्ति है ।

नियताप्तिमाह । अब क्रमप्राप्त चतुर्थ अवस्था **'नियताप्ति'** को कहते है –

अपायाभावत सुनिश्चता प्राप्ति नियताप्ति **इत्यन्वयः** ।। २१ ।।

कारिकार्थ – अपायेति। विघ्नो के अभाव के कारण (जब इष्टफल की) प्राप्ति पूर्ण निश्चित हो जाती है, तब 'नियताप्ति' नामक अवस्था होती है ।। २१ ।।

वृत्त्यर्थ – अपायेति। अपाय अर्थात् विघ्न तत्त्वो का अभाव होने पर फल प्राप्ति जहाँ एकान्त अर्थात् अवश्यम्भावी हो वहाँ **'नियताप्ति'** नामक अवस्था होती है ।

{इसमें उपायों के करने से जब विघ्नबाधाये हट जाती हैं और नायक को विश्वास हो जाता है कि अब अभीष्ट फल प्राप्ति होगी । तब कार्य की चौथी दशा होती है ।}

यथा **रत्नावल्याम्** – 'विदूषक· – सागरिका दुक्कर जीविस्सदि' ('सागरिका दुश्कर जीविष्यति'।) इत्युपक्रम्य 'किं ण उपाय चिन्तेसि ।' ('किं नोपाय चिन्तयसि') इत्यनन्तरम् 'राजा – वयस्य। देवीप्रसादन मुक्त्वा नान्यमत्रोपाय पश्यामि ।' इत्यनन्तरा–ङ्कार्थबिन्दुनानेन देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियता फलप्राप्ति सूचिता ।।

फलयोगमाह –

समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः ।

यथेति। जैसे – **रत्नावली नाटिका** मे – **विदूषक** – 'सागरिका का जीवित रहना कठिन हो जायगा वह राजा से पूछता है – 'क्यो नही (उसे मुक्त करने का कोई) उपाय सोचते हो !' इसके उत्तर मे **राजा** कहता है कि – 'मित्र। देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं देख रहा हूँ ।' यहाँ अग्रिम अङ्क (चतुर्थ) की घटना के बिन्दु के रूप मे, महारानी वासवदत्ता के प्रसादन के द्वारा वासवदत्ता जनित विघ्न के दूर हो जाने मे निश्चित फल – प्राप्ति की सूचना दी गई है ।। २१ ।।

परामर्श – प्राप्त्याशा के प्रसङ्ग मे यह ज्ञात हो चुका है कि विरोधी वर्ग की जागरूकता एवं क्रियाशीलता के कारण नायक अथवा नायिका की लक्ष्यसिद्धि के मार्ग में अनेक आपदाएँ उत्पन्न होती हैं। इससे स्वभावत· होता यह है कि नायक, नायिका अथवा उनके सहायक लक्ष्यसिद्धि के नवीन सम्भावित उपायों का अन्वेषण करते हैं और उन सभी विरोधों अथवा आपदाओं को नष्ट करने के लिए उपलब्ध साधनों का प्रयोग करना आरम्भ कर देते हैं जो उनके मार्ग में बाधा स्वरूप होकर आए हैं ।

अवरोध के अभाव का अर्थ यह नही है कि अवरोध के नष्ट होते ही मिलन हो जाय अथवा लक्ष्य की सिद्धि सम्पन्न हो जाय। ऐसा करना अनाटकीय होगा। विरोध के दूरीकरण से लेकर वास्तविक लक्ष्यसिद्धि तक नाटक के अंश में कथानक के अस्फुट अथवा रहस्यमय भागों की अस्फुटता और रहस्यमयता को दूर किया जाता है।

'अपायाभावात् निश्चिता प्राप्ति ' का अर्थ विघ्न के निराकरण मे निर्धारित फलप्राप्ति का अभिप्राय है । नाट्यदर्पणकार इस विषय मे कहते हैं –

'नियताप्तिरूपायाना साकल्यात् कार्यनिर्णय ।' (नाट्यदर्पण १ विवेक)

नियताप्ति मे फलप्राप्ति होने का निश्चय हो जाता है । सन्देह निवारण हो जाता है, इसके विपरीत प्राप्त्याशा मे उपाय और विघ्न दोनो ही रहते हैं, इसलिए फलप्राप्ति की केवल सभावना ही लक्षित होती है । नियताप्ति मे सम्पूर्ण विघ्न–बाधाएँ हट जाती हैं और फल प्राप्ति निश्चित होती है ।। २१ ।।

समग्रफलसम्पत्ति यथोदित फलयोग भवति **इत्यन्वयः** ।।

फलयोगमिति । अब ग्रन्थकार **फलागम** को बतलाते हैं –

कारिकार्थ – समग्रेति। सम्पूर्ण फल की प्राप्ति को 'फलयोग' (फलागम) कहते हैं । {ग्रन्थकार ने 'फल' के साथ 'समग्र' विशेषण जोड़ दिया है । इसका अर्थ यह है कि इस (पाँचवी) अवस्था में फल की पूर्णरूप से प्राप्ति होनी चाहिए । फल प्राप्ति में – लक्ष्य

यथा **रत्नावल्यां** रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिरिति ।

की पूर्ति में– कोई रूकावट नहीं होनी चाहिए । इसलिए इस अन्तिम दशा का अन्वर्थक नाम 'फलागम' है (फल का आगम अर्थात् प्राप्ति)}।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे कि **रत्नावली** नाटिका मे महाराज उदयन को रत्नावली की प्राप्ति मे चक्रवर्ती–पद का लाभ – **'फलागम'** है ।।

परामर्श – रत्नावली नाटिका मे – महान् फल की प्राप्ति के लिए **'आरम्भ'** नाम की दशा – स्वामी के चक्रवर्ती–पदरूप अभ्युदय के लिये मैं (यौगन्धरायण) कार्य करूँगा – यह **उत्सुकता** सचिव – यौगन्धरायण के हृदय मे उत्पन्न हुई है, और उसी ने कार्य की दशाओ मे फलप्राप्ति के लिए सघर्ष किया है । तथापि 'फलयोग' नायक को ही प्राप्त हुआ है । क्योंकि सचिवादि नायक के प्रयोजन के लिए ही कार्य करते हैं ।

अवस्था – पञ्चक की मनोवैज्ञानिकता –

रूपको (नाटकों) के इतिवृत्तों मे पूर्वोक्त पॉच अवस्थाएँ होती हैं– आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम नाटयग्रन्थोक्त कार्य की दशा का यह विश्लेषण नितान्त व्यावहारिक तथा गभीर मनोवैज्ञानिकता का पर्याप्त सूचक है । इन पॉचो दशाओ के विश्लेषण से ज्ञान होता है कि मानव को जीवन मे अपने निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचने के लिए विविध विरोधी दशाओ – घटनाओ के साथ जोर – शोर से सघर्ष करना पडता है । वह सरल रीति से अपने अभीष्ट लक्ष्य तक नही पहुँच सकता, अपितु मार्ग मे आने वाले अवरोधको को उसे नष्ट करना पड़ता है । यह सघर्ष – विरूद्ध घटनाओं का परस्पर टकराना, तथा अपना वर्चस्व स्थापित करने का भाव – नाटक की कथा–वस्तु मे नितान्त महत्वपूर्ण तत्त्व है । यह संघर्ष बाह्य घटनाओ मे होने पर अत्यन्त स्थूल होता है, परन्तु पात्रो के मानसिक वृत्तियो मे भी जब द्वन्द्व – सघर्ष – (दो विरोधी विचारों का) दृष्टिगोचर होता है, तब वह सूक्ष्म रूप धारण करता है । यह द्वन्द्व – संघर्ष – दो परस्पर विरोधी विचारो का या स्थितियों का हो सकता है । सघर्ष जितना भी सूक्ष्म होगा, वह नाटक भी उतना ही प्रभावशाली, हृदयावर्जक तथा प्रख्यात होगा । दर्शक **'युद्धस्य कथा रम्या'** के सिद्धान्तानुसार ऐसे रूपकों में अधिक रस ग्रहण करता है । **कालिदास** तथा **भवभूति** के नाटकों की प्रसिद्धि का यही कारण है **'अभिज्ञान शाकुन्तल'** में कालिदास ने काम तथा धर्म की, कर्त्तव्य तथा स्नेह का परस्पर संघर्ष अङ्कित किया है । तथा अन्त में धर्म की विजय होने में नाटक का महत्त्व और औदार्य परिस्फुटित हुआ है ।

'अर्थप्रकृति' और 'अवस्थापञ्चक' में अन्तर –

'अर्थ – प्रकृति' के साथ 'अवस्थापञ्चक' की तुलना करने पर दोनो के रूपों में भेद स्पष्ट ज्ञात होता है । अर्थप्रकृति नाटक की कथा–वस्तु से सम्बन्ध रखती है । एक प्रकार से यह भौतिक विभाजन है । अर्थप्रकृतियों के आधार पर ही नाटक रूप ग्रहण करता है इन्हीं के होने पर रूपक का ढाँचा निर्मित होता है । इसके विपरीत

सन्धिलक्षणमाह –

अर्थप्रकृतय: पञ्च पञ्चावस्थासमन्विता: ।। २२ ।।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्या: पञ्च संधय: ।

अर्थप्रकृतीना पञ्चाना यथासख्येनावस्थाभि पञ्चभिर्योगात् यथासङ्ख्यनैव वक्ष्यमाणा मुखाद्या पञ्च सन्धयो जायन्ते ।।

अवस्थापञ्चक का सम्बन्ध नायक की मानसिक दशा मे होता है । कार्य की सिद्धि के लिए नायक की मानसिक प्रवृत्ति का विश्लेषणात्मक चित्र इस 'अवस्था–पञ्चक' मे अङ्कित किया गया है । सक्षेप मे – अर्थ प्रकृति नाटकीय इतिवृत्त का भौतिक विभाजन (Physical division) है और अवस्था पञ्चक नायक की मानसिक दशा की दृष्टि से वस्तु का मनोवैज्ञानिक विभाजन (Psychological division) है ।

यहाँ एक तथ्य अविस्मरणीय है कि प्रत्येक नाटक मे कार्य की पाँच अवस्थाओ की भाँति उपर्युक्त पाँच अर्थप्रकृतियो का वर्तमान होना आवश्यक नही है। इस हेतु विभिन्न नाटको मे केवल उतनी ही अर्थ प्रकृतियाँ विद्यमान होती हैं जितनी नायक की लक्ष्यसिद्धि मे आवश्यक है। अत: जिन नाटको मे लक्ष्यसिद्धि को प्राप्त करते हुए नायक को बिना किसी सहयोगी के स्वतत्ररूप मे प्रदर्शित करते हैं उनमे पताका एव प्रकरी नामक अर्थ प्रकृतियाँ अनावश्यक होती हैं। परन्तु बीज, बिन्दु तथा कार्य रूप अर्थ प्रकृतियो का प्रत्येक नाटक मे वर्तमान होना परमावश्यक है –

।। न सर्वत्र प्रारम्भादिवत् सर्वा अर्थप्रकृतयोऽपि। अपितु यस्य नायकस्य येनार्थप्रकृतिविशेषेण प्रयोजनसपत्तिरधिका तदेव प्रधानम्। बीजबिन्दुकार्याणि तु सर्वत्रानपायीनि ।। (अभि० भा० १९–२७) ।।

सन्धिलक्षणमिति । अब ग्रन्थकार **'सन्धि'** का लक्षण बताते हैं –

{ग्रन्थकार यहाँ सन्धियो की सङ्ख्या मात्र या व्युत्पत्ति बतला रहे हैं । इन सन्धियो का लक्षण आगे बतलायेगे ।}

पञ्च अर्थप्रकृतय यथासङ्ख्येन पञ्चावस्थासमन्विता मुखाद्या पञ्च सन्धय जायन्ते **इत्यन्वय:** ।। २२–२३ ।।

कारिकार्थ – अर्थप्रकृतय इति। (इसके पूर्व वर्णित) पाँच अर्थप्रकृतियाँ और कार्य की पाँचों अवस्थाओं के क्रमश: परस्पर मिलने से पाँच सन्धियों की रचना होती है ।। २२–२३ ।।

वृत्त्यर्थ – अर्थेति । बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य – इन पाँच अर्थप्रकृतियों का क्रमश आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति एवं फलागम – इन पाँच अवस्थाओं के साथ संयोग (मिलन) होने पर **मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श,** और **उपसंहृति** नाम की सन्धियों की रचना होती हैं ।। २२–२३ ।।

परामर्श – पञ्च सन्धियाँ – इसे इस प्रकार समझा जा सकता है – बीज तथा आरम्भ को मिलानेवाली सन्धि को **'मुखसन्धि'** कहते हैं, बिन्दु तथा यत्न को

मिलानेवाली सन्धि **'प्रतिमुख'** कहलाती है, पताका एव प्राप्त्याशा मिलकर **'गर्भ सन्धि'** होती है । इनमे 'पताका' की आवश्यकता सर्वत्र नही रहती, कही वह रहती है और कही नही भी, किन्तु प्राप्त्याशा का होना एकदम निश्चित है । इसमें फल छिपा रहता है और इसीलिए इमे **'गर्भसन्धि'** कहते हैं । प्रकरी एव नियताप्ति के मेल से **'विमर्श—सन्धि'** बनती है । विमर्श का अर्थ है विचार करना । इसमे फलप्राप्ति की पर्यालोचना की जाती है । इसीलिए इसका अन्वर्थक नाम है **'विमर्श'** । इस सन्धि मे नियताप्ति और प्रकरी का योग तो अपेक्षित होता है, किन्तु प्रकरी की स्थिति वैकल्पिक है । जहाँ कार्य तथा फलागम परस्पर मिलते हैं अर्थात् लक्ष्य की अथवा प्रयोजन की पूर्ण सिद्धि हो जाती है, वहाँ **'निर्वहण'—सन्धि** होती है । यहाँ यह ध्यातव्य है कि उक्त – अवस्था और अर्थ प्रकृति – सयोग प्रधानरूप से समझना चाहिए, इनका संयोग होना आवश्यक नही है । जहाँ पताका की स्थिति होती है, वहाँ पताका और प्राप्त्याशा के सयोग मे 'गर्भसन्धि' का निर्माण होता है । और जहाँ पताका न हो वहाँ 'प्राप्त्याशा' मात्र भी गर्भसन्धि होती है ।

सन्धियो का पर्यालोचन करने से ज्ञात होता है कि मुख मे कार्य आरम्भ होता है, वह प्रतिमुख मे बढता है, गर्भ में उत्कर्ष को प्राप्त होता है, तथा निर्वहण मे वह समग्र सिद्धि को प्राप्त करता है । तात्पर्यार्थ यही है कि मुखसन्धि मे निहित बीज ही अन्तिम सन्धि मे फल के रूप मे परिणत हो जाता है, परन्तु बीज को अङ्कुरित, तथा विकसित, पल्लवित तथा पूर्ण परिणत होने मे, मध्यमार्ग मे आनेवाली तीन सन्धियों के बीच से गुजरना नितान्त आवश्यक होता है । तभी उस बीज का पूर्ण विकास होता है । पञ्चसन्धि की कल्पना का यही रहस्य है ।

इतिवृत्त के प्रसंङ्ग में यह कहा गया है कि नाटको का स्वरूप एक सजीव शरीर जैसा होता है, अतएव नाटक के विविध विधायक तत्त्व परस्पर उसी प्रकार से सम्बन्धित होते हैं जिस प्रकार से प्राणवान् शरीर के विभिन्न विधायक अङ्ग परस्पर सम्बन्धित हैं ।

नाटक का इतिवृत्त और उसको अभिव्यक्त करने वाली भाषा नाटक के लिए शरीरस्वरूप है। भाषा को नाटक का शरीर इस हेतु मानते हैं क्योकि यह अर्थ का द्योतक होती है और इसलिए भी मानते हैं क्योकि इस पर अर्थ का ध्यास किया जाता है अथवा यह अर्थ की उपरञ्जक होती है। इसको नाटक का शरीर कहने का एक कारण यह भी है कि अर्थ को छोड़कर इसका कोई निजी स्वतन्त्र महत्त्व नहीं होता है। स्थायीभाव अथवा रस नाटक की आत्मा है क्योकि जिस प्रकार से शरीर को प्रकट होने अथवा उसको विशिष्ट स्वरूप की प्राप्ति का मूल कारण आत्मा है ठीक उसी प्रकार से नाटक मे प्रदर्शित कथानक के विशिष्ट स्वरूप का मूल कारण स्थायीभाव है। जिस प्रकार से प्रत्येक प्राणवान् शरीर में सजीव आत्मा का होना अनिवार्य है उसी प्रकार से नाटक में स्थायीभाव का होना परमावश्यक है।

।। तद्वस्तु शरीरं, रसाः पुनरात्मा शरीराविर्भावकाः अतएवार्थनिर्मापकत्वाद् अर्थतादात्म्यात् अर्थरूपताध्यासात् अर्थैकज्ञाननिवेशितत्वात् अर्थोपरञ्जकत्वात्

सन्धिसामान्यलक्षणमाह –

अन्तरैकार्थसंबन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।। २३ ।।

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसंबन्धः सन्धिः ।।

अर्थनिमित्तत्त्वाद्वा, इतिवृत्तार्थैकयोगक्षेमत्व वागात्मना शब्दानामिति। सदाशयेन—वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता ।।

शरीर के विधायक मुख, स्कन्ध, उदर आदि अवयव हैं। पूर्ण शरीर के लिए समस्त अङ्गों का होना नितान्त आवश्यक है। एक आदर्श नाटक में स्वभावतः सभी विधायक अङ्गों का होना परमावश्यक है क्योंकि उसे मानव शरीर के समान मान लिया गया है। जैसे कि नाटक का प्रथम अङ्ग 'मुख' है, उसका दूसरा अङ्ग 'प्रतिमुख' है एवं उसका तीसरा अङ्ग 'गर्भ' इत्यादि है।

केवल पूर्णाङ्ग नाट्यकृति अर्थात् जिनको नाटक एवं प्रकरण कहते हैं उन्ही में उपर्युक्त समस्त सन्धियाँ वर्तमान होती हैं। अल्पाङ्ग नाटकों में सभी सन्धियों का अस्तित्व नहीं होता है। **डिम** तथा **समवकार** में चार, **व्यायोग** एवं **ईहामृग** में तीन, और **प्रहसन** तथा **भाण** में मात्र दो सन्धियाँ ही होती हैं –

।। डिमः समवकारश्च चतुस्सन्धी' इति वक्ष्यते, तत्रावमर्शस्य लोपः। व्यायोगेहामृगौ चापि सदा कार्यौ त्रिसन्धिकौ इत्यत्र गर्भ विमर्शयोर्लोपः। द्विसन्धि तु प्रहसनं वीश्यङ्कोभाण एव च' तत्र प्रतिमुखगर्भाविमर्शानां लोपः ।।

(अभि० भा० १९।१७)

यहाँ यह ध्यातव्य है कि **धनञ्जय** ने प्रतिपादित किया है कि जब नाटक के कार्य की पाँच अवस्थाओं में से क्रमानुसार एक अर्थप्रकृति से संयुक्त किया जाता है तो उनसे पाँच सन्धियों की उत्पत्ति होती है । यह मत **भरतमुनि** के मत से भिन्न है । आचार्य के अनुसार ऐसी क्रमवारता अपेक्षित नही है । इनके अनुसार प्रत्येक नाटक में पताका एवं प्रकरी नामक अर्थ प्रकृतियों का होना आवश्यक नही है । और तथ्य यह है कि प्रत्येक नाटक में वे वर्तमान भी नही है । यदि सन्धियों के स्वरूप के विषय में **धनञ्जय** का मत स्वीकार कर लिया जाता है तो उन नाटको में, जिनमें पताका एवं प्रकरी वर्तमान नही है, इनसे सम्बन्धित सन्धियों का होना भी असम्भव है । परन्तु तथ्य यह है कि चाहे उपर्युक्त अर्थप्रकृतियाँ अर्थात् पताका तथा प्रकरी किसी नाटक में वर्तमान हो अथवा न हो, सभी आवश्यक सन्धियाँ प्रत्येक नाटक में उपलब्ध होती है ।। २२–२३ ।।

सन्धिसामान्येति । 'सन्धि का सामान्य' लक्षण बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं –

एकान्वये सति अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिः **इत्यन्वयः** ।। २३ ।।

कारिकार्थ – अन्तरेति । एक प्रयोजन से अन्वित कथा का दूसरे एक प्रयोजन से सम्बन्धित हो जाने को सन्धि कहते हैं ।। २३ ।।

वृत्त्यर्थ – एकेनेति । किसी एक प्रयोजन से परस्पर सम्बद्ध कथाशों को जब किसी दूसरे एक प्रयोजन से सम्बद्ध किया जाता है तब उस सम्बन्ध को सन्धि

के पुनस्ते सन्धय –

मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः ।

यथोद्देशं लक्षणमाह –

मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा: ।। २४ ।।
अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ।

कहा जाता है । अर्थात् एक ओर कथाशो का सम्बन्ध अर्थप्रकृति के रूप मे कार्य मे है, और दूसरी ओर अवस्था के रूप मे फलागम मे है, दोनो को परस्पर मिलाने पर सन्धि की रचना होती है[1] ।। २३ ।।

परामर्श – प्रधान कथा–वृत्त मे ही पूर्णरूप मे सन्धि एव सन्ध्यङ्गो की रचना होती है । प्रासङ्गिक कथा–वृत्त मे (पराधीन होने के कारण) अनुसन्धियाँ हो सकती हैं ।। २३ ।।

क इति । ये सन्धियाँ कौन सी है ?

मुखप्रतिमुखे गर्भ सावमर्शोपसहृति: **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – मुखेति । मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श (विमर्श) तथा उपसहृति (निर्वहण) – ये पांच सन्धियाँ है ।।

१. मुख सन्धि –

यथोद्देशमिति । अब मुख–प्रतिमुख आदि सन्धियो के क्रमश लक्षण दिये जाते हैं –

नानार्थरस सम्भवा बीजसमुत्पत्ति मुखम् । अस्य बीजारम्भ समन्वयात् द्वादश अङ्गानि (भवन्ति) **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – मुखमिति । जहाँ विभिन्न प्रकार के प्रयोजनो एवं रसों को उत्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति पाई जाती है, वहाँ 'मुखसन्धि' होती है । बीज – अर्थप्रकृति – तथा आरम्भ–कार्यावस्था–के परस्पर मिलने से यह सन्धि होती है । इसके बारह अङ्ग होते हैं ।। २४–२५ ।।

---

१ नाट्यदर्पणकार ने 'अभिनवभारती' के सन्धि–विमर्श के आधार पर 'सन्धि' का इस प्रकार विवेचन किया है –

'सन्धयो मुख्यवृत्ताशा: पञ्चावस्थानुगा. क्रमात् । मुख्यस्य . स्वतन्त्रस्य महावाक्यार्थस्याशा भागा परस्पर स्वरूपेण चाङ्गै सन्धीयन्त इति सन्धय अवस्थाभि प्रारम्भादिभिरनुगता अनुयाता अवस्था समाप्तौ समाप्यन्त इत्यर्थ: ।' (नाट्यदर्पण–१म विवेक)

''अर्थात् यदिरूपक प्रबन्ध को एक 'महावाक्य' और रूपक–प्रबन्धार्थ को 'महावाक्यार्थ' माना जाय तो सन्धिपञ्चक को इसका अशपञ्चक अथवा भागपञ्चक मानना पडेगा । महावाक्यरूप रूपकप्रबन्ध के ये पाच अश अथवा भाग अपने–अपने अवान्तर अशों अथवा भागो मे तो सश्लिष्ट रहा ही करते हैं, परस्पर भी सश्लिष्ट अथवा सुसबद्ध ही उपनिबद्ध किये जाया करते हैं । अपने अपने अङ्गो मे सुसश्लिष्ट किवा परस्पर सबद्ध यह पञ्चविध रूपकार्थराशि ही 'सन्धिपञ्चक' है ।''

बीजाना समुत्पत्तिरनेकप्रकारप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुर्मुखसन्धिरिति व्याख्येयम् । तेनात्रिवर्गफले प्रहसनादौ रसोत्पत्तिहेतोरेव बीजत्वमिति । अस्य च बीजारम्भार्थयुक्तानि द्वादशाङ्गानि भवन्ति ।।

वृत्त्यर्थ – बीजानामिति । जहाँ बीजो की उत्पत्ति होती है तथा जो नानाविध प्रयोजनो एव शृङ्गारादि रसो की निष्पत्ति का हेतु होती है, वह मुख–सन्धि कहलाती है ।

तेनेति। इस प्रकार प्रकृत कारिका की व्याख्या करने से जिन प्रहसन, भाण आदि का फल कोई वर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) दिखाई नही देता, उन रूपको मे भी रसोत्पत्ति का हेतु (रस का आलम्बन, समाज का उपहास्य पक्ष) ही बीज माना जायगा । इस मुखसन्धि के बीज, आरम्भ एव प्रयोजन से समन्वित १२ अग होते है ।

{तात्पर्यार्थ यह है कि सन्धिपञ्चक' मे जो प्रथम सन्धि है उसे 'मुख' सन्धि के नाम से जाना जाता है । इसमे 'प्रारम्भावस्था' तथा 'बीज' की योजना की जाती है । इसमे भिन्न–भिन्न रस–भवो की अभिव्यजना हुआ करती है} ।। २४–२५ ।।

परामर्श – मुखसंधि कथानक का वह अश है जो बीज को प्रदर्शित करता है, कार्य के आरम्भ भाग को विशिष्ट रूप मे स्पष्ट करता है, उन सभी आवश्यक रूप मे प्रदर्शनीयवस्तुओ को प्रदर्शित करता है जो कार्य अथवा बीज से साक्षात् अथवा परम्परया सम्बन्धित है एव विभिन्न स्थायीभावो के सीमित उत्थान का कारण होता है। जैसे **रत्नावली** नाटिका का आरम्भ से लेकर उस स्थल तक का अश जब रत्नावली वैतालिक के वचनो को सुनकर राजा उदयन को उदयन के रूप मे पहचानती है मुखसधि का सुन्दर उदाहरण है। नाटक का यह अश अत्यन्त सुन्दरता के साथ नाटक के मुख्य पात्रो के स्थायीभावो को विद्यमान परिस्थिति के प्रसङ्ग मे विभिन्न परिमाणों मे उद्‌बुद्ध प्रदर्शित करता है। यथा–महामात्ययौगन्धरायण मे उत्साह, राजा उदयन मे रति, सागरिका मे आश्चर्य को स्फुटरूप से इस अश मे प्रदर्शित किया गया है।

''मुख सधि कहलाने वाली बीज की उत्पत्ति रसो की उत्पत्ति का हेतु नही होती, क्योकि उन रसो का प्राय त्रिवर्ग सम्बन्ध परिलक्षित नही होता' इस शङ्का का समाधान **शारदातनय** ने किया है। उनका कहना है कि – शृङ्गार रस कामोपयोगी देखा जाता है। अर्थोपयोगी वीर रस होता है, कही कही रौद्र भी अर्थोपयोगी होता है। रक्षा रूप मे धर्म तथा अर्थ का उपयोगी करुण रस होता है। अद्‌भुत रस मन को प्रसन्नता प्रदान करने के कारण काम का सहायक होता है। तथा काव्य मे कथित वे भयानक, वीभत्स तथा हास्य रस उस–उस नेतृगत मनोवृत्ति के कारण प्राय त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) के उपयोगी होते हैं। अत मुखसधि की भी रसोत्पत्ति मे हेतुता होती है। (भा० प्र० ७।१८४) ।। २४–२५ ।।

तानिति। अब **'मुखसन्धि'** के बारह अङ्गो को बतलाते हैं –

उपक्षेपः, परिकर , परिकरः, परिन्यासः, विलोभनम् युक्ति , प्राप्तिः, समाधानम्, विधानम्, परिभावना, उद्‌भेद भेद करणानि अन्वर्थानि अथ लक्षणम् (कथ्यते) **इत्यन्वयः** ।। २५–२६ ।।

तान्याह –

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ॥ २५ ॥
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।
उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम् ॥ २६ ॥

एतेषां स्वसञ्ज्ञाव्याख्यातानामपि सुखार्थं लक्षणं क्रियते –

बीजन्यास उपक्षेपः –

यथा **रत्नावल्याम्** – '(नेपथ्ये)

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूत ॥' (१ ६)

इत्यादिना यौगन्धरायणो वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुभूतमनुकूलदैव

{इस सन्धि के बीज और आरम्भ के योग से निम्नलिखित १२ अङ्ग होते हैं–}

कारिकार्थ – उपक्षेप इति । उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, भेद तथा करण – इन मुख सन्धि के बारह अङ्गों के नाम अन्वर्थक (सार्थक) हैं । इब इनका लक्षण ग्रन्थकार बतला रहे हैं ॥ २५–२६ ॥

एतेषामिति। वृत्तिकार कहते हैं कि यद्यपि इनकी व्याख्या इनके नामो मे ही हो गयी है, तथापि सरलता के लिए वे (इन सध्यङ्गो का) लक्षण उदाहरण के साथ बतला रहे हैं –

१. उपक्षेप –

कारिकार्थ – बीजेति । (इतिवृत्त के) बीज के न्यास (रखना) को उपक्षेप कहा जाता है {अर्थात् रूपक के इतिवृत्त को शब्दों में अभिव्यक्त करना ही उपक्षेप है । कृषक अनाजरूप फल की इच्छा से – भूमि में बीज का (समीप में – अधिक गहराई में नहीं) निक्षेप करता है, रूपककार भी कार्यरूप फल के हेतुरूप बीज का निक्षेप रूपक के प्रारम्भिक अंश में कर देता है, यही उपक्षेप कहलाता है ।}॥

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे '**रत्नावली** नाटिका में – (नेपथ्य में) मंच पर प्रवेश करने के पूर्व ही यौगन्धरायण अपने अभीष्ट कार्य को बीजरूप में इस प्रकार प्रारम्भ मे ही डाल देता है । यौगन्धरायण का अभीष्ट कार्य है– उदयन को रत्नावली की प्राप्ति करा देना । वह दोनो के मिलाप के लिए कार्य में (उद्योग मे) सलग्न है, उसे अपने कार्यरूप प्रयत्न मे दैव की अनुकूलता भी प्राप्त है । इस बीज रूप उद्योग का कथन उसने निम्नोक्त उक्ति के द्वारा व्यक्त किया है –

द्वीपादिति । 'यदि दैव अनुकूल हो तो वह अभीष्ट वस्तु को दूसरे दीप से, समुद्र के मध्यभाग से, अथवा दिशाओं के अन्तिम छोर से कहीं से – भी लाकर अकस्मात् प्राप्त करा देता है ।'

इत्यादिनेति । उक्त श्लोक में यौगन्धरायण द्वारा उदयन – वत्सराज का रत्नावली की प्राप्ति के लिए अनुकूल दैव और अपने उद्योग – व्यापार का कथन

स्वव्यापार बीजत्वेनोपक्षिप्तवानित्युपक्षेप ।।

परिकरमाह –

– तद्बाहुल्यं परिक्रिया ।

यथा तत्रैव – 'अन्यथा क्व सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थिताया सिंहलेश्वरदुहितु समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थिताया फलकासादनम् ।' इत्यादिना 'सर्वथा स्पृशन्ति स्वामिनमभ्युदयाः ।' इत्यन्तेन बीजोत्पत्तेरेव बहूकरणात्परिकर ।।

बीज रूप मे रखा गया है । इस प्रकार रत्नावली प्राप्तिरूप कार्य के बीज का न्यास होने से यहाँ **'उपक्षेप'** नामक मुखसन्धि का प्रथम अङ्ग है ।।

परामर्श – 'उपक्षेप' का यथार्थ तात्पर्य केवल इतिवृत्त रूप काव्यार्थ की ही अभिव्यक्ति नहीं है, अपितु रूपक–प्रबन्ध के मुख्य रसभाव रूप अर्थ को भी समुत्पत्ति हैं ।

इसलिए 'उपक्षेप' नितान्त सन्ध्यङ्ग है । बिना इसके रूपक की अर्थ राशि का वृक्ष कदापि उत्पन्न नही हो सकता ।।

२. **परिक्रिया (या परिकर)**

परिकरमिति । मुखसन्धि के दूसरे अङ्ग **'परिकर'** का लक्षण बताते हैं –

तद्बाहुल्यम् परिक्रिया **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – तदिति। 'उपक्षेप' का बाहुल्य ही परिकर है। {इसमें बीजन्यास की वृद्धि होने लगती है। अर्थात् नाट्यार्थ का विकास होने लगता है। पात्र बोये हुए बीज की ओर ध्यान आकर्षित कराते हुए उस बीज को दृढ़ करता है ।}।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – **रत्नावली** मे यौगन्धरायण अपने कार्य–फल के बीज का प्राचुर्य प्रकाशित करते हुए बीजोत्पत्ति को पल्लवित करता है। इसकी सूचना **यौगन्धरायण** के इस कथन से मिलती है –' (यदि दैव अनुकूल न होता) तो कैसे सिद्ध के वचन (रत्नावली का पति चक्रवर्ती होगा) मे विश्वास करके विवाहार्थ मागी गई सिहल नरेश की कन्या रत्नावली (जो जहाज के क्षतिग्रस्त हो जाने पर जलमग्न हुई और पुन· पानी के वेग से ऊपर फेकी गई थी) को सहारे के लिए कैसे तख्ता मिलता, इससे ऐसा प्रतीत होता है– स्वामी की उन्नति सब प्रकार से हो रही है (स्वामी का अभ्युदय उन्हे सब प्रकार से स्पर्श कर रहा है।) 'नही तो' – यहाँ से प्रारम्भकर 'सब प्रकार से स्वामी की उन्नति हो रही है।' यहाँ तक बीजोत्पत्ति की ही बहुलता प्रदर्शित करने के कारण यहाँ परिकर है ।।

परामर्श – आचार्य भरत ने भी नाट्यार्थ की ईषद् वृद्धि को परिकर कहा है– ।। यदुत्पन्नार्थबाहुल्य ज्ञेय· परिकरस्तु सः ।। (ना० शा० १९/६९) ।।

जैसे – **वेणीसंहार** में –

प्रवृद्ध यद्वैर मम खलु शिशोरेव कुरुभि –
न तत्रार्यो हेतुर्न भवति किरीटी न च युवाम् ।
जरासन्धस्योरस्तलमिव विरूढं पुनरपि
क्रुधा भीमः संधि विघटयति यूय घटयत ।। (वे० स० १।१०)

परिन्यासमाह –

तन्निष्पत्तिः परिन्यासो –

यथा तत्रैव –

'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्थ दत्तहस्तावलम्बे ।
सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्य तथापि स्वेच्छाकारी भीत एवास्मि भर्तु ॥' (रत्ना० १.७)

इत्यनेन यौगन्धरायण स्वव्यापारदैवयोर्निष्पत्तिमुक्तवानिति परिन्यास ॥

कौरवो के साथ मेरी शत्रुता तो शैशव काल से ही बढी थी परन्तु उसमे न ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर, न अर्जुन और न तुम दोनो ही कारण हो, देखो, जरासध के विशालवक्ष स्थल के समान क्रोध मे भीम इस सधि को विच्छिन्न कर रहा है। तुम चाहे इस सधि को सम्पन्न करो ।

यहाँ भी लाक्षागृहादि कथन से उपर्युक्त विषय को अधिक बढ़ाना ही **'परिकर'** है । **आचार्य अभिनव गुप्त** ने 'परिकर' का प्रयोजन इष्टार्थ को रचना बताया है ॥

३. परिन्यास –

परिन्यासमिति ' मुख सन्धि के तृतीय अङ्ग **'परिन्यास'** की परिभाषा को बताते हैं –

तत् निष्पत्ति परिन्यास· **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ – तदिति । उस (बीजन्यास) की सफलता को (सिद्धि) परिन्यास कहते हैं ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – वहीं (**रत्नावली** नाटिका मे ही) 'स्वामी के अभ्युदय के लिये प्रारम्भ किये गये कार्य मे भाग्य के द्वारा इस प्रकार की सहायता मिलने पर सफलता के विषय मे (अब) कोई सन्देह नही है, यह सत्य है। तथापि स्वेच्छा से ही कार्य करने वाला मैं स्वामी से डर रहा हूँ ।

इत्यनेनेति । इस कथन के द्वारा यौगन्धरायण ने अपने उद्योग और भाग्य की फल–सम्पन्नता को व्यक्त किया है । अत· यहाँ **'परिन्यास' है** ।

परामर्श – आचार्य भरत 'परिन्यास' को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि काव्याभिधेय इतिवृत्त की निश्चयरूप में हृदय में स्थापना या उसका उल्लेख 'परिन्यास' है – ॥ तन्निष्पत्तिः परिन्यासो विज्ञेय. कविभिः सदा ॥ (ना० शा० १९।७०)

अभिनवगुप्त ने **वेणीसंहार** के निम्नस्थल को 'परिन्यास' का निदर्शक कहा है – चञ्चद्भुजाभ्रमितचण्डगदाभिघातसचूर्णितोरूयुगलस्य सुयोधनस्य । स्त्याना–वनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचाँस्त्व देवि भीमः ॥ (वेणीसंहार १/२१)

देवि, यह भीम अपने चपल भुजदण्डों से घुमाये गये भीषण गदा के प्रहार से दुर्योधन के जंघाओं को चकनाचूर कर निकाले गये गाढ़े रक्त से रंगते हुए तुम्हारे केश कलापों को सँवारेगा ।

विलोभनमाह –

गुणाख्यानं विलोभनम् ।। २७ ।।

यथा **रत्नावल्याम्** –

'अस्तापास्तसमस्तभासि नभस पार प्रयाते रवा –
वास्थानी समये मम नृपजन मायतने मपतन् ।
सप्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादास्तवासेवितु
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते ।।' (१, २३)

यहाँ भावी ऊरुभङ्ग रूप कार्य को निष्पन्न सा कहने से परिन्यास है।

उपक्षेप, परिकर, और परिन्यास – ये तीन अङ्ग ऐसे हैं, जिनकी योजना नाट्य मे जिस क्रम मे इनका निर्देश है, उसी क्रम मे, की जाती है, किन्तु अन्य ९ अङ्गों की योजना मे क्रम का ध्यान रखना आवश्यक नही है। तात्पर्यार्थ यही है कि मुखसन्धि मे नाट्य के सम्पूर्णकथानक का एक लघुरूप इनमे उपस्थित हो जाता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि उपक्षेप, परिकर, और परिन्यास को क्रम से सुनिबद्ध करना **साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ** का स्वतन्त्र मत है (६/८८) किन्तु **आचार्य अभिनवगुप्त** ने स्पष्ट कहा है कि उपक्षेप, परिकर, परिन्यास और अग्रिम 'विलोभन' ये चारो सन्ध्यङ्ग प्राय मुखसधि मे क्रमश ही रखे जाते है; यहाँ पौर्वापर्य का या आनन्तर्य का नियम नही होता, क्योकि सामादि सन्ध्यन्तरो मे इनका भी प्रवेश रह सकता है ।

।। तदेतदुपक्षेपाद्यङ्गचतुष्कं प्रायशो मुखसन्धौ भवति। उक्तेनैव न पौर्वापर्येण भवति। आनन्तर्यनियमस्तु नास्ति, न सन्ध्यन्तरगणा सामादीना मध्येऽन्तु प्रवेशात् ।।

(अभि० भा० १९।७१)

परन्तु **दशरूपकार** को पूर्वोक्त अङ्गो के अतिरिक्त 'उद्भेद' और 'समाधान' भी अभीष्ट हैं । किन्तु **शारदातनय** ने उपर्युक्त क्रम को स्पष्ट नकार दिया है। उनके अनुसार – ये अङ्ग वस्तु, नेता तथा रस आदि के अनुरूप प्रयुक्त होने चाहिए। यहाँ इन अङ्गो का क्रम विवक्षित नही है, यही निर्णय है ।

।। वस्तुनेतृरसादीनामानुगुण्येन योजयेत्। विवक्षितोऽत्र नाङ्गाना क्रम इत्येव **निर्णय**।। (भा० प्र० ७।१८७)

४. विलोभन –

विलोभनमिति । विलोभन (नामक मुखसन्धि के चतुर्थ अङ्ग का लक्षण) कहते हैं –

गुणाख्यानं विलोभनम् **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – गुणेति। (नाटक के नायक–नायिका आदि के) गुणों का वर्णन विलोभन कहलाता है ।। २७ ।।

इति वैतालिकमुखेन चन्द्रतुल्यवत्सराजगुणवर्णनया सागरिकाया ममागमहेत्वनुरागबीजानुगुण्येनैव विलोभनाद्विलोभनमिति ।।

यथा च **वेणीसंहारे** –

'मन्थायस्तार्णवाम्भ प्लुतकुहरवलन्मन्दरध्वानधीर·
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसघट्टचण्ड ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूत· कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवात·
केनास्मत्सिहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ।।' (१ २२)

इत्यादिना 'यशोदुन्दुभि·' (१ २४) इत्यन्तेन द्रौपद्या विलोभनाद्विलोभनमिति ।।

{कार्यरूप फल से सबद्ध किसी वस्तु या नाटकीय पात्र के गुणो की प्रशसा का वर्णन कर उसके प्रति किसी पात्र को आकर्षित करना **'विलोभन'** कहलाता है।}

वृत्यर्थ – यथेति । यह विलोभनात्मक वर्णन निम्नलिखित पद्य में अंकित है –

अस्तेति – 'अपनी समस्त प्रभा को अस्ताचल के शिखर पर फैलाकर जैसे ही सूर्य आकाश को पार गया, तभी सन्ध्याकालीन वेला मे एक साथ समस्त राजागण कमल–कान्ति को हरण करने वाले तथा नेत्रानन्द को बढ़ानेवाले महाराज उदयन के चरणों की आराधना की प्रतीक्षा में सभाभवन में पधार रहे हैं। जैसे कमलो को सकुचित करने वाले चन्द्रमा की किरणो की सेवा मे तारागण आ रहे हो ।।''

इतीति। जैसे **रत्नावली** नाटिका में वैतालिक चन्द्रमा तथा वत्सराज के समान गुणो की प्रशसा के द्वारा सागरिका को उदयन के प्रति अधिक आकर्षित करते है, जो दोनों (उदयन और सागरिका) के मिलन हेतु रूप अनुराग बीज को सागरिका के हृदय मे बढ़ाते हैं। यही **विलोभन** है।

यथेति। अथवा, जैसे **वेणीसंहार** नाटक के निम्न पद्य मे भीम ने रणदुन्दुभि के गुणो के वर्णन द्वारा नाटक की नायिका द्रौपदी का विलोभन किया है। अत. यह भी विलोभन है –

मन्थेति। 'इस नक्कारे (दुन्दुभि) को किसने बजाया? इसकी ध्वनि समुद्र–मन्थन के समय मन्थन दण्ड से प्रक्षिप्त जल से परिपूरित कन्दरायुक्त मन्दराचल के भ्रमणकालीन गभीर ध्वनि सदृश है, जो प्रलयकालीन गर्जन करते हुए मेघमालाओं के परस्पर सन्ताडित होने पर उत्पन्न होने वाला भीषण निर्घोष को भी जीत लेती है। यह रणदुन्दुभि द्रौपदी के अथवा प्रलय कालीन रात्रि के क्रोध का सूचक है। और तो क्या, दुर्योधन के नाश के लिये उत्पातसूचक झञ्झावात की तरह है तथा हम लोगों के सिंहनाद की भाँति इसमे से ध्वनि निकल रही है ।। २७ ।।

परामर्श – आचार्य **भरत** 'विलोभन' के विषय में कहते हैं कि नायक अथवा नायिका आदि के गुणों का अभिधान या उनमें गुणों का सन्निवेश वर्णन करना 'विलोभन' है –

।। गुण निर्वर्णनं यत्तु विलोभनमितिस्मृतम् ।। (ना० शा० १९।७१) ।। २७ ।।

अथ युक्तिः –

संप्रधारणमर्थानां युक्तिः –

यथा **रत्नावल्याम्** – 'मयापि नैना देवीहस्ते सबहुमान निक्षिपता युक्तमेवानुष्ठितम् । कथित च मया यथा बाभ्रव्य· कञ्चुकी सिहलेश्वरामात्येन वसुभूतिना सह कथकथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतस्य रुमण्वतो घटित· ।' इत्यनेन सागरिकाया अन्त पुरस्थाया वत्सराजस्य मुखेन दर्शनादिप्रयोजनावधारणाद्– बाभ्रव्यसिहलेश्वरामात्ययो स्वनायकसमागमहेतुप्रयोजनत्वेनाव धारणाद्युक्तिरिति ।।

अथ प्राप्तिः –

– प्राप्तिः सुखागमः ।

---

५. **युक्ति –**

अथेति । अब **'युक्ति'** (नामक मुख–सन्धि के पञ्चम अङ्ग) का लक्षण बताते हैं –

अर्थाना सम्प्रधारण युक्ति· **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – सम्प्रेति । पात्र के अभीष्ट तथ्यों (अर्थों) का अवधारण या समर्थन किया जाय, वहाँ युक्ति (नामक मुख सन्धिका अङ्ग) है। {अर्थात् जब पात्र अतीत की घटनाओं का स्मरण कराकर अपने प्रयोजन का समर्थन करता है तब 'युक्ति' नामक मुख सन्धि का अङ्ग होता है ।} ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **रत्नावली** नाटिका मे **यौगन्धरायण** अभीष्ट सिद्धि के लिए किये हुए उद्योग का समर्थन इस प्रकार करता है – 'मैंने भी (सागरिका को) उस देवी वासवदत्ता के हाथो मे आदर के साथ सौंप कर अच्छा ही किया । मैंने यह भी सुना है कि बाभ्रव्य नामक कञ्चुकी सिहलेश्वर के मत्री वसुभूति के साथ किसी तरह समुद्र से निकल कर कोसल विजय के लिये प्रस्थित रुमण्वान् से जा मिला है।'

इत्यनेनेति । इसके द्वारा अन्तःपुर में निवास करने वाली सागरिका सहजगत्या वत्सराज के दृष्टिपथ मे आ सकती है, इस उद्देश्य का समर्थन करने से तथा बाभ्रव्य और सिहलेश्वर के मत्री का अपने नायक के साथ मिलन हो सकेगा–आदि को प्रयोजन के रूप मे निश्चय करने के कारण यहाँ युक्ति (नामक मुख सन्धि का अङ्ग है) ।।

परामर्श – आचार्य भरत के अनुसार नाटकीय अर्थो या कर्तव्य का निश्चय कर लेना 'युक्ति' कहलाता है – ।। सम्प्रधारणमर्थाना युक्तिरित्यभिधीयते ।। (ना० शा० १९।७९) ।। इस अङ्ग के प्रयोजन का उल्लेख **अभिनव गुप्त** ने किया है, उनका कहना है कि प्रकाश्य अर्थ का प्रकाशन इसका प्रयोजन है। इस अंङ्ग 'युक्ति' में गुण–दोष के विवेकपूर्वक, कार्यपर्यालोचन का अभिप्राय छिपा है ।।

६. **प्राप्ति –**

अथेति । 'प्राप्ति' नामक मुखसन्धि के छठवें अङ्ग का लक्षण कहते हैं –

सुखागमः प्राप्ति **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – प्राप्तिरिति । सुख के आगमन को प्राप्ति कहते हैं ।

यथा **वेणीसंहारे** – 'चेटी – भट्टिणि । परिकुविदो विअ कुमारो लक्खीअदि।' (भर्त्रि। परिकुपित इव कुमारो लक्ष्यते।) इत्युपक्रमे 'भीम: –

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्दु:शासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्त: ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सन्धिं करोतु भवतां नृपति: पणेन ।। (१.१५)

द्रौपदी – (श्रुत्वा सहर्षम्) णाध ! अस्सुदपुव्वं खु एदं वअणं । ता पुणो पुणो भण।' (नाथ! अश्रुतपूर्वं खल्वेतद्वचनं । तत्पुन: पुनर्भण) इत्यनेन भीमक्रोध–बीजान्वयेनैव सुखप्राप्त्या द्रौपद्या: प्राप्तिरिति ।।

यथा च **रत्नावल्याम्** – 'सागरिका – (श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य सस्पृहं पश्यन्ती) कधं अअं सो राआ उदयणो जस्स अहं तादेण दिण्णा । ता परप्पेसणदूसिदं वि मे जीविदं एदस्स दंसणेण बहुमदं संजादम्।' (कथमयं स राजोदयनो यस्याहं तातेन दत्ता । तत्परप्रेषणदूषितमपि मे जीवितमेतस्य दर्शनेन बहुमतं संजातम्) इति सागरिकाया: सुखागमात्प्राप्तिरिति ।।

{अर्थात् नाटक में नायक अथवा नायिका को जब (अभीष्टफल की प्राप्ति की आशा में) सुख की प्राप्ति हो तब 'प्राप्ति' नामक मुखसन्धि का अङ्ग होता है ।} ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे – **वेणीसंहार** नाटक मे **चेटी** – (द्रोपदी को) महारानी ! कुमार (भीम) क्रुद्ध प्रतीत हो रहे हैं। इसी प्रसङ्ग मे आगे – **भीम इति** – भीम का यह वचन – 'क्या मैं संग्राम में क्रोध से सौ कौरवो का मर्दन न कर डालूंगा? हृदयस्थल से क्या दु:शासन का रक्तपान न करूँगा? क्या मैं गदा से दुर्योधन की जॉघ का चूर्ण न बना डालूगा? तुम लोगों के राजा – युधिष्ठिर – सन्धि करे अर्थात् मैं तो सन्धि नही करता।'

द्रोपदी (सुनकर आनन्दपूर्वक) नाथ ! ऐसी बातें पहले नही सुनी थी। इसे पुन: पुन: कहें। सुनकर द्रौपदी को होने वाली सुख की प्राप्ति और उसी वचन को पुन: पुन: सुनने की इच्छा व्यक्त करना ही प्राप्ति है। क्योंकि द्रौपदी को भीम के इन वचनो से सुख मिलता है

यथेति। इसी प्रकार **रत्नावली** नाटिका में – **सागरिका** (राजा उदयन का नाम सुनकर, सहर्ष मुड़कर, सस्पृह नयनों से राजा को देखती हुई कहती है – तो क्या ये वे ही उदयन हैं जिनके लिये मैं पिताजी द्वारा दी गई ? (लंबी सास लेकर) (यदि ऐसा है) तो दूसरे की सेवा करने से दूषित भी यह मेरा जीवन इनके दर्शन से इस समय धन्य हो गया।'' इन वचनों से सागरिका को मिलने वाला सुख व्यक्त होता है अत: यहॉ 'प्राप्ति' है ।।

परामर्श – आचार्य भरत कहते हैं कि 'सुख अथवा सुख–हेतु की उपलब्धि ही प्राप्ति है' ।। सुखार्थस्याभिगमनं प्राप्तिरित्यभिसंज्ञिता ।। (ना० शा० १९। ७२) ।। 'प्राप्ति' से तात्पर्य केवल सुख का आगम ही नहीं है, अपितु सुख हेतु का भी आगम है, जैसा कि नाट्यदर्पणकार का इस विषय में यह कथन है – 'प्रापणं

अथ समाधानम् –

बीजागमः समाधानम् –

यथा **रत्नावल्याम्** – 'वासवदत्ता – तेण हि उअणेहि मे पुआणिमित्ताई उवअरणाइम्। ('तेन ह्युपनय मे पूजानिमित्तानि उपकरणानि।') सागरिका – भट्टिणि! एद सव्व सज्जम्। ('भर्त्रि! एतत्सर्वं सज्जम्।') वासवदत्ता – (निरूप्यात्मगतम्) अहो पमादो परिअणस्स । जस्स एव्व दसणपहादो पअत्तेण रक्खीअदि तस्स ज्जेव कह दिट्ठिगोअर आअदा, भोदु एव्व दाव। (प्रकाशम्) हज्जे सागरिए! कीस तुम अज्ज पराहीणे परिअणे मअणूसवे सारिअ मोत्तूण इहागदा । ता तही ज्जेव गच्छ।' ('अहो प्रमाद परिजनस्य । यस्यैव दर्शनपथात्प्रयत्नेन रक्ष्यते तस्यैव कथ दृष्टिगोचरमागता, भवतु एव तावत्। चेटि सागरिके! कथ त्वमद्य पराधीने परिजने मदनोत्सवे सारिका मुक्त्वेहागता । तस्मात्तत्रैव गच्छ।') इत्युपक्रमे 'सागरिका – (स्वगतम्) 'सारिआ दाव मए सुसङ्गदाए हत्थे समप्पिदा । पेक्खिदु च मे कुतूहलम् । ता अलक्खिआ पेक्खिस्सम्।' ('सारिका तावन्मया सुसङ्गताया हस्ते समर्पिता । प्रेक्षितु च मे कुतूहल तदलक्षिता प्रक्षिष्ये।') इत्यनेन वासवदत्ताया रत्नावलीवत्सराजयोर्दर्शनप्रतीकारा–

सुखसम्प्राप्ति – सुखस्य सुखहेतोश्च सम्यगन्वेषणादाप्ति, प्रापणम्।' (ना० द० १ विवेक) ।। नाटक मे इसकी योजना अनेक स्थलो पर भी की जा सकती है ।।

७. समाधान –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'समाधान'** (नामक मुख–सन्धि के अङ्ग) को बतला रहे हैं –

बीजागम समाधानम् **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – बीजेति । बीज का आगमन–अर्थात् पूर्व में संक्षेप रूप से उपक्षिप्त, बीज का पुनः अधिक स्पष्ट रूप से उपादान – समाधान (समीचीन रूप से आधान) कहलाता है ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **रत्नावली** नाटिका में – प्रसङ्ग इस प्रकार है – वासवदत्ता–तो मुझे–पूजा करने के लिए–सामग्रियाँ लाओ । **सागरिका** – 'स्वामिनि! यह सब तैयार है।' **वासवदत्ता** – (देखकर मन में) परिजन की कैसी असावधानता है जिसकी नजरों से बचा रही थी उसकी दृष्टि मे पड़ जायगी। अच्छा, इस तरह कहूँगी। (प्रकट) अरी सागरिका! सभी परिजन जब मदन महोत्सव में संलग्न हैं तब तुम सारिका को छोड़कर चली आई ? शीघ्र वहीं चली जाओ और यह पूजासामग्री काञ्चनमाला को दे दो। इस उपक्रम में (सागरिका कहती है) – **सागरिका** – (मन मे) ''सारिका तो मेरे द्वारा सुसङ्गता के हाथ में सौंप दी गई है, और मुझे (मदनोत्सव) देखने की उत्कण्ठा है। अतः छिपकर देखूँगी।''

इत्यनेनेति । मदनोत्सव के प्रसङ्ग पर सागरिका एवं वत्सराज–उदयन का एक दूसरे के दृष्टिपथ में आना वासवदत्ता को अभीष्ट नहीं है। अत वह उसे वहा से

त्सारिकाया· सुसङ्गतार्पणेनालक्षितप्रेक्षणेन च वत्सराजसमागमहेतोर्बीजस्योपादानात्समाधानमिति ॥

यथा च **वेणीसंहारे** – 'भीमः – भवतु । पाञ्चालराजतनये श्रूयतामचिरेणैव कालेन –

'चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात–
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि–
रुत्तंसयिष्यति कचास्तव देवि भीम· ॥' (१ २१)

इत्यनेन वेणीसंहारहेतो क्रोधबीजस्य पुनरुपादानात्समाधानम् ॥

अथ विधानम् –

– विधानं सुखदुःखकृत् ॥ २८ ॥

हटाती है। किन्तु सागरिका उदयन को छिपकर देखती है। यहाँ उदयन के साथ समागम के हेतुरूप बीज का उपादान किया गया है। अतः इसे 'समाधान' नामक सन्ध्यङ्ग कहा गया है ।

यथेति । और जैसा कि **वेणीसंहार** नाटक में –(भीम का यह वचन) – चञ्चदिति) **भीम** – "हे द्रौपदी ! अब शीघ्र ही–मेरी चंचल भुजा से घुमाई गयी प्रचण्ड गदा के प्रहार से चूर–चूर हुए दुर्योधन के उरु के चिकने एवं गाढ़े रक्त से लाल हाथो वाला भीम तुम्हारे केशो को अलङ्कृत करेगा।" (१–२१) इस वचन से द्रौपदी के केशों को सँवारने हेतु (भीम के) क्रोधरूपी बीज का पुनः ग्रहण करने से उसका और आगे विकास हुआ है, अतः यहाँ 'समाधान' नामक सन्ध्यङ्ग है ॥

परामर्श – आचार्य **भरत** के अनुसार बीज के प्रयोजन को प्राप्त करना या उसका समीचीन रूप में आधान करना 'समाधान' कहा जाता है – ॥ बीजार्थस्योपगमनं समाधानमपीष्यते ॥ (ना० शा० १९।७२) ॥

आचार्य अभिनव गुप्त ने तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रधान नायक के अनुकूल सम्यक् प्रकार से जहाँ बीज उपस्थापित होता –वहाँ 'समाधान' नामक मुख संधि का अङ्ग होता है – ॥ यस्मिन् बीजं तदिदानीं प्रधाननायकानुगतत्वेन सम्यगाहितं भवति (समाधानम्) ॥ (अ० भा० १९।७२) ॥

नाट्यदर्पणकार के विचार में 'समाधान' वस्तुतः बीज का ही पुनर्न्यास है। उपक्षिप्त बीज के सम्यक् आधान का तात्पर्य उसका परिपोष है। इसीलिए नाट्यदर्पणकार ने समाधान को 'पुनर्न्यास' कहा है । (ना० द० १ विवेक) ॥

८. विधान –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'विधान'** (नामक मुखसन्धि के आठवें अङ्ग को) बतला रहे हैं –

सुखदुःखकृत विधानम् **इत्यन्वयः** ॥

.कारिकार्थ – विधानमिति । (नाटकीय इतिवृत्त का) जो प्रसङ्ग नायक या नायिका

यथा **मालतीमाधवे** प्रथमेऽङ्के – 'माधव –

'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमानन तद् –
आवृत्तवृन्तशतपत्रनिभ वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्ष ॥ (१ ३०)
यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभाव –
मानन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत् ।
तत्संनिधौ तदधुना हृदय मदीय –
मङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥' (१ २०)

इत्यनेन मालत्यवलोकनस्यानुरागस्य समागमहेतोर्बीजानुगुण्येनैव माधवस्य सुखदु खकारित्वाद्विधानमिति ॥

यथा च **वेणीसंहारे** – 'द्रौपदी – णाध। पुणोवि तुम्मेहि अअ आअच्छिअ समासासिदव्वा । ('नाथ पुनरपि त्वयाहमागत्य समाश्वासयितव्या।') **भीम** – ननु पाञ्चालराजतनये ! किमद्याप्यलीकाश्वासनया ॥

'भूय· परिभवक्लान्तिलज्जाविधूरिताननम् ।
अनि·शेषितकौरव्य न पश्यसि वृकोदरम् ॥' (१ २६)

के हृदय में सुख तथा दु:ख को उत्पन्न करनेवाला होता है, उसे 'विधान' कहा जाता है । {अतएव सुख एवं दु:ख को उत्पन्न करने वाला कथा का अंश विधान है } ॥ २८ ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे भवभूति कृत– **'मालतीमाधव'** नामक प्रकरण – (नाटक) के प्रथम अङ्क में इति वृत्त का प्रसङ्ग इस प्रकार है – **माधव** – ''वक्राकार झुके हुए वृत्त वाले कमल–सदृश, टेढ़ी गर्दन वाले मुख को धारण करती हुई, प्रशस्त रोमयुक्त नेत्रो वाली, जाती हुई मालती ने अमृत और विष मे (एक साथ) लिप्त कटाक्ष (रूपी तीर) जैसे मेरे हृदय मे बहुत दृढ़ता से गाड़ दिया है।''

यदिति । माधव (मन में) कहता है – ''जो मेरा हृदय उस (मालती) के निकट रहने पर आश्चर्य से निश्चल था, अन्य भावो मे रहित था, और अमृत में स्नान करने के कारण परमानन्द से स्तब्ध हो गया था, वही मेरा हृदय अब (उसके वियोग में) अङ्गारों से स्पृष्ट सा वेदना युक्त हो रहा है।''

इत्यनेनेति । उपर्युक्त प्रसङ्ग मे मालती का (माधव की ओर सविलास देखना तथा माधव का मालती के प्रति अनुराग (उन दोनों के) मिलन का हेतु है। वहीं बीज के अनुरूप होने के कारण माधव को सुख तथा दु:ख से युक्त करने वाला है। (उसके सुख तथा दु:ख का कारण होने से) अत: यहाँ **'विधान'** नामक मुख सन्धि का अङ्ग है।

यथेति । इसी प्रकार वेणी संहार नाटक में – द्रौपदी कहती है – द्रौपदी – (भीम से) नाथ ! युद्ध से आकर क्या आप हमें इसी प्रकार आश्वासन देंगे ? भीम – द्रौपदी ! अब असत्य आश्वासन से क्या लाभ ? पुन: तिरस्कार एवं लज्जा से मलिन मुख वाले मुझे कौरवों का समूल विनाश किए बिना अब तुम देख नहीं पाओगी ।

इति सङ्ग्रामस्य सुखदुःखहेतुत्वाद्विधानमिति ॥

अथ परिभावना –

परिभावोऽद्भुतावेशः –

यथा **रत्नावल्याम्** – 'सागरिका (दृष्ट्वा सविस्मयम्) कधं पच्चक्खो ज्जेव अणङ्गो पूअं पडिच्छेदिता । ता अहंपि इध ट्ठिद ज्जेव णं पूजइस्सम्। ('कथं प्रत्यक्ष एवानङ्गः पूजां प्रतीक्षते । तत् अहमपीहास्थितैवैन पूजयिष्यामि।') ॥

इति संग्रामस्येति । संग्राम द्रौपदी के लिए कौरवो का समूल नाशक होने से सुखदायक है और भीम के वियोग के कारण दुःखदायक भी, अतः यहाँ 'विधान' नामक मुखसन्धि का आठवॉ अङ्ग है ॥ २८ ॥

परामर्श – आचार्य भरत ने 'विधान' नामक अङ्ग को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जहॉ सुख और दुःख से मिश्रित अवस्था का या अर्थ का कथन या घटना रहती हो उसे 'विधान' कहा जाता है – ॥ सुखदुःखकृतो योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम् ॥ (ना० शा० १९।७३) ॥ अर्थात् जहॉ मिश्रभाव से सुख दुःखो को कहा जाता है – ॥ व्यामिश्रतया सुखदुःखे अभिधीयते यत्रेति (विधानम्) ॥ (अभि० भा० १९।७३) ॥

कुछ विद्वानों के विचार मे दशरूपक मे उद्धृत उक्त दोनों उदाहरण 'विधान' के लक्षणानुरूप नहीं हैं। वस्तुतः 'विधान' को सुखदुःखकृत् कहा गया है, अर्थात् रूपक के पात्रो– नायक या नायिका– में जहॉ सुख तथा दुःख का भाव एक साथ विद्यमान हो, वहीं विधान नामक अङ्ग होता है। जैसा कि **नाट्यदर्पणकार** का यह विचार है – 'विधान सुखदुःखाप्तिः' – 'द्वयोः सुखदुःखयोरेकत्रानेकत्र वा पात्रे प्राप्तिरेकस्य वा सुखस्य दुःखस्य वा प्राप्तिर्विधानम्। एकत्र पात्रे सुखदुःखयोः प्राप्तिर्यथा मालतीमाधवे – 'यद्.... व्यथमानमास्ते।' इत्यनेन सानुरागमालत्यवलोकनान्माधवस्य सुखदुःखाप्तिः।' (ना० द० १ विवेक) हमारे विचार मे दशरूपककार के उद्धृत दोनों उदाहरण 'विधान' के लक्षण की पूर्ति करते हैं । अतः वे उपयुक्त हैं ॥ २८ ॥

९. परिभावना –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'परिभावना'** या **'परिभाव'** (नामक मुखसन्धि के नवम् अङ्ग) को बतला रहे हैं –

अद्भुतावेशः परिभावः **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ – परिभाव इति। अद्भुत का आवेश परिभाव कहलाता है ।

{आश्चर्यजनक वस्तु को देखकर या शब्द को सुनकर जब पात्र के कथन में अद्भुत भाव का प्रभाव परिलक्षित हो तब परिभाव (नामक मुखसन्धि का अङ्ग) होता है। इसमें प्रथम तो अलौकिक वस्तु को देखने का कुतूहल होता है और पश्चात् उसे देखकर आश्चर्य – (विस्मय–)} ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे रत्नावली नाटिका में मदन पूजा के प्रसङ्ग पर उदयन को देखकर **सागरिका** – (आश्चर्य के साथ देखकर) क्या अनङ्ग ही प्रकट होकर पूजा ग्रहण कर रहे हैं? तो मैं (भी) यहाँ छिपकर ही उनकी पूजा करूंगी ।

इत्यनेन वत्सराजस्यानङ्गरूपतयापह्नवादनङ्गस्य च प्रत्यक्षस्य पूजाग्रहणस्य लोकोत्तरत्वादद्भुतरसावेश परिभावना ।।

यथा च **वेणीसंहारे** – 'द्रौपदी – किं दाणिं एसो पलअजलधरत्थणिदमसलो खणे खणे समरदुन्दुभी ताडीअदि ।' ('किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमांसल क्षणे क्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते') इति लोकोत्तरसमरदुन्दुभिध्वनेर्विस्मयरसावेशाद्द्रौपद्या परिभावना ।।

अथोद्भेदः –

– उद्भेदो गूढभेदनम् ।

यथा **रत्नावल्यां** वत्सराजस्य कुसुमायुधव्यपदेशगूढस्य वैतालिकवचसा 'अस्तापास्त' (१ २३) इत्यादिना 'उदयनस्य' इत्यन्तेन बीजानुगुण्येनैवोद्भेदनादुद्भेद ।।

इत्यनेनेति । इस प्रकार वत्सराज को (सुन्दर होने के कारण) कामदेव समझना एव कामदेव द्वारा प्रत्यक्षरूप से पूजाग्रहण करने के अलौकिक कार्य मे विस्मयान्वित होना, यही अद्भुत रस ही परिभावना है। अर्थात् – 'कथं प्रत्यक्ष एव' से लेकर 'पूजयिष्यामि' तक सागरिका की उक्ति मे व्यक्त अद्भुत रस के आवेश के कारण यहाँ 'परिभावना' नामक मुखसन्ध्यङ्ग है ।

यथेति । इसी प्रकार **वेणीसंहार** नाटक में – **द्रौपदी** – नाथ । "प्रलय–कालीन मेघ गर्जन के सदृश गम्भीर यह युद्ध का नगाड़ा क्यो बजाया जा रहा है?" यहाँ भी युद्ध के नगाडे की अलौकिक ध्वनि (को सुनने) से द्रौपदी के हृदय में अद्भुत रसावेश पाया जाता है। इसकी व्यञ्जना द्रौपदी के उक्त वाक्य मे दिखाई देती है। अत यहाँ परिभावना है ।।

परामर्श – आचार्य भरत कहते हैं कि कौतूहल के उपरान्त या अतिशय जिज्ञासा से मिश्रित आवेशपूर्ण वचन विन्यास को 'परिभावना' कहते हैं – ।। कौतूहलोत्तरावेगो भवेत्तु परिभावना ।। (ना० शा० १९।७३) ।।

१०. उद्भेद –

अथेति । अब ग्रन्थकार उद्भेद (नामक मुखसन्धि के दशम अङ्ग) को बतला रहे हैं ।

गूढभेदनम् उद्भेदः **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – उद्भेद इति । (जहाँ अब तक) गुप्तावस्था में स्थित (गूढ़ तथ्य) बीज को स्वल्प प्रकाशित कर दिया जाय (अर्थात् गूढ का भेदन हो) वहाँ उद्भेद (नामक मुख सन्धि का अङ्ग होता है) ।।

यथेति । रत्नावली नाटिका में – कुसुमायुध के व्याज से वत्सराज (उदयन) की यथार्थ स्थिति अब तक गुप्त (छिपी) थी, किन्तु वैतालिक की इस उक्ति – 'अस्तपास्त' मे 'उदयन' शब्दोच्चारण के द्वारा उस गूढ़ वस्तु का भेदन–प्रकाशन–होने से यह उद्भेद है । यह गूढ़भेद बीज का ही सहायक साधन है।

यथा च **वेणीसंहारे** – 'आर्य! किमिदानीमध्यवस्यति गुरु.।' इत्युपक्रमे '(नेपथ्ये) –

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृत
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता ।
तद्द्यूतारणिसभृत नृपसुताकेशाम्बराकर्षणै·
क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिर जृम्भते ।। (१ २४)

भीम·– (श्रुत्वा सहर्षम्) जृम्भतां जृम्भता संप्रत्यप्रतिहतमार्यस्य क्रोधज्योति·।' इत्यनेन छन्नस्य द्रौपदीकेशसयमनहेतोर्युधिष्ठिरक्रोधस्योद्भेदनादुद्भेद: ।।

यथेति। अथवा **वेणीसंहार** नाटक मे – आर्य ! अब महाराज क्या करना चाहते हैं ? सहदेव द्वारा यह पूछे जाने पर नेपथ्य से निम्नोक्त पद्य सुनाई देता है –

यदिति । ''जिस क्रोध की ज्वाला को सत्यव्रत–परायण अपने व्रतभङ्ग की आशङ्का से बड़े परिश्रम के साथ बन्द किया था, जिसको शान्ति के पुजारी ने कुल के कल्याण की कामना मे भूल जाने का निश्चय कर लिया था, वह द्यूतरूपी अरणी नाम के काष्ठ में निहित युधिष्ठिर के क्रोध की ज्योति, द्रौपदी के केश और वस्त्रो के आकर्षण से कौरव–वन में भड़क रही है।

भीम – (सुनकर हर्ष के साथ) पूज्य महाराज की क्रोध–ज्वाला अप्रतिहत गति से विस्तार को प्राप्त हो । प्रकृत में द्रौपदी के केशसंयमन का हेतु जो युधिष्ठिर का क्रोध है, वह पहले प्रच्छन्न स्थिति में था, उसका उद्भेदन (प्रकाशन) यहाँ हो रहा है। अत· यह उद्भेद (नामक मुख सन्धि का अङ्ग) है ।।

परामर्श – नाट्यदर्पणकार ने 'स्वल्प–प्रोह उद्भेद:।' यह उद्भेदसन्धि का लक्षण देकर अधिक स्पष्ट कर दिया है कि पूर्व की स्थिति तक तो भूमि में बोये हुए बीज का पोषण हो रहा है, किन्तु यहाँ अनुकूल भूमि, जल तथा खाद को प्राप्त कर वही छिपा हुआ बीज किंचित् फूट पड़ता है। अर्थात् बीज का स्वल्पविस्तार ही उद्भेद कहलाता है। वस्तुत: कवि बीज का सङ्केत तो बहुत पूर्व ही कर देता है, किन्तु वह बीज के साधनादि का आवरण, स्पष्टरूप से इसी के अन्तर्गत हटाता है । **आचार्य भरत** के अनुसार 'बीज' के अर्थ या कार्य का अंकुर रूप में फूट पड़ना (या प्रकट होना) 'उद्भेद' है ।। बीजार्थस्य प्ररोहो य-उद्भेद: स तु कीर्तित: ।। (ना० शा० १९।७४) ।।

आचार्य अभिनवगुप्त ने वेणीसंहार के निम्न अंश को प्रस्तुत कर उद्भेद को स्पष्ट किया है । जैसे – **द्रौपदी** – णाह पुणो वितुए अहं समस्सइदव्वा । {नाथ ! पुनरपि त्वयाऽहं समाश्वासयितव्या ।}

भीम – भूय: परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम् ।
अनिश्शेषितकौरव्यं स पश्यति वृकोदरम् ।। (वि० सं० १।२५)

निरन्तर अपमान से उत्पन्न दु:ख और लज्जा से म्लान मुखवाले भीम को अब तुम कौरवों की समाप्ति के बाद ही देखोगी ।

यहाँ भीम के कौरव वध की उत्पाद्यता के निश्चय से 'उद्भेद' है। यह उद्घाटन नहीं है जिससे यह 'प्रतिमुख' संधि का अङ्ग हो। परन्तु यह शत्रुक्षय के

अथ करणम् –

करणं प्रकृतारम्भः –

यथा **रत्नावल्याम्** – 'णमो दे कुसुमाउह! ता अमोहदसणो मे भविस्ससि त्ति दिट्ठ ज पेक्खिदव्व । ता जाव ण कोवि म पेक्खइ ता गमिस्सम्।' (नमस्ते कुसुमा–

आरम्भरूप में होने से बीज का अकुर है, जो बीज के भूमिसश्लेष या आधार मात्र लेने के समान है – ।। ने चेदमुद्घाटन येन प्रतिमुखं भवेत्, अपितु शत्रुक्षयारम्भं बीजस्याङ्कुर कुरुकुलोद्घाटनेन विनाऽपि प्ररोहमात्रमनुस्थानानुगुण्यात् भूमि सश्लेष इव बीजस्य ।। (अभि० भा० १९।७८) ।।

यहाँ 'उद्भेद' के उदाहरण के रूप मे ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत वेणी सहार का उक्त उदाहरण **डॉ० आर० एस० त्रिपाठी** जी को सुसमीचीन प्रतीत नही हुआ है, क्योकि पूर्व मे युधिष्ठिर के कोप–बीज का कही उल्लेख नही है। 'अत्र वेणी सहारस्योदाहरण न सुसमीचीन तत्रादौ युधिष्ठिर कोपबीजस्यामद्भावात् ।' (दशरूपकम् – पृ० ३९)

हमारे विचार मे उक्त दोषान्वेषण ही तर्कहीन है। क्योकि नाटक मे युधिष्ठिर के कोप–बीज का–सद्भाव बतलाना ही अप्रासंगिक है। प्रस्तुत नाटक का शीर्षक 'वेणीसहार' भीम की प्रतिज्ञा से सम्बन्धित है । जैसा कि षष्ठाङ्क मे दुर्योधन का वध कर आये हुए भीम को देखकर चेटी द्रौपदी से कहती है – 'देवि ! निवर्त्यता निवर्त्यताम्। एष खलु पूरितप्रतिज्ञाभारोनाथस्ते वेणीसंहार कर्तु त्वामेवान्वेषयति।' (वेण्या केशरचनायाः सहारः संयमनम् बन्धनमित्यर्थः।') इसलिए युधिष्ठिर के कोप बीज का सद्भाव बतलाना अप्रासंगिक ही है। वैसे सभा में द्रौपदी के केश और वस्त्र खींचने से पाण्डव–पाँचो भाई क्रमशः क्रोधित हो उठे थे, किन्तु भीम ने ही दुर्योधन की जङ्घा तोड़ने की तथा उसके रक्त से द्रौपदी के खुले केशों को बाधने की प्रतिज्ञा की थी। ऐसी स्थिति में युष्ठिर के कोप का पूर्व सद्भाव बतलाना उचित नहीं था। इसके अतिरिक्त 'उद्भेद' सन्ध्यङ्ग का लक्षण ही है – 'उद्भेदो गूढभेदनम् ।' अतः युधिष्ठिर के हृदय में छिपा हुआ क्रोध–बीज अनुकूल परिस्थितियों को पाकर अब अकुरित होकर फूट पड़ा है, ऐसा कवि ने वर्णन किया है। इसलिए ग्रन्थकार के द्वारा प्रस्तुत उदाहरण हमारे विचार में सुसमीचीन है ।।

११. करण –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'करण'** (नामक मुख सन्धि के ग्यारवे अङ्ग) को बतला रहे हैं –

प्रकृतारम्भ करणम् **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – करणमिति । प्रकृत (अर्थात् रूपक की मुख्य कथा–वस्तु) का आरम्भ ही करण है ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे – **रत्नावली** नाटिका में **सागरिका कहती है** – 'भगवन् ! कुसुमायुध ! नमस्कार करती हूँ। आज का यह तुम्हारा दर्शन मेरे लिये

युभ। तदमोघदर्शनो मे भविष्यसीति। दृष्ट यत्प्रेक्षितव्यं । तद्यावन्न कोऽपि मां प्रेक्षते तद्गमिष्यामि।) इत्यनेनानन्तगङ्कप्रकृतनिर्विघ्नदर्शनारम्भणात्करणम् ।।

यथा च **वेणीसंहारे** – 'तत्पाञ्चालि। गच्छामो वयमिदानी कुरुकुलक्षयाय इति। महदेव· – आर्य। गच्छाम इदानीं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुम्।' इत्येने–नानन्तगङ्कप्रस्तूयमानसङ्ग्रामारम्भणात्करणमिति। सर्वत्र चेहोद्देशप्रतिनिर्देशवैषम्य क्रियाक्रमस्याविवक्षितत्वादिति ।।

अथ भेद: –

– भेद: प्रोत्साहना मता ।। २९ ।।

व्यर्थ न हो। (प्रणाम करके) जो देखना था देख लिया, जब तक कोई देख नहीं लेता तब तक चली जाती हूँ।' सागरिका के इस कथन के द्वारा भावी अङ्क में सम्पन्न होने वाले (उदयन तथा सागरिका के परस्पर) निर्विघ्न दर्शन के आरम्भ का सङ्केत अभिव्यक्त होने के कारण यहाँ करण (नामक मुखसन्धि का अङ्ग) हैं

यथेति – इसी प्रकार **वेणीसंहार** नाटक में – "**भीम** – तो पाञ्चाली ! अब हम कुरुकुल के नाश के लिए जा रहे हैं। **सहदेव** – आर्य ! अब गुरुजनों की आज्ञा पाकर पराक्रम के अनुरूप कार्य करने के लिए हम चले।" इस कथन के द्वारा अग्रिम अङ्क में प्रारम्भ किये जाने वाले युद्ध का आरम्भ व्यञ्जित है, अत: यहाँ **करण** है। यहाँ भीम व सहदेव के वाक्यों में–दोनों स्थलों पर उद्देश तथा विधेय के क्रम में व्यतिक्रम परिलक्षित होता है। वस्तुत· वाक्य में प्रथम उद्देश (करूकुलक्षयाय, विक्रमानुरूपमाचरितुम्) का प्रयोग किया जाना चाहिए, पश्चात् विधेयरूप क्रिया (गच्छाम·) का। किन्तु यहाँ प्रथम क्रिया (गच्छाम·) का प्रयोग किया गया है, पश्चात् उद्देश का, यह दोष परिलक्षित होता है। ऐसी शङ्का उपस्थित होने पर इसका समाधान करते हुए वृत्तिकार धनिक कहते हैं कि यहाँ 'गच्छाम:' क्रिया कवि की इच्छित न होकर, 'कुरुकुलक्षय' या 'विक्रमानुरूपाचरण' ही विवक्षित है। अत: वही विधेय होने के कारण यहाँ बाद में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ अग्रिम अंक में भावी सग्राम के आरम्भ किये जाने से 'करण' है ।।

परामर्श – आचार्य भरत का लक्षण भी उपर्युक्तार्थ बोधक ही है। उनका कहना है कि प्रस्तुत विषय या कार्य का प्रारम्भ कर देना **'करण'** कहलाता है –

।। प्रकृतार्थसमारम्भ: करणं परिचक्षते ।। (ना० शा० १९।७४) ।।

१२. भेद –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'भेद'** (नामक मुख सन्धि के बारहवें अङ्ग) को बतला रहे हैं –

प्रोत्साहना भेद: मता **इत्यन्वय:** ।।

कारिकार्थ – भेद इति । प्रोत्साहन को भेद माना गया है ।। २९ ।।

यथा **वेणीसंहारे** द्रौपदी – 'णाध! माक्खु जण्णसेणीपरिभवुद्दीविदकोवा अणपेक्खिदसरीरा परिक्कमिस्सध । जदो अप्पमत्तसञ्चरणीयाइ सुणीयन्ति रिउबलाइं। ('नाथ ! मा खलु याज्ञसेनीपरिभवोद्दीपितकोपा अनपेक्षितशरीरा परिक्रमिष्यथ । यतोऽप्रमत्तसञ्चरणीयानि श्रूयन्ते रिपुबलानि।') भीम – अयि सुक्षत्रिये ।

'अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसामांसमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
सङ्ग्रामैकार्णवान्त पयसि विचरितु पण्डिता. पाण्डुपुत्रा ॥'

इत्यनेन विषण्णाया द्रौपद्या: क्रोधोत्साहबीजानुगुण्येनैव प्रोत्साहनाद्भेद इति । एतानि च द्वादशमुखाङ्गानि बीजारम्भद्योतकानि साक्षात्पारम्पर्येण वा विधेयानि । एतेषामुपक्षेप–परिकरपरिन्यासयुक्त्युद्भेदसमाधानानामवश्यभावितेति ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **वेणीसंहार** नाटक मे – **द्रौपदी** – नाथ ! मुझ याज्ञसेनी के अपमान से क्रोधाग्नि को उद्दीप्त करके अपने शरीर की उपेक्षा कर संग्राम मे न जाना । क्योंकि सुना जाता है कि बड़ी सावधानी के साथ शत्रुसैन्य का अनुसरण करना चाहिए ।

भीम इति । भीमसेन – अयि क्षत्रिये !

अन्योन्येति । जिस समर भूमि समुद्र के गभीर जल में, परस्पर टकराने से हाथियो के फूटे हुए मस्तक से निकलते हुए रक्त, मांस, चर्बी तथा मस्तक के कीचड मे धँसे हुए रथों पर पैर रखकर पैदल योद्धा आक्रमण करके अमङ्गल शब्द करती हुई श्रृगाली को तुरही मान कबन्ध नृत्य कर रहे हों, उसमें विचरण करने के लिए पाण्डव दक्ष हैं। इसमें तुम थोड़ी भी चिन्ता न करो ।

इत्यनेनेति । इस कथन के द्वारा क्रोध और उत्साहरूपी बीज के अनुरूप ही चिन्ताग्रस्त द्रौपदी को प्रोत्साहन देने के कारण यहाँ 'भेद' (नामक मुखसन्धि का अङ्ग) है।

एतानीति । इस प्रकार मुखसन्धि के बारहों अङ्गों का विवेचन किया गया है। ये सब **बीज** (अर्थप्रकृति) एवं **आरम्भ** (कार्यावस्था) के द्योतक हैं। रूपकों में इनका विधान साक्षात् या परम्परा के अनुसार किया जा सकता है। रूपक में यदि समस्त अङ्गों का विधान करना संभव न हो तो उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, उद्भेद तथा समाधान का तो अवश्य ही विधान करना चाहिए। अन्यथा उक्त विधान के अभाव में अङ्गहीन पुरुष की तरह रूपक भी शोभा हीन होगा। (ना०शा० १९–५३–५५) ॥ २९ ॥

परामर्श – धनञ्जय कृत प्रस्तुत भेद का लक्षण **आचार्य भरत** की अपेक्षा संकुचित प्रतीत होता है । आचार्य **भरत** के अनुसार मिले हुए (पात्रों) समूह के विभेद को **'भेद'** कहते हैं – ॥ संघातभेदनार्थो य: स भेद इति कीर्तित ॥ (ना० शा० १९।७५) ॥ **आचार्य अभिनव गुप्त** ने लक्षण और परिष्कृत करते हुए कहा कि 'पात्र समूह या संघात का जो स्वयं के प्रयोजन के उपस्थापन के द्वारा रङ्गभूमि से निष्क्रमण

अथ साङ्ग **प्रतिमुखसन्धिमाह** –

लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ।। ३० ।।

तस्य बीजस्य किञ्चिल्लक्ष्य: किञ्चिदलक्ष्य इवोद्भेद: – प्रकाशन तत्**प्रतिमुखम्** । यथा **रत्नावल्यां** द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसङ्गताविदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किञ्चिल्लक्ष्यस्य वासदत्तया च चित्रफलकवृत्तान्तेन किञ्चिदुन्नीयमानस्य दृश्यादृश्यरूपतयोद्भेद· प्रतिमुखमन्धिरिति ।।

या पार्थक्य की सिद्धि के लिये भेदन हो वही 'भेद' नामक मुखसन्ध्यङ्ग है – ।। पात्रसघातस्य यन्निजप्रयोजनोपक्षेपेण निष्क्रमणसिद्धये भेदन प्रकरणमिव स भेद ।। (अभि० भा० १९। ७५) ।। यहाँ ध्यातव्य है कि **आचार्य अभिनव गुप्त** ने रगमन्च से 'निष्क्रमण' को भी जोडा है, और इस परम्परा को नाट्यदर्पणकार आदि ने माना भी है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार 'मघविधात' को 'भेद' कहते हैं। 'भेद सहतभेदनम्' जैसे कि वेणी सहार में – 'भीम – इसलिए आज से मेरा और तुम लोगो का कोई सम्बन्ध नहीं ।' – इसमें 'भेद' नामक सन्ध्यङ्ग है ।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'भेद' का तात्पर्य है – 'पात्रनिर्गमा'। उनके अनुसार 'भेद' का स्वरूप इस प्रकार का है – 'भेदन पात्रनिर्गम. – रङ्गप्रविष्टाना पात्राणा निर्गमो रङ्गान्ति:सरणं येन तद् भेदनम् । पात्राणां यथास्व प्रयोजनवशादितश्चेतश्च गन्तुमन्यार्थो–ऽप्यभिप्राय उद्यमो वा रङ्गान्तिर्गममापादयन् भेदनमुच्यते।' (ना० द० १ विवेक) ।। २९ ।।

२. प्रतिमुखसन्धि और उसके अङ्ग –

अथेति । अब ग्रन्थकार **प्रतिमुख सन्धि** का अङ्गों सहित वर्णन करते हैं –

तस्य लक्ष्यालक्ष्यतया उद्भेद: प्रतिमुखं भवेत् अस्य बिन्दु प्रयत्नानुगमात् त्रयोदश अङ्गानि **इत्यन्वय:** ।।

कारिकार्थ – लक्ष्येति । उस बीज का कुछ दृश्य एवं कुछ अदृश्य रूप में प्रस्फुटन (प्रकाशन) प्रतिमुख सन्धि है। इस सन्धि का निर्माण बिन्दु (नामक अर्थप्रकृति) तथा प्रयत्न (नामक कार्यावस्था) के संयोग से होता है। इसके तेरह अङ्ग होते हैं ।। ३० ।।

वृत्त्यर्थ – तस्येति । (मुख सन्धि में स्थापित किये हुए) बीज का ईषद् दिखाई देना और ईषद् दिखाई न देना और इस लक्ष्यालक्ष्य रूप में उद्भिन्न होकर प्रकट होना 'प्रतिमुख' कहलाता है। {मुख सन्धि में बीज स्थापित किया जाता है, उसे पोषित होने के लिए समुचित वातावरण मिलता है। इस पोषण के द्वारा प्रतिमुख सन्धि में आकर वह प्रस्फुटित होने लगता है, किन्तु जिस प्रकार सर्वप्रथम प्रस्फुटित होने वाला बीजाङ्कुर कुछ–कुछ अस्पष्ट सा होता है, ठीक उसी प्रकार बीज का अङ्कुर ईषद् अस्पष्टरूप में प्रतिमुख सन्धि में उद्भिन्न होता है।}

यथेति । जैसे – रत्नावली नाटिका के प्रथम अङ्क में मदन महोत्सव के अवसर पर वत्सराज को देखने के पश्चात् सागरिका के हृदय में उत्पन्न (भावी)

वेणीसंहारेऽपि द्वितीयेऽङ्के भीष्मादिवधेन किञ्चिल्लक्ष्यस्य कर्णाद्यवधाच्चालक्ष्यस्य क्रोधबीजस्योद्भेदः ।।

'सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम् ।।' (२५)

इत्यादिभिः –

'दुःशासनस्य हृदयक्षतजाम्बुपाने
दुर्योधनस्य च यथा गदयोरुभङ्गे ।
तेजस्विनां समरमूर्धनि पाण्डवानां
ज्ञेया जयद्रथवधेऽपि तथा प्रतिज्ञा ।।'

इत्येवमादिभिश्चोद्भेदः प्रतिमुखसन्धिरिति ।।

समागम का हेतुरूप अनुराग बीज को द्वितीय अङ्क में सुसङ्गता व विदूषक जान जाते है, इस कारण वह कुछ लक्ष्य स्वरूप का होता है, किन्तु वासवदत्ता को चित्र फलक के द्वारा इसका आभास हो जाने के कारण (कार्य में) व्यवधान पहुँचने की आशङ्का से ईषद् अलक्ष्य भी है। इस प्रकार लक्ष्य एवं अलक्ष्य रूप में अनुरागरूपी बीज का प्रस्फुटित (प्रकाशित) होना ही प्रतिमुख सन्धि है।

वेणीसंहार इति । इसी प्रकार **'वेणीसंहार'** नाटक के द्वितीय अङ्क में भीष्म के वध से ईषद् लक्ष्य एवं कर्ण आदि के वध न हो पाने से ईषद् अलक्ष्य क्रोधरूपी बीज का उद्‌भेद इस प्रकार हुआ है –

सहभृत्येति । पाण्डुपुत्र अपने पराक्रम से शीघ्र ही समस्त नौकरों, बान्धवों, मित्रों, पुत्रों तथा भाइयों सहित दुर्योधन का वध कर देंगे, इत्यादि कथन से बीज का उद्‌भेद (दृश्य) ज्ञात होता है। फिर भी –'जयद्रथवध' करने की अर्जुन की प्रतिज्ञा से चिन्ता ग्रस्ता भानुमती को दुर्योधन कहता है --

दुःशासनस्येति । युद्ध में दुःशासन की छाती से रक्त निकाल कर पीने और गदा से दुर्योधन की जङ्घा को चूर–चूर करने की प्रतिज्ञा जिस प्रकार तेजस्वी भीम ने की थी, उनकी जयद्रथ वध के लिए की गई प्रतिज्ञा को भी (निष्फल) समझना चाहिए। अर्थात् पाण्डुपुत्र प्रतिज्ञा पूर्ण नही कर सकेंगे' इत्यादि वचनों से क्रोधरूपी बीज के अदृश्य (उद्‌भिन्न) होने के कारण यहाँ 'प्रतिमुख' सन्धि है।। ३०।।

परामर्श – प्रतिमुख संधि के विषय में धनञ्जय तथा अभिनवगुप्त में पर्याप्त मत–भेद दिखाई देता है। **आचार्य धनञ्जय** के अनुसार बीज की वह विकसित दशा प्रतिमुख संधि का विधायक होती है जिसमें उसका कुछ अंश प्रकट रूप तथा कुछ अंश अप्रकटरूप है। जैसे **रत्नावली** नाटिका के द्वितीय अङ्क में बीज अर्थात 'राजा उदयन से विवाह का मूल कारण सागरिका प्रेम' विकसित होता है। सागरिका का यह प्रेमभाव आंशिक रूप से प्रकट तथा आंशिक रूप से अप्रकट दशा में है। यह प्रकटरूप इस अर्थ मे है क्योंकि उसकी सखी सुसङ्गता एवं राजा उदयन के मित्र विदूषक इस प्रेमभाव को जानते हैं। परन्तु यह अप्रकट भी है क्योंकि चित्रफलक

अस्य च पूर्वाङ्कोपक्षिप्तबिन्दुरूपबीजप्रयत्नार्थानुगतानि त्रयोदशाङ्गानि भवन्ति, तान्याह –

विलासः परिसर्पश्च विधूतं शमनर्मणी ।
नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पर्युपासनम् ॥ ३१ ॥
वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।

के प्रत्यक्ष के आधार पर महारानी वासवदत्ता उस प्रेमभाव को अनुमान प्रमाण से ही जान सकती है । किन्तु **आचार्य अभिनव गुप्त** के मत मे बीज का आंशिक रूप से प्रत्यक्ष रहना और आंशिक रूप मे अप्रत्यक्ष रहने का जो क्रम मुखसन्धि में प्रदर्शित किया गया उसी का विकसित एव स्फुटदशा मे आना प्रतिमुख सन्धि है। जैसे – **रत्नावली** नाटिका के प्रथम अङ्क मे महामात्य यौगन्धरायण ने सागरिका की जिस क्रिया का वर्णन किया है वह समस्त भावी विकासो की जननी होने के कारण बीज स्वरूप है। वसन्तोत्सव के दृश्य के प्रदर्शन के कारण यह क्रिया पृष्ठभूमि मे पड जाती है। जिस प्रकार से बीज को भूमि ढक लेती है उसी प्रकार से रत्नावली की क्रिया को वसन्तोत्सव का यह अंश ढक लेता है। और जिस प्रकार से बीज को अपने मे ढक कर भूमि यथार्थ में उसको विकसित करने में सहायक होती है उसी प्रकार वसन्तोत्सव का दृश्य भी सागरिका की क्रिया को विकसित करने मे सहायक होता है – ॥ दृष्ट नष्टमिव कृत्वा तावन्मुखे न्यस्तं भूमाविव बीज, अमात्येन सागरिका चेष्टित वसन्तोत्सवकामदेवपूजादिना तिरोहित नष्टमिव सागरिका चेष्टितस्य हि बीजस्येव तदाच्छादकमप्युत्सवादिरूप भूमिरिव प्रत्युद्बोधकम् ॥ (अभि० भा० १९। ४०)॥

इस प्रकार से प्रथम अङ्क मे कार्य का बीज जो प्रारम्भ में स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष है वसन्तोत्सव के दृश्य से प्रच्छन्न कर दिया जाता है। अतएव **आचार्य अभिनवगुप्त** का अभिमत यह है कि प्रतिमुख संधि का मुख्य कार्य उस बीज को पूर्णरूपेण स्फुट करना है जो मुख संधि मे प्रत्यक्ष होते हुए भी इस प्रकार पृष्ठभूमि मे पटक दिया जाता है कि वह अप्रत्यक्ष में समान रह जाता है ।

इसे प्रतिमुख संधि कहने का कारण यह है कि इसमें मुख संधि के प्रतिकूल चेष्टा रहती है। जैसे मुखसंधि में बीज को प्रच्छन्न करने की चेष्टा की जाती है परन्तु प्रतिमुख संधि मे उसी बीज को प्रत्यक्ष प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति होती है – ॥ प्रतिमुखं प्रतिराभिमुख्येन यतोऽत्र वृत्ति.। पराङ्मुखता हि दृष्टनष्टकल्पनानिदर्शनम् ॥ (अभि० भा० १९। ४०) ॥ ३० ॥

अस्येति । पूर्व अङ्क में संकेतित बिन्दु रूप बीज और प्रयत्न नामक कार्यावस्था के आधार पर प्रतिमुख सन्धि के तेरह अङ्ग होते हैं । अब ग्रन्थकार प्रतिमुख सन्धि के अङ्गों को बताते हैं –

कारिकार्थ – विलास इति । १. विलास २. परिसर्प ३. विधूत ४. शम ५. नर्म ६. नर्मद्युति ७. प्रगमन ८. निरोध ९. पर्युपासन १०. वज्र ११. पुष्प १२. उपन्यास तथा १३. वर्णसंहार – ये प्रतिमुख सन्धि के तेरह अङ्ग होते हैं ॥ ३१–३२ ॥

यथोद्देश लक्षणमाह --

रत्यर्थेहा विलासः स्याद् --

यथा **रत्नावल्याम्** -- 'सागरिका-- हिअअ! पसीद पसीद। किं इमिणा आआसमेत्तफलेण दुल्लहजणप्पत्थणाणुबन्धेण ।' ('हृदय, प्रसीद प्रसीद। किमनेनायासमात्रफलेन दुर्लभजनप्रार्थनानुबन्धेन।') इत्युपक्रमे 'तहावि आलेक्खगदं तं जणं कदुअ जधासमीहिदं करिस्सम्, तहावि तस्स णत्थि अण्णो दंसणोवाउत्ति।' ('तथाप्यालेखगतं तं जनं कृत्वा यथासमीहितं करिष्यामि। तथापि तस्य नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति।') इत्येतैर्वत्सराजसमागमरतिं चित्रादिजन्यामप्युद्दिश्य सागरिकाया श्चेष्टाप्रयत्नोऽनुरागबीजानुगतो विलास इति।।

{१. समागम मे रति की चेष्टाएँ **विलास** है, २. एक बार देखे हुए किन्तु नष्ट बीज का शोध **परिसर्प** है, ३. सुरत की प्राप्ति न होने पर अरति **'विधूत'** है, ४. उस अरति की शान्ति **शम** है, ५. परिहास युक्त वचन **नर्म** है, ६. परिहास से उत्पन्न धृति **'नर्मद्युति'** है, ७. बीज के अनुकूल संवाद **'प्रगमन'** है, ८. हित का अवरोध **'निरोधन'** है, ९. अनुनय विनययुक्त वचन **'पर्युपासन'** है १०. विशेषता युक्त वाक्य **'पुष्प'** है, ११. निष्ठुर वचन **'वज्र'** है, १२. उपाय युक्त वाक्य 'उपन्यास' है, १३. और चारो वर्णो का सङ्गम **'वर्णसंहार'** है।}।। ३१--३२ ।।

१. विलास --

यथोद्देशमिति । अब ग्रन्थकार क्रमप्राप्त प्रतिमुख सन्धि के प्रथम अङ्ग **'विलास'** को बतलाते हैं --

कारिकार्थ -- रत्यर्थेहेति । रति के लिए उत्पन्न इच्छा को विलास कहा जाता है।

{अर्थात् रति की अभिलाषा विलास है। (जहाँ नायक एव नायिका के द्वारा **परस्पर एक दूसरे के प्रति रति क्रीडा की अभिलाषा अभिव्यक्त की जाती है** वह 'विलास' **है।) यहाँ विशेष ध्यातव्य है कि 'रति' शब्द से** शृङ्गारेतर रस मे तत्तत् रस विशेष के **स्थायि भावों का ही ग्रहण करना चाहिए। नाट्य** दर्पणकार **कहते है--जैसे** शृङ्गार **प्रधान रूपक--प्रबन्धों में नायक और नायिका की परस्पर** रतिसमीहा **को** 'विलास' कहा गया है, **वैसे ही वीररस प्रधान रूपक--प्रबन्धों में उत्साहविषयक समीहा भी** 'विलास' **ही है।}।।**

वृत्त्यर्थ -- यथेति। जैसे -- **रत्नावली** नाटिका मे -- **'सागरिका** -- हे हृदय! प्रसन्न हो, प्रसन्न हो, जिसका फल केवल कष्ट ही हो ऐसे दुर्लभ व्यक्ति की प्राप्ति के लिए इतनी प्रबल इच्छा ही क्यों ? 'यहाँ से आरम्भ करके' -- तो भी उस (उदयनरूप) जन को चित्रांकित करके अपना अभिलषित कार्य करूँगी, क्योंकि उसे देखने का अन्य कोई उपाय नहीं है।'

इतीति । प्रकृत में वत्सराज के साथ समागमरति **की इच्छा** को **पूर्ण** करने **के लिए** सागरिका **उसके (उदयन के) चित्राङ्कन के द्वारा ही उसे प्राप्त** करने की **चेष्टा करती है। यह चेष्टा प्रयत्न की अवस्था से संबद्ध होने से यहाँ** सागरिका का अनुरागरूपी **बीज** व्यञ्जित हो रहा है, इसलिए रति की इच्छा से यहाँ (प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) 'विलास' **है।**

अथ परिसर्पः –

– दृष्टनष्टानुसर्पणम् ।। ३२ ।।

परिसर्पः –

यथा **वेणीसंहारे** – 'कञ्चुकी – योऽयमुद्यतेषु बलवत्सु, अथवा किं बलवत्सु! वासुदेवसहायेष्वरिष्विद्याप्यन्तःपुरसुखमनुभवति, इदमपरमयथातथं स्वामिन –

'आशस्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने–
स्तापायास्य न पाण्डुसूनुभिरयं भीष्मः शरैः शायितः ।
प्रौढानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो
बालस्यायमरातिलूनधनुषः प्रीतोऽभिमन्योर्वधात् ।।' (२ २)

इत्यनेन भीष्मादिवधे दृष्टस्याभिमन्युवधान्नष्टस्य बलवता पाण्डवाना वासुदेव–

परामर्श – आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार 'नायकादि के रति या अनुराग के कारणीभूत विषय नायिकादि, की इच्छा करना 'विलास' है। जिन रूपको का काम–फल रखा जाता है ऐसे रूपकों में–रति के आस्थाफलत्व रूप रहते हैं – ।। रतिलक्षणस्य भावस्य हेतुभूतो यो भोगो विषयः प्रमदा पुरुषो वा तदर्था या समीहा स विलासः। कामफलेषु रूपकेषु प्रतिमुख एव ह्यास्थाफलत्वेन रतिरूपेण भाव्यम् ।। (अभि० भा० १९।७६) ।।

२. **परिसर्प –**

अथेति । अब ग्रन्थकार प्रतिमुख सन्धि के दूसरे अङ्ग **'परिसर्प'** को बतलाते हैं –

कारिकार्थ – दृष्टेति । प्रथम देखे गये किन्तु पश्चात् नष्ट हुए बीज का अन्वेषण परिसर्प कहलाता है ।। ३२ ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे कि **'वेणीसंहार'** नाटक में – **कञ्चुकी** कहता है – पाण्डुपुत्रों के युद्ध के लिए उद्यत होने पर, वे चाहे प्रबल हों चाहें निर्बल, हैं तो वे वासुदेव की सहायता से सम्पन्न, फिर भी, महाराज अन्तःपुर के विहार का सुखानुभव कर रहे हैं । (विचार कर) स्वामी का यह एक दूसरा अनुचित कार्य है जिसे महाराज कर रहे हैं। क्योंकि –

अशस्त्रेति । परशुराम सदृश वीर मुनि के, जिनका कुठार कभी कुण्ठित नही हुआ, विजेता भीष्मपितामह को पाण्डु–पुत्रों ने बाण वर्षा कर धराशायी बना दिया, यह भी महाराज को लेशमात्र भी चिन्तित नहीं करता और असहाय बालक अभिमन्यु के, जिनके धनुष को शत्रुओं ने काट डाला और अनेक युवा धनुर्धर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने से थका हुआ था, (उसके) वध से महाराज प्रसन्न हैं ।

इत्यनेनेति । इस प्रकार भीष्म के वध से दृष्ट किन्तु अभिमन्यु के वध से नष्ट बिन्दु नामक बीज का, कृष्ण की मदद से सम्पन्न वीर–पाण्डुपुत्रों के युद्धरूपी बिन्दु नामक बीज तथा प्रयत्न नामक अवस्था के अनुगमन से कञ्चुकी के मुख से

महायाना सङ्ग्रामलक्षणबिन्दुबीजप्रयत्नान्वयेन कञ्चुकिमुखेन बीजानुसर्पण परिसर्प इति ।।

यथा च **रत्नावल्यां** सारिकावचनचित्रदर्शनाभ्यां सागरिकानुरागबीजस्य दृष्टनष्टस्य 'क्वासौ क्वासौ' इत्यादिना वत्सराजेनानुसरणात्परिसर्प इति ।।

अथ विधूतम् –

— विधूतं स्यादरतिः —

इस पद्य मे पुन बीज का अन्वेषण किया गया है। अत: यहाँ 'परिसर्प' नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग है।

यथेति । और जैसे, **रत्नावली नाटिका** मे सागरिका के वचन एव चित्रफलक के दर्शन से सागरिका के अनुराग बीज क्रम से दृष्ट तथा नष्ट हो गया है। उसी का 'वह कहाँ है, वह कहाँ है, कहकर वत्सराज के द्वारा अन्वेषण किया जाता है, अत यहाँ **'परिसर्प'** है ।। ३२ ।।

परामर्श — आचार्य भरत के अनुसार एक बार देखी या लुप्त प्राय· अभीष्ट वस्तु का अन्वेषण करना 'परिसर्प' कहा जाता है – ।। दृष्टनष्टानुसरणं परिसर्पस्तु वर्ण्यते ।। (ना० शा० १९।७६) ।। भरत के लक्षण को और अधिक स्पष्ट करते हुए **शारदातनय** कहते हैं कि जहाँ बीज एक बार दृष्ट हो गया हो, किन्तु पुन दृष्ट होकर नष्ट हो जाय और उसकी खोज की जाय, तो वह अन्वेषण 'परिसर्प' कहा जाता है –

।। परिसर्पस्तु बीजस्य दृष्टनष्टानुसर्पणम् ।। (भा० प्र० ७।१९१) ।।

कतिपय नाट्य शास्त्राचार्य 'परिसर्प' को 'अनुसर्पण' कहते हैं। 'अनुसर्पण' का तात्पर्य नष्ट किन्तु इष्ट वस्तु की ईहा है – "नष्टेष्टेहाऽनुसर्पणम्– पूर्वमुपलब्धस्य पुनरन्तरितस्येनिवृत्तवशादभिलषित स्यार्थस्येहाऽन्वेषणमनु सर्पणम् ।" यह 'परिसर्प' अथवा 'अनुसर्पण' नाट्य के इतिवृत्त का अंश या अवयव नही है। वस्तुत· इसका सम्बन्ध नाट्य–पात्र के चरित–चित्रण से है। नाट्य के प्रधान पात्र के हृदयस्थ भाव के साथ इसका सम्बन्ध है ।। ३२ ।।

३. विधूत –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'विधूत'** नामक प्रतिमुख–सन्धि के तीसरे अङ्ग को बतलाते हैं –

अरति: विधूतम् स्यात् **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ — विधूतमिति। सुखप्रद वस्तुओं के प्रति अरति की भावना उत्पन्न होने को 'विधूत' कहते हैं ।

{अर्थात् बीज के नष्ट होने पर पात्र उद्विग्न होकर लक्ष्य को अलक्ष्य मानकर उसके प्रति विरक्त हो जाता है, उसकी इच्छा त्याग देता है, इस स्थिति को 'विधूत' कहते हैं। ऐसी अरुचि रूपक के नायक या नायिका दोनों को हो सकती है। वस्तुतः अभीष्ट वस्तु की अप्राप्ति ही अरुचि का कारण है ।}।।

यथा **रत्नावल्याम्** — 'सागरिका — सहि! अहिअं मे संतावो बाधेदि। ('सखि! अधिकं मे सन्तापो बाधते।') (सुसङ्गता दीर्घिकातो नलिनीदलानि मृणालिकाश्चानीयास्या अङ्गे ददाति)। सागरिका — (तानि क्षिपन्ती) सहि! अवणेहि एदाइं। किं अआरणे अत्ताणं आयासेसि? ण भणामि — (सखि! अपनयैतानि। किमकारणे आत्मानमायासयसि? ननु भणामि —)

'दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परव्वसो अप्पा।
पिअसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवर एक्कम्।।' (२१)
(दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं केवलमेकम्'।।)

इत्यनेन सागरिकाया अनुराग बीजान्वयेन शीतोपचारविधूननाद्विधूतम् ।।

यथा च **वेणीसंहारे** भानुमत्या दुःस्वप्नदर्शनेन दुर्योधनस्यानिष्टशङ्कया पाण्डवविजयशङ्कया वा रतेर्विधूननमिति ।।

वृत्त्यर्थ — यथेति। जैसे, **रत्नावली** नाटिका मे — **सागरिका** के ये वचन — ''सखि! मेरा सताप और अधिक बढ़ता ही है।'' (सुसङ्गता सरोवर से कमल के पत्ते और मृणालों को लाकर सागरिका के शरीर को ढक देती है) **सागरिका** — (उनको फेंकती हुई) ''सखि! दूर करो इन कमलपत्रों और मृणालों को। इनसे क्या होगा? व्यर्थ क्यों कष्ट उठाती हो? मै तुझे बताती हूँ, सुन —

दुर्लभेति । 'मेरा मन दुर्लभजन मे आसक्त हो गया है, किन्तु अत्यधिक लज्जा होने के कारण मैं कुछ कह नहीं पाती हूँ, आत्मा परवश है। इस विषम प्रेम मे केवल मरण ही एक शरण है।''

इत्यनेनेति । यहाँ अनुराग रूपी बीज के सम्बन्ध से शीतोपचार के लिए रखी गयी सामग्रियों के प्रति अरुचि—अरति—'विधूत' है ।

यथा चेति । इसी प्रकार **'वेणीसंहार'** नाटक में दुःस्वप्न के कारण दुर्योधन का अनिष्ट और पाण्डवों के विजय की शङ्का से भानुमती की रति के प्रति अरुचि—विरक्ति 'विधूत' है ।।

परामर्श — आचार्य भरत के अनुसार—किसी के पूर्वकृत अनुनय अथवा सान्त्वना के वचनों का स्वीकार न करना **'विधूत'** है — ।। कृतस्यानुनयस्यादौ विधूतमपरिग्रहः ।। (ना० शा० १९।७७) ।। परन्तु **आचार्य अभिनव गुप्त** ने 'विधूत' के लक्षण को और अधिक परिष्कृत करते हुए कहा है कि — प्रथमतः किये गये साम आदि वचनो से अनुनय को अङ्गीकार न करना और पश्चात् उसे ही स्वीकार कर लेना **विधूत** है — ।। आदौ प्रथमतः कृतस्यानुनयस्य सामवचसो नाङ्गीकरणं विधूतं पश्चात् पुनः अङ्गीकरणमिति ।। (अभि० भा० १९।७७) ।।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि दशरूपकार आदि ने 'वैराग्य' की भावना को 'विधूत' कहा है। **शारदातनय** कहते हैं कि —युवक—युवती के मध्य सुरत की अप्राप्ति के कारण उत्पन्न होने वाली अरति 'विधूत' कहलाती है — ।। विधूतमरतिर्यूनोस्सुर—

अथ शमः –

– तच्छमः शमः ।

तस्या अरतेरुपशम शम यथा **रत्नावल्याम्** –'राजा – वयस्य ! अनया लिखितोऽहमिति यत्सत्यमात्मन्यपि मे बहुमानस्तत्कथ न पश्यामि।' इति प्रक्रमे 'सागरिका – (आत्मगतम्) हिअअ! समस्सस । मणोरहोवि दे एत्तिअं भूमिं ण गदो ।' ('हृदय ! समाश्वसिहि । मनोरथोऽपि त एतावती भूमि न गत.।') इति किञ्चिदरत्युपशमाच्छम इति ॥

अथ नर्म –

परिहासवचो नर्म –

यथा **रत्नावल्याम्** – 'सुसङ्गता – सहि! जस्स कए तुम आअदा सो अअ

ताप्राप्तिमम्भवा ॥ (भा० प्र० ७।१९२) ॥ **नाट्यदर्पणकार** ने विधुत' अथवा 'विधूत' – इस मन्ध्यङ्गको 'धूनन' कहा है ॥

४. शम –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'शम'** (नामक प्रतिमुख सन्धि के चौथे अङ्ग) को बतलाते हैं –

कारिकार्थ – तच्छम इति। उस (अरति) का उपशमन ही शम है।

वृत्त्यर्थ – तस्या इति । अर्थात् अरति (लक्ष्य के प्रति विरक्ति) के दूर हो जाने को '**शम**' कहते हैं।

यथेति । जैसे **रत्नावली** नाटिका में जब सागरिका अपने प्रति राजा उदयन का अनुराग जान लेती है, तो उसकी अरति दूर हो जाती है; (क्योंकि उसे उदयन की प्राप्ति की आशा हो जाती है। इसलिए यहाँ 'शम' नामक प्रतिमुख सन्ध्याङ्ग निम्नोक्त पक्तियों से स्पष्ट है – **राजा** – मित्र ! इस रमणी ने मेरा चित्र अकित किया है, इससे मेरे मन मे अपने स्वरूप के प्रति विशेष आदर हुआ है, तो मैं इस चित्रफलक को क्यो न देखूगॉ ? ऐसा उपक्रम होने पर सागरिका – (राजा के शब्द सुनकर अपने आप) हृदय! आश्वस्त रह, धैर्य रख, तेरा तो मनोरथ भी यहाँ तक नहीं पहुँच पाया था।'' इस कथन से सागरिका की अरति का कुछ मात्रा में उपशमन होने से **'शम'** है ॥

परामर्श – दशरूपककार ने **भरतोक्त** 'तापन' के बदले 'शम' को प्रतिमुखसन्धि का अङ्ग बताया है और शम का तात्पर्य है 'अरति का उपशमन' ॥

५. नर्म –

अथेति । अब ग्रन्थकार प्रतिमुख सन्धि के **'नर्म'** नामक पांचवें अङ्ग का [illegible] करते हैं –

कारिकार्थ – परीति। परिहासयुक्त वचन को 'नर्म' कहा जाता है ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – **रत्नावली** नाटिका में – **सुसङ्गता** – ''सखि ! [illegible] लिए तुम [illegible] आई हो वह सामने उपस्थित है।'' **सागरिका** – (कुछ क्रोध के

पुग्दो चिट्ठदि।' ('सखि! यस्य कृते त्वमागता सोऽय पुरतस्तिष्ठति') सागरिका — (साभूयम्) सुसङ्गदे। कस्स कए अह आअदा? ('सुसङ्गते! कस्य कृतेऽहमागता?') सुसङ्गता — अइ अप्पसकिदे! ण चित्तफलअस्स ता गेण्ह एदम्। ('अयि आत्मशङ्किते! ननु चित्रफलकस्य। तद्गृहाणैतत्।') इत्यनेन बीजान्वित परिहासवचन नर्म ।।

यथा च **वेणीसंहारे** — '(दुर्योधनश्चेटीहस्तादर्घपात्रमादाय देव्या समर्पयति पुन) भानुमति — (अर्घ दत्त्वा) हला! उवणेहि मे कुसुमाई जाव अवराण पि देवाण सवरि अणिवत्तेमि। ('हला उपनय मे कुसुमानि यावदपरेषामपि देवाना सपर्या निवर्तयामि।') (इति हस्तौ प्रसारयति। दुर्योधनः पुष्पाण्युपनयति, भानुमत्या—स्तत्स्पर्शजातकम्पाया हस्तात्पुष्पाणि पतन्ति।)' इत्यनेन नर्मणा दुःस्वप्नदर्शनोपशमार्थ देवतापूजाविघ्नकारिणा बीजोद्घाटनात्परिहासस्य प्रतिमुखाङ्गत्व युक्तमिति ।।

अथ नर्मद्युतिः —

साथ) — मै किसके लिए (यहाँ) आई हूँ।? **सुसङ्गता** — (हँसकर) "अरी, अपने पर शङ्का करने वाली, चित्र—फलक के लिए ही तो आई हो, तो इसे ले लो।"

यहाँ सुसङ्गता महाराज उदयन को लक्ष्यकर सारी बाते परिहास के रूप मे सागरिका से कह रही है। चित्रफलक के ग्रहण का तात्पर्य भी महाराज उदयन से ही है। (अतः) यहाँ अनुरागरूपी बीज से गर्भित परिहास मे कहा गया वचन 'नर्म' (नामक प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग) है ।

यथा चेति । जैसे **वेणीसंहार** मे भी— (दुर्योधन चेटी के हाथ से पूजा का पात्र लेकर देवी भानुमती को देता है, तब)

भानुमती -- (अर्घ्य देकर) सखि! पुष्पो को दे दो ताकि अन्य देवो का पूजन सम्पन्न कर दूँ।" (इसके पश्चात् भानुमती हाथ फैलाती है, दुर्योधन उसके हाथों मे पुष्प देता है। दुर्योधन के हाथों के स्पर्श से भानुमती के हाथों मे कँपकँपी उत्पन्न होने से पुष्प भूमि पर गिरते हैं।)

इत्यनेनेति । इस प्रकार दुर्योधन का यह परिहास दुःस्वप्नदर्शन की शान्ति के लिए भानुमती के द्वारा की हुई पूजा में विघ्न पहुँचाता है और द्रौपदी के केशसंयमन कार्य युधिष्ठिर के उत्साह बीज का ही उद्घाटन करता है। अतः यह परिहास प्रतिमुखसन्ध्यङ्गरूप 'नर्म' ही है ।।

परामर्श — नर्म को क्रीडा के लिए 'हास—परिहास' मानने का तात्पर्य यह है कि इस सन्ध्यङ्ग की योजना शृङ्गार—रस—प्रधान रूपक प्रबन्धों में ही संभव है। इस विषय में **नाट्यदर्पणकार** ने स्पष्ट कहा है —'एते च नर्मद्युती अङ्गे कामप्रधानेष्वेव रूपकेषुनिबन्धमर्हतः। कैशिकी प्राधान्येन तेषां हास्योचितत्वात् ।' (ना० द० १ विवेक)।।

६. नर्मद्युति —

अथेति । अब ग्रन्थकार प्रतिमुखसन्धि के छठे अङ्ग **'नर्मद्युति'** को बतलाते हैं —

धृतिः तज्जा द्युतिः मता **इत्यन्वयः** ।। ३३ ।।

— धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता ॥ ३३ ॥

यथा **रत्नावल्याम्** – 'सुसङ्गता – सहि, अदिणिट्ठुरा दाणिं सि तुमम्, जा एव पि भट्टिणा हत्थावलम्बिदा कोवं ण मुञ्चसि। (सखि! अतिनिष्ठुरेदानीमसि त्वम् यैवमपि भर्त्रा हस्तावलम्बिता कोप न मुञ्चसि।') सागरिका –(सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य) सुसङ्गदे! दाणि पि ण विरमसि।' ('सुसङ्गते! इदानीमपि न विरमसि।') इत्यनेनानुरागबीजोद्घाटनान्वयेन द्युतिर्नर्मजा द्युतिरिति दर्शितमिति ॥

अथ प्रगमनम् –

उत्तरा वाक्प्रगमनम् –

कारिकार्थ – धृतिरिति । परिहास से उत्पन्न आनन्द अथवा विकार को छिपाने के लिए धैर्य करना नर्मद्युति है। {अर्थात् – धैर्य की स्थिति ही नर्मद्युति है। (नर्मद्युति के अन्तर्गत पात्र को धैर्य धारण करना होता है } ॥ ३३ ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे – **रत्नावली** में – **सुसङ्गता** – सखि ! अब तुम बड़ी निष्ठुर हो गई हो, महाराज इस तरह तुम्हारा हाथ पकड़े फिर भी तुम नही मानती । **सागरिका** – (भ्रूभङ्ग के साथ) सुसङ्गते, अभी भी नहीं रूकती?

इत्यनेनेति । यहाँ (सागरिका के उदयन सम्बन्धी) अनुराग–बीज के प्रकाशन के सम्बन्ध से परिहास द्वारा उत्पन्न सागरिका के (आनन्द को छिपाने) धैर्य का सकेत है। अत· यहाँ नर्मद्युति (नामक प्रतिमुख सन्धिका अङ्ग) है ॥ ३३ ॥

परामर्श – प्रस्तुत लक्षण भी **आचार्य भरत** के लक्षण से भिन्न प्रतीत होता है। आचार्य भरत के अनुसार–अपने दोष को छुपाने हेतु जो परिहास किया जाए उसे **नर्मद्युति** कहते हैं – ॥ दोषप्रच्छादनार्थं तु हास्यं नर्मद्युति स्मृतम् ॥ (ना० शा० १९।७८) ॥

उपर्युक्त भाव को सवर्धित करते हुए **अभिनवगुप्त** कहते हैं कि – जिस कथन से दोष को प्रच्छादित किया जाय या करना चाहा जाए उसका भी हास्य के साथ नर्म द्योतित होने से वह **'नर्मद्युति'** नामक सन्ध्यङ्ग होता है – ॥ दोषो येनोक्तेन प्रच्छादयितुमिष्यते तस्यापि हास्यजननत्वेन नर्म च सुतरां द्योतितं भवतीति नर्मद्युति· ॥ (अभि० भा० १९।७८)॥ **साहित्यदर्पणकार** परिहास से उत्पन्न होने वाली कान्ति को नर्मद्युति कहते हैं– ॥ द्युतिस्तु परिहासजा ॥ नर्मद्युतिः ॥ (सा० द० ६।९१) ॥ **शारदातनय** का लक्षण दशरूपकार से साम्य रखता है। उनका भी कहना है कि परिहास से उत्पन्न धृति को 'नर्मद्युति' कहते है – ॥ धृतिस्तज्जा द्युतिर्भवेत् ॥ (७।१९३) ॥ ३३ ॥

७. प्रगमन –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'प्रगमन'** नामक प्रतिमुख सन्धि के सातवें अङ्ग को बतलाते हैं –

उत्तरा वाक् प्रगमनम् **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ – उत्तरेति । बीज के अनुकूल उत्तर–प्रत्युत्तरयुक्त वचन को 'प्रगमन' कहते हैं । { बीज को उत्तरोत्तर प्रकाशित करने वाला नाट्य के पात्रों का संवाद ही 'प्रगमन' है । }॥

यथा **रत्नावल्याम्** – 'विदूषकः– भो वअस्स! दिट्ठिआ वड्ढसे। ('भो वयस्य! दिष्ट्या वर्धसे।') राजा – (सकौतुकम्) वयस्य! किमेतत्? विदूषकः– भो! एदं क्खु त ज मए भणिदं तुमं एव्व आलिहिदो को अण्णो कुसुमाउहव्ववदेसेण णिण्हवीअदि।' (भोः! एतत्खलु तद्यन्मया भणितं त्वमेवालिखितम्। कोऽन्यः कुसुमा–युधव्यपदेशेन निह्नूयते।') इत्यादिना ॥

'परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात्किं शोषमायासि मृणालहार! ।
न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य तत्रावकाशो भवतः किमु स्यात् ॥' (२.१५)

इत्यनेन राजविदूषकसागरिकासुसङ्गतानामन्योन्यवचनेनोत्तरानुराग–बीजोद्घाटनात्प्रगमनमिति ॥

अथ निरोधः –

– हितरोधो निरोधनम् ।

यथा रत्नावल्याम् – 'राजा – धिङ्मूर्ख !

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – रत्नावली में प्रसङ्ग इस प्रकार है – **विदूषक** – मित्र, बड़ी प्रसन्नता की बात है। तुम बड़े भाग्यशाली हो। **राजा** – (कौतुक से) मित्र! क्या बात है? **विदूषक** – अरे, यह वही है, जो मैंने कहा था। इस चित्र में तुम्हीं चित्रित हो, कामदेव के व्याज से अन्य कौन छिपाया जा सकता है ?

राजा – हे मृणालहार ! उसके स्तनों के मध्यवर्ती भाग से गिरकर क्यों सूख रहा है। अरे जहाँ तेरे सूक्ष्म तन्तु के लिए भी स्थान नहीं, है (तो फिर) तुम्हारे लिये कैसे संभव हो सकता है ? राजा उदयन, विदूषक, सागरिका, सुसङ्गता आदि के पारस्परिक संवाद द्वारा अनुराग–बीज का और अधिक प्रकाशित होना। (अर्थात् नहीं हो सकता) 'प्रगमन' की व्यंजना विदूषक और राजा के उक्त संवाद से हो रही है ॥

परामर्श – आचार्य भरत ने धनञ्जय कथित 'प्रगमन' को 'प्रगयण' कहा है – उनके अनुसार – उत्तर–प्रत्युत्तर में उत्तरोत्तर उत्कृष्टवचनों का प्रयोग करना 'प्रगयण' कहा जाता है – ॥ **उत्तरोत्तरवाक्यं तु भवेत्प्रगयणं पुनः** ॥ (ना० शा० १९।७९) ॥ **नाट्यदर्पणकार** ने 'प्रगमन' को 'प्रतिवाक्श्रेणी' कहा है – 'प्रगमः प्रतिवाक्श्रेणिः'– (ना० द० १ म० विवेक) ॥

८. निरोध –

अथेति। अब ग्रन्थकार निरोध या 'निरोधन' को बतलाते हैं।

हितरोधः निरोधनम् **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ – हितेति। अभिलषित वस्तु का (किसी आकस्मिक घटना के द्वारा) रोक दिया जाना ही 'निरोध' या 'निरोधन' नामक प्रतिमुख सन्धि का आठवाँ अङ्ग है। संक्षेप में हित में किसी कारण वश अवरोध उत्पन्न होना 'निरोध' है ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – **रत्नावली** नाटिका में – राजा – धिक्! मूर्ख!

प्राप्ता कथमपि दैवात्कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा ।
रत्नावलीव कान्ता मम हस्ताद्भ्रंशिता भवता ।।' (२.१९)

इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागमरूपहितस्य वासवदत्ताप्रवेशसूचकेन विदूषकवचसा निरोधान्निरोधनमिति ।।

अथ पर्युपासनम् –

पर्युपास्तिरनुनयः –

यथा रत्नावल्याम् – राजा –

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः ।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि न प्रियतमे ।।' (२.२०)

–भाग्यवश, किसी तरह प्राप्त, अनुरागपूर्ण हृदया वह मेरी प्रिया (सागरिका) रत्नमाला की तरह मुझे मिली किन्तु मेरे गले लगाने के पूर्व ही तुमने उसे खो दिया ।

इत्यनेनेति । इत्यादि के द्वारा प्रकृत में यहाँ सागरिका समागम वत्सराज का अभीष्ट हित है, वासवदत्ता के आगमन (प्रवेश) की सूचना देकर विदूषक उसमें अवरोध उत्पन्न कर देता है। अत: इस स्थल पर प्रतिमुख सन्धि का 'निरोधन' अङ्ग है। जिसकी व्यंजना राजा की उक्त उक्ति से होती है ।।

परामर्श – भरतमुनि ने इस अङ्ग को 'निरोध' कहा है – 'या तु व्यसनसंप्राप्तिः स निरोधः प्रकीर्तितः।' (ना० शा० १९/७९) नाट्यदर्पणकार इसे 'रोध' कहते हैं – 'रोधोऽर्तिः–अर्तिः खेदो व्यसनमिष्टरोधाद् रोधः' ।।

९. पर्युपासन –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'पर्युपासन'** नामक प्रतिमुख सन्धि के नवें अङ्ग को बतलाते हैं –

अनुनयः पर्युपास्तिः **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – पर्युपास्तिरिति। (क्रुद्ध व्यक्ति को) प्रसन्न करने के लिए अनुनय– विनय करना पर्युपासन या पर्युपास्ति है ।

{अभीप्सित व्यक्ति को प्राप्त करने में अवरोध–निरोध–उत्पन्न होने पर उस अवरोध को दूर करने के लिए नायक आदि द्वारा किया गया अनुनय पर्युपासन है ।}।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – रत्नावली नाटिका में उदयन एवं सागरिका के काष्ठफलक पर एक साथ अंकित चित्र को देखकर कुपित वासवदत्ता को राजा कहते हैं –

प्रसीदेति । हे प्रिये ! यदि मैं यह कहूँ कि तुम प्रसन्न हो जाओ तो कोप न होने के कारण यह कहना अर्थहीन–व्यर्थ होगा, पुनः यदि ऐसा न करने का वचन दूँ तो भी एक प्रकार से अपराध को स्वीकार करना ही होगा, यदि मैं ऐसा कहूँ कि मेरा

इत्यनेन चित्रगतयोर्नायकयोर्दर्शनात्कुपिताया वासवदत्ताया अनुनयनं नायकयोरनुरागोद्घाटानान्वयेन पर्युपासनमिति ॥

अथ पुष्पम् —

— पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥ ३४ ॥

यथा **रत्नावल्याम्** — '(राजा सागरिकां हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति) विदूषकः — भो! एसा अपुव्वा सिरी तुए समासादिदा। (भोः! एषाऽपूर्वा श्रीस्त्वया समासादिता।') राजा — वयस्य ! सत्यम् ॥

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः ।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥' (२.१८)

कोई दोष नहीं है तो भी तुम मेरे कथन को असत्य समझोगी, तो इस समय क्या कहना योग्य होगा ? यह मेरे समझ में नहीं आ रहा है। अतः मेरे ऊपर कृपा करके मुझे क्षमा करो।''

इत्यनेनेति । इस प्रकार के कथन के द्वारा चित्रफलक में एक साथ चित्रित सागरिक और महाराज उदयन को देख क्रुद्ध वासवदत्ता को प्रसन्न करने के लिए किये गए विनय अनुनय—रूपी प्रयत्न सागरिका और उदयन के पारस्परिक अनुराग को प्रकट कर उसका साहाय्य प्राप्त करता है, अतः यह वर्युपासन सन्ध्यङ्ग है। इसकी व्यञ्जना राजा के उक्त कथन में हुई है ॥

परामर्श — नाट्यदर्पणकार ने 'पर्युपासन' के स्थान पर 'सान्त्वन' को सन्ध्यङ्ग माना है। किन्तु दोनों का तात्पर्य एक ही है। जैसे पर्युपासन को 'क्रुद्धानुनय' कहा गया है वैसे ही 'सान्त्वन' को 'क्रुद्धानुकूलन' (सान्त्वनं नाम क्रुद्धस्यानुकूलनम्)॥

१०. पुष्प —

अथेति। अब ग्रन्थकार **'पुष्प'** नामक प्रतिमुख सन्धि के दसवें अङ्ग को बतलाते हैं —

विशेषवत् वाक्यं पुष्पम् **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ — पुष्पमिति। विशेषता युक्त वाक्य को 'पुष्प' कहते हैं । बीज को प्रकाशित करने में वैशिष्ट्य रखने वाला प्रशंसा युक्त वचन 'पुष्प' कहलाता है ॥ ३४ ॥

वृत्त्यर्थ — यथेति । जैसे रत्नावली नाटिका में — सागरिका की प्रशंसा में उदयन का यह कथन—प्रकरण इस प्रकार है — (राजा सागरिका के हाथ को पकड़कर स्पर्श जन्य आनन्द का अनुभव करता है।) ॥

विदूषक — अरे मित्र! आपको यह अपूर्व लक्ष्मी प्राप्त हुई है। राजा — मित्र! यथार्थ है। (सत्य है) —

श्रीरेषेति । यह प्रत्यक्षरूप में लक्ष्मी है और इसका हाथ पारिजात के पल्लव है। अन्यथा स्वेद के व्याज से इससे अमृत का स्राव कैसे होता ?

इत्यनेन नायकयोः साक्षादन्योन्यदर्शनादिना सविशेषानुरागोद्घाटनात्पुष्पम् ॥

अथोपन्यासः –

उपन्यासस्तु सोपायम् –

यथा **रत्नावल्याम्** – 'सुसङ्गता – भट्टा! अलं सङ्काए । मए वि भट्टिणो पसाएण कीलिदं एव्व । ता किं कण्णाभरणेण । अदो वि मे गरुओ पसाओ जं कीस तए अहं एत्थ आलिहिअ त्ति कुविआ मे पिअसही साअरिआ । ता पसादीअदु।' ('भर्तः ! अलं शङ्कया । मयापि भर्तुः प्रसादेन क्रीडितमेव तत्किं कर्णाभरणेन, अतोसावपि मे गुरुः प्रसादो यत्कथं त्वयाहमत्रालिखितेऽपि कुपिता मे प्रियसखी सागरिका तत्प्रसाद्यताम्।') इत्यनेन सुसङ्गतावचसा सागरिका मया लिखिता सागरिकया

इत्यनेनेति । राजा के इस प्रशंसात्मक कथन से नायक एवं नायिका के पारस्परिक दर्शन के द्वारा विशेष रूप से अनुराग रूपी बीज के प्रकाशन के कारण यहाँ **'पुष्प'** नामक सन्ध्यङ्ग है ॥ ३४ ॥

परामर्श – प्रथम अङ्क में स्थापित किया हुआ बीज क्रमशः पुष्ट होकर बढ़ता हुआ यहाँ तक आकर (१) पुष्पित हो उठता है। इससे विदित होता है कि अब फलागम में विलम्ब नहीं है। लोक में भी बोये हुए बीज का यही क्रमिक विकास होता है। (२) **नाट्यदर्पणकार** ने 'पुष्प' को 'विशेषवत् वाक्य' कहा है और इसका अभिप्राय इस प्रकार बताया है – 'पूर्वं स्वयमन्येन वा केनचित् प्रयुक्तं वचनमपेक्ष्य यद् विशेषयुक्तं वचनं प्रयुज्यते तेनान्येन वा तत् पूर्वस्माद विशेषवत्। तच्च वाक्यं पुष्पमिव पुष्पम्। केशरचनायाः पुष्पमिव पूर्ववाक्यस्यालङ्कारकारित्वात्।' (प्र० विवेक० ना० द०) इससे यह स्पष्ट है कि इस सन्ध्यङ्ग की योजना नाटकों के कथोपकथन में वैचित्र्य लाने के लिए ही की जाती है ॥ ३४ ॥

११. उपन्यास –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'उपन्यास'** नामक प्रतिमुखसन्धि के ग्यारहवे अङ्ग को बतलाते हैं –

सोपायम् उपन्यासः **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ – उपन्यास इति। उपाययुक्त या हेतुप्रदर्शक वाक्य को 'उपन्यास' कहा जाता है। {उपाय से (या व्यवहार कुशलता से) बीज को प्रकाशित करना 'उपन्यास' है।} ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे रत्नावली नाटिका में – **'सुसङ्गता** – (प्रणाम कर, हँसकर) महाराज! आपको व्यर्थ सन्देह होता है। मैं भी आपकी कृपा से विनोद ही कर रही थी, इस कर्णाभरण (पुरस्कार के रूप में देने) से क्या (प्रयोजन)? मेरी सखी सागरिका मुझ पर बहुत क्रुद्ध है, – इस चित्र पर तूने मेरा चित्र क्यों अंकित किया ? अतः आप यदि प्रसन्न हैं तो जाकर उसे मना दें, (मेरे लिये सबसे बड़ा पारितोषिक यही होगा।) इत्यादि कथन से सुसङ्गता यह बताती है कि इस चित्र में सागरिका को

च त्वमिति सूचयता प्रसादोपन्यासेन बीजोद्भेदादुपन्यास इति ।।

अथ वज्रम् –

– वज्रं प्रत्यक्षनिष्ठुरम् ।

यथा **रत्नावल्याम्** – 'वासवदत्ता – (फलकं निर्दिश्य) अज्जउत्त! एसावि जा तुह समीवे, एदं किं वसन्तअस्स विण्णाणम्।' ('आर्यपुत्र! एषापि या तव समीपे, एतत्किं वसन्तकस्य विज्ञानम्।') पुनः 'अज्जउत्त! ममावि एदं चित्तकम्म पेक्खन्तीए सीसवेअणा समुप्पण्णा।' (आर्यपुत्र! ममाप्येतच्चित्रकर्म पश्यन्त्याः शीर्षवेदना समुत्पन्ना।') इत्यनेन वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकानुरागोद्भेदनात्प्रत्यक्षनिष्ठुराभिधानं वज्रमिति ।।

अथ वर्णसंहारः –

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते ।। ३५ ।।

मैनें अंकित किया है और सागरिका ने आपको; इस वाक्य में प्रसन्नता (हेतु) का उपन्यास कर बीजोद्घाटन किया है। इसलिए सुसङ्गता की इस उक्ति में उपन्यास है ।।

१२. वज्र –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'वज्र'** नामक प्रतिमुखसन्धि के बारहवें अङ्ग को बतलाते हैं –

प्रत्यक्षनिष्ठुरम् वज्रम् **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – वज्रमिति । प्रत्यक्षरूप में निष्ठुर वचन बोलना 'वज्र' है। {नायक आदि के प्रति जब कोई पात्र, (किसी कारण वश) प्रत्यक्ष रूप में निष्ठुर वचन का प्रयोग करता है तब वह (वज्र सदृश कठोर और हृदय विदारक होने के कारण) वचन वज्र कहलाता है। } ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **रत्नावली** में – चित्रपट पर अंकित उदयन और सागरिका के चित्रों को देखकर उदयन को वासवदत्ता का यह वचन–प्रकरण इस प्रकार है– **वासवदत्ता** (चित्रफलक को देखकर) आर्यपुत्र ! यह जो आपके चित्र के समीप में अंकित की गई है, क्या यह भी वसन्तक का ही चमत्कार है (कौशल है) (पुनः) आर्यपुत्र ! इस चित्र को देखकर मेरे शिर में वेदना हो रही है।'

इत्यनेनेति । वासवदत्ता के उक्त वचन द्वारा सागरिका और वत्सराज (उदयन) के अनुराग रूपी बीज के प्रकाशन से यह जो प्रत्यक्ष में ही वासवदत्ता ने कहा है, वह निष्ठुर वचन होने से **'वज्र'** माना जाता है ।।

१३. वर्णसंहार –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'वर्णसंहार'** नामक प्रतिमुखसन्धि के तेरहवें अङ्ग को बतलाते हैं –

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहारः इष्यते इत्यन्वयः ।।
चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहारः इष्यते इत्यन्वयः ।।

कारिकार्थ – चातुर्वर्ण्येति । जहाँ चारों वर्ण (ब्राह्मणादिवर्ण) एक साथ एकत्रित (सम्मिलित) हों, वहाँ वर्णसंहार नामक सन्ध्यङ्ग होता है ।। ३५ ।।
कारिकार्थ – चातुर्वर्ण्येति । जहाँ चारों वर्ण (ब्राह्मणादिवर्ण) एक साथ एकत्रित (सम्मिलित) हों, वहाँ वर्णसंहार नामक सन्ध्यङ्ग होता है ।। ३५ ।।

यथा वीरचरिते तृतीयेऽङ्के —

'परिषदियमृषीणामेष वृद्धो युधाजित्
सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्धः ।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः
प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकास्ते ॥' (३.५)

इत्यनेन ऋषिक्षत्रियामात्यादीनां सङ्गतानां वर्णानां वचसा रामविजयाशंसिनः परशुरामदुर्नयस्याद्रोहयाच्ञाद्वारेणोद्धनाद्वर्णसंहार इति ॥

एतानि च त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गानि मुखसंध्युपक्षिप्तबिन्दुलक्षणावान्तर–बीजमहाबीजप्रयत्नानुगतानि विधेयानि। एतेषां च मध्ये परिसर्पप्रशमवज्रोपन्यासपुष्पाणां प्राधान्यम्, इतरेषां यथासभवं प्रयोग इति ॥

वृत्त्यर्थ — यथेति। जैसे — भवभूति कृत **महावीरचरित** के तृतीय अङ्क में जिसकी सूचना निम्नोक्त पद्य से मिलती है —

परिषदिति । 'यह ऋषियों की सभा है, यहाँ वीर युधाजित् तथा मन्त्रियों के साथ वृद्धराजा रोमपाद बैठे हुए हैं, निरन्तर यज्ञ करते रहने वाले, पुराने ब्रह्मवादी जनक जनपद के स्वामी, सभी द्रोह रहित हैं और सभी आप से क्रोध न करने की प्रार्थना करते है।'

इत्यनेनेति । इत्यादि कथन से प्रकृत में ऋषि, क्षत्रिय, अमात्य आदि चारों वर्ण एकत्रित होकर वचनों के द्वारा रामविजय की अभिलाषा वाले परशुराम के क्रोध की शान्ति की प्रार्थना करते हैं। इसलिए इस स्थल पर 'वर्णसंहार' नामक प्रतिमुख सन्ध्यङ्ग है ।

एतानीति । ये तेरह प्रतिमुख — सन्धि के अङ्ग हैं। मुख सन्धि में उपक्षिप्त बिन्दु नामक अवान्तर बीज और (अर्थप्रकृति रूप) महाबीज तथा कार्यावस्थारूप प्रयत्न के अनुकूल ही इनका विधान नाट्य में करना चाहिए। प्रतिमुख—सन्धि के इन अङ्गों में से परिसर्प, प्रशम, वज्र, उपन्यास और पुष्प को रूपकों में प्रमुखरूप से नियोजित करना चाहिए । शेष सन्ध्यङ्गों का नियोजन यथा संभव और यथावसर करना चाहिए ॥ ३५॥

परामर्श — आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत अङ्ग का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है — उनके अनुसार — यहाँ चातुर्वर्ण्य पद से पात्रों की विवक्षा है। अतः जहाँ पृथक्–पृथक् अवस्थित पात्र भी लाये जाएँ तो 'वर्णसंहार' होगा। **श्री भट्टतौत** (उपाध्याय) के मत में जब वीर रस प्रधान रूपक में नायक तथा प्रतिनायक और उनके सचिवों का प्रमुखरूप से वर्णन रहने से कारिका में 'वर्णाः' कहा गया है। उसी प्रकार कामप्रधान रूपक में नायक तथा नायिका और उनके सचिव भी 'वर्ण' शब्द से कहे जाते हैं। उन वर्णों का एकीभाव इष्ट प्रयोग की रचना को तथा प्रकाश्य को प्रकाशित करता है जो प्रयोजन है। यहाँ जो ब्राह्मण आदि वर्णों के एकीभाव को वर्णसंहार मानते हैं वह निष्फल होने से समादरणीय नहीं है — ॥ चातुर्वर्ण्यशब्देन पात्राण्युपलक्ष्यन्ते । तेन यत्र पात्राणि पृथक् स्थितान्यपि ढौक्यन्ते स वर्णसंहारः ।

अथ गर्भसन्धिमाह –

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसंभवः ।। ३६ ।।

प्रतिमुखसंधौ लक्ष्यालक्ष्यरूपतया स्तोकोद्भिन्नस्य बीजस्य सविशेषोद्भेदपूर्वकः सान्तरायो लाभः पुनर्विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनश्च तस्यैवान्वेषणं वारंवारं सोऽनिर्धारितैकान्तफलप्राप्त्याशात्मको गर्भसन्धिरिति। तत्र चौत्सर्गिकत्वेन प्राप्तायाः पताकाया अनियमं दर्शयति – 'पताका स्यान्न वा' इत्यनेन। प्राप्तिसंभवस्तु स्यादेवेति दर्शयति – 'स्यात् प्राप्तिसंभवः' इति ।।

उपाध्यायास्त्वाहुः – इह वीरप्रधाने तावन्नायक प्रतिनायकौ तत्सचिवौ च प्रधानत्वेन वर्ण्यन्ते इति वर्णाः, कामप्रधानेऽपि नायको नायिका तत्सचिवौ चेति । अत्र चतुर्णामेकीभावः प्रयोगस्य, इष्टस्य रचना, प्रकाश्ये प्रकाशनमित्यपि प्रयोजनानि। यत्तु ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयमेलनमिति तदफलत्वादनादृत्यमेव ।। (अभि० भा० १९।८२) ।।

३. गर्भसन्धि और उसके अङ्ग –

अथेति । अब ग्रन्थकार गर्भसन्धि तथा उसके अङ्गों के लक्षण बताते हैं –

दृष्टनष्टस्य बीजस्य मुहुः अन्वेषणम् गर्भः (स) द्वादशाङ्ग (तत्तु) पताका स्यात् वा न प्राप्ति सम्भवः तु स्यात् (एव) **इत्यन्वयः** ।। ३६ ।।

कारिकार्थ – गर्भ इति । प्रथम दिखाई दिये और पश्चात् नष्ट हुए बीज का बारंबार अन्वेषण करना 'गर्भसन्धि' है । इसके बारह अङ्ग होते हैं । इसमें पताका अर्थप्रकृति हो चाहे न हो किन्तु प्राप्त्याशा कार्यावस्था निश्चित रहती है ।। ३६ ।।

वृत्त्यर्थ – प्रतिमुखेति । जो बीज प्रतिमुख सन्धि में ईषद् प्रस्फुटित होने के कारण कभी पनपता और कभी मुरझाता–(लक्ष्यालक्ष्यरूप में) रहता है, वही बीज गर्भसन्धि में विशेष रूप में उद्‌भिद होने (फूट पड़ने) के कारण विघ्नों से कभी नष्ट होता है, फिर उसका अन्वेषण किया जाने से उसकी प्राप्ति होती है, फिर उसका वियोग (विच्छेद) हो जाता है फिर प्राप्त होता है, फिर नष्ट होता है, फिर उसका अन्वेषण किया जाता है, इस प्रकार क्रमशः लुप्तालुप्त की स्थिति इस गर्भ सन्धि में बनी रहती है। इसमें फलप्राप्ति की सम्भावना तो बनी रहती है, किन्तु फल प्राप्ति का ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता। यही इस सन्धि की विशेषता है। इसमें पताका का होना आवश्यक नहीं है।

तत्रेति । सामान्यतः पताका अर्थप्रकृति एवं प्राप्त्याशा कार्यावस्था के संयोग से गर्भसन्धि होती है। फिर भी इसमें पताका का होना आवश्यक नहीं है।[1] इसका निदर्शन 'पताका' हो या नहो' (पताका स्यान्न वा) इसके द्वारा किया गया है। प्राप्त्याशा (प्राप्तिसंभव) तो होनी ही चाहिए इसका सङ्केत 'स्यात्' के द्वारा किया गया है।

---

१. 'मालविकाग्निमित्र' में पताका नहीं है। किन्तु 'मालतीमाधव' में है।

यथा **रत्नावल्यां** तृतीयेऽङ्के वत्सराजस्य वासवदत्तालक्षणापायेन तद्वेषपरिग्रहसागरिकाभिसरणोपायेन च विदूषकवचसा सागरिका– प्राप्त्याशा प्रथमं पुनर्वासवदत्तया विच्छेदः पुनः प्राप्तिः पुनर्विच्छेदः पुनरपायनिवारणो– पायान्वेषणम् 'नास्ति देवीप्रसादनं मुक्त्वान्य उपायः' इत्यनेन दर्शितमिति ॥

यथेति । जैसे **रत्नावली** के तृतीय अङ्क में नायक उदयन को पहले वासवदत्ता के वेष में सागरिका की प्राप्ति की आशा होती है, किन्तु वासवदत्ता की उपस्थिति से आशा नष्ट होती है, फिर विदूषक उसका शोध करता है, फिर सागरिका के सङ्केत स्थल पर आगमन से प्राप्त्याशा हो उठती है, फिर वासवदत्ता की उपस्थिति से उसका विच्छेद होता है, इसलिए इस विघ्न को दूर करने के लिए वासवदत्ता को प्रसन्न करने का उपाय सोचा जाता है। इस प्रसङ्ग के द्वारा गर्भ सन्धि प्रदर्शित की गई है ।

परामर्श – प्रतिमुख संधि के उपरान्त बीज की विकसित क्रमदशा को गर्भसंधि प्रकट करती है। प्रतिमुख संधि बीज की अंकुरित दशा को प्रकट करती है जबकि गर्भसंधि में फल को उत्पन्न करने की उन्मुखता विद्यमान रहती है। इस गर्भसंधि का विधायक इतिवृत्त का वह अंश है जिसमें नायक को लक्ष्य प्राप्त करते हुए और उसको खोते हुए, फिर प्राप्त करते हुए और फिर खोते हुए अनेक बार प्रदर्शित किया जाता है। इसमें प्राप्त इष्ट का खोना और उसे प्राप्त करने के लिये नवीन उपायों का प्रारम्भ या संयोजित करना विशेषतः दिखलाने की नाट्यकार की प्रवृत्ति होती है। जैसे– प्रथम बार राजा उदयन सागरिका से उस वाटिका में मिलते हैं जहाँ पर चित्रपट को छोड़कर सागरिका अपनी सखी के साथ भाग गई थी। परन्तु वासवदत्ता के सहसा उस स्थल पर आ जाने से वह संमेलन अल्पकालिक ही रह जाता है। वेश परिवर्तन के दृश्य में उदयन का सागरिका से मिलन भ्रान्तिरूप में होता है। वे महारानी वासवदत्ता को तब तक सागरिका समझते रहते हैं जब तक वासवदत्ता आत्म स्वरूप प्रकट नहीं कर देती हैं। भ्रांति का अपनोदन हो जाने पर वे सागरिका से पुनः विलग से हो जाते हैं। उस दृश्य में जिसमें सागरिका आत्महत्या करने हेतु फाँसी लगाने के लिये उद्यत है उसका जो मिलन राजा उदयन के साथ होता है वह महारानी वासवदत्ता के आ जाने से पुनः क्षणभंगुर ही रह जाता है।

गर्भसंधि के विषय में यह ध्यातव्य है कि प्राप्त इष्ट का खो जाना। क्योंकि यदि इसमें प्राप्त इष्ट का खोना प्रदर्शित न किया जाय तो वह अवमर्श संधि से किसी भी बात में भिन्न नहीं होगी। इसका कारण यह है कि अवमर्श संधि में इष्ट प्राप्ति को संदेह शून्य रूप में प्रकट किया जाता है। गर्भसंधि में प्राप्ति नायक गत और अप्राप्ति प्रतिनायकगत होती है।

गर्भसन्धि में फलप्राप्ति की संभावना अभिव्यक्त होती है। फल प्राप्ति का निश्चय नहीं। 'बीज' के अलाभ और लाभ, ह्रास और अन्वेषण या विघ्नावरोध और उसके निराकरण में जो द्वन्द्व निहित है उसका प्रदर्शन रूपक की एक अनिवार्य आवश्यकता है ॥ ३६ ॥

स च द्वादशाङ्गो भवति । तान्युद्दिशति –

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ।
संग्रहश्चानुमानं च तोटकाधिबले तथा ।। ३७ ।।
उद्वेगसंभ्रमाक्षेपाः लक्षणं च प्रणीयते ।

यथोद्देशं लक्षणमाह –

अभूताहरणं छद्म –

यथा रत्नावल्याम् – 'साधु रे अमच्च वसन्तअ, साधु । अदिसइदो तुए अमच्चो जोगन्धराअणो इमाए सन्धिविग्गहचिन्ताए।' ('साधु रे अमात्य वसन्तक, साधु । अतिशयितस्त्वयामात्यो यौगन्धरायणोऽनया सन्धिविग्रहचिन्तया।') इत्यादिना प्रवेशकेन

सचेति । गर्भ सन्धि के बारह अङ्ग होते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं–

कारिकार्थ – अभूतेति। अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, सङ्ग्रह, अनुमान, अधिबल, तोटक, उद्वेग, सम्भ्रम, और आक्षेप ये बारह गर्भ सन्धि के अङ्ग हैं। अब क्रमशः इनके लक्षण कहे जाएँगे ।। ३७ – ३८ ।।

{कपटयुक्त वचन को 'अभूताहरण', तत्त्वगर्भितकथनको 'मार्ग', सन्देहास्पद वचन को 'रूपं, उत्कर्षात्मक वचन को 'उदाहरणं', अभीष्ट वस्तु लाभ को 'क्रम', साम, दान आदि से समन्वित कथन को 'संग्रह', चिह्न द्वारा किसी बात की कल्पना करने को 'अनुमान', चेष्टा पूर्वक धोखा देना को अधिबल, क्रोधपूर्ण वचन को 'तोटक', – शत्रुजनित भय को 'उद्वेग', शङ्का एवं त्रास होने को सम्भ्रम और गर्भबीज की स्पष्टता को आक्षेप कहा जाता है।} ।। ३७ – ३८ ।।

परामर्श – भरत और **विश्वनाथ** गर्भसन्धि के तेरह अङ्ग मानते हैं। **शारदातनय** दशरूपकार की तरह बारह अङ्गों का ही उल्लेख करते हैं। ये दोनों आचार्य 'प्रार्थना' नाम के सन्ध्यङ्ग को नहीं मानते। उद्भेद और विद्रव नाम के सन्ध्यङ्गों के स्थान पर उद्वेग और सम्भ्रम का उल्लेख किया गया है ।। ३७–३८ ।।

यथोद्देशमिति । अब ग्रन्थकार गर्भसन्धि के अङ्गों का नाम निर्देशपूर्वक लक्षण बतला रहे हैं –

१. अभूताहरण –

कारिकार्थ – अभूतेति । कपट को 'अभूताहरण' कहा जाता है । अर्थात् कपटपूर्ण योजना के द्वारा अभीष्ट की प्राप्ति करने के कार्य को 'अभूताहरण' कहते हैं ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे रत्नावली में (अङ्क–३) काञ्चनमाला – 'वाह रे वसन्तक वाह ! इस सन्धि–विग्रह (मेल–मिलाप एवं कलह) की चिन्ता से तुमने अमात्य यौगन्धरायण को भी जीत लिया है ।'

इत्यादिनेति। इस प्रसङ्ग में वासवदत्ता के वेष को धारण की हुई सागरिका का वत्सराज के प्रति अभिसरण करना ही 'छद्म' है। इसे प्रवेशक के द्वारा सुसङ्गता

गृहीतवासवदत्तावेषायाः सागरिकाया वत्सराजाभिसरणं छद्म विदूषकसुसङ्गताक्लृप्त–काञ्चनमालानुवादद्वारेण दर्शितमित्यभूताहरणम् ।।

अथ मार्गः –

– मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम् ।। ३८ ।।

यथा **रत्नावल्याम्** – 'विदूषकः – दिट्ठिआ बड्ढसि समीहिदब्भधिकाए कज्जसिद्धीए। ('दिष्ट्या वर्धसे समीहिताभ्यधिकया कार्यसिद्धया।') राजा → वयस्य! कुशलं प्रियायाः? विदूषकः – अइरेण सअं ज्जेव्व पेक्खिअ जाणिहिसि। ('अचिरेण स्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि।') राजा – दर्शनमपि भविष्यति? विदूषकः– (सगर्वम्) कीस ण भविस्सदि, जस्स दे उवहसिदविहप्फदिबुद्धिविहवो अहं अमच्चो। ('कथं न भविष्यति यस्य त उपहसितबृहस्पतिबुद्धिविभवोऽहममात्यः।') राजा – तथापि कथमिति श्रोतुमिच्छामि। विदूषकः– (कर्णे कथयति) एव्वम्।' ('एवम्') इत्यनेन यथा विदूषकेण सागरिकासमागमः सूचितः तथैव निश्चितरूपो राज्ञे निवेदित इति तत्त्वार्थकथनान्मार्ग इति ।।

और विदूषक से प्रेरित वासवदत्ता के वेष में अभिसरण करने वाली सागरिका के कपटपूर्ण (छद्म) कार्य को कांचनमाला ने व्यक्त कर दिया है। – यही 'अभूताहरण' है ।।

परामर्श – इस सन्ध्यङ्ग की योजना रूपक विशेष के रसभाव की उपयोगिता के आधार पर की जाती है। भिन्न–भिन्न रस–भाव सम्बन्धी रूपकों में भिन्न–भिन्न प्रकार के कपट अथवा छद्म से सम्बन्धित प्रसङ्गों की योजना हो सकती है ।।

२. मार्ग –

अथेति । अब ग्रन्थकार 'मार्ग' नामक गर्भ सन्धि के दूसरे अङ्ग को बतलाते हैं–

कारिकार्थ – मार्ग इति । यथार्थ बात का कथन मार्ग है ।। ३८ ।।

{किसी वस्तु या बात को ठीक उसी रूप में व्यक्त करना, जैसा कि वह यथार्थ रूप में है, 'मार्ग' कहा जाता है। इसमें नायक आदि को अन्य पात्र द्वारा अभीष्टफल प्राप्ति का उपाय निर्देशित किया जाता है।} ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे **रत्नावली** नाटिका में सागरिका से समागम का उपाय विदूषक नायक को बताता है – **विदूषक** – सौभाग्य से – आप चाहे हुए से भी अधिक कार्य की सिद्धि के कारण वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं। **राजा** – मित्र ! प्रिया सागरिका सकुशल तो है ? **विदूषक** – शीघ्र ही स्वयं उससे मिलकर सारी बातें जान लेंगे । **राजा** – क्या देख भी सकेंगे ? **विदूषक** – (गर्व पूर्वक) क्यों नहीं ? जिसका बुद्धि में बृहस्पति को भी अभिभूत करने वाला मन्त्री मैं हूँ । **राजा** – कैसे होगा ? सुनना चाहता हूँ । **विदूषक** – (कान में कहता है) ऐसे।

इत्यनेनेति । प्रकृत में विदूषक को सागरिका के समागम की जैसी सूचना प्राप्त थी, ठीक वैसी ही सूचना उसने राजा को दे दी। इस प्रकार समागम रूप तत्त्व की बात सत्य और निश्चय के साथ कहने के कारण यहाँ 'मार्ग' (नामक गर्भ सन्धि का अङ्ग) है ।। ३८ ।।

अथ रूपम् –

रूपं वितर्कवद्वाक्यम् –

यथा रत्नावल्याम् –

'राजा – अहो किमपि कामिजनस्य स्वगृहिणीसमागमपरिभाविनोऽभिनवं जनं प्रति पक्षपात: तथाहि –

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
रमयतितरां सङ्केतस्था तथापि हि कामिनी ।। (३.९)

कथं चिरयति वसन्तक:? किं नु खलु विदित: स्यादयं वृत्तान्तो देव्या:।' इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्याशानुगुण्येनैव देवीशङ्कायाश्च वितर्काद्रूपमिति ।।

परामर्श – **'मार्ग'** को सभी आचार्यों ने 'तत्त्वार्थकथन' या 'तत्त्वार्थशंसन' के रूप में अभिहित किया है ।। ३८ ।।

३. रूप –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'रूप'** (नामक गर्भ सन्धि के अङ्ग) की परिभाषा देते हैं –

कारिकार्थ – रूपमिति । वितर्क युक्त कथन को रूप कहते हैं। {जहाँ अभीष्ट फल–प्राप्ति की आशा में नायकादि मन में प्राप्ति एवं उसमें संभावित विघ्नों के विषय में तर्क–वितर्क करें वहाँ 'रूप' नामक सन्ध्यङ्ग होता है।} ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – **रत्नावली** नाटिका के तृतीय अङ्क में सागरिका के समागम की प्रतीक्षा करते हुए वत्सराज महारानी वासवदत्ता को इस कार्य का ज्ञान होने की शङ्का करता है। प्रकरण इस प्रकार है –

राजा – अपनी पत्नी के समागम से परिभावित (तिरस्कृत) कामी पुरुष का नई प्रेमिका के प्रति किसी दूसरे ही ढंग का पक्षपात होता है ।

प्रणयेति । 'यद्यपि सङ्केत स्थल पर अभिसरणार्थ आई हुई प्रेमिका शङ्कित होने के कारण प्रिय के मुख की ओर प्रेमभरी दृष्टि से देख नहीं पाती, आलिङ्गन करते समय भी प्रेम से स्तनों को जोर से छाती से नहीं सटाती; तथा पर्याप्त प्रयत्न से रोकने पर भी बार–बार 'मैं जाती हूँ' इस प्रकार जाने का भय दिखाती है; तथापि वह कामी पुरुष को अत्यधिक आनन्द देती है, यह आश्चर्य की बात है। वसन्तक क्यों विलम्ब कर रहा है? कहीं यह रहस्य देवी वासवदत्ता को ज्ञात न हुआ हो।

इत्यनेनेति । प्रकृत में उदयन के हृदय में सागरिका के समागम की प्राप्ति की आशा के साथ ही वासवदत्ता की आशङ्का का वितर्क किया गया है। इसलिए (यहाँ) **'रूप'** नामक सन्ध्यङ्ग है ।।

अथोदाहरणम् –

– सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः ।

यथा **रत्नावल्याम्** – 'विदूषकः– (सहर्षम्) ही ही भोः!, कोसम्बीरज्जलाहेणावि ण तादिसो वअस्सस्स परितोसो आसि, यादिसो मम सआसादो पिअवअणं सुणिअ भविस्सदि त्ति तक्केमि।' ('ही ही भोः कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशो वयस्यस्य परितोष आसीत्, यादृशो मम सकाशात्प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि।') इत्यनेन रत्नावलीप्राप्तिवार्तापि कौशाम्बीराज्यलाभादतिरिच्यत इत्युत्कर्षाभिधानादुदाहृतिरिति ॥

अथ क्रमः –

---

४. उदाहरण –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'उदाहरण'** नामक गर्भसन्धि के अङ्ग की परिभाषा बताते हैं –

सोत्कर्षम् (कथनम्) उदाहृतिः स्यात् **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ – सोत्कर्षमिति। उत्कर्ष से युक्त वाक्य को 'उदाहरण' कहा जाता है।

{जब कोई पात्र स्वविषयक या परविषयक उत्कर्ष सूचक वचन कहता है, तब उदाहरण (या उदाहृति) नामक सन्ध्यङ्ग होता है। (वस्तुतः उदाहरण का तात्पर्य उत्कर्ष का आहरण अथवा अभिव्यञ्जन है) – (उदाहृतिः समुत्कर्षः)} ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – **रत्नावली** नाटिका में – **विदूषक** – हा! हा! कौशाम्बी राज्य के लाभ से मेरे प्रिय मित्र को उतनी प्रसन्नता नहीं होगी जितनी कि आज मुझसे प्रिय वचन सुनकर होगी ।

इत्यनेनेति । प्रकृत में कौशाम्बी के राज्य की प्राप्ति से बढ़कर सागरिका की प्राप्ति के लाभ को (उत्कर्ष को) बताया गया है। अतः यह उत्कर्ष का कथन **'उदाहृति'** है ॥

परामर्श – आचार्य भरत ने 'उदाहरण' का लक्षण करते हुए कहा है कि – लोक प्रसिद्धि की अपेक्षा स्व–पर–विषयक उत्कर्षयुक्त वाक्य विन्यास को उदाहरण कहते हैं – ॥ यत्सातिशयवद्वाक्यं तदुदाहरणं स्मृतम् ॥ (ना० शा० १९।८४) ॥ **आचार्य अभिनव** इस लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि लोकप्रसिद्ध वस्तु की अपेक्षा जो अतिशय उत्कर्ष को बतलाता या लाता हो वह वाक्य उदाहरण है –

॥ लोकप्रसिद्धवस्त्वपेक्षया यत् सातिशयमुच्यते उत्कर्षमाहरतीत्युदाहरणम् ॥
(अभि० भा० १९।८४) ॥

५. क्रम –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'क्रम'** नामक गर्भसन्धि के अङ्ग की परिभाषा बतलाते हैं –

संचिन्त्यमानाप्तिः क्रमः **इत्यन्वयः** ॥

क्रम: संचिन्त्यमानाप्ति: —

यथा **रत्नावल्याम्** — 'राजा — उपनतप्रियासमागमोत्सवस्यापि मे किमिदमत्यर्थमुत्ताम्यति चेत:। अथवा —

तीव्र: स्मरसंतापो न तथादौ बाधते यथासन्ने ।
तपति प्रावृषि सुतरामभ्यर्णजलागमो दिवस: ।। (३.१०)

विदूषक: — (आकर्ण्य) भोदि सागरिए! एसो पिअवअस्सो तुमं ज्जेव उद्दिसिअ उक्कण्ठाणिब्भरं मन्तेदि। ता निवेदेमि से तुहागमणम्।' ('भवति सागरिके! एष प्रियवयस्यस्त्वामेवोद्दिश्योत्कण्ठानिर्भरं मन्त्रयति । तन्निवेदयामि तस्मै तवागमनम्') इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागममभिलषत एव भ्रान्तसागरिकाप्राप्तिरिति क्रम: ।।

अथ क्रमान्तरं मतभेदेन —

— भावज्ञानमथापरे ।। ३९ ।।

कारिकार्थ — क्रम इति । अभिलषित वस्तु की प्राप्ति क्रम है — अर्थात् जहाँ आप्ति (अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति) का चिन्तन किया जाता है, तथा वह वस्तु प्राप्त हो जाय, वहाँ क्रम नामक गर्भसन्धि का अङ्ग होता है ।।

वृत्त्यर्थ — यथेति । जैसे **रत्नावली** नाटिका में — वत्सराज सागरिका के समागम के लिए उत्कण्ठित हो ही रहा था कि भ्रान्त सागरिका (सागरिका के वेष में वासवदत्ता) आ जाती है। **राजा** — प्रिया का समागम आसन्न है, फिर भी मेरा हृदय क्यों व्याकुल हो रहा है — अथवा —

तीव्र इति । कामदेव की तीव्र वेदना आरम्भ में उतनी कष्टदायक नहीं होती, जितनी अभिलषित वस्तु के आने के—समागम—के आसन्न होने पर, वर्षा ऋतु में आसन्न वृष्टिवाला दिन अत्यन्त तपता है ।

विदूषक — (सुनकर) देवि सागरिके ! प्रिय मित्र आपका स्मरण करके अत्यधिक उत्कण्ठित होकर चिन्ता कर रहे हैं। तो मैं आपके आगमन की सूचना उन्हें देता हूँ ।

इत्यनेनेति । प्रकृत में सागरिका के समागम के लिए उत्सुक वत्सराज को भ्रान्त सागरिका (अर्थात् सागरिका के वेश में वासवदत्ता) की प्राप्ति होती है। अत: यहाँ **'क्रम'** अङ्ग है ।।

५. क्रम (मतान्तर से) —

अथेति । अब ग्रन्थकार मतान्तर से (अर्थात् दूसरे के मत से) **क्रम का दूसरा** रूप (क्रमान्तर) बतलाते हैं —

अथ अपरे भावज्ञानम् (क्रम:) **इत्यन्वय: ।।**

कारिकार्थ — भावेति । दूसरे आचार्य भावज्ञान को 'क्रम' कहते हैं ।। ३९ ।।

{अर्थात् दूसरे पात्रों द्वारा नायक आदि के मनोभाव—मानसिक विचार का ज्ञान प्राप्त किया जाना ही 'क्रम' है।} ।। ३९ ।।

यथा **रत्नावल्याम्** – 'राजा – (उपसृत्य) प्रिये सागरिके!

'शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ
रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गिरभसान्निःशङ्कमालिङ्ग्य मा–
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ।।' (३.११)

इत्यादिना 'इह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे' इत्यन्तेन वासवदत्तया वत्सराजभावस्य ज्ञातत्वात्क्रमान्तरमिति ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे – **रत्नावली** नाटिका में । प्रकरण इस प्रकार है– **राजा** – (निकट आकर) प्रिये सागरिके !

शीतांशुरिति । तुम्हारा मुख चन्द्रमा है, तुम्हारी आँखें नील कमल हैं, दोनों हाथ रक्त कमल सदृश हैं, तुम्हारे हाथ मृणाल की तरह – (बारीक, मृदु एवं उज्ज्वल) हैं। हे हृदयाह्लाद दे सकने वाले अङ्ग प्रत्यङ्गों वाली ! तुम निर्भय होकर मेरा आलिङ्गन करो, आओ, काम–सन्ताप से व्याकुल हुए मेरे अङ्गों को शीतल कर दो ।

इत्यादिनेति । 'यदि इस चन्द्र को अपने अमृत पर अभिमान हो' यहाँ से आरम्भ करके 'तो वह (अमृत) भी तुम्हारे लाल ओष्ठ में निहित है' यहाँ तक वासवदत्ता के द्वारा वत्सराज के मनोभावों को (सागरिका प्रति मुग्धता) ज्ञात किया गया है। अत: यह **'क्रम'** नामक सन्ध्यङ्ग है ।। ३९ ।।

परामर्श – उपर्युक्त 'क्रम' की दो व्याख्याओं में से प्रथम (१) व्याख्या (विचार) ही ग्रन्थकार धनञ्जय को अभीष्ट है, अन्य नहीं । भरत के नाट्य शास्त्र में 'क्रम' की परिभाषा यह है – 'भाव तत्त्वोपलब्धिस्तुक्रम इत्यभिधीयते' (ना० शा० २१।८५)

आचार्य अभिनव गुप्त ने 'भाव' तत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि – भावी वस्तु की भावना के कारण जो तर्कना करते हुए परमार्थ की उपलब्धि होती हों। क्योंकि उस ओर चलने वाली बुद्धि या विचार फिर आगे ही बढ़ते हैं, उनमें कोई प्रतिरोध नहीं होता – ।। भावस्य भाव्यमानस्य वस्तुनो भावनातिशये सत्यूहं प्रतिभाक्नादि बलात् स्यात् या परमार्थोपलब्धि' सा क्रमः। बुद्धिर्हि तत्र क्रमते न प्रतिहन्यते ।। (अभि० भा० १९।८४) ।।

धनञ्जय के पश्चात्वर्ती ग्रन्थों में इस 'क्रम' की दो परिभाषाएँ देखने को मिलती हैं–'भावज्ञानं क्रमो यद्वा चिन्त्यमानार्थ संग्रहः' – (मन्दारमरन्द) । 'क्रमः सञ्चि– तितार्थाप्तिर्भावज्ञानमथापरे' (भावप्रकाशन ७/२७०)। 'भाव तत्त्वोपलब्धिस्तु क्रमः स्यात्।' (सा० द० ६।९७) निश्चय ही भरतसूत्र की दो तरह की व्याख्याएँ धनञ्जय से पूर्व भी प्रचलित थीं। इनमें से एक को धनञ्जय ने अपने ग्रन्थ में स्वीकृत कर उल्लिखित किया और अन्य को 'अपरे' कहकर गौणता से उल्लिखित किया है।

(२) **साहित्यदर्पण** की 'तर्कवागीशी', 'लक्ष्मी' तथा 'विमला' व्याख्याओं में 'भाव' का अभिप्राय नायक–नायिका का स्वभावज अलङ्कार (निर्विकारात्मके चित्ते

अथ संग्रह: –

संग्रह: सामदानोक्ति: –

यथा **रत्नावल्याम्** – 'साधु वयस्य! साधु । इदं ते पारितोषिकं कटकं ददामि ।' इत्याभ्यां सामदानाभ्यां विदूषकस्य सागरिकासमागमकारिण: संग्रहात्संग्रह इति ॥

अथानुमानम् –

अभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा ।

भाव: प्रथमविक्रिया) कहा गया है, यह अभिप्राय प्रसङ्गानुकूल प्रतीत नहीं होता। प्रस्तुत प्रकरण में 'भाव' का अर्थ 'अभिप्राय अथवा 'भावी अर्थ है, इसी का ऊहापोह अथवा प्रतिभादि द्वारा उन्नयन 'क्रम' नामक सन्ध्यङ्ग की रूपरेखा है। 'क्रमो भावस्य निर्णय: – भावस्य पराभिप्रायस्याथवा भाव्यमान स्यार्थस्योह प्रतिभाऽऽदिवशान्निर्णयो यथावस्थित रूप निश्चय: क्रम:। बुद्धिस्तत्र क्रमते न प्रतिहन्यत इत्यर्थ :।' (नाट्य दर्पण १.८२) ॥ ३९ ॥

६. संग्रह –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'संग्रह'** नामक गर्भ सन्धि के छठे अङ्ग को बतलाते हैं –

सामदानोक्ति: संग्रह: **इत्यन्वय:** ॥

कारिकार्थ – संग्रह इति। साम (मधुर एवं प्रिय वचन) तथा दान से युक्त कथन को सङ्ग्रह कहा जाता है। (मधुर वचन साम है और कुछ पुरस्कार देना दान है)।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे **रत्नावली** नाटिका में । प्रकरण इस प्रकार है –

'**राजा** – वयस्य ! बहुत अच्छा, मैं तुम्हें यह कटक पारितोषिक रूप में देता हूँ।' वत्सराज सागरिका के साथ समागम की योजना करने वाले वसंतक विदूषक की यह कहकर – 'साधु वयस्य । साधु ! मित्र, बहुत अच्छा' प्रशंसा एवं कटक दान से संग्रह करता है। इसलिए यहाँ 'संग्रह' है ॥

७. अनुमान –

अब ग्रन्थकार **'अनुमान'** नामक गर्भसन्धि के अङ्ग की परिभाषा बताते हैं –

लिङ्गत: अभ्यूह: अनुमा **इत्यन्वय:** ॥

कारिकार्थ – अभ्यूह इति । हेतु (या चिह्न) से तर्क करना 'अनुमान' है ।

{अर्थात् हेतु या चिह्न के आधार पर तर्क के साथ किसी वस्तु की कल्पना करना अनुमान है । धूम पर्वत में अग्नि की सत्ता का अनुमापक चिह्न है । 'यत्र यत्र धूम: तत्र तत्र वह्नि:' – इस व्याप्ति के आधार पर पर्वत में अग्नि की सत्ता सिद्ध होती है । – 'पर्वतोऽयं वह्निमान् (धूमात्) । इसी प्रकार जहाँ हेतुओं के आधार पर किसी तथ्य – बात का अनुमान तर्क के साथ किया जाता है, वहाँ अनुमान नामक गर्भ सन्धि का अङ्ग होता है।} ॥

यथा **रत्नावल्याम्** – 'राजा – धिङ्मूर्ख! त्वत्कृत एवायमापतितोऽस्माकमनर्थ: । कुत: –

समारूढा प्रीति: प्रणयबहुमानात्प्रतिदिनं
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया ।
प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्ण: स्खलितमविषह्यं हि भवति ।। (३.१५)

विदूषक: – भो वअस्स! वासवदत्ता किं करिस्सदि त्ति ण जाणामि । सागरिआ उण दुक्करं जीविस्सदि त्ति तक्केमि।' ('भो वयस्य! वासवदत्ता किं करिष्यतीति न जानामि । सागरिका पुनर्दुष्करं जीविष्यतीति तर्कयामि।') इत्यत्र प्रकृष्टप्रेमस्खलनेन सागरिकानुरागजन्येन वासवदत्ताया मरणाभ्यूहनमनुमानमिति ।।

अथाधिबलम् –

अधिबलमभिसन्धि: –

वृत्त्यर्थ – यथेति । यथा, **रत्नावली** नाटिका में । सङ्केत निम्नानुसारी है –

'**राजा** – धिक्कार है, मूर्ख ! धिक्कार है, तेरे द्वारा किया गया ही यह अनर्थ हम पर आ पड़ा है। क्योंकि,

समारूढेति । (हम दोनों का) प्रेम का अत्यधिक आदर–सम्मान–करने के कारण प्रेम प्रतिदिन बढ़ता ही गया था, इसके पूर्व (कभी) न किये गये इस अपराध को आज मेरे द्वारा किया गया देखकर असहनशील स्वभाव की वह प्रिया (वासवदत्ता) निश्चय ही (अपने) प्राणों का त्याग कर देगी । क्योंकि उत्कट प्रेम का स्खलन असह्य होता है ।

विदूषक – हे मित्र! वासवदत्ता क्या करेगी ? यह तो मैं नहीं जानता, किन्तु सागरिका का जीना दूभर हो जायगा। ऐसा मैं अनुमान करता हूँ ।'

इत्यत्रेति । यहाँ सागरिका से प्रेम करने के कारण राजा वत्ससेन (वासवदत्ता के) प्रकृष्ट प्रेम से स्खलित हो गया है अतएव इसे जानकर वासवदत्ता जीवित न रह सकेगी, इस प्रकार प्रकृष्ट प्रेम स्खलन हेतु के द्वारा वासवदत्तामरण का तर्क 'अनुमान' है।।

परामर्श – आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार – रूप्यमान अर्थात् प्रत्यक्षत: दृष्ट के द्वारा रूप अर्थात् व्यापक या अविनाभावी का ज्ञान या निश्चयात्मक ऊह करना अनुमान है– ।। रूप्यमानेन प्रत्यक्षाद्युपलभ्यमानेन रूपस्य व्यापकस्याविनाभाविनो गमनं ज्ञानमनुमानं निश्चयात्मकत्वादूह: ।। (अभि० भा० १९।८५) ।।

८. अधिबल –

अथेति । अब ग्रन्थकार '**अधिबल**' की परिभाषा बताते हैं –

कारिकार्थ – अधिबलमिति । किसी छल या कपट द्वारा नायकादि का अभिप्राय जान लेना 'अधिबल' है ।।

यथा **रत्नावल्याम्** – 'काञ्चनमाला – भट्टिणि! इअं सा चित्तसालिआ । ता वसन्तअस्स सण्णं करेमि ('भर्त्रि ! इयं सा चित्रशालिका तद्वसन्तकस्य संज्ञां करोमि।') (छोटिकां ददाति)' इत्यादिना वासवदत्ताकाञ्चनमालाभ्यां सागरिकासुसङ्गतावेषाभ्यां राजविदूषकयोरभिसन्धीयमानत्वादधिबलमिति ।।

अथ तोटकम् –

– संरब्धं तोटकं वचः ।। ४० ।।

यथा **रत्नावल्याम्** – 'वासवदत्ता – (उपसृत्य) अज्जउत्त! जुत्तमिणं सरिसमिणम्।' (पुनः सरोषम्) अज्जउत्त! उट्ठेहि। किं अज्जवि आहिजच्चईए सेवादुक्खमणुभवीअदि, कचणमाले ! एदेण ज्जेव पासेण बंधिअ आणे हि एणं दुट्ठबम्हणं। एदं पि दुट्ठकण्णअं अग्गदो करेहि।' ('आर्यपुत्र! युक्तमिदं सदृशमिदम्। आर्यपुत्र! उत्तिष्ठ। किमद्याप्याभिजात्याः सेवादुःखमनुभूयते, काञ्चनमाले! एतेनैव पाशेन

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **रत्नावली** नाटिका में – काञ्चनमाला की इस उक्ति से इस सन्ध्यङ्ग की सूचना मिलती है – 'भट्टिणि, यह वह चित्रशाला है। तो मैं वसन्तक को सङ्केत करती हूँ।' (ताली का संकेत करती है।)

इत्यादिनेति । महारानी वासवदत्ता का काञ्चनमाला सागरिकाभिसरण की बात जानकर सागरिका तथा सुसङ्गता का वेष धारणकर सङ्केतस्थल पर (चित्रशाला) जाती हैं। यहाँ वे दोनों राजा वत्सराज व विदूषक–वसन्तक–से मिलती हैं तथा उनके मनोगत (अभिप्राय) को जान लेती हैं, इसलिए इस स्थल पर **'अधिबल'** नामक सन्ध्यङ्ग है ।।

परामर्श – नाट्याचार्यों में **'अधिबल'** के स्वरूप विषयक पर्याप्त मतभेद है। इस सन्ध्यङ्ग को उन्होंने अनेक नाम दिये हैं, जैसे कोई 'अधिबल' को 'अधिकबलयोग' के नाम से जानते हैं, तो कोई इसे 'कपट' का 'अन्यथाभाव' कहते हैं, किसी–किसी नाट्याचार्य ने इसे 'सोपालम्भवाक्य' की संज्ञा दी है। और किसी ने 'सोपालम्भवाक्य' को 'अधिबल' कहा है ।।

९. तोटक –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'तोटक'** नामक गर्भ सन्धि के अङ्ग की परिभाषा बताते हैं –

कारिकार्थ – संरब्धमिति । कोप, हर्ष एवं अन्य कारणों से उत्पन्न आवेश युक्त कथन (वचन) को 'तोटक' कहा जाता है ।। ४० ।।

{तोटक कहीं अभीष्ट वस्तु की अप्राप्ति का कारण होता है, और कहीं प्राप्ति का कारण भी होता है।}।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **रत्नावली** नाटिका में । प्रसङ्ग इस प्रकार है – **वासवदत्ता** – (आगे बढ़कर) आर्यपुत्र ! ठीक है, अनुरूप है यह। (पुनः क्रोध में) – आर्यपुत्र उठिए, उठिए, क्यों अब भी भद्रता की दृष्टि से सेवा करके कष्ट भोग रहे हैं ?

बद्ध्वानयैनं दुष्टब्राह्मणम् । एतामपि दुष्टकन्यकामग्रतः कुरु!') इत्यनेन वासवदत्ता-संरब्धवचसा सागरिकासमागमान्तरायभूतेनाऽनियतप्राप्तिकारणं तोटकमुक्तम् ।।

यथा च **वेणीसंहारे** –

'प्रयत्नपरिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशाम्' (३.३४)

इत्यादिना,

'धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः' (३.४६)

इत्यन्तेनान्योन्यं कर्णाश्वत्थाम्नोः संरब्धवचसा सेनाभेदकारिणा पाण्डवविजय-प्राप्त्याशान्वितं तोटकमिति ।।

ग्रन्थान्तरे तु –

तोटकस्यान्यथाभावं ब्रुवतेऽधिबलं बुधाः ।

काञ्चनमाले ! इस दुष्ट ब्राह्मण को इसी लतापाश से बांधकर इधर ले आओ और इस दुष्ट लड़की को भी आगे करो ।

इत्यनेनेति । वत्सराज और सागरिका के मिलन में रुकावट डालने वाले क्रुद्ध वासवदत्ता के वचनों द्वारा वत्सराज उदयन की अभीष्ट–सागरिका–प्राप्ति को अनिश्चित बना दिया गया है। अतः यहाँ **'तोटक'** है ।

यथेति । **वेणीसंहार** नाटक में – **अश्वत्थामा** के दुर्योधन के प्रति ये वचन–(मेरे द्वारा इस पृथ्वी को केशव, पाण्ड एवं सोमक आदि (वैरिओं) से रहित करने पर आप) बन्दिगणों एवं मागधों द्वारा की गई स्तुतिओं एवं प्रशस्तियों से भङ्ग की जानेवाली प्रगाढ़–सुख निद्रा में आप सोएँगे – और –

(कर्ण के अश्वत्थामा के प्रति ये वचन) – जब तक मैंने शास्त्रास्त्रों को धारण किया हुआ हैं, तब तक दूसरों के शस्त्रास्त्रों का क्या काम है ? (जब तक मेरे हाथों में शस्त्र हैं तब तक दूसरे के शस्त्रों की क्या आवश्यकता ?) जो कार्य मेरे शस्त्रों से सम्पन्न न हो सकेगा वह और किसके द्वारा सम्पन्न हो सकेगा? अर्थात् समस्त कार्य सिद्धि का विधायक मैं ही हूँ।

इत्यन्तेनेति । यहाँ तक कर्ण एवं द्रोणपुत्र अश्वत्थामा के क्रोधपूर्ण एवं कौरव सेना में फूट उत्पन्न करने वाले वचनों से पाण्डवों के विजय प्राप्ति की आशा को बढ़ाने वाला यह **'तोटक'** है ।। ४० ।।

परामर्श – आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार– जो आवेश से गर्भित वचन हो वह 'तोटक' है। यह आवेग हर्ष, क्रोध या अन्य कारण से भी हो सकता है। यह हृदय को विदीर्ण करते हुए आता है इस हेतु इसे तोटक कहा जाता है – ।। आवेगगर्भं यद्वचनं तत्तोटकम्। स चावेगो हर्षात् क्रोधात् अन्यतोऽपि वा। भिनत्ति यतो हृदयं ततस्तोटकम् ।। (अभि० भा० १९।८७) ।। ४० ।।

ग्रन्थान्तर इति । नाट्यशास्त्र के अन्य ग्रन्थों में तो – {अधिबल व तोटक दोनों के लक्षण भिन्न प्रदर्शित किये गये हैं }

कारिकार्थ – तोटकेति । विद्वानों ने तोटक के विपरीत भाव को **'अधिबल'**

यथा **रत्नावल्याम्** – 'राजा – देवि ! एवमपि प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः किं विज्ञापयामि –

'आताम्रतामपनयामि विलक्ष एव
लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना ।
कोपोपरागजनितां तु मुखेन्दुबिम्बे
हर्तुं क्षमो यदि परं करुणा मयि स्यात् ।।' (३.१४)

संरब्धवचनं यत्तु तोटकं तदुदाहृतम् ।। ४१ ।।

यथा **रत्नावल्याम्** – 'राजा – प्रिये वासवदत्ते ! प्रसीद प्रसीद। वासवदत्ता – (अश्रूणि धारयन्ती) अज्जउत्त! मा एवं भण अण्णसङ्क्रन्ताइं खु एदाइं अक्खराइं त्ति।' '(आर्यपुत्र मैवं भण। अन्यसंक्रान्तानि खल्वेतान्यक्षराणीति।)' ।।

यथा च **वेणीसंहारे** – 'राजा–अये सुन्दरक! कच्चित्कुशलमङ्गराजस्य ? पुरुषः–कुसलं सरीरमेत्तकेण। ('कुशलं शरीरमात्रकेण।') राजा – किं तस्य किरीटिना हता धौरेयाः, क्षतः सारथिः, भग्नो वा रथः? पुरुषः– देव! ण भग्गो रहो भग्गो से मणोरहो। ('देव न भग्नो रथः । भग्नोऽस्य मनोरथः') राजा – (ससंभ्रमम्) कथम्।' इत्येवमादिना संरब्धवचसा तोटकमिति ।।

कहा है। { धनञ्जय के मतानुसार क्रुद्ध वचन तोटक है, और क्रुद्ध वचन का उलटा विनीत व दीन वचन, 'अधिबल' है। ये अन्य नाट्यशास्त्रज्ञ दीन वचनों को 'अधिबल' कहते हैं }

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे **रत्नावली** नाटिका में राजा की इस उक्ति में – **राजा** – देवि, इस प्रकार प्रत्यक्ष देखा गया अपराधवाला मैं क्या कहूँ? –

आताम्रेति । हे देवि, लज्जित होकर मैं अपने मस्तक से तुम्हारे चरणों की अलक्तक की हल्की लालिमा को पोंछ रहा हूँ। किन्तु (तुम्हारे) मुखरूपी चन्द्रमण्डल पर क्रोधरूपी (राहु के) ग्रहण से उत्पन्न लालिमा को तो तभी हटा सकता हूँ, जब तुम्हारी विशेष दया मेरे प्रति हो जाय ।।

{कतिपय नाट्यशास्त्रज्ञों के मतानुसार –}

कारिकार्थ – संरब्धेति। संरब्ध (उद्विग्न आवेगपूर्ण) वचन तोटक है ।। ४१ ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **रत्नावली** में **'राजा** – प्रिये वासवदत्ते! प्रसन्न हो, प्रसन्न हो।' **वासवदत्ता** – (आँखों में आँसू भरती हुई) 'आर्यपुत्र! ऐसा मत कहो। ये अक्षर–शब्द–अन्य को लक्षित कर रहे हैं। {अर्थात् आपके ये शब्द मेरे प्रति नहीं, अपितु सागरिका के प्रति कहे गये हैं।'}

यथेति । अथवा, **वेणीसंहार** में – **राजा** – 'अरे सुन्दरक! अङ्गराज कर्ण कुशल तो हैं ? **पुरुष** – शरीरमात्र से कुशल हैं। **राजा** – क्या अर्जुन के द्वारा कर्ण के घोड़े मार दिये गये ? या सारथि मारा गया ? अथवा (उनका) रथ ही तोड़ा गया? **पुरुष** – देव! उनका रथ नहीं, मनोरथ भग्न किया गया । **राजा** – (घबराहट के साथ) "कैसे ?" इत्यादि आवेगपूर्ण वचनों से **'तोटक'** की अभिव्यक्ति होती है ।। ४१ ।।

अथोद्वेगः –

उद्वेगोऽरिकृता भीतिः –

यथा **रत्नावल्याम्** – 'सागरिका – (आत्मगतम्) कहं अकिदपुण्णेहिं अत्तणो इच्छाए मरिउं पि ण पारीअदि।' ('कथमकृतपुण्यैरात्मन इच्छया मर्तुमपि न पार्यते।') इत्यनेन वासवदत्तातः सागरिकाया भयमित्युद्वेगः। यो हि यस्यापकारी स तस्यारिः ॥

यथा च **वेणीसंहारे** – 'सूतः – (श्रुत्वा सभयम्) कथमासन्न एवासौ कौरवराजपुत्रमहावनोत्पातमारुतो मारुतिरनुपलब्धसंज्ञश्च महाराजः, भवतु । दूरमपहरामि स्यन्दनम् । कदाचिदयमनार्यो दुःशासन इवास्मिन्नप्यनार्यमाचरिष्यति ।' इत्यरिकृता भीतिरुद्वेगः ॥

---

१०. उद्वेग –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'उद्वेग'** नामक गर्भसन्ध्यङ्ग की परिभाषा बताते हैं ।

कारिकार्थ – उद्वेग इति । शत्रु द्वारा किये हुए भय से युक्त वाक्य को उद्वेग कहते हैं। {(शत्रु द्वारा होने वाला भय ही उद्वेग है।) जो किसी का अहित करता है वह उसका शत्रु होता है। इसलिए शत्रु से उत्पन्न भय ही 'उद्वेग' नामका (गर्भसन्धिका) अंग है।}॥

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **रत्नावली** नाटिका में – वासवदत्ता के भय से सागरिका का उद्विग्न हो उठना । **सागरिका** – (अपने मन में) 'पुण्य न करने के कारण क्या स्वेच्छा से मरा भी नहीं जा सकता।?'

{यह प्रसङ्ग उस समय का है जब सागरिका लता–पाश से फाँसी लगाकर आत्महत्या करना चाहती थी किन्तु वत्सराज उसे ऐसा करने से रोकते हैं, किन्तु उसी समय वासवदत्ता वहाँ आ जाती है और सागरिका को पकड़कर नजरबन्द करने के लिए ले जाती है।}

इत्यनेनेति । सागरिका के उक्त कथन से उसे पकड़कर ले जाने वाली वासवदत्ता से सागरिका को भय होता है, इसलिए यहाँ **'उद्वेग'** नामक सन्ध्यङ्ग है। यहाँ वत्सराज के साथ मिलन में रुकावट डालनेवाली वासवदत्ता सागरिका की अपकारिणी अर्थात् शत्रु है । क्योंकि जो जिसका अपकार करने वाला होता है वह उसका शत्रु होता है ।

यथेति । वेणीसंहार नाटक में – सूत – (सुनकर भयभीत होते हुए) **क्या यह कौरववन के लिए आँधी स्वरूप भीम सेन निकट आ रहे हैं, महाराज (दुर्योधन) मूर्च्छित हैं। अच्छा, रथ को (कहीं) दूर ले जाता हूँ। कहीं यह दुर्जन दुःशासन की तरह, इन पर भी क्रूरता कर बैठेगा।' यहाँ दुर्योधन के सारथि को भीम से भय है।** अतः यह **'उद्वेग'** नामक गर्भसन्धि का अङ्ग है ॥

परामर्श – 'उद्वेग' भय की उपस्थिति का नाम है, भय का कारण कुछ भी हो, उसके उपस्थान का वर्णन 'उद्वेग' है। शृङ्गाररसप्रधान नाटक में प्रतिनायिका की

अथ संभ्रमः –

– शङ्कात्रासौ च संभ्रमः ।

यथा **रत्नावल्याम्** – 'विदूषकः – (पश्यन्)का उण एसा। (ससंभ्रमम्) कधं देवी वासवदत्ता अत्ताणं वावादेदि । ('का पुनरेषा! कथं देवी वासवदत्तात्मानं व्यापादयति'।) राजा – (ससंभ्रममुपसर्पन्) क्वासौ क्वासौ।' इत्यनेन वासवदत्ताबुद्धिगृहीतायाः सागरिकाया मरणशङ्कया संभ्रम इति ।।

यथा च **वेणीसंहारे** – '(नेपथ्ये कलकलः) अश्वत्थामा – (ससंभ्रमम्) मातुल! मातुल! कष्टम्। एष भ्रातुः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुः किरीटी समं शरवर्षैर्दुर्योधन–राधेयावभिद्रवति। सर्वथा पीतं शोणितं दुःशासनस्य भीमेन।' इति शङ्का। तथा '(प्रविश्य संभ्रान्तः सप्रहारः) सूतः—त्रायतां त्रायतां कुमारः।' इति त्रासः। इत्येताभ्यां त्रासशङ्काभ्यां दुःशासनद्रोणवधसूचकाभ्यां पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वितः संभ्रम इति ।।

उपस्थिति में भयवर्णन 'उद्वेग' होगा। और अन्यरस विषयक रूपकों में अन्य प्रकार के भय का वर्णन 'उद्वेग' माना जायगा। जैसा कि रत्नावली में और वेणीसंहार' में देखने को मिलता है ।।

११. संभ्रम –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'संभ्रम'** नामक गर्भ सन्धि के अङ्ग की परिभाषा बताते हैं –

कारिकार्थ – शङ्केति। शङ्का एवं भय का नाम 'संभ्रम' है ।

{अर्थात् जहाँ नाट्य पात्रों में शङ्का तथा भय का सञ्चार परिलक्षित हो वहाँ संभ्रम नामक सन्ध्यङ्ग होता है।}।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **रत्नावली** नाटिका में – **विदूषक** – (देखते हुए) यह कौन है? (संभ्रम के साथ) क्या देवी वासवदत्ता आत्महत्या कर रही है ? **राजा** – (घबराहट के साथ आगे बढ़ते हुए) वह कहाँ है ? वह कहाँ है ?

इत्यनेनेति । इस स्थल पर वासवदत्ता की बुद्धि से गृहीत (अर्थात् वासवदत्ता समझकर) सागरिका के मरने की आशङ्का परिलक्षित होती है। फलतः विदूषक एवं राजा को संभ्रम हुआ है, अतः यहाँ **'संभ्रम'** नामक सन्ध्यङ्ग है।

यथा चेति । इसी प्रकार **वेणीसंहार** नाटक में {अश्वत्थामा को दुःशासन के मारे जाने की शङ्का एवं सूत को द्रोणाचार्य के मारे जाने के त्रास से सम्भ्रम हुआ है।}

(नेपथ्य में कोलाहल) **अश्वत्थामा** – (घबराहट के साथ) मामा ! मामा ! कष्ट है, भाई (भीम) की प्रतिज्ञा के भङ्ग होने के भय से आशङ्का करने वाला अर्जुन बाणों की वर्षा से दुर्योधन एवं कर्ण पर एक साथ आक्रमण कर रहा है। निश्चय ही भीम ने दुःशासन का रक्तपान कर लिया है।' यहाँ शङ्का का संचार हो रहा है। तथा (भयभीत तथा घायल स्थिति में प्रविष्ट होकर) **सूत** – 'रक्षा करें, रक्षा करें, कुमार !' यहाँ त्रास का संचार हो रहा है इस प्रकार दुःशासन तथा द्रोणाचार्य के वध को सूचित

अथाक्षेपः –

गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः ॥ ४२ ॥

यथा **रत्नावल्याम्** – 'राजा–वयस्य! देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि।' पुनः क्रमान्तरे 'सर्वथा देवीप्रसादनं प्रति निष्प्रत्याशीभूताः स्मः। पुनः 'तत्किमिह स्थितेन देवीमेव गत्वा प्रसादयामि।' इत्यनेन देवीप्रसादायत्ता सागरिकासमागमसिद्धिरिति गर्भबीजोद्भेदादाक्षेपः ॥

करने वाले शब्दों – शङ्का तथा त्रास के द्वारा, पाण्डवों के विजय की आशा से युक्त **'संभ्रम'** नामक गर्भसन्ध्यङ्ग है ॥

परामर्श – नाट्यशास्त्रकार **भरत** ने एवं **विश्वनाथ** ने 'सम्भ्रम' का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने इसके स्थान पर 'विद्रव' का उल्लेख किया है, जिसमें शङ्का, भय और त्रास से सम्भूत संभ्रम अथवा चित्त की व्याकुलता होती है। **नाट्यदर्पणकार** के विचार में भयङ्कर वस्तु की संभावना तो 'विद्रव' है और ऐसी वस्तु की उपस्थिति 'उद्वेग' है । 'भयत्रासकारिणो वस्तुनो या शङ्काऽपायकारकत्व संभावना सा द्रवति श्लथीभवति हृदयमनेनेति द्रवः (विद्रवः) । उपनतं भयमुद्वेगः, तत्संभावना तु विद्रवः।' उनके विचार में– धनञ्जयादि ''शङ्काभासौ च संभ्रमः'' कहकर–संभ्रमका अङ्ग मानते हैं; उनका संभ्रम–विद्रव व उद्वेग में गतार्थ हो जाता है, जैसा कि विवरण में लिखा है –''ये त्वत्र शङ्कां त्रासरूपं ससम्भ्रममङ्गमाहुः, तद् विद्रवाद्वेगाभ्यां गतार्थ मिति।'' **शारदातनय** ने 'सम्भ्रम' सन्ध्यङ्ग का उल्लेख किया है ॥

१२. आक्षेप –

अथेति । अब ग्रन्थकार गर्भसन्धि के बारहवें अङ्ग – **'आक्षेप'** की परिभाषा बताते हैं –

गर्भबीजसमुद्भेदात् आक्षेपः परिकीर्तितः इत्यन्वयः ॥ ४२ ॥

कारिकार्थ – गर्भेति । गर्भ में स्थित बीज का उद्भेद (प्रकाशन) ही 'आक्षेप' कहलाता है ॥ ४२ ॥

{अर्थात् जहाँ बीज को विशेष रूप से प्रकाशित किया जाता है, वहाँ 'आक्षेप' नामक सन्ध्यङ्ग होता है। }

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे रत्नावली नाटिका में – राजा – 'मित्र! अब देवी वासवदत्ता को प्रसन्न (मनाने) करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय (अर्थात् सागरिका से मिलने के विषय में) दिखाई नहीं देता। देवी वासवदत्ता के प्रसन्न होने के विषय में हम बिल्कुल आशान्वित नहीं हैं। (अर्थात् उसे प्रसन्न करने के विषय में हम हताश हो चुके हैं।) तो यहाँ खड़े रहने से क्या लाभ?। जाकर महादेवी को ही क्यों न प्रसन्न करूँ।''

इत्यनेनेति । वत्सराज के निम्नलिखित कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सागरिका की प्राप्ति वासवदत्ता की प्रसन्नता पर ही निर्भर है। इसके द्वारा उदयन गर्भ–बीज को प्रकाशित कर देता है, अतः यहाँ 'आक्षेप' है ।

यथा च **वेणीसंहारे** – 'सुन्दरकः – अहवा किमेत्थ देव्वं उआलहामि । तस्स क्खु एदं णिब्भच्छिदविदुरवअणवीअस्स परिभूदपिदामहहिदोवदेसङ्कुरस्स सउणिप्पोच्छाहणारूढमूलस्स कूडविससाहिणो पञ्चालीकेसग्गहणकुसुमस्स फलं परिणमेदि।' ('अथवा किमत्र दैवमुपालभामि । तस्य खल्वेतन्निर्भर्त्सितविदुरवचनबीजस्य परिभूतपितामहहितोपदेशाङ्कुरस्य शकुनिप्रोत्साहनारूढमूलस्य कूटविषशाखिनो पाञ्चाली–केशग्रहणकुसुमस्य फलं परिणमति'।) इत्यनेन बीजमेव फलोन्मुखतयाक्षिप्यत इत्याक्षेपः ।।

एतानि द्वादश **गर्भाङ्गानि** प्राप्त्याशाप्रदर्शकत्वेनोपनिबन्धनीयानि। एषां च मध्येऽभूताहरणमार्गतोटकाधिबलाक्षेपाणां प्राधान्यम् । इतरेषां यथासंभवं प्रयोग इति साङ्गो गर्भसन्धिरुक्तः ।।

अथावमर्शः –

क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः ।। ४३ ।।

यथा चेति । और भी जैसे **वेणीसंहार** नाटक में – "अथवा मैं ईश्वर–दैव–को क्यों दोष दूँ। क्योंकि यह तो कपटरूपी (षड्यन्त्ररूपी) विष वृक्ष का फल है, विदुर का तिरस्कृत किया गया वचन ही जिसका बीज है, भीष्मपितामह का तिरस्कृत किया गया हितकारी उपदेश जिसका अंकुर है, शकुनि (मातुल) के प्रोत्साहन आदि जिसका दृढ़ मूल है तथा द्रौपदी का केश–ग्रहण ही जिसका फूल है।"

इत्यनेनेति । सुन्दरक की निम्न उक्ति के द्वारा बीज को ही फलोन्मुखरूप में दिखलाया गया है। अतः यहाँ **'आक्षेप'** (नामक) अङ्ग है।

एतानीति । गर्भ सन्धि के उपर्युक्त ये बारह अङ्ग हैं। इन्हें रूपक में प्राप्त्याशा के पोषक तथा प्रदर्शक रूप में निबद्ध किया जाना चाहिए। इनमें अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल, तथा आक्षेप प्रमुख हैं, शेष अङ्गों का यथासम्भव प्रयोग किया जाना चाहिए । यहाँ तक गर्भ सन्धि के अङ्गों का वर्णन किया गया है ।। ४२ ।।

परामर्श – नाट्यदर्पणकार ने 'क्षिप्ति' को 'आक्षेप' कहा है– वे कहते हैं –'आक्षेपो बीजप्रकाशनम्' प्राप्त्याशावस्थानिषद्धस्य बीजस्य मुखकार्योपायस्य प्रकाशनं प्रकर्षेणाविर्भावनमाक्षेपः।' वस्तुतः रहस्यरूप इतिवृत्त का प्रकाशन प्राप्त्याशावस्था के बीज का ही प्रकाशन है, अन्य कुछ नहीं ।। ४२ ।।

४. विमर्श (अवमर्श) सन्धि तथा उसके अङ्ग –

अथेति । अब ग्रन्थकार **अवमर्श सन्धि** की परिभाषा बतलाते हैं –

यत्र क्रोधेन, व्यसनात् विलोभनात् वा अवमृश्येत् स गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः अवमर्शः इति स्मृतः **इत्यन्वयः** ।। ४३ ।।

कारिकार्थ – क्रोधेनेति । जहाँ क्रोध से, व्यसन से, या विलोभन (लोभ) से फलप्राप्ति के विषय में विचार या पर्यालोचन किया जाता है; तथा जहाँ गर्भ सन्धि के द्वारा बीज उद्भिन्न (प्रकट) कर दिया गया हो, वहाँ 'अवमर्श' सन्धि होती है ।। ४३ ।।

अवमर्शनमवमर्श: पर्यालोचनम् । तच्च क्रोधेन वा व्यसनाद्वा विलोभनेन वा भवितव्यमनेनार्थेन इत्यवधारितैकान्तफलप्राप्त्यवसायात्मा गर्भसंध्युद्भिन्नबीजार्थसंबन्धो विमर्शोऽवमर्श: । यथा **रत्नावल्यां** चतुर्थेऽग्निविद्रवपर्यन्तो वासवदत्ताप्रसक्त्या निरपायरत्नावलीप्राप्त्यवसायात्मा विमर्शो दर्शित:। यथा च **वेणीसंहारे** दुर्योधन–रुधिराक्तभीमसेनागमपर्यन्त: –

'तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्येऽपि याते दिवम् ।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिता: ।।' (६.१)

इत्यत्र 'स्वल्पावशेषे जये' इत्यादिभिर्विजयप्रत्यर्थिसमस्तभीष्मादिमहारथ–वधादवधारितैकान्तविजयावमर्शनादवमर्शनं दर्शितमित्य**वमर्शसन्धि:** ।।

वृत्त्यर्थ – अवमर्शेति । अवमर्श का अर्थ है ऊहापोह (पर्यालोचन) करना वह पर्यालोचन क्रोध से अथवा व्यसन या विलोभन आदि से होता है जहाँ 'यह फल होना चाहिए' इस प्रकार अवश्यंभावी फल प्राप्ति का निश्चय कर लिया जाता है और जिसमें गर्भसन्धि से प्रकाशित बीजार्थ का सम्बन्ध पाया जाता हो, वहाँ वह विमर्श अवमर्श होता है ।

{शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'अवमर्श' शब्द की व्युत्पत्ति 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'मृश्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय से सम्पन्न हुई है। और 'अवमर्शन' शब्द में 'ल्युट्' प्रत्यय (अव + मृश् + ल्युट्) किया गया है। दोनों का अर्थ एक सा है – विचार, अन्वेषण, विवेचन, या पर्यालोचन यह अन्वेषण या पर्यालोचन क्रोध, व्यसन, फलप्राप्ति से किया जाता है। **'यह जरूर होगा'** या **'इसे इस प्रकार होना चाहिए'** इस प्रकार फलप्राप्ति के निश्चय का निर्धारण जहाँ हो और गर्भ सन्धि के द्वारा प्रकाशित (उद्‌भिन्न) बीज से जहाँ सम्बन्ध हो, वहाँ वह पर्यालोचन (विमर्श) 'अवमर्श' कहा जाता है।}

यथेति । जैसे **रत्नावली** नाटिका के चतुर्थ अङ्क में आग लगने के उपद्रव पर्यन्त, देवी वासवदत्ता की अनुकूलता से, निर्विघ्न रत्नावली की प्राप्ति रूप अवधारण–(निश्चय) से युक्त विमर्श की सूचना दी गई है। **यथा चेति** । जैसे **वेणीसंहार** नाटक में – दुर्योधन के रक्त से रंजित भीम के आगमन तक के वर्णन में विमर्श सन्धि है।

तीर्ण इति । 'किसी प्रकार भीष्मरूपी महासागर को पार कर लिये जाने पर, द्रोणरूपी प्रज्ज्वलित अग्नि के शान्त हो जाने पर, कर्णरूपी जहरीले सर्प को सदा के लिए किसी प्रकार शान्त कर दिये जाने पर, तथा शल्य के स्वर्ग चले जाने पर, अब 'विजय प्राप्त करना थोड़ा ही शेष है।' तब साहसी भीम ने शीघ्रतावश वाणी (उरू भङ्ग करने की प्रतिज्ञा) के द्वारा हम सभी के जीवन को संशय में डाल दिया है।

इत्यत्रेति । इस वर्णन में युधिष्ठिर निम्न पद्य में 'विजय थोड़ा शेष है, (स्वल्पावशेषे जये) के द्वारा, समस्त शत्रुओं, भीष्मादि महारथियों के वध से अब

विजय निश्यित रूप से निर्धारित हो गई है, इस बात की पर्यालोचना करता है, इसलिए इस स्थल पर **'अवमर्शन'** प्रदर्शित किया गया है ।। ४३ ।।

परामर्श — अवमर्श संधि का मूल 'संदेह' है। क्योंकि इसका विधायक इतिवृत्त का वह अंश होता है जिसमें उस परिस्थिति का चिन्तन अथवा मनन किया जाता है जो लक्ष्य सिद्धि की ओर ले जाती हुई प्रतीत नहीं होती। ऐसा होने के कारण नाटक के 'कार्य' की उस विकासावस्था पर इसका प्रदर्शन करना जहाँ पर नायक के अन्तःकरण में आशा का संचार हो गया है और इष्टसिद्धि की आप्ति सम्भावना के क्षेत्र में प्रदर्शित की जा चुकी है, मनोवैज्ञानिक धरातल पर विरूद्ध प्रतीत होती है। लौकिक अनुभव का विश्लेषण करें तो यह ज्ञात होता है कि (१) — संदेह, (२) संभावना और (३) निश्चय, परस्पर एक दूसरे का अनुसरण करते हैं। इसके अतिरिक्त नियताप्ति अवमर्श का विधायक तत्त्व है। नियताप्ति एवं संशय का संयोग किस प्रकार से हो सकता है?

अवमर्श संधि के विषय में उपर्युक्त चिन्तन 'संदेह' को अवमर्श संधि का मूल लक्षण मानते हुए किया जा सकता है। किन्तु अवमर्श का प्रयोजन नाटक के कार्य के चरमोत्कर्ष को प्रकट करना है। यह चरमोत्कर्ष तभी प्रकट किया जा सकता है जब प्रदर्शित परिस्थिति ऐसी हो जो नायक के चरित्र के सर्वोत्तम गुणों को प्रकट कर सकती हो। सर्वोत्कृष्ट गुण उसी समय प्रकट होते हैं जब अनेक घटनायें परस्पर मिलकर इष्ट सिद्धि के सम्बन्ध में एक प्रबल आशा का संचार नायक के अन्तःकरण में करती हैं परन्तु अकस्मात् एक ऐसा विकट विघ्न उपस्थित होता है जिससे उस आशा पर निराशा बलवती हो जाती है जिसके परिणाम स्वरूप सफलता के विषय में नायक के अन्तःकरण में भारी—संदेह उठ खड़ा होता है। इस रूप में अवमर्श संधि में 'संशय' का होना परमावश्यक है क्योंकि यह स्वतः अनुभवसिद्ध है। परन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि अवमर्श सन्धि की विधायिका वह 'चिन्तना' नहीं है जिसकी उत्पत्ति काम्य वस्तु के प्रथम दर्शन से होती है अपितु यह वह 'चिन्तना' है जो इष्टप्राप्ति की आशा के जाग्रत होने के बाद आपतित बाधा से उत्पन्न होती हैं

शारदातनय के अनुसार —जहाँ क्रोध से, व्यसन से या विलोभन से फल प्राप्ति के विशय में विचार—विमर्श किया जाय तथा जहाँ गर्भसंधि के द्वारा बीज प्रकट कर दिया हो, वहाँ अवमर्श संधि होती है —

।। क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् । गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्शः इति स्मृतः ।। (भा० प्र० ७।२०१) ।।

संक्षेप में—गर्भ सन्धि में बीज उद्‌भिन्न (प्रकाशित) हो जाता है। शनैःशनैः फल—प्राप्ति की संभावना बढ़ जाती है किन्तु विमर्श सन्धि में क्रोध, व्यसन, तथा प्रलोभन आदि के कारणवश फल—लाभ के विषय में विमर्श (सन्देह) जन्म लेता है। किन्तु विघ्न—बाधाओं के दूर हो जाने पर फल प्राप्ति का निश्यय होता है। गर्भ सन्धि में फल—लाभ के विषय में अनिश्चितता की मात्रा अधिक होती है। निश्चय धूमिल सा रहता है। किन्तु इसमें निश्चय अधिक एवं अनिश्चय कम हो जाता है।। ४३ ।।

तस्याङ्गसंग्रहमाह –

तत्रापवादसंफेटौ विद्रवद्रवशक्तयः ।
द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम् ॥ ४४ ॥
प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश ।

यथोद्देशं लक्षणमाह –

दोषप्रख्यापवादः स्यात् –

यथा **रत्नावल्याम्** – 'सुसङ्गता – सा खु तवस्सिणी भट्टिणीए उज्जइणिं णीअदित्ति पवादं करिअ उवत्थिदे अद्धरत्ते ण जाणीअदि कहिंपि णीदेत्ति। ('सा खलु तपस्विनी भट्टिन्योज्जयिनीं नीयत इति प्रवादं कृत्वोपस्थितेऽर्धरात्रे न ज्ञायते कुत्रापि नीतेति।') 'विदूषकः – (सोद्वेगम्) अदिणिग्घिणं क्खु कदं देवीए।' ('अतिनिर्घृणं खलु कृतं देव्या।') पुनः– 'भो वअस्स! मा खु अण्णधा संभावेहि । सा खु देवीए उज्जइणीं

तस्येति । अब ग्रन्थकार **अवमर्श सन्धि** के अङ्गों का विवेचन करते हैं ।

कारिकार्थ – तत्रेति । अवमर्श–सन्धि में – १. अपवाद २. सम्फेट ३. विद्रव ४. द्रव ५. शक्ति ६. द्युति ७. प्रसङ्ग ८. छलन ९. व्यवसाय १०. विरोधन ११. प्ररोचना १२. विचलन तथा १३. आदान – ये तेरह अङ्ग होते हैं ॥ ४४–४५ ॥

{इनमें दोष का कथन **अपवाद**, क्रोधयुक्त भाषण **सम्फेट**, किसी का वध बन्धन आदि **विद्रव**, गुरुजन का अपमान **द्रव**, विरोध का शान्त होना **शक्ति**, किसी पात्र का तर्जन एवं उद्वेजन **द्युति**, गुरुकीर्तन **प्रसङ्ग**, किसी पात्र का अपमान या तिरस्कार **छलन**, आत्मशक्ति का बखान **व्यवसाय**, क्रुद्ध पात्र द्वारा अवज्ञा **विरोधन** (पारस्परिक संग्राम भी) साध्य का आमन्त्रण **प्ररोचना**, आत्मप्रशंसा **विचलन**, और कार्यों का संग्रह **आदान** कहलाते हैं। रूपक में इनके क्रमोल्लेख की आवश्यकता नहीं है। रूपकों में इनका निबन्धन व्युत्क्रम से भी परिलक्षित होता है।}॥ ४४–४५ ॥

१. अपवाद –

यथोद्देशमिति। अधुना कारिका में पठित क्रम से इनका लक्षण कहा जा रहा है –

कारिकार्थ – दोषेति । किसी (नाट्य) पात्र के दोषों का कथन करना अपवाद है॥

{किसी नाट्यपात्र के किसी न किसी रूप में बीज से सम्बन्धित त्रुटि का दोष का प्रकाशन–(वर्णन) करना अपवाद कहलाता है।}

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे – **रत्नावली** नाटिका में – **सुसङ्गता** – 'स्वामिनी (वासवदत्ता) ने उस तपस्विनी (सागरिका) को यह प्रवाद फैलाकर कि उसे उज्जयिनी में ले जाय जायगा (भेज दिया जायगा) अर्धरात्रि के समय में नहीं मालूम, कहाँ भेज दिया। **विदूषक** – (उद्विग्न होकर) देवी (वासवदत्ता) ने बड़ी निर्दयता से यह कार्य

पेसिदा । अदो अप्पिअं त्ति कहिदम्।' ('भे वयस्य! मा खल्वन्यथा संभावय । सा खलु देव्योज्जयिन्यां प्रेषिता अतोऽप्रियमिति कथितम्') राजा – अहो निरनुरोधा मयि देवी।' 'इत्यनेन वासवदत्तादोषप्रख्यापनादपवाद: ।।

यथा च **वेणीसंहारे** – 'युधिष्ठिर: – पाञ्चालक! कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मन: कौरवापसदस्य पदवी? पाञ्चालक: – न केवलं पदवी । स एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्शपातकप्रधानहेतुरुपलब्ध:।' इति दुर्योधनस्य दोषप्रख्यापनादपवाद इति ।।

अथ संफेट: –

– संफेटो रोषभाषणम् ।

यथा **वेणीसंहारे** – 'भो: कौरवराज! कृतं बन्धुनाशदर्शनमन्युना, मैवं विषादं कृथा: पर्याप्ता: पाण्डवा: समरायाऽहमसहाय इति ।।

पञ्चानां मन्यसेऽस्माकं यं सुयोधं सुयोधन ।
दंशितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सव: ।। (६.१०)

किया । इसके पश्चात् हे मित्र ! आप अन्यथा न समझें उसे देवी ने उज्जयिनी भेज दिया । इसलिए मैंने कहा कि अनर्थ हो गया । **राजा** – आश्चर्य है, देवी वासवदत्ता मेरे प्रति इतनी निष्करुण है।'

इत्यनेनेति । इत्यादि उक्त कथन के द्वारा वासवदत्ता के दोषों के प्रचार का कारण और उनका यह दोष सागरिका का राजा से मिलन में बाधक होने के कारण तथा बीज से सम्बद्ध होने से यहाँ विमर्श सन्धि का **'अपवाद'** नामक अङ्ग है।

यथा चेति। इसी प्रकार **वेणीसंहार** नाटक में – **युधिष्ठिर** – 'पाञ्चालक ! क्या उस नीच कौरव कुलाङ्गार दुर्योधन के मार्ग का पता ज्ञात हुआ ? **पाञ्चालक** – उसका मार्ग ही नहीं; देवी द्रौपदी के केशपाश के स्पर्श रूपी पातक का प्रधान कारण वह दुष्ट स्वयं भी उपलब्ध हो गया है।'

इतीति। इस प्रकार वार्तालाप में दुर्योधन के दोषों का वर्णन होने से यह स्थल भी अपवाद नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग है ।।

परामर्श – **'अपवाद'** नामक विमर्शसन्ध्यङ्ग की योजना किसी भी रसभाव–विषयक रूपक में यथोचित संभव है ।।

२. संफेट –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'संफेट'** नामक अवमर्श सन्धि के अङ्ग की परिभाषा बतलाते हैं –

कारिकार्थ – संफेट इति । क्रोधपूर्ण कथोपकथन (वचन) ही 'संफेट' कहा जाता है ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे वेणीसंहार नाटक में – भीम – हे कौरवराज ! बन्धुओं के विनाश का दु:ख करना व्यर्थ है। इस प्रकार का दु:ख भी मत करो कि युद्ध में पाण्डव बहुत से (पर्याप्त) हैं और मैं अकेला (असहाय) हूँ। हे दुर्योधन ! हम

इत्थं श्रुत्वाऽसूयात्मिकां निक्षिप्य कुमारयोर्दृष्टिमुक्तवान्धार्तराष्ट्रः —

कर्णदुःशासनवधात्तुल्यावेव युवां मम ।
अप्रियोऽपि प्रियो योद्धुं त्वमेव प्रियसाहसः ।।

'इत्युत्थाय च परस्परक्रोधाधिक्षेपपरुषवाक्कलहप्रस्तारितघोरसङ्ग्रामौ' इत्यनेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यरोषसंभाषणाद्विजयबीजान्वयेन **संफेट** इति ।।

अथ विद्रवः —

विद्रवो वधबन्धादिः —

यथा **छलितरामे** —

'येनावृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तमायासितं
बाल्ये येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम् ।

पांचों के मध्य में जिसको तुम युद्ध के लिए उपयुक्त समझते हो, उसी के साथ कवच धारण किये हुए तथा शस्त्र धारण किये हुए युद्ध कर सकते हों।'

इत्थमिति । इस बात को सुनकर दुर्योधन ने भीम और अर्जुन—दोनों की ओर असूयाभरी दृष्टिपात कर कहा —

कर्णेति । 'कर्ण (मित्र) एवं दुःशासन (भाई) का वध करने से मेरे लिए तुम दोनों ही समान (शत्रु) हो, (तो भी) तुम अप्रिय होने पर भी साहस प्रिय होने के कारण युद्ध के लिए प्रिय हो।'

इत्युत्थायेति । ऐसा कहकर तथा उठकर परस्पर के क्रोधपूर्ण वार्तालाप से तथा परुष शब्दों का प्रयोग करते हुए तथा घोर संग्राम का आरम्भ कर देने वाले .... दोनों ही (भीम और दुर्योधन) गदा युद्ध के लिए प्रवृत्त हो गये।

इत्यनेनेति । इत्यादि के द्वारा भीमसेन तथा दुर्योधन के रोषपूर्ण वार्तालाप के कारण 'संफेट' है। यह कोपयुक्त संभाषण पाण्डवों की भावी विजय रूपी बीज से युक्त है।।

परामर्श — **'संफेट'** नामक यह सन्ध्यङ्ग ऐसा उत्तर—प्रत्युत्तर है जो क्रोध का अभिव्यञ्जक होता है। इसकी योजना अर्थप्रधान वीरभाव विषयक रूपकों के लिए उपयुक्त होती है ।।

३. विद्रव —

अथेति । अब ग्रन्थकार **'विद्रव'** नामक अवमर्श सन्धि के अङ्ग की परिभाषा बताते हैं —

कारिकार्थ — विद्रव इति। रूपक में किसी पात्र का वध, बन्धन, तथा भय से पलायन आदि का जहाँ वर्णन होता है, वहाँ 'विद्रव' नामक सन्ध्यङ्ग होता है ।।

वृत्त्यर्थ — यथेति। जैसे **'छलितराम'** नामक नाटक में —

येनेति। 'जिस (लव) ने सामगान की बारंबार आवृत्ति करके ब्रह्मचारियों के मुख को थका दिया था, बाल्यकाल में जिसने बटुओं के अक्षसूत्र तथा वलय (कङ्कन)

युष्माकं हृदयं स एष विशिखैरापूरितांसस्थलो
मूर्च्छाघोरतमः प्रवेशविवशो बद्ध्वा लवो नीयते॥'

यथा च रत्नावल्याम् –

'हर्म्याणां हेमशृङ्गश्रियमिव शिखैरर्चिषामादधानः
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः ।
कुर्वन्क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातै –
रेष प्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्निः ॥' (४.१४)

इत्यादि, पुनः। 'वासवदत्ता – अज्जउत्त ! ण क्खु अहं अत्तणो कारणादो भणामि । एसा मए णिग्घिणहिअआए संजदा सागरिआ विवज्जदि।' ('आर्यपुत्र! न खल्वहमात्मनः कारणाद्भणामि एषा मया निर्घृणहृदया संयता सागरिका विपद्यते।') इत्यनेन सागरिकावधबन्धाग्निभिर्विद्रव इति ॥

अथ द्रवः –

– द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥ ४५ ॥

यथोत्तरचरिते –

छीन कर तथा बाद में उन्हें लौटाकर क्रीडा की थी, जो तुम्हारा हृदय है, वही तीक्ष्ण बाणों से भरा हुआ स्कन्धवाला, अतएव मूर्च्छित होने से बेबस, यह लव अब बन्धा हुआ ले जाया जा रहा है। {इस स्थल पर लव के बन्धन से **'विद्रव'** नामक सन्ध्यङ्ग ज्ञात होता है।}

यथा चेति। जैसे रत्नावली में –

हर्म्याणामिति। ''ज्वालाओं के समूह से प्रासादों की (मानों) सुवर्ण निर्मित शिखरों की सी शोभा उत्पन्न करता हुआ, सघन उद्यान वृक्षों की चोटियों को म्लान कर देने के कारण अपने तीव्र ताप को सूचित करता हुआ, धुँए के समूह से क्रीडापर्वत को जलपूर्ण मेघ के समान श्यामल बनाता हुआ, और दाह से स्त्री जनों को पीड़ित करता हुआ यह अग्नि यहाँ अन्तःपुर में अकस्मात् भड़क उठा है।''

इत्यादि और पुनः, **वासवदत्ता** – 'आर्यपुत्र ! मैं अपने लिये नहीं कह रही हूँ, निष्करुण मेरे द्वारा बन्दी बनाई हुई यह सागरिका इस आग में जल रही है (मर रही है।)।' सागरिका के बन्धन, मरण की आशङ्का तथा अग्नि के भय के वर्णन के कारण निम्न प्रसङ्ग में विमर्श सन्धि का 'विद्रव' नामक अङ्ग है ॥

४. द्रव –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'द्रव'** नामक अवमर्श सन्धि के अङ्ग की परिभाषा बताते हैं –

कारिकार्थ – द्रव इति। गुरुजनों (ज्ञानवृद्धों) के प्रति तिरस्कार 'द्रव' (नामक अङ्ग) कहलाता है ॥ ४५ ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे–भवभूति के **उत्तररामचरित** नाटक में– (राम के प्रति) लव कहता है –

'वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तते
सुन्दस्त्रीदमनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते ।
यानि त्रीण्यकुतोमुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जनः ।।' (५.३४)

इत्यनेन लवो रामस्य गुरोस्तिरस्कारं कृतवानिति **द्रवः** ।।

यथा च **वेणीसंहारे** – 'युधिष्ठिरः – भगवान् कृष्णाग्रज सुभद्राभ्रातः!
ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मो
रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन ।
तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः
कोऽयं पन्था यदसि विगुणो मन्दभाग्ये मयीत्थम् ।।' (६.२०)

इत्यादिना बलभद्रं गुरुं युधिष्ठिरस्तिरस्कृतवानिति **द्रवः** ।।

वृद्धा इति। वृद्धों के चरित्र पर तो विचार ही नहीं करना चाहिए, उनके विषय में क्या कहा जाय? सुन्द–स्त्री–ताटका का वध करने पर भी जिनकी कीर्ति अकुंठित रही, वे संसार में श्रेष्ठ ही हैं । खर राक्षस के युद्ध में पराङ्मुख न होते हुए भी जो तीन पद पीछे हटे थे उनके विषय में, और इन्द्रपुत्र बालि के मारने में जो निपुणता दिखाई दी उसके विषय में भी, लोग जानते ही हैं ।

इत्यनेनेति । लव की यह उपहासोक्ति राम के प्रति तिरस्कार की भावना व्यक्त करती है, अतः यह 'द्रव' नामक सन्ध्यङ्ग है।

यथा चेति । अथवा जैसे **वेणीसंहार** में – {मुनि वेष में उपस्थित राक्षस से कृष्ण के अग्रज बलभद्र द्वारा कृष्ण को युद्ध स्थल से हटाकर द्वारका ले जाने की बात सुनकर युधिष्ठिर कहते हैं } – 'हे भगवन् ! हे कृष्ण के अग्रज ! हे सुभद्रा के भाई !

ज्ञातीति । आपने बन्धुबान्धवों के प्रति स्नेह सम्बन्ध की चिन्ता नहीं की, आपने क्षत्रिय के लिए विहित धर्म का पालन नहीं किया, आपने कृष्ण और अर्जुन की प्रसिद्ध मित्रता का विचार नहीं किया, आपके दोनों शिष्यों (भीम और दुर्योधन) में आपका स्नेह–भाव भले ही समान हो, किन्तु यह कौन सा मार्ग है, जो कि मुझ अभागे से इस प्रकार मुख मोड़े हुए हो ?

इत्यादिनेति । इत्यादि वचनों से युधिष्ठिर ने गुरु समान बलभद्र का उपालम्भ के रूप में तिरस्कार किया है। अतः यहाँ द्रव नामक सन्ध्यङ्ग है ।। ४५ ।।

परामर्श – **नाट्यदर्पणकार** ने भी 'द्रव' को 'पूज्यव्यतिक्रम' ही माना है, किन्तु 'पूज्यव्यतिक्रम' का तात्पर्य पूजनीय व्यक्ति का अनादर न ग्रहण कर 'पूज्यव्यक्ति द्वारा' मार्गभ्रंश माना है ।। ४५ ।।

५. शक्ति –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'शक्ति'** नामक अवमर्श सन्धि के अङ्ग की परिभाषा बताते हैं –

अथ शक्तिः –

विरोधशमनं शक्तिः –

यथा **रत्नावल्याम्** – 'राजा –

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्याधिकं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।
प्रत्यासत्तिमुपागता नहि तथा देवी रुदत्या यथा
प्रक्षाल्येव तयैव वाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ।।' (४.१)

इत्यनेन सागरिकालाभविरोधिवासवदत्ताकोपोपशमनाच्छक्तिः ।।

यथा **चोत्तरचरिते** लवः प्राह –

'विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघन–
स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम् ।
झटित्यस्मिन्दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ।। (६.११)

कारिकार्थ – विरोधेति । 'विरोध का शान्त हो जाना 'शक्ति' कहलाता है' ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे – **रत्नावली** नाटिका में – **राजा –**

सव्याजैरिति। कपटपूर्ण शपथों से, प्रेमपूर्ण बातों से अत्यधिक मन के अनुकूल आचरण करने से, अतिशय लज्जाभाव से, चरणों पर गिरने से और सखियों के बारंबार कहे गये वचनों से देवी वासवदत्ता उतनी प्रकृतिस्थ नहीं हुई जितनी की स्वयं रोती हुई रोती हुई अपने अश्रु–जल से क्रोध को धोकर बहा देने पर (शान्त) हुई।

इत्यनेनेति। इसके द्वारा सागरिका की प्राप्ति में बाधक वासवदत्ता का क्रोध दूर (शान्त) होने से यहाँ अवमर्श सन्धि का **'शक्ति'** नामक अङ्ग है।

यथा चेति। अथवा जैसे भवभूति के **उत्तररामचरित** में – लव कहता है –

विरोध इति। 'इन्हें (राम को) देखते ही मेरा विरोध नष्ट हो गया है, मेरे सर्वाङ्गों में आनन्द फैल रहा है, मेरा शरीरस्थ दर्प कहीं चला गया है। विनय से मैं नम्र हो गया हूँ। इन्हें देखते ही मैं इस प्रकार पराधीन कैसे हो गया हूँ ? वस्तुतः तीर्थों की तरह महात्माओं का प्रभाव भी कुछ अद्भुत होता है।

{यहाँ पर लव के विरोध की शान्ति होने से **'शक्ति'** नामक विमर्श सन्ध्यङ्ग है।}।।

परामर्श – आचार्य **अभिनवगुप्त** के अनुसार– विरोधी अर्थात् कुपित का प्रशम या प्रसन्न करना 'शक्ति' है, जो बुद्धि या विभव आदि शक्ति का कार्य होने से होती है – ।। विरोधिनः कुपितस्य प्रशमः प्रसादनं शक्तिः बुद्धिविभवादिशक्ति–कार्यत्वात् ।। (अभि० भा० १९।९०) ।। **नाट्यदर्पणकार** ने 'शक्ति' सन्ध्यङ्ग को विरोध का प्रशमन न मानकर 'क्रुद्ध प्रसादन' माना है। 'क्रुद्धप्रसादन' को इसलिये 'शक्ति' कहा है, क्योंकि बुद्धिशक्ति से क्रुद्ध व्यक्ति को शान्त किया जा सकता है। क्रुद्ध व्यक्ति का विनाश भी 'क्रुद्धप्रसादन' ही है ।।

अथ द्युतिः –

– तर्जनोद्वेजने द्युतिः ।

यथा **वेणीसंहारे** – 'एतच्च वचनमुपश्रुत्य रामानुजस्य सकलनिकुञ्ज–पूरिताशातिरिक्तमुद्‌भ्रान्तसलिलचरशतसंकुलं त्रासोद्‌वृत्तनक्रग्राहमालोड्य सर:सलिलं भैरवं च गर्जित्वा कुमारवृकोदरेणाभिहितम् –

जन्मेन्दोरमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां
मां दु:शासनकोष्णशोणितसुराक्षीबं रिपुं भाषसे ।
दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे
मत्त्रासान्नृपशो विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे ।।' (६.७)

इत्यादिना 'त्यक्त्वोत्थित: सरभसम्' इत्यनेन दुर्वचनजलावलोडनाभ्यां दुर्योधनतर्जनोद्वेजनकारिभ्यां पाण्डवविजयानुकूलदुर्योधनोत्थापनहेतुभ्यां भीमस्य द्युतिरुक्ता ।।

---

६. द्युति –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'द्युति'** नामक अवमर्श सन्ध्यङ्ग की परिभाषा बतलाते हैं –

कारिकार्थ – तर्जनेति । तर्जन (भयभीत करना, डराना) तथा उद्वेजन (भय उत्पन्न करना) को 'द्युति' नामक सन्ध्यङ्ग कहा गया है ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे – **वेणीसंहार** नाटक में (युधिष्ठिर के प्रति) पाञ्चालक श्रीकृष्ण के इस कथन को (कि दुर्योधन इसी सरोवर में जलस्तम्भनी विद्या का आश्रय लेकर छिपा हुआ है।) सुनकर वृकोदर ने उस कासार के जल को आलोडित कर दिया, फलत: उस सरोवर के सभी जलचर विकल हो गए। इसके पश्चात् भीम ने भयङ्कर गर्जना करते हुए कहा –

जन्मेन्दोरिति। "अपना जन्म विमल चन्द्रवंश में बतलारहे हो, आज भी तुम्हारे हाथ में गदा है। दु:शासन के ईषदुष्ण रक्तरूपी मदिरा से मत्त मुझे शत्रु कह रहे हो; अहङ्कार से अन्धे हुए तुम मधु और कैटभ के शत्रु विष्णु के अवतार भगवान् वासुदेव के विषय में असभ्यता का व्यवहार करते हो। हे नराधम ! मुझसे भयभीत होकर तथा युद्ध से पराङ्मुख होकर अब कीचड़ में आकर छिपे हो?।"

इत्यादिनेति। इत्यादि से लेकर, "जलाशय की तलहटी को छोड़कर वेग से उठा" यहाँ तक, भीम का कटुवचन तथा जल का आलोडन (दोनों ही) दुर्योधन का क्रमश: तर्जन तथा उद्वेजन करने वाले हैं, ये (दोनों ही) पाण्डवों के विजयलाभ में सहायक दुर्योधन के जल से ऊपर आने में कारण हैं। अत: यहाँ 'द्युति' नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग है।।

परामर्श – 'द्युति' नामक सन्ध्यङ्ग में तर्जन और उद्वेजन, भर्त्सना और धर्षण, साक्षात् अथवा असाक्षात् अनादर–(तिरस्कार) और अपमान सब कुछ निहित है। इस सन्ध्यङ्ग का निबन्धन वीररसात्मक नाटकों का एक विशेष सौन्दर्य है। इतिवृत्त

अथ प्रसङ्गः –

गुरुकीर्तनं प्रसङ्गः –

यथा **रत्नावल्याम्** – 'देव ! यासौ सिंहलेश्वरेण स्वदुहिता रत्नावली नामायुष्मती वासवदत्तां दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूर्वप्रार्थिता सती प्रतिदत्ता।' इत्यनेन रत्नावल्या लाभानुकूलाभिजनप्रकाशिना प्रसङ्गाद्गुरुकीर्तनेन प्रसङ्गः ।।

यथा **मृच्छकटिकायाम्** – 'चाण्डालकः– एस सागलदत्तस्स सुओ अज्जविणअदत्तस्स णत्तू चालुदत्तो वावादिदुं वज्झट्ठाणं णीअदि । एदेण किल गणिआ वसन्तसेणा सुवण्णलोभेण वावादिदत्ति।' ('एष सागरदत्तस्य सुत आर्यविनयदत्तस्य नप्ता चारुदत्तो व्यापादयितुं वध्यस्थानं नीयते । एतेन किल गणिकावसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादितेति।')।।

चारूदत्तः –

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् ।

के विकास के लिए और चरित्र–चित्रण की रेखाओं को अधिक स्पष्टांकित करने के लिए, इस सन्ध्यङ्ग की विशेष आवश्यकता है ।।

७. प्रसङ्ग –

अथेति । अब ग्रन्थकार अवमर्श सन्धि के अङ्ग **'प्रसङ्ग'** की परिभाषा बतलाते हैं –

कारिकार्थ – गुरुकीर्तनमिति । किसी प्रसङ्ग पर गुरुजनों – (ज्ञानवृद्धजनों) श्रद्धास्पद पूर्वजों, (माता–पिता) श्रेष्ठपरम्परा, उच्चकुल आदि के गुणों और महत्त्व का 'कीर्तन' 'प्रसङ्ग' कहलाता है ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **रत्नावली** नाटिका में – **वसुभूति** – देव ! आयुष्मती वासवदत्ता को जल गयी सुनकर अपनी कन्या रत्नावली (जो पूर्व में आप लोगों के द्वारा मागी गई थी) को सिंहलेश्वर ने आप के लिए दी थी ।'

इत्यनेनेति। इत्यादि कथन के द्वारा प्रसङ्गवश रत्नावली लाभ के अनुकूल उच्चवंश–कुलीनता को प्रकट करने वाले परिवार तथा माता–पिता का कीर्तन किया गया है। अतः यहाँ **प्रसङ्ग** नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग है।

यथा चेति। अथवा जैसे **'मृच्छकटिक'** प्रकरण में –

चाण्डालक – यह सागरदत्त का पुत्र, आर्य विनयदत्त का नाती चारुदत्त वध के लिए वधस्थल पर ले आया जा रहा है। निश्चय ही इसने सोने के लोभ से गणिका वसन्त सेना की हत्या की है।'

चारुदत्त – "(दुःख के साथ, मन में) –

मखशतेति। जो हमारा उत्तम कुल पहले विविध यज्ञानुष्ठानों से पवित्र हो चुका है तथा धर्म सभाओं में एकत्रित ब्रह्मवेत्ताओं द्वारा की गई वेदध्वनि से पूर्णतया

मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै –

स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ।।' (१०१२)

इत्यनेन चारुदत्तवधाभ्युदयानुकूलं प्रसङ्गाद्गुरुकीर्तनमिति प्रसङ्गः ।।

अथ छलनम् –

– छलनं चावमाननम् ।। ४६ ।।

यथा **रत्नावल्याम्** –' राजा – अहो निरनुरोधा मयि देवी।' इत्यनेन वासवदत्तयेष्टासंपादनाद्वत्सराजस्यावमानाच्छलनम् ।।

यथा च **रामाभ्युदये** सीतायाः परित्यागेनाऽवमाननाच्छलनमिति ।।

अथ व्यवसायः –

व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः –

प्रकाशित हो चुका है, वही मेरा कुल मेरी मरणावस्था में पापी अयोग्य चाण्डालों के द्वारा इस घोषणास्थल पर घोषित किया जा रहा है।''

इत्यनेनेति। (कलंकित किया जा रहा है) इस कथन से चारुदत्त के वध (के साथ–साथ) तथा (अन्त में प्राप्त होने वाले) अभ्युदय के अनुकूल प्रसङ्गवश (चारुदत्त के) पूर्वजों–गुरुजनों– का कीर्तन किया गया है। अतः यहाँ 'प्रसङ्ग' नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग है ।।

८. छलन –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'छलन'** नामक अवमर्शसन्धि के अङ्ग की परिभाषा बतलाते हैं –

कारिकार्थ – छलनमिति। (किसी पात्र द्वारा) नायक आदि के (किये गये) अपमान को 'छलन' कहा जाता है ।। ४६ ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे **रत्नावली** नाटिका में – **राजा** – 'अहो ! देवी वासवदत्ता मेरे प्रति (इतनी) निर्दया हैं' इस कथन में वासवदत्ता द्वारा सागरिका की प्राप्ति में बाधा डालना एवं बिना अनुमति के सागरिका को उज्जैन में प्रेषित करना, वत्सराज का अपमान है। अतः यहाँ छलन नामक अङ्ग है।

यथा चेति। इसी प्रकार **'रामाभ्युदय'** में सीता का परित्याग भी 'छलन' ही है ।। ४६ ।।

९. व्यवसाय –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'व्यवसाय'** की परिभाषा बतलाते हैं –

कारिकार्थ – व्यवसाय इति। अपनी शक्ति का बखान करना ही 'व्यवसाय' है। {जब कोई पात्र अपनी शक्ति (सामर्थ्य) के विषय में कहे, तब व्यवसाय नामक अवमर्श–सन्ध्यङ्ग होता है।} ।।

यथा **रत्नावल्याम्** – 'ऐन्द्रजालिकः –

किं धरणीए मिअङ्को आआसे महिहरो जले जलणो ।
मज्झण्हम्मि पओसो दाविज्जउ देहि आणत्तिम् ।। (४.८)

अहवा किं बहुआ जम्पिएण –

मज्झ पइण्णा एसा भणामि हिअएण जं महसि दट्ठुम् ।
तं ते दावेमि फुडं गुरुणो मन्तप्पहावेण ।।' (४.९)
('किं धरण्यां मृगाङ्क आकाशे महीधरो जले ज्वलनः ।
मध्याह्ने प्रदोषो दर्श्यतां देह्याज्ञप्तिम् ।।

अथवा किं बहुना जल्पितेन।

मम प्रतिज्ञैषा भणामि हृदयेन यद्वाञ्छसि द्रष्टुम् ।
तत्ते दर्शयामि स्फुटं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण ।।')

इत्यनेनैन्द्रजालिको मिथ्याग्निसंभ्रमोत्थापनेन वत्सराजस्य हृदयस्थ–सागरिकादर्शनानुकूलां स्वशक्तिमाविष्कृतवान् ।।

यथा च **वेणीसंहारे** –

'नूनं तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ।
बध्यते केशपाशस्ते स चास्याकर्षणे क्षमः ।।' (६.६)

इत्यनेन युधिष्ठिरः स्वदण्डशक्तिमाविष्करोति ।।

वृत्त्यर्थ – **यथेति**। जैसे **रत्नावली** नाटिका के चतुर्थ अङ्क में – **'ऐन्द्रजालिक** –

किमिति। (महाराज), आज्ञा दीजिये, क्या मैं पृथ्वी पर चन्द्रमा, आकाश में पर्वत, जल में अग्नि, और मध्याह्न में प्रदोष (सायंकाल, रात्रि का प्रथम प्रहर) दिखा दूँ ।

अथवेति । अथवा अधिक क्या कहूँ –

ममेति । मेरी प्रतिज्ञा यह है, हृदय से कहता हूँ, आप जो कुछ देखना चाहते हैं, गुरूपदिष्ट मन्त्र की शक्ति से मैं वही आपको स्पष्टरूप से दिखाऊंगा (दिखा सकता हूँ)'

इत्यनेनेति । इत्यादि के कथन से ऐन्द्रजालिक मिथ्याग्नि का विस्तार कर वत्सराज के हृदय में स्थित सागरिका के दर्शन के अनुकूल अपने सामर्थ्य को प्रकट करता है ।

यथा चेति । और जैसे **वेणीसंहार** में युधिष्ठिर (द्रौपदी के प्रति)

नूनमिति । 'निश्चय ही आज प्रतिज्ञा के भङ्ग होने के भय से वह वीर (भीम) तुम्हारे इस केश कलाप को और उसे आकृष्ट करने में समर्थ (दुर्योधन) को भी बाँधेगा।' (अर्थात् भीम द्वारा तुम्हारे केश बाँधे जायेंगे और केशकलाप को खींचने वाला दुर्योधन भी मारा जायगा।) इत्यादि कथन के द्वारा युधिष्ठिर ने अपनी दण्डशक्ति का प्रकाशन किया है ।।

अथ विरोधनम् –

– संरब्धानां विरोधनम् ।

यथा वेणीसंहारे – 'राजा – रेरे मरुत्तनय! किमेवं वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितव्यमात्मकर्म श्लाघसे? अपि च –

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी ।
अस्मिन्वैरानुबन्धे तव किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिसारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ।। (५.३०)

(भीमः क्रोधं नाटयति) अर्जुनः – आर्य प्रसीद, किमत्र क्रोधेन ?

अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तो न कर्मणा ।
हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ।। (५.३१)

भीमः – अरे भरतकुलकलङ्क !

अद्यैव किं न विसृजेयमहं भवन्तं
दुःशासनानुगमनाय कटुप्रलापिन् ।

---

१०. विरोधन –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'विरोधन'** नामक अवमर्श सन्ध्यङ्ग की परिभाषा बतलाते हैं –

कारिकार्थ – संरब्धानामिति । क्रोधावेश में आकर नाट्यपात्रों का अपने–अपने सामर्थ्य का वर्णन करना 'विरोधन' कहा जाता है ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **वेणीसंहार** नाटक में –

राजा – हे वायुपुत्र ! तुम वृद्ध महाराज के सम्मुख अपने गर्हित कार्यों की क्यों प्रशंसा कर रहे हो ? और भी –

कृष्टेति । 'लोक के स्वामी मेरी आज्ञा से राजाओं के समक्ष, जुए में जीती गई दासी तुझ पशु की, उस राजा (युधिष्ठिर) की अर्जुन एवं उन दोनों (नकुल–सहदेव) की पत्नी (द्रौपदी) को उसके बालों को पकड़कर खींचा गया। इस वैर भाव में उन राजाओं ने क्या अपकार किया था, जो युद्ध में मारे गए हैं ? बताओ, दोनों भुजाओं के अत्यधिक बलरूपी धन का गर्व करने वाले मुझे बिना जीते ही यह तुम्हारा घमण्ड किस काम का ? (५–३०)

(भीम क्रोध का अभिनय करते हैं) **अर्जुन** – आर्य ! प्रसन्न हो, उस पर क्रोध करने से क्या (लाभ)?

अप्रियाणीति। 'सौ भाइयों के वध से दुःखी यह (दुर्योधन) कर्म से तो कुछ नहीं कर सकता, केवल वचन मात्र से ही तो हमारा अप्रिय कर रहा है। (अतः) इसके प्रलाप से हमें कोई दुःख नहीं, (क्रोध नहीं करना चाहिए) ।।

भीम – अरे ! रे भरतकुल कलङ्क ! –

अद्यैवेति। हे कटुप्रलापिन् (दुर्योधन !) दुःशासन का अनुसरण करने के लिए

विघ्नं गुरु न कुरुतो यदि मत्कराग्र –,
निर्भिद्यमानरणितास्थिनि ते शरीरे ।। (५.३२)

अन्यच मूढ !

शोकं स्त्रीवन्नयनसलिलैर्यत्परित्याजितोऽसि
भ्रातुर्वक्षःस्थलविदलने यच्चससाक्षीकृतोऽसि ।
आसीदेतत्तव कुनृपतेः कारणं जीवितस्य
क्रुद्धे युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने ।। (५.३३)

राजा – दुरात्मन् भरतकुलापसद पाण्डवपशो ! नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः । किंतु –

द्रक्ष्यन्ति नचिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ।।' (५.३४)

इत्यादिना संरब्धयोर्भीमदुर्योधनयोः स्वशक्त्युक्तिर्विरोधनमिति ।।

अथ प्ररोचना –

सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात्प्ररोचना ।। ४७ ।।

यहीं पर तुझे क्यों न समाप्त कर देता ? यदि (धृतराष्ट्र) तात मेरे घूंसों से चरचराहट के साथ टूटती हुई हड्डियों से युक्त शरीर के विषय में विघ्न न डालते। और भी मूढ ! –

शोकमिति। 'तेरे कुलरूपी कमलिनी के लिए हाथी की तरह (विनाशक) भीम के क्रुद्ध होने पर भी तेरे सदृश दुष्ट राजा के अब तक जीवित रहने के दो कारण थे–कि स्त्रियों की तरह आँसूओं के द्वारा (अपने बन्धु वर्ग का नाश देखकर) तुम शोक करते रहो और भाई (दुःशासन) का वक्षःस्थल को फाड़ने (और उसका रक्तपान करने) में तुम प्रत्यक्ष दर्शी बनो'।

राजा – (दुर्योधन) अरे नीच ! भरत–कुल–कलङ्क! प्राण्डव पशु ! मैं तुझ जैसा आत्मश्लाघा में निपुण तो नहीं हूँ, किन्तु –

द्रक्ष्यन्तीति। 'तेरे बन्धु–बान्धव अब शीघ्र ही तुझे रणभूमि में सोया हुआ देखेंगे। तेरा वक्षःस्थल व हड्डियों का ढाँचा मेरी गदा से टूटा हुआ होने से (तू) दिखाई देने में भयङ्कर होगा'।।

इत्यादिनेति। उपर्युक्त कथनों के द्वारा क्रोधावेश में आये हुए भीम तथा दुर्योधन अपनी–अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हैं। अतः यहाँ 'विरोधन' नामक अवमर्श सन्धि का अङ्ग है ।।

११. प्ररोचना –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'प्ररोचना'** नामक अवमर्श सन्ध्यङ्ग की परिभाषा बतलाते हैं –

सिद्धामन्त्रणतः भाविदर्शिका प्ररोचना स्यात् इत्यन्वयः ।।

कारिकार्थ – सिद्धेति। जब कोई सिद्ध व्यक्ति अपने वचनों के द्वारा भावी घटना की सूचना इस प्रकार देता है, जैसे वह सिद्ध हो, तब वहाँ 'प्ररोचना' नामक

यथा **वेणीसंहारे** – 'पाञ्चालकः – अहं च देवेन चक्रपाणिना' इत्युपक्रम्य 'कृतं संदेहेन –

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णाऽत्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम् ।
रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥' (६.१२)

इत्यादिना 'मङ्गलानि कर्तुमाज्ञापयति देवो युधिष्ठिरः' इत्यन्तेन द्रौपदीकेशसंयम –नयुधिष्ठिरराज्याभिषेकयोर्भाविनोरपि सिद्धत्वेन दर्शिका प्ररोचनेति ॥

अथ **विचलनम्** –

विकत्थना विचलनम् –

यथा **वेणीसंहारे** – 'भीमः – तात ! अम्ब !.

अवमर्श सन्धि का अङ्ग होता है। (दूसरे शब्दों में जहाँ भविष्य में होने वाली घटना की सूचना पूर्व में ही दे दी जाती है, वहाँ 'प्ररोचना' होती है।) ॥ ४७ ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **वेणीसंहार** नाटक में **'पाञ्चालक** (युधिष्ठर से कहता है।) ''मैं महाराज श्रीकृष्ण के द्वारा आपके पास भेजा गया हूँ।'' यहाँ से आरम्भ करके 'अब सन्देह करना व्यर्थ है'–(क्योंकि)

पूर्यन्तामिति। आपके राज्याभिषेक के लिए रत्नकलशों को पवित्र जल से भरवा दिया जाय, देवी द्रौपदी भी बहुत दिनों से खुले अपने केशजाल को बाँधने का उत्सव करे। तीक्ष्णधार वाले परशु से सुशोभित हाथ वाले परशुराम के तथा क्रोधोन्मत्त भीम के युद्ध में उतरने पर (बताइए) विजय में कहाँ सन्देह ? (हो सकता है) ॥

इत्यादिनेति। इत्यादि से 'महाराज युधिष्ठिर मङ्गलोत्सव मनाने के लिए आज्ञा देते हैं' पर्यन्त कथन से आगे होने वाले भी युधिष्ठिर का राज्याभिषेक एवं द्रौपदी केशसंयमन का सिद्ध (कृष्ण) के कथन के द्वारा वर्णित होने से 'प्ररोचना' नाम का अवमर्श सन्ध्यङ्ग है॥ ४७ ॥

परामर्श – इस प्रसङ्ग में 'प्ररोचना' इसलिये है, क्योंकि यहाँ भविष्य में सम्पन्न होने वाले 'युधिष्ठिर राज्याभिषेक' और 'द्रौपदी केशसंयमन' को सम्पन्न रूप से वर्णित्त किया गया है॥ ४७ ॥

१२. विचलन –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'विचलन'** नामक अवमर्श सन्ध्यङ्ग की परिभाषा बतलाते हैं –

कारिकार्थ – विकत्थनेति । आत्मश्लाघा को 'विचलन' कहा जाता है। {जब कोई पात्र अधीर होकर आत्म प्रशंसा करता है तब वहां 'विचलन' नामक सन्ध्यङ्ग होता है। }॥

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे वेणीसंहार नाटक में– **''अर्जुन – तात् ! अम्ब !**

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः ।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डवोऽयम् ।। (५.२७)

अपि च तात् –

चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा ।
भङ्क्ता सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाऽञ्चति ।।' (५.२८)

इत्यनेन विजयबीजानुगतस्वगुणाविष्करणाद्विचलनमिति ।।

यथा च **रत्नावल्याम्** – 'यौगन्धरायणः –

देव्या मद्वचनाद्यथाऽभ्युपगतः पत्युर्वियोगस्तदा
सा देवस्य कलत्रसंघटनया दुःखं मया स्थापिता ।
तस्याः प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः
सत्यं दर्शयितुं तथापि वदनं शक्नोमि नो लज्जया ।।' (४.२०)

इत्यनेनान्यपरेणापि यौगन्धरायणेन 'मया जगत्स्वामित्वानुबन्धी कन्यालाभो वत्सराजस्य कृतः ।' इति स्वगुणानुकीर्तनाद्विचलनमिति ।।

सकलेति । जिस कर्ण में आपके पुत्र समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की आशा लगाए हुए थे, और जिसके अहङ्कार से संसार तिनके की तरह तिरस्कृत हुआ उसी रथकार के पुत्र का संग्राम के मध्य में वध करने वाला (दमनकारी) यह मँझला पाण्डव अर्जुन आप दोनों को प्रणाम करता है''।।

अपि चेति। और भी, **भीम** – ''समस्त कौरवों का नाश करने वाला दुःशासन के रक्त से मत्त एवं दुर्योधन की जंघाओं को तोड़ने वाला यह भीम शिर से प्रणाम करता है'' ।।

इत्यनेनेति । इत्यादि कथन के द्वारा विजय के बीज के अनुकूल अपने गुणों एवं पराक्रमों की स्वयं प्रशंसा करने के कारण यहाँ 'विचलन' नाम का विमर्श सन्ध्यङ्ग है ।

यथा चेति। और जैसे **रत्नावली में – यौगन्धरायण –**

देव्येति। 'जब देवी ने मेरे कहने मात्र से पति का वियोग स्वीकार किया तब मैंने महाराज का दूसरी स्त्री से विवाह कराने की योजना बनाकर उन्हें दुःख में डाल दिया। स्वामी का यह सार्वभौम राजा होना उनको आनन्द देगा–यह सत्य है, तो भी मैं लज्जावश (अपना) मुख नहीं दिखा सकता ।।

इत्यनेनेति । उक्त कथन में यद्यपि यौगन्धरायण अभिप्राय कुछ अन्य ही है, तथापि –'' मैंने वत्सराज को ऐसी कन्या प्राप्त करा दी जिसका फल चक्रवर्ती–पद का प्राप्त होना है।'' इस प्रकार से यहाँ अपनी प्रशंसा–गुणकीर्तन भी है। अतः यहाँ 'विचलन' नामक अवमर्शसन्धि का अङ्ग है ।।

अथादानम् –

– आदानं कार्यसंग्रहः ।

यथा **वेणीसंहारे** – 'भीमः – ननु भोः समन्तपञ्चकसंचारिणः!

रक्षो नाहं न भूतं रिपुरुधिरजलाप्लाविताङ्गः प्रकामं

निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि ।

भो भो राजन्यवीराः समरशिखिशिखादग्धशेषाः कृतं व –

स्त्रासेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत् ।।' (६.३७)

इत्यनेन समस्तरिपुवधकार्यस्य संगृहीतत्वादादानम् ।

यथा च **रत्नावल्याम्** – 'सागरिका – (दिशोऽवलोक्य) दिट्ठिआ समन्तादो पज्जलिदो भअवं हुअवहो अज्ज करिस्सदि दुक्खावसाणम्। ('दिष्ट्या समन्तात्प्रज्वलितो भगवान्हुतवहोऽद्य करिष्यति दुःखावसानम्'।) इत्यनेनान्यपरेणापि **दुःखावसानकार्यस्य**

---

१३. आदान –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'आदान'** नामक अवमर्श सन्ध्यङ्ग की परिभाषा बतलाते हैं –

कारिकार्थ – आदानमिति । फैले हुए कार्यों को एकत्र करना 'आदान' कहलाता है ।।

{आदान का अर्थ है –'कार्यसंग्रह'। जब नाटककार उपसंहार की ओर बढ़ने की इच्छा से नाटयवस्तु के बिखरे हुए कार्यों को एकत्र करता है, तब वह 'आदान' (संग्रह) अवमर्श सन्धि का अङ्ग कहा जाता है। नाट्य दर्पणकार ने 'आदान' को 'फलसामीप्य' कहा है और 'फलसामीप्य' का तात्पर्य मुख्य फल का साक्षात्कार बताया है ।}।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **वेणीसंहार** नाटक में –(दुर्योधन का वधकर आये हुए क्रुद्ध भीम को देखकर छिपते एवं – भागते लोगों के प्रति) **भीम** – अरे हे समन्तपञ्चक में घूमने वाले लोगों,

रक्ष इति। ''मैं न तो राक्षस हूँ, न मैं भूत (ही हूँ) ! मैं तो शत्रु के रक्त रूप जल से भीगे हुए अङ्गों वाला, अपनी महान् प्रतिज्ञारूपी गहन सागर को अच्छी तरह पार करने वाला क्रोधी क्षत्रिय हूँ। हे युद्धाग्नि में भस्म होने से बचे हुए क्षत्रिय वीरों ! इस भय–भीत होने की आवश्यकता नहीं है, जिससे तुम मरे हुए हाथी व घोड़ों की आड़ में छिपे हुए हो'' ।।

इत्यनेनेति। उक्त भीम की उक्ति के द्वारा समस्त शत्रुओं के वधरूपी कार्य का संग्रह किया गया है, अतः यहाँ **'आदान'** नाम का अवमर्श सन्ध्यङ्ग है।

यथा चेति। इसी प्रकार **'रत्नावली'** नाटिका में – **सागरिका** (चारों ओर देखकर) 'भाग्य से चारों ओर आग प्रज्वलित है, यह आज मेरे दुःखों का अन्त कर देगी।' **इत्यनेनेति।** यहाँ उक्त कथन का तात्पर्य कुछ दूसरा ही है, तथापि दुःख समाप्ति

संग्रहादादानम्। यथा च – 'जगत्स्वामित्वलाभ: प्रभो:' इति दर्शितमेवम् । इत्येतानि त्रयोदशावमर्शाङ्गानि । तत्रैतेषामपवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानि प्रधानानीति ।।

अथ निर्वहणसंधि: –

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।। ४८ ।।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।

यथा **वेणीसंहारे** – 'कञ्चुकी – (उपसृत्य सहर्षम्) महाराज ! वर्धसे वर्धसे । अयं खलु कुमारभीमसेन: सुयोधनक्षतजारुणीकृतसकलशरीरो दुर्लक्ष्यव्यक्ति:।' इत्यादिना द्रौपदीकेशसंयमनादिमुखसंध्यादिबीजानां निजनिजस्थानोपक्षिप्तानामेकार्थतया योजनम् ।।

यथा च **रत्नावल्यां** सागरिकारत्नावलीवसुभूतिबाभ्रव्यादीनामर्थानां मुख–संध्यादिषु प्रकीर्णानां वत्सराजैककार्यार्थत्वम्। 'वसुभूति:– (सागरिकां निर्वर्ण्यापवार्य)

रूपी कार्य का संग्रह–समापन–किया गया है। अत: यहाँ आदान नामक अवमर्श सन्ध्यङ्ग है। और इसी में – ''स्वामी–वत्सराज–को चक्रवर्ती पद की प्राप्ति'' इत्यादि यौगन्धरायण की उक्ति के द्वारा 'आदान' ही प्रदर्शित किया गया है ।

तत्रेति। उपर्युक्त ये अवमर्शसन्धि के तेरह अङ्ग है। इनमें अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना व आदान–ये प्रमुख हैं। रूपक में ये प्रधानरूप से उपनिबन्धनीय हैं। शेष अङ्गों का यथावसर प्रयोग किया जाना चाहिए। इनका कोई क्रम निर्धारित नहीं है। इनका व्युत्क्रम भी हो सकता है ।।

५. निर्वहण–सन्धि –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'निर्वहण'** नामक सन्धि की परिभाषा बतलाते हैं –

कारिकार्थ – बीजवन्त इति। नाट्य की कथा–वस्तु के बीज से युक्त मुख आदि (मुख–प्रतिमुख गर्भ व विमर्श) सन्धियों में नाट्य शास्त्रीय नियमानुसार (यथायथं) यत्र–तत्र फैले हुए (प्रारम्भ आदि) अर्थों का एक (अर्थात् प्रधान) प्रयोजन के लिए एक साथ सङ्कलन–(संग्रह) किया जाता है या उन्हें एक साथ समेटा जाता है, तब वह निर्वहण सन्धि होती है।। ४८–४९।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – **वेणीसंहार** नाटक में – **कञ्चुकी** – (समीपजाकर प्रसन्नता से) महाराज ! अभ्युदय काल है। (आप भाग्य से बढ़ रहे हैं, बढ़ रहे हैं।) यह आयुष्मान् भीमसेन ही हैं। दुर्योधन के क्षतों (शरीर के घावों) से स्रवित रक्त से लिप्त हो जाने के कारण इनका सम्पूर्ण शरीर लाल हो रहा है, इसलिए पहिचाने नहीं जा रहे थे। ''(अब सन्देह न कीजिए)।'' इत्यादि कञ्चुकी के कथन के द्वारा मुख आदि सन्धियों में –द्रौपदी के केश संयमन एवं युधिष्ठिर के राज्यलाभ रूप जो बीज निक्षिप्त–प्रसृत–थे, उनका एक प्रयोजन के लिए एकत्र किया जाना **'निर्वहण'** सन्धि है ।

यथा चेति। इसी तरह **'रत्नावली नाटिका में'** – मुख आदि सन्धियों में फैले हुए सागरिका, रत्नावली, वसुभूति तथा बाभ्रव्य आदिरूप अर्थों का वत्सराज के एकमात्र कार्य (रत्नावली के साथ समागम) के लिए ही समाहार (संग्रह) किया गया

बाभ्रव्य! सुसदृशीयं राजपुत्र्या ।' इत्यादिना दर्शितमिति निर्वहणसंधिः ।।

अथ तदङ्गानि –

संधिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ।। ४९ ।।
प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूहनाः ।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ।। ५० ।।

यथोद्देशं लक्षणमाह –

संधिर्बीजोपगमनम् –

है। **वसुभूति**– (सागरिका को ध्यान से देखकर, दूसरी ओर मुख करके) ''बाभ्रव्य! यह तो राजकुमारी (रत्नावली) के सदृश दिखाई पड़ती है।'' इत्यादि के द्वारा निर्वहण–सन्धि को दिखाया गया है।। ४८–४९ ।।

परामर्श – निर्वहण वह संधि है जिसमे नाटकीय कार्य की प्रथम चार अवस्थाओं के प्रदर्शन में समावेशित सम्पूर्ण सामग्री को, अर्थात् पूर्व अवस्थाओं एवं पूर्व प्रदर्शित संधियों में प्रयुक्त समस्त साधनों को, उस एक परिणाम की उत्पत्ति में सहयोगी के रूप में प्रदर्शित किया जाता है जिसकी प्राप्ति नायक को करवाना नाट्यकार को इष्ट है। (अभि० भा० १९।४३) ।। **शारदातनय** भी **अभिनवगुप्त** का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि – बीज से युक्त मुख आदि अर्थ, जो पूर्वकथित चारों संधियों में यत्र तत्र प्रकीर्ण हैं, जब एक अर्थ के लिये एक साथ समेटे जाते हैं, अथवा जहाँ बीज से युक्त मुख आदि अर्थ परस्पर प्रधान अर्थ के लिए सम्बन्ध स्थापित करते हैं, वह निर्वहण संधि कहलाती है। (भा० प्र० ७।२०५) ।। ४८–४९ ।।

अथेति । अब ग्रन्थकार निर्वहण सन्धि के **चौदह अङ्गों** के नामों को बताते हैं –

कारिकार्थ – सन्धिरिति । सन्धि, विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार, और प्रशस्ति । ये चौदह निर्वहण सन्धि के अङ्ग है ।। ४९–५० ।।

{इनमें बीज की उद्भावना का नाम सन्धि है, कार्य का अन्वेषण – **विबोध** है, कार्य को समेटना – **उपसंहारग्रथन**, अनुभूत वस्तु का बारंबार कहना कथन **निर्णय**, निन्दायुक्त वाक्य का नाम है – **परिभाषण**, पात्रों का पारस्परिक कथोपकथन – (संवाद) **परिभाषा**, प्रसन्न करने का प्रयास **प्रसाद**, अभीष्ट वस्तु का लाभ **आनन्द**, दुःख की समाप्ति **समय**, प्राप्तार्थ का शमन **कृति**, मान आदि अर्थ की प्राप्ति **भाषा**, कार्य के दर्शन को पूर्व भाग कहा जाता है, अद्भुत वस्त्र का लाभ **उपगूहन**, वरदान की सम्प्राप्ति कार्य **संहार**, पराक्रम, विजय तथा मङ्गल आदि की कामना करना **'प्रशस्ति'** है} ।। ४९–५० ।।

१. सन्धि –

यथोद्देशमिति । अब ग्रन्थकार निर्वहण सन्ध्यङ्ग 'सन्धि' का लक्षण बताते हैं –

कारिकार्थ – सन्धिरिति । (फलागम के समय मुख सन्धि में निक्षिप्त) बीज का पुनः उपगमन अथवा पुनः अन्वेषण करना ही 'सन्धि' है ।।

यथा **रत्नावल्याम्** – 'वसुभूति: – बाभ्रव्य! सुसदृशीयं राजपुत्र्या। **बाभ्रव्य:** – ममाप्येवमेव प्रतिभाति।' इत्यनेन नायिकाबीजोपगमात्संधिरिति ॥

यथा च **वेणीसंहारे** – 'भीम: – भवति यज्ञवेदिसंभवे! स्मरति भवती यत्तन्मयोक्तम् –

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात:
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि–
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीम:– ॥' (१.२१)

इत्यनेन मुखोपक्षिप्तस्य बीजस्य पुनरुपगमात् सन्धिरिति ॥

अथ **विबोध:** –

– विबोध: कार्यमार्गणम् ।

यथा **रत्नावल्याम्** – 'वसुभूति:– (निरूप्य) देव कुत इयं कन्यका? राजा–देवी जानाति। वासवदत्ता – अज्जउत्त! एसा सागरादो पाविअत्ति भणिअ अमच्चजोगन्धराअणेण मम हत्थे णिहिदा । अदो ज्जेव सागरिअत्ति सद्दावीअदि ।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **रत्नावली नाटिका** में – **वसुभूति** – बाभ्रव्य! यह तो राजकन्या की तरह है। **बाभ्रव्य** – मुझे भी ऐसा ही प्रतीत हो रहा है।' इस उक्ति के द्वारा (छिपे हुए) नायिका रूप बीज का पुन: अन्वेषण किया गया है। अत: यहाँ **'सन्धि'** (निर्वहणसन्धि का अङ्ग) है ।

यथा चेति। इसी प्रकार **वेणीसंहार** नाटक में – **भीम** – हे यज्ञवेदी से उत्पन्न द्रौपदी ! क्या तुम्हें याद है कि मैंने क्या कहा था–'चञ्चल भुजाओं से घुमाई हुई गदा प्रहार से दुर्योधन के ऊरू को फाड़कर उससे प्रवाहित रक्त से लाल हाथों से भीम तुम्हारे केशों को सँवारेगा ।'

इत्यनेनेति। इस कथन से मुखसन्धि में निक्षिप्त बीज का पुन: अन्वेषण किया गया है, अत: यहाँ **'सन्धि'** है ॥

परामर्श – 'निर्वहण' में इस सन्धि की योजना परमावश्यक है, क्योंकि इसके द्वारा नाट्य इतिवृत्त के उपक्रम और उपसंहार का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है॥

२. विबोध –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'विबोध'** नामक निर्वहण सन्धि के अङ्ग की परिभाषा बताते हैं –

कारिकार्थ – विबोध इति । पूर्व में जिस कार्य को सम्पन्न करने की प्रतिज्ञा की हो, उसका पुन: अन्वेषण करना, विबोध कहलाता है ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **रत्नावली** नाटिका में – **वसुभूति** – (ध्यान से देखकर) महाराज ! यह कन्या कहाँ से प्राप्त हुई ? **राजा** – महारानी जानती है। **वासवदत्ता** – महाराज ! अमात्य योगन्धरायण के द्वारा यह कहकर, – 'यह सागर से

('आर्यपुत्र! एवा सागरात्प्राप्तेति भणित्वाऽमात्ययौगंधरायणेन मम हस्ते निहिता अत एव सागरिकेति शब्द्यते।') राजा – (आत्मगतम्) यौगन्धरायणेन न्यस्ता । कथमसौ ममानिवेद्य करिष्यति।' इत्यनेन रत्नावलीलक्षणकार्यान्वेषणाद्विबोधः ।।

यथा च **वेणीसंहारे** – 'भीमः – मुञ्चतु मुञ्चतु मामार्यः क्षणमेकम् । युधिष्ठिरः किमपरमवशिष्टम्? भीमः – सुमहदवशिष्टम्, संयमयामि तावदनेन दुःशासनशो – णितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनावकृष्टं केशहस्तम् । युधिष्ठिरः – गच्छतु भवान् । अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम् ।' इत्यनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणा–द्विबोध इति ।।

अथ **ग्रथनम्** –

ग्रथनं तदुपक्षेपो –

यथा **रत्नावल्याम्** – 'यौगन्धरायणः– देव! क्षम्यतां यद्देवस्यानिवेद्य मयैतत्कृ – तम् ।' इत्यनेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपक्षेपाद्ग्रथनम् ।।

प्राप्त हुई है,' मेरे हाथ में रखी गई थी। इसलिए इसे सागरिका कहा जाता है। **राजा** – (मन में) यौगन्धरायण के द्वारा रखी गई ! यह (यौगन्धरायण) मुझे बिना सूचित किये कैसे करेगा? इस कथन के द्वारा रत्नावलीरूप कार्य का अन्वेषण किया गया है, अतएव यहाँ **'विबोध'** नामक निर्वहणसन्ध्यङ्ग है ।

यथा चेति। और जैसे **वेणीसंहार** नाटक में – आर्य ! मुझे एकक्षण के लिए छोड़ दें । **युधिष्ठिर** – क्यों ? क्या कुछ (करना) शेष है ? **भीम** – बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य शेष रह गया है। मैं दुःशासन के रक्त से रँजित हाथों से दुःशासन के द्वारा खींचे गये केश–जाल को तो बाँध दूँ। **युधिष्ठिर** – आप जाइये, तपस्विनी द्रौपदी केशसंयमन का अनुभव करे।'

इत्यनेनेति। इस कथन के द्वारा केशसंयमनरूप कार्य का अन्वेषण किया गया है। अतः यहाँ **विबोध** नामक निर्वहणसन्ध्यङ्ग है ।।

परामर्श – नाट्यदर्पणकार ने 'विबोध' को 'निरोध' कहा है। वे कहते हैं – 'निरोधः कार्यमीमांसा' ।।

३. ग्रथन –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'ग्रथन'** नामक निर्वहण सन्धि के अङ्ग की परिभाषा बताते हैं –

कारिकार्थ – ग्रथनमिति । उस कार्य के उपन्यास या उपक्षेप को ग्रथन कहा जाता है. । {अर्थात् नाटकीय इतिवृत्त के फैले हुए समस्त कार्यों को एक स्थान पर एकत्र करना—समाहरण करना ग्रथन है। }।।

यथेति। जैसे **रत्नावली नाटिका** में – यौगन्धरायण 'महाराज ! आपको निवेदन किये बिना ही मैंने जो कार्य किया है, उसके लिए मुझे क्षमा करें।' इस कथन के द्वारा वत्सराज के रत्नावली को प्राप्त कराने वाले कार्य का उपसंहार किया गया है। अतः यहाँ **'ग्रथन'** नामक निर्वहण सन्ध्यङ्ग है।

यथा च **वेणीसंहारे** – 'भीमः– पाञ्चालि! न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना। तिष्ठतु तिष्ठतु। स्वयमेवाहं संहरामि।' इत्यनेन द्रौपदीकेशसंयमनकार्यस्योपक्षेपाद्ग्रथनम् ।।

अथ निर्णयः –

– ऽनुभूताख्या तु निर्णयः ।। ५१ ।।

यथा **रत्नावल्याम्** – 'यौगन्धरायणः– (कृताञ्जलिः) देव! श्रूयताम् । इयं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धादेशेनोपदिष्टा – योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति । तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थे बहुशः प्रार्थ्यमानापि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेदं परिहरता यदा न दत्ता तदा लावाणिके देवी दग्धेति प्रसिद्धि–मुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहितः।' इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वानुभूतमर्थं ख्यापित–वानिति निर्णयः ।।

यथा चेति । और जैसे **वेणीसंहार** नाटक में – **भीम** – हे पाञ्चाली ! मेरे जीवित रहते दुःशासन के द्वारा फैलाए हुए (अव्यवस्थित किये हुए) अपने केशों अपने हाथ से मत बाँधना । रुकिये, स्वयं ही मैं (इन्हें) सँवारकर बाँध देता हूँ। इत्यादि भीम के कथन के द्वारा द्रौपदी के केश संयमन रूप कार्य का उपसंहार होने से यहाँ **'ग्रथन'** है ।।

परामर्श – **'ग्रथन'** को इसलिये 'ग्रथन' कहा जाता है, क्योंकि इसके द्वारा व्यापार और फल का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है – 'ग्रथ्यते सम्बध्यते व्यापारेण मुख्यफलमनेनेति ग्रथनम्' ।।

४. निर्णय –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'निर्णय'** नामक निर्वहण सन्धि के चतुर्थ अङ्ग की परिभाषा बताते हैं –

कारिकार्थ – अनुभूतेति । प्रत्यक्ष अनुभव किए गए कार्य को कहना ही निर्णय है ।। ५१ ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे **'रत्नावली में – यौगन्धरायण** – महाराज! सुनिये। सिंहलेश्वर की पुत्री रत्नावली के विषय में सिद्धमहात्मा ने कहा था – 'जो इसका पाणिग्रहण करेगा वह चक्रवर्ती राजा होगा। उसके पश्चात् उस सिद्ध की वाणी में विश्वास करने के कारण हमारे द्वारा महाराज आपके लिए अनेक बार प्रार्थना करने पर भी महारानी वासवदत्ता के मानसिक सन्ताप को बचाने के लिए सिंहलनरेश ने (रत्नावली को) देने की इच्छा नहीं की, तब लावणिक ग्राम में देवी वासवदत्ता आग से जल गई ऐसा समाचार प्रसारित कर उन (सिंहलेश्वर) के पास बाभ्रव्य को भेजा गया था ।

इत्यनेनेति। इस कथन के द्वारा यौगन्धरायण ने स्वयं अनुभव किये हुए कार्य का कथन किया है। अतः यहाँ **'निर्णय'** नामक निर्वहणसन्ध्यङ्ग है।

यथा च **वेणीसंहारे** – 'भीम:—देव देव अजातशत्रो! क्वाद्यापि दुर्योधनहतक: मया हि तस्य दुरात्मन: –

भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजाङ्गे
लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरुदधिपय: सीमया सार्धमुर्व्या ।
भृत्या मित्राणि योधा: कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणाग्नौ
नामैकं यद्ब्रवीषि क्षितिप तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ।।' (६.३९)

इत्यनेन स्वानुभूतार्थकथनान्निर्णय इति ।।

अथ **परिभाषणम्** –

परिभाषा मिथो जल्प: –

यथा **रत्नावल्याम्** – 'रत्नावली – (आत्मगतम्) कआवराहा देवीए ण सक्कुण्ोमि मुहं दंसिदुम्। (कृतापराधा देव्या न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम्)' वासवदत्ता – (सास्त्रं पुनर्बाहू प्रसार्य) एहि अयि णिट्ठुरे ! इदाणीं पि बनुसिणेहं दंसेही। (अपवार्य)

यथा चेति। और जैसे **वेणीसंहार** नाटक में – **भीम** – महाराज! अजातशत्रु! वह नीच दुर्योधन अब (अभीं भी) कहाँ ? उस दुरात्मा को तो मैंने –

भूमाविति। (उसके) शरीर को भूमि पर पटक दिया, उसके रक्त को मैंने रक्त चन्दन की तरह अपने शरीर पर लगाया, चारों समुद्रों के जल की सीमावली पृथ्वी के साथ–साथ लक्ष्मी को आपके यहाँ स्थापित किया, सेवक, मित्र, सैनिक तथा समस्त कुरुकुल युद्धाग्नि में–भस्म हो चुका है। हे राजन् ! जिसे आप कह रहे हो, उस धृतराष्ट्र के पुत्र (दुर्योधन) का नाम मात्र ही शेष है ।।

इत्यनेनेति। यहाँ भीम ने अपने अनुभूत कार्य का कथन किया है। अत: यहाँ 'निर्णय' नामक निर्वहणसन्ध्यङ्ग है।। ५१ ।।

परामर्श – आचार्य **अभिनवगुप्त** ने कहा है कि अनुभूत अर्थात् प्रमाण से सिद्ध वस्तु का कथन करना 'निर्णय' है – ।। प्रमाणसिद्धस्य वस्तुन: कथनमित्यर्थ: ।। (अभि० भा० १९।९९) ।। रूपकीय इतिवृत्त में इस सन्ध्यङ्गकी योजना भी अनिवार्य मानी गयी है।। ५१ ।।

५. परिभाषण –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'परिभाषण'** नामक निर्वहणसन्ध्यङ्ग की परिभाषा बताते हैं –

कारिकार्थ – परिभावेति । नाट्यगत पात्रों की पारस्परिक बातचीत को जो कि कार्यसिद्धि की सूचक होती है, परिभाषा अथवा परिभाषण कहा जाता है ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे रत्नावली नाटिका में रत्नावली – (अपने मन में) महारानी (वासवदत्ता) के प्रति अपराध करने वाली मैं (इन्हें) मुख दिखलाने में समर्थ नहीं हूँ। **वासवदत्ता** – (आँखों में आँसू भरे हुई दोनों हाथों को फैलाकर) अरी निष्ठुर ! आओ। अब तो बन्धुस्नेह को प्रकट कर दे। (राजा के प्रति) आर्यपुत्र! मैं इस

अज्जउत्त! लज्जामि क्खु अहं इमिणा णिसंसत्तणेण । ता लहुं अवणेहि से बन्धणम्। ('एहि अयिनिष्ठुरे! इदानीमपि बन्धुस्नेहं दर्शय। आर्यपुत्र! लज्जे खल्वहमनेन नृशंसत्वेन तल्लघ्वपनयास्या बन्धनम्।') राजा – यथाह देवी। (बन्धनमपनयति) वासवदत्ता– (वसुभूतिं निर्दिश्य) अज्ज! अमच्चजोगन्धरायणेण दुज्जणीकदह्मि जेण जाणन्तेण वि णाचक्खिदम्।' ('आर्य! अमात्ययौगन्धरायणेन दुर्जनीकृतास्मि येन जानतापि नाचक्षितम्।') इत्यनेनान्योन्यवचनात्परिभाषणम् ॥

यथा च **वेणीसंहारे** – 'भीमः – कृष्टा येनासि राज्ञां सदसि नृपशुना तेन दुःशासननेन।' इत्यादिना 'क्वासौ भानुमती योपहसति पाण्डवदारान्।' इत्यन्तेन भाषणात्परिभाषणम् ॥

अथ प्रसादः –

– प्रसादः पर्युपासनम् ।

यथा **रत्नावल्याम्** – 'देव! क्षम्यताम्।' इत्यादि दर्शितम् ।

यथा च **वेणीसंहारे** – 'भीमः – (द्रोपदीमुपसृत्य) देवि पाञ्चालराजतनये!

प्रकार की क्रूरता (नृशंसता) के कारण लज्जित हूँ। इसलिए शीघ्र इसके बन्धन को खोल दीजिए। **राजा** – जैसा देवी कहें। (बन्धन खोल देता है।) **वासवदत्ता** – (वसुभूति की ओर संकेत करके) आर्य ! मन्त्री यौगन्धरायण ने मुझे दुर्जन बना दिया है। जिन्होंने ज्ञात होने पर भी (रत्नावली के विषय में) कुछ नहीं कहा। इत्यादि कथन से यहाँ पात्रों के अन्योन्य कथन के कारण **'परिभाषण'** नामक निर्वहण सन्ध्यङ्ग है ।

यथा चेति। और जैसे **वेणीसंहार** में – **भीम** – ''जिस नरपशु दुःशासन ने तुम्हें राज सभा में घसीटा था – इत्यादि कथन से – कहाँ है वह भानुमती जो पाण्डव – स्त्रियों की हँसी उड़ाती थी,? यहाँ तक की पारस्परिक बातचीत, जो कार्य सिद्धि की ओर सङ्केत करती है, **'परिभाषण'** नामक निर्वहण सन्ध्यङ्ग है ॥

परामर्श – आचार्य **विश्वनाथ** ने साहित्यदर्पण में 'परिभाषण' को परनिन्दासूचक माना है। किन्तु **नाट्यदर्पणकार** ने इसे स्वनिन्दनात्मक वचन कहा है॥

६. प्रसाद –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'प्रसाद'** नामक निर्वहणसन्ध्यङ्ग की परिभाषा बताते हैं–

कारिकार्थ – प्रसाद इति । प्रसाद का अभिप्राय प्रसन्न करना है। {रूपक के किसी पात्र के द्वारा नायक, नायिका अथवा किसी प्रधान पात्र का प्रसादन (आराधन) प्रसाद कहलाता है।} ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे रत्नावली में – यौगन्धरायण – 'देव ! क्षमा कीजिए' इत्यादि कथन में राजा को प्रसन्न करने का प्रयत्न दिखाया गया है। इसलिए यहाँ **'प्रसाद'** नामक निर्वहण सन्ध्यङ्ग है ।

यथा चेति। अथवा जैसे **वेणीसंहार** में – **भीम** – (द्रौपदी के निकट जाकर) देवी ! शत्रु–कुल के विनाश पर आपको बधाई है। इत्यादि कथन से भीम

दिष्ट्या वर्धसे रिपुकुलक्षयेन ।' इत्यनेन भीमसेनेनाराधितत्वात्प्रसाद इति ।।

अथानन्दः –

आनन्दो वाञ्छितावाप्तिः –

यथा रत्नावल्याम् – 'राजा – यथाह देवी (रत्नावलीं गृह्णाति)'

यथा च **वेणीसंहारे** – 'द्रौपदी – णाध ! विसुमरिदह्मि एदं वावारं, णाधस्स प्रसादेण पुणो सिक्खिस्सम् (केशान् बध्नाति) (नाथ! विस्मृतास्म्येतं व्यापारम् नाथस्य प्रसादेन पुनः शिक्षिष्यामि।') इत्याभ्यां प्रार्थितरत्नावलीप्राप्तिकेशसंयमनयोर्वत्सराज–द्रौपदीभ्यां प्राप्तत्वादानन्दः ।।

अथ समयः –

– समयो दुःखनिर्गमः ।। ५२ ।।

सेन द्वारा द्रौपदी की आराधना की गई है। अतः यहाँ **'प्रसाद'** नामक निर्वहणाङ्ग है ।।

परामर्श – नाट्यदर्पणकार ने 'प्रसाद' को 'उपास्ति' कहा है और उपास्ति का तात्पर्य 'सेवा' बताया है। 'सेवोपास्तिः–सेवा परप्रसत्तिहेतुर्व्यापारः' ।।

७. आनन्द –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'आनन्द'** नामक निर्वहणसन्ध्यङ्ग की परिभाषा बताते हैं –

कारिकार्थ – आनन्द इति। वाञ्छित वस्तु की प्राप्ति 'आनन्द' कहलाती है ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – **रत्नावली** नाटिका में – **राजा** – 'जैसी देवी (वासवदत्ता) की आज्ञा'' (रत्नावली को ग्रहण करता है।) इस प्रकार रत्नावली की प्राप्ति से राजा के अभीष्ट की संप्राप्ति होने के कारण यहाँ आनन्द नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग होता है ।

यथा चेति । अथवा **वेणीसंहार** नाटक में – **द्रौपदी** – नाथ ! इस कार्य को मैं भूल गई हूँ। आपकी कृपा से फिर से सीखूंगी।'' (भीम केशपाश सँवारते हैं) इस प्रकार यहाँ द्रौपदी को केशबन्धन रूप अभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है। अतः यह **आनन्द** नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग है ।।

परामर्श – आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार– अर्थित अर्थात् अनेक उपायों या प्रकारों से प्रार्थित और भविष्य में निरन्तर वियोग रहित स्थिति में आ जाना आनन्द का कारण बनने से 'आनन्द' है – ।। अर्थितस्य तथेति प्रकारशतैर्प्रार्थितस्य सम्यगपुनर्वियोगवद्यदागमनं तदानन्दहेतुत्वादानन्दः ।। (अभि० भा० १९।१००) ।। **नाट्यदर्पणकार** कहते हैं – आनन्द के हेतु होने से 'वाञ्छितागम' को आनन्द कहा गया है। 'प्रकारशतैर्वाञ्छितस्यार्थितस्य सामस्त्येनागमः प्राप्तिरानन्द हेतुत्वादानन्दः'।।

८. समय –

अथेति। अब ग्रन्थकार समय नामक निर्वहण सन्ध्यङ्ग को बताते हैं –

कारिकार्थ – समय इति। दुःख की समाप्ति ही 'समय' है ।। ५२ ।।

यथा **रत्नावल्याम्** – 'वासवदत्ता – (रत्नावलीमालिङ्ग्य) समस्सस समस्सस बहिणिए ।' ('समाश्वसिहि समाश्वसिहि भगिनिके।') इत्यनेन भगिन्योरन्योन्यसमागमेन दुःखनिर्गमात्समयः ।।

यथा च **वेणीसंहारे** – 'भगवन्! कुतस्तस्य विजयादन्यत् यस्य भगवान्पुराणपुरुषः स्वयमेव नारायणो मङ्गलान्याशास्ते ।।

कृतगुरुमहदादिक्षोभसंभूतमूर्ति
गुणिनमुदयनाशस्थानहेतुं प्रजानाम् ।
अजममरमचिन्त्यं चिन्तयित्वाऽपि न त्वां
भवति जगति दुःखी किं पुनर्देव दृष्ट्वा ।।' (६.४३)

इत्यनेन युधिष्ठिरदुःखापगमं दर्शयति ।।

अथ कृतिः –

कृतिर्लब्धार्थशमनम् –

यथा **रत्नावल्याम्** – 'राजा– को देव्याः प्रसादं न बहुमन्यते । वासवदत्ता – अज्जउत्त! दूरे से मादुउलं ता तधा करेसु जधा बन्धुअणं न सुमरेदि।' ('आर्यपुत्र! दूरेऽस्या

{जिस क्लेश से पात्र दुःखी है उसका दूर हो जाना समय कहलाता है।}

यथेति। जैसे **रत्नावली** नाटिका में – **वासवदत्ता** (रत्नावली को गले लगाकर) 'धैर्यधारण करो, धैर्य धारण करो बहन !'' यहाँ दोनों बहनों के परस्पर मिलन से दुःख समाप्त हो जाने के कारण **'समय'** नामक सन्ध्यङ्ग है।

यथा चेति। वैसे ही **वेणीसंहार** नाटक में – (युधिष्ठिर) – (श्रीकृष्ण से) भगवन्! जिसके लिए स्वयं (आप) पुराणपुरुष नारायण मङ्गल की कामना कर रहे हैं, उसका विजय के अतिरिक्त और अन्य क्या हो सकता है ?

कृतेति। स्वयं के परिणाम से उत्पन्न गुरु (पक्षान्तर में पृथिवी आदि पञ्चमहाभूत) महत्तत्व आदि के स्पन्दन से निर्मित मूर्तिवाले, सत्त्व आदि गुणों से विशिष्ट, जीवों की उत्पत्ति, विनाश एवं स्थिति के मूल कारण, अजन्मा, अमर, अचिंन्त्य, आपका स्मरण– ध्यान करने से ही कोई दुःखी नहीं होता है, तो फिर हे देव ! दर्शन करके तो बात ही क्या ? यह कथन यहाँ युधिष्ठिर के दुःखों का अन्त व्यक्त करता है, अतः यह 'समय' नामक सन्ध्यङ्ग है ।। ५२ ।।

९. कृति –

अथेति । अब ग्रन्थकार 'कृति' नामक निर्वहण सन्ध्यङ्ग की परिभाषा बताते हैं–

कारिकार्थ – कृतिरिति। प्रयोजन की प्राप्ति के द्वारा उत्पन्न शान्ति को या लब्ध अर्थ के स्थिरीकरण को 'कृति' कहा जाता है ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे **'रत्नावली'** में – **राजा** – ''देवी (वासवदत्ता) के कृपा–प्रसाद को कौन आदरपूर्वक नहीं ग्रहण करेगा ?'' **वासवदत्ता** – आर्यपुत्र !

मातृकुलं । तत्तथा कुरुष्व यथा बन्धुजनं न स्मरति।') इत्यन्योन्यवचसा लब्धायां रत्नावल्यां राज्ञः सुश्लिष्टये उपशमनात्कृतिरिति ॥

यथा च **वेणीसंहारे** – 'कृष्णः – एते खलु भगवन्तो व्यासवाल्मीकि–' इत्यादिना 'अभिषेकमारब्धवन्तस्तिष्ठन्ति ।' इत्यनेन प्राप्तराज्यस्याभिषेकमङ्गलैः स्थिरी–करणं कृतिः ॥

अथ भाषणम् –

— मानाद्याप्तिश्च भाषणम् ।

यथा **रत्नावल्याम्** – 'राजा – अतःपरमपि प्रियमस्ति ?

यातो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले
सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः प्रिया ।

इसका (रत्नावली का) मातृकुल दूर है, इसलिए आप इसके साथ इस तरह का व्यवहार कीजिए जिससे कि यह अपने बन्धुजनों का स्मरण न करें।'' इस पारस्परिक कथोपकथन के द्वारा, रत्नावली प्राप्ति के पश्चात् राजा के अच्छी तरह समागम के लिए (कोप, या सौतिया–डाह) का वासवदत्ता के (द्वारा) उपशमन किया गया है। इसलिए यहाँ 'कृति' नामक निर्वहण सन्ध्यङ्ग है।

यथा चेति। अथवा जैसे **वेणीसंहार** नाटक में – **कृष्ण** – ये भगवान् व्यास, वाल्मीकि आदि... (राज्या)ऽभिषेक का आरम्भ करते हुए खड़े हैं ।

इत्यनेनेति। इत्यादि के द्वारा प्राप्त हुए राज्य का राज्याभिषेक रूप मङ्गल के द्वारा स्थिरीकरण प्रदर्शित किया गया है। अतः यहाँ **'कृति'** नामक निर्वहण सन्ध्यङ्ग है।।

परामर्श – यहाँ अभिषेकमङ्गल द्वारा, युधिष्ठिर के चित्त में शान्ति और स्थिरता की स्थापना का वर्णन किया गया है, इसमें 'कृति' का स्पष्टार्थ ही व्यक्त हो रहा है। 'कृतिर्लब्धार्थशमनम्' में प्रयुक्त 'शमन' का द्वयार्थ ग्रहण किया जा सकता है। (१) 'प्रसादन' (२) स्थिरीकरण । रत्नावली के उदाहरण में **'प्रसादन'** है और वेणीसंहार के उदाहरण में **'स्थिरीकरण'** । नाट्यदर्पणकार ने 'कृति' का तात्पर्य 'क्षेम' अथवा लब्धार्थ का परिपालन माना है। 'कृतिः क्षेमम् – लब्धस्य परिपालनं क्षेमः'।।

१०. भाषण –

अथेति। अब ग्रन्थकार **भाषण** नामक निर्वहण सन्ध्यङ्ग की परिभाषा बताते हैं –

कारिकार्थ – मानेति। मान की प्राप्ति 'भाषण' है ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे रत्नावली नाटिका में – **राजा** – इससे भी अधिक प्रिय क्या है ?

यात इति। विक्रमबाहु – सिंहलेश्वर–को अपनी समता को प्राप्त करा दिया, अर्थात् अपना सम्बन्धी बना लिया। पृथ्वीतल पर सर्वोत्कृष्ट वस्तु तथा समुद्र पर्यन्त पृथ्वी की प्राप्ति का एकमात्र कारण प्रिया सागरिका प्राप्त हो गई। बहन–सागरिका–के प्राप्त हो जाने से देवी–वासवदत्ता–प्रसन्न हुई। कोसल राज्य पर

देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज्जिताः कोशलाः
किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मै करोमि स्पृहाम् ।।' (४.२१)

इत्यनेन कामार्थमानादिलाभाद्भाषणमिति ।।

अथ **पूर्वभावोपगूहने** –

कार्यदृष्ट्यद्भुतप्राप्ती पूर्वभावोपगूहने ।। ५३ ।।

कार्यदर्शनं पूर्वभावः, यथा **रत्नावल्याम्** – 'यौगन्धरायणः– एवं विज्ञाय भगिन्याः संप्रति करणीये देवी प्रमाणम्। वासवदत्ता – फुडं ज्जेव किं ण भणेसि? पडिवाएहि से रअणमालं त्ति ।' ('स्फुटमेव किं न भणसि? प्रतिपादयास्मै रत्नमालामिति।') इत्यनेन 'वत्सराजाय रत्नावली दीयताम्' इति कार्यस्य यौगन्धरायणाभिप्रायानुप्रविष्टस्य वासवदत्तया दर्शनात्पूर्वभाव इति ।।

अद्भुतप्राप्तिरुपगूहनं यथा **वेणीसंहारे** – '(नेपथ्ये) महासमरानलदग्धशेषाय

अधिकार कर लिया। तुम जैसे श्रेष्ठ मन्त्री के रहते मुझे क्या प्राप्त नहीं है, जिसके लिए मैं स्पृहा करूँ?

इत्यनेनेति। इत्यादि के द्वारा काम (अभिलाषा), अर्थ (प्रभुता) तथा मान आदि की संप्राप्ति दिखाई गई है। अतः यहाँ **'भाषण'** नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग है।।

११. पूर्वभाव, १२. उपगूहन –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'पूर्वभाव'** तथा **'उपगूहन'** नामक सन्ध्यङ्ग की परिभाषा बताते हैं –

कार्यदृष्ट्यद्भुतप्राप्ती पूर्वभावोपगूहने **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – कार्येति। कार्य का दर्शन 'पूर्वभाव' कहलाता है। जहाँ प्रधान फल का स्पष्टरूप से ज्ञान–दर्शन–हो वहाँ 'पूर्वभाव' सन्ध्यङ्ग होता है। (और) (नायकादि को) अद्भुत वस्तु की प्राप्ति उपगूहन है ।। ५३ ।।

{नाट्यदर्पणकार ने 'उपगूहन' के स्थान पर 'परिगूहन' नाम का प्रयोग किया है। और 'परिगूहन' का अभिप्राय इस प्रकार बताया है – 'विस्मयस्थायिभावात्मक स्याद्भुत रसस्य प्राप्तिः परिगूहनम् ।' }

वृत्त्यर्थ – कार्येति। कार्य अर्थात् मुख्य फल का दर्शन 'पूर्वभाव' है। पूर्वभाव का उदाहरण, जैसे 'रत्नावली नाटिका में – यौगन्धरायण ऐसा जानकर बहन (सागरिका) के प्रति क्या करना है, वह देवी वासवदत्ता जानती है। **वासवदत्ता** – स्पष्ट क्यों नहीं कहते कि महाराज उदयन को रत्नावली समर्पित कर दो ।

इत्यनेनेति । यहाँ – (उक्त कथन में) "उदयन को रत्नावली दी जाय" यह कार्य (कर्तव्य) जो यौगन्धरायण के कथन में निहित है, (भले ही शब्दों में नहीं कहा गया है।) किन्तु इस भाव को वासवदत्ता समझ लेती है, इसलिए यहाँ 'पूर्वभाव' है।

अद्भुतेति । अद्भुत अर्थ की प्राप्ति उपगूहन है । उपगूहन का उदाहरण, –

स्वस्ति भवते राजन्यलोकाय ।।

क्रोधान्धैर्यस्य मोक्षात्क्षतनरपतिभिः पाण्डुपुत्रैः कृतानि
प्रत्याशं मुक्तकेशान्यनुदिनमधुना पार्थिवान्तःपुराणि ।
कृष्णायाः केशपाशः कुपितयमसखो धूमकेतुः कुरूणां
दिष्ट्या बद्धः प्रजानां विरमतु निधनं स्वस्ति राजन्यकेभ्यः ।। (६.४२)

युधिष्ठिरः — देवि! एष ते मूर्धजानां संहारोऽभिनन्दितो नभस्तलचारिणा सिद्धजनेन ।' इत्येतेनाद्भुतार्थप्राप्तिरुपगूहनमिति । लब्धार्थशमनात्कृतिरपि भवति ।।

अथ काव्यसंहारः —

वराप्तिः काव्यसहारः —

यथा — योगन्धरायणः — 'किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि।' इत्यनेन काव्यार्थसंहरणात्काव्यसंहार इति ।।

जैसे **वेणीसंहार** में — (नेपथ्य में) महान् संग्राम युद्ध रूपी अग्नि में जलने से शेष बचे हुए राजाओं का कल्याण हो ।

क्रोधान्धैरिति। जिसके खुलने के कारण क्रोधान्ध, अनेक राजाओं का संहार करने वाले, शक्तिशाली पाण्डवों के द्वारा प्रत्येक दिशा के राज रानियों के केशकलाप खोल दिये गये हैं (राजाओं की रमणियाँ, युद्ध में पतियों का वध हो जाने से, केश खोलकर वैधव्यावस्था का अनुभव करने लगती हैं।) वह यह क्रुद्ध यमराज की तरह, कुरुकुल के लिए पुच्छलतारा द्रौपदी का केशजाल सौभाग्य से बाँध दिया गया है। इसलिए अब प्रजाजनों का विनाश बन्द हो ।

युधिष्ठिर — देवी ! आकाश–तल में विचरण करने वाले सिद्धों के द्वारा आप के केशकलापों के संहार (बाँधे जाने, सँवारने) का अभिनन्दन किया जा रहा है।'

इत्येतेनेति। इस प्रकार यहाँ अद्‌भुत वस्तु की प्राप्ति का वर्णन है। इसलिए यहाँ 'उपगूहन' नामक निर्वहण सन्ध्यङ्ग है। अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति तथा प्रजाजनों के संहार की समाप्ति की सूचना भी दी गई है। अतः यह कृति भी है ।। ५३ ।।

१३. काव्य–संहार –

अथेति । अब ग्रन्थकार **काव्य–संहार** नामक निर्वहण सन्ध्यङ्ग की परिभाषा बताते हैं —

कारिकार्थ — वराप्तिरिति। अभिलषित श्रेष्ठ वस्तु की प्राप्ति अथवा (रूपक के) नायक आदि को वर प्राप्ति 'काव्यसंहार' कहलाता है ।।

वृत्त्यर्थ — यथेति । जैसे — **रत्नावली** नाटिका में — **यौगन्धरायण** — "और क्या तुम्हारा प्रिय करूँ ?"

इत्यनेनेति। इस कथन के द्वारा काव्यरूप वस्तु का (उप) संहार किया गया है, अतः यह काव्य–संहार नामक निर्वहण सन्धि का अङ्ग है ।।

अथ प्रशस्तिः –

– प्रशस्तिः शुभशंसनम् ।

यथा **वेणीसंहारे** – 'प्रीतश्चेद्भवान् तदिदमेवमस्तु –

अकृपणमतिः कामं जीव्याज्जनः पुरुषायुषं
भवतु भगवद्भक्तिर्द्वैतं विना पुरुषोत्तमे ।
कलितभुवनो विद्वद्बन्धुर्गुणेषु विशेषवित्
सततसुकृती भूयाद्भूपः प्रसाधितमण्डलः ।।' (६.४६)

इति शुभशंसनात्प्रशस्तिः । इत्येतानि **चतुर्दश निर्वहणाङ्गानि** । एवं चतुःषष्ट्यङ्गसमन्विताः पञ्चसंधयः प्रतिपादिताः ।।

---

१४. प्रशस्ति –

अथेति । अब ग्रन्थकार **प्रशस्ति** नामक निर्वहण सन्ध्यङ्गकी परिभाषा बताते हैं –

कारिकार्थ – प्रशस्तिरिति। शुभेच्छा (कल्याण की कामना) प्रशस्ति कहलाती है।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे **वेणीसंहार** में – **युधिष्ठिर** – यदि आप प्रसन्न हैं, तो यह हो –

अकृपणेति। प्रजाजन उदार हृदय और नीरोग होकर पुरुषायुष को प्राप्त करें। हे भगवन् ! बिना किसी सन्देह के पुरुषोत्तम भगवान् में भक्ति हो। राजा समस्त लोकों से प्रेम करते हुए विद्वानों का पोषक बनते हुए, और गुणों की महत्ता पर विशेष ध्यान देते हुए सर्वदा समुज्ज्वल कार्य सम्पादन करने वाला हो ।।

इतीति । यहाँ शुभ (कल्याण) की कामना की गई है, अतः यह प्रशस्ति है। (दूसरे शब्दों में – इसे भरत वाक्य कहा जाता है।)

एवमिति । उपर्युक्त चौदह अङ्ग निर्वहण सन्धि के हैं। इस प्रकार ६४ अङ्गों से समन्वित पञ्चसन्धियों का प्रतिपादन किया गया है ।।

परामर्श – 'काव्यसंहार' और **'प्रशस्ति'** – इन दोनों सन्ध्यङ्गों की योजना क्रमशः ही की जाती है। वस्तुतः 'प्रशस्ति' रूपकों का अन्तमङ्गल है। (प्रशस्तिः शुभशंसना) इसका उपनिबन्धन अनिवार्य माना गया है।

इन सन्ध्यङ्गों की योजना के विषय में विद्वानों के दो मत हैं। प्रथम है **'उद्देशक्रमानुसार'** योजना और द्वितीय है **'उपयोगानुसार'** योजना। **अभिनवभारतीकार** ने उपयोगानुसार सन्ध्यङ्ग योजना के सिद्धान्त को अपनाया है और **दशरूपककार** ने उद्देशक्रमानुसार सन्ध्यङ्गयोजना का सिद्धान्त स्वीकार किया है।

इन सन्ध्यङ्गों की योजना के सम्बन्ध में परिनिष्ठित सिद्धान्त यह है कि – रूपकों का सारभूत तत्त्व 'रस' है, अतः रूपकों में उसी सन्ध्यङ्ग की योजना आवश्यक है जो उसके सारभूत अर्थ–रस–के अनुकूल है। इस दृष्टिकोण से एक सन्धि के अङ्ग योजना दूसरी सन्धि में भी की जा सकती है।

इस विषय में भरतमुनि का यह आदेश है – 'यथा सन्धि तु कर्त्तव्यान्येतान्यङ्गानि नाटके। कविभिः काव्यकुशलैः रसभावमपेक्ष्य तु ।। संमिश्राणि कदाचित्तु

षट्प्रकारं चाङ्गानां प्रयोजनमित्याह —

उक्ताङ्गानां चतुःषष्टिः षोढा चैषां प्रयोजनम् ॥ ५४ ॥

कानि पुनस्तानि षट्प्रयोजनानि! (तान्याह) —

इष्टस्यार्थस्य रचना गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम् ।
रागः प्रयोगस्याश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ॥ ५५ ॥

विवक्षितार्थनिबन्धनं गोप्यार्थगोपनं प्रकाश्यार्थप्रकाशनमभिनेयराग–वृद्धिश्चमत्कारित्वं च काव्यस्येतिवृत्तस्य विस्तर इत्यङ्गैः षट्प्रयोजनानि संपाद्यन्त इति ॥

द्वित्रियोगेन वा पुनः। ज्ञात्वा कार्यमवस्थां च कार्याण्यङ्गानि सन्धिषु ॥ ना० शा० २०॥ १०५–१०६॥ **आचार्य अभिनवगुप्त** के मत में भी–इन सन्ध्यङ्गों की योजना रस प्रवाह के लिये ही अपेक्षित है न कि नाट्यशास्त्र की मर्यादा के पालन के लिये। **आचार्य आनन्दवर्धन** का यह कथन स्मरणीय है — 'सन्धि सन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्य– पेक्षया । न तु केवलया शास्त्रस्थिति सम्पादनेच्छया ॥' ध्वन्यालोक ३.१२ **लोचनकार** ने भी यही कहा है — 'भरत मुनिना सन्ध्यङ्गानां रसाङ्गभूतमितिवृत्तप्राशस्त्योत्पादनमेव प्रयोजनमुक्तम् । न तु पूर्वरङ्गाङ्गवददृष्टसम्पादनं विघ्नादिवारणं वा' (ध्वन्यालोक लोचन पृ० ३४०)॥

सन्धियों के अङ्गों का प्रयोजन —

षट्प्रकारमिति । सन्धियों के इन अङ्गों का छः प्रकार का प्रयोजन है, ग्रन्थकार बतलाते हैं —

कारिकार्थ — उक्तेति । पूर्वोक्त (उक्त) सन्धियों के अङ्ग चौसठ हैं तथा इसका प्रयोजन छः (६) प्रकार का है ॥ ५४ ॥

वृत्त्यर्थ — कानीति । तो वे छः (६) प्रकार के प्रयोजन कौन–कौन से हैं ? (ग्रन्थकार उन्हीं को बतलाते हैं–)

कारिकार्थ — इष्टस्येति । १. इष्ट अर्थात् अभीक्षित अर्थ की रचना; २. गुप्त रखने योग्य वस्तु को गुप्त रखना; ३. प्रकट करने योग्य वस्तु को प्रकाश में लाना, ४. दर्शकों के हृदय में नाट्य के विषय में प्रीति–कौतुहल उत्पन्न करना; ५. चमत्कार पैदा करना; ६. कथा का उपक्षय अर्थात् उसे विच्छिन्न न होने देना ॥ ५५ ॥

वृत्त्यर्थ — विवक्षितेति । १. अभीष्ट अर्थ की योजना, २. गोप्यवस्तु को गुप्त ही रखना, ३. प्रकाशित करने योग्य वस्तु को ही प्रकाशित करना, ४. अभिनय के विषय में दर्शकों में अनुराग–कौतुहल–जागृत करना, ५. अभिनय को वैचित्र्य–चमत्कार–पूर्ण बनाना, ६. काव्य नाट्य–की कथावस्तु को विस्तृत करना; — इन छः प्रयोजनों का सम्पादन सन्ध्यङ्गों के द्वारा होता है॥ ५५ ॥

परामर्श — सन्ध्यङ्गों के विस्तार को देखकर प्रश्न उठता है कि जब मुख आदि पाँच सन्धियाँ (अङ्गी) हैं तो फिर सन्धि के अङ्गों की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार ने ५५वीं कारिका में दे दिया है। वस्तुतः एक अङ्गी के द्वारा बहुत से और परस्पर विरुद्ध प्रयोजनों का सम्पादन नहीं हो सकता। इसलिए उसके

बहुविध अङ्गों के द्वारा बहुत से प्रयोजनों का सम्पादन होने के कारण उसका प्रयोजनत्व समुचित है। इन बहुविध सन्ध्यङ्गों के औचित्य का विवेचन **भरतमुनि** ने अपने नाट्यशास्त्र में इस प्रकार किया है — इन सन्ध्यङ्गों के द्वारा कवि अपने रूपकों को उत्कृष्ट बनाता है। वे कहते हैं— जिस प्रकार अङ्गहीन मनुष्य युद्ध आरम्भ करने में असमर्थ होता है, उसी प्रकार अङ्गों से रहित काव्य (या रूपक) अभिनय के योग्य कभी नहीं हो सकता। नाट्य रचना अपने विषय या कथावस्तु से हीन होने पर भी यदि उसमें अङ्गों का समुचित सन्निवेश किया गया हो तो वह प्रयोग की दीप्ति के कारण ही शोभाशालिनी हो जाती है, यह तथ्य है। और नाट्यरचना का विषय या कथावस्तु यदि उत्कृष्ट भी है, किन्तु उसमें यथोचित सन्ध्यङ्गों का सन्निवेश न किया गया हो तो वह प्रयोग हीनता के कारण सहृदयों का मनोरंजन करने में सर्वथा असमर्थ रहती है। अतएव कविजन देश, काल, और रस के अनुकूल सन्धियों के प्रयोगों में इन अङ्गों की भी उचित रूप में विनियोजना करें।

वस्तुत: सन्ध्यङ्गों के षड्विध प्रयोजन नाटक के लेखक के दृष्टिकोण से विवेचित हैं। **आचार्य भरत** ने भी षड्विध प्रयोजनों का उल्लेख किया है। इन प्रयोजनों को इस प्रकार समझा जा सकता है।

१. **इष्टस्यार्थस्य रचना** — नाटक के कथानक को रसानुभवोत्पादक रूप में प्रदर्शित करना अथवा विस्तार करना।

२. **गोप्यगुप्ति** — पौनरूक्त्यादि के आभास से गुप्त रखने योग्यवस्तु का गोपन।

३. **प्रकाशनम्** — रङ्गमञ्च के लिए जो अनुपयुक्त है उसको प्रदर्शित नहीं करना अर्थात् जो रङ्गमञ्च हेतु उपयुक्त हैं उन्हें प्रकाशित करना।

४. **राग: प्रयोगस्य** — नाटक के कथानक को इस प्रकार से प्रकट करना कि उसका प्रत्येक अंश अपने में मनोरञ्जक हो और संयोजित रूप में देखे जाने पर वे अंश परस्पर एक दूसरे को उससे अधिक मनोरञ्जनकारी बनाते हों।

५. **आश्चर्यम्** — अत्यन्त सामान्य रूप होने के कारण किसी नीरस घटना को इस रूप में प्रदर्शित करना कि उसको प्रदर्शित करने की विधि की मौलिकता दर्शकों को विस्मयाभूत कर दे।

६. **वृत्तान्तस्य अनुपक्षय:** — धीरे—धीरे नाटक के कथानक को आगे बढ़ाना। जिस प्रकार अङ्गविहीन युद्धभूमि पर युद्धक्षम नहीं होता उसी प्रकार से सन्ध्यङ्गों से रहित नाटक भी रङ्गमञ्च पर सम्यक् प्रकार से प्रयोगक्षम नहीं होता। हास्यप्रधान प्रहसनादि नाटक के नायक के समान जब किसी नाटक में नायक को किसी महत्त्वपूर्ण वस्तु को लक्ष्यरूप में प्राप्त करते हुए प्रदर्शित नहीं किया जाता फिर भी सन्ध्यङ्गों की सहायता से प्रदर्शन को मनोरंजनकारी बनाया जा सकता है। क्योंकि सन्ध्यङ्गों के प्रयोग के कारण उसके सम्पूर्ण अङ्ग स्फुट रूप में प्रकट हो जाते हैं। इसके विपरीत यदि एक नाटक में नायक को किसी चरम लक्ष्य की सिद्धि प्राप्त करते हुए प्रदर्शित किया गया है और सन्ध्यङ्गों के रूप में उसके विभिन्न अङ्गों को स्फुटरूप में प्रदर्शित नहीं किया गया है तो मनोरञ्जक रूप में उसको प्रदर्शित करना असम्भव हो जाता है। ऐसा नाटक न नाटक के लेखक को, न अभिनेता को और न दर्शक को

पुनर्वस्तुविभागमाह –

द्वेधा विभाग: कर्त्तव्य: सर्वस्यापीह वस्तुन: ।
सूच्यमेव भवेत्किंचिद्दृश्यश्रव्यमथापरम् ।। ५६ ।।

ही रुचता है – ।। तस्य प्रयोगस्य तस्य काव्यस्य यतो हीनत्वं यदयोग्यत्वं यस्मात्, सतां परोपकारप्रवृत्तानां कविनटानां साधुभूतानां वा सामाजिकानां मनो न रञ्जयति इति सम्भाव्यते ।। (अभि० भा० १९।५५)।।

ये अङ्ग योग्यता के अनुरूप प्रत्येक संधि में समायोजित किये जाते हैं। ऐसी योजना प्रबन्धनिर्माण कुशल नाट्यकार अथवा कवि ही कर सकता है। क्योंकि लेखक या रचयिता के दृष्टिकोण से सन्ध्यङ्गों की व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरतमुनि ने सन्ध्यङ्गों के प्रयोग के सम्बन्ध में नाटक के लेखक को यथेष्ट स्वतंत्रता प्रदान की है ।

नाट्य की आवश्यकता के अनुसार एक संधि में उसके किसी भी सन्ध्यङ्ग का किसी स्थान पर संग्रथन किया जा सकता है, अत: उनके प्रदर्शन का क्रम उपर्युक्त उद्देश्य क्रम के अनुसार रहना आवश्यक नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं है कि एक सन्धि के समस्त सन्ध्यङ्गों का प्रयोग उसके अन्तर्गत किया जाय। आवश्यकता के अनुसार उसमें किसी भी सन्ध्यङ्ग का परित्याग किया जा सकता है। इसी प्रकार एक संधि में एक सन्ध्यङ्ग का प्रयोग एकाधिक बार भी किया जा सकता है। जैसे **'रत्नावली'** नाटिका में प्रतिमुख सन्धि में 'विलास' को सागरिका तथा नायक में बार–बार संयोजित किया गया है जो प्रधान रस शृङ्गार को उद्दीप्त करता है।

'वेणी संहार' नाटक में भी सम्फेट तथा विद्रवको वीर तथा रौद्र रस के उद्दीपक दिखलाते हुए रखा गया है। परन्तु अतिशय पुनरावृत्ति से प्रयोग में विरसता आ जाती है ।

एक सन्धि के अन्तर्गत जिन सन्ध्यङ्गों का उल्लेख किया गया है उनका प्रयोग अन्य संधि में भी किया जा सकता है। इसी प्रकार यदि दो सन्ध्यङ्गों का प्रयोजन एक ही से पूर्ण हो जाय तो दूसरे की उपेक्षा कर देना उचित है।। ५५ ।।

कथावस्तु की योजना की दृष्टि से समस्त इतिवृत्त का विभाजन –

{अर्थात् कथावस्तु का अर्थप्रकृति, अवस्था, तथा पञ्च–सन्धियों के रूप में विचार करने के पश्चात् अब पुन: कथा–वस्तु का वर्णन की दृष्टि से दो प्रकार का विभाजन बतलाया जा रहा है ।}

पुनरिति। पुन: अब इतिवृत्त का विभाग बता रहे हैं –

इह सर्वस्य अपि वस्तुन: द्वेधा विभाग: कर्तव्य: किञ्चित् सूच्यम् एव भवेत् अथ अपरम् दृश्यश्रव्यम् भवेत् **इत्यन्वय:** ।।

कारिकार्थ – द्वेधेति । सम्पूर्ण कथावस्तु का दो प्रकार से विभाजन करना चाहिए कथावस्तु के कुछ अंश केवल सूच्य होते हैं – अर्थात् (रङ्गमंच पर) उनकी केवल सूचना ही दी जाती है, उन्हें मञ्च पर (अभिनय के द्वारा) दिखाया नहीं जाता । दूसरे अंश दृश्य तथा श्रव्य दोनों होते हैं, अर्थात् उन्हें मञ्च पर प्रदर्शित किया जाता है, और वे सुने भी जाते हैं ।। ५६ ।।

कीदृक्सूच्यं कीदृग्दृश्यश्राव्यमित्याह –

नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः ।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः ॥ ५७ ॥

सूच्यस्य प्रतिपादनप्रकारमाह –

अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् ।
विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ॥ ५८ ॥

परामर्श – यहाँ 'सर्वस्यापि' पद का अर्थ व्यापक है, इसका तात्पर्य आधिकारिक और प्रासंगिक वस्तु से है। 'अपरम्' से तात्पर्य है– असूच्य। दृश्यं च श्राव्यं च दृश्यश्राव्यम्। सम्पूर्ण कथावस्तु दो रूप में होती है– सूच्य और असूच्य। असूच्य कथावस्तु के दो प्रकार होते हैं – दृश्य और श्राव्य, अर्थात् उन्हें मंच पर प्रदर्शित भी किया जाता है और सुनाया भी जाता है। इस प्रकार कथावस्तु तीन प्रकार की हुई सूच्य, दृश्य और श्राव्य ।

अर्थप्रकृति, सन्ध्यङ्ग, लास्याङ्ग ये सभी इतिवृत्त के महत्त्वपूर्ण घटक हैं, जिनके द्वारा 'इतिवृत्त' की रसभाव समन्वित एवं सुगठित रचना की जाती है परन्तु प्रयोग दृष्टि से भरतमुनि ने इतिवृत्त का एक अन्य विभाजन भी किया है जो अङ्कों में होता है। रूपक तथा उपरूपकों के प्रभेदों में अङ्क–संख्या नियत रहती है। नाट्यशास्त्रानुसार कथावस्तु के दो खण्ड हैं जिनमें कथावस्तु का सरस अंश अङ्कों के द्वारा मञ्च पर प्रत्यक्षतः प्रस्तुत किया जाता है तथा निरस एवं अदर्शनीय अंश अर्थोपक्षेपकों के माध्यम से प्रस्तुत होता है। **धनञ्जय** ने उपर्युक्त विभाजन को और व्यापक एवं स्पष्ट करते हुए दृश्य तथा सूच्य शब्दों से अभिहित किया है॥ ५६ ॥

कीदृगिति। कैसा इतिवृत्त सूच्य है ? और कैसा दृश्य ? तथा श्राव्य होता है, यह बतलाते हैं –

तत्र नीरसः अनुचितः वस्तुविस्तरः संसूच्यः मधुरोदात्तरसभावनिन्तरः वस्तुविस्तरः तु दृश्यः **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ – नीरस इति । जो वृत्तांश नीरस हैं, जिनका मञ्च पर प्रदर्शित किया जाना (नैतिकता आदि के) योग्य नहीं हैं, वे वृत्तांश सूच्य कहलाते हैं। मधुर, उदात्त, रस तथा भाव से परिपूर्ण तथा जिनका मञ्च पर प्रदर्शन करने से नाटक में प्रभावोत्पादकता तथा रसमयता की वृद्धि होती है, वे वृत्तांश ही दृश्य कहलाते हैं। (उन्हें ही मञ्च पर दिखाना चाहिए।) ॥ ५७ ॥

सूच्यस्येति । सूच्यवस्तु के प्रतिपादन का प्रकार बतलाते हैं –

सूच्यम् अर्थोपक्षेपकैः विष्कम्भसूचिकाङ्कावतारप्रवेशकैः पञ्चभिः प्रतिपादयेत् **इत्यन्वयः** ॥

{अर्थात् नाटककार किस प्रकार से सूच्य वृत्त की सूचना मञ्च पर दे।}

कारिकार्थ – अर्थेति। १. विष्कम्भक २. चूलिका ३. अङ्कास्य ४. अङ्कावतार

तत्र **विष्कम्भः** –

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ।। ५९ ।।

अतीतानां भाविनां च कथावयवानां ज्ञापको मध्यमेन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां प्रयोजितो विष्कम्भक इति ।।

स द्विविधः, शुद्धः सङ्कीर्णश्चेत्याह –

एकानेककृतः शुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्यमैः ।

और ५. प्रवेशक – इन पाँच अर्थोपक्षेपकों अर्थात् इतिवृत्त के सूचकों के द्वारा कथाभाग का प्रतिपादन करना चाहिए ।। ५८ ।।

परामर्श – ग्रन्थकार ने त्रिविध प्रकार की वस्तु में –सूच्य और दृश्य की व्यवस्था बतलाने के पश्चात् सूच्य वस्तु के सूचना के प्रकार का प्रतिपादन इस कारिका के द्वारा किया है। (श्राव्य को बाद में यथास्थान कहेंगे।)।।

१. विष्कम्भक (या विष्कम्भ) –

तत्रेति। उनमें **'विष्कम्भ'** (प्रथम अर्थोपक्षेपक) विष्कम्भक की परिभाषा इस प्रकार है –

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथाशांनां निदर्शकः मध्यमपात्रयोजितः संक्षेपार्थाः विष्कम्भः **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – वृत्तेति। व्यतीत (घटित) हो चुके और आगे घटित होने वाले कथा के भागों का सूचक, संक्षिप्त अर्थवाला तथा मध्यम श्रेणी के पात्रों के द्वारा प्रयुक्त 'अर्थोपक्षेपक' को विष्कम्भक कहा गया है ।। ५९ ।।

वृत्त्यर्थ – अतीतानामिति । बीते हुए अथवा भविष्य में घटित होने वाले कथांशों की सूचना जब एक या दो मध्यम पात्रों के वार्तालाप के द्वारा दी जाती है तो उसे **'विष्कम्भक'** कहा जाता है ।। ५९ ।।

परामर्श – नाटक के पात्रों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है – १. उत्तम २. मध्य और ३. अधम ।

१. उत्तम श्रेणी के पात्र हैं – राजा, मन्त्री, पुरोहित आदि इनकी भाषा संस्कृत है, ये सदा संस्कृत भाषा में ही बोलते हैं । २. अधम श्रेणी के पात्र हैं – चोर, व्याध सेविका, सेवक, सिपाही आदि । ये प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं। इनके अतिरिक्त पात्र मध्यम श्रेणी में आते हैं । इस श्रेणी के शिक्षित पात्र संस्कृत तथा अशिक्षित पात्र शौरसेनी प्राकृत–भाषा का प्रयोग करते हैं ।। ५९ ।।

स इति । वह (विष्कम्भक) दो प्रकार का होता है – १. शुद्ध तथा २. सङ्कीर्ण। इन दोनों को बताते हैं –

कारिकार्थ – एकेति। एक या अनेक (मध्यम) पात्रों के द्वारा सम्पादित विष्कम्भक शुद्ध कहा जाता है और मध्यम एवं नीच (अधम) श्रेणी के पात्रों के द्वारा

एकेन द्वाभ्यां वा मध्यमपात्राभ्यां शुद्धो भवति, मध्यमाधमपात्रैर्युगपत्प्रयोजितः सङ्कीर्ण इति ॥

अथ प्रवेशकः –

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ॥ ६० ॥
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्तः शेषार्थस्योपसूचकः ।

तद्वदेवेति भूतभविष्यदर्थज्ञापकत्वमतिदिश्यते । अनुदात्तोक्त्या नीचेन नीचैर्वा

मिलकर सम्पादित विष्कम्भक सङ्कीर्ण कहा जाता है –

वृत्त्यर्थ – एकेनेति । एक अथवा दो मध्यमपात्रों के द्वारा सम्पादित विष्कम्भक शुद्ध होता है और मध्यम तथा अधम पात्रों के द्वारा एक साथ सम्पादित विष्कम्भक सङ्कीर्ण श्रेणी का होता है।

{शुद्ध, यथा भवभूति कृत 'मालतीमाधव' में कपालकुण्डला द्वारा प्रयोजित, सङ्कीर्ण–यथा, उन्मत्तमाधव में सौदामिनी द्वारा सम्पादित।} ॥

परामर्श – विष्कम्भक की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, जिन्हें स्मरण रखा जाना चाहिए – १. **विष्कम्भक** का वर्ण्य अर्थ विस्तृत न होकर संक्षिप्त होता है। इसमें अतीत एवं भावी घटनाओं का सूचन रहता है। इसका प्रयोग प्रथम अङ्क के आदि में प्रस्तावना के पश्चात् भी रखा जाता है। अङ्क के मध्यमें या अन्त में विष्कम्भक का प्रयोग नहीं करना चाहिए किन्तु **आचार्य कोहल** के अनुसार विष्कम्भक का प्रयोग केवल प्रथम अङ्क के आरम्भ में ही होना चाहिए, अन्यत्र नहीं। यह अङ्क का सन्धायक माना जाता है। यह इतिवृत्त के रूप में अतीत की एक शृंखला के रूप में अथवा दो अङ्कों के मध्य कथा की संयोजक शृंखला के रूप में प्रयोज्य होता है। यहाँ विशेष ध्यातव्य यह है कि **विष्कम्भक** में मध्यम श्रेणी के पात्रों का होना नितान्त आवश्यक है। **सङ्कीर्ण विष्कम्भक** में कम से कम एक मध्यम श्रेणी के पात्र का होना आवश्यक है। यदि दोनों ही पात्र अधम श्रेणी के हों, तो वह विष्कम्भक नहीं होगा, वह **'प्रवेशक'** नामक अर्थोपक्षेपक हो जायगा ॥

२. प्रवेशक –

अथेति । अब **प्रवेशक** की परिभाषा बताते हैं –

तद्वदेव नीचपात्रप्रयोजितः अङ्कद्वयस्य अन्तः शेषार्थ स्य उपसूचकः प्रवेशः इत्यन्वयः ॥

कारिकार्थ – तद्वदिति । उसी तरह (अर्थात् विष्कम्भक की तरह अतीत एवं भविष्य के कथांशों को जोड़नेवाला अर्थात् सूचक) अधम पात्रों के द्वारा प्राकृत भाषा में सम्पादित (प्रयुक्त), दो अङ्कों के मध्य में स्थित, शेष (अर्थात् अभिनय के द्वारा अप्रदर्शित) अर्थों (कथांशों) का सूचक प्रवेशक कहा जाता है ॥ ६०–६१ ॥

वृत्त्यर्थ – तद्वदेवेति । 'तद्वदेव'– इस पद के द्वारा –(उसी तरह– अर्थात् विष्कम्भक की तरह) भूत एवं भविष्य के अर्थ की सूचकता प्रदर्शित की गई है।

पात्रै: प्रयोजित इति विष्कम्भलक्षणापवाद:, अङ्कद्वयस्यान्त इति प्रथमाङ्के प्रतिषेध इति ।।

'अनुदात्त' उक्ति से— एक या अनेक अधम पात्रों के द्वारा प्रयुक्त होता है'। इस पद से 'पात्रानुगुण्य के द्वारा उक्त होने पर भी उदात्तत्व नहीं है। यह समझाया गया है। इसकी भाषा सदा प्राकृत होगी। इस कथन के द्वारा प्रवेशक का विष्कम्भक के लक्षण से भेद प्रदर्शित किया गया हैं। दो अङ्कों के मध्य में — इस कथन के द्वारा प्रथम अङ्क में इस प्रवेशक का निषेध किया गया है। अर्थात् इसकी योजना सदा दो अङ्कों के मध्य में ही की जाती है ।

{प्रवेशक को 'प्रवेशक' कहा जाने का तात्पर्य यह है कि इसका कार्य सामाजिक के हृदय में अप्रत्यक्ष अर्थ का प्रवेश कराना होता है — 'अप्रत्यक्षान् अर्थात् सामाजिक हृदये प्रवेशयतीति प्रवेशक:}।। ६०—६१ ।।

परामर्श — विष्कम्भक तथा प्रवेशक में भेद इस प्रकार है —

विष्कम्भक	प्रवेशक
१. यह अतीत एवं भावी कथांशों का सूचक है।	१. यह भी अतीत एवं भावी कथांशों का सूचक है।
२. इसमें एक या अनेक मध्यम पात्रों का प्रयोग किया जाता है। कभी—कभी मध्यम पात्र के साथ इसमें अधम भी होते हैं।	२. इसके समस्त (एक या दो) पात्र नीच (अधम) श्रेणी के होते हैं।
३. इसकी भाषा प्राय: संस्कृत होती है किन्तु नीच पात्रों की भाषा शौर सेनी प्राकृत होती है।	३. इसकी भाषा संस्कृत कभी नहीं होती प्राकृत भी निम्न श्रेणी की होती है— यथा — मागधी, शकारी, आभीरी, चाण्डाली पैशाची आदि।
४. इसका प्रयोग नाटक के प्रथम अङ्क की प्रस्तावना के पश्चात् तथा बाद के दो अङ्कों के मध्य में भी हो सकता है ।	४. इसका प्रयोग सदा दो अङ्कों के बीच में होता है। नाटक के आदि में अर्थात् प्रथम अङ्क में कभी नहीं होता। (अङ्क द्वयस्यान्त इति प्रथमाङ्के प्रतिषेध इति)
५. यह इतिवृत्त की टूटती कड़ी को जोड़कर विस्तृत अर्थ को संक्षेप में प्रस्तुत करता है।	५. यह भी रूपक की कथावस्तु टूटती कड़ी को जोड़कर विस्तृत अर्थ को संक्षेप में प्रस्तुत करता है। साथ ही विष्कम्भक से शेष सूचना इसमें दी जाती है।) प्रवेशक का उदाहरण है — वेणी संहार की तृतीय अङ्क — राक्षस मिथुन का वृत्तान्त।

अथ चूलिका –

अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना ।। ६१ ।।

नेपथ्यपात्रेणार्थसूचनं चूलिका, **यथोत्तरचरिते** द्वितीयाङ्कस्यादौ – '(नेपथ्ये) स्वागतं तपोधनाया: (तत: प्रविशति तपोधना)' इति नेपथ्यपात्रेण वासन्तिकयाऽऽत्रेयीसूचनाच्चूलिका ।।

यथा वा **वीरचरिते** चतुर्थाङ्कस्यादौ – '(नेपथ्ये) भो भो वैमानिका:! प्रवर्त्यन्तां प्रवर्त्यन्तां मङ्गलानि –

यद्यपि ५८वीं कारिका में प्रवेशक की गणना अन्त में है, अर्थात् कारिका में प्रवेशक का पांचवाँ स्थान है। किन्तु विष्कम्भक के पश्चात् ही इसका (प्रवेशक का) लक्षण इसलिए प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि यह उसके (कई बातों में) समान है।

उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि इसमें प्रयोज्य नीच पात्र तथा उनकी भाषा प्राय: प्राकृत, मागधी या अभीरी होती है। किन्तु **सागरनन्दी** एवं **शारदातनय** ने आधुनिक मत को संगृहीत करते हुए कहा है कि प्रवेशक की भाषा संस्कृत भी हो सकती है यदि विद्वान् विट, या तपस्वी आदि पात्र हों – ।। विटतापसवृद्धाद्यै– र्मुनिकञ्चुकिभिस्तथा। प्रवेशकमपीच्छन्ति सन्त: संस्कृतभाषिभि:।। (भा० प्र० ७।२२६)।।

नीच पात्रों द्वारा प्रयोज्य होने से उदात्तवचनों का इसमें विन्यास नहीं होता तथा नाटक और प्रकरण में इसकी रचना की जाती है। प्रवेशक की रचना अनेक प्रयोजन के लिए होती है –यथा–उदयास्त, समय परिवर्तन, अङ्क का आरम्भ तथा कार्य आदि का सङ्केत। प्रवेशक की सबसे महती विशेषता है– परिमित वागात्मकता। और मुख्य प्रयोजन है–संक्षेप में कार्य अथवा घटनाओं का सूचन ।। ६०–६१ ।।

३. चूलिका –

अथेति । अब **'चूलिका'** नामक अर्थोपक्षेपक की परिभाषा बताते हैं –

कारिकार्थ – अन्तर्जवनिकेति । नेपथ्य में (अर्थात् परदे के भीतर) स्थित पात्रों द्वारा जब किसी वस्तु विशेष की सूचना दी जाय, वह 'चूलिका' नामक अर्थोपक्षेपक कहा जाता है ।। ६१ ।।

वृत्त्यर्थ – नेपथ्येति । पर्दे (नेपथ्य) के भीतर स्थित पात्र के द्वारा किसी अर्थ– कथावस्तु – की सूचना दी जाना 'चूलिका' कहलाती है। जैसे – भवभूति के **उत्तररामचरित** नाटक के द्वितीय अङ्क के आरम्भ में – (नेपथ्य–पर्दे के पीछे–से) 'तपोधना (आत्रेयी) का स्वागत, है। (इसके पश्चात् तपोधना आत्रेयी प्रवेश करती है।)' यहाँ नेपथ्य में स्थित वासन्ती (पात्र) के द्वारा आत्रेयी के आगमन की सूचना दी गयी है। अत: **'चूलिका'** है ।

यथा वेति। अथवा, जैसे भवभूति के **महावीर चरित** नाटक के चतुर्थ अङ्क के आरम्भ में – '(नेपथ्य से) हे ! हे वैमानिकों ! (देवों) मङ्गल कार्यों का आरम्भ करो, आरम्भ करो –

कृशाश्वान्तेवासी जयति भगवान्कौशिकमुनिः
सहस्रांशोर्वंशे जगति विजयि क्षत्रमधुना ।
विनेता क्षत्रारेर्जगदभयदानव्रतधरः
शरण्यो लोकानां दिनकरकुलेन्दुर्विजयते ।।' (४.१)

इत्यत्र नेपथ्यपात्रैर्देवैः 'रामेण परशुरामो जितः' इति सूचनाच्चूलिका ।।

अथाङ्कास्यम् –

अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ।

अङ्कान्त एव पात्रमङ्कान्तपात्रं तेन विश्लिष्टस्योत्तराङ्कमुखस्य सूचनं तद्वशेनोत्तराङ्कावतारोऽङ्कास्यमिति ।।

यथा **वीरचरिते** द्वितीयाङ्कान्ते – '(प्रविश्य) सुमन्त्रः – भगवन्तौ वसिष्ठ–

कृशाश्वेति। 'कृशाश्वमुनि के शिष्य भगवान् ऋषि विश्वामित्र की जय हो। सूर्य–वंश में आज भी विजयी क्षत्रिय विद्यमान हैं। उनकी जय हो, जय हो! क्षत्रियों के वैरी परशुरामजी पर विजय प्राप्त करने वाले रामचन्द्र, जो जगत् को अभयदान करने का व्रत धारण किये हुए हैं और त्रिभुवन की रक्षा करने वाले तथा सूर्य कुल के लिए चन्द्र सदृश हैं, उनकी विजय हो ।।'

इत्यत्रेति। यहाँ पर नेपथ्य में स्थित देव–पात्रों के द्वारा 'परशुराम' पर राम ने विजय प्राप्त कर ली है' इस अर्थ की सूचना दी गई है, अतः यहाँ **'चूलिका'** है ।।

{संक्षेप में **'चूलिका'** का तात्पर्य यह है कि इसके द्वारा अर्थ या घटना की सूचना रङ्गमंच पर साक्षात् नहीं किन्तु यवनिका (पर्दे) के पीछे से दी जाती है और इसके सूचना देने वाले पात्र नीच कोटि के सूत, मागध अथवा बंदी होते हैं। अतः यह घटनाओं की विशिष्ट प्रकार से सूचना देने वाला अर्थोपक्षेपक है। चूलिका का प्रयोग अङ्क के मध्य में किया जाता है।}।। ६१ ।।

४. **अङ्कास्य** –

अथेति। अब **'अङ्कास्य'** नामक अर्थोपक्षेपक की परिभाषा बताते हैं –

अङ्कान्तपात्रैः छिन्नाङ्कस्य अर्थसूचनात् अङ्कास्यम् **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – अङ्कान्तेति। जहाँ अङ्क की समाप्ति के अवसर पर उस अङ्क में प्रयुक्त (अर्थात् उस अङ्क के अन्त में अभिनय करने वाले) पात्रों के द्वारा किसी छूटे हुए अर्थ की सूचना दी जाती है, वहाँ 'अङ्कास्य' होता है ।।

वृत्त्यर्थ – अङ्कान्तइति। अङ्क के अन्त में आने वाले पात्र ही अङ्कान्तपात्र कहलाते हैं – 'वक्ष्यमाणाङ्कार्थसूचनाय अङ्कान्ते एव प्रविष्टं पात्रमङ्कान्तपात्रमित्यर्थः। जहाँ ऐसे पात्र के द्वारा विश्लिष्ट कथा वस्तु की, जिसका वर्णन अग्रिम अङ्क में होगा, सूचना दी जाय, वहाँ उत्तराङ्कवतार **'अङ्कास्य'** होता है।

यथेति। जैसे –'(भवभूति के) **महावीर चरित** नाटक के दूसरे अङ्क के अन्त में प्रविष्ट होकर **सुमन्त्र** कहते हैं – 'आप सभी को भार्गव परशुराम के साथ–साथ

विश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्वयतः । इतरे – क्व भगवन्तौ ! सुमन्त्रः – महाराज–दशरथस्यान्तिके। इतरे – तदनुरोधात्तत्रैव गच्छामः' इत्यङ्कसमाप्तौ '(ततः प्रविशन्त्यु–पविष्टा वसिष्ठविश्वामित्रपरशुरामाः) इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथार्थविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यमिति ।।

अथाङ्कावतारः –

अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः ।। ६२ ।।

यत्र प्रविष्टपात्रेण सूचितमेव पूर्वाङ्काविच्छिन्नार्थतयैवाङ्कान्तरमापतति प्रवेशकविष्कम्भकादिशून्यं सोऽङ्कावतारः, यथा **मालविकाग्निमित्रे** प्रथमाङ्कान्ते विदूषकः–तेण हि दुवेवि देवीए पेक्खागेहं गदुअ सङ्गीदोवअरणं करिअ तत्थभवदो दूदं बिसज्जेध

पूज्य वसिष्ठ और विश्वामित्र बुला रहे हैं। **अन्य लोग** – वे दोनों पूज्य (वसिष्ठ और विश्वामित्र कहाँ हैं ? **सुमन्त्रा** – महाराज दशरथ के समीप हैं । **अन्य लोग** – तो उनके अनुरोध के कारण हम वहीं चलते हैं।' इस प्रकार (द्वितीय) अङ्क समाप्त होने पर (तृतीय अङ्क के प्रारम्भ में) (तब **वसिष्ठ–विश्वामित्र** तथा **परशुराम** बैठे हुए प्रवेश करते हैं।)

इत्यत्रेति। यहाँ द्वितीय अङ्क के अन्त में ही प्रविष्ट हुए सुमन्त्र नामक पात्र के द्वारा, शतानन्द एवं जनक की कथा के विच्छिन्न हो जाने पर आगे के (तृतीय अङ्क के) अर्थ (वसिष्ठ एवं विश्वामित्र आदि के संवाद) की सूचना प्रस्तुत की गई है, इसलिए यह **'अङ्कास्य'** है।।

परामर्श – धनञ्जय प्रतिपादित 'अङ्कास्य' का लक्षण **भरतमुनि** सम्मत प्रतीत नहीं होता है। आचार्य भरत के अनुसार – इसमें कथा के सम्पूर्ण रूप को संक्षेप में सूचित किया जाता है तथा इसकी योजना प्रायः अङ्क के आरम्भ में रहती है। इसमें भावी कथावस्तु के शिष्ट रूप में उपक्षेपण का कार्य होता है – इसके प्रयोक्ता पुरुष अथवा स्त्री पात्र होते है – ।। विश्लिष्टमुखमङ्कस्य स्त्रिया वा पुरुषेण वा। यदुपक्षिप्यते पूर्वं तदङ्कमुखमुच्यते ।। (ना० शा० १९।११६)।।

५. अङ्कावतार –

अथेति। अब **अङ्कावतार** की परिभाषा बताते हैं –

कारिकार्थ – अङ्केति। जहाँ अविच्छिन्न रूप से (बिना क्रम टूटे) प्रवाहित पूर्व अङ्क के कथा क्रम में ही दूसरे अङ्क की वस्तु का अवतरण होता है, वहाँ अङ्कावतार होता है ।। ६२ ।।

वृत्त्यर्थ – यत्रेति। इसमें सूचना के लिए अन्य (पात्रान्तर) पात्र के प्रवेश के बिना ही पूर्व अङ्क में (अभिनयार्थ) उपस्थित पात्रों को ही पात्र बनाकर, पूर्व अङ्क के इतिवृत्तांश को बिना विच्छिन्न किए ही दूसरा अङ्क अवतरित हो जाता है, और विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका तथा अङ्कास्यादि का प्रयोग नहीं किया जाता है।

यथेति। जैसे **मालविकाग्निमित्र** के प्रथम अङ्क के अन्त में –

विदूषक – 'अतएव आप दोनों जाकर देवी के प्रेक्षागृह में सङ्गीत के उपकरणों (सामग्री) को एकत्र करके श्रीमान् के पास दूत भेज देना' अथवा 'मृदङ्ग का शब्द ही उन्हें उठा देगा।' इस प्रकार उपक्रम के चलते रहने पर मृदङ्ग के शब्द के

अथवा मुदङ्गसद्दो ज्जेव णं उत्थावयिस्सदि।' ('तेन हि द्वावपि देव्याः प्रेक्षागेहं गत्वा सङ्गीतकोपकरणं कृत्वा तत्रभवतो दूतं विसर्जयतम्, अथवा मृदङ्गशब्द एवैनमुत्थापयिष्यति।') इत्युपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणादनन्तरं सर्वाण्येव पात्राणि प्रथमाङ्कप्रक्रान्तपात्रसंक्रान्तिदर्शनं द्वितीयाङ्कादावारभन्त इति प्रथमाङ्कार्थाविच्छेदेनैव द्वितीयाङ्कस्यावतरणादङ्कावतार इति ॥

सुनने के पश्चात् दूसरे अङ्क के आरम्भ में समस्त पात्र अङ्क में वर्णित पात्रों (हरदत्त तथा गणदास) के शिष्य–शिक्षाक्रम का दर्शन करते हैं। इस प्रकार प्रथम अङ्क की कथा अविच्छिन्न रूप में ही द्वितीय अङ्क में अवतरित हुई है, इसलिए यहाँ **'अङ्कावतार'** नामक अर्थोपक्षेपक है ॥ ६२ ॥

परामर्श — 'अविभागतः' — वृत्तिकार द्वारा 'अविभागतः' पद का अर्थ 'असूचित एव' किया गया है। इसलिए जहाँ उत्तराङ्कपात्र के प्रवेश में पूर्व अङ्क में सूचित पात्र बिना किसी सूचना के ही (अविभागतः असूचित एव) उपस्थित हो जायँ, वहाँ **अङ्कावतार** कहलाता है। उपर्युक्त विवेचन से अङ्कावतार के विषय में यह स्पष्ट होता है कि — एक अङ्क के समाप्त या विच्छिन्न हुए बिना ही जहाँ दूसरे अङ्क की कथा या वृत्त का सङ्केत किया जाता है मानो इस सूचन से दूसरे अङ्क का अवतरण हो — वह अङ्कावतार है। इसमें बीजार्थ की योजना रहती है तथा इसका प्रयोग अङ्क के बाहर नहीं अपितु अंदर ही किया जाता है। अङ्कास्य और अङ्कावतार में अत्यधिक साम्य दृष्टिगोचर होता है। इनके साम्य और वैषम्य को इस प्रकार देखा जा सकता है ॥ ६२ ॥

अङ्कास्य	**अङ्कावतार**
साम्य —	**साम्य** —
१. कथा का क्रम नहीं टूटता	१. कथा विच्छिन्न नहीं होती।
२. पूर्व अङ्क के अन्त में उपस्थित पात्र अगले अङ्क के इति वृत्त की सूचना देते हैं।	२. पूर्व अङ्क के ही पात्र उसी कथा वस्तु के साथ द्वितीय अङ्क में अवतरित होते हैं।
वैषम्य —	**वैषम्य** —
१. यह प्रथम अङ्क के अन्त में घटित होता है।	१. यह द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ में पूर्वाङ्क के पात्रों के अवतरण के साथ ही घटित होता है।
२. इसमें अगला अङ्क पूर्व अङ्क से असम्बद्धरूप में अर्थात् विश्लिष्ट कथा वस्तु से आरम्भ होता है।	२. यह पूर्व अङ्क के अङ्ग रूप में ही आरम्भ होता है।
३. इसमें द्वितीय अङ्क की कथा की सूचना प्रथम अङ्क के अन्त में दी जाती है।	३. इसमें द्वितीय अङ्क की कथावस्तु की सूचना इसी अङ्क के आरम्भ में पूर्व वर्णित पात्रों के अवतरण के साथ ही हो जाती है।

एभिः संसूचयेत्सूच्यं दृश्यमङ्कैः प्रदर्शयेत् ।

पुनस्त्रिधा वस्तुविभागमाह –

नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते ।। ६३ ।।

केन प्रकारेण त्रैधं तदाह –

सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च ।

तत्र –

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम् ।। ६४ ।।

सर्वश्राव्यं यद्वस्तु तत्प्रकाशमित्युच्यते । यत्तु सर्वस्याश्राव्यं तत्स्वगतमिति–शब्दाभिधेयम् ।।

कारिकार्थ – एभिरिति। पूर्ववर्णित (अर्थोपक्षेपकों – विष्कम्भक – प्रवेशक– चूलिका – अङ्कास्य – अङ्कावतार) के द्वारा सूच्य कथावस्तु को सूचित किया जाना चाहिए और दृश्य कथावस्तु को अङ्कों के द्वारा प्रदर्शित किया जाना चाहिए ।।

नाट्य की प्रकृति की दृष्टि से इतिवृत्त का विभाजन –

पुनस्त्रिधेति । पुनः कथावस्तु के विभाग को तीन प्रकार का बताते हैं –

कारिकार्थ – नाट्येति । नाट्य धर्म (अर्थात् नाट्य की प्रकृति अथवा अभिनय की नाट्यशास्त्रोक्त मर्यादा) की दृष्टि से कथावस्तु (इतिवृत्त) पुनः तीन प्रकार की बतलाई गई है ।। ६३ ।।

केनेति । यह श्राव्य किस प्रकार तीन तरह का होता है ? उसे बताते हैं –

कारिकार्थ – सर्वेषामिति। सभी के लिए सुनने योग्य वस्तु (सर्वश्राव्य) कुछ सीमित जनों को ही सुनने योग्य वस्तु–(नियत श्राव्य) तथा किसी के भी न सुनने योग्य वस्तु –(अश्राव्य) ।।

तत्रेति। उनमें – (क) **प्रकाश**, (ख) **स्वगत** –

कारिकार्थ – सर्वश्राव्यमिति । सभी के सुनने योग्य वस्तु को 'प्रकाश' तथा किसी के भी न सुनने योग्य वस्तु को 'स्वगत' कहते हैं ।। ६४ ।।

वृत्त्यर्थ – सर्वश्राव्यमिति । जो वस्तु–(वचन)–सभी के सुनने योग्य होती है, उसे 'प्रकाश' शब्द से कहा जाता है और जो वस्तु सभी के सुनने योग्य नहीं होती है, उसे 'स्वगत' कहा जाता है ।। ६४ ।।

परामर्श – नाट्य प्रयोग की प्रवाहशीलता को और सहज बनाते हुए भरत ने कुछ विशिष्ट अभिनयों का वर्णन किया है जिनका प्रयोग भारतीय नाटकों में प्रचुरता से प्राप्त होता है। जिनके द्वारा अतीत कथानक तथा परिसीमित पात्रों के लिये नाट्योपयोगी कथांशों का सङ्केत आदि हो जाता है ।

यहाँ विशेष उल्लेखनीय यह है कि रङ्गमञ्च पर कुछ वस्तु अश्राव्य (अर्थात् किसी के लिए भी सुनने योग्य नहीं होती) तथा कुछ वस्तु (कथन) नियतश्राव्य

नियतश्राव्यमाह –

द्विधाऽन्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम् ।

अन्यत्तु नियतश्राव्यं द्विप्रकारं जनान्तिकापवारितभेदेन ॥

तत्र **जनान्तिकमाह –**

त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ॥ ६५ ॥
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् ।

यस्य न श्राव्यं तस्यान्तर ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलं वक्रानामिकत्रिपताकालक्षणं करं कृत्वाऽन्येन सह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकमिति ॥

(अर्थात् कुछ लोगों को ही सुनानेलायक) होती है। यह जो कहा गया है, वह सब अभिनय करने वाले नटों–पात्रों के लिए ही कहा गया है। सामाजिक गण–श्रोताओं को तो रूपक की एक–एक बात (वचन) सुनाने के लिए होती है। तभी वे रसास्वाद कर सकेंगे। सहृदय श्रोतागण तो अश्राव्य तथा नियतश्राव्य – कथन – सब कुछ सुनते हैं ॥ ६४ ॥

नियतेति । 'नियतश्राव्य' को बताते हैं –

कारिकार्थ – द्विधेति । 'नियतश्राव्य' नामक नाट्यधर्म के दो भेद हैं – १. जनान्तिक और २. अपवारित ॥

वृत्त्यर्थ – अन्यत्त्विति । दूसरा अर्थात् नियतश्राव्य १. **जनान्तिक** तथा २. **अपवारित** भेद से दो प्रकार का होता है ।

जनान्तिक –

तत्रेति । उनमें से 'जनान्तिक' का लक्षण बताते हैं –

कथाम् अन्तरा त्रिपताकाकरेण अन्यान् अपवार्य जनान्ते यत् अन्योन्यामन्त्रणम् तत् जनान्तिकम् **इत्यन्वयः** ॥ ६५–६६ ॥

कारिकार्थ – त्रिपताकेति। अन्तरा अर्थात् पात्रों के मध्य में चल रहे संवाद या उक्ति–प्रत्युक्ति के मध्यमें, त्रिपताकारूप हस्त मुद्रा के द्वारा अन्य पात्रों को अपवार्य अर्थात् बचाकर, कुछ पात्रों के मध्य में दो पात्र परस्पर जो वार्तालाप करते हैं – वह जनान्तिक कहा जाता है ॥ ६५–६६ ॥

वृत्त्यर्थ – यस्येति । जिस पात्र को कोई बात नहीं सुनानी है, उसकी ओर हाथ की समस्त अंगुलियाँ ऊँची, किन्तु अनामिका को टेढ़ी कर, इस प्रकार त्रिपताका रूप हाथ को बनाकर, जब कोई पात्र दूसरे पात्र के साथ मन्त्रणा करता है, तो वह जनान्तिक कहा जाता है॥ ६५–६६॥

{वस्तुतः 'वह जनान्तिक कहा जाता है। वस्तुतः 'जनान्तिक' पात्रों के परस्पर वार्तालाप के प्रसङ्ग में, दो पात्रों के मध्य में होने वाली वह वार्ता है जिसे वे 'त्रिपताका' नामक हस्त–मुद्रा द्वारा इसलिये किया करते हैं जिसमें और कोई अन्य उसे सुनने हेतु उनके निकट न आना चाहे । त्रिपताकारूप–मुद्रा–अनामिका तथा अँगूठे को कुछ मोड़कर शेष सभी अंगुलियों को ऊपर की ओर उठाना } ॥ ६५–६६॥

अथापवारितम् –

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्त्यापवारितम् ।। ६६ ।।

परावृत्त्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितमिति ।।

नाट्यधर्मप्रसङ्गादाकाशभाषितमाह –

परामर्श – जब कार्यवश कोई पात्र अपने कथन को ऐसे ही व्यक्ति को बतलाता या कहता हो जो उसके श्रवण का अधिकारी हो तो वह जनान्तिक है। आचार्य **अभिनवगुप्त** ने अपवारित और जनान्तिक दोनों में ही रङ्गमञ्च पर उपस्थित अन्य पात्रों की अश्राव्यता की समानता को माना है किन्तु इनकी पृथक्ता परिस्थितिवश कही है । अत: यदि कोई वृत्त या कथन एक के लिये योग्य हो तथा अनेक के लिये प्रकाश्य अथवा अ गोप्य रहे तो 'जनान्तिक' होता है तथा इसके विपरीत जो एक के लिये ही प्रकाश्य तथा अनेक के लिये गोप्य हो तो वह 'अपवारित' है। इसी कारण जनान्तिक में वृत्त का गोप्य अंश कर्ण प्रदेश में एक पात्र दूसरे को सूचित करता है ।। ६५–६६ ।।

अपवारित –

अथेति । अब 'अपवारित' नामक नियतश्राव्य के द्वितीय भेद को बताते हैं –

कारिकार्थ – रहस्यमिति। रङ्गमञ्च पर स्थित पात्रों की ओर से मुख फेरकर अर्थात् उनसे छिपकर जब कोई गुप्त (रहस्य की) बात अन्य पात्र से की जाती है, तो वह 'अपवारित' कहलाता है ।। ६६ ।।

वृत्त्यर्थ – परावृत्त्येति। मुख दूसरी ओर करके दूसरे से गुप्त बात कहना ही अपवारित है ।। ६६ ।।

जनान्तिक तथा अपवारित में साम्य–वैषम्य –

जनान्तिक	अपवारित
१. यह गोपनीय कथन है।	१. यह भी गुप्त कथन है।
२. इसमें त्रिपताका–मुद्रायुक्त कर से मुँह छिपाकर बात कही जाती है।	२. इसमें मुँह को एक ओर फेरकर बात की जाती है।
३. इसका कथन जनसमुदाय के मध्य में ही होता है।	३. इसका कथन जन समुदाय से एक ओर हटकर किया जाता है ।

अपवारितक तथा जनान्तिक – आचार्य अभिनवगुप्त ने कुछ आचार्यों के मत को प्रस्तुत करते हुए बताया है कि ये दोनों ही – अपवारितक – जनान्तिक – रंगमंच पर उपस्थित पात्रों के लिये अश्राव्यता की दृष्टि से समान हैं ।

आकाशभाषित –

नाट्यधर्मेति। ग्रन्थकार नाटक की प्रकृति (नाट्यधर्म) की व्याख्या के सन्दर्भ में ही 'आकाशभाषित' का लक्षण बताते हैं –

किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम् ।। ६७ ।।

स्पष्टार्थः ।।

अन्यान्यपि नाट्यधर्माणि प्रथमकल्पादीनि कैश्चिदुदाहृतानि । तेषामभारतीयत्वान्नाममालाप्रसिद्धानां केषांचिद्देशभाषात्मकंत्वान्नाट्यधर्मत्वाभावाल्लक्षणं नोक्तमित्युपसंहरति –

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं
रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च ।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्या –
च्चित्रां कथामुचितचारुवचःप्रपञ्चैः ।। ६८ ।।

।। इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य प्रथमः प्रकाशः समाप्तः ।। १ ।।

एकः पात्रम् विना अनुक्तम् अपि श्रुत्वा इव यत् एवम् किम् ब्रवीषि इत्यादि ब्रवीति तत् आकाशभाषितम् स्यात् इत्यन्वयः ।।

कारिकार्थ – किंब्रवीषीति। जब अकेला ही पात्र (रङ्गमञ्च पर) किसी दूसरे पात्र के विना ही तथा किसी के पूछे बिना ही कहे भी मानों जैसे सुनकर ही (उत्तर देता है) 'क्या कह रहे हो ?' इत्यादि प्रश्न (स्वयं) करके कुछ वार्तालाप करता है, तो उसे 'आकाशभाषित' कहते हैं ।। ६७ ।।

वृत्त्यर्थ – स्पष्टार्थ इति । इस कारिका का अर्थ स्पष्ट ही है।

परामर्श – जहाँ रङ्गमञ्च पर अप्रविष्ट पात्र से संवाद तथा प्रविष्ट पात्र से अन्तर्निहित होते हुए वाक्य की योजना की जाती हो वह 'आकाशभाषित' है। यहाँ पात्र की उपस्थिति के बिना ही उत्तरप्रत्युत्तर शैली में संवाद रखे जाते हैं ।।

अन्यानीति। कुछ विद्वानों ने 'प्रथम कल्प' इत्यादि अन्य और भी नाट्य धर्मों का उल्लेख किया है। किन्तु वे नाट्यधर्म भरत सम्मत नहीं है। वे केवल नामावली या कोश में ही उल्लिखित हैं, (अर्थात् उनके लक्षण आदि नहीं किये गये हैं।) उनमें से तो कुछ देश–भाषा–अर्थात् स्थानीय बोली मात्र में है। इसलिए वे नाट्य–धर्म नहीं हैं। इसलिए उनका लक्षण नहीं किया गया है। अतएव धनञ्जय उपसंहार करते हैं –

इह इत्यादि अशेषम् वस्तुविभेदजातम् रामायणादि बृहत्कथाम् च विभाव्य तदनु नेतृरसानुगुण्यात् उचितचारूप्रपञ्चैः चित्राम् कथाम् आसूत्रयेत् इत्यन्वयः ।। ६८ ।।

कारिकार्थ – इत्याद्येति। इस प्रकार (कवि) नाटककर्ता, वस्तु के उपर्युक्त भेद प्रभेदों को समझकर तथा रामायण आदि (अर्थात् महाभारत–पुराणादि) एवं बृहत्कथा (जैसे उपजीव्य ग्रन्थों) का अनुशीलन करके तब नाटक–नेता की प्रकृति के अनुकूल और प्रतिपाद्य रस के भी अनुरूप, उचित और मनोहर संवादों–उक्तियों के विस्तार के द्वारा विचित्र प्रकार की कथा की रचना करे ।। ६८ ।।

वस्तुविभेदजातम् – वस्तु – वर्णनीयं, तस्य विभेदजातं नाना भेदाः । रामायणादि बृहत्कथां च गुणाढ्यनिर्मितां विभाव्य – आलोच्य । तदनु – एतदुत्तरम् । नेत्रिति – नेता वक्ष्यमाणलक्षणः, रसाश्च तेषामानुगुण्याच्चित्राम् – चित्ररूपाम्, कथाम् – आख्यायिकाम् । चारूणि यानि वचांसि तेषां प्रपञ्चैर्विस्तारैरासूत्रयेदनुग्रथयेत् । तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम् –

'चाणक्यनाम्ना तेनाथ शकटालगृहे रहः ।
कृत्यां विधाय सहसा सपुत्रो निहतो नृपः ।।
योगानन्दयशःशेषे पूर्वनन्दसुतस्ततः ।
चन्द्रगुप्तः कृतो राजा चाणक्येन महौजसा ।।' (२.२१६)

इति बृहत्कथायां सूचितम्, श्रीरामायणोक्तं रामकथादि ज्ञेयम् ।।

।। इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके प्रथमः प्रकाशः समाप्तः ।। १ ।।

वृत्यर्थ – वस्त्विति। इस श्लोक में प्रयुक्त **'वस्तुविभेदजातम्'** – पद में 'वस्तु' का अर्थ है वर्णनीय विषय अर्थात् रूपक में वर्णन की जाने वाली कथा–वस्तु, उसका समस्त भेद–समूह । रामायण आदि गुणाढ्यकृत बृहत्कथा का (विभाव्य अर्थात्) सम्यक्रूप से अनुशीलन करके। **तदनु** – अर्थात् इसके पश्चात् । 'नेतृ' आदि पदों का अर्थ है– नेता (रूपक का नायक) और (नाटक का प्रतिपाद्य) रस; (जिनका लक्षण द्वितीय एवं तृतीय प्रकाश में किया जायगा) उनके अनुकूल । चित्राम् अर्थात् विचित्र रूपवाली कथा – आख्यायिका को, सुन्दर उक्तियों के प्रपञ्च–विस्तार से । आसूत्रयेत् – ग्रथित करे–निर्मित करे। जैसे – **'मुद्राराक्षस'** नाटक की कथा का मूलस्रोत बृहत्कथा में इस प्रकार मिलता है –

चाणक्येति। 'चाणक्य नामक व्यक्ति ने एकान्त में, शकटाल के घर में (मारण देवी) कृत्या (की प्रतिमा) का निर्माण कर पुत्रसहित राजा को सहसा मार डाला, इसके पश्चात् जब योगानन्द का यशमात्र शेष रह गया तब महान् तेजस्वी चाणक्य ने पूर्वनन्द के पुत्र चन्द्रगुप्त को राजा बनाया' ।।

इस प्रकार (मुद्राराक्षस नाटक की कथा का मूलस्रोत) (गुणाढ्यकृत) बृहत्कथा में सूचित भर कर दिया गया है। इसी प्रकार 'वीरचरितादि (महावीरचरित)' आदि की कथा का मूलस्रोत रामायण में वर्णित रामकथा है। श्लोक में प्रयुक्त 'आदि' पद का अर्थ है –'अभिज्ञान शाकुन्तल' की कथा का मूलस्रोत महाभारत आदि में वर्णित दुष्यन्त की कथा है, ऐसा समझना चाहिए ।।

श्रीमन्महामहोपाध्यायश्रीसदाशिवशास्त्रिचरणतनूजन्मना मुसलगाँवकरोपनामकेन श्रीकेशवशास्त्रिणा विरचितायां प्रदीपव्याख्यायां धनञ्जयकृतदशरूपकस्य वस्तुविभागो नाम प्रथमः प्रकाशः समाप्तः ।। १ ।।



द्वितीयः प्रकाशः

रूपकाणामन्योन्यं भेदसिद्धये वस्तुभेदं प्रतिपाद्येदानीं नायकभेदः प्रतिपाद्यते —

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥ १ ॥

त्रिधा विकल्पनं यस्यां पुमान् यत्रोपचर्यते ।
तां वन्दे प्रकृतिं शम्भोः शक्तित्रयविजृम्भणात् ॥

— आचार्य अभिनवगुप्तपाद

प्रदीप — रूपकाणामिति। रूपकों के परस्पर एक–दूसरे से भेद की सिद्धि के लिए अर्थात् नाटक, प्रकरण, आदि वक्ष्यमाण रूपक–भेदों के परस्पर जानकारी के लिए वस्तु के भेदों का प्रतिपादन (प्रथम प्रकाश में) करके ग्रन्थकार अब (इस द्वितीय प्रकाश में) नायक के भेदों का प्रतिपादन करते हैं —

नायक के सामान्य लक्षण —

{**'वस्तुनेतारसस्तेषां भेदकः'** (प्रथम प्रकाश, कारिका ११) के अनुसार रूपकों में नाटक–प्रकरण आदि अन्य रूपक भेदों में परस्पर भेद का कारण है — **वस्तु**, नेता तथा रस । इन तीनों के कारण ही रूपकों में परस्पर भेद हो जाता है। अर्थात् एक रूपक की कथावस्तु, उसका नायक, उसकी प्रकृति (स्वभाव) तथा रूपक का प्रतिपाद्य रस उसे अन्य रूपक–प्रकारों से अलग कर देता है। संक्षेप में रूपक के दस भेद हैं — **नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन** । इन दसों रूपकों में से प्रत्येक भेद एक–दूसरे से, वस्तु, नेता, तथा रस की दृष्टि से भिन्न हो जाता है। अतः ग्रन्थकार ने **प्रथम प्रकाश में वस्तुभेद तथा उपभेद का वर्णन किया है। और अब वे इस द्वितीय प्रकाश में नायक के स्वरूप, भेद, एवं उपभेद का तथा भारती आदि** वृत्तियों और प्रवृत्तियों का वर्णन प्रस्तुत करते हैं —}

कारिकार्थ — नेतेति । (रूपक का) नायक विनीत (नम्र) मधुर, त्यागी, कुशल, प्रियवचन बोलने वाला (प्रियंवद), जनप्रिय (लोगों को अपने कार्य कलापों से प्रसन्न करने

बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥ २ ॥

नेता नायको विनयादिगुणसम्पन्नो भवतीति ॥

तत्र विनीतो यथा वीरचरिते –

'यद्ब्रह्मवादिभिरुपासितवन्द्यपादे
विद्यातपोव्रतनिधौ तपतां वरिष्ठे ।
दैवात्कृतस्त्वयि मया विनयापचार–
स्तत्र प्रसीद भगवन्नयमञ्जलिस्ते ॥' (४.२१)

मधुरः प्रियदर्शनः । यथा तत्रैव –

'राम राम नयनाभिरामतामाशयस्य सदृशीं समुद्वहन् ।
अप्रतर्क्यगुणरामणीयकः सर्वथैव हृदयङ्गमोऽसि मे ॥' (२.३७)

वाला—रक्तलोक), पवित्र (शुद्धहृदय का), वाग्मी अर्थात् बोलने में विदग्ध, प्रख्यात वंश में उत्पन्न (रूढवंश), मन आदि से स्थिर, युवक, बुद्धिमान्, उत्साही, स्मरण—शक्तिवाला, प्रज्ञा (विवेकी—उचित—अनुचित कार्य का विचार करने वाला) कलाओं से युक्त (कलाओं का ज्ञाता) मानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रों का ज्ञाता (शास्त्रों के अनुसार चलने वाला) तथा धार्मिक होता है ॥ १—२ ॥

वृत्त्यर्थ – नेतेति। नेता अर्थात् नायक विनय आदि गुणों से सम्पन्न होता है— {वृत्तिकार धनिक उपर्युक्त गुणों को क्रमशः (रूपकों—महाकाव्यों से) उदाहृत करते हैं –}

१. तत्रेति। उक्त गुणों में विनीत (नायक) का उदाहरण, जैसे भवभूति के 'महावीर चरित' में है – {इस नाटक में रामचन्द्र विनीत नायक हैं, उनकी विनम्रता, धनुष के टूटने से क्रुद्ध परशुराम के प्रति इस उक्ति में प्रकट होती है, श्रीराम क्रुद्ध परशुराम से कहते हैं –}

यदिति। 'ब्रह्मज्ञों के द्वारा जिनके वन्दनीय चरणों की उपासना की जाती है, जो विद्या, तप, एवं व्रत के निधि हैं, तथा तपस्विजनों में श्रेष्ठ हैं, ऐसे आपके प्रति मैंने दैवयोग से जो विनय का उल्लङ्घन किया है, उसके लिए आप – भगवन् ! प्रसन्न हों। यह आपके लिए प्रणामाञ्जलि है।'

२. मधुर इति। नायक मधुर अर्थात् प्रिय दर्शन (सुन्दर) होना चाहिए । जैसे वहीं – महावीर चरित – में {रामचन्द्र के माधुर्य का अङ्कन किया गया है – परशुराम रामचन्द्र से कहते हैं।}

रामेति। 'हे राम ! हे राम ! हृदय के समान ही नेत्रों को अच्छी लगने वाली सुन्दरता को धारण करने वाले तथा अप्रतर्क्य (कल्पनातीत) गुणों से मनोहर आप सब प्रकार से ही मेरे हृदय में ही विद्यमान हो।'

त्यागी सर्वस्वदायकः यथा –

'त्वचं कर्णः शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम् ।।'

दक्षः क्षिप्रकारी । यथा **वीरचरिते** –

'स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डकं –
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ।।' (१.५३)

प्रियंवदः प्रियभाषी । यथा तत्रैव –

'उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान्देवः पिनाकी गुरु –
र्वीर्यं यत्तु न तद्गिरां पथि ननु व्यक्तं हि तत्कर्मभिः ।
त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः
सत्यब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किं वा न लोकोत्तरम् ।।' (महा० च० २.३६)

---

३. **त्यागीति** – **त्यागी** अर्थात् अपना सर्वस्वदान में देने वाले को त्यागी कहा जाता है । नायक त्यागी होना चाहिए। त्यागशीलता का उदाहरण इस पद्य में है –

त्वचमिति। 'कर्ण ने (अपनी) त्वचा, शिबि ने (अपना) माँस, जीमूतवाहन ने (अपना) जीवन तथा दधीचि ने (अपनी) हड्डियाँ (परोपकार के लिए) दे दीं। अतः महात्माओं के लिए कोई भी वस्तु अदेय नहीं है।'

४. **दक्ष इति।** नायक **दक्ष** होना चाहिए । अर्थात् शीघ्रता से कार्य करने वाला **'सद्यस्करी'** हो। इसका उदाहरण **महावीर चरित** में रामचन्द्र के विषय में दिया गया है–

स्फूर्जदिति। 'कड़कड़ाते हजारों वज्रों से निर्मित सा, त्रिपुरासुर का विनाशक, देवताओं के तेज से देदीप्यमान, शिव का धनुष राम के सम्मुख प्रकट हो रहा है, (अर्थात् राम के सामने लाया जा रहा है।) जैसे हाथी का बच्चा पर्वत पर अपनी सूँड़ को रख देता है, वैसे ही वत्स (राम) ने अपना भुजदण्ड उस धनुष पर रख दिया। गर्जन करती हुई प्रत्यञ्चावाले उस धनुष को (राम ने क्षिप्रता से) खींच लिया तथा तोड़ डाला ।

५. **प्रियंवद इति । प्रियम्वद** अर्थात् प्रिय बोलने वाला । इसका उदाहरण जैसे वहीं **महावीरचरित** में (यहाँ रामचन्द्रजी परशुरामजी से कहते हैं –)

उत्पत्तिरिति। 'महर्षि जमदग्नि से आपकी उत्पत्ति हुई है, और वे पिनाकधारी देव भगवान् शङ्कर आपके गुरु हैं। जो आपका पराक्रम है, उसे वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता, वह तो आपके कार्यों से ही अभिव्यक्त हो रहा है। आपने सातों समुद्रों से वेष्टित पृथ्वी को बिना किसी व्याज के ब्राह्मणों को दान में दे दिया है, जो दान की एक सीमा है। सत्य, ब्रह्म तथा तप के निधिस्वरूप भगवन् ! आपकी ऐसी कौन सी वस्तु है, जो लोकोत्तर न हो ? (अर्थात् सब कुछ अलौकिक है।)'।

रक्तलोकः । यथा तत्रैव —

'त्रय्यास्त्राता यस्तवायं तनूज —
स्तेनाद्यैव स्वामिनस्ते प्रसादात् ।
राजन्वन्तो रामभद्रेण राज्ञा
लब्धक्षेमाः पूर्णकामाश्चरामः ।।' (महा० च० ४.४४)

एवं शौचादिष्वप्युदाहार्यम् । तत्र शौचं नाम मनोनैर्मल्यादिना कामाद्यनभिभूतत्वम् ।। यथा रघौ —

'का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते ।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ।।' (१६.८)

वाग्मी । यथा हनुमन्नाटके —

'बाह्वोर्बलं न विदितं न च कार्मुकस्य
त्रैयम्बकस्य तनिमा तत एष दोषः ।
तच्चापलं परशुराम मम क्षमस्व
डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम् ।।' (१.३८)

---

६. रक्तेति। रक्तलोक—लोकप्रिय, नायक लोकप्रिय होना चाहिए, जैसे महावीरचरित में — {अयोध्या के प्रजाजन महाराज दशरथ से कहते हैं —}

त्रय्यास्त्रातेति। 'हे महाराज! वेदत्रयी के रक्षक आपके पुत्र जो रामचन्द्र हैं, वे आपके कृपा—प्रसाद से राजा हो गये हैं, हम लोग इन रामभद्र के द्वारा आज ही राजावाले होकर सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने की अभिलाषा करते हैं।'

एवमिति। इसी प्रकार (नायक के अन्य गुणों) शौच पवित्रता आदि का भी उदाहरण दिया जा सकता है। शौच का तात्पर्य मन की निर्मलता, जिसके द्वारा मन काम आदि दोषों से अभिभूत न हो सके।

यथेति। जैसे — कालिदास के रघुवंश में {कुश अपनी शुचिता का प्रकाशन करते हुए कहते हैं —}

का त्वमिति। 'हे शुभे, तुम कौन हो ? किसकी पत्नी हो ? तुम्हारे मेरे पास आने का क्या कारण है ? जितेन्द्रिय रघुवंशियों का मन पराई स्त्री से विमुख रहने वाले स्वभाव का होता है, यह समझकर (अपने आने का कारण) बताओ।''

७. वाग्मीति। वाक् पटुत्व — (वाक् विदग्धता) को वाग्मी कहा जाता है। जैसे हनुमन्नाटक (१।३८) में {रामचन्द्रजी परशुराम से कहते हैं —}

बाह्वोर्बलमिति। 'हे परशुराम ! (धनुष को तोड़ने के पूर्व) मुझे अपने बाहुबल का ज्ञान न था, मुझे यह भी ज्ञात नहीं था, कि भगवान् शङ्कर का धनुष इतना कृश—कमजोर—है, इन दो बातों का पूर्व से ज्ञान न होना मात्र ही मेरा दोष है। अतएव मेरी चपलता को क्षमा करें; क्योंकि बालकों के द्वारा किया गया अनुचित कार्य भी गुरुजनों के लिए आनन्ददायक ही होता है।'

रूढवंशो । यथा –

'ये चत्वारो दिनकरकुलक्षत्रसन्तानमल्ली–
मालाम्लानस्तबकमधुपा जज्ञिरे राजपुत्राः ।
रामस्तेषामचरमभवस्ताडकाकालरात्रि–
प्रत्यूषोऽयं सुचरितकथाकन्दलीमूलकन्दः ।।' (हनु० ५.३४)

स्थिरो वाङ्मनः क्रियाभिरचञ्चलः । यथा **वीरचरिते** –

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ।।' (महा० ३.८)

यथा वा **भर्तृहरिशतके** –

'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ।।' (नीति० २६)

---

८. **रूढवंश इति।** **रूढवंश** अर्थात् प्रख्यात कुल में उत्पन्न नायक । जैसे {नायक उच्चवंश में उत्पन्न हो, रामचन्द्र की कुलीनता जैसी इस पद्य में व्यक्त होती है। **हनुमन्नाटक में सुग्रीव** हनुमान जी से राम के विषय में पूछते हैं – राम कौन हैं ?}

ये चत्वार इति। 'सूर्यवंश की क्षत्रियसन्तानरूपी मालती–मालाके कभी म्लान न होने वाले पुष्प–स्तबक के भ्रमर जो चार राजकुमार उत्पन्न हुए हैं, उनमें सबसे बड़े राम हैं। ये राम ताड़कारूपी कालरात्री के प्रभात (ताड़का के वधकर्ता) हैं, तथा वह मूलकन्द हैं, जिससे सुन्दर चरित्रवाली यश गाथाओं की कन्दलियाँ उत्पन्न हुई हैं ।'

{यह श्लोक **मुरारिकविकृत अनर्घराघव** में (३।२१) भी आया है।}

९. **स्थिर इति।** मन, वाणी और कर्म से भी जो विचलित न हो, उसे स्थिर कहा जाता है। जैसे, **महावीर चरित** में – {परशुराम विश्वामित्र से इस प्रकार कहते हैं –}

प्रायश्चित्तमिति। 'आप गुरुजन हैं, आपके वचन–पालन का उल्लंघन कर रहा हूँ, इसका प्रायश्चित कर लूंगा, किन्तु शस्त्र ग्रहणरूप महाव्रत का तो उल्लंघन नहीं करुँगा ।'

यथा वेति। अथवा, जैसे **भर्तृहरिशतक** में – {स्थिरनायक का उदाहरण देखा जा सकता है –}

प्रारभ्यत इति। 'अधम व्यक्ति (निम्नकोटि के) केवल विघ्नों के भय से ही कोई काम प्रारम्भ नहीं करते, मध्यम श्रेणी के व्यक्ति कार्य तो प्रारम्भ कर देते हैं, पर विघ्नों से पराभूत होकर उन्हें बन्द कर देते हैं, परन्तु विघ्नों के द्वारा बार–बार विचलित किये जाने पर भी उत्तम व्यक्ति प्रारम्भ किये हुए कार्य को बन्द नहीं करते । (अन्त तक पूर्ण करते हैं।)'

युवा प्रसिद्धः । **बुद्धिर्ज्ञानम्** । गृहीतविशेषकरी तु **प्रज्ञा** । यथा **मालविकाग्निमित्रे** –

'यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।
तत्तद्विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला ।।' (१.५)

स्पष्टमन्यत् ।

नेतृविशेषानाह –

भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् ।

यथोद्देशं लक्षणमाह –

निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ।। ३ ।।

---

१०. **युवति** – **युवा** का अर्थ तो प्रसिद्ध ही है (स्पष्ट है)

११. **बुद्धिरिति। बुद्धि** का अर्थ है ज्ञान, वही बुद्धि गृहीत ज्ञान में अपनी ओर से कुछ मिलाकर जब विशिष्टता उत्पन्न करती है, तब वह बुद्धि प्रज्ञा कहलाती है। जैसे **मालविकाग्निमित्र** में –

यद्यत्प्रयोगेति। 'नृत्यकला के प्रयोग के विषय में मैंने जो–जो ढंग (भाविक) उसे बतलाए हैं, वह बाला उन–उन ढंगों (भाविकों) को विशिष्टरूप देते हुए ऐसा प्रयोग करती है, मानो वह मुझे ही पुनः सिखला रही है।' और बाकी सब स्पष्ट है ।।[1]

नायक के भेद –

नेतृविशेषानिति। नायक के भेदों को बतलाया जाता है –

कारिकार्थ – भेदैरिति । यह (नायक) ललित, शान्त, उदात्त और उद्धत भेद से चार प्रकार का होता है ।।

परामर्श – नायक के सामान्य गुणों को बतलाने के पश्चात् ग्रन्थकार यहाँ पर उनके विशेष गुणों को बतलाकर तदनुसार उन नायकों में पारस्परिक भेद दिखाते हैं – नाट्य सम्बन्धी लक्षण ग्रन्थों – **नाट्यशास्त्र, साहित्यदर्पण, नाट्यदर्पण,** आदि में उक्त नायकों के भेदों के पूर्व **'धीर'** शब्द और अधिक जोड़ा गया है, जैसे – धीर ललित, धीरशान्त, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत्त। धीर शब्द से तात्पर्य है – धैर्य, अर्थात् धैर्ययुक्त, जो सङ्कटापन्न स्थिति में भी विचलित न होने वाला, (जिसका चित्त विकारजनक कारणों के रहते हुए भी विचलित न हो।) द्रष्टव्य – ना० शा० २४–१७, भा० प्र० पृ० ९२, ना० द० १.६. सा० द० ३–३१, प्रताप १–२७, साहित्यसार २–२, अग्नि पु० ३३९, ३७–३८, हेम० काव्या० ७, पृ० २९९, (वाग्) काव्यालं ५, पृ० ६१ ।।

यथोद्देशमिति। (क्रमशः) नाम निर्देश के अनुसार (इनका) लक्षण बतलाते हैं –

१. धीरललित –

कारिकार्थ – निश्चिन्त इति। चिन्ता से मुक्त, नृत्य–गीत आदि कलाओं में आसक्त

---

१. वृत्तिकार धनिक ने नायक के अन्य गुणों को, विस्तार के भय से, उदाहृत नहीं किया है। उन्हें महाकाव्यों व नाटकों में देखा जा सकता है।

सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहित: । अतएव गीतादिकलाविष्टो भोगप्रवणश्च शृङ्गारप्रधानत्वाच्च सुकुमारसत्त्वाचारो मृदुरिति ललित: ।।

यथा रत्नावल्याम् –

'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्त: समस्तो भर:
सम्यक्पालनलालिता: प्रशमिताशेषोपसर्गा: प्रजा: ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
काम: काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सव: ।।' (१.९)

अथ शान्त: –

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिक: ।

सुखी एवं मधुर प्रकृति का नायक धीरललित होता है ।। ३ ।।

वृत्त्यर्थ – सचिवेति। यह धीरललित नायक चिन्ता से मुक्त रहता है, क्योंकि उसके योग–क्षेम[1] की चिन्ता उसके मन्त्री आदि के द्वारा की जाती है। इसलिए (चिन्ता से रहित होने के कारण) वह गीतादि कलाओं में आसक्त तथा भोग–विलास में संलग्न (लीन) रहता है। उसमें शृङ्गार–रस की प्रधानता होने के कारण उसका समस्त आचार–विचार–व्यवहार एवं उसकी चित्तवृत्ति कोमल होती है, अर्थात् वह मृदु–मधुर स्वभाव का होता है ।

यथेति। जैसे – **रत्नावली नाटिका** का नायक वत्सराज उदयन है {राजा विदूषक से कहता है –}

राज्यमिति। 'राज्य के (समस्त) शत्रु जीते जा चुके हैं, राज्य का सम्पूर्ण भार योग्य मन्त्रियों पर रख दिया गया है। सम्यक् रीत्या लालित एवं पालित प्रजाएँ सभी उपद्रवों से रहित हैं। (अर्थात् राज्य में अकाल आदि ईतियों का अभाव है।) राजा प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता (मेरे पास है), वसन्त का समय है, और तुम (विदूषक) (मेरे मित्र) भी हो। इस प्रकार कामदेव केवल नाम के द्वारा ही सन्तोष प्राप्त करले, किन्तु सब प्रकार से मानों यह महोत्सव मेरे ही लिए है ।'

{अर्थात् केवल नाममात्र से ही मदन (कामदेव) इस मदनोत्सव को अपना उत्सव मान ले, किन्तु वास्तव में यह उत्सव तो मेरा है।} यहाँ यह ध्यातव्य है कि नाटिका के नायक धीरललित कोटि के ही होते हैं ।।

२. धीरशान्त –

अथेति। अब 'धीरशान्त' का लक्षण कहते हैं –

कारिकार्थ – सामान्येति। नायक के (पूर्वोक्त) सामान्य गुणों से युक्त द्विज आदि 'धीरशान्त' (नायक) कहा जाता है ।।

---

१. अप्राप्त वस्तु का मिलना योग, तथा प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा करना क्षेम कहलाता है – 'अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योग:, प्राप्तस्य परिरक्षणं क्षेम: ।'

विनयादिनेतृसामान्यगुणयोगी धीरशान्तो द्विजादिक इति विप्रवणिक्सचिवादीनां प्रकरणनेतृणामुपलक्षणम्, विवक्षितं चैतत्, तेन नैश्चिन्त्यादिगुणसंभवेऽपि विप्रादीनां शान्ततैव, न लालित्यं, यथा मालतीमाधव–मृच्छकटिकादौ माधवचारुदत्तादिः ।।

'तत उदयगिरेरिवैक एव
स्फुरितगुणद्युतिसुन्दरः कलावान् ।
इह जगति महोत्सवस्य हेतु –
र्नयनवतामुदियाय बालचन्द्रः ।।' (२.१०)

इत्यादि । यथा वा –

'मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् ।

वृत्त्यर्थ – **विनयेति।** विनय आदि नायक के सामान्य गुणों (जिनका प्रथम कारिका में उल्लेख किया गया है।) से युक्त द्विज आदि 'धीरशान्त' (नायक कहा जाता) है। 'द्विज आदि' (द्विजादिक इति) कारिका में कथित यह पद – ब्राह्मण, वणिक्, मन्त्री आदि (अर्थात् पुरोहित, अमात्य, सार्थवाह) जो प्रकरण के नायक होते हैं, उनके लिए उपलक्षण के रूप में प्रयुक्त किया गया है। द्विज आदि कहने में ग्रन्थकार को यही अभीष्ट है। क्योंकि प्रकरण के नायक ब्राह्मण आदि में 'धीरललित' के गुण (निश्चिन्तता) आदि होने पर भी वे धीरललित श्रेणी के नहीं हो सकते। उन्हें शान्तकोटि के ही माना जाना चाहिए। (क्योंकि वे प्रकृति से शान्त होते हैं,) उनमें लालित्य नहीं होता जैसे **मालती–माधव** और **मृच्छकटिक** आदि (प्रकरणों) में क्रमशः **माधव** और **चारुदत्त** आदि **धीरशान्त** नायक ही है।[1]

{**विवक्षितं चैतत्** – इसका तात्पर्य यह है कि 'धीरशान्त' द्विजादिक ही हैं, क्षत्रियादिक नहीं। (क्योंकि राजाओं में धीरललितत्वादि की व्यवस्था की गई है }

{जैसे '**मालतीमाधव**' प्रकरण में **कामन्दकी** मालती से माधव का परिचय देती हुई कहती है – }

तत इति। 'मनोहर गुणों से युक्त चमकते हुए किरणों तथा कलाओं से युक्त तथा नेत्रधारियों के आनन्द को वृद्धिङ्गत करने वाला नवोदितचन्द्र उदयाचल से निकलता है, उसी प्रकार मनोहर गुणों की कान्ति से आकर्षित करने वाला, कलाओं अर्थात् नृत्य आदि कलाओं में निष्णात, इस लोक में नेत्र धारियों के आनन्द का कारणभूत यह माधव भी अपने उच्च कुल से उत्पन्न हुआ है ।'

यथा वेति। अथवा जैसे **मृच्छकटिक** में **चारुदत्त** (दुःख व्यक्त करते हुए मन में कहता है –)

मखशतेति। 'सैकड़ों यज्ञों से पवित्र मेरा कुल जो कि वेदज्ञों की मण्डली में

---

१. यद्यपि प्रकरण के नायक निश्चिन्त और कलासक्त होते हैं, फिर भी उनका समावेश ललित कोटि के नायकों में नहीं किया जा सकता, उन्हें शान्त कोटि में ही रखा जाना चाहिए। क्योंकि ब्राह्मण आदि की प्रकृति शान्त होती है।

मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्' ।। (मृच्छ० १०.१२)

अथ धीरोदात्तः –

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।। ४ ।।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ।

महासत्त्वः – शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्तः सत्त्वः । अविकत्थनः – अनात्मश्लाघनः । निगूढाहङ्कारः – विनयच्छन्नावलेपः । दृढव्रतः – अङ्गीकृतनिर्वाहको, धीरोदात्तः ।।
यथा नागानन्दे – 'जीमूतवाहनः –

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ।।' (नागा० ५.१५)

यथा च रामं प्रति –

वेदध्वनि के साथ प्रतिध्वनित (गुंजायमान) होता था, आज मेरे मृत्यु के अवसर पर पाप कर्म के साथ पापी एवं नीच–मनुष्यों के द्वारा घोषणा में उसे घोषित किया जा रहा है।।'

३. धीरोदात्त –

अथेति। अब धीरोदात्त नायक का लक्षण बताते हैं –

कारिकार्थ – महासत्त्व इति। धीरोदात्त नायक महापराक्रमी, अतिगम्भीर प्रकृतिका, क्षमाशील, आत्मप्रशंसा न करने वाला, स्थिर स्वभाव का, विनम्रता आदि (श्लाघ्य) गुणों से अहङ्कार आदि दुर्गणों को छिपाने वाला तथा अङ्गीकृत किये हुए कार्य को पूर्ण कर पाने वाला होता है ।।

वृत्त्यर्थ – महासत्त्व इति। 'महासत्त्व' – शब्द से यहाँ तात्पर्य है – शोक एवं क्रोध, आदि विकारों से अप्रभावित चित्तवाला । 'अविकत्थन' से तात्पर्य है – आत्म प्रशंसा न करने वाला,[1] 'निगूढाहङ्कारः' – शब्द का अर्थ है – जिसका अहङ्कार विनय आदि सद्गुणों से निगूढ है। 'दृढव्रत' शब्द से तात्पर्य है – अङ्गीकृत किये हुए व्रत (प्रतिज्ञाआदि) का अन्त तक निर्वाह करने वाला। धीरोदात्त नायक के विशेष गुण ये ही हैं ।

यथेति। जैसे 'नागानन्द' में जीमूतवाहन है (निम्न उक्ति गरुड़ के प्रति जीमूतवाहन की है –)

शिरामुखैरिति। 'हे गरुड़ ! धमनियों के अग्रभाग से रक्त स्रवित हो रहा है, मेरे शरीर में अभी भी मांस विद्यमान है। तुम अभी तो तृप्त नहीं जान पड़ते, तो फिर मुझे खाने से क्यों विरत (रुके) हुए हो ।'

यथा चेति। अथवा जैसे राम के प्रति यह उक्ति (महानाटक में) –

---

१. विकत्थन होना 'धीरोदात्त' नायक के लिए जहाँ दोष है, वहीं यह दोष 'धीरोद्धत' नायक के लिए एक गुण है, दोष नहीं।

'आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ।।' (महाना० ३.२५)

यच्च केषांचित्स्थैर्यादीनां सामान्यगुणानामपि विशेषलक्षणे क्वचित्सङ्कीर्तनं तत्तेषां तत्राधिक्यप्रतिपादनार्थम् ।।

ननु च कथं जीमूतवाहनादिर्नागानन्दादावुदात्त इत्युच्यते ? औदात्त्यं हि नाम सर्वोत्कर्षेण वृत्तिः, तच्च विजिगीषुत्व एवोपपद्यते । जीमूतवाहनस्तु निर्जिगीषुतयैव कविना प्रतिपादितः । यथा —

'तिष्ठन्भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा
यत्संवाहयतः सुखं हि चरणौ तातस्य किं राज्यतः ।
किं भुक्ते भुवनत्रये धृतिरसौ भुक्तोज्झिते या गुरो —
रायासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद्गुणः ।।' (नागा० १.७)

इत्यनेन ।।

आहूतेति। 'राज्याभिषेक के लिए आमन्त्रित तथा वन के लिए भेज दिये गये उन (राम) की मुखाकृति में मुझे किंचित् भी विकार (परिवर्तन) परिलक्षित नहीं हुआ ।'
(उक्त दोनों उदाहरण दशरूपक २.१४ व २.१२ में भी उद्धृत किये गये हैं।)

यच्चेति । वृत्तिकार कहते हैं कि — नायक के जिन स्थिरता आदि गुणों को सामान्य गुणों में उल्लिखित किया गया है, उनमें से अनेक — धीरोदात्त आदि — विशेष लक्षण में (पुनः) आ गये हैं। विशेष लक्षण में उनका पुनः उल्लेख—कथन—करने का तात्पर्य यही है कि **'धीरोदात्त'** में इन गुणों का आधिक्य रहता है ।

नन्विति। शङ्का — नागानन्द आदि[१] नाटकों में जीमूतवाहन आदि नायकों को धीरोदात्त कैसे (क्यों) कहा जाता है ? जबकि धीरोदात्त नायक में **'उदात्तत्व'** विशेषरूप से निहित होना चाहिए ।

औदात्त्यमिति। (क) इस उदात्तत्व से तात्पर्य सर्वोत्कृष्टता से है। अर्थात् अन्य लोगों से उत्कृष्ट होना ही उदात्तता है। इस उदात्तता का सद्भाव तभी हो सकता है, जब नायक में दूसरों पर विजयप्राप्त करने की अभिलाषा हो, सबसे उत्कृष्ट होने का उसमें अभिलाष हो। किन्तु **जीमूतवाहन** में इस विजिगीषा का अभाव परिलक्षित होता है। नाटककार **हर्षवर्धन** ने जीमूतवाहन का चित्रण, (उसका अङ्कन) निर्जीगीषुरूप में किया है।

यथेति। जीमूतवाहन का यह कथन इसे प्रमाणित करता है। जैसे —

तिष्ठन्भातीति। १. 'पिताजी के सम्मुख भूमि पर खड़े रहने में किसी व्यक्ति की जो शोभा होती है क्या वह राज्य सिंहासन पर बैठने से हो सकती है ? (कभी नहीं)। पिता जी के चरणों को दबाने में जो आनन्द—सुख—मिलता है क्या वह राज्य से मिल सकता है ?। पिताजी के जूठन खाने में जो आत्मसंतोष प्राप्त होता है क्या वह तीनों

---

१. आदि शब्द से तात्पर्य यह है कि **'भर्तृहरिनिर्वेद'**, जैसे नाटकों का भी समावेश किया जा सकता है।

'पित्रोर्विधातुं शुश्रूषां त्यक्त्वैश्वर्यं क्रमागतम् ।
वनं याम्यहमप्येष यथा जीमूतवाहनः ॥' (नागा० १.४)

इत्यनेन च । अतोऽस्यात्यन्तशमप्रधानत्वात्परमकारुणिकत्वाच्च वीतरागादि-वच्छान्तता । अन्यच्चात्रायुक्तं यत्तथाभूतं राज्यसुखादौ निरभिलाषं नायकमुपादायान्तरा तथाभूतमलयवत्यनुरागोपवर्णनम् । यच्चोक्तम् — 'सामान्यगुणयोगी द्विजादिर्धीरशान्त' इति । तदपि पारिभाषिकत्वादवास्तवमित्यभेदकम् । अत्र वस्तुस्थित्या बुद्ध—युधिष्ठिर—जीमूतवाहनादिव्यवहाराः शान्ततामाविर्भावयन्ति ॥

लोकों के भोग करने पर भी प्राप्त हो सकता है ? (अर्थात् नहीं) (वस्तुतः) गुरुजन की सेवा का त्याग कर राज्य करना, केवल श्रम ही है, उसमें कोई गुण नहीं है ।''

पित्रोर्विधातुमिति। २. और यह भी (नागानन्द में) **सूत्रधार** का कथन — 'यह मैं भी वंश परम्परा से प्राप्त ऐश्वर्य का त्याग कर माता—पिता की सेवा करने के लिए वन में जा रहा हूँ, जैसे कि जीमूतवाहन गये थे ।'

अत इति। अतः उक्त उदाहरणों से जीमूतवाहन में शान्ति की प्रबलता ही व्यक्त की गई है। अतः वे परम दयालुता के कारण, वीतराग के सदृश ही **धीरशान्त** ही है, (धीरोदात्त नहीं) ।

अन्यच्चेति। (ख) इसके अतिरिक्त **हर्षवर्धन** कृत इस नाटकीय संविधानक—रचना में कुछ दोष परिलक्षित होता है। इस प्रकार के शान्त एवं विकारहीन प्रकृतिवाले नायक को लेकर, जो राज्य—सुख से सर्वथा उदासीन है, मलयवती के प्रति उसके अनुराग का चित्रण किया गया है, जो सर्वथा असङ्गत है। (वास्तव में शान्तरस प्रधान नाटक में हृदय को उद्वेलित करने वाले अनुराग सत्त्व का वर्णन करना सर्वथा असङ्गत प्रतीत होता है ।

यच्चेति। (ग) इसके साथ ही **धीरशान्त** की यह परिभाषा — 'सामान्य गुणों से युक्त द्विज आदि 'धीरशान्त' (नायक) कहा जाता है।[१] भी मिथ्या प्रतीत होती है, क्योंकि सामान्य गुण—शौर्य, दक्षता, उत्साह, कलावित्ता आदि शान्त तथा विरक्त व्यक्ति में देखने को नहीं मिलते। अतः यह परिभाषा **धीरप्रशान्त** की विशेषता को सम्यक्—रीत्या व्यक्त नहीं कर पाती, तथा उसे अन्य धीरोदात्तादि से अलग करने में भी असमर्थ जान पड़ती है। वस्तुतः उद्धृत किया हुआ **धीरशान्त** का लक्षण भी केवल पारिभाषिक होने से अवास्तविक ही है, यथार्थ नहीं। इसलिए यह भेदक भी नहीं है, अर्थात् अन्य नायकों से धीर शान्त को अलग नहीं करता। इस प्रकार यथार्थ स्थिति यह है कि जब **बुद्ध, युधिष्ठिर, जीमूतवाहन** आदि के नाम तथा इनके व्यवहार—वृत्तान्तादि शान्त—रस का ही आविर्भाव करते हैं, तब इन्हें '**धीरोदात्त**' नायक क्यों और कैसे माना जाय? (इसलिए इन्हें धीरप्रशान्त नायक ही मानना चाहिए।)।

अत्रोच्यत इति। समाधानं — इस का उत्तर यह है —

---

१. 'सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।'

अत्रोच्यते — यत्तावदुक्तं सर्वोत्कर्षेण वृत्तिरौदात्त्यमिति न तज्जीमूतवाहनादौ परिहीयते । न ह्येकरूपैव विजिगीषुता । यः केनापि शौर्यत्यागदयादिनाऽन्यानतिशेते स विजिगीषुः, न तु यः परापकारेणार्थग्रहादिप्रवृत्तः, तथात्वे च मार्गदूषकादेरपि धीरोदात्तत्व — प्रसक्तिः । रामादेरपि जगत्पालनीयमिति दुष्टनिग्रहे प्रवृत्तस्य नान्तरीयकत्वेन भूम्यादि लाभः । जीमूतवाहनादिस्तु प्राणैरपि परार्थसम्पादनाद्विश्वमप्यतिशेत इत्युदात्ततमः । यच्चोक्तम् — 'तिष्ठन्भाति' इत्यादिना । विषयसुखपराङ्मुखतेति तत् सत्यम् । कार्पण्यहेतुषु स्वसुखतृष्णासु निरभिलाषा एव जिगीषवः । यदुक्तम् —

'स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ।

(क) १. — यह जो कहा गया है कि 'सर्वोत्कृष्ट होना ही उदात्तता है'— तो (यहाँ उल्लेखनीय यह है कि) सर्वोत्कृष्ट होने की वृत्ति का जीमूतवाहन आदि में अभाव नहीं है। उसमें सर्वोत्कृष्टता उदात्तता है, क्योंकि 'विजिगीषुता' विविध प्रकार की होती है, वह एक ही प्रकार की नहीं होती। शौर्य, त्याग, एवं दया आदि गुणों से दूसरों को जीत लेने में भी 'विजिगीषुता' होती है। वास्तव में जो इन गुणों से दूसरों को जीत लेता है, उनसे उत्कृष्ट हो जाता है, वह भी विजिगीषु ही माना जाता है। विजिगीषु उसे नहीं माना जा सकता जो शौर्य से दूसरों का अपकार करने, हानि पहुँचाने या उनका धन छीनने में ही प्रवृत्त होता है। ऐसा मान लेने पर तो डाकुओं, चोरों को भी (जो राह चलतों को लूट लेते हैं) धीरोदात्त मानने का दोष उत्पन्न हो जायगा। यह ठीक नहीं है। (अर्थात् चोर—डाकू भी धीरोदात्त नायक माने जाने लगेंगे।)।

रामदेरिति। यदि यह कहा जाय कि रावण का वध करके उसका राज्य आदि छीन लेने वाले राम आदि की उदात्तता का क्या होगा? अर्थात् राम आदि भी उदात्त नायक न कहला सकेंगे। इसका उत्तर यह है कि राम आदि धीरोदात्त नायकों में जगत् के पालन करने का गुण विद्यमान है, क्योंकि वे दुष्टों को दण्डित करने में प्रवृत्त हैं। प्रसङ्गवश — गौणरूप से उन्हें राज्य आदि का लाभ हो जाता है, (उनका प्रधान कार्य दुष्टों को दण्ड देना है, किसी के धन आदि को लूटने के लिए वे प्रवृत्त नहीं हुए है, अतः वे उदात्त नायक हैं, इसमें सन्देह नहीं है।) जीमूतवाहन ने तो प्राणों का भी परित्याग करके दूसरों का कल्याण — उपकार ही किया है। अतः वे सर्वोत्कृष्ट हैं (सबसे बढ़कर हैं) इस प्रकार जीमूतवाहन उदात्त ही नहीं है, अपितु वे उदात्ततम हैं।

यच्चेति। १. पूर्व में 'तिष्ठन् भाति' (नागा० १.७) आदि के द्वारा जीमूतवाहन की विषय पराङ्मुखता व्यक्त की गई है, वह समुचित ही है, क्योंकि अपने सुख की तृष्णा (अभिलाषा) कृपणता (कायरता) को उत्पन्न करने वाली होती है। इसके विपरीत विजिगीषुओं में तृष्णा के प्रति पराङ्मुखता ही रहती है। वे तृष्णा से सर्वथा अभिलाषरहित रहते हैं।

यदुक्तमिति। (२) (शाकुन्तल में दुष्यन्त के प्रति) यही कहा भी गया है —

स्वसुखेति। 'आप अपने सुख से अपने को निरभिलाष रखते हुए (अपनी)

अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छाययोपाश्रितानाम् ॥' (शाकु० ५.७)

इत्यादिना । मलयवत्यनुरागोपवर्णनं त्वशान्तरसाश्रयं शान्तनायकतां प्रत्युत निषेधति । शान्तत्वं चानहंकृतत्वं, तच्च विप्रादेरौचित्यप्राप्तमिति वस्तुस्थित्या विप्रादेः शान्तता न स्वपरिभाषामात्रेण । बुद्धजीमूतवाहनयोस्तु कारुणिकत्वाविशेषेऽपि सकाम-निष्कामकरुणत्वादिधर्मत्वाद्भेदः । अतो जीमूतवाहनादेर्धीरोदात्तत्वमिति ॥

अथ धीरोद्धतः —

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः ॥ ५ ॥
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः ।

दर्पः — शौर्यादिमदः । मात्सर्यम् — असहनता । मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तु-प्रकाशनम् — माया । छद्म — वञ्चनामात्रम् । चलः — अनवस्थितः । चण्डः — रौद्रः ।

प्रजा के लिये प्रतिदिन कष्ट उठाते हैं। अथवा आपका कार्य—व्यापार ही इस प्रकार का है। क्योंकि वृक्ष अपने सिर पर भयङ्कर धूप को सहन करता है, (किन्तु) अपनी छाया के द्वारा अपने आश्रय को प्राप्त हुए प्राणियों के सन्ताप को दूर किया करता है।' (इत्यादि के द्वारा तृष्णा से सर्वथा निरभिलाष होना ही व्यक्त किया गया है।)

मलयतीति। (ख) और यह कहना कि जीमूतवाहन तथा मलयवती के अनुराग का निबन्धन, शान्तरस के अनुपयुक्त होने से दोषास्पद है,—तो उसका उत्तर यह है कि उक्त वर्णन ही शान्तनायकता का निषेध करता है, (अर्थात् नायक धीरशान्त नहीं है।)

शान्तत्वमिति। (ग) वस्तुतः शान्तता का अर्थ है अहङ्कार से रहित होना, और यह अहङ्कार—राहित्य विप्र वर्ण में निसर्गतः होता है। अर्थात् शान्तता का गुण विप्र आदि में होना उचित ही है। केवल अपने द्वारा निर्मित परिभाषा मात्र से ही वे धीरप्रशान्त मान लिये गये हों ऐसा नहीं है। (यथार्थतः ब्राह्मण आदि में शान्तता पाई जाती है।)।

बुद्धेति। १. बुद्ध और जीमूतवाहन में यद्यपि करुणा समान रूप से परिलक्षित होती है, तथापि दोनों की करुणा में भेद है। बुद्ध की करुणा निष्काम है, तथा जीमूतवाहन की सकाम । इसीलिए जीमूतवाहन आदि धीरोदात्त नायक ही है ।

४. धीरोद्धत —

अथेति। अब धीरोद्धत नायक का लक्षण बताते हैं —

कारिकार्थ — दर्पेति । अत्यधिक घमण्ड और ईर्ष्या (मात्सर्य) से युक्त, माया और कपट से परिपूर्ण, अहङ्कारी, चञ्चल, क्रोधी तथा स्वयं की प्रशंसा करने वाला (नायक धीरोद्धत) होता है ॥ ५—६ ॥

वृत्त्यर्थ — दर्प इति । दर्प का अर्थ है—शौर्य आदि का घमण्ड, दूसरों के उत्कर्ष आदि को सहन न करना मात्सर्य (ईर्ष्या) है। मन्त्र शक्ति से अविद्यमान वस्तु को प्रकाशित—प्रकट—करना माया है । दूसरों को ठगना छल (छद्म) कहा जाता है। चञ्चल से तात्पर्य है, जो अस्थिर हो, (अस्थिर चित्तवृत्तिवाला)। चण्ड का अर्थ है — अत्यन्त

विकत्थनः — स्वगुणशंसी, धीरोद्धतो भवति । यथा जामदग्न्यः — 'कैलाशोद्धारसार-त्रिभुवनविजय' (महावीर० २.१६) इत्यादि । यथा च रावणः — 'त्रैलोक्यैश्वर्यलक्ष्मी-हठहरणसहा बाहवो रावणस्य ।' इत्यादि ॥

धीरललितादिशब्दाश्च यथोक्तगुणसमारोपितावस्थाभिधायिनः, वत्सवृषभ-

---

क्रोधी स्वभाव का । स्वयं के गुणों की प्रशंसा करने वाला नायक **'विकत्थन'** कहा जाता है। इन गुणों से युक्त नायक 'धीरोद्धत' प्रकृति का होता है। जैसे — (**महावीरचरित** नाटक में) **परशुराम** की इस उक्ति — 'कैलास को उठाने तथा त्रिभुवन को जीतने में समर्थ' इत्यादि तथा रावण की इस उक्ति — 'रावण की भुजाएँ त्रैलोक्य के ऐश्वर्य की लक्ष्मी का बलात् अपहरण करने वाली हैं' — इत्यादि में **धीरोद्धता** व्यक्त होती है ।

शङ्का — यहाँ एक शङ्का उत्पन्न होती है कि एक ही नायक किसी महाकवि के द्वारा कहीं धीरललित के गुणों से युक्त वर्णित किया जाता है तो कहीं **धीरोदात्त** के गुणों से समन्वित । यह कैसे संभव है ? क्योंकि एक नायक तो एक ही तरह का हो सकता है, न कि कई तरह का । जैसे **दुष्यन्तादि** धीरोदात्त नायकों में जो कला प्रियता और रागमयता अंकित की गई है तथा जो **धीरललित** के गुण हैं — समुचित प्रतीत नहीं होते ।

समाधान — वस्तुतः ऐसी शङ्का करना उचित नहीं है । इसे स्पष्ट करते हुए **वृत्तिकार** कहते हैं कि —

धीरललितेति। धीरललित आदि पारिभाषिक शब्द तत्तत्प्रसंग में वर्णित गुणों से समारोपित अवस्था के वाचक (बोधक) हैं। एक ही **नायक** में — कभी **ललित श्रेणी** की अवस्था, कभी **शान्त श्रेणी** की अवस्था, कभी **उदात्त श्रेणी** की अवस्था और कभी **उद्धत श्रेणी** की अवस्था परिलक्षित हो सकती है । जिस प्रकार एक ही बैल जीवन की तीन अवस्थाओं को पार करता हुआ **शैशव** काल में **'वत्स'**, युवाकाल में **'वृषभ'** और वृद्धावस्था में परिणत होता हुआ **'महोक्ष'** कहलाता है; इसी प्रकार एक ही नायक में कभी धीरललित वाली अवस्था और कभी धीरप्रशान्त की अवस्था देखी जा सकती है। क्योंकि **उदात्त–ललित** आदि जाति (उदात्तत्व, ललितत्व या प्रशान्तत्व) के रूप में नायक में स्थित नहीं है। जिस प्रकार **गौ में वत्सत्वादि** जाति न होकर **केवल गोत्व** जाति है, वत्स–वृषभ–तथा महोक्ष केवल बैल के गुण मात्र हैं, उसी प्रकार **नायक** में **नायकत्व** जाति है, उदात्त, ललित, प्रशान्त आदि उसके **गुण विशेष** हैं।[१]

---

१. **वृत्तिकार** के कहने का तात्पर्य यह है कि घट (घड़े) से घटत्व जाति को अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि घट तथा घटत्व का अवियोग—कभी न छूटनेवाला आग तथा धुएँ जैसा सम्बन्ध है। किन्तु गुण के विषय में ऐसा नहीं है। घड़ा काला—नीला—पीला—लाल कई प्रकार का हो सकता है। उसके वर्ण को अर्थात् कृष्णत्व रक्तत्व, पीतत्व आदि को—उसकी जाति मानना समुचित नहीं होगा। **महाभाष्यकार** भी गुण को जाति नहीं मानते। नायक में अविनाभाव सम्बन्ध से नायकत्व की स्थिति है ललितादि गुणों की नहीं। अतः ललितादिगुण तो केवल — नायक की तत्तदवस्था विशेष के निरूपक मात्र हैं — ललितादिगुणास्तु अवस्था निरूपका एवेति'।

महोक्षादिशब्दवत्र जात्या कश्चिदवस्थितरूपो ललितादिरस्ति, तदा हि महाकविप्रबन्धेषु विरुद्धानेकरूपाभिधानमसङ्गतमेवस्यात्, तथा च भवभूतिनैक एव जामदग्न्यः –

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ।।' (महावीर० २.१०)

इत्यादिना रावणं प्रति धीरोदात्तत्वेन 'कैलासोद्धारसार–' (महा० २.१०) इत्यादिभिश्च रामादीन् प्रति प्रथमं धीरोद्धतत्वेन, पुनः – 'पुण्या ब्राह्मणजातिः' (महा० ४.२२) इत्यादिभिश्च धीरशान्तत्वेनोपवर्णितः । न चावस्थान्तराभिधानमनुचितम्, अङ्गभूत–नायकानां नायकान्तरापेक्षया महासत्त्वादेरव्यवस्थिततत्वात् । अङ्गिनस्तु रामादेरेकप्रबन्धो–

तदेति। यदि ललित–उदात्त आदि को **ललितत्वादि** या **उदात्तत्वादि** को जाति मानकर तत्तत्कोटि के नायक में उनका नियत (सर्वदा रहने वाला) सम्बन्ध माना जाय, तो फिर महाकवियों के प्रबन्धों में एक ही नायक में विविध प्रकार के रूपों (ललित, उदात्त, प्रशान्त–उद्धत) का वर्णन समुचित नहीं होगा। {महाकवियों ने अपने प्रबन्धों में परस्पर विरुद्ध विविध प्रकार के रूपों का चित्रण अंकित किया है, किन्तु यह परस्पर विरोधी वर्णन असंगत इसलिए प्रतीत नहीं होता क्योंकि ये ललितादि–उदात्तदादि गुण हैं (जाति नहीं) तथा एक ही नायक में विभिन्न अवसरों (अवस्थों) पर विभिन्न गुणों की स्थिति पाई जा सकती है। जैसे कि महाकवि **भवभूति** ने ही एक ही परशुराम को विविध गुणों वाला वर्णित किया है। क्योंकि गुण विनाशी तथा क्षणभंगुर है, अतः परस्पर विरोधी गुणों का भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में एक ही नायक में पाया जाना असंगत या अनुचित नहीं है।}

तथा चेति। जैसे कि भवभूतिकृत **महावीरचरित** के परशुराम में कई गुणों का समावेश परिलक्षित होता है। **एक ओर** रावण के प्रति उनका यह सन्देश –

ब्राह्मणेति। 'ब्राह्मणों के अपमान का परित्याग कर देना तुम्हारे कल्याण के लिए है। परशुराम वैसे तुम्हारा मित्र है, लेकिन (ब्राह्मणों का अपमान करने पर) वह क्रोधित हो उठता है ।' परशुराम के **धीरोदात्तत्व** को व्यक्त करता है। वहीं **दूसरी ओर** राम के प्रति उनकी यह उक्ति – *'कैलासोद्धार'* उनके **धीरोद्धत** रूप को ही प्रकट करती है। **तीसरी ओर** पुनः *'ब्राह्मण जाति पवित्र है।'* – इस प्रकार का कथन उनके **धीरशांत** रूप को व्यक्त करता है। इस प्रकार भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में परशुराम का चित्रण कुछ अनुचित नहीं है।

शङ्का – इस पर पुनः यह प्रश्न उद्भवित होता है कि क्या एक ही नायक में अवस्थान्तर का वर्णन (चित्रण) उचित है?

समाधान – **नचेति।** यह शङ्का भी उचित नहीं है। क्योंकि अप्रधान (अङ्गभूत) नायकों में महासत्त्वादि गुण अङ्गी (प्रधान) नायक की अपेक्षा न्यून तथा अव्यवस्थित ही रहते हैं। अर्थात् उनकी कोई खास नियत व्यवस्था नहीं होती। {इसलिए अप्रधान (अङ्गभूत) नायकों का भिन्न–भिन्न अवस्थाओं का चित्रांकन समुचित ही जान पड़ता है। वे किसी के प्रति उद्धत हो सकते हैं और किसी के प्रति शान्त भी हो सकते हैं। किन्तु

पात्तान् प्रत्येकरूपत्वादारम्भोपात्तावस्थातोऽवस्थान्तरोपादानमन्याय्यम्, यथोदात्तत्वाभिमतस्य रामस्य छद्मना बालिवधादमहासत्त्वतया स्वावस्थापरित्याग इति ॥

वक्ष्यमाणानां च दक्षिणाद्यवस्थानाम् 'पूर्वां प्रत्यन्यया हृत:' इति नित्यसापेक्षत्वेनाविर्भावादुपात्तावस्थातोऽवस्थान्तराभिधानमङ्गाङ्गिनोरप्यविरुद्धम् ॥

प्रधान नायक की स्थिति ऐसी नहीं है। जो प्रधान नायक राम आदि हैं, उनकी एक प्रबन्ध में वर्णित अन्य सभी पात्रों के प्रति एकरूपता ही होनी चाहिए। अर्थात् प्रधान नायक राम आदि के जिसरूप का उपादान प्रारम्भ किया जाय उनकी उस अवस्था का उपादान अन्त तक होना चाहिए । उसी को कहते हैं —} किन्तु प्रधान (अङ्गी) नायक राम आदि में पूर्व वर्णित चार अवस्थाओं में से किसी एक अवस्था का वर्णन प्रारम्भ में करने के पश्चात् (उसी प्रबन्ध में) उनकी दूसरी अवस्था का चित्रण प्रारंभ करना अनुचित हैं। जैसे—उदात्त (धीरोदात्त) रूप में अभिमत राम का छल से (छिपकर) बालि-वध करना उनके महापराक्रम तथा उदात्त रूप के प्रतिकूल होने के कारण अपनी (उदात्त) अवस्था का परित्याग है।

{उनका यह कार्य उनके महासत्त्व में—दोष उत्पन्न कर देगा, अत: ऐसे अवसर पर मायुराज जैसे कुशल कवि अपने प्रबन्ध में उचित परिवर्तन कर ऐसे प्रसंग को राम आदि प्रधान नायक की धीरोदात्त प्रकृति के अनुरूप बना लेते हैं।}

वक्ष्यमाणानमिति। किन्तु आगे बतलाई जाने वाली नायक की दक्षिण आदि अवस्थाओं में "पहली के प्रति दूसरी के द्वारा अपनी ओर आकर्षित किया गया" आदि में तो एक दूसरी नायिका के प्रति नित्य सापेक्ष होने से प्रधान या अप्रधान दोनों ही नायक का वर्णित अवस्था से भिन्न दूसरी अवस्था में वर्णित करना कोई अनुचित नहीं।

{अर्थात्—आगे बतलाई जाने वाली—दक्षिण, शठ, धृष्ट आदि नायक की अवस्था—भेदों का एक ही नायक में—भिन्न—भिन्न अवस्थाओं में वर्णन करना समुचित है, अनुचित नहीं है।}

संक्षेप में प्रधान या अप्रधान कोई भी नायक यदि प्रारम्भिक अवस्था में दक्षिण नायक है तो वह बाद में शठ या धृष्ट नायक के रूप में चित्रित किया जा सकता है। क्योंकि 'दूसरी नायिका के द्वारा आकृष्ट किया गया नायक, जो पहले दक्षिण नायक के रूप में था, अब वह प्रथम नायिका के प्रति शठ या धृष्ट नायक के रूप में होता है।' — इस वचन के अनुसार ये (दक्षिण आदि) अवस्थाएँ नित्य सापेक्ष (परस्पर एक दूसरी को अपेक्षा से उत्पन्न होने वाली) हैं। इसलिए एक अवस्था के बिना दूसरी अवस्था का उत्पन्न होना सर्वथा असम्भव है। अत: यह उचित ही है कि अङ्गी तथा अङ्गभूत नायकों में एक अवस्था से भिन्न दूसरी अवस्था भी हो सकती है। उदाहरणार्थ—एक ही नायक जो पूर्व में ज्येष्ठा नायिका के प्रति अनुकूल—सहृदय—रहने से दक्षिण नायक कहलाता है, वही बाद में छिप—छिप कर कनिष्ठा नायिका से शृङ्गार चेष्टाएँ करने से शठ नायक कहलाता है और पश्चात् जब वह ज्येष्ठा नायिका के द्वारा चालाकी करता हुआ पकड़ा जाता है, तब वह धृष्ट नायक हो जाता है। इसलिए कहा गया है कि दक्षिण आदि

अथ शृङ्गारनेत्रवस्थाः –

स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः ॥ ६ ॥

नायकप्रकरणात् पूर्वां नायिकां प्रत्यन्ययाऽपूर्वनायिकयाऽपहृतचित्तस्त्र्यवस्थो वक्ष्यमाणभेदेन स चतुरवस्थः । तदेवं पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येकं चतुरवस्थत्वेन षोडशधा नायकः ॥

अवस्थाओं का अवस्थाभेद से प्रधान नायक में भी आरोपित करना उचित है, अनुचित नहीं है ।

शारदातनय द्वारा प्रतिपादित लक्षण भी उपर्युक्त भाव को ही व्यक्त करता है। उनका कहना है कि – धीरोद्धत नायक आत्मश्लाघी, चंचल, क्रोधी, माया और कपट से युक्त, ईर्ष्या से भरा हुआ तथा अहंकारी होता है। इन विशेष लक्षणों में जो सामान्य गुण कहे गये हैं, वे (गुण) उन नायकों के भेदों में कहीं–कहीं कल्पित कर लेने चाहिए । समान गुणों में जो माया, कपट आदि विरोधी गुण हैं, वे नायकों के असामान्य गुण हैं –

॥ विकत्थनश्चलश्चण्डो मायाछद्मपरायणः। समत्सरश्चाहङ्कारी धीरोद्धत इतीरितः॥ विशेषलक्षणेष्वेषु ये सामान्य गुणाः स्मृताः॥ ते तन्नायक भेदेषु कल्पनीयाः क्वचित्क्वचित् । समानानां गुणानां ये मायाच्छद्मादयो गुणाः॥ विरोधिनस्तेऽसामान्या गुणाः स्युर्नायकेषु तु॥ (भा० प्र० ४।१५–१६) ॥

अथेति। अब ग्रन्थकार–**शृङ्गारी**–नायक की (शृंगार–रसविषयक) अवस्थाओं का वर्णन करते हैं –

स अन्यया हृतः पूर्वां प्रति दक्षिणः शठः धृष्टः **इत्यन्वयः** ॥ ६ ॥

कारिकार्थ – स इति । अन्य नायिका के द्वारा आकर्षित किया हुआ (वह) नायक पहली नायिका **के प्रति दक्षिण, शठ या धृष्ट (प्रकृति का) होता है ॥ ६ ॥**

वृत्त्यर्थ – नायकेति । नायक का प्रकरण होने से – यहाँ 'सः' से तात्पर्य नायक है। अन्य नायिका के द्वारा आकर्षित किये हुए हृदय वाले (नायक) की पूर्वा (पहली) नायिका के प्रति तीन अवस्थाएँ होती हैं। और आगे वर्णित किये जाने वाले ('अनुकूल' नामक नायक) भेद से उसी नायक की चार अवस्थाएँ होती है। इस प्रकार पूर्वोक्त (धीरोदात्त आदि) चारों नायकों में प्रत्येक की (दक्षिण आदि) चार अवस्थाएं होने से नायक सोलह प्रकार के होते हैं। (वे इस प्रकार हैं–)

१. धीरललित,	२. धीरोदात्त,	३. धीरोद्धत,	४. धीरशान्त
दक्षिण	शठ	धृष्ट	अनुकूल

{अर्थात् प्रत्येक प्रकार का नायक दक्षिण, शठ, धृष्ट तथा अनुकूल होता है। इस प्रकार धीर ललित आदि ४ × प्रत्येक के दक्षिण आदि ४ = १६} नायक के भेद १६ प्रकार के होते हैं ॥ ६ ॥

तत्र –

दक्षिणोऽस्यां सहृदयः –

योऽस्यां ज्येष्ठायां हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिणः। यथा ममैष –

'प्रसीदत्यालोके किमपि किमपि प्रेमगुरवो
रतिक्रीडाः कोऽपि प्रतिदिनमपूर्वोऽस्य विनयः ।
सविश्रम्भः कश्चित्कथयति च किञ्चित्परिजनो
न चाहं प्रत्येमि प्रियसखि किमप्यस्य विकृतिम् ।।'

यथा वा –

'उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः ।
उपचारविधिर्मनस्विनीनां ननु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः ।।' (मालवि० ३.३)

---

१. **तत्रेति।** उनमें अर्थात् दक्षिण, शठ और धृष्ट में {दक्षिण नायक का लक्षण इस प्रकार है}

कारिकार्थ – दक्षिण इति। इस (ज्येष्ठा–पूर्वा–नायिका) के प्रति सहृदय रहने वाला नायक दक्षिण नायक होता है ।

वृत्त्यर्थ – य इति। जो (अन्या नायिका के द्वारा अपहृत चित्तवाला होने पर भी) इस ज्येष्ठा (अपनी पूर्वा परिणीता) नायिका के प्रति सहृदयता का व्यवहार करता है, वह दक्षिण नायक होता है। जैसा मेरा (धनिक का) ही उदाहरण है –

{नायिका से उसकी सखी नायक के असत्याचरण के विषय में कहती है, किन्तु नायक का व्यवहार ज्येष्ठा नायिका के प्रति इतना प्रेमपूर्ण होता है कि उसे सखी के शब्दों में विश्वास ही नहीं हो पाता कि उसका प्रेमी अब किसी अन्या नायिका के प्रति आसक्त हो गया है। नायक के प्रेमपूर्ण व्यवहार के विषय में नायिका अपनी सखी से कहती है } –

प्रसीदतीति। 'वह (मेरा प्रेमी) मुझे देखते ही प्रसन्न हो जाता है। उसकी रति–क्रीडाएँ कुछ–कुछ विशेष प्रेम–पूर्ण होती हैं। उसका विनय कुछ प्रतिदिन अपूर्व ही हुआ करता है। यदि कोई विश्वसनीय परिजन उसके (मेरे प्रेमी के) विषय में कुछ (अर्थात् अन्य सुन्दरी के प्रति उसका प्रेम–व्यवहार) कहता है, तो भी हे सखि ! मैं स्वयं उसके विकृत व्यवहार तथा परिवर्तन का विश्वास नहीं कर पाती हूँ।'

यथा वेति। अथवा – जैसे मालविकाग्निमित्र में राजा कहता है –

उचित इति। 'प्रेम को आसानी से तोड़ा जा सकता है। क्योंकि प्रेम को समाप्त करने के अनेक कारण देखे गये हैं। परन्तु कतिपय लोग ऐसा न कर पूर्व की प्रेयसी के प्रति पूर्व की अपेक्षा कहीं अधिक प्रेम व्यक्त–प्रदर्शन करते हैं । किन्तु मानिनी नायिकाओं के लिए नायक की यह उपचार विधि, नायक का यह प्रेम–व्यवहार, भले ही पूर्व की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा हो, फिर भी प्रेम–भाव से शून्य ही रहता है।'

अथ शठः –

– गूढविप्रियकृच्छठः ।

दक्षिणस्यापि नायिकान्तरापहृतचित्ततया विप्रियकारित्वाविशेषेऽपि सहृदयत्वेन शठाद्विशेषः, यथा –

'शठोऽन्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्यसहसा
यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः ।
तदेतत्क्वाचक्षे घृतमधुमयत्वद्बहुवचो –
विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ।।' (अमरु० १०९)

अथ धृष्टः –

व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टो –

यथाऽमरुशतके –

---

२. **अथेति।** ग्रन्थकार अब **शठ**–नायक का लक्षण बताते हैं –

कारिकार्थ – गूढेति। पूर्व नायिका का (ज्येष्ठा नायिका का) छिपकर अप्रिय करने वाला नायक 'शठ' नायक कहलाता है ।

वृत्त्यर्थ – दक्षिणस्येति। अन्य नायिका के द्वारा अपहृतचित्त (हृदय) होने के कारण दक्षिण नायक में भी (शठ नायक की तरह) **विप्रियकारित्व** विद्यमान रहता ही है, अर्थात् शठ और दक्षिण दोनों ही नायक ज्येष्ठा नायिका (पूर्वनायिका) का अप्रिय समान रूप से करते हैं। फिर भी दक्षिण नायक में ज्येष्ठा नायिका के प्रति सहृदयता रहती है, वह ज्येष्ठानायिका का हृदय दुखाना नहीं चाहता, किन्तु शठ नायक हृदय से शुद्ध न होने के कारण, इसकी चिन्ता नहीं करता। यही दोनों नायकों में विशेष **अन्तर** है।

यथेति। {**अमरुशतक** में नायिका की एक विदग्धा सखी **'शठ'** नायक को उलाहना देती हुई कहती है–}

शठ इति। 'हे धूर्त ! शठ ! (मेरी सखी का) आलिङ्गन करने पर किसी अन्य रमणी की करधनी की मणियों की रुनझुन (शब्द) को सुनकर तुमने जो सहसा ही अपने बाहुपाश को शिथिल कर दिया था, (आलिंगन को शिथिल कर दिया था) इस (गुह्य) बात को कहाँ कहूँ? घृत और मधु मिश्रित तुम्हारी मीठे–मीठे वचन रूपी विष के नशे में खोई (मुग्ध हुई) हुई मेरी सखी को (तुम्हारी धूर्तता का) कुछ भी ज्ञान नहीं हो पाता ।' (अतः मैं उसे क्या और कैसे समझाऊँ)।।

३. **धृष्टनायक – अथेति।** ग्रन्थकार अब **धृष्टनायक** का लक्षण बताते हैं –

कारिकार्थ – व्यक्तेति। जिस नायक के शरीरावयवों पर अन्य नायिका के साथ रति क्रीड़ा करने के चिह्न स्पष्ट रूप से दिखाई देते हों, वह धृष्ट नायक कहलाता है।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – **अमरुशतक** में {कोई नायक रात में परनायिका के साथ रतिक्रीड़ा करने के पश्चात् प्रातःकाल जब अपनी प्रथम नायिका के सम्मुख आया तब प्रथम नायिका की मनोदशा यह हुई} –

'लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपरः ।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः ।।' (अमरु० ६०)

भेदान्तरमाह —

—ऽनुकूलस्त्वेकनायिकः ।। ७ ।।

यथा —

'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद् —
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ।।' (उत्तर० १.३८)

किमवस्थः पुनरेषां वत्सराजादिर्नाटिकानायकः स्यात्! इत्युच्यते —

लाक्षेति। 'प्रिय के ललाट पर चारों ओर लाक्षारस (महावर का रंग) का चिह्न (जो रूठी हुई नायिका को मनाने के लिए नायिका के चरणों पर नायक का गिरना सूचित करता है) गले में केयूर—आभूषण का चिह्न (जो कि नायिका के द्वारा किये गये नायक का प्रगाढालिंगन को व्यक्त करता है) मुख पर काजल की कालिमा (जो नेत्र चुम्बन को सूचित करती है) नेत्रों पर ताम्बूल की लालिमा (जो कि नायिका के द्वारा किये हुए नेत्र चुम्बन को सूचित करती है) इत्यादि (चिह्न) कोपोद्दीपक मण्डन को देर तक देखकर मृगनयनी के श्वास—(प्रश्वास) लीलाकमल के मध्य में ही समाप्त हो गए ।'

{धृष्ट—ढीठ—अशिष्ट—अपराध करके निःशंक बना रहनेवाला नायक।}

४. **अनुकूलनायक — भेदान्तरेति।** अब ग्रन्थकार अन्य भेदों का लक्षण बताते हैं—

कारिकार्थ — अनुकूल इति। एक मात्र नायिका में ही आसक्त रहनेवाला नायक अनुकूल नायक होता है ।। ७ ।।

वृत्त्यर्थ — यथेति। जैसे — 'उत्तररामचरित' में राम कहते हैं —

अद्वैतमिति। 'जो सुख और दुःख में एक रूप हैं, और सभी अवस्थाओं में जो अनुकूल है, जिससे हृदय को विश्राम मिलता है, बुढ़ापे से जिसका माधुर्य (प्रेम) कम नहीं होता, कालान्तर से सभी (लज्जा, भय, आदि) आवरण दूर होने पर जो पूर्ण स्नेहरूप से अवशिष्ट रहता है—ऐसा वह कल्याणकारक अनुपम प्रेम जिसे प्राप्त होता है, वह निश्चित रूप से भाग्यवान् है ।'

किमिति। (अब प्रश्न है कि रत्नावली आदि) नाटिकाओं में वर्णित वत्सराज (उदयन) आदि किस अवस्था के नायक है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वृत्तिकार धनिक कहते हैं कि —

इत्युच्यत इति। रत्नावली नाटिका आदि में वर्णित नायक वत्सराज आदि का जब तक अन्य किसी से प्रेम नहीं हो पाता तब तक उसे अनुकूल कोटि का नायक माना

पूर्वमनुपजातनायिकान्तरानुरागोऽनुकूल:, परतस्तु दक्षिण: । ननु च गूढविप्रियकारित्वा–द्व्यक्ततरविप्रियत्वाच्च शाठ्यधाष्ट्येऽपि कस्मान्न भवत: । न तथाविधविप्रियत्वेऽपि वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्तेर्ज्येष्ठां नायिकां प्रति सहृदयत्वाद्दक्षिणतैव, न चोभयोर्ज्येष्ठा–कनिष्ठयोर्नायकस्य स्नेहेन न भवितव्यमिति वाच्यम्, अविरोधात् ।।

महाकविप्रबन्धेषु च –

स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसु –
द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याद्य च ।
इत्यन्त:पुरसुन्दरी: प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्रा: स्थितं नाडिका: ।।' (भोज० ३०२)

जाना चाहिए – {जैसे कामदेवपूजा तक – सागरिका के दर्शन होने के पूर्व तक वत्सराज अनुकूल कोटि का नायक है।} किन्तु उसके पश्चात् अन्य नायिका – सागरिका – में आसक्त होने पर वह दक्षिण कोटि का नायक बन जाता है।

नन्विति। इस पर **प्रश्न** उपस्थित होता है – कि जब वह (अन्य नायिका–(सागरिका) से प्रेम करता हुआ अपनी पूर्व नायिका–(ज्येष्ठानायिका–वासवदत्ता) का प्रच्छन्न रूप से अप्रिय करता है और उसका वह अपराध प्रकट भी हो जाता है तब वह (उदयन) **'शठ'** और **'धृष्ट'** कोटि का नायक क्यों नहीं कहलाता ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वृत्तिकार **धनिक** कहते हैं कि –

न तथेति। वत्सराज (उदयन) को **'शठ'** या **'धृष्ट'** कोटि का नायक नहीं माना जा सकता। यद्यपि वत्सराज (उदयन) सागरिका (रत्नावली) के प्रति प्रेमासक्त होकर अपनी ज्येष्ठा नायिका–वासवदत्ता–का अपराध ही करता है, तथापि नाटिका में प्रारम्भ से अन्त तक वत्सराज का व्यवहार वासवदत्ता के प्रति सहृदयतापूर्ण ही रहता है, इसलिए उसे दक्षिण कोटि के नायक के रूप में ही समझा जाना चाहिए। (अर्थात् वह **दक्षिण नायक** ही कहा जायगा)

प्रश्न – {नायक का स्नेह दोनों नायिकाओं–ज्येष्ठा और कनिष्ठा–से एक साथ कैसे हो सकता है ? अर्थात् दोनों के प्रति समान प्रेम नहीं हो सकता।} इसका उत्तर वृत्तिकार **धनिक** देते हुए कहते हैं कि –

न चेति। ऐसा कहना समुचित नहीं है। क्योंकि इसमें कोई (अर्थात् दोनों से एक साथ स्नेह करने–या होने में) विरोध नहीं है। दोनों नायिकाओं में समान प्रीति हो सकती है। महाकवियों के प्रबन्धों में सभी नायिकाओं के साथ (पक्षपात रहित) समान प्रेम का वर्णन वर्णित किया हुआ परिलक्षित होता है। यथा – {इस पद्य में – कञ्चुकी राजा के विषय में कहता है –}

स्नातेति। 'कुन्तलेश्वर की पुत्री रजोदर्शन के पश्चात् स्नान करके शुद्ध हुई है। (अत: राजा को कुन्तलेश्वर की पुत्री के यहाँ जाना चाहिए, (धार्मिक विचार से) अङ्ग देश के राजा की बहिन की क्रमानुसार आज बारी है। कमला ने यह रात जुए में जीत ली है और आज अप्रसन्न देवी (महारानी) को भी प्रसन्न करना है।''–इस प्रकार सम्पूर्ण

इत्यादावपक्षपातेन सर्वनायिकासु प्रतिपत्त्युपनिबन्धनात् ।।

तथा च भरतः –

'मधुरस्त्यागी रागं न याति मदनस्य नापि वशमेति ।
अवमानितश्च नार्या विरज्यते स तु भवेज्ज्येष्ठः' ।। (ना०शा० २३.५६)

इत्यत्र 'न रागं याति न मदनस्य वशमेति' इत्यनेनासाधारण एकस्यां स्नेहो निषिद्धो दक्षिणस्येति । अतो वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्तिस्थितं दाक्षिण्यमिति ।।

षोडशानामपि प्रत्येकं ज्येष्ठमध्यमाधमत्वेनाष्टाचत्वारिंशन्नायकभेदा भवन्ति ।।

सहायानाह –

पताकानायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः ।
तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिदूनश्च तद्गुणैः ।। ८ ।।

बातें जानकर, अन्तःपुर की रानियों के विषय में जब मैंने राजा को विज्ञापित किया तब महाराज कुछ निश्चय न कर सकने के कारण दो–तीन घड़ी तक किंकर्तव्यविमूढ़ हो शान्त बैठे रहे ।'

इत्यादाविति। इत्यादि में सभी नायिकाओं के प्रति पक्षपातरहित प्रेम वर्णित होने से दो नायिकाओं में एक सा प्रेम होने में कोई विरोध नहीं है।

तथा चेति। जैसा कि आचार्य भरत ने भी कहा है –

मधुर इति। 'ज्येष्ठ नायक (स्वभाव से) मधुर तथा त्यागी होता है। वह (किसी एक नायिका के प्रति) राग (विषय) में आसक्त नहीं होता, न वह काम के वशीभूत होता है। नारी के द्वारा अपमानित (तिरस्कृत) होने पर वह विरक्त हो जाता है ।'

इत्यत्रेति। भरत द्वारा कथित उपर्युक्त ज्येष्ठ (दक्षिण) नायक के श्लोक में – **''विशिष्टरूप से अनुरक्त नहीं होता'' ''काम के वशीभूत भी नहीं होता ।''** इस कथन के द्वारा दक्षिण नायक का किसी एक नायिका के प्रति अत्यधिक (आसक्ति)–स्नेह का निषेध किया गया है। अतः वत्सराज (उदयन) आदि का (रत्नावली में) प्रबन्ध की समाप्ति तक दक्षिण नायक होना सिद्ध होता है। {अर्थात् वह दक्षिण कोटि का नायक है।}

षोडशानामिति। इसके पूर्व नायकों के १६ सोलह प्रकार बताये गये हैं। ये पुनः ज्येष्ठ (उत्तम) मध्यम तथा अधम कोटि के भी हो सकते हैं, इस प्रकार इनके (१६ × ३) = ४८ भेद होते हैं । (धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, और धीरप्रशान्त प्रत्येक के दक्षिण, शठ, धृष्ठ और अनुकूल, पश्चात् चार–चार भेद से नायक के अड़तालीस भेद हो जाते हैं।)

सहायानिति। अब ग्रन्थकार नायक के सहायकों के लक्षण बताते हैं –

कारिकार्थ – पताकेति। पताका नायक तो (प्रधान–नायक से) अन्य भिन्न–दूसरा ही होता है। इसे पीठमर्द कहा जाता है। वह चतुर तथा बुद्धिमान् होता है। वह प्रधान नायक का ही अनुचर एवं भक्त होता है। तथा प्रधान नायक के गुणों से कुछ न्यून–गुण वाला होता है ।। ८ ।।

प्रागुक्तप्रासङ्गिकेतिवृत्तविशेष: पताका । तन्नायक: पीठमर्द: प्रधानेतिवृत्तनायकस्य सहाय: । यथा **मालतीमाधवे** मकरन्द:, **रामायणे** सुग्रीव: ।।

सहायान्तरमाह –

एकविद्यो विटश्चान्यो, हास्यकृच्च विदूषक: ।

गीतादिविद्यानां नायकोपयोगिनीनामेकस्या विद्याया वेदिता विट:, हास्यकारी विदूषक:, अस्य विकृताकारवेषादित्वं हास्यकारित्वेनैव लभ्यते । यथा शेखरको **नागानन्दे** विट: । विदूषक: प्रसिद्ध एव ।।

अथ प्रतिनायक: –

लुब्धो धीरोद्धत: स्तब्ध: पापकृद्व्यसनी रिपु: ।। ९ ।।

तस्य नायकस्येत्थंभूत: प्रतिपक्षनायको भवति । यथा रामयुधिष्ठिरयो: रावण–दुर्योधनौ ।।

वृत्त्यर्थ – प्रागिति। इसके पूर्व कहा गया है (१–१३ में) कि **'पताका'** एक प्रासङ्गिक–इतिवृत्त–विशेष है। उसी (पताका इतिवृत्त का) नायक **'पीठमर्द'** होता है। जो प्रधान इतिवृत्त के नायक का सहायक होता है। जैसे (भवभूति के) **'मालती–माधव'** नाटक में मकरन्द और 'रामायण' में सुग्रीव। (ये दोनों ही प्रधान नायक क्रमश: माधव व राम के गुणों से कुछ कम गुण वाले हैं।) ।। ८ ।।

सहायान्तरेति। अब ग्रन्थकार **'विट'** आदि अन्य सहायकों को बताते हैं –

कारिकार्थ – एक विद्य इति। किसी एक विद्या में निष्णात, (प्रधान) नायक का सहायक 'विट' कहलाता है। {जैसे –'नागानन्द' में शेखरक ।} विदूषक हास्य उत्पन्न करने वाला नायक का दूसरा सहायक होता है ।

वृत्त्यर्थ – गीतेति। नायक हेतु उपादेय ऐसी गीत आदि विद्याओं में से जो किसी एक विद्या का ज्ञाता होता है उसे **'विट'** कहते हैं । हँसी को उत्पन्न करने वाला पात्र **विदूषक** कहलाता है। इसका शारीरिक आकार तथा वेष आदि विकृत होता है। यह बात उसके हास्यकारक होने से ही व्यक्त होती है। जैसे – नागानन्द नाटक में **'शेखरक'** विट है। विदूषक तो प्रसिद्ध ही है। {अथवा 'विदग्ध माधव' में **मधुमङ्गल** ।}

प्रतिनायक – अथेति। ग्रन्थकार अब प्रतिनायक की परिभाषा बताते हैं –

कारिकार्थ – लुब्ध इति। लोभी, धीरोद्धत, स्तब्ध (अहंकारी, जिद्दी) पापी, व्यसनी, तथा (मुख्य नायक का) शत्रु प्रतिनायक होता है ।। ९ ।।

वृत्त्यर्थ – तस्येति। उस (मुख्य) नायक का इस प्रकार का प्रतिनायक होता है। जैसे – राम और युधिष्ठिर के (क्रमश:) **रावण** तथा **दुर्योधन** प्रतिनायक हैं।

{आचार्य **दण्डी** के विचार में – महाकाव्य (काव्य–नाटक आदि) में प्रतिनायक के भी उच्चवंश, शौर्य, विद्या आदि की प्रशंसा करनी चाहिये, क्योंकि इससे प्रतिनायक पर विजय प्राप्त करने वाले नायक का उत्कर्ष बढ़ता है।

अथ सात्त्विका नायकगुणाः –

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं स्थैर्यतेजसी ।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सात्त्विकाः पौरुषा गुणाः ॥ १० ॥

तत्र (शोभा यथा) –

नीचे घृणाधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते ।

नीचे घृणा । यथा वीरचरिते –

'उत्तालताडकोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पितः ।
नियुक्तस्तत्प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति ॥' (महावीर० १.३७)

(काव्यादर्श–१ । २१,२२) वस्तुतः 'प्रतिनायक'–चरित के चित्रण के बिना नायक चरित का सौन्दर्य नहीं उभरता। काव्य–नाट्य–आचार्यों ने प्रतिनायक को 'धीरोद्धत' स्वभाव का ही देखा है। धीरोद्धत होने से प्रतिनायक के लिये अनवस्थित चित्त, रौद्रस्वभाव, मदोन्मत्त, दम्भबहुल या आत्मश्लाघी होना स्वाभाविक ही है।}

नायक के सात्त्विक गुण –

अथेति। अब ग्रन्थकार नायक के सात्त्विक गुणों को बताते हैं –

कारिकार्थ – शोभेति। १. शोभा, २. विलास, ३. माधुर्य, ४. गम्भीरता, ५. स्थिरता, ६. तेजस् ७. ललित, तथा ८. औदार्य – ये आठ नायक के सात्त्विक गुण हैं ॥ १० ॥

{यद्यपि स्तम्भ आदि सात्त्विक भावों का विवेचन आगे (४.४ मे) किया जायगा, तथापि आगे बतलाये जाने वाले स्तम्भादि गुण नायक और नायिका दोनों के ही सामान्य गुण हैं, और उक्त कारिका में प्रतिपादित शोभा आदि (पुरुष) नायक के ही गुण हैं इसी बात को कारिकागत 'पौरुषा' शब्द से प्रतिपादित किया गया है।}

१. शोभा – तत्रेति। उपर्युक्त आठ गुणों में शोभा–गुण का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – नीच इति। इस (शोभा नामक गुण) में नीच के प्रतिघृणा की भावना, अधिक गुणवाले व्यक्ति के प्रति स्पर्धा तथा शूरता एवं दक्षता निहित रहती है।

नीच के प्रति घृणा का उदाहरण जैसे भवभूतिकृत – 'महावीरचरित' में इस प्रकार है –

उत्तालेति। 'ताल वृक्ष के समान ऊँची ताड़का राक्षसी के उत्पातों को देखकर भी (राम) थोड़े भी प्रकम्पित नहीं हुए। किन्तु उसके वध के लिए प्रेरित–नियुक्त–किये जाने पर भी उसके स्त्री होने के कारण द्विविधा में (अर्थात् स्त्री होने के कारण इसे मारे या न मारे) पड़ गये।'

{उक्त पद्य में राम में नीच अर्थात् स्त्री–ताड़का के प्रति घृणा–भाव व्यक्त किया गया है।}

गुणाधिकैः स्पर्धा । यथा –

'एतां पश्य पुरःस्थलीमिह किल क्रीडाकिरातो हरः
कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः ।
इत्याकर्ण्य कथाद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापते –
र्मन्दं मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डलम् ॥'

शौर्यशोभा यथा, **ममैव** –

'अन्त्रैः स्वैरपि संयताग्रचरणो मूर्च्छाविरामक्षणे
स्वाधीनव्रणिताङ्गशस्त्रनिचितो रोमोद्गमं वर्मयन् ।
भग्नानुद्वलयन्निजान्परभटान्सन्तर्जयन्निष्ठुरं –
धन्यो धाम जयश्रियः पृथुरणस्तम्भे पताकायते ॥'

दक्षशोभा । यथा **वीरचरिते** –

'स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक–
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ॥' (महा० १.५३)

(ii) **स्पर्धा – गुणाधिकैरिति**। अधिक गुणवाले व्यक्तियों के प्रति **स्पर्धा** का उदाहरण निम्नोक्त है –

एतामिति। 'इसे देखिये; सामने दिखाई देनेवाली वही स्थली (सूखीभूमि) है जहाँ पर क्रीड़ापूर्वक किरात का रूप धारण कर लेने वाले भगवान् शंकर के मस्तक पर अर्जुन ने अपने धनुष से तीव्र प्रहार किया था। सुभद्रापति अर्जुन की इस अद्भुत कथा को सुनकर हिमालय पर्वत पर जिसने (महादेव) शनैः शनैः भुजाओं का धनुषाकार–मण्डल बनाया ।' (यहाँ अर्जुन के शौर्य से प्रभावित होकर उसके गुणों के प्रतिस्पर्धा व्यक्त की गई है।)

(iii) **शौर्यशोभा – शौर्यशोभेति**। इसका उदाहरण मेरा (**धनिक** का) ही यह पद्य है –

अन्त्रैरिति। 'अपनी (उदर की) अँतड़ियों से बँधे हुए चरणाग्र वाला (अर्थात् – उदर में बाणों के लगने से बाहर निकली हुई अँतड़ियों से जिसके पैरों के अग्रभाग बँध से गए हैं ऐसा) अपने शरीर घावों से तथा शस्त्रों से व्याप्त (भरा हुआ) ऐसा परिलक्षित होता है, जैसे उत्साह के कारण शस्त्ररूप रोमाञ्च से कवच बनाए हुए है। अपने हारते हुए वीरों–युद्धाओं को पुनः उत्साहित करता हुआ और शत्रु सैनिकों को कठोरता से सन्तर्जित करता हुआ, जयश्री का निवास स्थान विशाल युद्धरूपी स्तम्भ पर पताका के सदृश शोभा देने वाला यह वीर प्रशंसार्ह है ।'

(iv) **दक्ष–शोभा – दक्षशोभेति** । का उदाहरण **महावीरचरित** के पद्य के द्वारा 'दक्ष–नायक' के (दशरूपक द्वितीय प्रकाश) उदाहरण के अवसर उद्धृत है, संपूर्ण श्लोक का अर्थ वहीं देखना चाहिए ।

अथ विलासः —

गतिः सधैर्या दृष्टिश्च विलासे सस्मितं वचः ॥ ११ ॥

यथा —

दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।
कौमारकेऽपि गिरिवद्गुरुतां दधानो
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥' (उत्तर० ६.१९)

अथ माधुर्यम् —

श्लक्ष्णो विकारो माधुर्यं संक्षोभे सुमहत्यपि ।

महत्यपि विकारहेतौ मधुरो विकारो माधुर्यम्। यथा —

'कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरं गण्डोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम् ।
मुहुः पश्यञ्छृण्वन्रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥' (हनु० १.१९)

---

२. विलास — अथेति। अब ग्रन्थकार विलास (नामक, सात्त्विक गुण) की परिभाषा बताते हैं —

कारिकार्थ — गतिरिति। विलास (नामक सात्त्विक गुण) में नायक की धैर्ययुक्त गति होती है, उसकी दृष्टि में धीरता रहती है, और उसकी वाणी मन्दहास्य युक्त रहती है ॥ ११ ॥

वृत्त्यर्थ — यथेति। भवभूति के 'उत्तररामचरित' में वाल्मीकि के आश्रम में कुश को देखकर **श्रीरामचन्द्र जी की उक्ति इस प्रकार है —**

दृष्टिरिति। 'इस बालक की दृष्टि त्रैलोक्य के बल और उत्साह को तृणवत् तुच्छ समझनेवाली है, इसकी धीर तथा उद्धत गति (चाल) पृथ्वी को भी दबा रही है। कुमारावस्था में भी पर्वत की तरह गुरुता—गौरव को धारण करता हुआ क्या साक्षात् वीर रस ही आ रहा है ? अथवा दर्प ।'

३. **माधुर्य — अथेति।** अब ग्रन्थकार माधुर्य नामक नायक के तीसरे सात्त्विक गुण का लक्षण बताते हैं —

कारिकार्थ — श्लक्ष्ण इति। महान् संक्षोभ रहते हुए भी (नायक) में मधुर विकार का होना 'माधुर्य' है ॥

वृत्त्यर्थ — महतीति। अत्यन्त तीव्र संक्षोभ उत्पन्न होने पर भी (नायक में) मधुर विकार का उत्पन्न होना माधुर्य (गुण) कहलाता है। जैसे — **'हनुमन्नाटक'** में राम—

कपोल इति। 'रघुवंशियों में सर्वश्रेष्ठ रामचन्द्रजी, हस्ति—शावक के दाँतों की शोभा का भी हरण करने वाले सीता के गण्डस्थलों पर कामोद्वेग से उत्पन्न मन्द हास्य से युक्त, कपोलों पर उत्पन्न हुए रोमाञ्चवाले अपने मुखारविन्द के प्रतिबिम्ब को पुनः

अथ गाम्भीर्यम् –

गाम्भीर्यं यत्प्रभावेन विकारो नोपलक्ष्यते ।। १२ ।।

मृदुविकारोपलम्भाद्विकारानुपलब्धिरन्येति माधुर्यादन्यद् गाम्भीर्यम् । यथा –

'आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रम: ।।' (महा ना० ३.२५)

अथ स्थैर्यम् –

व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नकुलादपि ।

यथा वीरचरिते –

'प्रायश्चितं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ।।' (महावीर० ३.८)

पुन: अवलोकन करते हुए तथा राक्षस सेना के कलकल को सुनते हुए अपनी जटाजूट की ग्रन्थि को दृढ़ कर रहे थे ।'

४. **गाम्भीर्य – अथेति।** अब ग्रन्थकार **गाम्भीर्य** नामक नायक के सात्त्विक गुण का लक्षण बताते है –

कारिकार्थ – गाम्भीर्यमिति। जिस (हर्ष, भय, क्रोध, शोक आदि मनोविकारों– भावावेशों) के प्रभाव से मुखाकृति पर किंचित् भी विकार (परिवर्तन) दिखाई न देता हो उसे 'गाम्भीर्य' कहा जाता है ।। १२ ।।

वृत्त्यर्थ – मृद्विति। माधुर्य में **मृदु विकार** परिलक्षित होता है, किन्तु गाम्भीर्य में **विकारों का एकदम अभाव** होता है। अत: माधुर्य गुण से भिन्न ही गाम्भीर्य गुण होता है ।

जैसे – **'महानाटक'** में राम – 'राज्याभिषेक' के लिए बुलाये गये किन्तु वन के लिये भेजे गये राम की मुखाकृति पर मुझे थोड़ा भी विकार नहीं दिखाई दिया।' (उक्त उदाहरण दश० २।४ में भी उद्धृत है।) ।। १२ ।।

५. **स्थैर्य – अथेति।** अब ग्रन्थकार **स्थैर्य** नामक नायक के सात्त्विक गुण का निरुपण करते हैं –

कारिकार्थ – व्यवसायादिति। विघ्न–समूहों के रहते हुए भी अपने निश्चय से अर्थात् प्रारम्भ किये गये कार्य से, विचलित न होना 'स्थैर्य' कहलाता है ।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे वीरचरित में विश्वामित्र के प्रति परशुराम की यह उक्ति –

प्रायश्चित्तमिति। 'आप जैसे पूज्य जनों का मैंने अतिक्रमण किया है, इसलिए प्रायश्चित कर लूँगा। किन्तु शस्त्रग्रहणरूप अपने महाव्रत–महान् प्रतिज्ञा को इस प्रकार दूषित न होने दूँगा ।।'

अथ तेजः —

अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि ॥१३॥

यथा —

'ब्रूत नूतनकूष्माण्डफलानां के भवन्त्यमी ।
अङ्गुलीदर्शनाद्येन न जीवन्ति मनस्विनः ॥'

अथ ललितम् —

शृङ्गाराकारचेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु ।

स्वाभाविकः शृङ्गारो मृदुः । ताथाविधा शृङ्गारचेष्टा च ललितम् । यथा ममैव —

'लावण्यमन्मथविलासविजृम्भितेन
स्वाभाविकेन सुकुमारमनोहरेण ।
किं वा ममेव सखि योऽपि ममोपदेष्टा
तस्यैव किं न विषमं विदधीत तापम् ॥'

---

६. तेज — **अथेति।** अब ग्रन्थकार 'तेज' नामक नायक के सात्त्विक गुण की परिभाषा बताते हैं —

प्राणात्ययेषु अपि अधिक्षेपादि अहसनम् तेजः इत्यन्वयः ॥

कारिकार्थ — अधिक्षेपेति । प्राण—नाश की सम्भावना उपस्थित होने पर भी जो अपमान को न सह सके उसे 'तेज' कहते हैं ॥१३॥

वृत्त्यर्थ — यथेति। जैसे — {धनुषभङ्ग के अवसर पर प्राणनाश की स्थिति में परशुराम के प्रति लक्ष्मण की यह उक्ति —}

ब्रूतेति। 'कहिए' — क्या हम कुम्हड़े की बतिया की तरह मनस्वी थोड़े ही हैं कि अंगुलि—दर्शनमात्र से ही मर जायँगें ।' (अर्थात्—मनस्वी जन दूसरे लोगों के अंगुली दर्शन आदि इशारों पर जीवित नहीं रहते ।) {यहाँ पर प्राण—संकट के उपस्थित होने पर भी लक्ष्मण की उक्ति में तेज का प्रदर्शन किया गया है।}

७. ललित — **अथेति ।** अब ग्रन्थकार ललित नामक नायक के सात्त्विक गुण का निरुपण करते हैं —

सहजम् मृदु शृङ्गारचेष्टात्वम् ललितम् इत्यन्वयः ॥

कारिकार्थ — शृङ्गारेति । शृङ्गार के अनुरूप स्वाभाविक मृदु तथा सुन्दर चेष्टाओं को करना ही 'ललित' है ॥

वृत्त्यर्थ — स्वाभाविक इति । स्वाभाविक—अर्थात् अव्याज मनोहर—शृङ्गार को मृदु' कहा जाता है। स्वाभाविक शृंगार चेष्टाएँ 'ललित' कहलाती है। जैसे मेरा ही अर्थात् वृत्तिकार धनिक का) श्लोक इस प्रकार है —

लावण्येति। (नायिका अपनी सखी से कहती है —) हे सखि ! स्वाभाविक मनोहर लावण्य—सौन्दर्य एवं कामजनित चेष्टाओं के स्फुरण द्वारा मेरा उपदेशक — मनोज जो मुझे

अथौदार्यम् –

प्रियोक्त्याऽऽजीविताद्दानमौदार्यं सदुपग्रहः ॥१४॥

प्रियवचनेन सहाऽऽजीविताव्धेर्दानमौदार्यं सतामुपग्रहश्च । यथा नागानन्दे –

'शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ॥' (५.१५)

सदुपग्रहो यथा –

'एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम् ।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ॥' (कुमार० ६.३३)

सन्तप्त करता है, उसी प्रकार उसे (नायक–को) भी क्या सन्तप्त – पीड़ित नहीं करता होगा?' ॥

८. **औदार्य – अथेति** । अब ग्रन्थकार औदार्य नामक नायक के सात्त्विक गुण का लक्षण बताते हैं –

प्रियोक्त्या आजीवितात् दानम् सदुपग्रहः च औदार्यम् **इत्यन्वयः** ॥१४॥

कारिकार्थ – प्रियोक्त्येति । प्रिय वचन के साथ आजीवन दान देना, यहाँ तक की दूसरों के लिए जीवन तक को उत्सर्ग कर देना एवं सज्जनों का सत्कार करना 'औदार्य' कहलाता है ॥१४॥

वृत्त्यर्थ – प्रियवचनेनेति । प्रिय वचन के साथ जीवनपर्यन्त दान देना और सज्जनों का सत्कार करना **'औदार्य'** है। जैसे – नागानन्द में (जीमूतवाहन गरुड़ को कहता है –)

शिरामुखैरिति। 'हे गरुड़ ! मेरे शरीर में अभी भी (पर्याप्त) मांस है, क्योंकि धमनियों के अग्रभाग से अभी भी रक्त स्रवित हो रहा है, अभी तो तुम भी तृप्त हुए से प्रतीत नहीं होते हो, तो फिर तुम मांस–भक्षण से विरत क्यों हो गए हो?' ॥

(यह उदाहरण दशरूपक के द्वितीय प्रकाश २.५ में भी उद्धृत है।

सदुपग्रह इति। सदुपग्रह का उदाहरण – (जैसे कुमारसंभव में सप्तर्षियों से हिमवान् ने इस प्रकार कहा –)

एतेवयमिति। 'यह हम (मैं हूँ) हैं, ये मेरी पत्नियाँ हैं, यह मेरी परमप्रेमास्पद कन्या है, इनमें से किससे आपका प्रयोजन है, कहिए, क्योंकि (रत्नादि) बाह्य वस्तुओं में तो आप रुचि नहीं रखते' ॥१४॥

परामर्श – यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त 'शोभा' आदि जिन सात्त्विक गुणों का निरूपण किया गया है, वह वस्तुतः नाट्यशास्त्रोक्त 'सात्त्विक–अभिनय' के प्रसंग का है। सात्त्विक अभिनय के सम्बन्ध में भरत ने कहा है कि यही अभिनय–प्रकार सर्वश्रेष्ठ अभिनय होता है – सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते । (ना० शा० २४, २)

अभिनवभारतीकार आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है – 'सात्त्विका भावे हि अभिनयक्रिया नामापि नोन्मीलति । अभिनयनं हि चित्तवृत्तिसाधारणतापत्ति–

अथ नायिका –

स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा ।

तद्गुणेति। यथोक्तसम्भवे नायकसामान्यगुणयोगिनी नायिकेति । स्वस्त्री परस्त्री साधारणस्त्रीत्यनेन विभागेन त्रिधा ॥

तत्र स्वीयाया विभागगर्भं सामान्यलक्षणमाह –

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक् ॥ १५ ॥

प्राणसाक्षात्कारकल्पाध्यवसाय संपादनम्, अत एवोक्तं–'सत्वे नाटयं प्रतिष्ठितमिति' –अभिनवभारती, भाग–३, पृ० १५०, बड़ौदा संस्करण ।

अर्थात् जिसे 'अभिनय' कहते हैं, वह तो वस्तुत: सात्त्विक अभिनय ही है, न कि आङ्गिक अथवा वाचिक अथवा आहार्य। 'नट अभिनय करता है'–इसका तात्पर्य यही है कि नट की चित्तवृत्ति रामादिनायकों की चित्तवृत्ति से एकरस–एकरूप हो चुकी है और उसके कार्यकलाप के दर्शन करने वालों को रामादि नायकों के कार्यकलाप का दर्शन हो रहा है ।

स्त्रीगत और पुरुषगत सात्त्विक गुणों – क्रमश: हाव–भाव–हेला और शोभा विलास माधुर्य आदि – का विवेचन स्त्री और पुरुष के शरीर विकार से सम्बन्ध रखता हैं ॥ १४ ॥

नायिका–भेद –

अथेति । अब ग्रन्थकार नायिका के भेद और उनके लक्षणों का निरूपण करते हैं.–

तद्गुणा नायिका स्वा अन्या साधारणस्त्री इति त्रिधा भवन्ति इत्यन्वय: ॥

कारिकार्थ – स्वान्येति । (पूर्वोक्त) उन नायक के गुणों से युक्त नायिका तीन प्रकार की होती हैं – (१) स्वकीया, (२) परकीया और (३) साधारण स्त्री (वेश्या आदि)॥

वृत्त्यर्थ – तद्गुणेति । कारिका में प्रयुक्त 'तद्गुणा' शब्द का तात्पर्य है– नायक में रहने वाले जिन–जिन सामान्य गुणों का उल्लेख किया गया है, उनमें से जहाँ तक संभव हो नायिका में उन गुणों का रहना वांछनीय है। स्वस्त्री, परस्त्री और साधारण स्त्री–इस प्रकार के विभाग के द्वारा नायिका तीन प्रकार की होती हैं ॥

१. स्वकीया –

तत्रेति । अब ग्रन्थकार उपर्युक्त उन तीन नायिकाओं में 'स्वकीया' नायिका का विभाग के सहित सामान्य लक्षण बताते हैं –

शीलार्जवादियुक् स्वीया (सा च) मुग्धा मध्या प्रगल्भा इत्यन्वय: ॥ १५ ॥

कारिकार्थ – मुग्धेति । शील और लज्जा से सम्पन्न नायिका को 'स्वकीया' कहा जाता है। यह स्वकीया नायिका मुग्धा, मध्या, तथा प्रगल्भा – तीन प्रकार की होती है ॥ १५ ॥

शीलं – सुवृत्तम्, पतिव्रताऽकुटिला लज्जावती पुरुषोपचारनिपुणा स्वीया नायिका ।।

तत्र शीलवती यथा –

'कुलबालिआए पेच्छह जोव्वणलाअण्णविब्भमविलासा ।
पवसन्ति व्व पवसिए एन्ति व्व पिये घरं एत्ते ।।' (गाथा० ८६५)
('कुलबालिकाया: प्रेक्षध्वं यौवनलावण्यविभ्रमविलासा: ।
प्रवसन्तीव प्रोषिते आगच्छन्तीव प्रिये गृहमागते ।।')

आर्जवादियोगिनी यथा –

'हसिअमविआरमुद्धं भमिअं विरहिअविलाससुच्छाअम् ।
भणिअं सहावसरलं धण्णाण घरे कलत्ताणम् ।।' (गाथा० ८६१)
('हसितमविकारमुग्धं भ्रमितं विरहितविलाससुच्छायम् ।
भणितं स्वभावसरलं धन्यानां गृहे कलत्राणाम् ।।')

लज्जावती यथा –

'लज्जापज्जत्तपसाहणाइं परतित्तिणिप्पिवासाइं ।
अविणअदुम्मेहाइं धण्णाण घरे कलत्ताइं ।।' (गाथा० ८६०)

वृत्त्यर्थ – शीलमिति । 'शील' से तात्पर्य है कि उसका चरित्र–आचरण– अच्छा हो, वह पतिव्रता हो, (वह) कुटिला न हो, तथा लज्जाशील एवं पति की सेवा में निष्णात हो ।।

तत्रेति। इनमें शीलवती का उदाहरण इस प्रकार है –

कुलेति। 'देखो, उच्चकुल में उत्पन्न स्त्री के यौवन, लावण्य, विभ्रम, और विलास प्रिय के विदेश जाने पर (स्वयं भी) विदेश चले जाते हैं और प्रिय के घर आने पर मानों लौट आते हैं' ।।

{अर्थात् पति के सन्निध्य में ही कुलाङ्गनाओं के यौवन, लावण्य, विभ्रम और विलास उसके पास रहते हैं; और पति की अनुपस्थिति में इनका अभाव रहता है।}

आर्जवेति। आर्जव आदि गुणों से युक्त कुलाङ्गना का उदाहरण –

हसितमेति। 'धन्य अर्थात् सौभाग्यशाली–जनों के घर में स्त्रियों की हँसी निसर्गत: अव्याज मनोहर, (मुग्ध) होती है, उनकी चाल–गति–विलास से रहित, अर्थात् नजाकत से रहित होने पर भी सुन्दर होती है और उनका भाषण–बोलना–स्वभावत: ही सरल होता है' ।।

लज्जेति। लज्जावती का उदाहरण –

लज्जेति। 'सौभाग्शाली जनों की स्त्रियाँ लज्जारूपी प्रसाधनों से युक्त होती हैं (अर्थात् विशेष लज्जाशील होती हैं) पर पुरुष के प्रति निरभिलाष (अर्थात् पर पुरुषों से

('लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परतृप्तिनिष्पिपासानि ।
अविनयदुर्मेधांसि धन्यानां गृहे कलत्राणि ॥')

सा चैवंविधा स्वीया मुग्धा – मध्या – प्रगल्भा – भेदात् त्रिविधा ॥

तत्र –

मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ।

प्रथमावतीर्णतारुण्यमन्मथा रमणे वामशीला सुखोपायप्रसादना मुग्धनायिका ॥

तत्र वयोमुग्धा यथा –

'विस्तारी स्तनभार एव गमितो न स्वोचितामुन्नतिं
रेखोद्भासिकृतं वलित्रयमिदं न स्पष्टनिम्नोन्नतम् ।
मध्येऽस्या ऋजुरायतार्धकपिशा रोमावली निर्मिता
रम्यं यौवनशैशवव्यतिकरोन्मिश्रं वयो वर्तते ॥'

काम तृप्ति की इच्छा नहीं रखतीं) तथा अविनय का उनमें अभाव रहता है।' (अर्थात् विनयशील होती हैं)॥

सेति। इस प्रकार वह (शील, आर्जव, एवं लज्जा से युक्त) – **स्वकीया** नायिका मुग्धा, मध्या, और प्रगल्भा के भेद से तीन प्रकार की होती है।

(क) मुग्धा नायिका –

तत्रेति। उनमें – अब ग्रन्थकार **मुग्धा** नायिका का स्वरूप बताते हैं –

नववयः कामा रतौ वामा क्रुधि मृदुः मुग्धा **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ – मुग्धेति। मुग्धा नायिका उसे कहा जाता है जो नवीन उमर में पदार्पण कर रही हो, जो कामवासना में रुचि रखने लगी हो, किन्तु रति–क्रीडा से कतराती हो, और जो क्रोध करने में भी कोमल होती हो ।

वृत्त्यर्थ – प्रथमेति। यौवन तथा काम–पिपासा की प्रथम जाग्रति से युक्त, (अर्थात् तारुण्य तथा काम का जिसमें प्रथम आविर्भाव हुआ हो) सुरत क्रीड़ा से झिझकने वाली, तथा क्रोध में कोमल (अर्थात् सहजगत्या प्रसन्न होने वाली) जो होती है, वह मुग्धा–नायिका है।

तत्रेति। उनमें **वयोमुग्धा** यह है – जैसे – {प्रस्तुत श्लोक में कवि ने नायिका की वयः सन्धि का चित्र अंकित किया है–वह कहता है कि नायिका की तारुंण्य तथा शैशव के संमिश्रण से उत्पन्न यह अवस्था विशेष मनोरम है।}

विस्तारिति। 'इसके स्तनों का आकार बढ़ रहा है, किन्तु अभी अपनी उचित आकार वृद्धि को प्राप्त नहीं हुआ है। रेखाओं के द्वारा उद्भासित (प्रकट) ये निम्नोन्नत तीन रेखाएँ (त्रिवलि) अभी स्पष्टरूप से परिलक्षित नहीं हो रही हैं। इसके मध्यभाग में सरल, विस्तृत तथा आधी भूरी (वर्ण की) कोमल रोमावली बन चुकी है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि नायिका इस समय वयः सन्धि में स्थित है।' (इसमें नायिका की नवीन आ रही तरुणाई का चित्र अंकित किया गया है।)

यथा च **ममैव** –

'उच्छ्वसन्मण्डलप्रान्तरेखमाबद्धकुड्मलम् ।
अपर्याप्तमुरो वृद्धे:शंसत्यस्या: स्तनद्वयम् ।।'

काममुग्धा यथा –

'दृष्टि: सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि ।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनै: ।।'

रतौ वामा यथा –

'व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिन: ।।' (कुमार० ८.२)

यथेति। और जैसे मेरा (वृत्तिकार **धनिक** का) ही पद्य है –

उच्छ्वेति। 'मण्डलपर्यन्त रेखावाले तथा कली के सदृश (कोश में) दृढ़ता से बन्धे हुए नायिका के दोनों स्तन उच्छ्वासित होकर (ऊपर की ओर उठते हुए) मानों कह रहे हैं कि हमारी वृद्धि (उन्नति) के लिए यह वक्ष: स्थल पर्याप्त नहीं है।'

{इसमें स्तनों के उठाव–उभार के वर्णन से नायिका के यौवन की अवतारणा सूचित की गई है।}

काममुग्धेति। काम–मुग्धा का उदाहरण – {इस पद्य में नायिका शनै: शनै: यौवनावस्था में पदार्पण कर रही है। अब वह बाल्यावस्था की क्रीड़ा–कलापों को छोड़ रही है। नायिका की इस वय:सन्धि जन्य अवस्था में होने वाले मनोविकारों का उसकी रुचियों का–कवि ने बड़े ही मनोयोग से सुन्दर चित्र अंकित किया है –}

दृष्टिरिति। 'अब इस बाला की दृष्टि–चञ्चल न होकर अलसाई सी परिलक्षित होती है। (बाला की दृष्टि ने अलसता को धारण कर लिया है।) अब वह बच्चों के क्रीडा–कलापों में रुचि नहीं रखती, सखियों के द्वारा की जा रही सम्भोग–रतिक्रीडा–की बातों की ओर अपने कानों को लगाती है। अर्थात् अब उसे सम्भोग–वार्ता सुनने में कुछ रुचि होने लगी है। पहले की तरह अब वह पुरुषों की गोद में नि:शंक होकर नहीं बैठती है। इस प्रकार धीरे–धीरे नव–यौवन के आविर्भाव से यह बाला युक्त हो रही है।'

रतेति । रतिवामा – (रति क्रीड़ा के अवसर पर प्रतिकूल आचरण करने वाली मुग्धा नायिका का उदाहरण) –

व्याहृतेति। '(शङ्कर के द्वारा कुछ) कहने पर (पार्वती ने) उत्तर नहीं दिया, (शङ्कर के द्वारा) वस्त्र पकड़ लेने पर (पार्वती) वहाँ से (अन्यत्र) जाने के लिए तत्पर हो गई। (शङ्कर के साथ) पार्वती शय्या पर दूसरी ओर मुख करके सोती थीं। फिर भी पार्वती शङ्कर को आनन्द देती थीं ।' {अर्थात् सुरत क्रीड़ा के अवसर पर प्रतिकूल–वाम–

मृदुः कोपे यथा –

'प्रथमजनिते बाला मन्यौ विकारमजानती
कितवचरितेनासज्याङ्के विनम्रमुखैव सा ।
चिबुकमलिकं चोन्नम्योच्चैरकृत्रिमविभ्रमा
नयनसलिलस्यन्दिन्योष्ठे रुदन्त्यपि चुम्बिता ।।'

एवमन्येऽपि लज्जासंवृतानुरागनिबन्धना मुग्धाव्यवहारा निबन्धनीयाः । यथा –

आचरण करने पर भी पार्वती शङ्कर को आनन्द प्रदान करती थीं ।

{इसमें कवि ने पार्वती की रतिक्रीडा के प्रति संकोच झिझक – का वर्णन किया है।}

मृदु इति । कोप में मृदु {कुपित होने पर सहजगत्या प्रसन्न होने वाली नायिका का उदाहरण –}

{कवि कहता है किं मुग्धा नायिका पति के अपराध करने पर भी उस पर कोप करना नहीं जानती, और कोप करती भी है तो उसका कोप सरलता से दूर किया जा सकता हैं इसी विशेषता को कवि ने इस पद्य में अंकित किया है–}

प्रथमेति। "(पति के किसी अपराधपूर्ण–अन्य किसी नायिका के साथ रमण करने जैसा–आचरण करने पर) प्रथमबार उत्पन्न कोप में मान (कोप–विकार) करना न जानने वाली एवं मुख को नीचे की हुई उस बाला (नवविवाहिता) को धूर्त चरित्रवाले–असत् आचरण करने वाले–नायक ने (उसे) गोद में रखकर, उसकी ठोढ़ी और मस्तक को ऊपर उठाकर उस स्वाभाविक विलास वाली (अर्थात् कृत्रिम शृङ्गार चेष्टाओं को न जाननेवाली) एवं रोती हुई बाला के अश्रुसिक्त ओष्ठ का चुम्बन किया।'

{उक्त पद्य में **नायिका मुग्धा** है और वह मान करना भी नहीं जानती, यदि उसने किंचित् कोप किया भी तो उसके **धूर्त नायक** के द्वारा वह सरलता से प्रसन्न कर ली जाती है।}

एवमिति। इसी प्रकार **लज्जा से संवृत अनुरागवाली मुग्धा** नायिका के अन्य व्यवहारों का वर्णन किया जाना चाहिए ।

यथेति। जैसे – {निम्नोक्त पद्य में लज्जारूपी आवरण से संवृत (छिपे हुए) अनुराग की अभिव्यंजना मुग्धा नायिका के द्वारा किस प्रकार की जा रही है, इसका मनोरम चित्र कवि ने अंकित किया है – सन्दर्भ इस प्रकार है कि नवविवाहिता नायिका पति के पास बैठी हुई है। नायिका के पास पात्र में पेय पदार्थ रखा है। समीप स्थित नायक के मुख का प्रतिबिम्ब उस पात्र में झलक रहा है। लज्जाशील नायिका अपने पति के प्रतिबिम्ब को (अविचल) एकटक दृष्टि से देखती है। दूसरी ओर नायक भी नायिका के समीप स्थित होने के कारण अनुरागवश स्तब्ध–चित्रवत् बैठा हुआ है अतः उसका प्रतिबिम्ब ऐसा दिखाई देता है जैसे चित्रांकित होने के कारण स्थिर हो। नायक नायिका के पेय पदार्थ में सुवासित पुष्प–रस आदि डालना चाहता है, पर नायिका पेय पदार्थ में

'न मध्ये संस्कारं कुसुममपि बाला विषहते
न नि:श्वासै: सुभ्रूर्जनयति तरङ्गव्यतिकरम् ।
नवोढा पश्यन्ती लिखितमिव भर्तु: प्रतिमुखं
प्ररोहद्रोमाञ्चा न पिबति न पात्रं चलयति ।।'

अथ मध्या –

मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा ।। १६ ।।

कुछ भी छोड़ना नहीं चाहती, क्योंकि ऐसा करने पर पेय पदार्थ में झलकते प्रियतम के प्रतिबिम्ब को देखने में बाधा होगी। अत: उसमें पुष्परस छोड़ना भी नायिका को असह्य है} –

मध्ये संस्कारमिति। 'यह बाला पेय पात्र में पुष्परस के संस्कार (सत्व–सार) को डाला जाना भी सहन नहीं करती। (सात्त्विकभाव से) रोमांचित यह नवोढ़ा नायिका न तो उस पेय पदार्थ को पीती ही है और न पात्र को किंचित् हिलाती ही है, यहाँ तक की, वह सुन्दरी अपने श्वास के द्वारा (पेय पदार्थ में) उत्पन्न होने वाले तरङ्गों के विघ्न को भी सहन नहीं करती –क्योंकि तरंगों के उत्पन्न होने से प्रियतम के मुख के प्रतिबिम्ब को देखने में बाधा आ सकती है। अत: वह चित्रवत् उसे देखती है।'

परामर्श – उपर्युक्त पद्य का भावसाम्य महाकवि **तुलसीदास** की कवितावली के इस पद्य में भी देखने को मिलता है –

'राम को रूप निहारति जानकि कञ्चन के नगकी परछाहीं।
या ते सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारत नाहीं।।'

आचार्य **हेमचन्द्र** ने स्वीया नायिका के **'मुग्धा'** स्वरूप के घटक, शरीर की एक विशिष्ट परिवर्तनशील अवस्था या कामोपचार–सम्बन्धी निपुणता की एक विशिष्ट दशा, को ही स्वीकार किया है –

'वय: कौशलाभ्यां मुग्धा मध्या प्रौढेति सा त्रेधा–वय: शरीरावस्था विशेष:, कौशलं कामोपचार नैपुणम् ताभ्यां मुग्धा । काव्यानुशासन अ० ७ सू० २३ ।।

वस्तुत: रतिक्रीडा में अनभिज्ञता जनित कामोपभोग के प्रति झिझक या संकोच, या यौवनादि के क्रमिक विकास आदि तत्त्व ही संवलित रूप से **'मुग्धा'** के स्वरूप का ज्ञान कराते हैं ।।

(ख) मध्या –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'मध्या'** (नायिका) का लक्षण बताते हैं –

उद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा मध्या भवति **इत्यन्वय:** ।। १६ ।।

कारिकार्थ – मध्येति। मध्या (नायिका) वह है जिसमें यौवन और काम दोनों का आवेग बढ़ रहा हो और जो मूर्च्छा की अवस्था पर्यन्त रति–क्रीड़ा करने में समर्थ हो ।। १६ ।।

सम्प्राप्ततारुण्यकामा मोहान्तरतयोग्या मध्या ।।

तत्र **यौवनवती** यथा –

'आलापान्भ्रूविलासो विरलयति लसद्बाहुविक्षिप्तियातं
नीवीग्रन्थिं प्रथिम्ना प्रतनयति मनाङ्मध्यनिम्नो नितम्बः ।
उत्पुष्यत्पार्श्वमूर्च्छत्कुचशिखरमुरो नूनमन्तः स्मरेण
स्पृष्टा कोदण्डकोट्या हरिणशिशुदृशो दृश्यते यौवनश्रीः ।।'

कामवती यथा –

'स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभि –
र्यदपि विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथाः ।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखा
नयननलिनीनालाकृष्टं पिबन्ति रसं प्रियाः ।।' (अमरु० १०४)

मध्यासम्भोगो यथा –

वृत्त्यर्थ – संप्राप्तेति । मध्या नायिका में यौवन और कामवासना का आविर्भाव हो चुका होता है, तथा वह सुरतक्रीड़ा करने में मोहावस्था तक समर्थ रहती है ।

तत्रेति। उनमें **यौवनवती मध्या नायिका** का उदाहरण इस प्रकार है –

आलापानिति। ''उसके भ्रूविलासों ने (अब) वार्तालापों को कम कर दिया है, (अर्थात् वह भ्रूसंचालन अधिक करती हैं।) बाहुओं के विक्षेप के साथ उसकी गति (चाल) शोभा देती है। उसके नितम्ब का मध्यभाग किञ्चित् निम्न हो गया है। नितम्बों के विशालता ने उसकी नीवी बन्ध को थोड़ा सा शिथिल बना दिया है। दोनों पार्श्वभागों का विकास हो रहा है और कुचाग्र (चुचुक) विकसित हो रहे हैं। नायिका के इस स्वरूप को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उसके अन्तःकरण में स्थित कामदेव ने निश्चय ही, अपने धनुष के कोण से मृगशावकनयनी की यौवन–शोभा को स्पर्श कर दिया है ।।'

{प्रस्तुत श्लोक में नायिका के नवोदित यौवन जनित कामवासना का चित्र अंकित किया गया है। यह **यौवनवती मध्या नायिका** का उदाहरण है।}

कामवतीति। कामवती मध्या नायिका का उदाहरण यह है –

स्मरेति। 'कामरूपी नवीन नदी के तेज प्रवाह (बाढ़) से बहाए गए किन्तु वृद्ध गुरुजनों की लज्जारूपी बान्ध के द्वारा किसी तरह रक्षित (बचाए गए) समीप में रहकर भी अपूर्ण मनोरथ वाले वे प्रेमीयुगल चित्र में अंकित जैसे निश्चल अंग बनकर परस्पर एक–दूसरे के संमुख होकर नेत्ररूपी कमल–नाल से रस खींचकर एक दूसरे का रस–पान कर रहे हैं ।' (प्रस्तुत श्लोक में प्रेमियों की काम–भावना का वर्णन है।)

मध्येति । मूर्च्छा की अवस्था पर्यन्त रति–क्रीड़ा में समर्थ रहने वाली मध्या नायिका का उदाहरण इस प्रकार है –

'ताव च्चिअ रइसमए महिलाणं विब्भमा विराअन्ति ।
जाव ण कुवलअदलसच्छहाइं मउलेन्ति णअणाइं ।।' (गाथा० १.५)
('तावदेव रतिसमये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते ।
यावन्न कुवलयदलस्वच्छायानि मुकुलयन्ति नयनानि ।।')

एवं धीरायामधीरायां धीराधीरायामप्युदाहार्यम् ।।

अथास्या **मानवृत्तिः** –

धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्या साश्रु कृतागसम् ।
खेदयेद्दयितं कोपादधीरा परुषाक्षरम् ।। १७ ।।

मध्याधीरा कृतापराधं प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या खेदयेत् । यथा **माघे** –

'न खलु वयममुष्य दानयोग्याः
पिबति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम् ।

तावदिति। 'रति–क्रीड़ा में महिलाओं की काम चेष्टाएँ (हाव–भाव) तभी तक मनोहर होती हैं, जब तक कि नीलकमल की पँखुड़ी के सदृश निर्मल कान्तिवाले (उनके नेत्र आनन्द से) मुकुलित नहीं हो जाते।' {इस प्रकार उक्त श्लोक में मूर्च्छावस्था तक रति–क्रीड़ा करने में क्षमता रखने वाली नायिका का वर्णन होने से यह **मोहान्त सुरतक्षमा मध्या नायिका** उदाहरण है।}

एवमिति। इसी प्रकार धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा का भी उदाहरण देना चाहिए ।

{कोपावस्था में मध्या नायिका के **धीरा, अधीरा** तथा **धीरा–धीरा** ये तीन रूप होते हैं। 'कोपे मृदुः' तथा सुखोपाय प्रसादना होने के कारण मुग्धा–नायिका में इस प्रकार के कोई भेद नहीं देखे जाते} ।। १६ ।।

अथेति। अब ग्रन्थकार इस **मध्यानायिका** के मान–व्यवहार का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – धीरेति। नायक के अपराध करने पर – (अन्य नायिका के प्रति प्रेमासक्त होने पर) – मध्या धीरा वक्रोक्तिपूर्वक तानों से उसे (नायक को) दुःखी करती है, मध्या–धीराधीरा रोने के साथ–साथ ताने भी सुनाती है, तथा मध्या–अधीरा क्रोध के साथ कटुवचनों (कठोर शब्द) को सुनाकर प्रिय को दुःखी करती है ।। १७ ।।

वृत्त्यर्थ – मध्येति। मध्या धीरा नायिका अपराधी प्रियतम को **वक्रोक्तिपूर्ण** ताने के साथ खिन्न करती है। **जैसे – माघ** के **शिशुपालवध** का यह उदाहरण – {किसी नायक ने अन्य नायिका के प्रति प्रेमासक्त होकर उसके पास रात्रि व्यतीत की है। वहाँ से लौटने पर ज्येष्ठा नायिका को प्रसन्न करने के लिए भेंट के रूप में वह पल्लव देना चाहता है। इस पर नायिका व्यंग्यपूर्ण वचनों के साथ ताना मारती है} –

न खल्विति। 'क्षमा कीजिये, हम इस पल्लवदान के उपयुक्त पात्र नहीं है। जो कोई तुम्हारी हृदयवल्लभा हो, जो एकान्त में तुम्हारा पान (चुम्बन) करती हो, तथा प्रेम के कारण तुम्हारी रक्षा करती हो, जाइये, उसे ही यह पल्लव (विटप), अथवा उस

व्रज विटपममुं ददस्व तस्यै
भवतु यतः सदृशोश्चिराय योगः ॥' (शिशु० ६.१९)

धीराधीरा साश्रु सोत्प्रासवक्रोक्त्या खेदयेत् । यथाऽमरुशतके –

'बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधा मयि ।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते ॥ (अमरु० ५७)

अधीरा साश्रु परुषाक्षरम् खेदयेत् यथा –

'यातु यातु किमनेन तिष्ठता मुञ्च मुञ्च सखि मादरं कृथाः ।
खण्डिताधरकलङ्कितं प्रियं शक्नुमो न नयनैर्निरीक्षितुम् ॥'

शृङ्गारी–रसिक को, जो विटों–कामुक, लंपट–की रक्षा करता है – दीजिये। जिससे समान गुणवालों का मेल सदा के लिए हो जाय।' {वह तुम्हारी प्राणवल्लभा जो तुम जैसे विटों का पान करती है तथा रक्षा करती है, इसलिए वह 'विटप' है और यह पल्लव जो तुम देने के लिए लाये हो, 'विटप' है, तो क्यों न दोनों विटपों का मेल करा देते हो ।}

उक्त श्लोक में–'विट्प' शब्द श्लिष्ट है, जिसका अर्थ **पल्लव** तथा **कामुक** – **लंपट** – दोनों ही होता है।}

धीराधीरेति। धीराधीरा (मध्या नायिका) आँखों में आँसू भरकर **वक्रोक्तिपूर्ण** वचनों के द्वारा नायक को तानें सुनाकर दुःख देती है। जैसे **अमरुशतक** के इस पद्य में –

{नायक अन्य नायिका से प्रेम करता है। मानिनी और रोषयुक्त ज्येष्ठा नायिका को अपराधी नायक मनाने के लिए कहता है} –

बाले नाथेति। नायक – बाले ! **नायिका** – नाथ !, **नायक** – हे मानिनी ! तुम कोप को छोड़ दो। **नायिका** – मैंने कोप करके तुम्हारा क्या बिगाड़ लिया ? **नायक** – मुझे दुःखी कर दिया है। **नायिका** – आपने मेरा कोई अपराध नहीं किया है, सब अपराध तो मैंने ही किये हैं। **नायक** – तो फिर तुम गद्गद कण्ठ से क्यों रो रही हो ?। **नायिका** – किसके आगे रो रही हूँ ? **नायक** – मेरे सम्मुख । **नायिका** – मैं तुम्हारी क्या हूँ? **नायक** – प्राणवल्लभा। **नायिका** – नहीं हूँ, इसीलिए तो रो रही हूँ।'

अधीरेति। अधीरा (मध्या नायिका) अश्रुपूर्ण नेत्रों से कटुवचन कहती हुई नायक को खिन्न करती है। जैसे – {अन्या नायिका के पास रात व्यतीत कर (ज्येष्ठा) नायिका के पास नायक आता है। नायिका कुपित होकर नायक को खरीखोटी सुनाती है। नायक खिन्न होकर वापस जाने के लिए तत्पर होता है। नायिका की सखी लौटते हुए नायक को रोकने का प्रयास करती है। इस पर नायिका अपनी सखी से कहती है –}

यात्विति। 'हे सखि ! इसे जाने दो, जाने दो, इसके रुकने से क्या लाभ ?

एवमपरेऽपि व्रीडानुपहिताः स्वयमनभियोगकारिणो मध्याव्यवहारा भवन्ति ।
यथा –

'स्वेदाम्भः कणिकाञ्चितेऽपि वदने जातेऽपि रोमोद्गमे
विश्रम्भेऽपि गुरौ पयोधरभरोत्कम्पेऽपि वृद्धिं गते ।
दुर्वारस्मरनिभरेऽपि हृदये नैवाभियुक्तः प्रिय –
स्तन्वङ्ग्या हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धया ।।

स्वतोऽनभियोजकत्वं हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धयेवेत्युत्प्रेक्षाप्रतीतेः ।।

अथ प्रगल्भा –

यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके ।
विलीयमानेवानन्दाद् रतारम्भेऽप्यचेतना ।। १८ ।।

छोड़ो–छोड़ो इसका आदर मत करो। (अन्य नायिका के द्वारा) क्षत अधर से कलङ्कित प्रिय को मैं देखना भी पसन्द नहीं करती हूँ।'

एवमिति। इसी प्रकार मध्या नायिका के लज्जारूपी आवरण से अनावृत (अर्थात् खुले, लज्जाविहीन) किन्तु सुरत क्रीड़ा में स्वयं प्रवृत्त न होने वाले अन्य व्यवहार भी होते हैं। (अर्थात् कामवासना से उद्दीप्त होने पर भी नायिका संभोग क्रीड़ा के लिए स्वयं प्रवृत्त न होकर वह चाहती है कि नायक स्वयं प्रथम रति क्रीड़ा के लिए प्रवृत्त हो।) जैसे –

स्वेदाम्भ इति। '(उद्दीप्त काम के आवेग से) स्वेदाम्बु से मुख के व्याप्त होने पर भी शरीर रोमाञ्चित हो जाने पर भी, (एकान्त होने से तथा गुरुजन दूर होने से) पूर्ण निश्चिन्तता होने के कारण विशाल पयोधर कम्पन युक्त हो जाने पर भी, हृदय में दुर्निवार (तीव्र) काम के व्याप्त हो जाने पर भी, (उस) कृशाङ्गी के द्वारा उसका प्रिय रति–क्रीडा में प्रवृत्त नहीं कराया गया, यद्यपि वह हठात् केश–कर्षण तथा प्रगाढ–आलिङ्गन रूपी अमृत के लिए इच्छुक थी ।'

स्वत इति। 'मानो वह नायिका बलपूर्वक केशकर्षण तथा घनाश्लेष रूपी अमृत के लिए प्रबल उत्कण्ठित थी – 'इस उत्प्रेक्षा के द्वारा नायिका के स्वयं सम्भोग क्रीड़ा में प्रवृत्त न होने की व्यञ्जना की गई है।

(ग) प्रगल्भा –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'प्रगल्भा' नायिका का लक्षण बतलाते हैं –

यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता अनिन्द्रात् दयिताङ्गके विलीयमाना इव रतारम्भे अपि अचेतना प्रगल्भा (नायिका भवति) इत्यन्वयः ।। १८ ।।

कारिकार्थ – यौवनान्धेति। 'प्रगल्भा (प्रौढ़ा) नायिका तारुण्य में अन्धी सी, काम (वेदना) से उन्मत्तसी, (प्रियसंयोग तथा कामजनित सुख के) आनन्द के कारण प्रियतम के अंगों में (प्रगाढ़–आलिङ्गन के कारण) प्रविष्ट–विलीन–होती हुई सी तथा रति–क्रीड़ा के आरम्भ, में भी (अत्यधिक आनन्द के कारण) चेतना हीन हो जाती है' ।। १८ ।।

गाढयौवना यथा ममैव –

'अभ्युन्नतस्तनमुरो नयने च दीर्घे
वक्रे भ्रुवावंतितरां वचनं ततोऽपि ।
मध्योऽधिकं तनुरतीव गुरुर्नितम्बो
मन्दा गतिः किमपि चाद्भुतयौवनायाः ॥'

यथा च –

'स्तनतटमिदमुत्तुङ्गं निम्नो मध्यः समुन्नतं जघनम् ।
विषमे मृगशावाक्ष्या वपुषि नवे क इव न स्खलति ॥'

भावप्रगल्भा यथा –

'न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये ।
सर्वाण्यङ्गानि किं यान्ति नेत्रतामुत कर्णताम् ॥' (अमरु० ६४)

वृत्त्यर्थ – गाढेति। गाढ़यौवना का उदाहरण – मेरा (वृत्तिकार **धनिक** का) ही यह श्लोक इस प्रकार है –

अभ्युन्नते इति। 'अद्‌भुत यौवनावस्था वाली (उस सुन्दरी) का वक्ष:स्थल प्रोन्नत स्तनों का है, नेत्र विशाल हैं, भौहें वक्राकार हैं, वचन तो उनसे भी अधिक वक्र हैं, कटि–भाग विशेष पतला है, तथा नितम्ब अत्यन्त भारी (पृथुल) है, एवं गति (चाल) मन्थर है ।'

यथेति। अथवा जैसे –

स्तनतटमिति। '(इस सुन्दरी का) यह स्तन–तट पर्याप्त उठा हुआ है, मध्य–भाग नीचा है, जघनस्थल पर्याप्त ऊँचा है, इस प्रकार मृग–शावकनयनी के निम्नोन्नत इस नवीन शरीर में कौन व्यक्ति (पद) स्खलित न होगा ॥'

{सदा सतर्क रहने वाला व्यक्ति भी ऊँची–नीची भूमि पर फिसल ही जाता है, इसी प्रकार यौवन से परिपूर्ण युवती के इस आकर्षक निम्नोन्नत शरीर पर से विवेकशील (इन्द्रिय निग्रही) व्यक्ति की फिसलने की पूर्ण सम्भावना है, अर्थात् इसे देखकर वह भी एक बार विचलित हो जायेगा।}

भावेति। 'भाव प्रगल्भा' (अर्थात् स्मरोन्मत्तानायिका) इस प्रकार है, जैसे –

{कोई नायिका अपनी सखी से प्रियतम की उपस्थिति में अपनी हृदयदशा का वर्णन करती हुई कहती है –}

न जान इति। 'प्रियतम के सामने आने पर तथा प्रिय–मधुर वचन बोलने पर नहीं मालूम–क्यों मेरे सम्पूर्ण इन्द्रिय (सभी अङ्ग) ही नेत्ररूप में परिणत हो जाते हैं. अथवा श्रोत्ररूप हो जाते हैं ।' (अर्थात् प्रियतम सम्मुख रहने पर) मुझे उन्हें देखने और उनकी बातें सुनने के अतिरिक्त कुछ नहीं सूझता।)

रतप्रगल्भा यथा –

'कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धना–
द्वासः प्रश्लथमेखलागुणधृतं किञ्चिन्नितम्बे स्थितम् ।
एतावत्सखि वेद्मि केवलमहं तस्याङ्गसङ्गे पुनः
कोऽसौ कास्मि रतं नु किं कथमिति स्वल्पापि मे न स्मृतिः ।।' (अमरु० १०१)

एवमन्येऽपि परित्यक्तह्रीयन्त्रणावैदग्ध्यप्राया: प्रगल्भाव्यवहारा वेदितव्याः ।।

यथा –

'क्वचित्ताम्बूलाक्तः क्वचिदगरुपङ्काङ्कमलिनः
क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपदः ।
वलीभङ्गाभोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः
स्त्रियाः सर्वावस्थं कथयति रतं प्रच्छदपटः ।।' (अमरु० १०७)

रतेति। रतप्रगल्भा – (रति–क्रीडा में लीन, और (आनन्दविभोर होकर) अचेत हो जाने वाली) जैसे – {नायिका अपनी सखी से रति–क्रीड़ा में अपनी स्थिति को बताती है –}

कान्त इति। 'प्रियतम के शय्या पर आते ही मेरी नीवी–बन्धन (साडी की गाठ) स्वयं ही खुल गया, (अनायास, बिना खोले) शिथिल हुई करधनी के सूत्र से अटका हुआ वस्त्र भी किसी तरह किंचित् मात्र नितम्ब पर ही स्थित (पड़ा) रहा । हे सखि ! मैं तो केवल इतना भर जानती हूँ, (इतना ही मुझे स्मरण है) तत्पश्चात् उनके अङ्गों का स्पर्श होने पर तो –'वह कौन है?'', ''मैं क्या हूँ'' तथा ''रति–क्रीडा किस प्रकार हुई'' इत्यादि–किसी बात का थोड़ा भी मुझे स्मरण नहीं है ।'

एवमिति। इसी प्रकार लज्जा के आवरण से रहित एवं विदग्धता से युक्त प्रगल्भा नायिका के अन्य व्यवहारों को भी जानना चाहिए। जैसे –

क्वचिदिति। 'यह चादर नायिका की विविध प्रकार की रति–क्रीड़ा को अभिव्यक्त कर रही है – उसका कोई भाग पान के रंग से रंजित है तो कोई सुवासित अगर के लेप से मलीन है, कोई भाग गन्ध के चूर्णों से भरा हुआ है तो कोई भाग महावर लगे पदतल के चिह्नों से अंकित है, तो कोई भाग नायिका की त्रिवली के कारण उत्पन्न सिलवटों से संकुचित है, तो कोई भाग नायिका के केश–वेणी से गिरे एवं मसले गए पुष्पों से भरा हुआ है।'

परामर्श – इस श्लोक में कामशास्त्रोक्त धेनुक तथा विपरीत रति आदि के विविध–आसनों की ओर संकेत कर नायिका की रति क्रीड़ा में (१) प्रगल्भता – विदग्धता – तथा लज्जाहीनता को व्यक्त किया गया है। वस्तुतः लज्जावरण के अभाव में ही नायिका का रति क्रीड़ा में ऐसा सहयोग प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। यहाँ उल्लेखनीय है कि मुग्धा या मध्या नायिका को इस प्रकार की रति क्रीड़ा रुचिकर न होने से वे इस प्रकार सहयोग नहीं दे सकती, इसका अनुभव विज्ञ–सहृदयों को होगा ही ।

अथास्या: कोपचेष्टा –

सावहित्थादरोदास्ते रतौ धीरेतरा क्रुधा ।
सन्तर्ज्य ताडयेत्, मध्या मध्याधीरेव तं वदेत् ॥ १९ ॥

सहावहित्थेन – आकारसंवरणेन, आदरेण च – उपचाराधिक्येन वर्तते सा सावहित्थादरा । रतावुदासीना क्रुधा कोपेन भवति ॥

सावहित्थादरा यथाऽमरुशतके –

---

(२) शृङ्गारमञ्जरी में प्रगल्भा के दो उपभेदों का उल्लेख किया गया है –

१. रतिप्रीतिमति – 'पतिसङ्गमं या मुहुरभिलषति ।' २. रत्यानन्दपरवशा – 'सङ्गमसंतुष्टा सत्यानन्दपरवशा ।'

मध्या एवं प्रौढ़ा–प्रगल्भा–नायिकाओं के मान लक्षण भानुभट्ट ने इस प्रकार दिये हैं –

	मध्या	प्रौढ़ा
धीरा	व्यंजक शब्दों के द्वारा सूचित	रतौदास्य
धीराधीरा	परुष वाक्यों के द्वारा व्यक्त	रतौदास्य, तर्जन, ताडन
अधीरा	रुदन	तर्जन, ताड़न

अथेति। अब ग्रन्थकार इस **प्रगल्भा नायिका** की **कोपचेष्टाओं** का निरूपण करते हैं –

सावहित्थादरा रतौ उदास्ते धीरेतरा क्रुधा सन्तर्ज्य ताडयेत् मध्या मध्याधीरा इव तं वदेत् इत्यन्वय: ॥ १९ ॥

कारिकार्थ – सावहित्थेति। {मध्या नायिका की तरह प्रगल्भा भी धीरा, अधीरा और धीराधीरा तीन प्रकार की होती है। इन तीन प्रकारों में से } धीरा प्रगल्भा नायिका अपने आन्तरिक क्रोध को छिपाकर ऊपरी बातों से अर्थात् औपचारिकता से प्रिय के प्रति आदर–सत्कारभाव का प्रदर्शन करती है; परन्तु वह रति क्रीडा के प्रति उदासीन रहती है । अधीरा प्रगल्भा नायिका क्रुद्ध होकर अपने प्रियतम नायक की भर्त्सना करती है और उसे मारती भी है। धीराधीरा–प्रगल्भा नायिका का नायक के प्रति व्यवहार मध्या नायिका के ही सदृश होता है, अर्थात् क्रोधयुक्त वक्रोक्तिपूर्ण वाणी से नायक को दुःखी करती है ॥ १९ ॥

वृत्त्यर्थ – सहावहित्थेनेति। सावहित्थादरा उसे कहते हैं जो बाह्य आकार को छिपाकर (अर्थात् –हृदयस्थ भावों से मुख पर उत्पन्न होने वाले क्रोधादि भावों को स्मित–हास्य आदि से यथार्थ को छिपाकर) औपचारिकता के साथ प्रियतम से व्यवहार करती है। वह क्रोधावेश् के कारण रति–क्रीड़ा में उदासीन रहती है।

सावहित्थादरेति। सावहित्थादरा – (क्रोध–भाव को छिपाकर औपचारिकता

'एकत्रासनसंस्थिति: परिहृता प्रत्युद्गमाद्दूरत-
स्ताम्बूलाहरणच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नित: ।
आलापोऽपि न मिश्रित: परिजनं व्यापारयन्त्याऽन्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोप: कृतार्थीकृत: ।।' (अमरु० १८)

रतावुदासीना यथा –

'आयस्ता कलहं पुरेव कुरुते न स्रंसने वाससो
भग्नभ्रूगतिखण्ड्यमानमधरं धत्ते न केशग्रहे ।
अङ्गान्यर्पयति स्वयं भवति नो वामा हठालिङ्गने
तन्व्या शिक्षित एष सम्प्रति कुत: कोपप्रकारोऽपर: ।।' (अमरु० १०६)

इतरा त्वधीरप्रगल्भा कुपिता सती सन्तर्ज्य ताडयति । **यथाऽमरुशतके –**

'कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
नीत्वा केलिनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुर: ।

से आदर व्यक्त करने वाली धीरा–प्रगल्भा) नायिका का उदाहरण **'अमरुशतक'** में इस प्रकार है –

एकत्रेति। 'अपने प्रियतम को दूर से आते देख (उसका स्वागत करने के व्याज से) खड़ी होकर एक ही आसन–शय्या पर बैठने की स्थिति को उसने टाल दिया, (प्रियतम के लिए) पान लाने के बहाने से, (नायक के द्वारा किये जाने वाले) प्रथम–आलिङ्गन को वेगपूर्वक जाते हुए (अर्थात् त्वरा दिखाकर प्रेम व्यक्त करने के बहाने) बाधित कर दिया । प्रियतम के पास उसकी सेवा करने के व्याज से परिजनों को नियुक्त कर (नायक से) बातचीत करने में भी व्यवधान डाल दिया। अर्थात् नायक से बातें नहीं की। इस प्रकार उस चतुर नायिका ने प्रियतम के प्रति औपचारिक आदर–सम्मान प्रदर्शित कर अपने कोप को सफल कर लिया।'

रतेति। रति में उदासीन रहने वाली नायिका का उदाहरण –

आयस्तेति। 'अन्य नायिका के प्रति ईर्ष्या एवं नायक–प्रेमी के प्रति (अन्य नायिका के प्रति नायक की प्रेमासक्ति के कारण) क्रोध से थकी हुई अब वह नायिका रति क्रीड़ा के अवसर पर वस्त्र–विमोचन के समय पहले जैसा कलह नहीं करती केश–ग्रहण के साथ रति–क्रीड़ा में प्रवृत्त होने पर भ्रूकुटियाँ वक्र करके अधर को वह काटने नहीं देती थी, किन्तु आज वह स्वयं अपने अधरों को (बिना किसी विरोध के) अर्पित कर देती है। हठात् आलिङ्गन करने पर अब वह पहले जैसा विरोध भी नहीं करती। (आश्चर्य है) न जाने कहाँ से यह अनूठा कोपप्रदर्शन करने का तरीका इसने सीख लिया है।'

इतरेति। दूसरे प्रकार की अधीरा प्रगल्भा नायिका तो कुपित हो जाने पर नायक को फटकारती है और पीटती भी है। जैसे – अमरुशतक में –

कोपादिति। '(अन्यासक्त अपराधी नायक के घर आने पर) सायंकाल क्रोधावेश

भूयोऽप्येवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एष निह्नुतिपरः प्रेयान्रुदत्या हसन् ।।' (अमरु० ९)

धीराधीरप्रगल्भा मध्याधीरेव तं वदति सोत्प्रासवक्रोक्त्या । यथा तत्रैव —

'कोपो यत्र भ्रुकुटिरचना निग्रहो यत्र मौनं
यत्रान्योन्यस्मितमनुनयो : दृष्टिपातः प्रसादः ।
तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैशसं पश्य जातं
त्वं पादान्ते लुठसि न च मे मन्युमोक्षः खलायाः ।।' (अमरु० ३८)

पुनश्च —

द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिताः ।

मध्याप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाकनिष्ठात्वभेदेन द्वादश भेदा भवन्ति ।

से भरी हुई नायिका नायक को अपने कोमल व चञ्चल बाहुओं के लता–पाश से दृढ़ता से बान्धकर क्रीडा–निकेतन में ले जाती हैं वहाँ पर अपनी सखिओं के सम्मुख स्खलित वाणी के द्वारा नायक को कहती है – 'फिर ऐसा करोगे ?' (अर्थात् क्या पुनः अन्या–नायिका के प्रति आसक्त होगे?) और इस प्रकार उसके अपराध को सखियों को विदित कराती है । रोती हुई नायिका के द्वारा अपने अपराध को छिपाने में तत्पर वह हँसता हुआ – सौभाग्यशाली नायक पीटा गया ।'

धीरेति। धीराधीरा प्रगल्भा नायिका **मध्या धीरा** नायिका की तरह ही तानों से युक्त वक्रोक्ति के द्वारा नायक से कहती है। – जैसे **अमरुशतक** का यह पद्य – '(पैरों पर गिरे हुए प्रियतम से नायिका कहती है –)

कोप इति। 'जब प्रेम में भ्रुकुटियों को वक्राकार करना ही कोपाभिव्यक्ति थी, मौन रहना ही जब दण्ड था, एक दूसरे की ओर (देखकर) स्मित–हास्य करना ही अनुनय था, और देखना ही प्रसन्नता का चिह्न था, किन्तु आश्चर्य है कि उस प्रेम का कितना विपर्यास हुआ है, कि तुम मेरे पादान्त पर (पैरों की उँगलियों पर) लोट रहे हो और मुझ निर्दया–दुष्टा का कोप दूर ही नहीं हो रहा है' ।। १९ ।।

पुनश्चेति। अब ग्रन्थकार **'मध्या'** एवं **'प्रगल्भा'** नायिकाओं के और दो भेदों को बताते हैं –

अमुग्धा ज्येष्ठा कनिष्ठा द्वेधा च इति दादशोदिताः इत्यन्वयः ।।

कारिकार्थ – द्वेधेति। (मध्या तथा प्रगल्भा नायिकाएँ) दो प्रकार की होती हैं – ज्येष्ठा एवं कनिष्ठा । इस प्रकार मुग्धा से इतर नायिकाएँ बारह तरह की कही गई हैं।

{दूसरे शब्दों में हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं – मुग्धा नायिका के अतिरिक्त अन्य नायिकाएँ–तीन प्रकार की मध्या तथा तीन प्रकार की प्रगल्भा–ज्येष्ठा एवं कनिष्ठा इस प्रकार दो तरह की होती हैं–कुल मिलाकर ये १२ बारह प्रकार की होती हैं।}

वृत्त्यर्थ – मध्येति। मध्या तथा प्रगल्भा नायिकाओं की भी प्रत्येक के ज्येष्ठा

मुग्धा त्वेकरुपैव ।।

ज्येष्ठाकनिष्ठे यथाऽमरुशतके –

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा –
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छल: ।
ईषद्वक्रितकन्धर: सपुलक: प्रेमोल्लसन्मानसा –
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ।।' (अमरु० १९)

न चानयोर्दाक्षिण्यप्रेमभ्यामेव व्यवहार: । अपि तु प्रेम्णापि यथा चैतत्तथोक्तं दक्षिणलक्षणावसरे । एषां च धीरमध्या – अधीरमध्या – धीराधीरमध्या – धीर – प्रगल्भा – अधीरप्रगल्भा – धीराधीरप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाकनिष्ठाभेदाद्– द्वादशानां वासवदत्ता – रत्नावलीवत्प्रबन्धनायिकानामुदाहरणानि महाकविप्रबन्धेष्वनु– सर्तव्यानि ।।

एवं कनिष्ठा के भेद से कुल संख्या बारह होती है यहाँ विशेष उल्लेखनीय यह है कि उक्त भेद मुग्धा नायिका के नहीं होते, वह केवल एक ही प्रकार की होती है।

ज्येष्ठेति। 'ज्येष्ठा' तथा 'कनिष्ठा' नायिका के उदाहरण के रूप में अमरुशतक का यह पद्य उपन्यस्त किया जा सकता है –

दृष्टवेति। 'धूर्त–नायक ने दूर से देखा कि दोनों नायिकाएँ (ज्येष्ठा व कनिष्ठा) एक ही शय्यासन पर बैठी हैं। इसलिए वह आदर के साथ शनै: शनै: उनके पीछे जा पहुँचता है। वहाँ वह क्रीडा–मनोविनोद करने के व्याज से एक की आँखें, मूँद के, अपनी गरदन थोड़ी वक्र करके (घुमाकर), रोमाञ्चित होकर, प्रेम से प्रफुल्लित मन वाली तथा आन्तरिक हँसी के कारण सुशोभित कपोल फलक वाली दूसरी नायिका का चुम्बन करता है।'

नेति। यह विचार करना उचित नहीं है कि नायक का ज्येष्ठा नायिका के प्रति केवल दाक्षिण्य–व्यवहार (सहृदयता का व्यवहार) होता हो और प्रेम कनिष्ठा–नायिका के प्रति होता हो, । वस्तुत: नायक का ज्येष्ठा के प्रति भी प्रेम व्यवहार देखा जाता है। क्योंकि दक्षिण कोटि के नायक का प्रेम–व्यवहार सभी से हो सकता है, इस तथ्य को उसके लक्षण में ही स्पष्टरूप से बताया गया है ।

एषामिति। इस प्रकार **धीरमध्या, अधीरमध्या, धीराधीरमध्या, धीरप्रगल्भा, अधीरप्रगल्भा, धीराधीर प्रगल्भा** – इन छ: प्रकार की नायिकाओं के पुन: ज्येष्ठा व कनिष्ठा–इन दो भेदों के कारण होने वाले कुल बारह प्रकारों के उदाहरण, रत्नावली और वासवदत्ता आदि के रूप में महाकवियों की रचनाओं में देख लेना चाहिए।

परामर्श – आलंकारिकों के द्वारा की हुई स्वीया नायिका की ज्येष्ठा और कनिष्ठा नामक उपभेदों की कल्पना भारत वर्ष की बहुपत्निक प्रथा विशेष की द्योतक है। संस्कृत–साहित्य तथा लोककथाओं में इन नायिकाओं का दर्शन बहुश: होता है।

वात्स्यायन (४.२) के अनुसार 'ज्येष्ठा' का तात्पर्य प्रथम पत्नी है और

अथान्यस्त्री – {परकीया नायिका} –

अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाऽङ्गिरसे क्वचित् ।। २० ।।
कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ।

नायकान्तरसम्बन्धिन्यन्योढा यथा –

'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मिन्गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि तद्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदानलग्रन्थयः ।।'

कनिष्ठाएँ उसकी सौतें । ज्येष्ठा अपने पति तथा सौतों के साथ किस तरह का आचरण रखें, इसका विवरण देने के लिए एक पूर्ण अध्याय व्यय किया गया है। सम्मान की दृष्टि से ज्येष्ठा अवश्य ही श्रेष्ठ है। साधारणतः वह मध्या अथवा प्रौढ़ा होती है उसके यौवन के प्रारम्भिक अभिसारार्ह बहार के दिन व्यतीत हो चुके होते हैं । **उत्तरकालीन आलंकारिकों** ने–ज्येष्ठा–कनिष्ठा–इन संज्ञाओं के अर्थों में परिवर्तन किया है। **रसमंजरीकार** के अनुसार – 'परिणीतत्वे सति भर्तुरधिकस्नेहा **ज्येष्ठा** । परिणीतत्वे सति भर्तुन्नर्यूनस्नेहा **कनिष्ठा**' ।।

२. **परकीया नायिका** (अन्य स्त्री) –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'परकीया'** नायिका का लक्षण बताते हैं –

अन्यस्त्री कन्यका ऊढा च (द्विविधा) अन्योढा अङ्गिरसे न क्वचित् कन्यानुरागम् इच्छातः अङ्गाङ्गिसंश्रयम् कुर्यात् **इत्यन्वयः** ।। २०–२१ ।।

कारिकार्थ – अन्यस्त्रीति । अन्यस्त्री–(परकीया नायिका) दो प्रकार की होती है– (१) कन्या तथा (२) किसी दूसरे की परिणीता (विवाहिता) स्त्री। प्रधान रस– (अङ्गी रस) में परोढा (विवाहिता) का आलम्बन के रूप में वर्णन कभी नहीं करना चाहिए। अर्थात् अन्य की विवाहिता स्त्री को प्रधान रस का आलम्बन नहीं बनाना चाहिए। कन्या के अनुराग को तो कवि (अपने प्रबन्ध में) अपनी इच्छा से प्रधानरस या अप्रधान–रस का आलम्बन बना सकता है। (अर्थात् कन्या अङ्गिरस की नायिका हो सकती है और अप्रधान रस की भी, यह कवि की इच्छाधीन है।) ।। २०–२१ ।।

वृत्त्यर्थ – नायकान्तरेति। दूसरे नायक से संबन्ध रखने वाली परकीया (किन्तु) ऊढा–विवाहिता नायिका का उदाहरण इस प्रकार है –

दृष्टिमिति। 'हे पड़ोसिन ! क्षणभर हमारे घर की ओर भी दृष्टिपात करना। (अर्थात् थोड़ा ध्यान रखना सुरक्षा की दृष्टि से।) इस बालक के पिता प्रायः कूप के निःस्वाद जल को ग्रहण नहीं करते हैं। (अतः) यह उचित ही है कि मैं अकेली ही यहाँ से 'तमालाकुल' तमालवृक्षों से आच्छादित झरने पर जाती हूँ। फिर भले ही नल नामक वृक्षों की सघन ग्रन्थियाँ मेरे शरीर को खरोच डालें।'

{उपर्युक्त परकीया नायिका की इस उक्ति से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि

इयं त्वङ्गिनि प्रधाने रसे न क्वचिन्निबन्धनीयेति न प्रपञ्चिता । कन्यका तु पित्राद्यायत्तत्वादपरिणीताप्यन्यस्त्रीत्युच्यते, तस्यां पित्रादिभ्योऽलभ्यमानायां सुलभायामपि परोपरोधस्वकान्ताभयात्प्रच्छन्नं कामित्वं प्रवर्तते । यथा मालत्यां माधवस्य सागरिकायां च वत्सराजस्येति। तदनुरागश्च स्वेच्छया प्रधानाप्रधानरससमाश्रयो निबन्धनीय: । यथा रत्नावलीनागानन्दयो: सागरिका — मलयवत्यनुराग इति ।।

—परकीया अपने प्रेमी—उपनायक—के साथ की जानेवाली सम्भोग क्रीड़ा के अवसर पर संभावित (होने वाले) दन्तक्षत व नखक्षत को छिपाने के लिए पूर्व से ही अपनी पृष्ठ—भूमि बड़ी चतुराई से तैयार कर रही है। साथ ही अपने पति के लिए कहे हुए— **'अस्य शिशो: पिता'** — शब्दों से कुछ सहृदय—आलोचकों के विचार में यह भाव व्यक्त होता है कि वह मेरा प्रिय **'प्राणवल्लभ'** नहीं है, केवल स्वामी भर है।

कभी कोई विवाहिता स्त्री भी किसी उपनायक से प्रेम करने लगती है। लौकिक व मनुप्रोक्त शास्त्रीय मर्यादा की दृष्टि से ऐसा आचरण भले ही अनुचित होता हो, किन्तु लोक में प्राय: ऐसा आचरण दृष्टिपपथ में आता है। अतएव साहित्य में इसका दृष्टान्त उपन्यस्त करना आवश्यक हो जाता है। संस्कृत—साहित्य में अनेक मुक्तक श्लोक ऐसे परकीया—नायिकाओं के स्वेच्छाचारों से भरे पड़े हैं ।}

इयमिति। किन्तु अङ्गीरस में इन चेष्टाओं का वर्णन करना, अनैतिक होने के कारण, अनुचित माना गया है। इसी विचार से इसका विस्तार से वर्णन **धनंजय ने नहीं किया है।**

कन्यकेति। यद्यपि कन्या तो अविवाहिता होती है, तथापि पिता—माता (कुल के वृद्धगुरुजनों) के अधीन रहने के कारण उसे अन्यस्त्री कहा जाता हैं । पिता—मातादिकों के अधीन होने के कारण अलभ्य (प्राप्त न हो सकनेवाली) उस कन्या में प्रेम व्यवहार प्रच्छन्नरूप से चलता है। क्योंकि—यदि वह (कन्या) सुलभ हो भी गई तो भी दूसरों के द्वारा (किये जाने वाले) विघ्न और अपनी कान्ता (प्रेयसी) के भय के कारण प्रच्छन्नरूप से नायक का उसके साथ प्रेम—व्यवहार चलता रहता है।

जैसे — **'मालती— माधव'** नाटक में माधव का मालती के साथ (दूसरों के विघ्न के कारण) तथा **'रत्नावली'** नाटिका में वत्सराज उदयन का रत्नावली (सागरिका) के साथ (अपनी ज्येष्ठा नायिका वासवदत्ता के भय के कारण) प्रच्छन्नरूप से प्रेम—व्यवहार चलता है। एक स्थान पर 'परोपरोध' तथा अन्य स्थान पर **'स्वकान्ताभय'** प्रच्छन्न प्रेम के कारण हैं। कवि इस प्रकार के प्रेम—वर्णन को अपनी इच्छानुसार प्रधान या अप्रधान दोनों ही प्रकार के रसों में अंकित कर सकता है। जैसे— **'रत्नावली'** व **'नागानन्द'** में क्रमश: सागरिका तथा मलयवती का प्रेम वर्णन। रत्नावली नाटिका में सागरिका का उदयन के साथ प्रेम—प्रधान रस में वर्णित है; जबकि 'नागानन्द' नाटक में मलयवती का जीमूतवाहन के साथ प्रेम अप्रधान रस में अंकित किया गया है, क्योंकि नागानन्द में अप्रधान रस शृङ्गार है, और प्रधान रस दयावीर है। इस प्रकार सागरिका व मलयवती—कन्याओं का प्रेम क्रमश: प्रधान व अप्रधान रसों में स्वेच्छया निबद्ध किया गया है।। २०—२१ ।।

साधरणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ॥ २१ ॥

तद्व्यवहारो विस्तरत: शास्त्रान्तरे निदर्शित: । दिङ्मात्रं तु –

परामर्श – आलोचक शिरोमणि **रुद्रट** का यह कथन मननीय है –

'नही कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्या: ।
कर्त्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्य: ॥ का० १४।१२
किं तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति ।
आराधयितुं विदुषस्तेन न दोष: कवेरत्र: ॥ १३ ॥

किन्तु उत्तरवर्ती भक्तिवादी **रूपगोस्वामी** ने कृष्णभक्तिरूप माधुर्यरस में अङ्गीरस में ही परकीया का उपादान उचित माना है। वस्तुत: इस मत में गोपियों की उपासना ही आदर्श मानी गई है । श्रीरूपगोस्वामी ने अपने मत का प्रतिपादन – **'भक्तिरसामृत सिन्धु'** तथा **'उज्ज्वलनीलमणि'** में विस्तार के साथ किया है –

'नेष्टं यदङ्गिनि रसे कविभि: परोढा, तद्गोकुलांबुजदृशां कुलमन्तरेण। आशंसया रतिविधे रक्तारितानां कंसारिणा रसिक मण्डल शेखरेण' ॥

रसमञ्जरीकार के अनुसार **'अन्या'** की परिभाषा है – विवाहित पति को छोड़कर अन्य पुरुष पर गुप्तरूप से अनुराग करनेवाली स्त्री अन्या है। 'अप्रकटपुरुषाऽनुरागा परकीया।' अर्थात् जो परपुरुषानुरक्ता है, वह परकीया नायिका कहलाती है। आलंकारिकों ने अन्या नायिका का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। किन्तु साहित्यशास्त्रकारों की अपेक्षा कामशास्त्रकारों ने परकीया नायिकाओं का विश्लेषण अधिक विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है ॥ २०–२१ ॥

(ग) साधारणस्त्री –

कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् गणिका साधारणस्त्री **इत्यन्वय:** ॥ २१ ॥

कारिकार्थ – साधारणेति। गणिका (वेश्या) को साधारणस्त्री (सामान्यनायिका) कहा गया हैं यह कला, प्रगल्भता तथा धूर्तता से युक्त होती है ॥ २१ ॥

{अर्थात् – गीत–नृत्यादि संगीत कला में, परप्रतारणा कला में निपूण, ढीठ स्वभाववाली, धूर्त वेश्या साधारणस्त्री (सामान्यनायिका) होती है।}

परामर्श – स्वीया नायिका अपने विधिविधानपूर्वक परिणीत पति में ही अनुरक्त होती है, परकीया–(अन्योढा) अपने पति के अतिरिक्त (अन्य) प्रेमी के साथ प्रेम करती है और कन्या अपने प्रेमी में अनुरक्त होती है, किन्तु साधारण स्त्री सर्वसामान्य जन में अनुरक्त होती है, किसी विशेष व्यक्ति में नहीं। अत: उसे सामान्यनायिका कहा जाता है।

साधारणस्त्री को 'गणिका' नाम से भी अभिहित किया जाता है। यह दो प्रकार की होती है – (१) **एकान्तावरुद्धा** और (२) **सर्वभोग्या** । प्रथम एकान्तावरुद्धा राजाओं की ही प्रणयिनी होने योग्य होती है, और सर्वभोग्या के विषय में धनञ्जय बताते हैं – (दशरूप० २।२२)॥ २१ ॥

'तदिति। उस (साधारण स्त्री) का व्यवहार **(वात्स्यायन कृत कामसूत्र आदि)**

छन्नकामसुखार्थाज्ञस्वतन्त्राहंयुपण्डकान् ।
रक्तेव रञ्जयेदाढ्यान्निःस्वान्मात्रा विवासयेत् ।। २२ ।।

छन्नं ये कामयन्ते ते छन्नकामाः श्रोत्रियवणिग्लिङ्गिप्रभृतयः, सुखार्थः अप्रयासावाप्तधनः सुखप्रयोजनो वा, अज्ञो मूर्खः स्वतन्त्रो निरङ्कुशः, अहंयुरहंकृतः, पण्डको वातषण्डादिः, एतान् बहुवित्तान् रक्तेव रञ्जयेदर्थार्थम् — तत्प्रधानत्वात्तद्वृत्तेः । गृहीतार्थान्कुट्टिन्यादिना निष्कासयेत् पुनः प्रतिसन्धानाय। इदं तासामौत्सर्गिकं रूपम् ।।

अन्य शास्त्रों में विस्तार से दिखाया गया है। यहाँ उसका संकेत मात्र किया जाता है —

सा छन्नकामसुखार्थाज्ञस्वतन्त्राहंयुपण्डकान् आढ्यान् रक्ता इव रञ्जयेत् मात्रा निःस्वान् विवासयेत् **इत्यन्वयः** ।। २२ ।।

कारिकार्थ — छन्नकामेति। वह छिपकर काम—तृप्ति करनेवाले, सरलता से या अनायास धन अर्जित करनेवाले, अथवा सरलता से धन दे देने वाले, मूर्ख, स्वच्छन्द, अभिमानी, और नपुंसक (पंडक) आदि को धनवान् बने रहने तक अनुरक्ता के समान अनुरञ्जित करती है, तथा अर्थ—शक्ति (धन) कम हो जाने पर इन्हें (अपनी) माता के द्वारा निष्कासित करा देती है ।। २२ ।।

वृत्त्यर्थ — छन्नमिति । जो प्रच्छन्नरूप से (छिपकर) काम तृप्ति करते हैं, वे **'छन्नकाम'** कहलाते हैं, यथा—वेदाध्ययन करने वाले, व्यापारी, तथा सन्यासी आदि। **'सुखार्थ'** से तात्पर्य है — अनायास धनार्जन करने वाले, अथवा सुख—प्राप्ति जिनके धन का प्रयोजन हो, **'अज्ञ'** का अर्थ है मूर्ख, **'स्वतन्त्र'** से तात्पर्य है— निरङ्कुश—स्वेच्छाचारी, **'अहंयु'** का अर्थ है— अभिमानी, **'पण्डक'** कहते हैं — वात आदि रोगों (दोषों) से ग्रस्त नपुंसक व्यक्ति को । **{चरक के अनुसार — (द्वितीय अध्याय) वातरोग से पीडित व्यक्ति जिनके अण्डकोष नष्ट हो चुके होते हैं वे पण्डक या शण्डक कहलाते हैं — ''वाय्वग्निदोषाद् वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातिक पण्डकः सः } जब तक ये सभी धनसम्पन्न रहते हैं तब तक इनसे धन प्राप्ति के लिए अनुरक्ता के समान प्रेम व्यवहार करती है, क्योंकि इस साधारण स्त्री की वृत्ति (अर्थात् वेश्यावृत्ति) धन प्रधान होती है। (अर्थात् धन के लिए ही उसकी वृत्ति होती है।) सम्पूर्ण सम्पत्ति प्राप्त कर लेने पर, (अर्थात् इन व्यक्तियों की अर्थ शक्ति क्षीण हो जाने पर) वह कुट्टिनी आदि के द्वारा इन्हें निष्कासित करवा देती है। (वह स्वयं इन्हें नहीं निकालती क्योंकि) पुनः (धनागम होने पर) उनसे मेल—मिलाप हो सके। यह उन वेश्याओं का औपसर्गिक— (प्रकृतिसिद्ध—स्वाभाविक) लक्षण है ।। २२ ।।**

परामर्श — रसमञ्जरी के अनुसार सामान्य वनिता का लक्षण इस प्रकार है — वित्तमात्र की प्राप्ति के प्रयोजन से जो अनुराग के लिए सुसज्ज होती है, उसे सामान्य वनिता कहा जाता है — 'वित्तमात्रोपाधिक सकलपुरुषाऽनुरागा सामान्य वनिता।' शृङ्गारमञ्जरी के अनुसार सामान्य वनिता का स्वरूप इस प्रकार है — 'अपरिणीत फल निमित्तकानेक पुरुषसंभोगा सामान्या ।'

रूपकेषु तु –

रक्तैव त्वप्रहसने, नैषा दिव्यनृपाश्रये ।

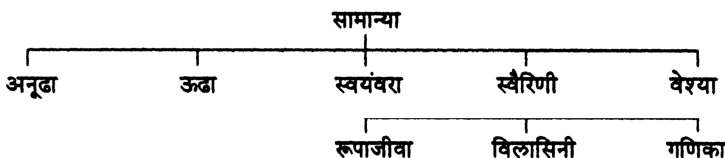
प्रहसनवर्जिते प्रकरणादौ रक्तैवैषा विधेया । यथा मृच्छकटिकायां वसन्तसेना चारुदत्तस्य । प्रहसने त्वरक्तापि हास्यहेतुत्वात् । नाटकादौ तु दिव्यनृपनायके नैव विधेया ॥

अथ भेदान्तराणि –

आसामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः ॥ २३ ॥

जो अविवाहित है, सम्भोगार्थ सम्प्रदान की आकांक्षा करती है तथा अनेक पुरुषों के साथ सम्बन्ध रखती है, वह सामान्या नायिका है ।

शृङ्गारप्रकाश में सामान्या का विभाजन इस प्रकार किया गया है –



स्वयंवर के समय सीता और द्रौपदी ने वीर्यशुल्क की मांग की थी, अतः **भोजप्रणाली** के अनुसार उन्हें सामान्याओं की श्रेणी में रखा जाता है॥ २२ ॥

रूपेति। रूपकों में तो –

अप्रहसने तु रक्ता एव, (प्रहसने तु अरक्ताऽपि) एषा दिव्यनृपाश्रये तु न **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ – रक्तैवेति। प्रहसन से भिन्न अन्यरूपकों में गणिका (साधारणस्त्री) को (नायक के प्रति) अनुरक्त ही अंकित करना चाहिए। किन्तु जिस रूपक का आश्रय कोई दिव्य (देव आदि) या राजा नायक हो तो उस रूपक में इस प्रकार की साधारण (गणिका) वर्णित नहीं करनी चाहिए ॥

वृत्त्यर्थ – प्रहसनेति । प्रहसन को छोड़कर प्रकरण आदि में इस (वेश्या–गणिका) को अनुरक्ता के रूप में ही वर्णित करना चाहिए। यथा – शूद्रक के मृच्छकटिक (प्रकरण) में वसन्तसेना चारुदत्त के अनुरक्ता के रूप में ही अंकित (वर्णित) की गई है। प्रहसन में तो अरक्ता (अर्थात् नायक के प्रति प्रेम न करने वाली) भी चित्रित की जा सकती है, क्योंकि प्रहसन का एकमात्र उद्देश्य हास्य की सृष्टि करना होता है। किन्तु नाटक आदि में, जहाँ दिव्य पुरुष या राजा आदि नायक के रूप में चित्रित हों, वहाँ साधारण स्त्री (गणिका) का चित्रण (नायिका के रूप में) नहीं करना चाहिए ।

अथेति। अब ग्रन्थकार नायिकाओं के अन्य भेदों का निरूपण करते हैं –

आसाम् स्वाधीनपतिकादिका अष्टौ अवस्थाः स्युः **इत्यन्वयः** ॥ २३ ॥

कारिकार्थ – आसामिति । इन (सभी प्रकार की नायिकाओं) की 'स्वाधीनपतिका' आदि आठ अवस्थाएँ होती हैं ॥ २३ ॥

स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया अभिसारिकेत्यष्टौ स्वस्त्रीप्रभृतीनामवस्था: । नायिकाप्रभृती—नामप्यवस्थारूपत्वे सत्यवस्थान्तराभिधानं पूर्वासां धर्मित्वप्रतिपादनाय ।।

अष्टाविति न्यूनाधिकव्यवच्छेद: ।।

न च वासकसज्जादे: स्वाधीनपतिकादावन्तर्भाव: । अनासन्नप्रियत्वा—द्वासकसज्जाया न स्वाधीनपतिकात्वम् । यदि चैष्यत्प्रियापि स्वाधीनपतिका प्रोषितप्रियापि

वृत्त्यर्थ — स्वाधीनेति । १. स्वाधीनपतिका, २. वासकसज्जा, ३. विरहो—त्कण्ठिता, ४. खण्डिता, ५. कलहान्तरिता, ६. विप्रलब्धा, ७. प्रोषित प्रिया, तथा ८. अभिसारिका — ये आठ अवस्थाएँ स्वकीया आदि (अर्थात् परकीया एवं सामान्या) नायिकाओं की हुआ करती है। यद्यपि **मुग्धा, मध्या** आदि नायिका होना भी (स्त्रियों की) अवस्थारूप ही है, (दूसरे शब्दों में— स्वकीया आदि नायिका होना भी स्त्रियों की एक अवस्था विशेष ही है।) तथापि (स्वाधीनपतिका आदि) दूसरे तरह की अवस्थाओं (दशाओं) का अभिधान पूर्व की अवस्थाओं में (अर्थात् पूर्व कथित) धर्मित्व प्रतिपादन के लिए किया गया है।

{अर्थात्—पूर्व कथित सोलह प्रकार के भेदों को बतलाकर पुन: नायिकाओं की आठ अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है, इसका तात्पर्य यही है कि उन—उन दशाओं की नायिकाएँ इन—इन दशाओं (अवस्थाओं) के धर्म से भी युक्त हुआ करती हैं। नायिकाओं की पूर्व कथित अवस्थाएँ धर्मी हैं, और ये पुन: कही गई आठ अवस्थाएँ (दशाएँ) धर्म हैं।}

अष्टाविति। 'आठ'—इस संख्या का प्रयोग केवल निश्चित सीमा बाँधने के लिये किया गया है, अर्थात् ये अवस्थाएँ आठ ही हैं, न कम और न अधिक, यह बतलाने के लिए **'अष्टावेव'** — इस अवधारण का प्रयोग किया गया है। इसी तथ्य को ग्रन्थकार आगे स्पष्ट करते हैं कि ये अवस्थाएँ आठ से कम नहीं हो सकती, क्योंकि इन अवस्थाओं में से किसी एक अवस्था का भी एक दूसरे में अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

नचेति । ***वासकसज्जा*** — (यह नायिका प्रिय के आने के समय प्रसन्नता से स्वयं को सजाती है।) इसका **अन्तर्भाव** (समावेश) **स्वाधीनपतिकादि** नायिका में **नहीं किया जा सकता** । क्योंकि **स्वाधीन पतिका** का पति उसके पास में ही होता है, और **'वासक सज्जा'** नायिका का पति (प्रियतम) उसके पास नहीं होता। वह आनेवाला होता है और इसीलिए **'वासकसज्जा'** स्वयं को सजाती है। इस प्रकार 'वासकसज्जा' एष्यत्प्रिया (जिसका पति आनेवाला है।) नायिका है। यदि इस एष्यत्प्रिया को भी स्वाधीनपतिका कहा जाय तो प्रोषितप्रिया को भी स्वाधीनपतिका से अलग—नहीं किया जाना चाहिए, अर्थात् प्रोषितप्रिया को पृथक करने की क्या आवश्यकता है ? (अन्यथा उसे भी स्वाधीनपतिका कहना पड़ेगा।) वैसे तो एष्यत्प्रियत्व उसमें भी दिखाई देता है। यदि यह कहा जाय, कि वासकसज्जा तथा उसके प्रियतम के मध्य में देशकाल का व्यवधान कम है, तथा प्रोषितप्रिया तथा उसके प्रियतम के मध्य में देशकाल का

न पृथग्वाच्या । न चेयता व्यवधानेनासत्तिरिति नियन्तुं शक्यम् । न चाविदित-प्रियव्यलीकायाः खण्डितात्वम् । नापि प्रवृत्तरतिभोगेच्छायाः प्रोषितप्रियात्वम् । स्वयमगमनान्नायकं प्रत्यप्रयोजकत्वान्नाभिसारिकात्वम् । एवमुत्कण्ठिताप्यन्यैव पूर्वाभ्यः। औचित्यप्राप्तप्रियागमनसमयातिवृत्तिविधुरा न वासकसज्जा । तथा विप्रलब्धापि वासकसज्जावदन्यैव पूर्वाभ्यः, — उक्त्वा नायात इति प्रतारणाधिक्याच्च वासक-सज्जोत्कण्ठितयोः पृथक् । कलहान्तरिता तु यद्यपि विदितव्यलीका तथाप्य-गृहीतप्रियानुनया पश्चात्तापप्रकाशितप्रसादा पृथगेव खण्डितायाः । तत् स्थितमेतदष्टाव-वस्था इति ॥

व्यवधान अधिक लम्बा है, तो इस व्यवधान की कोई निश्चित सीमा नहीं है, क्योंकि (समय या देश कृत) इतना व्यवधान होने पर समीपता मानी जायगी (और इतने से अधिक का व्यवधान होने पर दूरी मानी जायेगी)—ऐसा नियम बनाना संभव नहीं है।

नचेति। अपने प्रियतम के अपराध का ज्ञान न होने से वह (वासकसज्जा) **खण्डिता** भी नहीं हो सकती । **'अविदित प्रियव्यलीका'** — प्रियतम के अपराध को न जाननेवाली नायिका खण्डिता नहीं हो सकती। रति और भोग की इच्छा में प्रवृत्त रहने के कारण वह (वासकसज्जा) **प्रोषितप्रिया** भी नहीं हो सकती। उसे **'अभिसारिका'** भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह स्वयं नायक के पास नहीं जाती तथा उसमें नायक के प्रति प्रयोजकत्व नहीं होता। (अर्थात् —अभिसारिका वह होती है जो कामेच्छा से प्रियतम के समीप स्वयं अभिसरण करे या उसे अपने पास बुलाए) अतः **वासकसज्जा** का अन्तर्भाव **अभिसारिका** में नहीं हो सकता ।

एवमिति। इसी प्रकार **विरहोत्कण्ठिता** नायिका भी पूर्वोक्त — **स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, प्रोषितप्रिया, खण्डिता** या **अभिसारिका** — नायिकाओं से भिन्न है।

औचित्येति। प्रियतम के आगमन का उचित समय व्यतीत हो जाने के कारण व्याकुल रहनेवाली नायिका **वासकसज्जा** भी नहीं कहीं जा सकती, उसे **विरहोत्कण्ठिता** ही कहना पड़ेगा। इसी प्रकार **विप्रलब्धा** भी **वासकसज्जा** नायिका की तरह पूर्वोक्त—अर्थात् अन्य अवस्थावाली—नायिकाओं से भिन्न ही है। क्योंकि **विप्रलब्धा** का प्रियतम कहकर भी (वादा करके भी) नहीं आता—प्रवञ्चना की अधिकता के कारण **विप्रलब्धा, वासकसज्जा** तथा **विरहोत्कण्ठिता** नायिकाओं से भिन्न है ।

कलहान्तरितेति। (खण्डिता नायिका की तरह) **कलहान्तरिता** यद्यपि अपने प्रियतम के परनारीसम्भोग रूप अपराध को जानने वाली — विदितव्यलीका होती है तथापि वह खण्डिता नायिका से पृथक् ही है। क्योंकि वह — **कलहान्तरिता** — प्रियतम के द्वारा किये गये अनुनय को स्वीकार नहीं करती है और बाद में पश्चात्ताप द्वारा अपनी प्रसन्नता को प्रकट करती है। अतः कलहान्तरिता खण्डिता नायिका से पृथक् सिद्ध होती है। इस प्रकार यह निश्चित है कि नायिकाओं की आठ ही अवस्थाएँ होती हैं — 'तत् स्थितम् (निश्चित हुआ) एतद् अष्टावस्था इति' ॥

तत्र –

आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका ।

यथा –

'मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति ।
अन्यापि किं न सखि भाजनमीदृशानां
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तराय: ।।'

परामर्श – काम, नाट्य, व साहित्य शास्त्रकारों द्वारा प्रस्तुत अष्टनायिकाओं का वर्गीकरण उनकी अवस्थाओं पर अधिष्ठापित है। नायक एवं नायिका के पारस्परिक अनुराग के साथ यह वर्गीकरण सम्बन्धित है। अत: सम्भव है कि केवल एक ही नायिका इन सभी अवस्थाओं की पात्र बन सकेगी । भरत ने अष्टनायिकाओं का उल्लेख नाट्य शास्त्र में किया है। (ना० शा० २४–२०३, ४) उनके अनुसार जिस नायिका का पति सदा उसके वशीभूत रहे वह **स्वाधीन पतिका**, प्रवासी देशान्तरवासी प्रियकरवाली **प्रोषिता, प्रोषितपतिका, (प्रोषितभर्तृका)**। प्रिय के स्वागत के लिए साज शृङ्गार सामग्री सह तत्पर **वासकसज्जा** । प्रियकर के विरह–वियोग से व्यथित, **उत्का, विरहोत्कण्ठिता** । प्रिय के प्रणयद्रोह से क्षुभित **खण्डिता** । प्रिय से कलह करने के उपरान्त पश्चात्ताप–दग्धा **कलहान्तरिता** । संयोग–संकेत स्थान पर प्रिय से मिलने के लिए स्वयं गमन करनेवाली **अभिसारिका** । संकेत स्थान पर प्रिय के न आने से व्यथिता है **विप्रलब्धा**।

आज जो नायिका **स्वाधीनपतिका** होने के नाते सन्तोष और गर्व का अनुभव करती होगी, वही पति के प्रवास गमन पर **प्रोषितपतिका** बनेगी । आज वह (प्रिय) आयेगा, अत: स्वागत की तैयारी से सम्पन्न होगी और इसलिए वह **वासकसज्जा** कहलाएगी । पति के अन्य प्रणय अभिसार के भेद का ज्ञान होने पर वह **खण्डिता** होगी–आदि सभी अवस्थाएँ किसी एक ही नायिका में अन्यान्य परिस्थितियों एवं संयोगवशात् निर्माण होने की सम्भाव्यता है । **वक्रोक्तिगर्विता** नामक एक नई और नवीं महानायिका की अभिव्यञ्जना **शृङ्गारमंजरी** ने की है ।

(१) तत्रेति। उपर्युक्त नायिका – भेदों में **स्वाधीनपतिका** – नायिका का लक्षण इस प्रकार है –

आसन्नायत्तरमण्या हृष्टा स्वाधीनभर्तृका इत्यन्वय: ।

कारिकार्थ – आसन्नेति। जिस नायिका का पति पास में रहता है तथा उसके वश में (अधीन) रहता है तथा जो (प्रिय के समीप रहने से) प्रसन्न रहा करती है – वह स्वाधीनभर्तृका (स्वाधीनपतिका) कहलाती है ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – (कोई सखी किसी स्वाधीनभर्तृका के गर्व को देखकर यह कहती है–)

मा गर्वमिति । 'हे सखि ! इस बात का गर्व मत कर कि प्रियतम ने स्वयं

यथा **वासकसज्जा** –

मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये ॥ २४ ॥

स्वमात्मानं वेश्म च हर्षेण भूषयत्येष्यति प्रिये वासकसज्जा । यथा –

'निजपाणिपल्लवतलस्खलनादभिनासिकाविवरमुत्पतितैः ।
अपरा परीक्ष्य शनकैर्मुमुदे मुखवासमास्यकमलश्वसनैः ॥' (शिशु० ९.५२)

विघ्न न करे तो दूसरी स्त्री भी क्या इस प्रकार के सौभाग्य की पात्र नहीं हो सकती?

{अर्थात् तुम्हारा प्रेमी तुमसे विशेष प्रेम नहीं करता, इसीलिए वह तुम्हारे कपोलों पर मञ्जरी अंकित कर लेता है, किन्तु मेरा प्रियतम मुझसे अत्यधिक प्रेम करता है और इसीलिए जब भी वह मेरे कपोलों पर पुष्प मञ्जरी अंकित करना चाहता है, तभी मेरे शरीर का स्पर्श होने के कारण सात्त्विक भाव जनित कम्पन (हाथ की कँपकपी) कपोलों पर मञ्जरी अंकित करने में विघ्न कर देता है। और इसीलिए मेरे गालों पर मञ्जरी अंकित नहीं होने पाती। निश्चय ही मैं तुमसे अधिक सौभाग्यशालिनी हूँ।}

परामर्श – अष्टविधनायिकाओं में स्वाधीनपतिका प्रकृति से सरल और चरित्र से विमल होने से तथा अपने स्वाधीनपतिकत्व के कारण वैवाहिक जीवन का सारसर्वस्व उसके स्वाधीन होने से इस नायिका को विवेचन के लिए संभवतः अग्रिम स्थान दिया गया है।

शृङ्गारमञ्जरी में स्वाधीनपतिका के आठ भेद बतलाए गये हैं – **स्वीया, मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, परकीया** तथा **सामान्या** एवं **दूतवंचिका** तथा **भाविशंकिता** अन्तिम दो भेद लेखक की मौलिक सर्जना है ॥

२. **वासकसज्जा** –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'वासकसज्जा'** की परिभाषा बताते हैं –

वासकसज्जा प्रिये एष्यति स्वम् मुदा मण्डयति **इत्यन्वयः** ॥ २४ ॥

कारिकार्थ – मुदेति । 'प्रियतम आयेंगे–ऐसा ज्ञान होने पर जो नायिका प्रसन्नता से स्वयं को सजाती है, वह 'वासकसज्जा' कहलाती है ॥ २४ ॥

वृत्त्यर्थ – स्वेति । प्रिय के आगमन के समय प्रसन्नता के साथ स्वयं को तथा गृह (निवास) को अलंकृत करनेवाली नायिका वासकसज्जा होती है। जैसे – {**माघकृत शिशुपालवध काव्य में** –}

निजेति। 'कोई नायिका अपने हाथरूपी पल्लव के किनारे से (टकराकर) स्खलित होने के कारण नासिका के छिद्रों की ओर उड़े हुए मुख–कमल के श्वास–वायु के द्वारा शनैः–शनैः अपने मुख की सुवास की परीक्षा (सुवास का अनुभव) करके हर्षित हो रही थी' ॥ २४ ॥

परामर्श – शृङ्गारमञ्जरीकार ने 'अवसितप्रवासपतिका' नामक वासक–सज्जिका का एक उपभेद उल्लिखित किया है ॥ २४ ॥

अथ विरहोत्कण्ठिता –

चिरयत्यव्यलीके तु [१] विरहोत्कण्ठितोन्मना: ।

यथा –

'सखि स विजितो वीणावाद्यै: कयाप्यपरस्त्रिया
पणितमभवत्ताभ्यां तत्र क्षपाललितं ध्रुवम् ।
कथमितरथा शेफालीषु स्खलत्कुसुमास्वपि
प्रसरति नभोमध्येऽपीन्दौ प्रियेण विलम्ब्यते ।।'

अथ खण्डिता –

ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता ।। २५ ।।

---

३. विरहोत्कण्ठिता –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'विरहोत्कण्ठिता'** नायिका का लक्षण बताते हैं –

अव्यलीके (नायके) तु चिरयति विरहोत्कण्ठिता मता **इत्यन्वय:** ।।

कारिकार्थ – चिरयतीति । प्रिय के अपराधी न होने पर भी निर्धारित समय पर आने में विलम्ब करने वाले प्रियतम के वियोग में उससे मिलने के लिए उत्कण्ठित (उन्मना) हृदयवाली नायिका को विरहोत्कण्ठिता कहा जाता है ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – {कोई नायिका अपने प्रिय के आने की प्रतीक्षा कर रही थी। किन्तु अर्धरात्रि के व्यतीत हो जाने पर भी उसका प्रिय नहीं आया। अत: वह अपने हृदय में उठने वाले विचारों को अपनी सखी से कहती है} –

सखीति। 'हे सखि ! ऐसा प्रतीत होता है कि वीणावादन के द्वारा किसी दूसरी (अज्ञातनामा) स्त्री ने उसे (प्रियतम को) जीत लिया है। निश्चय ही उन दोनों ने सम्पूर्ण रात्रि पर्यन्त क्रीड़ा करने की शर्त लगा ली है (पणितम्)। यदि ऐसा न होता तो शेफालिका (हरशृङ्गार) के पुष्पों का गिरना प्रारम्भ हो जाने पर भी और चन्द्रमा के आकाश के मध्यभाग में आ जाने पर भी मेरा प्रियतम आने में विलम्ब क्यों करता?'।

परामर्श – रसमञ्जरी में इस नायिका को **'उत्का'** कहा गया है – 'संङ्केतस्थलं प्रति भर्तुरनागमनकारणं या चिन्तयति सा उत्का ।'

शृङ्गारमञ्जरी में इस नायिका की व्याख्या इस प्रकार की गई है – 'निवास एवं कार्यान्तरव्यासङ्गप्रयुक्तप्रियविरहवती विरहोत्कण्ठिता' ।

४. **खण्डिता** –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'खण्डिता' नायिका की परिभाषा बताते हैं –

अन्यासङ्गविकृते ज्ञाते ईर्ष्याकषायिते खण्डिता नायिका **इत्यन्वय:** ।। २५ ।।

कारिकार्थ – ज्ञाते इति । (प्रियतम को) अन्य नायिका के सहवास से विकृत अर्थात् चिह्नाङ्कित देखकर जो (नायिका) ईर्ष्या से कलुषित हो उठती है, वह खण्डिता कहलाती है ।। २५ ।। {अर्थात् जब नायिका को अन्य स्त्री से सम्भोग करने का नायक का अपराध – (उसके शरीर पर अंकित नखक्षत–दन्तक्षत चिह्नों से) ज्ञात हो जाता है, तथा इस

यथा –

'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ।।' (शिशु० ११.३४)

अथ कलहान्तरिता –

कलहान्तरिताऽमर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक् ।

अपराध के कारण जब वह ईर्ष्या से कलुषित हो उठती है तब वह खण्डिता कहलाती है।}

यथेति। जैसे – {**शिशुपालवध**–महाकाव्य में नायिका अपराधी नायक को इस प्रकार कहलाती है –}

नवनखेति। (अन्य स्त्री के साथ सहवास करने के कारण) नवीन नखक्षतों से चिह्नित अंग को वस्त्र से छिपाते हो तथा (उसके द्वारा किये हुए) दन्तक्षतयुक्त अधर को हाथ से ढककर छिपाते हो, किन्तु प्रत्येक दिशा में (अर्थात् सर्वत्र) फैलने वाले, अन्यस्त्री के साथ किये हुए सम्भोग की सूचना देने वाले नव परिमलगन्ध (सम्मर्दनोत्पन्न गन्ध) को किससे छिपा सकते हो? अर्थात् किसी से नहीं' ।। २५ ।।

परामर्श – गाथा सत्तसई (क्र० ६५३) में खण्डिता का एक सुन्दर उदाहरण परिलक्षित होता है, जो इतना सटीक है कि ऐसा प्रतीत होता है कि उसी से खण्डिता की परिभाषा बनी हो ।

'पच्चूसागअ रञ्जिअदेह पिआलोअ लोअणाणन्द ।
अण्णत्त खविअसव्वरि णहभूषण दिणवइणमो दे ।।'

सुबह उगने वाले सूर्य को और सुबह घर में आने वाले प्रियतम को लक्ष्य करके कहा है – सूर्यपक्षी ! हे दिन पति सूरज ! तु कहीं और रात बिताकर सुबह उठता है, तेरी देह कैसे लाल बन गयी है। तेरा दर्शन हृदय को प्रिय और आँखों को आनन्द देनेवाला है। तू भूषण है। तुझे मेरा प्रणाम और प्रतिपक्षी को लक्ष्य करके–हे दिनपति केवल दिन में घर में रहने वाले पति देव ! तुम सुबह घर आते हो किन्तु रात में कहीं अन्यत्र तेरे शरीर पर अंकित हुए रंगों के चिह्न दिखाई देते हैं। तुम देखने में कितने मधुर हो पर तुम से हमें केवल नेत्र सुख ही मिलता है । तुम सारी रात और कहीं किसी स्त्री के सहवास में बिताते हो । तुम अन्य स्त्री को आभूषण देते हो और उनके द्वारा अर्पित दन्त और नख–क्षतों को धारण करते हो । हे दिनपति! तुम्हें दूर से ही नमस्कार–क्योंकि तुम्हारा और हमारा सम्बन्ध केवल नमस्कार के लिए ही है ।

५. कलहान्तरिता –

अथेति। अब **'कलहान्तरिता'** नायिका का लक्षण बताते हैं –

अमर्षात् विधूते अनुशयार्तियुक् कलहान्तरिता इत्यन्वयः ।।

कारिकार्थ – कलहेति। जो (नायिका) क्रोध से अपराधी नायक का तिरस्कार कर दे और पश्चात् पश्चात्ताप करती रहे, उसे 'कलहान्तरिता' नायिका कहा जाता है' ।।

यथा –

निःश्वासा वदनं दहन्ति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते
निद्रा नैति न दृश्यते प्रियमुखं नक्तंदिवं रुद्यते ।
अङ्गं शोषमुपैति पादपतितः प्रेयांस्तथोपेक्षितः
सख्यः कं गुणमाकलय्य दयिते मानं वयं कारिताः ।।' (अमरु० ९२)

अथ विप्रलब्धा –

विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता ।। २६ ।।

यथा –

'उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नायातः ।
याऽतः परमपि जीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः ।।'

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – {अपनी सखियों से मान की शिक्षा प्राप्त कर कोई नायिका अपराधी नायक का तिरस्कार कर देती है और बाद में पश्चात्ताप करती हुई उनसे कहती हैं } – **अमरुशतक में** –

निःश्वासेति। ('आये हुए प्रियतम का तिरस्कार करने से होने वाले पश्चात्ताप से उत्पन्न ये) ऊष्ण निःश्वास मेरे मुख को जला रहे हैं, हृदय जड़ से उखड़ा चला जा रहा है, निद्रा तो आती ही नहीं, प्रियतम के मुखारविन्द को देख न पाने के कारण ये आँखें अहर्निश सजल रहती हैं, शरीरावयव सूखते जा रहे हैं, चरणों पर गिरे हुए प्रियतम का तब तो तिरस्कार कर दिया था, अब तुम्हीं बताओ, कौन सा मेरा हित–लाभ का विचार कर तुम सभी ने मुझे प्रियतम के प्रति मान करने के लिए प्रेरित किया था?'।

परामर्श – नाट्यदर्पणकार के विचार में – **'कलहान्तरिता'** और **खण्डिता** के व्यक्तित्व में विशेष अन्तर है। **कलहान्तरिता** तो कलह के कारण प्रिय के मिलन के प्रति निरभिलाष रहती है, जबकि **खण्डिता** को कलह के अभाव में प्रिय–मिलन की अभिलाषा रहती है। **'कलहान्तरिता'** अपने किये पर **पश्चात्ताप** करती है, किन्तु **'खण्डिता'** अपने प्रिय पर **ईर्ष्या** रखती है।'

६. विप्रलब्धा –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'विप्रलब्धा'** की परिभाषा बताते हैं –

उक्तसमयम् अप्राप्ते अतिविमानिता विप्रलब्धा इत्यन्वयः ।। २६ ।।

कारिकार्थ – विप्रलब्धेति । (पूर्व) निर्धारित समय पर प्रिय के न आने से स्वयं को अत्यधिक अपमानित समझनेवाली नायिका विप्रलब्धा कही जाती है ।। २६ ।।

यथेति। जैसे – {कोई नायिका सङ्केत स्थान पर निश्चित किये हुए समय पर दीर्घकाल तक नायक की प्रतीक्षा करने के पश्चात् ऊब कर अपनी दूती से कहती है –}

उत्तिष्ठेति। 'हे दूती ! उठो, यहाँ से चलें, एक प्रहर व्यतीत हो गया, फिर भी वह (प्रियतम) नहीं आया। जो इसके पश्चात् भी जीवित रहे वह तो उसी का प्राणनाथ होगा' ।। २६ ।।

अथ प्रोषितप्रिया —

दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया ।

यथाऽमरुशतके —

'आदृष्टिप्रसरात्प्रियस्य पदवीमुद्वीक्ष्य निर्विण्णया
विश्रान्तेषु पथिष्वहःपरिणतौ ध्वान्ते समुत्सर्पति ।
दत्त्वैकं सशुचा गृहं प्रति पदं पान्थस्त्रियास्मिन्क्षणे
माभूदागत इत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितम् ॥' (अमरु० ७६)

अथाभिसारिका —

कामार्ताऽभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाऽभिसारिका ॥ २७ ॥

यथाऽमरुशतके —

---

७. प्रोषितप्रिया —

अथेति। अब ग्रन्थकार **'प्रोषितप्रिया'** की परिभाषा देते हैं —

कार्यतः दूरदेशान्तरे तु प्रोषितप्रिया भवति **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ — दूरदेशेति। जिस नायिका का प्रियतम किसी कार्य से अन्यत्र—दूर देश में स्थित होता है, वह प्रोषितप्रिया कहलाती है ॥

यथेति। जैसे अमरुशतक में — {किसी वियोगिनी का वर्णन इस प्रकार है —}

आदृष्टीति। 'जहाँ तक दृष्टि जा सकती थी वहाँ तक वह विरहिणी नायिका प्रियतम का मार्गावलोकन करती रही। दिन के ढल जाने पर, अन्धकार के सर्वत्र व्याप्त हो जाने पर, पथिकों के आने—जाने का सिलसिला थम जाने पर, उस पथिक की स्त्री ने (परदेशी की) दुःख के साथ घर की ओर एक पद रखा ही था। (अर्थात् घर की ओर मुड़ी ही थी कि) कि 'कहीं इसी क्षण (वह) न आ गया हो' यह सोचकर शीघ्रता से पीछे की ओर गर्दन मोड़कर पुनः (उसे) देखने लगी।'

८. अभिसारिका —

अथेति। अब ग्रन्थकार **'अभिसारिका'** का लक्षण बताते हैं —

या कामार्ता अभिसरेत् वा कान्तम् अभिसारयेत् सा अभिसारिका **इत्यन्वयः** ॥ २७ ॥

कारिकार्थ — कामार्तेति। काम—वेदना से आर्त (व्याकुल) होकर जो (नायिका) अपने प्रियतम के पास स्वयं जाती है, अथवा उसे अपने पास बुलाती है, वह अभिसारिका कहलाती है ॥ २७ ॥

यथेति। जैसे अमरुशतक में — {कोई अभिसारिका — नायिका से यह कहती हैं —}

'उरसि निहितस्तारो हार: कृता जघने घने
कलकलवती काञ्ची पादौ रणन्मणिनूपुरौ ।
प्रियमभिसरस्येवं मुग्धे त्वमाहतडिण्डिमा
यदि किमधिकत्रासोत्कम्पं दिश: समुदीक्षसे ।।' (अमरु० ३१)

यथा च —

'न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि ।
निपुणं तथैनमुपगम्य वदेरभिदूति काचिदिति संदिदिशे ।।' (शिशु० ९.५६)

तत्र —

चिन्तानि:श्वासखेदाश्रुवैवर्ण्यग्लान्यभूषणै: ।
युक्ता: षडन्त्या द्वे चाद्ये क्रीडौज्ज्वल्यप्रहर्षितै: ।। २८ ।।

उरसीति। 'हे मुग्धे! वक्षस्थल पर चमकते मोतियों का हार, स्थूल नितम्बों पर कलकल शब्द—ध्वनि करती हुई करधनी और पैरों में रुनझुन करने वाले मणिनूपुरों को धारण करके यदि तुम इस प्रकार (शब्दध्वनि करती) ढिंढ़ोरा पीटती हुई प्रियतम् के पास अभिसरण (गमन) कर रही हो, तो फिर अत्यन्त भय से काँपती हुई इधर—उधर क्यों देख रही हो ?' (अर्थात् तुम्हें तो नि:शंक होकर गमन करना चाहिए, भय—भीत होने की क्या आवश्यकता ?)।

यथेति। अथवा जैसे — (माघ ९।५६) किसी नायिका ने अपनी दूति से यह कहा कि —

नचेति । इस (मेरे प्रियतम) के पास जाकर निपुणता से (कुशलता से) इस प्रकार कहना कि जिससे वह मेरी लघुता (मेरी संभोगेच्छा) भी न समझे और मेरे प्रति दया भी करे।'' (अर्थात्—मेरा प्रियतम मेरी कामेच्छा से मेरी निर्लज्जता—लघुता को भी न समझ सके और यहाँ आकर मेरी काम—वेदना को शान्त करने की दया भी करें)

परामर्श — अवलोककार धनिक ने इस पद्य की नायिका को **'अभिसारिका'** माना है। शिशुपालवध महाकाव्य के टीकाक़ार **मल्लिनाथ** इसी पद्य की टीका में इस नायिका को **'कलहान्तरिता'** मानते हैं — 'नायिका तु कलहान्तरिता। 'कोपात्कान्तं पराणुद्य पश्चात्तापसमन्विता' इति लक्षणात्। (९।५६) हमारे विचार में इसे अभिसारिका ही कहना उचित होगा। क्योंकि कलहान्तरिता नायिका पश्चात्ताप मात्र करती है, प्रियतम को अभिसरण के लिए बुलवाती नहीं है।। २७ ।।

तत्रेति। उन उपर्युक्त आठ प्रकार की नायिकाओं में —

कारिकार्थ — चिन्तेति। अन्तिम छ: नायिकाएँ (१. विरहोत्कण्ठिता, २. खण्डिता, ३. कलहान्तरिता ४. विप्रलब्धा, ५. प्रोषितप्रिया, तथा ६. अभिसारिका) चिन्ता, नि:श्वास, खेद, अश्रु, वैवर्ण्य (वर्ण—मुख—का फीका पड़ जाना) ग्लानि एवं अभूषण (आभूषणाभाव—सजावट का अभाव) से युक्त होती हैं, और प्रारम्भ की दो (स्वाधीनपतिका तथा वासकसज्जा) नायिकाएँ (शृंगारिक) क्रीडा में संलग्न रहती हैं, सदा प्रसन्न रहती है तथा उज्ज्वलता से युक्त होती हैं ।। २८ ।।

परस्त्रियौ तु कन्यकोढे । सङ्केतात्पूर्वं विरहोत्कण्ठिते, पश्चाद्विदूषकादिना सहाभिसरन्त्यावभिसारिके कुतोऽपि सङ्केतस्थानमप्राप्ते नायके विप्रलब्धे इति त्र्यवस्थतैवानयोरिति । अस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात् ॥

यत्तु मालविकाग्निमित्रादौ 'योऽप्येवं धीरः सोऽपि दृष्टो देव्याः पुरतः' इति मालविकावचनानन्तरम् 'राजा –

दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम् ।
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः ॥' (मालवि० ४.१४)

इत्यादि, तत्र खण्डितानुनयाभिप्रायेण, अपितु सर्वथा मम देव्यधीनत्वमाशङ्क्य निराशा मा भूदिति कन्याविश्रम्भणायेति ॥

तथाऽनुपसञ्जातनायकसमागमाया देशान्तरव्यवधानेऽप्युत्कण्ठितात्वमेवेति न

{यहाँ 'अभूषणैः' से तात्पर्य कान्तिहीनता – अर्थात् विषादपूर्ण चेहरे से है। इन छः नायिकाओं में से प्रत्येक नायिका का 'चिन्ता' आदि से युक्त होना आवश्यक नहीं है। ये यथासमय इन नायिकाओं में देखने को मिलते हैं, इतना ही ग्रन्थकार का अभिप्राय प्रतीत होता है।}

वृत्त्यर्थ – परेति। परकीया नायिका के रूप तो (चाहे वह ऊढा हो या अनूढा (कन्या) हो,) तीन ही प्रकार के होते हैं। संकेत स्थल पर प्रियतम से मिलने के पूर्व तक वह **'विरहोत्कण्ठिता'** रहती है और पश्चात् विदूषक (दूती, सखी आदि) आदि की सहायता से प्रियतम के पास जाने के कारण वह **'अभिसारिका'** तथा संकेतस्थल पर कार्यवशात् प्रियतम के न आने के कारण वह **'विप्रलब्धा'** हो जाती है। इस प्रकार की व्यवस्था से व्यवस्थित इनकी उक्त तीन ही अवस्थाएँ रहती हैं (आठ अवस्थाएँ नहीं) क्योंकि इन (ऊढा और कन्यका) का प्रियतम इनके अधीन नहीं होता। अतः अन्य पाँच अवस्थाएँ इनकी नहीं होती है।

यत्त्विति । 'मालविकाग्निमित्र' में मालविका का यह जो कथन कि 'तुम इतने निर्भय (धीर) हो, पर देवी (महारानी) के सम्मुख तुम्हारी स्थिति क्या थी – यह मैंने अच्छी तरह देख लिया है।'' मालविका के इस कथन पर राजा कहता है –

दाक्षिण्यमिति। 'हे बिम्ब (फल) के सदृश लाल ओष्ठों वाली ! (मालविके !) दक्षिण होना नायकों का कुल क्रमागत व्रत है। (अर्थात् सभी नायिकाओं के साथ सहृदयतापूर्ण व्यवहार करना यह कुलीन नायकों का कुल क्रमागत व्रत है।) किन्तु हे विशालाक्षि ! मेरे प्राण तो तुम्हारी ही आशा पर निर्भर है।'' इत्यादि ।

तत्रेति। यह कथन खण्डिता नायिका को मनाने के उद्देश्य से नहीं कहा गया है, अपितु मेरा पूर्णरूप से महारानी के अधीन होना समझकर तुम्हें (मेरे प्रति) निराशा न हो' – इस प्रकार कन्या (मालविका) को विश्वास दिलाने के उद्देश्य से यह कहा गया है। (अतः मालविका परकीया है, खण्डिता नहीं है।)

तथेति। इसी प्रकार (परकीया) नायिका का जब तक नायक के साथ समागम (मिलन) नहीं हुआ रहता और इस समयावधि में प्रियतम के परदेश में रहने पर भी

प्रोषितप्रियात्वम् अनायत्तप्रियत्वादेवेति ॥

अथासां सहायिन्यः —

दूत्यो दासी सखी कारूर्धात्रेयी प्रतिवेशिका ।
लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृमित्रगुणान्विताः ॥ २९ ॥

दासी — परिचारिका । **सखी** — स्नेहनिबद्धा । **कारूः** — रजकीप्रभृतिः ।

'परकीया' 'प्रोषितपतिका' की कोटी में नहीं आती, किन्तु वह प्रियतम के प्राप्त न होने से तथा उसके अधीन न होने से, **'उत्कण्ठिता'** ही कहलायगी ।

{अतः तात्पर्यार्थ यही है कि परकीया (कन्या और ऊढा) की तीन ही अवस्थाएँ — १. **विरहोत्कण्ठितात्व** २. **अभिसारिकात्व** और ३. **विप्रलब्धात्व** — ही हो सकती हैं। खण्डितात्व आदि अवस्थाएँ उसकी नहीं होती; क्योंकि प्रियतम उसके अधीन नहीं होता। जिसका प्रियतम स्वाधीन होता है, उसकी ही स्वाधीनपतिकात्व आदि आठ अवस्थाएँ हुआ करती हैं।}

परामर्श — प्रकृत प्रसङ्ग में **साहित्यदर्पण** के टीकाकार **पं० सिद्धान्त वागीश** की व्याख्या का तात्पर्य समझना आवश्यक है । उनके अनुसार — परकीया (कन्या और ऊढा) का प्रियतम सदा उसके सान्निध्य में न रहने से वह स्वाधीनपतिका की कोटी में नहीं आ सकती । कन्या और ऊढ़ा खण्डिता भी नहीं हो सकतीं क्योंकि उन्हें यह विदित होता है कि नायक की एक पत्नी है, और उसके शरीर पर परिलक्षित होने वाले दन्त—नखक्षतादि चिह्न पत्नी के साथ किये गये सम्भोग के फल हैं। इसीलिए वे—कन्या और ऊढा—**कलहान्तरिता** भी नहीं कही जा सकतीं। इसी प्रकार वे **प्रोषितपतिका** भी नहीं हो सकतीं, क्योंकि उनका प्रियतम तो सदा उनसे दूर ही रहता है। और जिसका प्रिय किसी कार्यवश जब परदेश चला जाता है तभी वह प्रोषितपतिका कही जाती है। पिता या पति के अधीन रहने वाली ये —कन्या और ऊढा—अपने प्रिय की प्रतीक्षा में स्वयं को तथा वासभवन को सजा भी नहीं सकतीं। अतः वे **वासकसज्जा** की कोटी में भी नहीं आ सकतीं ॥ २८ ॥

नायिकाओं की सहायिकाएँ —

अथेति। अब ग्रन्थकार इन (पूर्वोक्त) नायिकाओं की (नायक के साथ समागम—मेल करानेवाली) सहायिकाओं का निरूपण करते हैं —

नेतृमित्रगुणान्विताः दासी सखी कारूः धात्रेयी प्रतिवेशिका लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वम् च दूत्यः भवन्ति इत्यन्वयः ॥ २९ ॥

कारिकार्थ — दूत्य इति। दूतियाँ, दासी, सखी, कारु (अर्थात् धोबिन, नाइन आदि) धाय—कन्या, पड़ोसिन, सन्यासिनी, शिल्पिनी, (चित्रकार, माली आदि की स्त्रियाँ) और स्वयं नायिका ही दूती होती है। ये दूतियाँ नायक के मित्र (पीठमर्द, विट् एवं विदूषक आदि) के गुणों से युक्त होती हैं ॥ २९ ॥

वृत्त्यर्थ — दासीति। 'दासी' का अर्थ 'परिचारिका' (अर्थात् सेविका) है। स्नेह

धात्रेयी – उपमातृसुता । **प्रतिवेशिका** – प्रतिगृहिणी । **लिङ्गिनी** – भिक्षुक्यादिका । **शिल्पिनी** – चित्रकारादिस्त्री । **स्वं** चेति दूतीविशेषा । नायकमित्राणां पीठमर्दादीनां निसृष्टार्थत्वादिनागुणेन युक्ताः । तथा च मालतीमाधवे **कामन्दकीं** प्रति –

'शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोधः प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी ।
कालानुरोधः प्रतिभानवत्त्वमेते गुणाः कामदुघाः क्रियासु ॥' (मालती० ३.११)

तत्र **सखी** यथा –

'मृगशिशुदृशस्तस्यास्तापं कथं कथयामि ते
दहनपतिता दृष्टा मूर्तिर्मया नहि वैधवी ।
इति तु विदितं नारीरूपः स लोकदृशां सुधा
तव शठतया शिल्पोत्कर्षो विधेर्विघटिष्यते ॥'

रखनेवाली (स्नेहिनी) सहचरी को **'सखी'** कहा जाता है। **'कारू'** का अर्थ है धोबिन आदि, धाय–कन्या को **'धात्रेयी'** कहते हैं। **'प्रतिवेशिका'** से तात्पर्य पड़ोसिन है, भिक्षुणी आदि ही **'लिङ्गिनी'** है। **'शिल्पिनी'** का अर्थ है – चित्रकार की स्त्री। **स्वं** का अर्थ है – स्वयं नायिका ही, अर्थात् स्वयं नायिका ही दूती का कार्य संपादन करे । ये सभी दूतियाँ[१] नायक के मित्र पीठमर्द आदि के निसृष्टार्थत्व आदि गुणों से युक्त होती हैं।

{निसृष्टार्थत्वादिना – दूतों के तीन प्रकार होते हैं। १. **निसृष्टार्थ,** २. **मितार्थ** ३. **सन्देशहारक** ।१. जो नायक या नायिका–दोनों–के मन की बात समझकर स्वयं ही सभी प्रश्नों का समाधान कर लेता है और जो भी कार्य करना हो उसे सुचारुरूप से सम्पन्न करता है, उसे **निसृष्टार्थ** कहा गया है। २. जो कम बोलकर कार्य को सम्पन्न करता है, वह **मितार्थ** कहा जाता है। ३. जो कहे हुए सन्देश मात्र को ही कहता है, उसे **सन्देशहारक** कहा जाता है। (सा० द० ३।४७–४९)}

तथा चेति। यथा **भवभूतिकृत** – **'मालतीमाधव'** नाटक में कामन्दकी (तपस्विनी) के प्रति **माधव** की यह उक्ति –

शास्त्रेष्विति। 'शास्त्रों में प्रतिष्ठा–अर्थात् शास्त्रार्थों का स्पष्ट–शङ्कारहित सम्यक् ज्ञान, स्वाभाविकज्ञान, प्रगल्भता, (वाक्पटुता) प्रसाद–माधुर्यादि गुणान्वित अभ्यस्त वाणी, कालानुसरण करना तथा प्रतिभाशाली होना –ये (समस्त) गुण कार्यों में अभीष्ट सिद्धि देने वाले होते हैं।'

तत्रेति। उपर्युक्त दूतियों में **सखी** का उदाहरण इस प्रकार है – {नायिका की सखी नायक के पास जाकर कहती है –}

मृगशिशुदृश इति। 'मृग–शावक के सदृश (चञ्चल) नेत्रवाली उस (अर्थात् मेरी सखी) का (तुम्हारे वियोग के कारण कितना) ताप है – यह मैं तुम्हें कैसे बताऊँ ?

---

१. **'कार्यप्रेष्यो दूत इति लक्षणम्'** – दूत उसे कहते हैं, जिसे विविध कार्यों के लिये जहाँ–तहाँ भेजा जाता है । सा० द० ३।४७॥

यथा च –

'सच्चं चाणइ दट्ठुं सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राओ ।
मरउ ण तुमं भणिस्सं मरणं पि सलाहणिज्जं से ।।' (गाथा० १.१२)
('सत्यं जानाति द्रष्टुं सदृशे जने युज्यते रागः ।
म्रियतां न त्वां भणिष्यामि मरणमपि श्लाघनीयमस्याः ।।')

स्वयं दूती यथा –

'महु एहि किं णिवालअ हरसि णिअं वाउ जइ वि मे सिचअम् ।
साहेमि कस्स सुन्दर दूरे गामो अहं एक्का' ।।
('मुहुरेहि किं निवारक हरसि निजं वायो यद्यपि मे सिचयम् ।
साधयामि कस्य सुन्दर दूरे ग्रामोऽहमेका ।।')

इत्याद्यूह्यम् ।।

(अर्थात् उसके विरह–ताप का वर्णन मैं किन शब्दों में करूँ?) क्योंकि मैंने आज तक चन्द्रमा की मूर्ति को अग्नि में पड़ा हुआ नहीं देखा। हाँ, इतना तो मैं जान गई हूँ कि तुम्हारी शठता–औदासीन्य से अखिल लोक की दृष्टि का नारी रूप अमृत और ब्रह्मा की सृष्टि का उत्कृष्टतम आदर्श नष्ट हो जाएगा।'

यथा चेति। अथवा, जैसे {नायिका की सखी नायक से कहती है –}

सत्यमिति। यह बात सत्य है कि अनुरूप या सदृश व्यक्ति के प्रति किया गया प्रेम ही अच्छा लगता है। (शोभा देता है)। यदि वह मर भी जाय तब भी मैं तुमसे न कहूँगी। क्योंकि इस तरह उपेक्षित होकर उसका मर जाना ही प्रशंसनीय है। {अर्थात् उसने तुम जैसे योग्य व्यक्ति के साथ प्रेम किया, यह उसने योग्य ही किया, अब यदि वह तुम्हारे विरह में मर भी जाय तो उसका मर जाना भी श्लाघनीय होगा।}

स्वयमिति। नायिका जहाँ स्वयं दूती के रूप में कार्य करती है, उसका उदाहरण इस प्रकार है – {कोई नायिका किसी पथिक से अपनी सम्भोगेच्छा को व्यक्त करती हुई कहती है –}

मुहुरिति। 'हे वायु ! तुम बार–बार आते हो, मेरे वस्त्र को क्यों दूर करते हो। यद्यपि तुम मेरे आँचल को हर लेत हो, फिर भी हे सुन्दर ! मैं किसे प्रसन्न करूँ, मेरा गाँव तो दूर है और यहाँ मैं अकेली हूँ।'

{इस निर्जन स्थल में पथिक के साथ की हुई सम्भोग क्रीड़ा को कोई नहीं देख सकेगा, इस बात की व्यंजना स्वयं दूती की उक्ति से हो जाती है। अपने आँचल को बार–बार हिलाकर वह इस चेष्टा से भी पथिक को अपनी ओर आकर्षित कर रही है – यह सहृदयसंवेद्य तत्त्व है।}

इस प्रकार (दूतियों के अन्य प्रकार को भी) समझ लेना चाहिए ।। २९ ।।

अथ यौषिदलङ्काराः –

यौवने सत्त्वजाः स्त्रीणामलङ्कारास्तु विंशतिः ।

यौवने सत्त्वोद्भूता विंशतिरलङ्काराः स्त्रीणां भवन्ति ॥

तत्र –

भावो हावश्च हेला च त्रयस्तत्र शरीरजाः ॥ ३० ॥
शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्त भावा अयत्नजाः ॥ ३१ ॥

तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः । शोभा कान्तिर्दीप्तिर्माधुर्यं प्रागल्भ्यमौदार्यं धैर्य-मित्ययत्नजाः सप्त ॥

नायिकाओं के अलङ्कार –

अथेति। अब युवतियों के अलंकारों का निरुपण करते हैं –

स्त्रीणां यौवने सत्वजा अलङ्काराः तु विंशतिः इत्यन्वयः ॥

कारिकार्थ – यौवन इति। युवावस्था में स्त्रियों के सत्त्व से उत्पन्न होने वाले बीस अलंकार होते है ।

वृत्त्यर्थ – यौवन इति। यौवनावस्था में सत्त्व से उत्पन्न होने वाले बीस अलङ्कार स्त्रियों के होते हैं। {तात्पर्य यह है कि शरीर पर धारण किये जाने वाले अलङ्कारों की तरह ही शरीर के सौन्दर्य की वृद्धि करने वाले कुछ शारीरिक विकार (परिवर्तन) होते हैं। ये शरीर की शोभा बढ़ाने वाले होने के कारण इन्हें भी अलङ्कार कहा गया है।}

तत्रेति। उन {सत्त्वोद्भूत अलङ्कारों} में –

कारिकार्थ – भाव इति। {सत्त्वजाः – ३३वीं कारिका में सत्त्व के भाव की व्याख्या की जायगी।} उन (सत्त्व से उत्पन्न होने वाले अलङ्कारों) में १. भाव, २. हाव तथा ३. हेला – ये तीन शरीरज (शारीरिक) अलङ्कार हैं ॥ ३० ॥

कारिकार्थ – शोभेति। १. शोभा, २. कान्ति, ३. दीप्ति, ४. माधुर्य, ५. प्रगल्भता, ६. उदारता, और ७. धैर्य – ये सात भाव अयत्नज (अर्थात् बिना प्रयास के उत्पन्न होने वाले) अलङ्कार हैं। इन्हें प्रदर्शित करने में स्त्रियों को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता ॥ ३१ ॥

वृत्त्यर्थ – तत्रेति। इनमें १. भाव २. हाव और ३. हेला – ये तीन अङ्गज हैं। १. शोभा, २. कान्ति, ३. दीप्ति, ४. माधुर्य, ५. प्रगल्भता, ६. उदारता, और ७. धैर्य – ये सात अयत्नज – अर्थात् बिना प्रयास के उत्पन्न होने वाले अलङ्कार हैं ॥ ३१ ॥

लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं विब्बोको ललितं तथा ॥ ३२ ॥
विहृतं चेति विज्ञेया दश भावाः स्वभावजाः ।

तानेव निर्दिशति –

कारिकार्थ – लीलेति। १. लीला, २. विलास, ३. विच्छित्ति, ४. विभ्रम, ५. किलकिञ्चित, ६. मोट्टायित, ७. कुट्टमित, ८. बिब्बोक, ९. ललित, और १०. विहृत – ये दशभाव (स्त्रियों के) स्वभावज हैं, (अर्थात् ये स्वभावतः – निसर्गतः ही स्त्रियों में विद्यमान रहते हैं) ॥ ३२–३३ ॥

परामर्श – अभिनयों में सात्विक अभिनय का ही प्राधान्य होता है । सत्त्व या अन्तर्मन का प्रवर्तन वाणी एवं विविध आङ्गिक चेष्टाओं द्वारा होता है । सात्विक भावों के प्रकाशन का माध्यम होता है शरीर । इसमें अव्यक्त रहने वाले मानसिक भाव रोमाञ्च, अश्रु आदि के यथोचित रसानुरूप प्रस्तुत किये जाने पर अभिव्यक्त हो पाते हैं जिनसे नाट्य प्रयोग रसमय हो जाता है । इसी कारण सत्त्व अर्थात् आन्तर मनोभाव के उपयुक्त प्रदर्शन में अन्य अभिनयों की अपेक्षा अभिनेताओं को अधिक प्रयत्न की आवश्यकता होती है । इसका कारण यह है कि यदि अन्य विधियों द्वारा आन्तरिक चित्तवृत्तियों का प्रकाशन न हो या नितान्त न्यूनमात्रा में होता हो तो इससे अभिनय के उद्देश्य ही बाधित हो सकता है ।

सामान्याभिनय के तात्त्विक आकलन के प्रसंग में धनञ्जय नें नारी तथा पुरुषों के अलङ्कारों का यहाँ विवरण दिया है । इनके मत में भाव, हाव, हेला या अन्य अयत्नज एवं स्वाभाविक चेष्टालङ्कारों के द्वारा भाव प्रेषण संभव होता है, क्योंकि ये अलङ्कार भाव तथा रसों के आधार पर आधारित हैं । देहात्मक सात्त्विक विभूतियाँ देह धर्म के रूप में प्रत्येक शरीर में विद्यमान रहती हैं । आङ्गिक विकाररूप ये ही शास्त्रीय दृष्टि से अलङ्कार रूप हो जाते हैं जिनका दर्शन स्त्री पुरुषों में होता है । स्त्रीयों की श्रेष्ठता शृङ्गार रस में और पुरुषों की वीर रस में होती है । ये सत्वज अलङ्कार उत्तम स्त्री पुरुषों के अतिरिक्त अन्यत्र भी दृष्टिगत हो सकते है, क्योंकि सात्विक भाव राजस एवं तामस देहों में भी रहता ही है ये आङ्गिक विकार तीन प्रकार के हैं – **अङ्गज, स्वाभाविक एवं अयत्नज ।**

आचार्य विश्वनाथ ने कुल २८ अलङ्कारों का साहित्यदर्पण में उल्लेख किया है। इनमें १० अलङ्कार (भाव से धैर्य तक) नायक के भी सात्विक या यौवन–सम्बन्धी अलङ्कार माने जाते हैं। इतना निश्चित है कि भाव से लेकर धैर्य पर्यन्त अलङ्कारों से नायिका में जो सौन्दर्य एवं वैचित्र्य निखर उठता है. वह नायक में नहीं। संभवतः दशरूपक के वृत्तिकार धनिक ने यह विशेष उल्लेख किया है – 'यौवने सत्त्वोद्भूता विंशतिरलङ्काराः स्त्रीणां भवन्ति' ॥ ३२–३३ ॥

१. भाव –

तानेवेति। अब ग्रन्थकार भाव नामक शरीरज अलङ्कार का लक्षण बताते हैं –

निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया ।। ३३ ।।

तत्र विकारहेतौ सत्यप्यविकारं सत्त्वम् । यथा **कुमारसम्भवे** –

'श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभूव ।
आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ।।' (कुमार० ३.४)

तस्मादविकाररूपात्सत्वात् यः प्रथमो विकारोऽन्तर्विपरिवर्ती बीजस्योच्छूनतेव स भावः । यथा –

'दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि ।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः ।।'

यथा वा **कुमारसम्भवे** –

तत्र निर्विकारात्मकत् सत्त्वात् आद्यविक्रियाभावः **इत्यन्वयः** ।। ३३ ।।

कारिकार्थ – निर्विकारेति। उस चित्त में निर्विकारात्मक सत्त्व से उद्भुत (प्रकट) होने वाले प्रथम विकार को ही 'भाव' कहा जाता है ।। ३३ ।।

वृत्त्यर्थ – तत्रेति। उस हृदय में विकार के कारण के रहने पर भी मन का विकार रहित रहना **'सत्त्व'** कहलाता है। जैसे **कुमारसम्भव** में –

श्रुताप्सरोगीतिरिति। 'इस समय – (अर्थात् कामोद्दीपन करने वाले वसन्त के समय में भी) देवाङ्गनाओं का गीत सुनकर भी शङ्कर समाधि में लीन रहे, क्योंकि आत्मा को वश में कर लेने वाले व्यक्तियों की समाधि को भंग करने में विघ्न कभी भी समर्थ नहीं होते हैं ।'

{तीनों गुणों–रजस्, तमस् और सत्त्व–में सत्त्व गुण की प्रबलता रहने पर हृदय में विकार उत्पन्न नहीं होता, इसी तथ्य को उक्त श्लोक में व्यक्त किया गया है।}

तस्मादिति। उस निर्विकारात्मक सत्त्व से जो प्रथम विकार (हृदय में) में होता है उसे ही भाव कहा गया हैं अन्तस् में विपरिवर्तित होने वाला यह प्रथम विकार बीज की उच्छूनता के सदृश होता है।

{अर्थात् जिस प्रकार पानी और मिट्टी आदि के संयोग से अङ्कुरित होने के पूर्व, बीज ईषद् उच्छूनता को प्राप्त हो जाता है। (यह विकार बीज में तो होता है, किन्तु बीज के अन्तस् में ही होता है।) इसी प्रकार नायिका के अन्तस् में होने वाला यह विकार है, जो शरीर के अन्तस् में ही छिपा रहता है। और अन्तस् में पाया जाने वाला यह विकार 'भाव' के नाम से जाना जाता है।}

यथेति। जैसे – 'दृष्टिः सालसतां' – इसकी व्याख्यां (२९५) पूर्व में की जा चुकी है ।

यथावेति। अथवा कुमारसम्भव में –

'हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥' (कुमार० ३.६७)

यथा वा ममैव –

'तं च्चिअ वअणं च्चेअ लोअणे जोव्वणं पि तं च्चेअ ।
अण्णा अणङ्गलच्छी अण्णं च्चिअ किं पि साहेइ ॥'
('तदेव वचनं ते चैव लोचने यौवनमपि तदेव ।
अन्यानङ्गलक्ष्मीरन्यदेव किमपि साधयति ॥')

अथ हावः –

अल्पालापः सशृङ्गारो हावोऽक्षिभ्रूविकारकृत् ।

प्रतिनियताङ्गविकारकारी शृङ्गारः स्वभावविशेषो **हावः** । यथा ममैव –

'जं किं पि पेच्छमाणं भणमाणं रे जहतहच्चेअ ।
णिज्झाअ णेहमुद्धं वअस्स मुद्धं गिअच्छेह ॥'
('यत्किमपि प्रेक्षमाणां भणमानां रे यथा तथैव ।
निर्ध्याय स्नेहमुग्धां वयस्य मुग्धां पश्य ॥')

हरस्तु इति। '(पार्वती को देखकर) शङ्करभगवान् का धैर्य उसी प्रकार कुछ—कुछ वैसे ही लुप्त हो गया जैसे कि चन्द्रोदय के आरम्भ में ही समुद्र की धीरता—गम्भीरता समाप्त हो जाती है, और उन्होंने बिम्बफल के सदृश रक्तवर्ण के अधरोष्ठवाले पार्वती के मुख पर अपनी दृष्टि डाली ।'

यथेति। अथवा, जैसा मेरा (धनिक का) ही पद्य है –

तदेवेति। 'उस नायिका के वे ही वचन (पूर्व जैसे ही) हैं, नेत्र और यौवन भी वही है, किन्तु उसके शरीर पर (अब) कुछ दूसरी ही काम की शोभा हो गई है, जो विशेष ही प्रभाव डाल रही है' ।

२. हाव –

अथेति। अब ग्रन्थकार हाव नामक शरीरज अलङ्कार का निरूपण करते हैं –

अक्षिभ्रूविकारकृत् सशृङ्गारः अल्पालापः हाव इत्यन्वयः ॥

कारिकार्थ – अल्पालाप इति। शृङ्गार के सहित परिमित भाषण करना ही हाव है। यह – भौहों तथा नेत्रों में विकार को उत्पन्न करनेवाला होता है ।

वृत्त्यर्थ – प्रतीति। निश्चित अंगों में विकार को उत्पन्न करने वाले शृङ्गार के स्वभाव विशेष को 'हाव' कहा जाता है। जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है—

यदिति। (कोई व्यक्ति अपने मित्र से कहता है—) 'हे मित्र ! वह (नायिका) जैसे ही कुछ विचित्र प्रकार से देखती है, वैसे ही विचित्रप्रकार से वह बोलती भी है। अतः कुछ विचारकर, इस प्रेममुग्धा को जरा देखो तो' ।

अथ हेला –

स एव हेला सुव्यक्तशृङ्गाररससूचिका ।। ३४ ।।

हाव एव स्पष्टभूयोविकारत्वात्सुव्यक्तशृङ्गाररससूचको हेला ।।

यथा ममैव –

'तह झत्ति से पअत्ता सव्वङ्गं विब्भमा थणुब्भेए ।
संसइअबालभावा होइ चिरं जह सहीणं पि ।।'
('तथा झटित्यस्याः प्रवृत्ताः सर्वाङ्गं विभ्रमाः स्तनोद्भेदे ।
संशयितबालभावा भवति चिरं यथा सखीनामपि ।।')

{वस्तुतः **'हाव'** युवती नायिका का एक विशेष अङ्ग विकार है जो उसके हृदयस्थ प्रेम को प्रकट करता हैं। भाव में प्रेम का प्राकट्य नहीं हो पाता, वह अन्तस् में छिपा रहता है, किन्तु हाव में अङ्गों –आँख, भौहें, मुख आदि के द्वारा प्रेम–भाव कुछ प्रकट होने लगता है।}

परामर्श – नाट्यदर्पण के अनुसार 'भाव' रागात्मक अनुभूति की प्रथम या प्रारम्भिक अभिव्यक्ति है जो शब्द और आङ्गिक चेष्टाओं द्वारा होती है जबकि 'हाव' किसी भी व्यक्ति के भावों का विभिन्न आङ्गिक चेष्टाओं द्वारा सुस्पष्ट अभिव्यञ्जन है। भाव और उससे हाव उत्तरोत्तर विकास के कारण होते हैं (नाट्यदर्पण चतुर्थ विवेक)।।

३. हेला –

अथेति। अब ग्रन्थकार **हेला** नामक शरीरज अलङ्कार का निरूपण करते हैं –

स एव सुव्यक्त शृङ्गाररससूचिका हेला **इत्यन्वयः** ।। ३४ ।।

कारिकार्थ – स इति। वही हाव जब स्पष्टरूप से शृङ्गाररस का व्यंजक हो जाता है, तब वह हेला कहा जाता है ।। ३४ ।।

वृत्त्यर्थ – हाव इति। सुस्पष्टरूप से एवं विपुल (मनः) विकारों को उत्पन्न करने के कारण स्पष्ट रूप से रतिभाव के सूचक होने पर वही 'हाव' 'हेला' कहा जाता है। जैसे – मेरा (धनिक का) ही यह श्लोक –

तथेति। 'इस (बाला) के स्तनों में उभार होते ही अर्थात् उनमें पीनत्व आते ही शीघ्र ही समस्त शरीरावयवों में इस प्रकार विभ्रम (विलास) उत्पन्न होने लगा कि उसकी बाल्यकालीन समवयस्का सखियों को भी इसके बालभाव के विषय में सन्देह होने लगा।'

परामर्श – वस्तुतः **'हाव'** का ही विकास **'हेला'** है। **'भाव'** एक प्रकार से नारी शरीर का सर्वप्रथम कामसूचक मनोरम विकार है। **'हाव'** भाव के उद्रेक पर निर्भर है। और **'हेला' 'हाव'** का ही उन्मेषण–स्फुरण है। हेला की स्थिति में मन में शृङ्गार का अतिशय आवेग होता है। तथा भाव का प्रसार तीव्रता लिए हुए रहता है। स्त्रियों के ये भावादि एक दूसरे पर निर्भर करते हैं । हाव भाव पर तथा 'हेला' हाव पर निर्भर है । (द्र० नाट्यदर्पण पृ० २०४–२०५ चतुर्थ विवेक।) ।। ३४ ।।

अथायत्नजाः सप्त । तत्र **शोभा** —

रूपोपभोगतारुण्यैः शोभाङ्गानां विभूषणम् ।

यथा **कुमारसम्भवे** —

'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य बालां क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः ।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः ॥' (७.१३)

इत्यादि । यथा च **शाकुन्तले** —

'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै —
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥' (शाकु० २.१०)

अयत्नज अलङ्कार —

अथेति। अब ग्रन्थकार **'अयत्नज'** सात अलङ्कारों का विवेचन करते हैं ।

१. **शोभा** —

तत्रेति। उनमें **'शोभा'** नामक अयत्नज अलङ्कार का लक्षण बताते हैं।

रूपापभोगतारुण्यैः अङ्गानाम् विभूषणम् शोभा **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ — रुपोपभोगेति। रूप, उपभोग (विलास, या विभ्रम) और यौवन के कारण, अङ्गों में होने वाली सौन्दर्य की अभिवृद्धि को ही 'शोभा' (नामक अयत्नज अलङ्कार) कहते हैं।

यथेति। जैसे **कुमारसम्भव** में — {विवाह के अवसर पर अलंकृत की जाती हुई पार्वती की शारीरिक शोभा के विषय में कवि **कालिदास** कहते हैं} —

तामिति। 'वेदी पर पार्वती को पूर्वाभिमुख बैठाकर (उसके) सम्मुख (अलंकृत करने के लिए) बैठी हुई अन्तःपुर की स्त्रियाँ क्षणभर के लिए ठिठक गयीं, क्योंकि अलंकार की समग्र सामग्री समीप में सन्निहित रहने पर भी पार्वती की नैसर्गिक सुन्दरता से उन शृङ्गार करने वाली युवतियों की दृष्टि (नेत्र) हर ली गई थी ।'' इत्यादि ॥

{अर्थात् पार्वती के स्वाभाविक सौन्दर्य के कारण वे निश्चय करने में असमर्थ थीं कि किस प्रकार इन्हें अलंकृत किया जाय।}

यथा चेति। अथवा, जैसे **'अभिज्ञानशाकुन्तल'** में {महाराज दुष्यन्त के मुख से कवि **कालिदास** शकुन्तला के सौन्दर्य—शोभा के विषय में इस प्रकार कहते हैं —}

अनाघ्रातमिति। 'उसका (शकुन्तला का) निर्दोष सौन्दर्य (किसी भी व्यक्ति के द्वारा अभी तक) न सूँघे गये हुए पुष्प के सदृश, नाखूनों से न छेदे गये नवीन पल्लव के समान, न विद्ध गये रत्न के समान, आस्वादन नहीं किये गए नवीन मधु के समान और पुण्यकर्मों के अखण्डित फल के समान है । मालूम नहीं, विधाता किस व्यक्ति को इसका उपभोक्ता बनाएगा' ।

अथ कान्तिः –

मन्मथामापितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता ॥ ३५ ॥

शोभैव रागावतारघनीकृता कान्तिः । यथा –

'उन्मीलद्वदनेन्दुदीप्तिविसरैर्दूरे समुत्सारितं
भिन्नं पीनकुचस्थलस्य च रुचा हस्तप्रभाभिर्हतम् ।
एतस्याः कलविङ्ककण्ठकदलीकल्पं मिलत्कौतुका –
दप्राप्ताङ्गसुखं रुषेव सहसा केशेषु लग्नं तमः ॥'

परामर्श – स्त्रियों के स्वभावज अलङ्कारों द्वारा उनके मनोभावों का प्रदर्शन प्रमुख प्रयोजन होता है । इन अलङ्कारों से नारियाँ प्रेम, मिलन, ईर्ष्या आदि दशाओं में उद्भूत मनोदशाओं को सूचित करती हैं । अयत्नज अलङ्कार नारी के सौन्दर्य के प्रतीक होते हैं । इन अयत्नज अलङ्कारों की संख्या ७ ही हो यह आवश्यक नहीं है । उत्तरकालीन आचार्यों राहुल, सागरनन्दी ने मौग्ध्य, मद, तपन और विक्षेप को भी अयत्नज अलङ्कार स्वीकार किया है ।

नारियों के सत्त्व भेद के समान पुरुषों के भी ८ सत्व भेद होते हैं जिनका विवरण नायक के सात्विकगुणों के प्रसङ्ग में दिया गया है । इनमें शोभा, विलास, माधुर्य, औदार्य दोनों में समान हैं परन्तु नाम साम्य होने पर भी ये तत्त्वतः पृथक् हैं, क्योंकि नारी के अलङ्कारों में शारीरिक सुकुमारता को तथा पुरुषों के अलङ्कारों में सत्वभेद से उनकी मानसिक अनुभूतियों को दर्शाना इष्ट होता है । नारी में इनसे सौन्दर्य का मोहक प्रसार होता है तो पुरुष में इनसे पौरुष प्रभाव की समृद्धि दृष्टिगोचर होती है।

२. कान्ति –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'कान्ति' नामक अयत्नज अलंकार का लक्षण बताते हैं –

मन्मथामापितच्छाया सा एव कान्तिः इति स्मृता इत्यन्वयः ॥ ३५ ॥

कारिकार्थ – मन्मथेति। कामोद्रेक से बढ़ी हुई शरीर की शोभा को ही 'कान्ति' कहते हैं ॥ ३५ ॥

वृत्त्यर्थ – शोभेति। राग – काम के आविर्भाव से घनीभूत **'शोभा'** ही कान्ति है। जैसे –

उन्मीलदिति। 'सुखेप्सा से अंधकार ने जब उस (नायिका) के मुख के पास जाने की इच्छा की तब नायिका के मुखचन्द्र की आभा ने उसे दूर कर दिया, उसके पश्चात् जब वह उसके पीन स्तनों के पास तथा हाथों के पास पहुँचा, तब (गौरवर्ण के) कुचों तथा हाथों के प्रभाजाल ने उसे नष्ट कर दिया, (दूर कर दिया) इस प्रकार नायिका के कोमल अङ्गों के स्पर्शजन्य सुख को प्राप्त करने के औत्सुक्य से प्रयत्न करने वाला वह कलविङ्क (गौरैया) पक्षी के कण्ठ के सदृश (काला) अन्धकार उस नायिका के अङ्गों का सुख न पाकर मानो क्षुब्ध होकर सहसा उसके केश–जाल में ही लिपट गया।'

यथा हि महाश्वेतावर्णनावसरे भट्टबाणस्य ।

अथ माधुर्यम् –

अनुल्बणत्वं माधुर्यम् –

यथा शाकुन्तले –

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥' (शाकु० १.१७)

अथ दीप्तिः –

– दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः ।

यथा –

'देआ पसिअ णिअन्तसु मुहससिजोण्हाविलुत्ततमणिवहे ।
अहिसारिआण विग्घं करेसि अण्णाणं वि हआसे ॥ (गाथा० ९६२)

यथा हीति। इसी प्रकार कान्ति का उदाहरण बाणभट्ट की कादम्बरी में वर्णित महाश्वेता के वृत्तान्त में देखने को मिलता है ॥

{वस्तुतः 'शोभा' ही कान्ति बन जाती है, जब उसमें कामविलास उद्रेक परिलक्षित होने लगता है। तात्पर्यार्थ यह है कि स्मरोद्रेक से अतिसमृद्ध 'शोभा' का ही अपर नाम 'कान्ति' है।}

३. माधुर्य –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'माधुर्य' की परिभाषा बताते हैं–

कारिकार्थ – अनुल्बणत्वमिति। नायिका की प्रतिकूलाप्रतिकूला अवस्थाओं में (अनुल्बणत्व) रमणीयता का रहना ही 'माधुर्य' है। तात्पर्य यह है कि समस्त चेष्टाओं में व्यक्त चारुता को ही माधुर्य कहा जाता है।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – महाकविकालिदास के – अभिज्ञानशाकुन्तल में–

सरसिजमिति। 'शैवाल से आवृत (ढँका हुआ) भी कमल मनोहर होता है। चन्द्रमा में निहित कालिमा (चिह्न) भी उसकी शोभा को ही बढ़ाती है। यह (पुरोवर्ती) कृशांगी वल्कल धारण करने पर भी विशेष मनोज्ञ प्रतीत होती है वस्तुतः अव्याजमनोहर आकृतियों के लिए कौन सी वस्तु मण्डन (आभूषण) नहीं बन जाती' (अर्थात् कुछ भी आभूषण बन जाती हैं।)'

४. दीप्ति –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'दीप्ति' नाम अयत्नज अलङ्कार का लक्षण बताते हैं–

कारिकार्थ – दीप्तिरिति। कान्ति के विस्तार को ही 'दीप्ति' कहा जाता है।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – प्रार्थय इति। (नायक नायिका से कहता है)– 'मैं

('प्रार्थये तावत् प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ।।')

अथ प्रागल्भ्यम् –

निःसाध्वसत्वं प्रागल्भ्यम् –

मनःक्षोभपूर्वकोऽङ्गसादः साध्वसं तदभावः प्रागल्भ्यम् । यथा ममैव –

'तथा व्रीडा विधेयापि तथा मुग्धापि सुन्दरी ।
कलाप्रयोगचातुर्ये सभास्वाचार्यकं गता ।।'

अथौदार्यम् –

– औदार्यं प्रश्रयः सदा ।। ३६ ।।

यथा –

'दिअहं खु दुक्खिआए सअलं काऊण गेहवावारम् ।
गरुएवि मण्णुदुक्खे भरिमो पाअन्तसुत्तस्स ।।'
('दिवसं खलु दुःखितायाः सकलं कृत्वा गृहव्यापारम् ।
गुरुण्यपि मन्युदुःखे स्मरामः पादान्तसुप्तायाः ।।')

प्रार्थना करता हूँ, मान जाओ, लौट आओ, अपने मुखचन्द्र की प्रभा से घने अन्धकार का नाश करके अरी हताशिनी ! (अपने इस कार्य से) तुम अन्य अभिसारिकाओं के अभिसरण–कार्य में भी विघ्न कर रही हो' ।।

५. प्रागल्भ्य (प्रगल्भता) –

अथेति। अब ग्रंथकार 'प्रागल्भ्य' की परिभाषा बताते हैं –

कारिकार्थ – निःसाध्वसत्वमिति । भय–रहित होना ही प्रागल्भ्य है ।

वृत्त्यर्थ – मनः क्षोभेति। मानसिक क्षोभ (भय आदि) के कारण अङ्गों में शिथिलता का अनुभव होना ही साध्वस है। इस साध्वस के अभाव का नाम ही प्रगल्भता है। जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है –

तथेति। 'वैसी लज्जाशीला तथा भोली होती हुई भी उस सुन्दरी ने सभाओं में कलाप्रदर्शन के कौशल में आचार्य–पद को प्राप्त किया ।'

६. औदार्य –

अथेति । अब ग्रन्थकार 'औदार्य' नामक अयत्नज अलङ्कार का लक्षण बतलाते हैं –

कारिकार्थ – औदार्यमिति । सर्वदा विनम्रता के साथ रहना ही 'औदार्य' है।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – दिवसमिति। 'पूरे दिन गृहकार्य करके श्रान्त–क्लान्त हुई एवं मेरे भारी अपराध से दुःखी तथा क्रोधित उसका मेरे पैरों की ओर सोना–मुझे स्मरण है ।'

यथा वा – 'भ्रूभङ्गे सहसोद्गता' इत्यादि ।

अथ धैर्यम् –

चापलाऽविहता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकत्थना ।

चापलानुपहता मनोवृत्तिरात्मगुणानामनाख्यायिका धैर्यमिति । यथा मालतीमाधवे –

'ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकल: शशी
दहतु मदन: किंवा मृत्यो: परेण विधास्यति ।
मम तु दयित: श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया
कुलममलिनं न त्वेवायं जनो न च जीवितम् ।।' (मालती० २.२)

अथ स्वाभाविका दश । तत्र –

{अर्थात् नायक के अपराध करने पर भी उसकी प्रिया ने नायक के पैरों की ओर सोकर औदार्य का परिचय दिया है।}

यथा वेति। अथवा, जैसे (रत्नावलीनाटिका २.२१ में) भौहें टेढ़ी करती हुई. .... इत्यादि। (में औदार्य की ही अभिव्यक्ति है।) ।। ३६ ।।

७. **धैर्य –**

अथेति। अब ग्रन्थकार 'धैर्य' नामक अयत्नज अलङ्कार का लक्षण बताते हैं–

कारिकार्थ – चापलेति। आत्म–प्रशंसा और चाञ्चल्यरहित मनोवृत्ति को 'धैर्य' कहा जाता है।

वृत्त्यर्थ – चापलेति। अपने गुणों का बखान न करने वाली एवं चञ्चलता से रहित चित्त वृत्ति को ही 'धैर्य' कहते हैं। जैसे (भवभूतिकृत) मालतीमाधव (नाटक) में मालती अपनी सखी से कहती है –

ज्वलत्विति। 'प्रत्येक रात्रि में सम्पूर्ण कलाओं से युक्त चन्द्रमा मुझे जलाया करे; और कामदेव (मुझे) भस्म कर दे, (इन दोनों की मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं है।) क्योंकि ये दोनों मृत्यु से अधिक मेरा अहित क्या करेंगे ?। मुझे तो अपने प्रशंसनीय पिता, निष्कलङ्क कुल में उत्पन्न मेरी माँ, और अपना निष्कलङ्क कुल ही प्रिय हैं। न तो यह (माधवरूप) जन तथा न अपना जीवन ही मुझे प्रिय है।'

{यहाँ तक तीन – भाव, हाव और हेला – शरीरज (अलङ्कारों) तथा सात अयत्नज–(शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, और धैर्य)–(सत्त्वज) अलङ्कारों का वर्णन किया गया है।}

१. **लीला –**

अथेति। सात अयत्नज अलङ्कारों के प्रतिपादन के पश्चात् अब दस स्वाभाविक अलङ्कारों का प्रतिपादन करते हैं। उनमें लीला नामक स्वाभाविक अलङ्कार का लक्षण बताते हैं –

प्रियानुकरणं लीला मधुराङ्गविचेष्टितैः ।। ३७ ।।

प्रियकृतानां वाग्वेषचेष्टानां शृङ्गारिणीनामङ्गनाभिरनुकरणं लीला ।।

यथा ममैव –

'तह दिट्ठं तह भणिअं ताए णिअदं तहा तहासीणम् ।
अवलोइअं सइण्हं सविब्भमं जह सवत्तीहिं ।।'
('तथा दृष्टं तथा भणितं तथा नियतं तथा तथासीनम् ।
अवलोकितं सतृष्णं सविभ्रमं यथा सपत्नीभिः ।।')

यथा वा – 'तेनोहितं वदति याति तथा यथासौ' इत्यादि ।

अथ विलासः –

तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियोक्तिषु ।

दयितावलोकनादिकालेऽङ्गे क्रियायां वचने च सातिशयविशेषोत्पत्तिर्विलासः ।।

कारिकार्थ – प्रियानुकरणमिति। मनोहर अङ्ग–चेष्टाओं के द्वारा प्रिय का अनुकरण ही 'लीला' है ।। ३७ ।।

वृत्त्यर्थ – प्रियेति। प्रिय के द्वारा की गई वाक्, वेष एवं शृङ्गारिक चेष्टाओं का प्रियतमा (नायिका) के द्वारा अनुकरण किया जाना ही लीला है। जैसे मेरा (वृत्तिकार धनिक का) ही यह पद्य –

तथा दृष्टमिति। 'उस (नायिका) का देखना, (दृष्टिपात करना) बोलना, नियन्त्रण एवं बैठना आदि सभी (क्रिया कलाप) उसी प्रकार का होता है, जैसे उसके वल्लभ (प्रिय) का प्रेक्षण, बोलना आदि उसके सौतों के साथ होता है।'

यथा वेति। अथवा, जैसे ''वह बोलता है, वैसे ही यह बोलती है, तथा जैसे वह चलता है, वैसे ही यह चलती है।' आदि ।। ३७ ।।

२. विलास –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'विलास' नामक द्वितीय स्वाभाविक भाव का लक्षण बताते हैं –

कारिकार्थ – तात्कालिक इति। प्रिय का साक्षात्कार होने पर नायिकाओं के अङ्गों में एवं क्रियाओं तथा वचनों में जो एक विशेषता उत्पन्न होती है, उसे 'विलास' कहा जाता है ।।

वृत्त्यर्थ – दयितेति। प्रिय के दर्शन आदि के अवसर पर नायिका के अङ्गों में, क्रियाओं (उठना, बैठना आदि) तथा बोलने की शैली में जो विशेष प्रकार की तात्कालिक रमणीयता उत्पन्न हो जाती है, उसे 'विलास' कहा जाता है। जैसे '(भवभूति के) 'मालतीमाधव' में {माधव की मालती के विषय में यह उक्ति} –

यथा मालतीमाधवे –

'अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्त –
वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः ।
तद्भूरिसात्त्विकविकारविशेषरम्य –
माचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥' (मालती० १.२९)

अथ विच्छित्तिः –

आकल्परचनाऽल्पापि विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ॥ ३८ ॥

स्तोकोऽपि वेषो बहुतरकमनीयताकारी विच्छित्तिः। यथा कुमारसम्भवे –

'कर्णार्पितो लोध्रकषायरूक्षे गोरोचनाभेदनितान्तगौरे ।
तस्याः कपोले परभागलाभाद् बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ॥' (कुमार० ७.१७)

अथ विभ्रमः –

विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्ययः ।

अत्रेति। 'इसी बीच में, विशालाक्षी मालती का कामदेव सम्बन्धी विजयी आचार्यत्व प्रकट हुआ, जिसकी विचित्रता वाग्विलास से वृद्धिंगत हो गई थी; जो विलास व विभ्रम से युक्त था; तथा जो अनेक सात्त्विक भावों के कारण अधिक मनोहर हो गया था ।'

३. विच्छित्ति –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'विच्छित्ति' नामक स्वाभाविक भाव का लक्षण बतलाते हैं –

कारिकार्थ – आकल्पेति। अल्प भी वेश–रचना (आकल्परचना) यदि कान्ति (शोभा) को बढ़ाने वाली हो तो उसे 'विच्छित्ति' कहते हैं ॥ ३८ ॥

वृत्त्यर्थ – स्तोक इति। यदि स्वल्पभी वेष विन्यास अधिक कमनीयता को करने वाला हो तो वह 'विच्छित्ति' कहलाता है । जैसे 'कुमारसम्भव' में –

कर्णार्पित इति। '(विवाह संस्कार के अवसर पर, पार्वती को प्रसाधनों से अलङ्कृत करने के समय) उनके कर्णों पर रखा हुआ यवाङ्कुर, लोध्र (वृक्ष) के चूर्ण से (विलेपन से) उज्ज्वल तथा गोरोचन के लगाने से विशेष (नितान्त) गौरवर्ण के पार्वती के कपोल इतने सुन्दर प्रतीत हुए कि दर्शकों के नेत्र बलात् उनकी ओर आकर्षित हो जाते थे' ॥ ३८ ॥

४. विभ्रम –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'विभ्रम' नामक स्वाभाविक भाव का लक्षण बताते हैं –

कारिकार्थ – विभ्रम इति। (प्रियतम के आगमन के) अवसर पर (हर्षातिरेक से उत्पन्न) त्वरा से आभूषणों के विन्यास–स्थान का उलट–फेर हो जाना 'विभ्रम' कहलाता है।

यथा –

'अभ्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती –
संलापसंवलितलोचनमानसाभिः ।
अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा –
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः ॥'

यथा वा ममैव –

'श्रुत्वाऽऽयातं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया ।
भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः ॥'

अथ किलकिञ्चितम् –

क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितम् ॥ ३९ ॥

यथा ममैव –

रतिक्रीडाद्यूते कथमपि समासाद्य समयं
मया लब्धे तस्याः क्वणितकलकण्ठार्धमधरे ।
कृतभ्रूभङ्गासौ प्रकटितविलक्षार्धरुदित –
स्मितक्रोधोद्भ्रान्तं पुनरपि विदध्यान्मयि मुखम् ॥'

यथेति। जैसे –

अभुद्गत इति। 'चन्द्रोदय हो जाने पर प्रियतम की दूती के साथ वार्तालाप में दत्तचित्ता (तल्लीन) नेत्र तथा मनवाली अङ्गनाओं ने सौन्दर्य–प्रसाधनों को इस प्रकार अनुचित स्थानों पर धारण कर लिया कि उनकी सभी सहेलियाँ उनके विपरीत अलङ्कार–विन्यास को देखकर हँसने लगीं।'

यथा वेति। अथवा जैसे मेरा (धनिक का) ही यह पद्य –

श्रुत्वायातमिति। 'हृदयवल्लभ को बाहर आया हुआ जानकर शृङ्गार कर रहीं नायिका ने, जिसका शृङ्गार–कार्य अभी पूर्ण समाप्त नहीं हुआ था, त्वरा में ललाट पर अञ्जन, नेत्रों में लाली और कपोलों पर तिलक लगा लिया।'

५. किलकिञ्चित –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'किलकिञ्चित' नामक स्वाभाविक भाव का लक्षण बताते हैं –

कारिकार्थ – क्रोधेति। क्रोध, अश्रु, हर्ष एवं भय आदि का अर्थात् स्मित, रुदित, हसित, भय, हर्ष, गर्व, दुःख, श्रम और अभिलाष इन नौ का (नायिका में) एक साथ (सङ्कर) होना 'किलकिञ्चित' कहलाता है ॥ ३९ ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – मेरा (वृत्तिकार धनिक) यह पद्य –

रतिक्रीडेति। 'रति–क्रीडारूपी द्यूत में मैंने किसी प्रकार अवसर प्राप्तकर नायिका के अधरों को पा लिया, (अर्थात् अधरों को दन्तक्षत करने पर) इस पर भौंहें

अथ मोट्टायितम् –

मोट्टायितं तु तद्भावभावनेष्टकथादिषु ।

इष्टकथादिषु प्रियतमकथानुकरणादिषु प्रियानुरागेण भावितान्तःकरणत्वं मोट्टायितम् । यथा पद्मगुप्तस्य –

'चित्रवर्तिन्यपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि ।
व्रीडार्धवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा ।।' (नवसाह० ६.४५)

यथा वा –

'मातः कं हृदये निधाय सुचिरं रोमाञ्चिताङ्गी मुहु –
जृम्भामन्थरतारकां सुललितापाङ्गां दधाना दृशम् ।
सुप्तेवालिखितेव शून्यहृदया लेखावशेषीभव –
स्यात्मद्रोहिणि किं ह्रिया कथय मे गूढो निहन्ति स्मरः ।।'

को वक्र करती हुई उसने अपने मुख को मधुर तथा अस्पष्ट ध्वनि से युक्त कण्ठ वाला तथा कुछ, रोदन, स्मित, एवं कोप से युक्त बना लिया। इसके पश्चात् क्रोध से उत्तप्त होकर अपने मुख को मेरी ओर कर लिया' ।। ३९ ।।

६. मोट्टायित –

अथेति । अब ग्रन्थकार मोट्टायित नामक स्वाभाविक भाव का लक्षण बतलाते हैं –

कारिकार्थ – मोट्टायितमिति। प्रियतम के विषय में चर्चा आदि के चलने पर उसके भाव (अनुराग) में तल्लीन हो जाने को 'मोट्टायित' कहते हैं ।।

वृत्त्यर्थ – इष्टकथेति। प्रियतम के विषय में अभीष्ट कथा–वार्ता का श्रवण एवं चिन्तन (अनुकरण) करते समय प्रिय के अनुराग से हृदय का आप्लावित हो जाना ही 'मोट्टायित' है। जैसे पद्मगुप्त के (**नवसाहसाङ्कचरित** महाकाव्य में **शशिप्रभा सिन्धुराज** के चित्र को देखकर इस प्रकार तल्लीन हो जाती है) –

चित्रेति। 'राजा चित्रांकित होने पर भी (अर्थात् राजा का चित्र देखकर ही) हृदय में उसके प्रति प्रेमभाव से अवश सी होकर उसने अपने मुखचन्द्र को लज्जा से आधा मोड़ लिया ।'

यथा वेति। अथवा जैसे – मात इति। 'हे सखि ! तुम किसे हृदय में बिठाकर बड़ी देर से (बहुत समय से) रोमाञ्चित होकर बार–बार जँभाई के कारण शिथिल पुतलियों वाली तथा आकर्षक (सुन्दर) अपांगोंवाली दृष्टि को धारण करती हुई सी, सोई सी, चित्रांकित सी, शून्य हृदय होकर मूर्तिमयी सी हो रही हो । हे आत्मद्रोहिणी ! (हे आत्मवंचिके !) {आत्मीय जनों से ही बात को छिपाने वाली} लज्जा किस बात की ? मुझे बताओ, क्या कामदेव भीतर–ही भीतर वेदना दे रहा है ?'

यथा वा ममैव –

'स्मरदवथुनिमित्तं गूढमुन्नेतुमस्याः
सुभग तव कथायां प्रस्तुतायां सखिभिः ।
भवति विततपृष्ठोदस्तपीनस्तनाग्रा
ततवलयितबाहुर्जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः ॥'

अथ कुट्टमितम् –

सानन्दान्तः कुट्टमितं कुप्येत्केशाधरग्रहे ॥ ४० ॥

यथा –

'नान्दीपदानि रतिनाटकविभ्रमाणा –
माज्ञाक्षराणि परमाण्यथवा स्मरस्य ।
दष्टेऽधरे प्रणयिना विधुताग्रपाणेः
सीत्कारशुष्करुदितानि जयन्ति नार्याः ॥'

अथ बिब्बोकः –

यथा वेति। अथवा, जैसे मेरा (धनिक का) यह पद्य – {इसमें कोई दूती ायक से नायिका की मनोव्यथा को इस प्रकार बताती है} –

स्मरेति। 'हे सुभग! (हे सुन्दर युवक !) जब सखियाँ (उस नायिका की) ामवेदना के गुप्त कारण को जानने के लिए तुम्हारी चर्चा प्रारम्भ करती हैं, तब वह नायिका) अंगभंगिमा के साथ जँम्भाई लेती हुई पीठ को तानकर पीन स्तनों के अग्रभागों ो ऊपर उठाती हुई, हाथों को वलयाकार बनाती हुई (भाव में तल्लीन) हो जाती है'।

७. कुट्टमित –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'कुट्टमित' नामक स्वाभाविकभाव का लक्षण बतलाते हैं –

कारिकार्थ – सानन्देति। (संभोग क्रीडा के अवसर पर प्रियतम के द्वारा कामावेग स्त्री के) केश एवं अधर का ग्रहण किये जाने पर हृदयान्तर में प्रसन्न होती हुई भी स्त्री ऊपर से जब कोप प्रकट करती है, तब उस भाव को 'कुट्टमित' कहते हैं ॥ ४०॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे –

नान्दीति। प्रियतम के द्वारा अधर में दन्तक्षत किया जाने पर हाथ की ंगुलियों को हिलाती (मना करती) हुई अङ्गना के सीत्कार एवं आँसुओं के बिना झूठा दन परमोत्कृष्ट होते हैं, जो कि सुरतरूप नाटक के प्रारम्भ में आयोजित किये जाने ाले नान्दीपाठ–मङ्गलाचरण होते हैं, अथवा रति क्रीड़ा के लिए कामदेव के आदेशाक्षर ते हैं' ॥ ४० ॥

८. बिब्बोक –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'बिब्बोक' नामक स्वाभाविक भाव का लक्षण बताते हैं –

गर्वाभिमानात् इष्टे अपि अनादर क्रिया बिब्बोक इत्यन्वयः ॥

गर्वाभिमानादिष्टेऽपि बिब्बोकोऽनादरक्रिया ।

यथा ममैव –

'सव्याजं तिलकालकान्विरलयंल्लोलाङ्गुलिः संस्पृशन्
वारंवारमुदञ्चयन् कुचयुगप्रोदञ्चिनीलाञ्चलम् ।
यद्भ्रूभङ्गतरङ्गिताञ्चितदृशा सावज्ञमालोकितं
तद्गर्वादवधीरितोऽस्मि न पुनः कान्ते कृतार्थीकृतः ॥'

अथ ललितम् –

सुकुमाराङ्गविन्यासो मसृणो ललितं भवेत् ॥ ४१ ॥

यथा ममैव –

'सभ्रूभङ्गं करकिसलयावर्तनैरालपन्ती
सा पश्यन्ती ललितललितं लोचनस्याञ्चलेन ।
विन्यस्यन्ती चरणकमले लीलया स्वैरयातै –
र्निस्सङ्गीतं प्रथमवयसा नर्तिता पङ्कजाक्षी' ॥

कारिकार्थ – गर्वाभिमानेति। गर्व तथा अभिमान से इष्ट–वस्तु का भी अनादर करना बिब्बोक कहलाता है ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे, – मेरा (धनिक का) ही यह पद्य –

सव्याजमिति। 'हे प्रिये ! तुम्हारे तिलकालकों का किसी व्याज (बहाने) से स्पर्श करते हुए, तथा (इन) कराग्रों से कुचयुगल पर ऊपर की ओर लहराते नीले अञ्चल को बार–बार स्पर्श कर उठाते हुए, मेरी ओर तुमने जो वक्रकार भौंहों वाली दृष्टि से तिरस्कार के साथ देखा; उस दर्प से तुमने मेरी उपेक्षा ही की, (मुझे) कृतार्थ नहीं किया। {अथवा, तुमने उस दर्पभरी दृष्टि से मेरा तिरस्कार करना चाहा, किन्तु, वास्तव में यह मेरी अवज्ञा नहीं हुई, अपितु तुम्हारे 'बिब्बोक' भाव से उत्पन्न उस शोभा को देखकर तो मैं कृतार्थ (सफल) ही हो गया।}

९. ललित –

अथेति । अब ग्रन्थकार 'ललित' नामक स्वाभाविकभाव का लक्षण बतलाते हैं –

कारिकार्थ – सुकुमारेति । सुकोमल अङ्गों (करचरणादि अवयवों) के सरस विन्यास को 'ललित' कहा जाता है ॥ ४१ ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य है –

सभ्रूभङ्गमिति। 'भौंहों की भङ्गिमा के साथ नव किसलय सदृश नितान्त कोमल अँगुलियों को इधर–उधर संचालित कर बोलना, और नेत्र कटाक्षों से मादक–दृष्टि डालना, तथा स्वच्छन्द गमनों में सविलास चरण कमलों का विन्यास, (आदि देखकर

अथ विहृतम् –

प्राप्तकालं न यद्ब्रूयाद् व्रीडया विहृतं हि तत् ।

प्राप्तावसरस्यापि वाक्यस्य लज्जया यदवचनं तद्विहृतम्, यथा –

'पादाङ्गुष्ठेन भूमिं किसलयरुचिना सापदेशं लिखन्ती
भूयो भूयः क्षिपन्ती मयि सितशबले लोचने लोलतारे ।
वक्त्रं ह्रीनम्रमीषत्स्फुरदधरपुटं वाक्यगर्भं दधाना
यन्मां नोवाच किञ्चित्स्थितमपि हृदये मानसं तद्दुनोति ॥' (अमरु० १३६)

अथ नेतुः कार्यान्तरसहायानाह –

मन्त्री स्वं वोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने ॥ ४२ ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि) मानो वह कमलनयनी नवयौवन के द्वारा बिना संगीत के ही नचाई जा रही है' ॥ ४१ ॥

१०. विहृत –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'विहृत' नामक स्वाभाविकभाव का लक्षण बताते हैं –

प्राप्तकालं व्रीडया यद् न ब्रूयात् तत् विहृतम् हि इत्यन्वयः ॥

कारिकार्थ – प्राप्तकालमिति। अवसर प्राप्त होने पर भी लज्जा के कारण नायिका द्वारा स्वविवक्षित न बोलना 'विहृत' नामक भाव कहा जाता है ।

वृत्त्यर्थ – प्राप्तेति। जिस अभीष्ट वचन (वाक्य) को कहने का अवसर मिलने पर भी, उसे लज्जावश न बोलपाना ही विहृत है। जैसे – 'अमरुशतक' में {नायक नायिका की लज्जास्थिति का स्मरण कर रहा है} –

पादाङ्गुष्ठेनेति। 'नव किसलय के सदृश आभावाले पैर के अँगूठे से किसी व्याज से भूमि को कुरेदती हुई, तथा चंचल तारों वाले सित एवं शबल नेत्रों को बार–बार मेरे ऊपर डालती हुई, उस प्रिया ने लज्जावश नीचे की ओर मुख किये हुए फड़कते अधरों तक आई हुई मन की बात को चाहते हुए भी नहीं कहा, वह मेरे मन को त्रस्त कर रही है।'

{इस प्रकार तीन शारीरज अलंकारों, सात अयत्नज अलंकारों एवं दस स्वाभाविक अलंकारों का अर्थात् कुल बीस अलंकारों का प्रतिपादन किया गया ।}

अथेति। नायक के (वैयक्तिक सहायकों विट विदूषक आदि के वर्णन के पश्चात्) अब ग्रन्थकार उसके अन्य कार्यों के सहायकों का निरूपण करते हैं –

तस्य अर्थचिन्तने मंत्री स्वयम् वा उभयम् वा सखा इत्यन्वयः ॥ ४२ ॥

कारिकार्थ – मन्त्रीति। उस नायक के अर्थ (राजनीति) की चिन्ता में मन्त्री, सहायक (सखा) होता है; अथवा वह स्वयं ही अर्थ की चिन्ता (निरीक्षण) करता है। अथवा दोनों (नायक और मन्त्री) ही मिलकर उस विभाग को देखते हैं ॥ ४२ ॥

तस्य नेतुरर्थचिन्तायां तन्त्रावापादिलक्षणायां मन्त्री वाऽऽत्मा वोभयं वा सहाय:। तत्र विभागमाह –

मन्त्रिणा ललित:, शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धय: ।

उक्तलक्षणो ललितो नेता मन्त्र्यायत्तसिद्धि: । शेषा धीरोदात्तादय: । अनियमेन मन्त्रिणा स्वेन वोभयेन वाऽङ्गीकृतसिद्धय इति ।।

धर्मसहायास्तु –

वृत्त्यर्थ – तस्येति । उस नायक की स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्ररूपी (राजनैतिक) चिन्ता में मन्त्री सहायक होता है, अथवा वह (नायक) स्वयं ही, अथवा वे दोनों ही एक साथ राजनीति से सम्बन्धित (तन्त्रावाप आदि की) चिन्ता में संलग्न रहते हैं ।

परामर्श – तन्त्र एवं आवाप–तंत्र अर्थात् अपने राष्ट्र और आवाप अर्थात् दूसरे राष्ट्र की चिन्ता करना । अपने राष्ट्र को सुदृढ़ करना, कर (टैक्स) लेना, मार्गों का निर्माण करना, नहर आदि की व्यवस्था करना तन्त्र के अन्तर्गत आता है। परराष्ट्र का भेद लेना, वहां गुप्तचर भेजना, वहां की प्रजा में शत्रुराजा के प्रति विद्रोह की भावना पैदा करना आदि आवाप के अन्तर्गत आता है । तन्त्रावाप के विषय में **शिशुपालवध** का यह पद्य – तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता । सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्र इव शत्रव: ।। (२।८८) तन्त्रम् – स्वराष्ट्रचिन्तनम्, **आवाप:** – परराष्ट्रविषयकं चिन्तनम् ।। ४२ ।।

तत्रेति । अब ग्रन्थकार उन (**मन्त्री–सहायकों**) का विभाग बतलाते हैं –

मन्त्रिणा ललित: शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धय: इत्यन्वय: ।।

कारिकार्थ – मन्त्रिणेति। (पूर्व में बतलाये गये धीरोदात्त आदि नायकों में) धीरललित नायक के समस्त कार्यों की सिद्धि मन्त्री के ही अधीन होती हैं; और शेष (धीरोदात्त, धीरप्रशान्त एवं धीरोद्धत) नायकों के कार्यों की सिद्धि या तो मन्त्री के हाथ में, या स्वयं के हाथों में अथवा दोनों के ही हाथों में होती है ।।

वृत्त्यर्थ – उक्तेति । उपर्युक्त नायकों में से **धीरललित** नायक, कार्यार्थ सिद्धि के लिए मन्त्री पर ही निर्भर रहता है। शेष तीनों अर्थात् **धीरोदात्त, धीरप्रशान्त** और **धीरोद्धत** नायक अनियमेन **कभी मन्त्री के द्वारा, कभी स्वयं के द्वारा और कभी दोनों मन्त्री एवं स्वयं** – के द्वारा कार्यसिद्धि को प्राप्त करते हैं, अर्थात् राज्य का संचालन करते हैं ।

परामर्श – नाट्यशास्त्र मे 'धीरललित' नायक की कल्पना राजशास्त्र में –'सचिवायत्तसिद्धि' राजगण की कल्पना पर अवलम्बित है । वस्तुत: शृङ्गार रस का अभिव्यञ्जन '**धीरललित**' नायक के चरित्र–चित्रण के आधार पर ही किया जाता है। **भोज** ने उसे '**रत्युपचार प्रधान**' नृप माना है। ऐसी स्थिति में उसका राज्यचिन्ता से निश्चिन्त रहना और सब प्रकार से कार्यसिद्धि के लिए मन्त्री पर निर्भर रहना स्वाभाविक ही है ।।

धर्मेति। अब ग्रन्थकार नायक के **धर्म–सहायकों** का निरूपण करते हैं –

ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मे तपस्विब्रह्मवादिनः ॥ ४३ ॥

ब्रह्म – वेदः, तं वदन्ति व्याचक्षते वा तच्छीला ब्रह्मवादिनः, आत्मज्ञानिनो वा । शेषाः प्रतीताः ॥

दुष्टदमन दण्डः । तत्सहायास्तु –

सुहृत्कुमाराटविका दण्डे सामन्तसैनिकाः ।

स्पष्टम् ॥

एवं तत्तत्कार्यान्तरेषु सहायान्तराणि योज्यानि । यदाह –

अन्तःपुरे वर्षवराः किराता मूकवामनाः ॥ ४४ ॥
म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः ।

शकारो राज्ञः श्यालो हीनजातिः ॥

धर्मे ऋत्विक् पुरोहितः तपस्विब्रह्मवादिनः (सहायाः) इत्यन्वयः ॥ ४३ ॥

कारिकार्थ – ऋत्विगिति । नायक द्वारा सम्पादित किये जाने वाले धार्मिक कृत्यों में ऋत्विक्, पुरोहित, तपस्वी और ब्रह्मज्ञानी सहायक होते हैं ॥ ४३ ॥

वृत्त्यर्थ – ब्रह्मेति । ब्रह्म अर्थात् वेद, वेद का पाठ या उसके व्याख्याता को ब्रह्मवादी कहा जाता है । अथवा आत्मज्ञानियों को ही ब्रह्मवादी कहा जाता है । शेष (ऋत्विक् आदि) शब्दों का अर्थ स्पष्ट है । अतः उनकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है ॥ ४३ ॥

दुष्टदमनमिति । दुष्टों के दमन करने को 'दण्ड' कहा गया है। उस दण्डकार्य में नायक के सहायक ये होते हैं –

कारिकार्थ – सुहृदिति। मित्र, राजकुमार, आटविक, (वनविभाग के अधिकारी अथवा वन में रहने वाले) सामन्त और सैनिक (नायक के) दण्डकार्य में सहायक होते हैं।

वृत्त्यर्थ – स्पष्टमिति। इस कारिका का अर्थ स्पष्ट ही है, अतः व्याख्या की आवश्यकता नहीं है ॥

एवमिति । इस प्रकार भिन्न–भिन्न कार्यों में (नाटक की कथावस्तु के अनुसार) अन्य सहायकों की नियुक्ति करनी चाहिये। जैसा कि ग्रन्थकार ने कहा है –

कारिकार्थ – अन्तःपुर इति । राजा (नायक) के रनिवास में वर्षवर, (नपुंसक), किरात, गूंगे, बौने, म्लेच्छ, अहीर, और शकार आदि–का (नाटक में) सन्निवेश किया जाना चाहिए । ये सभी राजा–नायक के लिए अपने–अपने कार्य में उपयोगी होते हैं ॥ ४४–४५ ॥

वृत्त्यर्थ – शकार इति। शकार राजा का शालक (साला) एवं नीच जाति का होता है ।{शकार को "मदमूर्खताऽभिमानी' मूर्ख, घमण्डी, नीच कुल में उत्पन्न तथा राजा की रखैलस्त्री का भाई – 'अनूढाभ्राता' कहा गया है।}

विशेषान्तरमाह —

ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषां च त्रिरूपता ।। ४५ ।।
तारतम्याद्यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिता ।

एवं प्रागुक्तानां नायकनायिकादूतदूतीमन्त्रिपुरोहितादीनामुत्तममध्यमाधमभावेन त्रिरूपता । उत्तमादिभावश्च न गुणसंख्योपचयापचयेन किं तर्हि गुणातिशयतारतम्येन ।।

विशेषान्तरमिति। ग्रन्थकार नायक और उसके सहायकों के विशिष्ट भेदों को बताते हैं —

सर्वेषाम् ज्येष्ठमध्याधमत्वेन त्रिरूपता च यथोक्तानाम् गुणानाम् तारतम्यात् उत्तमादिना च **इत्यन्वय:** ।। ४५—४६ ।।

कारिकार्थ — ज्येष्ठेति। इन (पूर्वोक्त नायक और उसके सहायकों) का ज्येष्ठ, मध्यम, और अधम भेद से त्रैविध्य हो जाता है। (अर्थात् उत्तम, मध्यम और अधम भेद से इन सभी के तीन प्रकार होते हैं) और इनकी उत्तमता (मध्यमता एवं अधमता) आदि पूर्वोक्त गुणों के तारतम्य अर्थात् उन गुणों की विशेषता उनके परिमाण न्यूनाधिक्यता पर निर्भर होती है ।। ४५—४६ ।।

वृत्त्यर्थ — एवमिति। इस प्रकार पूर्वोक्त नायक—नायिका, दूत—दूती, मन्त्री तथा पुरोहित आदि उत्तम, मध्यम और अधम भेद से, तीन प्रकार होते हैं । यहाँ विशेष उल्लेखनीय यह है कि इनके (नायक—नायिका आदि के) उत्तम आदि प्रकार, गुणों की संख्या की अधिकता और कमी के आधार पर नहीं होते हैं, अपितु उनके गुणों की विशेषता (परिमाण) की अधिकता के तारतम्य से होते हैं ।। ४५—४६ ।।

परामर्श — यदि गुणों की संख्या की अधिकता और कमी (**उपचय**, और **अपचय**) के आधार पर उत्तम आदि भाव होते तो ये सभी नायकों के न होते। क्योंकि अनुनायक आदि भाव तो गुणों की संख्या की कमी के आधार पर ही होते हैं। इसलिए **धनिक** ने वृत्ति में कहा है कि गुणों के परिमाण के अतिशय के तारतम्य से ही उत्तम—मध्यम—अधमादिभाव होते हैं । इस विषय में **भावप्रकाशनकार** का कथन है कि — नायक के लिए कथित समस्त सातों गुण, जिसमें निहित हों वह **उत्तम श्रेणी** का नायक है। कुछ गुणों से समन्वित मध्यम श्रेणी का और अनेक गुणों से रहित **अधम श्रेणी** का नायक होता है । — "उक्त सर्वगुणोपेतो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते। द्वित्रैर्वा पञ्चषैर्वापि गुणैर्हीनोऽथमध्यम:। हीनो गुणैश्च बहुभिरधम: परिकीर्तित: ।।" (भा० प्र० ४।१०७)

किन्तु दशरूपककार **धनञ्जय** और **वृत्तिकार धनिक** के मत में महासत्त्व आदि पूर्वोक्त नायक के गुणों की अतिशयता, जिसमें अधिक हो वह उत्तम श्रेणी का नायक है। उत्तम की अपेक्षा गुणों की अल्पमात्रा जिसमें विद्यमान हो, वह मध्यम श्रेणी का तथा गुणों की स्वल्पतर मात्रा जिसमें हो, वह अधम श्रेणी का नायक है। (अर्थात् गुणों के परिमाणातिशय के तारतम्य से ही उत्तमादिभाव होते हैं। न कि गुणों की न्यूनता या अधिकता के अनुसार ।) ।। ४५—४६ ।।

हास्येनैव सशृङ्गारभयेन विहितं त्रिधा ।
आत्मोपक्षेपसम्भोगमानैः शृङ्गार्यपि त्रिधा ।। ४९ ।।
शुद्धमङ्गं भयं द्वेधा त्रेधा वाग्वेषचेष्टितैः ।
सर्वं सहास्यमित्येवं नर्माष्टादशधोदितम् ।। ५० ।।

अग्राम्य इष्टजनावर्जनरूपः परिहासो नर्म । तच्च शुद्धहास्येन सशृङ्गारहास्येन सभयहास्येन च रचितं त्रिविधम् । शृङ्गारवदपि स्वानुरागनिवेदन – सम्भोगेच्छाप्रकाशन – सापराधप्रियप्रतिभेदनैस्त्रिविधमेव । भयनर्मापि शुद्धरसान्तराङ्गभावाद् द्विविधम् । एवं षड्विधस्य प्रत्येकं वाग्वेषचेष्टाव्यतिकरेणाष्टादशविधत्वम् ।।

को प्रसन्न करने वाली विलासिनी की वैदग्ध्यपूर्ण (चातुर्ययुक्त) क्रीड़ा को 'नर्म' कहते हैं ।। ४८ ।।

यह (नर्म) तीन प्रकार का होता है – १. हास्य से किया गया नर्म, २. शृङ्गार समन्वित – नर्म, (हास्य) तथा ३. भयमिश्रित हास्य से किया गया नर्म। इनमें (उक्त तीनों प्रकारों में से) दूसरा अर्थात् शृङ्गार से समन्वित हास्य से युक्त नर्म भी तीन प्रकार का होता है। (क) आत्मोपक्षेप नर्म, (जिसमें नायक या नायिका स्वकीय प्रेम को एक दूसरे के प्रति प्रकट करते हैं) (ख) संभोग नर्म (जहाँ संभोगेच्छा प्रकट की जाय) (ग) मान—नर्म (जहाँ अपराधी नायक के प्रति नायिका मान[1] प्रकट करती है ।। ४९ ।।

भयमिश्रित – हास्य से किया गया नर्म भी दो प्रकार का होता है। (क) शुद्ध (अर्थात् भयमिश्रित—हास्य कृत नर्म) और (ख) अङ्ग—(किसी रस का अंगभूत भयसमन्वित हास्य कृत नर्म) पुनः ये वाणी, वेष, और चेष्टा के भेद से तीन—तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार (६ × ३ = १८) अट्ठारह प्रकार का नर्म कहलाता है ।। ५० ।।

वृत्त्यर्थ – अग्राम्य इति। प्रियजन को प्रसन्न करने वाला, सभ्यता पूर्ण (अर्थात् अग्राम्य – अश्लीलता से (रहित) परिहास ही 'नर्म' कहलाता है। और वह 'नर्म' (१) **शुद्धहास्य** (२) **शृङ्गारीहास्य** और (३) **भयमिश्रित** हास्य के द्वारा किया जाने के कारण तीन प्रकार का होता है। (उक्त भेदों मे से) दूसरे प्रकार का शृङ्गारीहास्य भी तीन प्रकार का होता है – (१) **स्वानुराग निवेदन** (अपने प्रेम को प्रकट करना—आत्मोपक्षेप) (२) **सम्भोगेच्छा प्रकाशन** (अपनी सम्भोगेच्छा को प्रकट करना) और (३) **सापराध प्रिय प्रति – भेदन** {अपराधी (अन्य—नायिका से प्रेमानुरंजन करने से) नायक पर कुपित होना या उसे तर्जन करना।} तीसरे प्रकार का भयमिश्रित हास्य भी – (१) **शुद्ध—भय** और (२) **रसान्तरङ्ग** (अर्थात् किसी दूसरे रस के अङ्गभूत होकर प्रकट किये हुए भयनर्म) के भेद से दो प्रकार का

---

१. 'मान' – मा + न अर्थात् मा – नहीं, न – नहीं, अतः नहीं नहीं । अर्थात् नायक द्वारा प्रकट की हुई इच्छा को नायिका द्वारा नहीं नहीं कहकर अस्वीकार किया जाना मान है । अहेतोर्मेति नेत्युक्तेर्हेतोर्वा मान उच्यते ।। सरस्वतीकण्ठाभरण ५।४८ ।।

भावप्रकाशनकार के अनुसार – ।। स्वातन्त्र्यं तद्यदन्यस्य मनोरथ निरोधनम् । स एव मान इत्युक्तो मनोरथनिरोधनम् ।। मा नेति वीप्सया रोषो मान इत्युच्यते बुधैः ।। भा०प्र० ४–१२ ।

तत्र वचोहास्यनर्म यथा –

'पत्यु: शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ।।'

वेषनर्म नागानन्दे विदूषकशेखरकव्यतिकरे । **क्रियानर्म** यथा मालविकाग्निमित्रे उत्स्वप्नायमानस्य विदूषकस्योपरि निपुणिका सर्पभ्रमकारणं दण्डकाष्ठं पातयति । एवं वक्ष्यमाणेष्वपि वाग्वेषचेष्टापरत्वमुदाहार्यम् ।।

शृङ्गारवदात्मोपक्षेपनर्म यथा –

'मध्याह्नं गमय त्यज श्रमजलं स्थित्वा पय: पीयतां
मा शून्येति विमुञ्च पान्थ विवश: शीत: प्रपामण्डप: ।
तामेव स्मर घस्मरस्मरशरत्रस्तां निजप्रेयसीं
त्वच्चित्तं तु न रञ्जयन्ति पथिक प्राय: प्रपापालिका: ।।'

होता है। इस प्रकार छ: प्रकार का नर्म –(१) हास्य नर्म (२) शृङ्गारीहास्य (आत्मोपक्षेप, संभोग और मान–तर्जन) (३) भयमिश्रित हास्य (शुद्ध, अङ्गभूत) वाक्, (भाषण) वेष और चेष्टा के भेद से अट्ठारह (१८) प्रकार का हो जाता है (६ × ३ = १८) ।। ४८–५० ।।

१. **तत्रेति।** उपर्युक्त नर्मभेदों में से **वचोहास्यरूप** अर्थात् वाणी–भाषण–द्वारा उत्पन्न 'नर्म' का उदाहरण (**कुमारसंभव** के सप्तम सर्ग से) इस प्रकार दिया गया है –

पत्युरिति। 'पार्वती के चरणों में महावर लगा देने के पश्चात् सखी ने परिहास के साथ यह आशीर्वाद दिया कि – 'इस चरण से (चरणयुगल से) पति के सिर की चन्द्रकला का स्पर्श करो।' तब उन्होंने (पार्वती ने) सखी को बिना कुछ कहे ही माला से मारा।'

२. **वेषेति। वेषनर्म** का उदाहरण – **श्रीहर्ष**कृत **'नागानन्द'** नाटक में विदूषक तथा शेखरक के प्रसङ्ग में है।

३. **क्रियेति। क्रियानर्म** का उदाहरण – इस प्रकार है, यथा – महाकवि **कालिदास** कृत **'मालविकाग्निमित्र'** नाटक में स्वप्न देखते हुए (या औंघते हुए) **विदूषक** के ऊपर **दण्ड–काष्ठ** डालकर निपुणिका **सर्पका भ्रम** उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार दूसरे भेदों में भी वाक्, वेष तथा चेष्टा के उदाहरण दिये जाने चाहिए ।

१. **शृङ्गारेति।** आत्मोपक्षेपरूप शृङ्गारी–नर्म का उदाहरण – जैसे – {प्रपा–पालिका–प्याऊ पर पानी पिलानेवाली कोई स्त्री कामातुर होकर किसी पथिक के प्रति अपना अनुराग इस प्रकार प्रकट करती है –}

मध्याह्नमिति। 'हे पथिक ! (यहीं पर) दोपहर का समय बितालो, अपना पसीना सुखा लो, और रुक कर पानी पीलो। यह 'सूना' है – ऐसा विचार कर, विवश होकर इस शीतल प्रमामण्डप को छोड़कर (अन्यत्र) मत जाओ। (यहाँ कुछ समय रुककर), कामदेव के प्राणघातक बाणों से त्रस्त अपनी प्रिया का ही स्मरण कर लो, क्योंकि हे पथिक ! प्रपापालिकाएँ तो तुम्हारे मन का अनुरञ्जन करती ही नहीं हैं ।'

सम्भोगनर्म यथा –

'सालोए व्विअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण ।
णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ।।'
('सालोके एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिकस्य गृहीत्वा ।
अनेच्छतोऽपि पादौ धुनोति हसन्ती हसतः ।।')

माननर्म यथा –

'तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति
प्रियजनपरिभुक्तं यद्दुकूलं दधानः ।
मदधिवसति मागाः कामिनां मण्डनश्री –
र्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ।।' (शिशु० ११.३३)

भयनर्म यथा रत्नावल्यामालेख्यदर्शनावसरे – '**सुसङ्गता** – जाणिदो मए एसो सव्वो वुत्तन्तो समं चित्तफलएण । ता देवीए णिवेदइस्सम्' ('ज्ञातो मयैष सर्वो

---

२. **सम्भोगेति। शृङ्गारयुक्त सम्भोग नर्म** का उदाहरण – यथा –

सालोक इति। 'सूर्यास्त होने के पूर्व ही हँसती हुई गृहणी हँसते हुए घरस्वामी के पैरों को पकड़कर उसकी इच्छा न होने पर भी उन्हें धो डालती है। (या हिलाती है।)'

परामर्श – उक्त पद्य में कवि ने किसी चतुरा नायिका का परनायिका के प्रति आसक्त पति के साथ किये हुए व्यवहार का वर्णन किया है।

नायिका ने सूर्यास्त होने के पूर्व ही (दिन में) पति के पैरों को धोकर शैया पर रख दिया है, जिससे उसके बाहर जाने का अवसर ही उपस्थित न हो सके। यहाँ दोनों के हँसने का संकेत यह है कि दोनों ही एक दूसरे के अभिप्राय को अच्छी तरह जानते हैं। पति समझ जाता है कि उसकी पत्नी असमय में पैरों को धोकर परनायिका से मिलने का परोक्षरूप से निषेध कर रही है और पत्नी अपने इस संभोगेच्छारूप अभिप्राय को पति के द्वारा अवगत जानकर हँस रही है।

३. **मानेति। शृङ्गारसमन्वित** मान–नर्म का उदाहरण यह है – { **शिशुपाल–वध महाकाव्य में कोई नायिका** अपने पास किसी अन्य नायिका का वस्त्र पहनकर आये हुए नायक से इस प्रकार कहती है –}

तदवितथमिति। 'तुमने जो यह कहा था कि 'तुम मेरी प्रिया हो' वह नितान्त सत्य ही है इसीलिए तुम अपनी (अन्य) प्रियतमा के वस्त्र धारण करके मेरे निवास (घर) पर आये हो। ठीक ही है, कामी जनों की शृङ्गार–शोभा प्राणवल्लभा के द्वारा देखने पर ही सार्थक होती है।' {अर्थात् व्यङ्ग्य से उसने यह कहा कि तुम जो मुझे प्रिया कहकर सम्बोधन करते थे, वह नितान्त ही असत्य था, क्योंकि मेरी सपत्नी के वस्त्र पहनकर मेरे घर पर आना ही यह सूचित करता है, कि तुम मुझसे नहीं, अपितु मेरी सपत्नी (अन्य नायिका) से प्रेम करते हो }

१. **भयेति। भययुक्त नर्म** का उदाहरण है – जैसे रत्नावली नाटिका में चित्रदर्शन के अवसर पर सुसङ्गता की यह उक्ति – 'हाँ मुझे सारी बातें ज्ञात हो चुकी

वृत्तान्त: सह चित्रफलकेन । तद्देव्यै निवेदयिष्यामि।') इत्यादि ।।

शृङ्गाराङ्गं भयनर्म यथा ममैव –

'अभिव्यक्तालीक: सकलविफलोपायविभव –
छिरं ध्यात्वा सद्य: कृतकृतकसंरम्भनिपुणम् ।
इत: पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषं धूर्त: स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम्' ।।

अथ नर्मस्फिञ्ज: –

नर्मस्फिञ्ज: सुखारम्भो भयान्तो नवसङ्गमे ।

यथा **मालविकाग्निमित्रे** सङ्केते नायकमभिसृतायां नायिकायां **नायक:** –

'विसृज सुन्दरि सङ्गमसाध्वसं ननु चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि ।।' (४.१३)

है। अब मैं इस बात को इस चित्रफलक के साथ जाकर देवी (वासवदत्ता) को निवेदित करूंगी ।' – {इस उक्ति में **भययुक्त शुद्धनर्म** की अभिव्यक्ति है।}

२. **शृङ्गाराङ्गमिति** । शृङ्गार के अङ्गभूत (रसान्तरङ्ग) **भय – नर्म** का (**धनिक** का) मेरा उदाहरण – {भयनर्म का दूसरा भेद वह है, जहाँ भय किसी अन्य रस का अङ्ग बन जाता है।}

अभिव्यक्तेति। 'अपना अपराध प्रकट हो जाने पर, नायक ने अपनी प्रेयसी को मनाने के लिए अनेक उपाय किये, किन्तु जब किसी उपाय से भी सफलता नहीं मिली तब बहुत देर तक विचार करने पर (उसके मन में यह विचार आया कि इसे किसी प्रकार एकदम भयभीत किया जाय) उसने अकस्मात् बड़ी चतुराई से बनावटी घबराहट–आकुलाहट–दिखाते हुए – 'यह पीछे क्या है? पीछे क्या है ? 'प्रेयसी को आतंकित कर (एकदम अवसर पाकर वह शठ नायक) मधुर मुसकान के साथ निकट ही खड़ी हुई प्रेयसी का आलिंगन करने लगा।'

(ख) नर्मस्फिञ्ज –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'नर्मस्फिञ्ज'** नामक **कैशिकी–वृत्ति के द्वितीय अङ्ग** का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – नर्मस्फिञ्ज इति । जब नवीन सङ्गम के अवसर पर (प्रेमी–प्रेमिका को) आरम्भ में आनन्द (सुख) होता है और अन्त में भय (कि कहीं कोई–पित्रादि व देव्यादि देख तो नहीं रहा है) तब 'नर्मस्फिंज' {नामक कैशिकी–वृत्ति का द्वितीय अङ्ग} होता है ।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे – **मालविकाग्निमित्र** में – संकेत स्थल पर नायक (अग्निमित्र) के पास अभिसरण करने वाली नायिका (मालविका) के प्रति नायक (अग्निमित्र) की यह उक्ति –

विसृजेति। 'हे सुन्दरि! मालविके! (नव) सङ्गम के भय से न डरो, मैं बहुत

मालविका – भट्टा देवीए भयेण अत्तणो वि पिअं काउं ण पारेमि' ('भर्तः ! देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामि।') इत्यादि ।

अथ नर्मस्फोटः –

नर्मस्फोटस्तु भावानां सूचितोऽल्परसो लवैः ॥ ५१ ॥

यथा **मालतीमाधवे** – **'मकरन्दः** –

गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं
श्वसितमधिकं किं न्वेतत्स्यात्किमन्यदितोऽथवा ।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं
ललितमधुरास्ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम् ॥' (१.२०)

इत्यत्र गमनादिभिर्भावलेशैर्माधवस्य मालत्यामनुरागः स्तोकः प्रकाश्यते ॥

दिनों से तुम्हारे प्रणय के लिए उत्कण्ठित हूँ । इसलिए सहकार (आम्रवृक्ष) बने हुए मेरे लिए तुम अतिमुक्तलता की तरह आचरण करो । (अर्थात् अतिमुक्त–लता जैसे आम्रवृक्ष का आलिङ्गन करती है, वैसे ही तुम मेरा (बिना किसी भय के) आलिङ्गन करो ।'

मालविका – स्वामिन् ! महारानी (देवी) के भय से मैं अपना प्रिय (आपका दर्शन एवं आलिङ्गन रूपी मनोरथ) भी करने में समर्थ नहीं हूँ ।

{कैशिकी–वृत्ति का यह द्वितीय भेद नाट्यशास्त्र में **'नर्मस्फुञ्ज'** के नाम से कहा गया है। ना० शा० २२।५२}

(ग) नर्मस्फोट –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'नर्मस्फोट'** नामक **कैशिकी**–वृत्ति के **तृतीय अङ्ग** का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – नर्मस्फोट इति। (सात्त्विक आदि) भावों के लेशमात्र से जहाँ किञ्चित् मात्र (शृङ्गार) रस सूचित होता है, वहाँ 'नर्मस्फोट' होता है ॥ ५१ ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – **भवभूतिकृत मालतीमाधव** में **'मकरन्द** {माधव की दशा का वर्णन इस प्रकार करता है –}

गमनमिति। 'इसकी चाल अलसाई है; दृष्टि सूनी है, शरीर में सुन्दरता परिलक्षित नहीं होती, श्वास की गति तीव्र है, यह क्या है? अथवा इसके अतिरिक्त अन्य कारण क्या हो सकता है ? सारे संसार में कामदेव का शासन (आज्ञा) प्रसारित है, यौवनावस्था भी विकारशील होती है। (निश्चय ही) नाना प्रकार के ललित और मधुर शृङ्गारीभाव युवकों के धैर्य को समाप्त कर ही देते हैं ।'

इत्यत्रेति। उक्त पद्य में आलस्ययुक्त चाल आदि भाव लेशों से माधव का मालती के प्रति किञ्चित् अनुराग व्यक्त किया गया है । इसलिए यहाँ **'नर्मस्फोट'** है।

अथ नर्मगर्भ: –

छन्ननेतृप्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे ।
अङ्गैः सहास्यनिर्हास्यैरेभिरेषाऽत्र कैशिकी ।। ५२ ।।

यथाऽमरुशतक –

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा –
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छल: ।
ईषद्वक्रितकन्धर: सपुलक: प्रमोल्लसन्मानसा –
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ।।' (१९)

यथा (च) प्रियदर्शिकायां गर्भाङ्के वत्सराजवेषसुसङ्गतास्थाने साक्षाद्वत्सराजप्रवेश: ।।

(घ) नर्म–गर्भ –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'नर्मगर्भ'** – नामक कैशिकी–वृत्ति के **चतुर्थ अङ्ग** का निरूपण करते हैं –

अर्थहेतवे छन्ननेतृप्रतीचार: नमगर्भ: (भवति) अत्र एषा कैशिकी सहास्य–निर्हास्यै: अङ्गै: (प्रतिपादिता) **इत्यन्वय:** ।। ५२ ।।

कारिकार्थ – छन्ननेत्रेति। किसी प्रयोजन के लिये नायक का गुप्त–व्यवहार ही 'नर्मगर्भ' कहलाता है। इस प्रकार यहाँ यह कैशिकी वृत्ति–हास्ययुक्त और हास्यरहित अङ्गों के साथ प्रतिपादित की गई है ।। ५२ ।।

{अर्थात् – कैशिकी वृत्ति के ये अङ्ग हास्ययुक्त (सहास्य) और हास्यरहित– दोनों प्रकार के हो सकते हैं।}

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे **अमरुशतक** के इस पद्य में –

दृष्टवेति। 'एक ही आसन पर अपनी प्रियतमाओं–ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा को बैठी देखकर नायक उनके पास धीरे–धीरे पहुँचता है और कुछ क्रीड़ा करने के बहाने से वह ज्येष्ठा नायिका के नेत्रों को दोनों हाथों से बन्द कर लेता है। पश्चात् वह चतुर नायक अपनी गरदन को थोड़ी वक्र करके, रोमाञ्चित होकर, प्रफुल्लित मनवाली तथा भीतर ही भीतर उत्पन्न हँसी के कारण मनोहर कपोलस्थलवाली कनिष्ठा (दूसरी) नायिका का चुम्बन ले लेता है ।'

यथेति। अथवा जैसे **हर्षकृत प्रियदर्शिका** नाटिका के गर्भाङ्क में **वत्सराज के वेष** को धारण की हुई **सुसङ्गता** के स्थान पर स्वयं वत्सराज ही रङ्गमंच पर प्रवेश करता है ।

{इस प्रकार **हास्य से युक्त** (पूर्वकथित) **अट्ठारह** एवं **हास्यरहित तीन** (नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ) सब मिलाकर इक्कीस (२१) **अङ्गों के सहित कैशिकी वृत्ति** का प्रतिपादन किया गया है ।।

अथ सात्त्वती –

विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः ।
संलापोत्थापकावस्थां साङ्घात्यः परिवर्तकः ॥ ५३ ॥

शोकहीनः सत्त्वशौर्यत्यागदयाहर्षादिभावोत्तरो नायकव्यापारः सात्त्वती । तदङ्गानि च संलापोत्थापकसाङ्घात्यपरिवर्तकाख्यानि ॥

---

२. सात्त्वती वृत्ति –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'सात्त्वती वृत्ति' नामक द्वितीय वृत्ति का निरूपण करते हैं–

सत्त्वशोकदयार्जवैः विशोका सात्त्वती अस्याम् संल्लापोत्थापकौ साङ्घात्यः परिवर्तकः भेदाः (सन्ति) **इत्यन्वयः** ॥ ५३ ॥

कारिकार्थ – विशोकेति। सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया और आर्जव से समन्वित नायक के शोक रहित व्यापार को 'सात्त्वती–वृत्ति कहा जाता है। इस (वृत्ति) के संलापक, उत्थापक, सांघात्य, और परिवर्तक (नामक चार) भेद (या अङ्ग) होते हैं ॥ ५३ ॥

वृत्त्यर्थ – शोकहीन इति। शोकहीन, सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया तथा हर्ष आदि भावों के पश्चात् होने वाला नायक–व्यापार ही **'सात्त्वती वृत्ति'** कहा जाता है। इस सात्त्वती वृत्ति के संलापक, उत्थापक, सांघात्य, और परिवर्तक नामक चार अङ्ग होते हैं ॥ ५३ ॥

परामर्श – 'सात्त्वती' – वृत्ति से तात्पर्य नाटक में वर्णित अनुकार्य पुरुषों के तथा नट के विविध मानसिक व्यापार से है। नाटकों में वर्णित चरितों के मानसिक व्यापार भिन्न–भिन्न प्रकारों से व्यक्त होते हैं। कहीं विचित्र–गंभीर उक्ति–प्रत्युक्ति (वार्तालाप) द्वारा, कहीं एक कार्य के करते हुए कार्यान्तर के प्रति तत्परता (परिवर्तक) द्वारा, कहीं परपक्ष में उत्तेजना की उत्पत्ति (उत्थापक) के द्वारा और कहीं नीति के दाँव–पेंच से परपक्ष–भेदन (सांघात्य) के द्वारा, अनुकार्य चरितों (नाटक में वर्णित पात्रों) का जो भी व्यक्तित्व चरित का वर्णन है, वह सब सात्त्वती–वृत्ति के नाम से अभिहित किया जाता है।

"इदं च मानसं कर्म विचित्राभिर्गम्भीरोक्तिभिः, प्रारब्धकार्यापरित्यागात् कार्यान्तर परिग्रहेण, संग्रामायपरोत्साहनेन, सामादिप्रयोगदैवादिना अरिसंघातभेदजननेनान्यैश्च बहुभिः प्रकारैर्लक्ष्यत इति ।" (ना० द० ३ विवेक)

वस्तुतः मानसिक कार्यकलापों की गणना करना संभव नहीं है, किन्तु कतिपय नाटयाचार्यों ने नाटकों में वर्णित चरितों के मानसव्यापार का विश्लेषण कर सात्त्वती–वृत्ति को भेद चतुष्टय में निबद्ध किया है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ भी इन्हीं नाट्याचार्यों के अनुयायी हैं ॥ ५३ ॥

१. संलापक –

तत्रेति। अब ग्रंथकार **'संलापक'** नामक सात्त्वती वृत्ति के प्रथम अङ्ग का निरूपण करते हैं –

तत्र –

संलापको गभीरोक्तिर्नानाभावरसा मिथ: ।

यथा **वीरचरिते** – 'राम: – अयं स य: किल सपरिवारकार्तिकेयविजया–वर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवत्सरसहस्रान्तेवासिने तुभ्यं प्रसादीकृत: ।।

परशुराम: – राम राम दाशरथे! स एवायमाचार्यपादानां प्रिय: परशु: –

शस्त्रप्रयोगखुरलीकलहे गणानां
सैन्यैर्वृतो विजित एव मया कुमार: ।
एतावतापि परिरभ्य कृतप्रसाद:
प्रादादमुं प्रियगुणो भगवान्गुरुर्मे ।।' (महावीर० २.३४)

इत्यादिनानाप्रकारभावरसेन रामपरशुरामयोरन्योन्यगभीरवचसा संलाप इति ।।

अथोत्थापक: –

कारिकार्थ – संलापक इति। (उपर्युक्त सात्त्वती के चार अंगों में) विविध प्रकार के भावों तथा रसों से युक्त (नाट्य पात्रों की) पारस्परिक गम्भीर उक्ति प्रत्युक्ति को 'संलापक' (संलाप) कहा जाता है ।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे – **भवभूति** कृत **'महावीर चरित'** में राम (परशुराम के प्रति इस प्रकार कहते हैं) – 'यह वही परशु है, जिसे भगवान शङ्कर ने सेना सहित कार्तिकेय को पराजित करने पर प्रसन्न होकर एक हजार वर्ष पर्यन्त शिष्य रहने वाले आपको प्रसाद के रूप में प्रदान किया था ।

परशुराम – हे दशरथ पुत्र राम ! आचार्य चरणों का यह वही प्रिय परशु है, जो –

शस्त्रप्रयोगेति। 'शस्त्र–प्रयोग की परीक्षा में गणों की सेना से घिरे हुए कुमारकार्तिकेय मेरे द्वारा जीत लिये गये थे। इतने ही से गुणग्राही भगवान् मेरे गुरु (शङ्कर) ने प्रसन्नता से मेरा आलिंगन करके यह परशु मुझे प्रसाद रूप में दिया है।'

इत्यादिनेति। इत्यादि के द्वारा यहाँ विविध प्रकार के भावों और रसों से समन्वित राम एवं परशुराम के पारस्परिक गम्भीर उक्ति–प्रत्युक्तियों का प्रतिपादन रहने से **'संलाप'** नामक सात्त्वती वृत्ति का अङ्ग है।

परामर्श – आचार्य भरत के अनुसार यदि कोई दुर्वचन या अपमानित करने वाली वचनावली का जो चुनौती देने से या किसी और प्रकार के वचनों द्वारा उत्पन्न हुई हो, प्रयोग करता हो तो उसे 'सल्लापक' कहते हैं –

।। साधर्षजो निराधर्षजोऽपि वा रागवचनसंयुक्त: । साधिक्षेपालापो ज्ञेय: सल्लापक: सोऽपि ।। (ना० शा० २०।४८)

२. उत्थापक –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'उत्थापक'** नामक सात्वती वृत्ति के **द्वितीय अंग** का लक्षण बताते हैं –

उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत्परम् ॥ ५४ ॥

यथा **वीरचरिते** –

'आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैतृष्ण्यं नु कृतोऽद्य सम्प्रति मम त्वद्दर्शने चक्षुषः ।
त्वत्साङ्गत्यसुखस्य नास्मि विषयः किं वा बहुव्याहृतै–
रस्मिन्विश्रुतजामदग्न्यविजये बाहौ धनुर्जृम्भताम् ॥' (महावीर० ५.४९)

अथ साङ्घात्यः –

मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः साङ्घात्यः सङ्घभेदनम् ।

कारिकार्थ – उत्थापक इति। जहाँ प्रथम (पहले) एक पात्र अन्य पात्र को युद्ध के लिए उत्तेजित (उत्थापित) करे, वहाँ 'उत्थापक' नामक सात्वती वृत्ति का अङ्ग होता है ॥ ५४ ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे **'महावीरचरित'** में {राम के प्रति बालि की उक्ति –}

आनन्दायेति। 'तुम मुझे आनन्द देने के लिए दिखाई दिये हो, या विस्मय अथवा दुःख के लिए–यह मैं नहीं कह सकता। आज तुम्हें देखकर मेरे नेत्रों को तृप्ति कैसे हो सकती है? (अर्थात् नहीं हो सकती)। मैं तुम्हारी सङ्गति से होने वाले सुख का पात्र नहीं हूँ। अधिक क्या कहूँ ? अथवा क्या लाभ है? परशुराम को पराजित करने के कारण विश्रुत (जगत्–प्रसिद्ध) अपने इस हाथ में धनुष (मेरे साथ युद्ध करने के लिए) धारण करो ।'

{इत्यादि के द्वारा–बालि के द्वारा राम को उत्तेजित किये जाने से यहाँ **'उत्थापक'** नाम का 'सात्वती वृत्ति' का अङ्ग है।}

परामर्श – आचार्य भरत के अनुसार – संघर्ष के समय उत्पन्न वचनों से उत्पन्न होने वाली चुनौती को **'उत्थापक'** समझना चाहिए । जैसे – 'मैं युद्ध के लिए उठता हूँ तू अपनी ताकत आजमाले' आदि वाक्य 'उत्थापक' कहे जाते हैं – अहमत्युत्थास्यामि त्वं तावद्दर्शयात्मनः शक्तिम् । इति संघर्षसमुत्थस्तज्ज्ञरुत्थापको ज्ञेयः ॥ (ना० शा० – २०।४५)

आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो मानस परिस्पन्द को उत्थापित करता हो वह 'उत्थापक' तथा ऐसे कार्य का सूचक व्यापार भी उपचार से 'उत्थापक' कहा जाता है – उत्थापयति यो मानसः परिस्पन्दः स तावदुत्थापकः तत्सूचको व्यापारक्रम उपचारः ॥ (अभि० भा० २०।४५) ॥ ५४ ॥

३. सांघात्य –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'सांघात्य'** नामक सात्त्वती वृत्ति के **तृतीय अंग** का लक्षण बताते हैं –

कारिकार्थ – मन्त्रार्थेति। शत्रु (प्रतिनायक) के संघ का जहाँ मन्त्रशक्ति, अर्थशक्ति, दैवशक्ति आदि के द्वारा भेदन किया जाय, वहाँ यह सांघात्य, 'सात्त्वती वृत्ति' का अङ्ग होता है।

मन्त्रशक्त्या यथा मुद्राराक्षसे राक्षससहायादीनां चाणक्येन स्वबुद्ध्या भेदनम्। **अर्थशक्त्या** तत्रैव यथा पर्वतकाभरणस्य राक्षसहस्तगमनेन मलयकेतुसहोत्थायिभेदनम्। **देवशक्त्या** तु यथा रामायणे रामस्य दैवशक्त्या रावणाद्विभीषणस्य भेद इत्यादि ।।

अथ परिवर्तकः –

प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात्परिवर्तकः ।। ५५ ।।

प्रस्तुतस्योद्योगकार्यस्य परित्यागेन कार्यान्तरकरणं परिवर्तकः । यथा **वीरचरिते –**

'हेरम्बदन्तमुसलोल्लिखितैकभित्ति
वक्षो विशाखविशिखव्रणलाञ्छनं मे ।

{इस अङ्ग में नायक या नायक के सहयोगी अपनी–शक्तियों–(मन्त्र, अर्थ और दैव)–से प्रतिनायक–शत्रु और उसके सहयोगियों में फूट–(भेद) डालकर उसकी शक्ति को क्षीण कर देते हैं।}

वृत्त्यर्थ – मन्त्रेति। {जहाँ मन्त्रणा या बुद्धिचातुर्य के आधार पर शत्रु नायक और उसके सहयोगियों में भेदन हो वह भेदन, **मन्त्रशक्ति** के अन्तर्गत आता है।} जैसे – **'मुद्राराक्षस'** नाटक में चाणक्य अपने बुद्धि–बल से राक्षस के सहायकों को फोड़ देता है। **अर्थ–शक्ति** के आधार पर {अर्थात् अर्थादि–धन–द्रव्यादि के सहारे शत्रु–पक्ष में भेदन किया जाता है।} जैसे – उसी नाटक में पर्वतक के आभूषणों, राक्षस के हाथ में पहुँच जाने से मलयकेतु और उसके सहयोगियों में फूट पड़ जाती है । **दैवशक्ति**, जैसे रामायण में रामचन्द्र की अलौकिक शक्ति (अथवा दैवशक्ति) के कारण ही विभीषण का रावण से भेद हो जाता है।

परामर्श – आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे और स्पष्ट किया है । उनके अनुसार जो युद्ध में अथवा समूह में भेद को उत्पन्न करने वाला हो वह 'संघात्यक' है । सम्यक् घात्यः शत्रुवर्गो येन अर्थात् जिससे शत्रुवर्ग सम्यक् प्रकार से घातित हो सकें । यह संघात भेद शत्रु के द्वारा प्रयुक्त सामादि उपाय से किया जाता है । (अभि० भा० २०।५०) ।।

४. **परिवर्तक –**

अथेति। अब ग्रन्थकार **'परिवर्तक'** नामक सात्त्वती–वृत्ति के **चतुर्थ अङ्ग** का लक्षण बताते हैं –

कारिकार्थ – प्रारब्धेति। आरम्भ किये गये प्रचलित कार्य को छोड़कर अन्य कार्य को सम्पादित करना ही परिवर्तक कहलाता है ।। ५५ ।।

वृत्त्यर्थ – प्रस्तुतस्येति। प्रारम्भ किये हुए प्रचलित कार्य का परित्याग कर अन्य कार्य का करना 'परिवर्तक' है। जैसे **'महावीर चरित'** में (राम के प्रति परशुराम की यह उक्ति) –

हेरम्बेति। ''गणेश जी के मुसल सदृश दाँतों से खरोंचा गया एक भाग वाला

रोमाञ्चकञ्चुकितमद्भुतवीरलाभाद्

यत्सत्यमद्य परिरब्धुमिवेच्छति त्वाम् ।।' (महावीर २.३८)

रामः – 'भगवन्! परिरम्भणमिति प्रस्तुतप्रतीपमेतत् । इत्यादि ।।

सात्त्वतीमुपसंहरन्नारभटीलक्षणमाह –

एभिरङ्गैश्चतुर्धेयं सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।। ५६ ।।
संक्षिप्तिका स्यात्संफेटो वस्तूत्थानावपातने ।

माया मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशनम् । तन्त्रबलादिन्द्रजालम् ।।

तथा स्वामी कार्तिकेय के तीक्ष्ण बाणों के प्रहार से व्रण से अंकित मेरा वक्षःस्थल आज (तुम जैसे) अद्भुत पराक्रमशाली वीर के मिलजाने से रोमाञ्चरूपी कञ्चुक से आवृत होकर वस्तुतः तुम्हारा आलिंगन करना चाहता है।''

{परशुराम की यह उक्ति सुनकर} राम कहते हैं – भगवन् ! 'आलिंगन; यह तो प्रस्तुत व्यापार (युद्ध) के विपरीत है ।' – {इत्यादि में 'परिवर्तक' नामक सात्त्वती वृत्ति है।}।।

परामर्श – प्रस्तुतप्रतीपम् – परशुराम, रामचन्द्र की वीरता से अत्यधिक प्रभावित होकर, उनके साथ युद्ध का विचार त्याग कर, उनका आलिंगन करना चाहते हैं–यही प्रस्तुत कार्य के विपरीत है। इसीलिए यह परिवर्तक है।

३. आरभटी वृत्ति –

सात्वतीति। अब ग्रंथकार सात्त्वती वृत्ति का उपसंहार करते हुए आरभटी वृत्ति का लक्षण बतलाते हैं –

इयम् सात्त्वती एभिः अङ्गैः चतुर्धा (भवति) पुनः मायेन्द्रजालसङ्ग्रामक्रोधोद्– भ्रान्तादिचेष्टितैः आरभटी वृत्तिः इत्यन्वयः ।। ५६–५७ ।।

कारिकार्थ – एभिरिति। सात्त्वती वृत्ति इन उपर्युक्त (वर्णित) अङ्गों से चार प्रकार की होती है। आरभटीवृत्ति माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध एवं उद्भ्रान्त आदि चेष्टाओं से समन्वित होती है। (अर्थात् आरभटी वृत्ति में माया आदि चेष्टाएँ निहित रहती हैं) ।। ५६।।

इसके (क) संक्षिप्तिका, (ख) संफेट, (ग) वस्तूत्थान, तथा (घ) अवपातन ये चार अङ्ग होते हैं ।। ५६–५७ ।।

वृत्त्यर्थ – मायेति। माया से तात्पर्य है – मन्त्र की शक्ति से अविद्यमान वस्तु का प्रदर्शन करना, और यही कार्य, तन्त्र शक्ति (बल) से सम्पादित किये जाने पर इन्द्रजाल कहलाता है। (अर्थात् तन्त्रबल को ही इन्द्रजाल कहते हैं)।।

परामर्श – आचार्य भरत के अनुसार – वह वृत्ति जिसमें उद्धत पुरुषों के गुणों का अधिक समावेश हो तथा जो उनके विविध प्रभाषण शब्दों, कपट वंचनाओं, तथा दम्भ और असत्य व्यवहारों से युक्त हो, जिसमें अनेक प्रकार की नीचे गिरने, कूदने

तत्र —

संक्षिप्तवस्तुरचना संक्षिप्तिः शिल्पयोगतः ।। ५७ ।।
पूर्वनेतृनिवृत्त्याऽन्ये नेत्रन्तरपरिग्रहः ।

मृद्वंशदलचर्मादिद्रव्ययोगेन वस्तूत्थापनं संक्षिप्तिः । यथोदयनचरिते किलिञ्ज–हस्ति प्रयोगः । पूर्वनायकावस्थानिवृत्त्यावस्थान्तरपरिग्रहमन्ये संक्षिप्तिकां मन्यन्ते । यथा बालिनिवृत्त्या सुग्रीवः । यथा च परशुरामस्यौद्धत्यनिवृत्त्या शान्तत्वापादनम् 'पुण्या ब्राह्मण — जातिः—' इत्यादिना ।।

की क्रियाएँ हो, माया तथा इन्द्रजाल के कार्य हों और अनेक प्रकार के युद्धों का अभिनय प्रस्तुत किया जाए तो उसे **'आरभटी वृत्ति'** कहते हैं । (ना० शा० २०।६४—६५)।

यह वृत्ति कैशिकी एवं सात्वती वृत्ति से प्रतिकूलता रखती है । 'आरभट' अर्थात् उत्साह सम्पन्न वीर योद्धाओं के गुण जिस वृत्ति में हो वह आरभटी वृत्ति, यह इसका अन्वर्थक नामकरण भी है । **रामचन्द्र गुणचन्द्र** के अनुसार **'आर'** पद का अर्थ कशा या चाबुक है अतः जहाँ ऐसे योद्धा या भटों की जो चाबुक के समान की प्रमुखता रखते हों — वहाँ **आरभटी है** । यह वृत्ति कायिक, मानसिक तथा वाचिक व्यापारों तथा अभिनयों से युक्त रहने से नाट्य के लिए परमोपयोगी होती है, क्योंकि इसमें अभिनय गत सभी विधानों का समायोजन संभव रहता है ।। ५६—५७ ।।

(क) **संक्षिप्तिका या संक्षिप्ति** —

अथेति। अब ग्रन्थकार आरभटी—वृत्ति के उक्त चार अंगों में **संक्षिप्ति** नामक आरभटी वृत्ति के प्रथम अंग का लक्षण बताते हैं —

शिल्पयोगतः संक्षिप्तवस्तुरचना संक्षिप्तिः, अन्ये पूर्वनेतृ नेत्रन्तरपरिग्रहः संक्षिप्ति **इत्यन्वयः** ।। ५७—५८ ।।

कारिकार्थ — संक्षिप्तेति। शिल्प के प्रयोग से संक्षिप्त वस्तु—रचना को 'संक्षिप्ति' कहा जाता है। कुछ लोगों के मतानुसार प्रथम नायक के चले जाने पर (उसके स्थान पर) अन्य नायक का आ जाना ही संक्षिप्ति है {या एक ही नायक के भी एक अवस्था से दूसरी अवस्था में आ जाना संक्षिप्ति का भेद माना जाता है} ।। ५७—५८ ।।

वृत्त्यर्थ — मृद्वंशेति। मिट्टी, बांस, पत्ते, चमड़े आदि द्रव्यों के प्रयोग से किसी वस्तु का निर्माण 'संक्षिप्ति' है। जैसे उदयनचरित में किलिञ्ज—हस्ति का प्रयोग । कुछ अन्य आचार्यों के मत में नायक की पूर्व अवस्था समाप्त हो (हट) जाने पर दूसरी अवस्था का आ जाना ही **'संक्षिप्ति'** है।

यथेति। जैसे — बालि की निवृत्ति हो जाने पर सुग्रीव का आना (नायक बन जाना) और **जैसे** — परशुराम के औद्धत्य की निवृत्ति के पश्चात् शान्त—अवस्था की उनमें उत्पत्ति, 'ब्राह्मण जाति पवित्र होती है' — इत्यादि कथन के द्वारा, अभिव्यक्त की गई है ।

अथ संफेट: –

संफेटस्तु समाघात: क्रुद्धसंरब्धयोर्द्वयो: ।। ५८ ।।

यथा माधवाऽघोरघण्टयोर्मालतीमाधवे । इन्द्रजिल्लक्ष्मणयोश्च रामायणप्रतिबद्ध–वस्तुषु ।।

अथ वस्तूत्थापनम् –

मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमिष्यते ।

यथोदात्तराघवे –

'जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभि –
भास्वन्त: सकला रवेरपि रुच: कस्मादकस्मादमी'।
एताश्चोग्रकबन्धरन्ध्ररुधिरैराध्मायमानोदरा –
मुञ्चन्त्याननकन्दरानलमुचस्तीव्राऽऽरवा: फेरवा: ।।'

{रूपगोस्वामी के विचार में आश्चर्यजनक संक्षिप्त वस्तु की सृष्टि ही संक्षिप्ति है। जैसे–ब्रह्मा के द्वारा बालकों का अपहरण कर लेने पर कृष्ण द्वारा उनके स्थान पर उन जैसे ही बालकों की सृष्टि की जाना।} ।। ५७–५८ ।।

(ख) संफेट –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'संफेट' नामक आरभटी–वृत्ति के दूसरे अंग का लक्षण बताते हैं –

कारिकार्थ – सम्फेट इति । क्रुद्ध और उत्तेजित दो व्यक्तियों का परस्पर एक दूसरे पर प्रहार करना ही 'संफेट' कहलाता है ।। ५८ ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे (भवभूति के) **'मालतीमाधव'** नाटक (के पाँचवे अंक) में माधव और अघोरघंट का तथा रामायणीय कथा के आधार पर रचित प्रबन्धात्मक काव्य ग्रन्थों में मेघनाद और लक्ष्मण का (परस्पर प्रहार वर्णित) है।। ५८ ।।

(ग) **वस्तूत्थापन –**

अथेति । अब ग्रन्थकार वस्तूत्थापन नामक आरभटी–वृत्ति के **तृतीय अंग** का लक्षण बताते हैं।

कारिकार्थ – मायेति। माया (तथा इन्द्रजाल) आदि के द्वारा (किसी) वस्तु को प्रकट करना वस्तूत्थापन कहलाता है ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे उदात्तराघव नाटक में – {माया के द्वारा वस्तु का उत्थापन –}

जीयन्त इति। '(अरे, यह क्या है?) चारों ओर आकाश में व्याप्त होते हुए अन्धकार ने प्रखर तेजस्वी सूर्य की किरणों को जीत लिया (आच्छादित कर लिया।) और भीषण नरमुण्डों से बहने वाले रुधिर को यथेष्ट पीकर पेट फुलाए हुए फेरव (शृगाल) आग उगलते हुए घोर शब्द कर रहे हैं। इत्यादि (में वस्तूत्थापन नामक आरभटी–वृत्ति है।)

इत्यादि ।

अथाऽवपातः –

अवपातस्तु निष्क्रामप्रवेशत्रासविद्रवैः ॥ ५९ ॥

यथा **रत्नावल्याम्** –

'कण्ठे कृत्ताऽवशेषं कनकमयमधः शृङ्खलादाम कर्षन्
क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणवलत्किङ्किणीचक्रवालः ।
दत्तातङ्को गजानामनुसृतसरणिः सम्भ्रमादश्वपालैः
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरातः ॥ (रत्ना० २.२)
नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादकृत्वा त्रपा –
मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासदयं वामनः ।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ॥' (रत्ना० २.३)

{**इन्द्रजाल से वस्तूत्थापन** का उदाहरण **रत्नावली** नाटिका के चतुर्थ अंक से (४।११) उद्धृत किया जा सकता है । 'एष ब्रह्मा'–इत्यादि।}

(घ) **अवपात** –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'अवपात'** – नामक आंरभटीवृत्ति के **चतुर्थ अंग** का लक्षण बताते हैं –

कारिकार्थ – अवपात इति। पात्रादि के रङ्गमञ्च पर प्रवेश करने से या रङ्गमञ्च से बाहर चले जाने से अन्य पात्रों में जो भय उत्पन्न होता है तथा जो भगदड़ मचती है, वह 'अवपात' कहलाता है ॥ ५९ ॥

{संक्षेप में 'अवपात' – निष्क्रमण, प्रवेश, त्रास एवं भयवशात् पलायन से समन्वित होता है।}

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **रत्नावली** नाटिका में – {अश्वशाला से छूटे हुए बन्दर को देखकर अन्तःपुर के लोगों के भयभीत होकर पलायन का वर्णन है –}

कण्ठ इति। 'अश्वशाला से छूटा हुआ, अश्वरक्षकों द्वारा मार्ग में त्वरा से पीछा किया जाता हुआ और लीलापूर्वक चलने से पैरों में शब्दायमान घुँघरुओं वाला यह बन्दर गले में टूटने से बची हुई सुवर्ण की जंजीर को भूमि पर घसीटता हुआ और दरवाजों को पार करके अङ्गनाओं को डराता हुआ राजा के भवन में प्रवेश कर रहा है'।

और भी **नष्टमिति**। – बन्दर को आता हुआ देखकर पुरुषों में अपनी गणना न होने के कारण नपुंसक (वर्षवर) तो लज्जा छोड़कर भाग गये और वामन (बौने) भय के मारे कञ्चुकी के जामे–अंगरखे–में छिपने लगे। किरातों ने कोनों में घुस के अपने नामके सदृश ही काम किया। कुबड़े अपने को देख लिये जाने के भय से झुककर चलने लगे।'

{'**किरात**' शब्द से तात्पर्य है जो कोने में छिपे या रहे ''किरम् = कोणम् अतन्ति = गच्छन्तीति किराताः।''}

यथा च प्रियदर्शिकायां प्रथमेऽङ्के विन्ध्यकेत्ववस्कन्दे ॥

उपसंहरति —

एभिरङ्गैश्चतुर्धेयम् नार्थवृत्तिरतः परा ।
चतुर्थी भारती सापि वाच्या नाटकलक्षणे ॥ ६० ॥
कैशिकीं सात्त्वतीं चार्थवृत्तिमारभटीमिति ।
पठन्तः पञ्चमीं वृत्तिमौद्भटाः प्रतिजानते ॥ ६१ ॥

सा तु लक्ष्ये क्वचिदपि न दृश्यते, न चोपपद्यते रसेषु, हास्यादीनां भारत्यात्मकत्वात्, नीरसस्य च काव्यार्थस्याभावात् । तिस्र एवैता अर्थवृत्तयः । भारती तु शब्दवृत्तिरामुखाङ्गत्वात्तत्रैव वाच्या ॥

यथेति। अथवा, जैसे 'प्रियदर्शिका' के प्रथम अंक में विन्ध्यकेतुका आक्रमण होने पर कोलाहल—भाग दौड़—का वर्णन है ॥ ५९ ॥

उपसंहरतीति। अब ग्रन्थकार **आरभटी वृत्ति** का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

इयम् एभिः अङ्गैश्चतुर्धा (भवति) अतः परा अर्थवृत्तिः न कैशिकीम् सात्वतीम् आरभटीम् च अर्थवृत्तिम्, चतुर्थी भारती, सा अपि नाटकलक्षणे वाच्या, औद्भटाः पञ्चमीं वृत्तिम् पठन्तः (प्रति जानते) **इत्यन्वयः** ॥ ६०—६१ ॥

कारिकार्थ — एभिरिति। (उपर्युक्त वर्णनानुसार) इन (उक्त) अङ्गों के सहित यह आरभटी—वृत्ति चार प्रकार की होती है ।

{उद्भट—संप्रदाय के अनुयायियों द्वारा स्वीकृत पाँचवी—वृत्ति का खण्डन करते हुए धनञ्जय कहते हैं कि —} इन (तीन कौशिकी, सात्त्वती, और आरभटी) वृत्तियों के अतिरिक्त कोई अन्य 'अर्थवृत्ति' नहीं होती। चौथी 'भारती—वृत्ति' होती है, जिसका वर्णन नाटक के लक्षण—वर्णन के अवसर पर किया जायगा।। ६०।।

वस्तुतः १. कौशिकी; २. सात्त्वती; और ३. आरभटी — ये तीन ही अर्थवृत्तियाँ हैं। किन्तु उद्भट संप्रदायानुयायी (चौथी 'भारती' नामक शब्द वृति के अतिरिक्त) पाँचवीं वृत्ति भी स्वीकार करते हैं। (जो अनुपयुक्त होने के कारण, हमें स्वीकृत नहीं है।) ॥ ६१॥

वृत्त्यर्थ — सेति। वह (उद्भट मतानुयायियों की पाँचवीं 'अर्थवृत्ति') तो लक्ष्य ग्रन्थों (नाटक ग्रंथो) में कहीं भी दिखलाई नहीं देती; और वह रसों में भी उपयुक्त नहीं होती है; क्योंकि हास्य आदि सभी रस भारती—वृत्ति में ही आत्मसात् हो जाते हैं, तथा कोई भी काव्यार्थ नीरस नहीं होता। अतः (कैशिकी, सात्त्वती और आरभटी) ये तीन ही अर्थवृत्तियाँ हैं। भारती—वृत्ति तो 'शब्दवृत्ति' है। वह नाटक के आमुख का अङ्ग है। इसलिए उसका निरूपण—(यहाँ रसपरक अर्थवृत्तियों के निरूपण के अवसर पर करना उपयुक्त न होने से) नाटक—लक्षण कथन के अवसर पर किया जायगा। (अर्थात् तृतीय प्रकाश में) ॥ ६०—६१ ॥

परामर्श — यद्यपि भरत मुनि ने आरभटी, भारती, सात्त्वती एवं कैशिकी चार वृत्तियों का प्रतिपादन किया है, तथापि उद्भट ने सात्त्वती तथा कैशिकी वृत्तियों को

अस्वीकार करते हुए उनके स्थान पर एक फल—संवित्ति वृत्ति को माना है । इस प्रकार वे वृत्तियों की संख्या केवल तीन मानते हैं । दशरुपक के संदर्भ के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि उद्भट सम्प्रदाय के अन्य विचारक पाँच वृत्तियों को स्वीकार करते हैं । उन्होंने भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित चारों वृत्तियों को मानकर उनमें एक वृत्ति फलसंवित्ति को और जोड़ दिया है ।

आचार्य उद्भट के अनुयायियों नें अन्य शास्त्रकारों से अमान्य फलसंवित्ति वृत्ति की स्थापना अधोलिखित युक्तियों के आधार पर की है । उनका का अभिमत यह है कि आरभटी, भारती एवं फलसंवित्ति अथवा अर्थवृत्ति तीन ही वृत्तियाँ हैं । उनका कहना है कि — करुण रस के प्रकट करने में प्रधान रूप से कायिक चेष्टा रूप आरभटी वृत्ति का अस्तित्व नहीं होता। शोक को प्रकट करने वाले शब्दों में प्रकटित विलाप करुण रस को प्रकट करने का साधन है । इसी कारण इसमें भारती वृत्ति का प्रयोग करते हैं । अतएव आवश्यक है कि एक अन्य वृत्ति 'फलसंवित्ति' का कल्पना करनी होती है । फलसंवित्ति अथवा अर्थवृत्ति वह है जिसका स्वरूप आरभटी तथा भारती वृत्ति के फलों का अनुभव करना है । क्योंकि यदि फलसंवित्ति को न माना जाय तो मृत्यु तथा मूर्छा की दशाओं को प्रदर्शित करने वाले नाट्य के अंश वृत्ति शून्य ही रह जाएँगे।

।। भारती चात्र कथं वृत्तिः, चेष्टा हि करूणेऽप्रधानं, तदुपकरणं परिदेवितात्मिका भारती, तस्मात् फलसंवित्त्याख्या वृत्तिः, वाक्चेष्टयोः फलानुभव इति यस्या लक्षणं, साभ्युपगन्तव्या । अवश्यं चैतत्, अन्यथा मूर्च्छामरणादौ वाक्चेष्टयोरभावे निर्वृत्तिकतैवस्यात् ।। (अभि० भा० १८।११०)

आचार्य **उद्भट** का उपर्युक्त मत समीचीन नहीं है क्योंकि कैशिकी वृत्ति को सात्वती वृत्ति के अन्तर्गत माना जा सकता है तथापि इसको एक भिन्न वृत्ति इस आधार पर माना गया है कि संगीत स्वरों एवं मुखानुभावों में यह अत्यन्त मुग्धकारी वृत्ति है ।

नाट्य प्रदर्शन के सम्बन्ध में यदि आचार्य उद्भट सात्त्वती वृत्ति को इस कारण अस्वीकार करते हैं क्योंकि आरभटी एवं भारती वृत्ति के समान उसका विषय रूप में प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, तो उनको आरभटी और भारती वृत्तियों के सूक्ष्म रूपों को स्वीकार करना पड़ेगा । इस प्रकार की सूक्ष्मस्वरूप वृत्ति मूर्छा तथा मृत्यु की दशा में वर्तमान रहती है, क्योंकि इस प्रकार की सूक्ष्म क्रिया को प्राणशक्ति उन दोनों दशाओं में करती रहती है । और इसकी सत्ता को दर्शकों को ज्ञात कराने के लिए गीत, लय, ताल का प्रयोग किया जाता है ।

आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि यदि ऐसी बात हो कि जो कुछ भी यहाँ नाट्य में है वह सभी वृत्ति में अन्तर्भाव्य है, तब तो ऐसा हो सकता है कि चौथी अथवा पाँचवी वृत्ति की कल्पना करनी पड़े । परन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि रंगमञ्च कौन सी वृत्ति है या फिर मृदङ्ग, पणव, वंशी कौन सी वृत्ति है? अतः पुमर्थसाधक व्यापार ही वृत्ति है। इनका ही सर्वत्र वर्णन हुआ है और ये ही काव्य एवं नाट्य की मातृभूता मानी जाती है, क्योंकि कोई भी कार्य व्यापारशून्य नहीं होता है । वस्तुतः यह चेष्टा इस मान्यता

वृत्तिनियममाह –

शृङ्गारे कैशिकी, वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च बीभत्से, वृत्तिः सर्वत्र भारती ।। ६२ ।।

से उद्‌भूत हुई है कि नाटक से सम्बन्धित सभी चीजें किसी न किसी रूप में क्रिया ही हैं । परन्तु यह मान्यता अज्ञानमूलक है, क्योंकि रंगमंच अथवा विविध वाद्य यंत्रों को क्रिया के कौन से स्वरूप के अन्तर्गत परिगणित किया जाए? सच तो यह है कि नाटक के प्रसंग में जिस वृत्तिरूप क्रिया को माना गया है उसका लक्ष्य किसी एक पुरूषार्थ की सिद्धि की ओर ले जाना है । मूर्छा तथा मृत्यु के प्रदर्शन के प्रसंग में भी नाटक का लक्ष्य मानसिक क्रिया का प्रदर्शन करना है । भरत मुनि की शिक्षा के अनुसार करुण रस को प्रकट करने में नाटक के लेखक को भारती वृत्ति का प्रयोग प्रधान रूप से इसीलिए ही नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसी अवस्था में अन्य कोई वृत्ति संभव नहीं है वरन् इस हेतु करना चाहिए कि इस प्रसंग में भारती वृत्ति प्रधानरूप रहती है और अन्य वृत्तियाँ संभव होने पर भी सर्वाङ्गीण रूप में नहीं होती ।

दशरूपककार ने उपर्युक्त भरत के अनुशासन का पालन करते हुए तीन अर्थ–वृत्तियों का अनुमोदन किया है ।

शारदातनय ने उद्‌भट–मतानुयायियों की पाँचवीं 'अर्थवृत्ति' का उल्लेख किया है – 'भारती सात्त्वती चैव कैशिक्यारभटीति च ।
औद्‌भटाः पञ्चमीमर्थवृत्तिं च प्रतिजानते ।।' (भा० प्र० १।८६)

इस उद्‌भटानुयायियों की पाँचवीं अर्थवृत्ति को धनञ्जय ने स्वीकार नहीं किया है। अन्य आचार्यों ने '**विश्रान्ता**' और '**ब्राह्मी**' नामक वृत्तियों का भी उल्लेख किया है। भोजने **सरस्वतीकण्ठाभरण** में '**मध्यमारभटी**' और '**मध्यम कैशिकी**' को मिलाकर छः (६) वृत्तियों का उल्लेख किया है ।। ६०–६१ ।।

रस एवं वृत्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध –

वृत्तिनियममिति। अब ग्रन्थकार रस में वृत्तियों के प्रयोग का नियम निरुपित करते हैं –

कारिकार्थ – शृङ्गार इति। शृङ्गार–रस में कैशिकी, वीरस में सात्त्वती तथा रौद्र और बीभत्स रस में आरभटी का प्रयोग किया जाना चाहिए। भारती वृत्ति का प्रयोग सभी रसों में होना चाहिए। (क्योंकि भारती वृत्ति शब्द वृत्ति है इसलिए उसका सभी रसों में प्रयोग होता है।) ।। ६२ ।।

परामर्श – यहाँ शृङ्गार से हास्य, वीर से अद्‌भुत, रौद्र से करुण, तथा बीभत्स से भयानक रस का भी भाव ग्रहण किया जाना चाहिए, क्योंकि आगे चतुर्थ प्रकाश (४।४३–४५) में हास्य आदि रस क्रमशः शृङ्गार आदि से ही उत्पन्न हुए है, कहा गया है।। ६२ ।।

वस्तुतः 'आरभटी' वृत्ति क्रोधावेग आदि से उत्पन्न आंगिक, वाचिक और मानसिक व्यापार विशेष का नाम है। इसमें भावों का समन्वयात्मक व्यापार सन्निहित

देशभेदभिन्नवेषादिस्तु नायकादिव्यापार: प्रवृत्तिरित्याह —

देशभाषाक्रियावेषलक्षणा: स्यु: प्रवृत्तय: ।
लोकादेवावगम्यैता यथौचित्यं प्रयोजयेत् ॥ ६३ ॥

रहता है। इनका असंकीर्ण विभाग असंभव है। फिर भी किसी व्यापार–विशेष के प्राधान्य के कारण, आरभटी, भारती आदि विभागों का निर्दश किया जा सकता है।

इसीलिए भरतमुनि ने कहा है —

"न ह्येकरसजं काव्यं किञ्चिदस्ति प्रयोगत: ।
भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा ॥
(ना० शा० ७।११९–१२०)
सर्वेषां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु ।
स मन्तव्यो रस: स्थायी शेषा: संचारिणो मता: ॥"

और इसीलिए आचार्य अभिनवगुप्तपाद का भी कहना है — 'चतरू इति चतुभेदत्त्वम् अन्यतमचेष्टांशप्राधान्य विवक्षया । अपरथा अनेकव्यापारं संवलितमेव वृत्तितत्त्वम् न नाम प्रबन्धेषु व्यापारान्तरासंवलित: कोऽप्येकाकी–कायिको वाचिको मानसो वा व्यापारो लक्ष्यते ।'

'भारती' के विषय में सागरनन्दी का यह कथन — 'भारती करुणाद्भुते' इति च। वस्तुत: सागरनन्दी द्वारा वृत्तियों की विभिन्न रसों में रखी गयी यह योजना भरत के विपरीत है। भरत के अनुसार भारती वृत्ति–'हास्य शृङ्गारबहुला' होती है। शृङ्गार, हास्य तथा करुणरस में कैशिकी वृत्ति की योजना करना — कोहल का मत है। जिसकी अभिनवगुप्त पाद ने समालोचना भी की है। (द्रष्टव्य, अभि० भा० — vol II, पृ० ४५२, G.O.S) उद्धृत — नाटक लक्षण रत्नकोश, पृ० १०७, चौखम्भा प्रकाशन, सम्पादक — प्रो० बाबूलाल शुक्ल ॥ ६२ ॥

नाट्य–प्रवृत्तियाँ —

देशभेदेति। अब ग्रन्थकार नाट्य–प्रवृत्तियों का निरूपण करते हैं — देश तथा काल के अनुसार नायक आदि का भिन्न–भिन्न वेष–भूषादि को धारण करने की क्रिया–कलाप को 'प्रवृत्ति' कहते हैं । उसी का कथन कर रहे है —

प्रवृत्तय: देषभाषाक्रियावेषलक्षणा: स्यु: एता: लोकात् एव आदगम्य यथौचित्यम् प्रवर्तयेत् इत्यन्वय: ॥ ६३ ॥

कारिकार्थ — देशभाषेति। देश–काल के अनुकूल भाषा–क्रिया एवं वेष–भूषा का प्रयोग ही प्रवृत्तियाँ कहलाती है। (अत:) कविगण इनका ज्ञान लोक से (समाज से) ही प्राप्त करके औचित्य के अनुसार (अपने नाटकों में) प्रयोग (चित्रण) करें ॥ ६३ ॥

{अर्थात्–किस देश में कौन सी भाषा बोली जाती है, कैसी वेष–भूषा व कैसी क्रिया–चेष्टा पाई जाती है, इसका उचित ज्ञान प्राप्त कर कवि उनका तदनुरूप सन्निवेश (चित्रण) अपने नाटक–कृति–में करे।} ॥ ६३ ॥

तत्र पाठ्यं प्रति विशेष –

परामर्श – यह नियम प्रसिद्ध है कि कला सामान्य को प्रकट करती है और कला–कृति सामान्य का मूर्तिकृत रूप होती है । जो स्वयं आत्मा के मूर्तिकरण का आरम्भिक बिन्दु है उस सामान्य रूप स्थायी भाव को स्वरचित्त नाटक में मूर्तिमान् करना नाटक के लेखक का आवश्यक कर्तव्य है । मूर्तीकरण करने की प्रथम क्रम दशा में इस स्थायीभाव को समुचित परिस्थिति में उन शारीरिक भावों (अनुभावों) एवं उन व्यभिचारी भावों से सम्बन्धित रूप में निर्धारित किया जाता है जो उस स्थायीभाव से सर्वदा सम्बन्धित होते हैं और जिनमें वह, अपने को अभिव्यक्त करता है । दूसरी क्रम दशा में भाव जनित कार्य को निश्चित करते हैं । तीसरी क्रम दशा में नायक तथा नाटक के अन्य पात्रों के बाह्यस्वरूप के विषय में वयवस्था की जाती है । इसी तीसरी क्रम दशा पर 'प्रवृत्ति' अर्थात् पात्रों की वेशभूषा, भाषा, व्यवहार पद्धति, प्रादेशिक विशेषताएँ, अत्यन्त प्रधान रूप से आवश्यक होती हैं । नाट्यप्रदर्शन के इस आवश्यक तत्त्व को प्रवृत्ति कहने का कारण वस्तुतः यह है कि इसका काम देश विशेष के वेष, भाषा, आचार एवं वार्ता (कृषि वाणिज्यादि) की विलक्षणताओं को प्रदर्शित करना है – प्रवृत्तिः देशविशेषगता वेषभाषासमाचारवैचित्र्यप्रसिद्धिरूच्यते ।। (अभि० भा० १३। ३७) ।।

अभिनवगुप्त ने और स्पष्ट करते हुए कह दिया है कि – प्रवृत्ति शब्द बाह्य अर्थ के निवेदन अर्थात् निःशेष वेदन या बतलाने के ज्ञान रूप में यहाँ प्रयुक्त है – प्रवृत्ति–र्बाह्यार्थे यस्मान्निवेदने निश्शेषेण वेदने ज्ञाने प्रवृत्तिशब्दः ।। (अभि० भा० १३। ३७) ।।

भारतीय नाट्याचार्यों ने लोकव्यवहार में प्रचलित मूलभूत मानसिक उन्मुखताओं का गहन विवेचन किया था । इसी कारण रस को भावित करने वाली भारतीय नाट्यकृति प्रायः यथार्थमूलक होती है । तथा उस नायक के स्थायीभाव से सम्बद्ध विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों को प्रदर्शित करती है जो जातीय एवं प्रादेशिक विशेष गुणों से युक्त एक व्यक्ति के रूप में परिस्थितियों से उत्प्रेरित होकर शारीरिक एवं मानसिक आचरण करता है । इसलिए यह आवश्यक समझा जाता है कि उस नट व्यापार के स्वरूप को निश्चित रूप से समझ लिया जाय जो संतोषप्रद रूप से स्थायीभाव को प्रकट कर सकता है, और उन वेशभूषा, भाषा, सामाजिक आचार व्यवहार आदि के रूपों को भी भली भाँति जान लिया जाय जो नाटक के नायक को सुस्पष्ट व्यक्तित्व प्रदान कर सकते हैं । नट व्यापार एवं नायक के व्यक्तित्व के प्रदर्शन को सुव्यवस्थित करने के लिए वृत्ति अर्थात् नट व्यापार के रूपों एवं प्रवृत्ति अर्थात् प्रचलित वेशभूषा, भाषा, रीति रिवाज आदि के विषय में निश्चित स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है ।। ६३ ।।

तत्रेति। उन प्रवृत्तियों – (भाषा, क्रिया और वेष–भूषा) में से पाठ्य (भाषा) के विषय में कुछ विशेष बातें इस प्रकार हैं –

अनीचानाम् कृतात्मनाम् नृणाम् संस्कृतम् पाठ्यम्, क्वचित लिङ्गिनीनाम् महादेव्याः मन्त्रिजावेश्ययोः संस्कृतम् पाठ्यं (योज्यम्) इत्यन्वयः ।। ६४ ।।

पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् ।
लिङ्गिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययो: क्वचित् ।। ६४ ।।

क्वचिदिति देवीप्रभृतीनां सम्बन्ध: ।

स्त्रीणां तु प्राकृतं प्राय: शौरसेन्यधमेषु च ।

प्रकृतेरागतं प्राकृतम् । प्रकृति: संस्कृतम् । तद्भवं तत्समं देशीत्यनेकप्रकारम् प्राकृतम् । शौरसेनी मागधी च स्वशास्त्रनियते ।।

पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा ।। ६५ ।।
यद्देशं नीचपात्रं यत्तद्देशं तस्य भाषितम् ।
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रम: ।। ६६ ।।

स्पष्टार्थमेतत् ।।

कारिकार्थ — पाठ्यमिति। नाटक में कुलीन एवं कृतात्मा (श्रेष्ठपुरुष, महात्मा, तथा ब्रह्मचारी आदि) पुरुषों की भाषा संस्कृत ही होनी चाहिए। तपस्विनियों, महारानो, मंत्रीपुत्री तथा वेश्याओं की भी भाषा कहीं—कहीं संस्कृत ही होती है ।। ९४ ।।

{अर्थात् कहीं—कहीं तपस्विनी, महारानी, मन्त्री—पुत्री एवं वेश्याओं के लिए भी संस्कृत—भाषा का सन्निवेश किया जा सकता है।}

वृत्त्यर्थ — क्वचिदिति। 'क्वचित्' — इस शब्द से देवी (रानी) आदि का अर्थ ग्रहण करना चाहिए ।। ६४ ।।

कारिकार्थ — स्त्रीणामिति । स्त्री पात्रों का पाठ्य प्राय: प्राकृत होता है, (अर्थात् इन पात्रों की भाषा प्राय: प्राकृत ही होती है।) और अधम लोगों (पात्रों) की भाषा शौरसेनी होती है। (अर्थात् अधम जाति के पात्र भी प्राकृत ही बोलते हैं।) ।।

प्रकृतेरागतमिति। प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए धनिक कहते हैं कि जो 'प्रकृति' अर्थात् 'संस्कृत' से उत्पन्न'— (प्रकृति: संस्कृतं तद्भवं) है। अथवा जो स्वभाव से आया हो — (प्रकृतेरागतम्) । ये प्राकृत शब्द तद्भव, तत्सम, देशी इस प्रकार विविध प्रकार के होते हैं। इनमें शौरसेनी और मागधी प्राकृत अपने शास्त्र (व्याकरण) से नियत है अर्थात् नियंत्रित है ।

पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचम् मागधम् तथा नीचपात्रम् यद्देशम् स्यात् तस्य तद्देशम् भाषितम् । कार्यत: उत्तमादीनाम् भाषाव्यतिक्रम: कार्य इत्यन्वय: ।। ६५—६६ ।।

कारिकार्थ — पिशाचेति। पिशाच तथा अत्यन्तनीच पात्रों (चाण्डालादि) की भाषा क्रमश: पैशाची एवं मागधी होती है ।। ६५ ।।

यद्देशमिति। जो अधम पात्र जिस देश (विशेष) का निवासी होता है, उसी देश (विशेष) की उसकी भाषा (बोली) भी होती है । {अत: उसी देश के बोली के अनुसार उसकी पाठ्य भाषा का प्रयोग नाटक में किया जाय। } (फिर भी) कभी—कभी प्रयोजन — (कारण) वश उत्तम तथा मध्यम पात्रों की भाषा का भी व्यतिक्रम (परिवर्तन) करना पड़ता है ।। ६६ ।।

आमन्त्र्यामन्त्रकौचित्येनामन्त्रणमाह –

भगवन्तो वरैर्वाच्या विद्वद्देवर्षिलिङ्गिनः ।
विप्रामात्याग्रजाश्चाऽऽर्या नटीसूत्रभृतौ मिथः ॥ ६७ ॥

आर्याविति सम्बन्धः ॥

परामर्श – प्रायः सभी नाट्यशास्त्र के लक्षण ग्रंथों में इस बात पर भी विचार किया गया है कि रङ्गमञ्च पर (नाटक में) किस पात्र को किस भाषा में बोलना चाहिए। वस्तुतः **'भाषा विधान'** का यह सिद्धान्त वास्तविक जीवन के वाग्–व्यवहार की अनुकृति परं ही आधारित है। आचार्यों ने साधारणतः भाषा के दो विभाग किए हैं – **संस्कृत** और **प्राकृत** । कुलीन तथा शिष्ट पुरुषों, संन्यासिनियों, योगियों, और कहीं–कहीं महारानी, मंत्रियों की कन्याओं तथा वेश्याओं के लिये संस्कृत में बोलने का विधान है । स्त्रियों की भाषा तो प्रायः प्राकृत ही होती है, तथा अधम पुरुष पात्रों की शौरसेनी भाषा होती है। प्राकृत के अनेक भेद और उपभेद मानकर उनके प्रयोगों के नियम दिए गए हैं, जैसे – मध्यम और अधम लोगों को **शौरसेनी**, नीचों को **मागधी**, राक्षसों तथा पिशाचों को **पैशाची** और चाण्डालों आदि को **अपभ्रंश** भाषाएँ बोलनी चाहिए ।

साहित्यदर्पणकार ने एक–एक जाति के लोगों के लिए एक–एक भाषा तक का निर्देश कर दिया है, किन्तु अन्त में यह कह दिया गया है कि **'यद्देशं नीचपात्रं यत् तद्देशं तस्य भाषितम् ।'** (द० रु० २।९६) अर्थात् नीच पात्र जिस देश का हो, उसकी भाषा भी उसी देश की होनी चाहिए। और यह भी कह दिया गया है कि –

'कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः॥' (द० रु० २।६६)

कार्यवशात् (प्रयोजनानुसार) उत्तम पात्रों 'आदि' शब्द से मध्यम पात्रों की भी भाषा बदल देनी चाहिए । इससे यही सिद्धान्त व्यक्त होता है कि आचार्यों का यही उद्देश्य था कि नाटक में वार्तालाप ऐसा हो, जिसमें वास्तविकता का अनुभव होने लगे। भाषा विभाग के मूल में यही सिद्धान्त निहित है ॥ ६५–६६ ॥

सम्बोधन करने का प्रकार –

आमन्त्र्येति। अब ग्रन्थकार जिसे बुलाया जाय उसके तथा बुलाने वाले के औचित्य के अनुसार सम्बोधन के शब्दों को बतलाते हैं –

वरैः विद्वद्देवर्षिलिङ्गिनो भगवन्तः वाच्याः विप्रामात्याग्रजा आर्या नटीसूत्रभृतौ मिथः च **इत्यन्वयः** ॥ ६७ ॥

कारिकार्थ – भगवन्त इति । उत्तम पात्रों के द्वारा विद्वान्, देव, ऋषि तथा संन्यासी आदि को 'भगवन्' कहकर तथा ब्राह्मण, अमात्य, एवं बड़े भाई को 'आर्य' कहकर सम्बोधित किया जाना चाहिए। नटी और सूत्रधार आपस में एक दूसरे को 'आर्य' और 'आर्या' शब्द से संबोधित करें ॥ ६७ ॥

रथी सूतेन चायुष्मान्पूज्यैः शिष्यात्मजानुजाः ।
वत्सेति तातः पूज्योऽपि सुगृहीताभिधस्तु तैः ।। ६८ ।।

अपिशब्दात्पूज्येन शिष्यात्मजानुजास्तातेति वाच्याः । सोऽपि तैस्तातेति सुगृही — तनामा चेति ।।

भावोऽनुगेन सूत्री च मार्षेत्येतेन सोऽपि च ।

सूत्रधारः पारिपार्श्वकेन भाव इति वक्तव्यः । स च सूत्रिणा मार्ष इति ।।

देवः स्वामीति नृपतिर्भृत्यैर्भट्टेति चाधमैः ।। ६९ ।।
आमन्त्रणीयाः पतिवज्ज्येष्ठमध्याधमैः स्त्रियः ।

विद्वद्देवादिस्त्रियो भर्तृवदेव देवरादिभिर्वाच्याः ।।

सूतेन रथी आयुष्मान् पूज्यैः शिष्यात्मजानुजाः वत्स इति, तैः पूज्यः अपि तातः सुगृहीताभिधः अपि **इत्यन्वयः** ।। ६८ ।।

कारिकार्थ — रथीति। सारथी, रथ पर बैठे हुए रथाधिपति वीर को 'आयुष्मान्' कहकर संबोधित करे। पूज्य जन, शिष्य, पुत्र और छोटे भाई को 'वत्स' कहकर पुकारें और शिष्य, पुत्र तथा छोटे भाई के द्वारा पूज्यजन भी, 'तात' अथवा 'सुगृहीतनामा' कहकर सम्बोधित किये जाने चाहिए ।। ६८ ।।

वृत्त्यर्थ — अपीति। 'पूज्योऽपि' इसमें प्रयुक्त 'अपि' पद से यह भी व्यक्त किया गया है कि पूज्य—गुरुजनों के द्वारा शिष्य, पुत्र तथा छोटा भाई भी 'तात' कहकर पुकारें जा सकते हैं। पूज्य—जन भी शिष्य आदि के द्वारा 'तात' तथा 'सुगृहीतनामा' — इन दो शब्दों से सम्बोधित किये जाने चाहिए ।। ६८ ।।

कारिकार्थ — भाव इति। पारिपार्श्विक (अनुग) के द्वारा सूत्रधार (सूत्री) को 'भाव' शब्द से तथा सूत्रधार के द्वारा पारिपार्श्विक को भी 'मार्ष' शब्द से सम्बोधित किया जाना चाहिए ।

वृत्त्यर्थ — सूत्रधार इति। अर्थात् पारिपार्श्विक सूत्रधार को 'भाव' कहे, तथा सूत्रधार पारिपार्श्विक को 'मार्ष' (मारिष) के नाम से पुकारे ।।

भृत्यैः नृपतिः देवः स्वामी इति अधमैः भट्टम् ज्येष्ठमध्यमाधमैः स्त्रियः पतिवत् आमन्त्रणीयाः **इत्यन्वयः** ।। ६९—७० ।।

कारिकार्थ — देव इति। उत्तम सेवक राजा को 'देव' या 'स्वामी' कहकर सम्बोधित करें और अधम भृत्य उसे 'भट्टा' (भर्तः) कहें। ज्येष्ठ, मध्यम या अधमपात्र पति के सम्बोधन—शब्द के समान स्त्रियों को भी सम्बोधित करें ।। ६९—७० ।।

विद्वदिति। विद्वानों, देवताओं आदि की स्त्रियों को देवर आदि उनके पति के सदृश ही सम्बोधित करें। अर्थात् विद्वान् आदि की पत्नी को 'भगवती' तथा ब्राह्मण आदि की पत्नी को 'आर्या' कहकर पुकारें ।

तत्र स्त्रियं प्रति विशेषः –

समा हलेति, प्रेष्या च हञ्जे, वेश्याऽज्जुका तथा ।। ७० ।।
कुट्टिन्यत्तेत्यनुगतैः पूज्याम्बा जरतीजनैः ।
विदूषकेण भवती राज्ञी चेटीति शब्द्यते ।। ७१ ।।

पूज्या जरती अम्बेति । स्पष्टमन्यत् ।।

चेष्टागुणोदाहृतिसत्त्वभावान्
अशेषतो नेतृदशाविभिन्नान् ।
को वक्तुमीशो भरतो न यो वा
यो वा न देवः शशिखण्डमौलिः ।। ७२ ।।

।। इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य द्वितीयः प्रकाशः समाप्तः ।। २ ।।

तत्रेति। अब ग्रन्थकार स्त्रियों के प्रति व्यवहृत होने वाले सम्बोधन–पद के विषय में **विशेष बात** (ध्यान देने योग्य) यहाँ बताते हैं –

समाहला इति प्रेष्या च हञ्जे वेश्या आज्जुका तथा कुट्टिनी अत्ता अनुगतैः जनैः पूज्या जरती अम्बा, विदूषकेण राज्ञी चेटी च भवती इति शब्द्यते **इत्यन्वयः** ।। ७०–७१ ।।

कारिकार्थ – समेति। समान स्त्रियाँ (अर्थात् सहेलियाँ) एक दूसरे को 'हला', 'सेविका' को 'हञ्जे', वेश्या को 'अज्जुका' शब्द से सम्बोधित करें ।। ७० ।।

कुट्टिनी को 'अत्ता' कहकर तथा अनुचरजनों के द्वारा पूज्या या वृद्धा स्त्री को 'अम्बा' शब्द से संबोधित किया जाय। विदूषक रानी और चेटी दोनों को ही 'भवति' शब्द से पुकारें ।। ७०–७१ ।।

वृत्त्यर्थ – पूज्येति। पूज्य अथवा वृद्ध स्त्री सभी लोगों के द्वारा 'अम्ब' कहकर पुकारी जाती है । कारिका का शेष भाग स्पष्ट है ।

{अब ग्रन्थकार द्वितीय प्रकाश का उपसंहार करते हुए कहते हैं} –

यो न वा शशिखण्डमौलिः देवः न वा भरतः न कः चेष्टागुणो–दाहृतिसत्वभावान् नेतृदशाविभिन्नान् अशेषतः वक्तुम् ईशः **इत्यन्वयः** ।। ७२ ।।

कारिकार्थ – चेष्टेति। जो व्यक्ति न तो (नाट्यशास्त्र के प्रणेता) भरत है अथवा जो व्यक्ति न तो चन्द्रकला को अपने मस्तक पर धारण करने वाला स्वयं शङ्कर है, तो वह ऐसा कौन होगा जो चेष्टा, गुण, उदाहृति (उक्ति) सात्त्विक–भाव और अशेष (असंख्य) नायक और नायिकाओं की विभिन्न दशाओं का वर्णन करने में समर्थ हो-सके ।

{अर्थात् निश्चय ही भगवान् शंकर और आचार्य भरत के अतिरिक्त इन चेष्टा–गुण आदि का पूर्णतया वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं है।} ।। ७२ ।।

दिङ्मात्रं दर्शितमित्यर्थः । चेष्टा लीलाद्याः, गुणा विनयाद्याः, उदाहृतयः संस्कृत — प्राकृताद्या उक्तयः, सत्त्वं निर्विकारात्मकं मनः, भावः सत्त्वस्य प्रथमो विकारस्तेन हावादयो ह्युपलक्षिताः ।।

।। इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके नेतृप्रकाशो नाम द्वितीयः प्रकाशः समाप्तः ।।

वृत्त्यर्थ — दिङ्मात्रमिति। तात्पर्य यह है कि अत्यन्त संक्षिप्त तथा इस ग्रन्थ के द्वितीयप्रकाश में मेरे जैसे अल्पबुद्धि द्वारा उपर्युक्त विषयों का दिग्दर्शन मात्र कराने की चेष्टा की गई है । जैसे — **द्वितीय प्रकाश** की **३२वीं** कारिका में वर्णित लीला आदि — **चेष्टाएँ** हैं, (२।१ में वर्णित) विनय आदि **गुण** हैं, (२।९४ में वर्णित) संस्कृत एवं प्राकृत आदि **उक्तियाँ** हैं, (२।४ तथा २।३०—३३ में वर्णित) निर्विकारात्मक मन **सत्त्व** है, (२।३३ में वर्णित) सत्त्व का प्रथम विकार **भाव** है, कारिका में उल्लिखित इस **'भाव'** शब्द से ही (२।३४ आदि में वर्णित) **'हाव'** का भी ग्रहण करना चाहिए। यहाँ **धनञ्जय** ने नायक की उक्त विशेषताओं का संक्षिप्त (दिङ्मात्र) वर्णन ही प्रस्तुत किया है।

श्रीमन्महामहोपाध्याय**श्रीसदाशिवशास्त्रि**चरणतनूजन्मना मुसलगाँवकरोपनामकेन **श्रीकेशवशास्त्रिणा** विरचितायां प्रदीपव्याख्यायां धनञ्जयकृतदशरूपकस्य नेतृप्रकाशो नाम द्वितीय प्रकाशः समाप्तः ।। २ ।।



अथ तृतीयः प्रकाशः

बहुवक्तव्यतया रसविचारातिलङ्घनेन वस्तुनेतृरसानां विभज्य नाटकादिषूपयोगः प्रतिपाद्यते —

प्रकृतित्वादथान्येषां भूयो रसपरिग्रहात् ।
सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥ १ ॥

रूपं यदेतद्बहुधा चकास्ति तद्येन भावी भविता न जातु ।
तच्चक्षुरर्कात्मकमीश्वरस्य वन्दे वपुस्तैजससारधाम्नः ॥

— *आचार्य अभिनवगुप्त पाद*

नाटक प्रकृति है और अन्य भेद विकृति हैं ।

प्रदीप — {इसके पूर्व (दशरूपक १।११) वस्तु, नेता और रस ये तीनों रूपक के भेदक तत्त्व माने गये हैं। अर्थात् वस्तुभेद, नायक भेद तथा रस भेद से ही रूपक एक दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। इनमें से प्रथम प्रकाश में वस्तु एवं द्वितीय प्रकाश में नायक का सपरिग्रह विवेचन किया जा चुका है। अब यद्यपि तीसरे भेदक तत्त्व रस का ही विवेचन इस तृतीय प्रकाश में होना चाहिए था, किन्तु रस के विवेचन में दशरूपककार धनञ्जय को कुछ विशेष बातें विस्तार से कहनी हैं।}

रसविचारेति। अतः रस विवेचन को यहाँ छोड़कर, वस्तु, नेता तथा रस इनका पृथक्–पृथक् नाटक में क्या उपयोग होता है, इसका प्रतिपादन इस तृतीय प्रकाश में किया जा रहा है। फिर भी प्रश्न उठता है कि रूपक के प्रकरण आदि दस भेदों में से नाटक में ही सर्वप्रथम वस्तु, नेता और रस का उपयोग क्यों बतलाया जा रहा है? {अर्थात् सर्वप्रथम नाटक के विषय में ही क्यों बताते हैं ? इस शंका का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं —}

अथ अन्येषां प्रकृतित्वात् भूयः रसपरिग्रहात् सम्पूर्णलक्षणत्वात् च नाटकम् पूर्वम् उच्यते इत्यन्वयः ॥ १ ॥

कारिकार्थ — प्रकृतित्वादिति। १. नाटक ही समस्त रूपकों (प्रकरण आदि) की प्रकृति है। (क्योंकि नाटक में ही वस्तु, नेता तथा रस के परिवर्तन करने से प्रकरण आदि अन्य रूपकों की निर्मिति होती है।) २. इसमें रसों का प्राचुर्य रहता है। (क्योंकि) इसमें शृङ्गार

उद्दिष्टधर्मकं हि नाटकमनुद्दिष्टधर्माणां प्रकरणादीनां प्रकृतिः । शेषं प्रतीतम् ॥

या वीर कोई भी एकरस अङ्गी होता है और अन्य सभी रस अङ्ग (गौण) रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं और ३. इसमें रूपक के समस्त लक्षण पाये जाते हैं। (अर्थात् गत दो प्रकाशों में वस्तु और नेता के जिन लक्षणों का विवेचन किया जा चुका है, तथा रस के जिन लक्षणों का विवेचन हम अग्रिम प्रकाश में करेंगे, वे सभी लक्षण नाटक में उपलब्ध होते हैं।) ॥ १ ॥

{ग्रन्थकार **धनञ्जय** ने प्रथम कारिका में नाटक को अन्यरूपकों की प्रकृति क्यों कहा है ?– इसका उत्तर वृत्तिकार **धनिक** इस प्रकार देते हैं कि} –

वृत्त्यर्थ – उद्दिष्टेति । नाटक के सभी धर्मों–लक्षणों–का विवेचन हो चुका है। किन्तु प्रकरण आदि के सभी धर्मो का विवेचन (जिनकी नाटक ही प्रकृति है।) आगे मूल कारिका में धनञ्जय द्वारा नहीं किया गया है। अपितु **'शेषं नाटकवत्'** –(३।३९–४०) कहकर छोड़ दिया है। इसलिए नाटक ही प्रकरण आदि अन्य शेष रूपकों की प्रकृति है। और कारिका को शेष भाग सुस्पष्ट ही हैं

परामर्श – हिन्दी के व्याख्याकारों ने प्रकृत प्रसङ्ग की व्याख्या में परिश्रम कियां प्रतीत नहीं होता । जिस कारण यह स्थल कुछ पाठकों के समक्ष अस्पष्टता लिए हुए है । मुझे लगता है कि सांख्य दर्शन में प्रचलित प्रकृति (कारण) और विकृति (कार्य) का ही अर्थ व्याख्याकारों को अभीप्सित था । जो सर्वथा अप्रासङ्गिक है अतः प्रकृत प्रसङ्ग में **प्रकृति** तथा **विकृति** का विवेचन विशेष महत्त्व का है । यहाँ प्रकृति का अर्थ कारण अथवा विकृति का अर्थ **कार्य** समझना प्रस्तुतशास्त्र के साथ **अन्याय** होगा । **मीमांसकद्वय धनञ्जय** एवं **धनिक** ने रुपक भेदों में प्रकृति–विकृति सम्बन्ध को प्रस्तुत किया है । **मीमांसा दर्शन** के अनुसार जिसके विषय में समस्त अङ्गों का उपदेश (कथन) मिलता है उसे **प्रकृति** एवं जिसके विषय में समस्त अङ्गों का कथन नहीं प्राप्त होता उसे **विकृति** कहते हैं – ॥ **यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः । यत्र न समग्राङ्गोपदेशः सा विकृतिः ॥ (अर्थ संग्रह ३४)**

'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस वाक्य को **अतिदेश** वाक्य कहते हैं । इस वाक्य से यह प्रेरणा प्राप्त होती है कि प्रकृति के समान विकृति का अनुष्ठान करना चाहिए । अभिप्राय यह है कि विकृति में कुछ अपेक्षित अङ्गों का विधान न प्राप्त होने से अनुष्ठान काल में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक होता है कि इस विकृति का सम्पादन कैसे हो? उसी समय **'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'** यह वाक्य विकृति को प्रकृति के समान अनुष्ठित करने की प्रेरणा देता है । मूल रूप में इसी विचार से नाटक को अन्यरूपकों की प्रकृति–मूल–कहकर धनञ्जय ने उसकी सम्पूर्ण विशेषताएँ, उसके समस्तलक्षण इस तृतीय प्रकाश में १ से लेकर ३८ कारिका तक कह दिये हैं, और रूपक के शेष प्रकार प्रकरण आदि के सभी लक्षण (धर्म) उल्लिखित न कर–शेष धर्म नाटक के ही सदृश होते हैं 'शेषं नाटकवत्' – ऐसा ३९–४० कारिका में कहकर प्रकरण आदि को नाटक की विकृति के रूप में अंकित किया है।

तात्पर्य यह हुआ कि रूपक के ऐसे भेद जिनका विवेचन स्वतः पूर्ण न हो । अथवा, इन रूपकों के प्रकरण में प्रयोगापेक्षित समस्त धर्मों (अङ्गों) का कथन नहीं

तत्र –

पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते ।
प्रविश्य तद्वदपरः काव्यार्थं स्थापयेन्नटः ॥ २ ॥

पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गो नाट्यशाला । तत्स्थप्रथमप्रयोगव्युत्थापनादौ पूर्वरङ्गता । तं विधाय विनिर्गते प्रथमं सूत्रधारे तद्वदेव वैष्णवस्थानकादिना प्रविश्यान्यो नटः काव्यार्थं स्थापयेत्। स च काव्यार्थस्थापनात् सूचनात्स्थापकः ॥

मिलता हो, अतएव अपने प्रयोग की पूर्णता हेतु इन्हे अपनी प्रकृति पर आश्रित रहना पड़ता है । जिस प्रकृति पर रूपक के अन्य भेद आश्रित होते हैं उसे इनकी प्रकृति कहते हैं । 'नाटक' के प्रकरण में ही समस्त अङ्गों का कथन हुआ है इस हेतु 'नाटक' प्रकृति है और अन्य ९ भेद – विकृति हैं । अर्थात् नाटक के प्रसङ्ग में ही वस्तु, नेता तथा रस आदि के सम्बन्ध में सम्पूर्ण धर्मों का कथन कर दिया गया है, इस हेतु जब रूपक के अन्य भेदों को जब तत्तत् धर्मों की आकांक्षा होती है तब प्रकृति के धर्मों का विकृतिभूत, प्रहसन, प्रकरण आदि में अतिदेश किया जाता है । वस्तुतः नाटक के ही लक्षण में वस्तु–नेता और रस के आधार पर आवश्यक परिवर्तन कर देने से ही प्रकरण आदि के लक्षण बन जाते हैं। जैसे नाटक में वस्तु **प्रसिद्ध** होता है और प्रकरण में – **काल्पनिक** । भावप्रकाशनकार **शारदातनय** ने भी दशरूपकों में नाटक को ही सर्वप्रथम उल्लिखित करने का कारण बताते हुए कहा है कि –'अन्य (रूपक–भेदों) की प्रकृति होने से, पूर्ण रस के ग्रहण करने से तथा सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त होने से नाटक को पहले कहा है।' (भा० प्र० ८।४) और प्रकरण आदि के सभी लक्षणों का उल्लेख न कर 'शेष बातें जैसे – सन्धि, प्रवेशक, तथा रसादि को नाटक के समान ही रखा जाता है ।' – कहा है । (भा० प्र० ८।४) ॥ १ ॥

इन रूपक–भेदों में से सर्वप्रथम नाटक का विवेचन आगे किया जा रहा है –

१. नाटक –

तत्रेति। उस (नाटक) में –

आदौ पूर्वरङ्गम् विधाय सूत्रधारे विनिर्गते (सति) तद्वद् अपरः नटः प्रविश्य काव्यार्थम् स्थापयेत् इत्यन्वयः ॥ २ ॥

कारिकार्थ – पूर्वरङ्गमिति । सर्वप्रथम पूर्वरङ्गका (नाट्यशास्त्रोक्त रीति से) कार्य मञ्च पर संपन्न करके सूत्रधार के रङ्गमञ्च से (नेपथ्य में) चले जाने पर, उसी के समान (गुणों और आकृति से साम्य रखने वाला) दूसरा नट मञ्च पर आकर काव्यार्थ (अभिनेय रूपक के इतिवृत्त) की स्थापना (सूचना, नाट्यमन्दिर में उपस्थित सहृदय–सामाजिकों के सम्मुख) करे ॥ २ ॥

वृत्त्यर्थ – पूर्वमिति । 'पूर्वरङ्ग' – शब्द की व्युत्पत्ति निरूपित करते हुए धनिक कहते हैं कि जिसमें (अभिनय के) पूर्व (सहृदय सामाजिक–वर्ग को) अनुरञ्जित किया जाता है, –'पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्'– वह पूर्वरङ्ग है और इसी को नाट्यशाला भी

कहा जाता है। नाट्यशाला में नाट्याभिनय को प्रारम्भ में (सर्वविधविघ्न शान्ति के लिए) जो औपचारिक क्रियाएँ (प्रयोग व्युत्थापनादि) मङ्गलाचरण—देव—स्तुति की जाती हैं, उन्हें **पूर्वरङ्गता** (पूर्वरङ्ग का कार्य) कहा जाता है। पूर्वरङ्ग के उन मङ्गलाचरणादि कार्यों को सम्पन्न करके जब सूत्रधार रङ्गमञ्च से बाहर (नेपथ्य में) चला जाता है, तब उसी सूत्रधार के सदृश—गुणों और आकृति में साम्य रखने वाला दूसरा नट **वैष्णववेश** (वैष्णवस्थानकरूप से) में मञ्च पर आकर काव्यवस्तु (रूपक की अभिनेय वस्तु) की स्थापना (सूचना) देता है, और यह दूसरा नट काव्यार्थ की स्थापना या सूचना करने के कारण **'स्थापक'** कहलाता है ॥ २ ॥

परामर्श — पूर्वरङ्ग — पूर्वरङ्ग नाट्यप्रयोग के पूर्व समय की चरम परीक्षा स्थली है । **आचार्य भरत** ने नाट्य प्रयोग के आरम्भ के पूर्व अनेक अनुष्ठानों का विधान करते हुए कहा है कि इसमें मुख्य रूप में गीत, वाद्य, नृत्य और पाठ्य आदि का प्रयोग यवनिका के भीतर तथा बाहर किया जाता है । जिसका उद्देश्य है — उपस्थित सामाजिकों (प्रेक्षकों) का अनुरञ्जन, प्रयोग परीक्षण तथा कवि, काव्य एवं कथावस्तु का उपक्षेपण । इनका पूर्वरङ्ग नाम भी इसी कारण है कि ये विधियाँ प्रस्तुत होने वाले नाट्य प्रयोग के पूर्व ही सम्पन्न की जाती हैं ।

आचार्य **अभिनवगुप्त** का कहना है कि नाट्य प्रयोग के पूर्व ही उसके सफलतापूर्वक पूर्ण होने के लिए किये जाने वाले सम्पूर्ण कार्यकलाप **'पूर्वरङ्ग'** में समाविष्ट हैं । जैसे तन्तु, तुरी, वेमा के बिना पट का निर्माण नहीं होता वैसे ही प्रत्याहारादि अंगो के पूर्ण प्रयोग से गायन आदि सम्पूर्ण साधन एकत्रित होने पर नाट्य प्रयोग' सफल हो सकता है । इस हेतु **'पूर्वरङ्ग'** का अर्थ है — **प्रयोग के पूर्व होने वाले आवश्यक कार्य** ।

॥ पूर्वं प्रत्याहारादिकेन ह्यङ्गेन विना गायनादिसामग्र्य सम्पत्तेः कथं नाट्य प्रयोगः । न ह्यहो किल तन्तुतुरीवेमादेः शक्यः पटः कर्तुम् ॥ (अभि० भा० ५।७)

शारदातनय ने पूर्वरंग के स्वरूप के विषय में कहा है कि 'नट रंगमंच पर गीत, वाद्य, नृत्य तथा अभिनय से अनुकार्य रामादि की अवस्था का अनुकरण इस प्रकार करता है कि उसके आनन्द से **दर्शकों को** नट में रामादि की **'तादात्म्यापत्ति'** का अनुभव होने लगता है और सभापति, सभा, सभ्य, गायक, वादक, नटी तथा नट सभी परस्पर आनन्द से प्रसन्न होते हैं। इसीलिए इसे **'रंग—भूमि'** कहते हैं और इसका रंगभूमि में अभिनय से पूर्व प्रयोग होता है, इसीलिए समष्टिरूप से इसे विद्वानों द्वारा **'पूर्वरंग'** कहा जाता है।'' (भा० प्र०७।७९)

नान्दी — 'जगत् के प्रारम्भ में नृत्य करते हुए जगत्पति शंकर के कल्पना—योग से वृष (नन्दी) आनन्द को प्राप्त हुआ, उसके तद्रूप सम्बन्ध से होने वाली पूजा को **'नान्दी'** — कहा जाता है। नाटक के प्रारम्भ में देवता आदि के लिए नमस्कारात्मक या मंगलात्मक जो श्लोक—पाठ पाठकों द्वारा किया जाता है, वह आनन्द प्रदान करता है, अतः उसे नान्दी कहा जाता है।'' (भा० प्र० ७।९८—९९)

स्थापक — स्थापक को **अभिनवगुप्तपादाचार्य**, 'सूत्रधार' ही बतलाते हैं — **'सूत्रधार एव स्थापकः'** (अभि० भाव० अ० ५, पृ० २५०)। **धनञ्जय** ने दशरूपक

दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः ।
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥ ३ ॥

स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा मर्त्यं च मर्त्यरूपो भूत्वा मिश्रं च दिव्यम – र्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत् । वस्तु बीजं मुखं पात्रं वा ॥

(३।२) में कहा है कि पूर्वरंग के विधान के बाद सूत्रधार रंगमंच से चला जाए। उपर्यक्त तथ्य को **शारदातनय** (भा० प्र० ७।१२९) और **विश्वनाथ** ने भी स्वीकार किया है। (सा० द० ६।२६) ये सभी **आचार्य** 'नाट्यशास्त्र' के आधारपर ही यहाँ एक मत हैं। प्राचीन काल में धार्मिक अनुष्ठान के सम्पन्न करने पर सूत्रधार का प्रयोजन पूर्ण हो जाता था तथा प्रदर्शन की पूर्वपीठिका बन जाती थी। पश्चात् होने वाले नाट्यप्रदर्शन का कार्य अन्य सहायक व्यक्ति देखते थे जिनमें एक स्थापक भी होता था। पर यह व्यवस्था आगे नहीं चली और तब सूत्रधार या स्थापक में से किसी एक के द्वारा यह कार्य सम्पन्न होने लगा। **कवि भास** ने अपने नाटक, सूत्रधार द्वारा प्रस्तावना के उपक्रम से ही प्रारम्भ किये, जो उस समय का एक नवीन आदर्श था तथा **बाण** ने भी अपने **हर्षचरित** में **'सूत्रधार–कृतारम्भैः'** के द्वारा उसी का उल्लेख किया है। परन्तु कालान्तर में एक सूत्रधार ही समस्त कार्य सम्पन्न करने लगा । जिनका **साहित्यदर्पण** में उल्लेख आता है।

'वैष्णवस्थानक'– नाट्यशास्त्र (११।५२–५३) के अनुसार शरीर की अवस्था विशेष को **'वैष्णवस्थानक'** कहते हैं। शरीर की अवस्था विशेष की छः अवस्थाओं में से प्रथम अवस्था–विशेष का नाम 'वैष्णवस्थानक' है। इस अवस्था में दोनों पैर, ढाईताल (एक माप विशेष) के अन्तर से रखे जाते हैं। एक पैर सम (सीधा) रहता है, दूसरा कुछ तिरछा। अंगुलियाँ पार्श्वों की ओर उन्मुख रहती हैं। घुटने कुछ मुड़े रहते हैं तथा शरीर सीधा रहता है। (ना० शा० ११।५२–५३) ॥ २ ॥

अथ स तद्रूपः दिव्यमर्त्ये, तयोः अन्यतरः मिश्रं वस्तु बीजम् मुखम् पात्रम् अपि वा सूचयेत् **इत्यन्वयः** ॥ ३ ॥

कारिकार्थ – दिव्यमर्त्य इति । (स्थापक को नाट्य–कथा के अनुरूप ही वेष–भूषा धारण कर रंगमंच पर प्रवेश करना चाहिए) अर्थात् यदि नाट्य वस्तु (किसी) देवतासम्बन्धी (दिव्य) हो ता वह दिव्यरूप में रङ्गमञ्च पर प्रवेश करे, यदि वह वस्तु मानवसम्बन्धी (मर्त्य) हो तो वह (स्थापक) मर्त्यरूप में उपस्थित हो, नाट्यवस्तु मिश्र (अर्थात् दिव्यादिव्यवस्तु, जिसमें देव और मानव दोनों के ही गुण विद्यमान हों, (जैसे राम की कथा में) होने पर वह या तो दिव्यरूप में या मर्त्यरूप में मंच पर प्रवेश कर सकता है। मञ्च पर आने के पश्चात् काव्यार्थ (नाट्य की कथा–वस्तु) की स्थापना करते (सूचना देते) समय वह काव्य की कथा–वस्तु बीज (अर्थप्रकृति), मुख (श्लेष) की या प्रमुख पात्र की सूचना दे ॥ ३ ॥

वृत्त्यर्थ – स इति। वह स्थापक दिव्य वस्तु को दिव्य होकर, मर्त्य वस्तु को मर्त्य होकर तथा दिव्यादिव्य (दिव्य + मर्त्य) वस्तु को दिव्य अथवा मर्त्य (वेषभूषा में) होकर सूचित करे। यह सूचना वस्तु, बीज, मुख एवं पात्र की हो ।

वस्तु यथोदात्तराघवे –

'रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरो –
स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम् ।
तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परां संपदं
प्रोद्वृत्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विषः ।।'

बीजं यथा रत्नावल्याम् –

'द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ।।' (रत्ना० १.६)

मुखं यथा –

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एव विशुद्धकान्तः ।

{इस प्रकार काव्यार्थ (इतिवृत्त) की स्थापना सूच्य के भेद से ४ प्रकार की होती है। इन्हीं चारों प्रकारों को वृत्तिकार **धनिक** उदाहरणों द्वारा क्रमशः प्रस्तुत करते हैं।}

वस्त्विति। १. वस्तु सूचना – जैसे **कथावस्तु** की सूचना **'उदात्तराघव'** नाटक में इस प्रकार दी गई है –

राम इति। 'राम अपने गुरु (पिता दशरथ) की आज्ञा को, माला की तरह शिरोधार्य करके, वनवास के लिए चले गए। उन (राम) की भक्ति में मग्न भरत ने अपनी माँ के साथ–साथ अयोध्या के राज्य का परित्याग कर दिया। सेवक बने हुए उन दोनों सुग्रीव और विभीषण ने भी अपरिमित सम्पत्ति को प्राप्त किया। तथा अत्यधिक उद्धत रावण आदि सभी शत्रु नष्ट कर दिये गए।'

{इस श्लोक में नाटक के इतिवृत्त की सूचना दी गई है।}

बीजमिति। २. बीज की सूचना – जैसे – **रत्नावली** नाटिका में –

द्विपादिति। 'अनुकूल भाग्य अभीष्ट वस्तु को दूसरे द्वीप से, समुद्र के मध्यभाग से तथा दिशाओं के अन्तिम भाग से भी लाकर शीघ्र मिला देता है ।'

{उक्त सूक्ति में भाग्य की अनुकूलता के कारण समुद्र में डूबी हुई रत्नावली भी मन्त्री यौगन्धरायण को प्राप्त हो जाती है। इस बीज की ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार यौगन्धरायण को अभीष्ट रत्नावली उदयन–समागमरूप फल के बीज की सूचना यहाँ दी गई है।}

३. मुखमिति। जैसे **मुख** की सूचना – (**'छलितराम'** नाटक में) इस प्रकार वर्णित है –

{पद्य का भावार्थ यह है–प्रगाढ अन्धकारवाले वर्षा ऋतुरूपी रावण का वध करके रामचन्द्र निर्मल चन्द्रमा के हास्य से युक्त स्वच्छ शरद् ऋतु के रूप में प्रकट हुए।}

आसादितेति। 'विशुद्ध तथा मनोहर यह शरद् ऋतु, जिसमें चन्द्रमा का स्वच्छ प्रकाश छा गया है, तथा जिसने बन्धुजीव के पुष्पों को धारण कर लिया है, घने

उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामौ दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः ।।' (छलितरामस्य)

पात्रं यथा शाकुन्तले –

'तवास्मि गीतरागेण हरिणा प्रसभं हृतः ।
एवं राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ।।' (शाकु० १.५) ।।

अन्धकारवाले वर्षाकाल को नष्टकर ठीक उसी प्रकार प्राप्त हुआ है, जैसे चन्द्रमा के निर्मल हास्य से युक्त अथवा जिन्होंने रावण के निर्मल चन्द्रहास खड्ग को बलात् नष्ट कर दिया है, विशुद्ध तथा सुन्दर रामचन्द्र, बान्धवों के जीवों (प्राणों) को पुनः लौटाते हुए, अत्यधिक अज्ञान (तमोगुण) वाले, उग्र तथा सघन काले राक्षस रावण का वध करके प्राप्त हुए हैं।'

{दशरूपक में **'मुख'** शब्द का स्वरूप नहीं बताया गया है। **साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ** के अनुसार 'मुख' में **श्लेष द्वारा वस्तु** की सूचना दी जाती है। 'मुखश्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेषः ।' (सा० द० ९। २७) उक्त उदाहरण से भी **विश्वनाथ** के मत की पुष्टि होती है। उक्त श्लोक में शरद्काल का वर्णन श्लिष्ट शब्दों में किया गया है, जिससे रामचन्द्र की तथा नाटकीय वस्तु की सूचना भी मिलती है ।।

४. **पात्रमिति।** इसमें स्थापक नाट्य के किसी पात्र विशेष की (नेता या अन्य किसी पात्र की) सूचना देते हुए प्रथम अङ्क में उसके भावी प्रवेश का संकेत कर देता है। यथा – **शाकुन्तल में नट संकेत दे रहा है –**

तवास्मीति। (सूत्रधार नटी से कहता है कि) – 'तुम्हारे गीत के मनोहर राग से मैं उसी प्रकार बलात् आकृष्ट हो गया हूँ, जैसे इस तेज गति वाले हरिण के द्वारा यह राजा दुष्यन्त आकृष्ट किया गया है।'

{शाकुन्तल के प्रथम अङ्क में इस सूचना के पश्चात् रथारूढ हुए दौड़ते हरिण का पीछा करता हुआ राजा दुष्यन्त रंगमंच पर प्रविष्ट होता है । इस प्रकार स्थापक (नट) की यह स्थापना (सूचना) अर्थात् पात्र–स्थापना है।}

परामर्श – इस प्रकार स्थापक द्वारा दी जानेवाली सूचना चार प्रकार की है – वस्तु, बीज, मुख एवं पात्र की दृष्टि से।

१. **'उदात्तराघव' के श्लोक (प्रथम) में नाट्य कथा की सूचना दी गई है, अतः वह, वस्तु सूचना है।**

२. **'रत्नावली' नाटिका के श्लोक (द्वितीय) में यौगन्धरायण के द्वारा किए गए प्रयत्नरूप बीज का संकेत (सूचना) है।**

३. **'छलितराम' – नाटक के श्लोक (तृतीय) में शरदृतु के श्लिष्ट वर्णन से रामकथा के वृत्तान्त की सूचना अंकित की गई है। अतः यह श्लिष्ट सूचना होने से 'मुख' की सूचना है।**

रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।
ऋतुं कञ्चिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ।। ४ ।।

रङ्गस्य प्रशस्तिं काव्यार्थानुगतार्थैः श्लोकैः कृत्वा –

'औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।
दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवा पातु वः ।।' (रत्ना० १.२)

इत्यादिभिरेव भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ।।

सा तु –

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ।
भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः ।। ५ ।।

---

४. **शाकुन्तल** के श्लोक (चतुर्थ) में नाटक के मुख्य पात्र दुष्यन्त की सूचना दी गई है। अत: यह पात्र की सूचना है ।। ३ ।।

काव्यार्थसूचकैः मधुरैः श्लोकैः रङ्गम् प्रसाद्य कञ्चित् ऋतुम् उपादाय भारतीम् वृत्तिम् आश्रयेत् **इत्यन्वयः** ।। ४ ।।

कारिकार्थ – रङ्गमिति । स्थापक (नट) काव्य के अर्थ की (अभिनेय काव्यरूपक की कथावस्तु) सूचना देने वाले मधुर श्लोकों के द्वारा रङ्गस्थ सहृदय सामाजिकों (दर्शकों) को प्रसन्न करते हुए किसी ऋतु का आश्रय लेकर भारतीवृत्ति का प्रयोग करे ।। ४ ।।

वृत्त्यर्थ – रङ्गस्येति । अभिनेय नाटक (काव्य) की कथावस्तु जिनसे ज्ञात होती हो–ऐसे श्लोकों के द्वारा रङ्गस्थ सामाजिकों की प्रशस्ति करके स्थापक – जैसे **रत्नावली** नाटिका में निम्नोक्त श्लोक में **भारती वृत्ति** का आश्रय लिया गया है –

औत्सुक्येनेति। 'प्रथम समागम में (पति से मिलने की) उत्कण्ठा के कारण शीघ्रता करती हुई, पर स्वाभाविक लज्जा के कारण पीछे हटती हुई, (किन्तु) फिर से कुटुम्ब की स्त्रियों के द्वारा (भली प्रकार से) समझा–बुझा कर (पति के) सामने लाई गई, सामने पति को देखकर कुछ भय एवं कुछ प्रेम से आह्लादित सी होती हुई, हसते हुए भगवान् शङ्कर के द्वारा आलिङ्गित होने से रोमाञ्चित पार्वती आप सबका कल्याण करें।'

इत्यादिभिरेवेति। 'औत्सुक्य...' आदि श्लोक के सदृश **भारती–वृत्ति** का प्रयोग करे ।। ४ ।।

नटाश्रयः संस्कृतप्रायः वाग्व्यापारः भारती, प्ररोचनायुक्तैः वीथीप्रहसनामुखैः भेदैः (भारती चतुरङ्गिका) **इत्यन्वयः** ।। ५ ।।

सेति। अब ग्रन्थकार उस (भारती–वृत्ति) का स्वरूप इस प्रकार बताते हैं –

कारिकार्थ – भारतीति। नट के द्वारा प्रयुक्त, प्राय: संस्कृत भाषा में किए गए वाग् व्यापार (मौखिक, वाचिकाभिनय प्रधान) को 'भारती–वृत्ति' कहते हैं। इसके १. प्ररोचना, २. वीथी, ३. प्रहसन तथा ४. आमुख ये चार भेद होते हैं ।। ५ ।।

पुरुषविशेषप्रयोज्यः संस्कृतबहुलो वाक्प्रधानो नटाश्रयो व्यापारो **भारती** । प्ररोचना — वीथीप्रहसनाऽऽमुखानि चास्यामङ्गानि ॥

यथोद्देशं लक्षणमाह —

उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना ।

प्रस्तुतार्थप्रशंसनेन श्रोतृणां प्रवृत्त्युन्मुखीकरणं प्ररोचना । यथा **रत्नावल्याम्** —

'श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम् ।

वृत्त्यर्थ — पुरुषेति। पुरुष विशेष द्वारा ही प्रयुक्त, प्रायः संस्कृत बहुल वाग्व्यापार प्रधान तथा नट में आश्रित व्यापार (अभिनेय) **भारती वृत्ति** है । इसके १. प्ररोचना, २. वीथी, ३. प्रहसन तथा ४. आमुख ये चार अङ्ग होते हैं ॥ ५ ॥

परामर्श — भारती वृत्ति को शब्दवृत्ति कहा जाता है। क्योंकि इसमें नट का शारीरिक तथा मानसिक अभिनय (व्यापार) नहीं होता। इसमें केवल **वाग्व्यापार** की ही प्रधानता रहती है। इसका प्रयोग पुरुष नट द्वारा ही किया जाता है, स्त्री के द्वारा नहीं।

वस्तुतः भारतीवृत्ति **सर्वत्रव्यापिनी वृत्ति** है, क्योंकि वाग्व्यापार जीवन के साथ–साथ चला करता है। यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यह है कि **'प्ररोचना'** आदि भारती वृत्ति के अंश हैं। भारती वृत्ति के **'अङ्गचतुष्टय'** का तात्पर्य वस्तुतः **'अंशचतुष्टय'** है। क्योंकि **'वीथी'** और **'प्रहसन'** तो रूपक के भेद विशेष हैं रूपक–अङ्ग नहीं, इसलिये **'वीथी'** और **'प्रहसन'** को भारतीवृत्ति का अंग नहीं, अपितु 'अंश' के रूप में मानना ही युक्ति युक्त प्रतीत होता है। इस विषय में **अभिनवभारतीकार** का यह कथन है —

'अङ्गत्वमिति अंशत्वं प्राप्ता इत्यर्थः। अन्यथा यदि रूपकस्याङ्गत्वं प्राप्ता इत्युच्यते तदा वीथी प्रहसनं च रूपकभेदाः न तु रूपकस्याङ्गम् ।' (नाट्यशास्त्र अभिनवभारती, २०–२७) ॥ ५ ॥

यथेति। अब ग्रन्थकार नाम निर्देश के क्रम से पूर्वोक्त अङ्गों के लक्षण बताते हैं —

१. प्ररोचना —

कारिकार्थ — उन्मुखीकरणमिति। उन (पूर्वोक्त चार अंगों) में प्रशंसा के द्वारा (सहृदय दर्शकगणों का) उन्मुखीकरण, (अर्थात् उन्हें उत्कण्ठित कर देना) 'प्ररोचना' है ॥

वृत्त्यर्थ — प्रस्तुतेति। प्रस्तुत अभिनेय काव्यार्थ की प्रशंसा के द्वारा श्रोताओं की प्रवृत्ति को प्रकृत वस्तु की ओर आकृष्ट करना ही **'प्ररोचना'** है । जैसे **रत्नावली** नाटिका में {सूत्रधार का यह कथन} —

श्रीहर्ष इति। '(प्रस्तुत नाटिका के प्रणेता) श्री हर्ष निपुण (नाट्यशास्त्र के मर्मज्ञ) कवि हैं, यह सभा भी गुणग्राहिणी है। लोक में वत्सराज का (उदयन का) चरित भी मनोहर है। हम लोग (नट) भी अभिनय–कला में कुशल हैं। इनमें से एक वस्तु भी अभीप्सित फल को देने में समर्थ है; तो फिर मेरे भाग्य की प्रबलता के कारण गुणों का

वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन–
मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥' (रत्ना० १.५)

वीथी प्रहसनं चापि स्वप्रसङ्गेऽभिधास्यते ॥ ६ ॥
वीथ्यङ्गान्यामुखाङ्गत्वादुच्यन्तेऽत्रैव, तत्पुनः ।
सूत्रधारो नटीं ब्रूते मारिषं वा विदूषकम् ॥ ७ ॥
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ।

प्रस्तावना वा

तत्र स्युः कथोद्घातः प्रवृत्तकम् ॥ ८ ॥
प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ।

यह समूह (एक स्थान पर) आज एकत्र हुआ है क्या ?' ॥ अर्थात् अब (ऐसी स्थिति में) नाटक के सफल होने में कोई सन्देह ही नहीं है। इसमें नाटक के सभी (घटकों) की प्रशंसा के द्वारा दर्शकों की प्रवृत्ति को अभिनय की ओर उन्मुख किया गया है, अत: यह **प्ररोचना** है।

परामर्श – 'प्ररोचना' की यह व्युत्पत्ति – **'प्रकर्षेण रोच्यते उपादेयतया ध्रियते प्रकृतोऽर्थोऽनयेति प्ररोचना ।'** – ही प्ररोचना का अर्थ स्पष्ट कर देती है। 'पूर्वरङ्गे गुणस्तुत्या प्रस्तुतप्रबन्धार्थस्य प्रीत्यादिहेतुत्वप्रशंसनेन सामाजिकानां श्रवणावलोकनो–त्साहोत्पादनम्' । (ना० द० ३।४)

अभिनेय रूपक की प्ररोचना भी रूपक अथवा उसके प्रणेता–नाटककार की प्रशंसा के द्वारा सहृदय दर्शकगणों की मनोरंजनात्मक प्रवृत्ति को अभिनेय के प्रति उत्कण्ठित करती है। उत्तेजित करने के कारण ही यह **'प्ररोचना'** कहलाती है ॥

२. वीथी और ३. प्रहसन

कारिकार्थ – वीथीति। वीथी और प्रहसन के विषय में, आगे चलकर जहाँ उनका प्रसंग आएगा, बताया–जायगा। वीथी के जो अंग हैं, वे ही आमुख के भी हैं। अत: यहाँ पर उन्हीं को बतलाया जा रहा है ॥ ६–७ ॥

४. आमुख – *(अथवा प्रस्तावना)*

सूत्रधारः नटीम् मारिषम् वा विदूषकम् चित्रोक्त्या प्रस्तुताक्षेपि स्वकार्यं यत् ब्रूते तत् आमुखम् (प्रस्तावना वा) **इत्यन्वयः** ॥ ७–८ ॥

कारिकार्थ – सूत्रधार इति। आमुख (या प्रस्तावना) उसे कहा जाता है, जहाँ सूत्रधार नटी, मार्ष (पारिपार्श्विक) या विदूषक के साथ बातचीत करते हुए बहुविध विचित्र उक्तियों के द्वारा प्रस्तुत का आक्षेप कर (अर्थात् प्रस्तुत वस्तु का सूचना देने वाला) अपने कार्य का वर्णन करे। इसी आमुख को प्रस्तावना भी कहा जाता है ॥ ७–८ ॥

कारिकार्थ – तत्रेति। इसके १. कथोद्घात, २. प्रवृत्तक. ३. प्रयोगातिशय तथा वीथी में होने वाले तेरह अंग होते हैं ॥ ८–९ ॥

तत्र कथोद्घात: –

स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा तत्र सूत्रिण: ।। ९ ।।
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधैव स: ।

वाक्यं यथा रत्नावल्याम् – 'यौगन्धरायण: – द्वीपादन्यस्मादपि –' इति । वाक्यार्थं यथा वेणीसंहारे – 'सूत्रधार: –

परामर्श – वीथी का वर्णन इसी तृतीय प्रकाश की (६८–७०) कारिका में और प्रहसन का वर्णन (५४–५६) कारिका में किया गया है। ये दोनों ही भारती वृत्ति के अङ्ग है। वस्तुत: वीथी और प्रहसन रूपक के भेद हैं, उन्हें रूपक के अङ्ग नहीं कहा जा सकता। जैसा कि **अभिनवगुप्तपाद** ने कहा है –'अङ्गत्वमिति अंशत्व प्राप्ता इत्यर्थ:। अन्यथा यदि रूपस्यांगत्वं प्राप्ता इत्युच्यते, तदा वीथी प्रहसनं च रूपकभेद न तु रूपकस्यांगम् । (ना० शा० अभिनव भारती, २०–२७) ।।

नाट्यदर्पणकार के अनुसार–आमुख या प्रस्तावना उसे कहते हैं, जहाँ विदूषक–नटी और पारिपार्श्व सूत्रधार (नाट्यार्थ स्थापक) के साथ वक्रोक्त अविवक्षितार्थ या स्पष्टोक्ति विवक्षितार्थपूर्ण विचित्र वाक्यों द्वारा प्रस्तुत अर्थ के आक्षेप कारक भाषण (आलाप) करते हैं ।। (ना० द० ३।३) ।।

इसे **आमुख** इसलिए कहते हैं कि यह कार्य मुखसन्धि पर्यंत रहता है। **'आङ्'** उपसर्ग यहाँ **मर्यादा** के अर्थ में है । अथवा **'ईषदर्थ'** के रूप में यदि **'आङ्'** माना जाय तो **'ईषन्मुखम्'** का अर्थ होगा मुख सन्धि का किञ्चित् सूचनापूर्वक आरम्भ । इसीलिए इसे 'प्रस्तावना' भी कहा जाता है । सूत्रधार के सदृश होने से **स्थापक** भी सूत्रधार कहा जाता है । सूत्रधार के अनुचर को **पारिपार्श्विक** कहते हैं। उससे कुछ निम्न श्रेणी का पात्र **नट** है । **नट की स्त्री को ही नटी कहते हैं** ।। ३ ।।

(क) **कथोद्घात –**

तत्रेति। पूर्व में कथित आमुख या प्रस्तावना के अङ्गों में से **कथोद्घात** यह है –

यत्र पात्रम् सूत्रिण: स्वेतिवृत्तसमम् वाक्यम् अर्थम् वा गृहीत्वा प्रविशेत् स कथोद्घात: स द्विधा एव **इत्यन्वय:** ।। ९–१० ।।

कारिकार्थ – स्वेतिवृत्तसममिति। अपनी कथा–वस्तु के ही सदृश (या साम्य रखने वाले) सूत्रधार के मुख से निकले हुए वाक्य या वाक्यार्थ को ग्रहणकर (लेकर) जहाँ पात्र का (मंचपर) प्रवेश होता है, वहाँ 'कथोद्घात' होता है। सूत्रधार के वाक्य या वाक्यार्थ के आधार पर यह दो प्रकार का होता है। प्रथम वाक्य ग्रहण करके पात्र का मंच पर प्रवेश करना और द्वितीय वाक्यार्थ ग्रहण कर पात्र का प्रवेश करना ।। ९–१० ।।

{अर्थात् १. वाक्यमूलक और २. वाक्यार्थमूलक कथोद्घात होता है –}

वृत्त्यर्थ – वाक्यमिति। वाक्य को ग्रहण करके पात्र के प्रवेश का उदाहरण जैसे – रत्नावली में यौगन्धरायण सूत्रधार के ही वाक्य 'द्विपादन्यस्मादपि' इत्यादि का

निर्वाणवैरिदहना: प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनया: सह केशवेन ।
रक्तप्रसाधितभुव: क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुता: सभृत्या: ।।' (१.७)

ततोऽर्थेनाह – 'भीम: –

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशै:
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च न: प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशा:
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्रा: ।।' (१.८)

अथ प्रवृत्तकम् –

कालसाम्यसमाक्षिप्तप्रवेश: स्यात्प्रवृत्तकम् ।। १० ।।

प्रयोग करते हुए प्रविष्ट होता है ।

वाक्यार्थमिति। वाक्यार्थ का प्रयोग **'वेणीसंहार'** नाटक की प्रस्तावना (आमुख) में देखने को मिलता है। **भीमसेन** सूत्रधार के वाक्यार्थ को ग्रहण करके तदनुकूल उक्ति का प्रयोग करते हुए मंच पर प्रविष्ट होता है। **सूत्रधार –**

निर्वाणेति। 'शत्रुओं के नष्ट हो जाने के कारण जिनका अग्निरूपी द्वेष शान्त हो चुका है, ऐसे पाण्डव भगवान् श्रीकृष्ण के साथ आनन्द करें। विग्रह–विहीन कौरव, जिन्होंने प्रेमपूर्वक प्रजापालन से समस्त भूमण्डल को वशीभूत कर लिया है, वे भी अपने सेवकों के साथ स्वस्थ रहें ।'

{अपने परिजनों के साथ जिनके शरीर क्षतविक्षत हो चुके हैं, रक्त से पृथ्वी को रंजितकर, स्वर्ग में निवास करें }

तत इति। इसके पश्चात् पूर्वकथित **'निर्वाणवैरिदहना:'** इत्यादि **सूत्रधार** की उक्ति के अर्थ को लेकर **भीम** का यह कहते हुए प्रवेश होता है –

लाक्षेति। 'जिन धृतराष्ट्र के पुत्रों ने लाख का घर बनवाकर, और उसमें आग लगवाकर, विषमिश्रित अन्न को देकर, तथा सभा में द्यूतक्रीड़ा में जीतकर, हमारे प्राणों और सम्पत्ति पर प्रहार किया, वे धृतराष्ट्र के पुत्र क्या मेरे जीवित रहते स्वस्थ रह सकते हैं ?' जिन्होंने पाण्डवों की वधू के वस्त्र तथा केशों को खींचा है ।

(ख) प्रवृत्तक –

अथेति। अब ग्रन्थकार आमुख के दूसरे अङ्ग प्रवृत्तक का लक्षण बताते हैं –

कारिकार्थ – कालसाम्येति। जहाँ किसी ऋतु के वर्णन की समानता के द्वारा (श्लेष से) पात्र का प्रवेश सूचित किया जाता है, वहाँ 'प्रवर्तक' नामक आमुख अङ्ग होता है ।। १० ।।

प्रवृत्तकालसमानगुणवर्णनया सूचितपात्रप्रवेशः **प्रवृत्तकम्** । यथा –

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः ।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः ।। (छलितरामस्य)।।

अथ प्रयोगातिशयः –

**एषोऽयमित्युपक्षेपात्सूत्रधारप्रयोगतः ।
पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः ।। ११ ।।**

यथा 'एष राजेव दुष्यन्तः' इति ।।

वृत्त्यर्थ – प्रवृत्तेति। अर्थात् प्रारम्भ हुए किसी काल (ऋतु) के गुणों की समानता के वर्णन से जहाँ पात्र का प्रवेश सूचित किया जाता है, वहाँ **प्रवृत्तक** होता है। जैसे निम्नोक्त (**छलितराम में**) पद्य में शरद् ऋतु के वर्णन के साथ ही साथ श्लेष के आधार पर समान गुणों—विशेषताओं – का वर्णन करते हुए राम का प्रवेश सूचित किया गया है। {इस पद्य की व्याख्या पूर्व में (३।३) की गई है।}

परामर्श – भरत के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है –

'कालप्रवृत्तिमाश्रित्य वर्णना या प्रयुज्यते ।
तदाश्रयाच्च पात्रस्य प्रवेशस्तत् प्रवृत्तकम् ।।' (ना० शा० २२।३५)

अर्थात् – यदि सूत्रधार अपने हाथ में लिए हुए किसी कार्य का वर्णन करे और उसके उन्हीं शब्दों को लेते हुए जब पात्र का मंच पर प्रवेश हो तो उसे '**प्रवृत्तक**' कहते हैं ।

इसे **आचार्य अभिनवगुप्त** ने इस प्रकार समझाया है – 'यदा कालप्रवृत्तिं कञ्चिदवलम्ब्य यथा सूत्रधारेण किंचिद् वस्तु वर्ण्यते तदाश्रयेण च पात्रस्य प्रवेशः तत्कालप्रवृत्या स्वार्थोक्तत्वात् प्रवृत्तकम् ।। १० ।।'

(ग) **प्रयोगातिशय –**

अथेति। अब ग्रन्थकार आमुख के तृतीय अङ्ग **'प्रयोगातिशय'** का लक्षण बताते हैं –

एषः अयम् इति सूत्रधारप्रयोगतः उपक्षेपात् यत्र पात्रप्रवेशः एषः प्रयोगातिशयः मतः **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – एष इति । 'यह वह है'– इस प्रकार के सूत्रधार द्वारा कहे गए वाक्य से सूचित होकर जहाँ मंच पर पात्र का प्रवेश होता है, वहाँ 'प्रयोगातिशय' नामक आमुखाङ्ग होता है ।। ११ ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **'अभिज्ञानशाकुन्तल'** में ''यह राजा दुष्यन्त के सदृश'' – {सूत्रधार द्वारा कथित इस वाक्य के साथ दुष्यन्त का प्रवेश सूचित होता है।}

परामर्श – भावप्रकाशनकार शारदातनय, धनञ्जयकृत 'प्रयोगातिशय' के लक्षण का अनुसरण करते हैं – (भाव० प्र० ८।९१) और उदाहरण भी वही (शाकुन्तल

अथ **वीथ्यङ्गानि** –

उद्घात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम् ।
वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ॥ १२ ॥
असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश ।

तत्र –

गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ॥ १३ ॥
यत्रान्योन्यं समालापो द्वेधोद्घात्यं तदुच्यते ।

गूढार्थं पदं तत्पर्यायश्चेत्येवं माला । प्रश्नोत्तरं चेत्येवं वा माला ।

नाटक प्रस्तावना १।५) 'एष राजेव दुष्यन्त' प्रस्तुत करते हैं, **सागरनन्दी**, भरतोक्त मत का अनुसरण कर **'स्वप्नवासवदत्त'** नाटक से उदाहरण 'अये कथं तपोवेनऽप्युत्सारणा–' इत्यादि प्रस्तुत करते हैं। सागरनन्दी कृत प्रयोगातिशय का यह लक्षण 'प्रयोगे तु प्रयोगन्तु सूत्रधार: प्रयोजयेत् । ततश्च प्रविशेत् पात्रं प्रयोगातिशयो हिस: ॥' (१२६) भरत के अनुसार है। **दशरूपक** का प्रयोगातिशय का लक्षण **सागरनन्दी** के 'अवलगित'–(पृ० १२१) से मेल खाता है। **विश्वनाथ** का 'अवलगित' का लक्षण और उदाहरण – भी सागरनन्दी के लक्षण और उदाहरण से मेल खाता है ॥ ११ ॥

अथेति। अब ग्रन्थकार **वीथी के अङ्गों** का निरूपण करते हैं –

{वीथी के अङ्ग आमुख के भी अङ्ग होते हैं, ऐसा पूर्व कारिका (३।७) में ग्रन्थकार धनञ्जय बता चुके हैं। अत: अब प्रसंगानुसार वीथी के अङ्गों का निरूपण करते हैं – अर्थात् वीथी के जिन तेरह अङ्गों का संकेत कारिका आठ में 'वीथ्यंगानि त्रयोदश' – किया गया है, वे ये हैं } –

कारिकार्थ – उद्घात्यकेति। १. उद्घात्यक, २. अवलगित, ३. प्रपञ्च, ४. त्रिगत, ५. छल, ६. वाक्केलि, ७. अधिबल, ८. गण्ड, ९. अवस्यन्दित, १०. नालिका, ११. असत्प्रलाप, १२. व्याहार, १३. मृदव – ये तेरह वीथी के अङ्ग हैं ॥ १२–१३ ॥

१. उद्घात्य *(या उद्घात्यक)*

तत्रेति। अब ग्रन्थकार **'उद्घात्यक'** नामक वीथी के प्रथम अंग का लक्षण–निरूपण करते हैं –

यत्र अन्योन्यम् समालाप: गूढार्थपदपर्यायमाला वा प्रश्नोत्तरस्य (माला) तत् **द्वेधा** उद्घात्यम् उच्यते **इत्यन्वय:** ॥ १३–१४ ॥

कारिकार्थ – गूढार्थेति। उद्घात्यक वहाँ होता है, जहाँ दो पात्रों की आपस में बातचीत या तो गूढ़अर्थ वाले पदों तथा उनके पर्यायवाची शब्दों की माला के रूप में होती है, अथवा दोनों पात्रों की प्रश्न एवं उत्तर के रूप में होती है, इस प्रकार यह उद्घात्य दो प्रकार का होता है ॥ १३–१४ ॥

वृत्त्यर्थ – गूढार्थमिति । (मंचगत) दो पात्रों की उक्ति प्रत्युक्ति में – १. गूढ़

द्वयोरुक्तिप्रत्युक्तौ तद्विविधमुद्घात्यकम् । तत्राद्यं विक्रमोर्वश्यां यथा — 'विदूषक: — भो वअस्स को एसो कामो ? जेण तुमं पि दूमिज्जसे । सो किं पुरीसो आदु इत्थिअ त्ति। ('भो वयस्य! क एष कामो येन त्वमपि दूयसे । स किं पुरुषोऽथवा स्त्रीति।') राजा — सखे!

मनोजातिरनाधीना सुखेष्वेव प्रवर्तते ।
स्नेहस्य ललितो मार्ग: काम इत्यभिधीयते ।।

विदूषक: — एवं पि ण जाणे ('एवमपि न जानामि।') राजा — वयस्य इच्छाप्रभव: स इति । विदूषक: — किं जो ज इच्छादि सो तं कामेदित्ति । ('किं यो यदिच्छति स तत्कामयतीति।') राजा — अथ किम् । विदूषक: — ता जाणिदं जह अहं सूअआरसालाए भोएणं इच्छामि।' ('तज्ज्ञातं यथाऽहं सूपकारशालायां भोजनमिच्छामि।')

अर्थवाले पदों अथवा उनकी पर्यायों की माला (समानार्थक शब्दों की पंक्ति) या २. दोनों पात्रों की) प्रश्नोत्तर की माला के भेद से — वह उद्घात्यक दो प्रकार का होता है ।

{इसे इस प्रकार समझाया जा सकता है — जहाँ दो पात्रों की परस्पर बातचीत इस प्रकार की हो, कि उनके वार्तालाप में या तो गूढार्थपदों तथा उनके पर्यायों (समानार्थक—पदों) की माला बनजाय, या फिर (उनके वार्तालाप में) प्रश्न तथा उत्तर की माला पाई जाय। अर्थात् जब एक पात्र के द्वारा प्रयुक्त गूढार्थ पदों को दूसरा पात्र न समझ सके, तथा वह उसका स्पष्टीकरण करने के लिए उसके पर्याय (समानार्थक पदों) का प्रयोग करे, तब प्रथम प्रकार का उद्घात्य या उद्घात्यक होता हैं। जब पात्र अपनी ही उक्ति में किन्हीं बातों पर प्रश्न पूछकर उसके साथ ही उत्तर देता जाता है, तब यह प्रश्नोत्तर मालारूप दूसरे प्रकार का उद्घात्यक है। इस प्रकार उद्घात्यक दो प्रकार का होता है।}

तत्राद्यमिति। प्रथम प्रकार के उद्घात्यक का उदाहरण 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में इस प्रकार है — {इसमें राजा 'काम' के विषय में गूढार्थ पदों का प्रयोग कर फिर उसको स्पष्ट करने के लिए व्याख्या करता है —} विदूषक — हे मित्र, यह काम कौन है? जिससे तुम दु:खी हो रहे हो; वह पुरुष है या स्त्री?। राजा — मित्र!

मन इति। 'मन से ही इसका जन्म होता है, इसलिए मन ही इसकी जाति है। यह अनाधीन है अर्थात् स्वच्छन्द है, और सुख में ही प्रवृत्त रहता है। स्नेह के ललित (सुन्दर और कोमल) मार्ग को ही 'काम' कहा जाता है' ।

विदूषक — इस प्रकार (समझाने पर) भी मैं नहीं समझ पाया । राजा — मित्र! वह (काम) इच्छा से उत्पन्न होने वाला है। विदूषक — क्या जो कोई जिस वस्तु की इच्छा करे वह उसके लिए काम ही हो जायगा?। राजा — और क्या । विदूषक — ठीक है, मैं तो जान गया। जैसे मैं पाकशाला (रसोईघर) में भोजन की इच्छा करता हूँ ।

परामर्श — १. 'विक्रमोर्वशीय' नाटक का धनिक के द्वारा उद्धृत यह 'मनोजातिरनाधीना' इत्यादि पद्य तथा राजा और विदूषक का यह वार्तालाप किसी भी प्रति में प्राप्त नहीं होता। २. यहाँ राजा और विदूषक की पारस्परिक बातचीत में काम के पर्यायवाची पदों — 'मनो जाति', 'इच्छाप्रभव', 'कामनाजन्य', आदि की शृङ्खला—माला है। अत: यह प्रथम प्रकार का 'उद्घात्य' है ।। १३—१४ ।।

द्वितीयं यथा पाण्डवानन्दे –

'का श्लाघ्या गुणिनां क्षमा परिभवः को यः स्वकुल्यैः कृतः
किं दुःखं परसंश्रयो जगति कः श्लोघ्यो य आश्रीयते ।
को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः
कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरे छन्नस्थितैः पाण्डवैः ।।'

अथावलगितम् –

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ।। १४ ।।
प्रस्तुतेऽन्यत्र वाऽन्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा ।

तत्राद्यं यथोत्तरचरिते समुत्पन्नवनविहारगर्भदोहदायाः सीताया दोहदकार्येऽनुप्रविश्य जनापवादादरण्ये त्यागः । **द्वितीयं यथा छलितरामे – 'रामः – लक्ष्मण !**

द्वितीयमिति । (प्रश्नों एवं उत्तरों की मालारूप) द्वितीय **उद्घात्यक** का उदाहरण **'पाण्डवानन्द'** में, इस प्रकार है –

का श्लाघ्येति। 'प्रशंसनीय क्या है ? गुणीजनों के द्वारा की (दी) जाने वाली क्षमा। तिरस्कार (अनादर) क्या है ? जो अपने ही कुल के लोगों के द्वारा किया जाता है। दुःख क्या है ? दूसरे का आश्रय ग्रहण करना। संसार में प्रशंसनीय कौन है ? जो आर्त (अनाथ) को आश्रय देता है। मृत्यु क्या है ? व्यसन ग्रस्त होना। चिन्तारहित कौन है ? जिन्होंने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है। यह सब किसने जान लिया है? विराट् नगर में अज्ञात (गुप्त) रूप से रहने वाले पाण्डवों ने ।। १३–१४ ।।

२. अवलगित –

अथेति। अब ग्रन्थकार **अवलगित** नामक वीथी के द्वितीय अङ्ग का निरूपण करते हैं –

यत्र एकत्र समावेशात् अन्यत् कार्यम् प्रसाध्यते वा अन्यत्र प्रस्तुते अन्यत् इति तत् द्विधा अवलगितम् स्यात् **इत्यन्वयः** ।। १४–१५ ।।

कारिकार्थ – यत्रैकत्रेति। १. जहाँ एक ही क्रिया के द्वारा एक कार्य के समावेश से (या एक कार्य के व्याज से विवक्षित प्रयोजन वाला) अन्य कार्य सम्पादित हो जाय, वहाँ प्रथम प्रकार का अवलगित होता है। २. अथवा जहाँ एक कार्य के प्रस्तुत होने पर दूसरा कार्य सिद्ध हो जाता है, वहाँ दूसरे प्रकार का अवगलित होता है, इस प्रकार अवलगित के दो प्रकार हैं ।। १४–१५ ।।

वृत्त्यर्थ – तत्राद्यमिति। इनमें से प्रथम प्रकार के अवलगित का उदाहरण भवभूति के **उत्तररामचरित** नाटक से दिया जा सकता है – जैसे **'उत्तररामचरित'** में गर्भवती सीता के मन में वनविहार की इच्छा उत्पन्न होने पर सीता के दोहदरूप कार्य को पूर्ण करने के बहाने से लोकनिन्दा के कारण सीता को वन में छोड़ (त्याग) देना (प्रथम प्रकार का) **अवलगित** है।

द्वितीयमिति। द्वितीय प्रकार का अवलगित का उदाहरण है 'छलितराम' नाटक

तातवियुक्तामयोध्यां विमानस्थो नाहं प्रवेष्टुं शक्नोमि । तदवतीर्य गच्छामि ।।

कोऽपि सिंहासनस्याधः स्थितः पादुकयोः पुरः ।
जटावानक्षमाली च चामरी च विराजते ।।'

इति भरतदर्शनकार्यसिद्धिः ।।

अथ प्रपञ्चः —

असद्भूतं मिथःस्तोत्रं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ।। १५ ।।

असद्भूतेनार्थेन पारदार्यादिनैपुण्यादिना याऽन्योन्यस्तुतिः स प्रपञ्चः । यथा **कर्पूरमञ्जर्याम्—भैरवानन्दः —**

रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखण्डं च सेज्जा कोलो धम्मो कस्स णो होइ रम्मो ।

में — **राम** — हे लक्ष्मण! पिता से वियुक्त अयोध्या में मैं विमान में बैठा हुआ नहीं जा सकता हूँ, अतः विमान से उतरकर जाता हूँ।

क इति। '(अरे सामने तो) राज्यसिंहासन के नीचे पादुकाओं के सामने जटाधारी अक्षमाला को धारण किया हुआ और चामरयुक्त (कोई) व्यक्ति स्थित (बैठा हुआ) है।' इस प्रकार (विमान से उतर कर चलने में) भरत दर्शनरूप कार्य की सिद्धि हो जाती है ।। १४—१५ ।।

परामर्श — 'छलितराम' — यह उत्तररामचरित विषयक नाटक है, यह अब उपलब्ध नहीं है । और इसके रचयिता का नाम भी ज्ञात नहीं है । इसके कुछ उदाहरण **धनिक** के 'दशरूपकावलोक' में (१०वीं शती) और कुछ साहित्य ग्रंथों में उद्धृत है । उन पर से अनुसंधानिकों ने उसके विषय में कुछ जानकारी एकत्र की है । विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए — १. V. Rāghvan, Some old lost Rāma - Plays pp. 50f., २. **भवभूति — अनुवादक** — डॉ केशवराव मुसलगाँवकर, द्वितीय संस्करण - राजपाल प्रकाशन, दिल्ली ।। १४—१५ ।।

३. प्रपञ्च —

अथेति। अब ग्रन्थकार **'प्रपञ्च'** नामक वीथी के तृतीय अङ्ग का निरूपण करते हैं —

कारिकार्थ — असद्भूतमिति। परस्पर की हास्यजनक मिथ्या स्तुति को 'प्रपञ्च' कहा जाता है ।। १५ ।।

वृत्त्यर्थ — असद्भूतेनेति । असद्भूत {अर्थात् असत्य तथा निन्दनीय} से तात्पर्य है, परस्त्री गमनरूप आदि की निपुणता । इसके द्वारा जो परस्पर एक दूसरे की स्तुत्यात्मक प्रशंसा की जाती है, वही **'प्रपञ्च'** कहलाता है । जैसे राजशेखरकृत **कर्पूरमञ्जरी**—सट्टक में कापालिक **भैरवानन्द** हास्यजनक—मिथ्या प्रशंसा करते हुए कहता है —

रण्डेति। 'उद्दाम कामवासना से युक्त रण्डा (विधवास्त्री) स्त्रियाँ (जिस धर्म में)

('रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा मद्यं मांसं पीयते खाद्यते च ।
भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या कौलो धर्मः कस्य न भवति रम्यः ॥' (१.२३)

अथ त्रिगतम् –

श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजनं त्रिगतं त्विह ।
नटादित्रितयालापः पूर्वरङ्गे तदिष्यते ॥ १६ ॥

यथा **विक्रमोर्वश्याम्** –

'मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां
शब्दोऽयं परभृतनाद एष धीरः ।
कैलासे सुरगणसेविते समन्तात्
किन्नर्यः कलमधुराक्षरं प्रगीताः ॥' (१.३)

दीक्षा प्राप्त धर्मपत्नियाँ हों, मद्य और माँस खाद्य तथा पेय हो, (जिस धर्म में) भिक्षा ही भोजन हो, और चर्म खण्ड ही शय्या हो, ऐसा कौल (वाममार्गीय संप्रदाय) धर्म किसे अच्छा–(आकर्षक) नहीं लगता है?।'

परामर्श – दो पात्रों के परस्पर प्रशंसात्मक या हासोपहासपूर्ण मिथ्यालाप का नाम **प्रपञ्च** है। परस्पर वार्तालाप में एक दूसरे के अभिप्राय का प्रपञ्चन अथवा विस्तार का होना स्वाभाविक ही है । और यह भी स्वाभाविक ही है कि वार्तालाप में मिथ्या–प्रलाप की बातों का आ जाना । नाट्य में इनके आ जाने से सामाजिकों का मनोरंजन हो जाता है। इसीलिए परस्त्री लम्पट विट–चेट के वार्तालापों में इसका प्रयोग किया जाता है, जैसे कि **विक्रमोर्वशीय**, और **कर्पूरमंजरी**–सट्टक आदि में किया गया है ॥ १५ ॥

४. **त्रिगत –**

अथेति । अब ग्रन्थकार **'त्रिगत'** – नामक वीथी के चतुर्थ अङ्ग का निरूपण करते हैं –

इह तु श्रुतिसाम्यात् अनेकार्थयोजनम् त्रिगतम् । नटादित्रितयालापः तत् पूर्वरङ्गे इष्यते **इत्यन्वयः** ॥ १६ ॥

कारिकार्थ – श्रुतिसाम्यादिति। शब्दों की समानता के कारण अनेक अर्थों की कल्पना करना प्रस्तुत प्रकरण में 'त्रिगत' कहलाता है। नट आदि (सूत्रधार, नटी, और पारिपार्श्विक) तीनों के वार्तालाप को भी 'त्रिगत' कहा गया है। किन्तु यह त्रिगत पूर्वरङ्ग में ही (अङ्ग के रूप में) उपयुक्त (अभीप्सित) है ॥ १६ ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे 'विक्रमोर्वशीयम्' में {राजा, अप्सराओं के सङ्गीत को सुनकर श्रुति (शब्द) साम्य के आधार पर भ्रमरों का गुञ्जारव, तथा कोकिल की काकली की योजना करता है, इसलिए यह त्रिगत है –}

मत्तानामिति । 'क्या यह पुष्पों का रस पान करने से मदोन्मत्त हुए भ्रमरों का

अथ छलनम् –

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलनाच्छलम् ।

यथा वेणीसंहारे – 'भीमार्जुनौ –

कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत पुरुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥' (५.२६)॥

मधुर गुञ्जन है अथवा कोयलों की गम्भीर 'कूक' (ध्वनि) है या देवगणों के द्वारा सब ओर से सेवित कैलास पर्वत पर किन्नरियाँ मृदु एवं मधुर शब्दों में गा रही हैं?' ॥ १६ ॥

परामर्श – प्रस्तुत पद्य **विक्रमोर्वशीय** की सभी प्रतियों में प्राप्त नहीं होता ।

भरत के अनुसार 'त्रिगत' का लक्षण इस प्रकार है –

'श्रुतिसारूप्याद्यस्मिन् बहवोऽर्थायुक्तिभिर्निरूप्यन्ते ।
यद्हास्यमहास्यं वा तत् 'त्रिगतं' नाम विज्ञेयम् ॥'' (ना० शा० १८।१२९)

यहाँ **'श्रुतिसारूप्य'** से तात्पर्य शब्द–**सादृश्य** का है। और **'त्रि'** से तीन का ही नहीं अपितु अनेक का अर्थ लिया गया है। **अभिनवभारतीकार** ने इसीलिए कहा है कि – 'त्रिशब्दोऽनेकोपलक्षणम्, अनेकमर्थं गतमिति 'त्रिगतम्'। वाक्ये मुख्यमुत्तरमनेक प्रश्न साधारणम्, इह तु य एव प्रश्नस्तदेव प्रतिवचनम् इति विशेषः यथा 'सर्वक्षिति भृतां नाथ !' इत्यादि ॥ १६ ॥

५. छलन –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'छलन'** नामक वीथी के पाँचवें अङ्ग का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – प्रियाभैरिति। ऊपर से प्रिय लगने वाले किन्तु (वास्तव में) अप्रिय वाक्यों के द्वारा लुभाकर छलने का नाम–'छलन' है ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **वेणीसंहार** नाटक में **भीमसेन** तथा **अर्जुन**, दुर्योधन का शोध करते हुए निम्नोक्त वाक्यों का प्रयोग करते हैं , जो वस्तुतः अप्रिय हैं, किन्तु बाहर प्रिय–से प्रतीत होते हैं –

कर्तेति। 'द्यूत क्रीड़ा के अवसर पर कपट (छल) करने वाला, लाक्षागृह को जलाने वाला, दुःशासनादि सौ छोटे भाइयों का ज्येष्ठ भ्राता, अङ्गराज कर्ण का मित्र, अभिमानी राजा दुर्योधन; द्रौपदी के केशजाल व उत्तरीय–वस्त्र को दूर करने में (जो) चतुर है, तथा जिसके पाण्डव सेवक हैं; वह कहाँ है? हे पुरुषों ! हमें बताइए, हम उसे देखने के लिए आये हैं ।'

परामर्श – धनञ्जयकृत 'छल' के लक्षण का अनुसरण भावप्रकाशनकार शारदातनय और विश्वनाथ ने भी किया है। भावप्रकाशनकारका छल–लक्षण इस प्रकार है – 'प्रियैरिवाप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलनाच्छलम् ।' (भा० प्र०८।७३)

अथ वाक्केली –

विनिवृत्त्यास्य वाक्केली द्विस्त्रिः प्रत्युक्तितोऽपि वा ॥ १७ ॥

अस्येति वाक्यस्य प्रक्रान्तस्य साकाङ्क्षस्य विनिवर्तनं वाक्केली । द्विस्त्रिर्वा उक्तिप्रत्युक्तय: । **तत्राद्या यथोत्तरचरिते – 'वासन्ती –**

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभि: प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमत: परेण ॥' (३.२६)

कुछ नाट्याचार्य 'छल' का लक्षण इस प्रकार बताते हैं –

'छलं किञ्चित्कार्यमुद्दिश्य कस्यचित् ॥
उदीर्यते यद्वचनं वञ्चनाहास्यरोषकृत् ।' (सा० द० ६।२५८)

अर्थात् **'छल'** वह वञ्चनात्मक, हास्यजनक या रोषकारक वचन है, जिसे किसी उद्देश्य विशेष से किसी के प्रति कहा जाता है ॥

६. **वाक्केलि –**

अथेति । अब ग्रन्थकार **वाक्केलि** नामक वीथी के छठवें अङ्ग का निरूपण करते हैं –

अस्य विनिवृत्या वा द्विस्त्रि: प्रत्युक्तित: वाक्केली **इत्यन्वय:** ॥ १७ ॥

कारिकार्थ – विनिवृत्त्येति। प्रकरण प्राप्त अथवा प्रारम्भ किए हुए वाक्य (बात) को कहते–कहते रुक जाना अथवा उसे बदल देने को 'वाक्केलि' कहते हैं। अथवा दो या तीन पात्रों (व्यक्तियों) की उक्ति–प्रत्युक्ति को भी वाक्केलि कहते हैं ॥ १७ ॥

वृत्त्यर्थ – अस्येति। (कारिका के) **'अस्य'** – पद का अर्थ – अर्थात् – (प्रचलित) जिज्ञासा वाले साकाङ्क्ष (अपरिमित) वाक्य या बात को बीच में ही रोक लेना **'वाक्केलि'** कहा जाता है। अथवा दो–तीन बार उक्ति–प्रत्युक्ति को भी **'वाक्केलि'** कहा जाता है। उक्त दो प्रकारों में से **प्रथम** का उदाहरण (भवभूति के) **'उत्तररामचरित'** में इस प्रकार है – {राम से वासन्ती कहती है कि} –

त्वमिति। '(तुमने सीता से कहा था) तुम (अर्थात् सीता) मेरा जीवन हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम मेरे नेत्रों के लिए चाँदनी (ज्योत्स्ना) हो, तुम मेरे शरीर के लिए अमृत हो' – इत्यादि सैकड़ों प्रिय वचनों से उस भोली सीता का अनुनय करके उसी को अथवा बस, इसके आगे अधिक कहने से क्या लाभ है?'

{इस प्रारम्भ की हुई बात को वासन्ती आगे कहना चाहती है, किन्तु उस बात को बीच में ही रोक देती है. (तुमने...) अथवा उसे आगे कहने से क्या लाभ? ऐसा कहती है। इसमें सीता के साथ किए गए राम के व्यवहार का वर्णन वासन्ती द्वारा किया गया है। यह वर्णन **'साकाङ्क्ष'** है।}

उक्तिप्रत्युक्तितो यथा रत्नावल्याम् –

'**विदूषकः** – भोदि मअणिए मं पि एदं चच्चरिं सिक्खावेहि। ('भवति मदनिके! मामप्येतां चर्चरीं शिक्षय') **मदनिका** – हदास ण क्खु एसा चच्चरी । दुवदिखण्डअं क्खु एदम् । ('हताश न खल्वेषा चर्चरी । द्विपदिखण्डकं खल्वेतत्।') **विदूषकः** – भौदि किं एदिणा खण्डेण मोदआ करीअन्ति । ('भवति किमेतेन खण्डेन मोदकाः क्रियन्ते?') **मदनिका** – णहि, पढीअदि क्खु एदम् ।' ('नहि पठ्यते खल्वेतत्।') इत्यादि ॥

अथाधिबलम् –

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाऽधिबलं भवेत् ।

यथा **वेणीसंहारे** – '**अर्जुनः** –

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः ।

उक्तीति। उक्ति–प्रत्युक्ति से होने वाली '**वाक्केलि**', जैसे **रत्नावली** में – **विदूषक** – मदनिके ! मुझे भी यह चर्चरी सिखा दो । **मदनिका** – मूर्ख ! यह चर्चरी नहीं है, यह तो द्विपदी खण्ड (राग विशेष) है । **विदूषक** – तो क्या इस खण्ड (खाँड़, या शक्कर) से लड्डू बनाए जाते हैं? **मदनिका** – नहीं, इसे तो पढ़ा जाता है। इत्यादि। (उक्ति–प्रत्युक्ति में हुई हास्ययुक्त वाक्केलिका वर्णन इसमें है।)

परामर्श – वस्तुतः '**वाक्केलि**' एक वचन क्रीड़ा ही है । १. यह '**छेकोक्ति**' और '**प्रत्युक्ति**' दोनों प्रकार से संभव हो सकती है । २. **दशरूपक** की कारिका में प्रयुक्त – 'द्वित्रिः' का तात्पर्य **साहित्यदर्पणकार** विश्वनाथ के अनुसार केवल दो–तीन का ही नहीं है, अपितु अधिक का है, क्योंकि 'द्वित्रि' पद अधिक का उपलक्षण है ॥

७. अधिबल –

अथेति। अब ग्रन्थकार '**अधिबल**' नामक वीथी के सातवें अङ्ग का निरूपण करते हैं –

स्पर्धया अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः अधिबलं भवेत् **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ – अन्योन्येति । जहाँ नाटकीय पात्र एक दूसरे के प्रति वाक्यों का प्रयोग करते हुए स्पर्धा (की भावना) से अपने–अपने आधिक्य के वचन (बखान) कहें, उसे अधिबल कहते हैं ।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे वेणीसंहार में अर्जुन, (धृतराष्ट्र और गान्धारी के सम्मुख अपना परिचय देते हुए) कहते हैं –

सकलेति। 'हे पिता–माता, (धृतराष्ट्र और गान्धारी) जिस राधापुत्र कर्ण में आपके पुत्रों की सम्पूर्ण शत्रु–वर्ग को जीतने की आशा बँधी हुई थी, और जिसने

रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यम: पाण्डुपुत्र: ।।' (५.२७)

इत्युपक्रमे '**राजा** – अरे ! नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भ: । किन्तु –

द्रक्ष्यन्ति न चिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ।
मद्गदाभिन्नवक्षोस्थिऽवेणिकाभङ्गभीषणम् ।।' (५.३४)

इत्यन्तेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यवाक्यस्याधिक्योक्तिरधिबलम् ।।

अभिमान के कारण समस्त संसार को तृणवत् नगण्य समझा था, उसी राधापुत्र कर्ण को युद्ध–भूमि में मारने वाला यह मध्यम पाण्डु पुत्र अर्जुन आप दोनों को प्रणाम करता है ।'

इत्युपक्रम इति। इत्यादि से आरम्भ करके '**राजा** – अरे, मैं तुम्हारी तरह आत्मप्रशंसा करने में चतुर नहीं हूँ । किन्तु –

द्रक्ष्यन्तीति। '(तुम्हारे) बन्धु–बान्धव (दायाद वर्ग, उत्तराधिकारी) युद्धभूमि में मेरी गदा के प्रहार से टूटे वक्ष:स्थल की हड्डियों की माला से भयंकर दिखाई देने वाले तुझ (भीम) को शीघ्र ही सोया हुआ देखेंगे'।

इत्यन्तेनेति। यहाँ तक होने वाली भीम और दुर्योधन की परस्पर बढ़ी चढ़ी हुई बातें प्रदर्शित की जाने से यहाँ वीथ्यङ्ग **'अधिबल'** है ।

परामर्श – **आचार्य भरत** के अनुसार – उत्तरोत्तर एक दूसरे की स्पर्धा के कारण अपनी विशेषताएँ बढ़ा चढ़ाकर बतलाने वाले वाक्य जब संवाद में रखे जाए तो उसे **'अधिबल'** कहा जाता है – ।। परवचनमात्मनश्चोत्तरोत्तर समुद्भवं द्वयोर्युत्तु । अन्योन्यार्थविशेषकमधिबलमिति तद् बुधैर्ज्ञेयम् ।। (ना० शा० १८।१२३)

आचार्य अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त विषय की मार्मिक विवेचना की है। उनके अनुसार – **पर** अर्थात् दूसरे का वचन तथा आत्म वचन इन दोनों से अर्थ विशेष का लाभ होता है अत: जहाँ उत्तर एवं प्रत्युत्तर द्वारा अधिकाधिक अर्थ की उपलब्धि हो तो वहाँ **अधिबल** होता है ।

प्रकृत में ध्यातव्य है कि जहाँ उत्तर या प्रत्युत्तर के क्रम को रखा जाता है वहाँ एक को दूसरे का प्रज्ञान होने से तथा अपने पक्ष के सुघटन में अधिक बल होने से वह 'अधिबल' है – ।। परस्य वचनमात्मनश्च वचनं परस्परमर्थविशेषलाभो यत्र भवतीत्युत्तरोत्तरस्याधिकाधिकस्यार्थस्य समुद्भो यत्र तदधिबलम् । एतदुक्तं भवति–यत्रोक्तिप्रत्युक्तिक्रमे क्रियमाणे परस्पर प्रज्ञानोपजीवनबलात् स्वपक्षसुघटितादधि–बलसम्बन्धादधिबलम् ।। (अभि० भा० १८।१२३)

'सकलरिपु' और **'द्रक्ष्यन्ति'** आदि दोनों श्लोक (दश० १।४७) और (१।४६) में भी उद्धृत हैं। साहित्यदर्पणकार **विश्वनाथ** कृत 'अधिबल' का लक्षण **दशरूपक** के 'अधिबल' लक्षण से अक्षरश: साम्य रखता है। इसमें 'स्पर्धा' ही मूल कारण है, क्योंकि उक्ति–प्रत्युक्ति में स्पर्धा द्वारा ही बलाधिक्य की संभावना होती है। **'अधिबल'** के सुन्दर उदाहरण **वेणीसंहार** में यत्र–तत्र देखे जा सकते हैं ।

अथ गण्ड: —

गण्ड: प्रस्तुतसम्बन्धिभिन्नार्थं सहसोदितम् ॥ १८ ॥

यथोत्तरचरिते — 'राम: —

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो —
रसावस्या: स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरस: ।
अयं बाहु: कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसर:
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरह: ॥' (१.३८)

(प्रविश्य) प्रतीहारी — देव उअत्थिदो । ('देव उपस्थित:।') राम: — अयि क:?। प्रतीहारी — देवस्स आसण्णपरिचारओ दुम्मुहो ।' ('देवस्यासन्नपरिचारको दुर्मुख:।') इति ॥

---

८. गण्ड —

अथेति। अब ग्रन्थकार **'गण्ड'** नामक वीथी के आठवें अङ्ग का निरूपण करते हैं —

प्रस्तुतसम्बन्धिभिन्नार्थं सहसोदितं गण्ड: **इत्यन्वय:** ॥ १८॥

कारिकार्थ — गण्ड इति। प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध किन्तु उस प्रकृत से भिन्न अर्थ का बोधक अकस्मात् कहा गया वचन (वाक्य) 'गण्ड' कहलाता है ॥ १८ ॥

{**गण्ड** से तात्पर्य उस वचन या वाक्य विशेष से है, जहाँ कवि या नाटककार — भावी घटना का संकेत, प्रस्तुत प्रकरण से सम्बद्ध किन्तु उस प्रस्तुत से भिन्न अर्थ के वाचक वचन या वाक्य से सहसा देता है। यह पाश्चात्य नाटकों की 'DRAMATIC-IRONY' 'ड्रेमेटिक आइरनी' से कुछ—कुछ साम्यता रखता है।}

वृत्त्यर्थ — यथेति । जैसे भवभूति के उत्तररामचरित में, राम सीता के विषय में इस प्रकार कहते हैं —

इयमिति। 'यह सीता घर की लक्ष्मी है, यह नेत्रों के लिए अमृत की शलाका है। इसका यह शीतलस्पर्श शरीर पर लगे प्रचुर चन्दन के रस के सदृश है। इसका यह बाहु गले में पड़े हुए शीतल और मसृण मोतियों के हार की तरह है। इसके शरीर का कौन सा भाग प्रिय (और सुखकर) नहीं है, किन्तु इसका वियोग ही केवल असह्य है' ।

प्रतीहारी (आकर) महाराज ! उपस्थित हैं। **राम** — अरे कौन आ गया ? **प्रतीहारी** — आपका निकटवर्ती सेवक दुर्मुख ॥ १८ ॥

परामर्श — {उक्त पद्य में राम के द्वारा यह वाक्य 'इसका विरह बड़ा असह्य है' — उच्चरित होते ही 'देव यह उपस्थित है' — इस वाक्य के द्वारा भिन्नार्थ की उपस्थिति एक दम हो जाती है। अर्थात् यहाँ प्रतीहारी का वचन भिन्नार्थ का बोधक है, उसके कथन से दुर्मुख के आगमन की सूचना दी गई है, किन्तु इसका सम्बन्ध राम के प्रस्तुत कथन से भी सम्बद्ध हो जाता है — 'यदि परमसह्यस्तु विरह:।' इसका 'उपस्थित:' से सम्बन्ध जुड़कर 'विरह: उपस्थित:' हो जाता है। इसलिए यहाँ गण्ड,

अथावस्यन्दितम् –

रसोक्तस्यान्यथा व्याख्या यत्रावस्यन्दितं हि तत् ।

यथा **छलितरामे** – '**सीता** – जाद, कल्लं क्खु तुम्हेहिं अजुज्झाए गन्तव्वं । तहिं सो राआ विणएण णमिदव्वो । ('जात! कल्यं खलु युवाभ्यामयोध्यायां गन्तव्यम्

'वीथी' का अङ्ग है ।

इस वीथ्यङ्ग रूप 'गण्ड' का अन्य सुन्दर उदाहरण **वेणीसंहार** नाटक (२. २३) में उपलब्ध होता है। जैसे – '**राजा** – अरी सुन्दरी ! मेरा यह उरुयुगल तेरे जघनमण्डल का आसन बनने के लिये पूर्ण रूप से उद्यत है । **कञ्चुकी** – महाराज ! वह तो टूट चुका ।' आदि में जो 'वीथ्यङ्ग' है वह '**गण्ड**' है, क्योंकि यहाँ रथ के ध्वजदण्ड टूटने से सम्बद्ध कञ्चुकी का वचन, दुर्योधन के ऊरुयुगल के भङ्गरूप अर्थ से सम्बद्ध है ।

'**गण्ड**' का शब्दार्थ गाँठ या फोड़ा भी है। जैसे किसी फोड़े में दुष्ट रक्त भरा रहता है, वैसे ही इस गण्ड नामक वीथ्यङ्ग में दुष्ट अर्थ निहित रहता है, अत: इसे '**गण्ड**' कहा जाता है। **आचार्य अभिनवगुप्त** द्वारा प्रदत्त विवेचना रहस्योद्घाटक है। उनका स्पष्ट कथन है कि–संरम्भ अर्थात् आकृति विशेष से जो सम्भ्रम या आवेग हो तो उससे युक्त जो विरुद्ध वस्तु का कथन जो पूर्वदृष्ट अर्थ से गर्भित हो तो 'गण्ड' कहलाता है । **आचार्य कोहल** ने और स्पष्ट करते हुए कहा कि–अनेक सम्बद्ध पदों के अन्त में जो पद हो तथा उसमें न घटित होने वाला सम्बन्ध जहाँ सम्बन्धवत् प्रतीत होता हो तो उसे गण्ड कहते हैं – वचसां सम्बद्धानामन्ते यत् स्यान् पदे त्वसम्बन्धः । सम्बद्धमिवाभाति हि तद् गण्डो नाम वीथ्यङ्गम् ।। (अभि० भा० १८।१२५)।।

यही कारण है कि **वेणीसंहार** के उपर्युक्त उदाहरण में पूर्व में विश्रान्त ऊरूयुग इस पद का ऊरूभंग के साथ उपर्युक्त सम्बन्ध साधा गया है।

नाट्य दर्पणकार रामचन्द्र ने इसे इस प्रकार कहा है – 'अन्याभिप्रायेणा–कस्मात् प्रत्युक्तं प्रतिवचनतयाऽनुच्चारितमपि प्रतिवचनरूपतया प्रक्रान्तेन यत् संबद्धं वचनं तद् दुष्टार्थगर्भत्वाद् दुष्टशोणितगर्भगण्ड इव गण्ड:' । (ना० द० २।३१) ।। १८ ।।

९. अवस्यन्दित –

अथेति। अब ग्रन्थकार **अवस्यन्दित** नामक वीथी के नवें अङ्ग का निरूपण करते हैं –

यत्र रसोक्तस्य अन्यथा व्याख्या तत् अवस्यन्दितम् हि **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – रसोक्तस्येति । भावावेश (रस) (या स्वभावत:) में कहे हुए वचन का जहाँ दूसरे प्रकार से (उसका) अर्थ समझा दिया जाता है; वहाँ अवस्यन्दित नामक वीथ्यङ्ग होता है ।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे **छलितराम** नाटक में – '**सीता** – हे पुत्रों ! कल प्रात: तुम दोनों (लव और कुश) अयोध्या जाना और उस राजा (राम) को नम्रता से

तर्हि स राजा विनयेन नमितव्यः।') **लवः** – अम्ब किमावाभ्यां राजोपजीविभ्यां भवितव्यम् ? **सीता** – जाद सो क्खु तुह्माणं पिदा । ('जात स खलु युवयोः पिता।') **लवः** – किमावयोः रघुपतिः पिता ? । **सीता** – (साशङ्कम्) जाद ण क्खु परं तुह्माणं, सअलाए ज्जेव्व पुहवीए ।' ('जात न खलु परं युवयोः । सकलाया एव पृथिव्याः।') इति ॥

अथ नालिका –

सोपहासा निगूढार्था नालिकैव प्रहेलिका ॥१९ ॥

प्रणाम करना । **लव** – माताजी ! क्या हम दोनों को राजाश्रय प्राप्त करना है ? **सीता** – वे तुम दोनों के पिता हैं। **लव** – क्या रघुपति हम दोनों के पिता हैं ? **सीता** – (आशङ्कापूर्वक) केवल तुम्हारे ही नहीं, अखिल जगत् (पृथ्वी) के वे पिता हैं ।'

परामर्श – उक्त प्रसंग में, सीता ने अयोध्या और राम का प्रसंग आते ही स्वभावतः ही लव से राम को, पिता होने के कारण, प्रणाम करने के लिए आदेश दिया, किंतु लव ने अनेक विध जब प्रश्न पूछे तब अपने पूर्व कथित वचन की दूसरे प्रकार से व्याख्या कर सीता ने कहा – 'राजा तो सम्पूर्ण पृथ्वी के निवासियों का पिता होता है। अतः तुम्हारे भी पिता हैं ।

अवस्यन्दित के विषय में **आचार्य अभिनवगुप्त** कहते हैं कि – जहाँ अबुद्धिपूर्वक कहे गये वचन से किसी अर्थ का आक्षेप हो जाए या अनवधान वश कहे गये तथ्य को छिपाने के लिये बुद्धिमत्ता से जब दूसरा ही उत्तर दिया जाय, वह **'अवस्यन्दित'** कहा जाता है । अवस्यन्दित कहने का कारण यह है कि जैसे नेत्र के स्फुरण से किसी अज्ञात अर्थ की सूचना मिलती है इसी तरह यहाँ अर्थ की स्थिति है। अर्थात् अवस्पन्दित या अवस्यन्दितरूप वचन विन्यास से हृदयस्थ अभिप्राय प्रकाशित किया जाता है –

॥ शुभाशुभं दैवं तेनाबुद्धिपूर्वकं कुत्रचिदर्थे आक्षिप्तेऽपि कौशलात्तत्–त्प्रच्छादनेच्छया यत्रोत्तरोऽन्योऽर्थ उच्यते तदवस्पन्दितं चक्षुः स्पन्दनादिवदन्तर्गत–सूचनीयसम्भवात् ॥ (अभि० भा० १८।११७–११८)

नाट्यदर्पणकार ने **'अवस्यन्दित'** को ही **'अवस्पन्दित'** कहा है। उन्होंने **'अवस्पन्दित'** का अभिप्राय इस प्रकार स्पष्ट किया है –

'स्वेच्छोक्तस्याऽन्यथाख्यानं यदवस्पन्दितं तु तत् ।' 'स्वेच्छया वर्णनाभिप्राय–मात्रेणोक्तस्यान्यथाऽऽख्यानमन्यार्थकथनरूपं यत् तदवस्पन्दितं, चक्षुः स्पन्दनादिवदनार्गत सूचनीय संभवात् ॥'

१०. नालिका –

अथेति। अब ग्रन्थकार नालिका नामक वीथी के दसवें अङ्ग का निरूपण करते हैं –

सोपहासा निगूढार्था प्रहेलिका एव नालिका इत्यन्वयः ॥ १९ ॥

कारिकार्थ – **सोपहासेति।** हास्य से युक्त निगूढार्थ वाली पहेली को ही 'नालिका' कहा जाता है ॥ १९ ॥

यथा मुद्राराक्षसे – 'चरः – हंहो बह्मण मा कुप्प । किं पि तुह उअज्झाओ जाणादि । किं पि अह्मारिसा जणा जाणन्ति । ('हंहो ब्राह्मण मा कुप्य । किमपि तवो–पाध्यायो जानाति । किमप्यस्मादृशा जना जानन्ति।') शिष्यः – किमस्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमपहर्तुमिच्छसि । चरः – यदि दे उवज्झाओ सव्वं जाणादि ता जाणादु दाव कस्स चन्दो अणभिप्पेदो त्ति । ('यदि त उपाध्यायः सर्वं जानाति तज्जानातु तावत्, कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति।') शिष्यः – किमनेन ज्ञातेन भवति ।' इत्युपक्रमे 'चाणक्यः – चन्द्रगुप्तादपरक्तान्पुरुषाञ्जानामि ।' इत्युक्तं भवति ।' इति ॥

अथाऽसत्प्रलापः –

असम्बद्धकथाप्रायोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः ।

ननु चासम्बद्धार्थत्वेऽसङ्गतिर्नाम वाक्यदोष उक्तः । तन्न – उत्स्वप्नायित–

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे – 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक (१।१८–१९) में 'चर – हे ब्राह्मण ! क्रोध मत करो। कुछ तुम्हारे उपाध्याय जानते हैं ? (तो) कुछ मेरे सदृश लोग भी जानते हैं। शिष्य – (ऐसा कहकर) क्या हमारे उपाध्याय की सर्वज्ञता का अपहरण करना चाहते हो ? चर – यदि तुम्हारे उपाध्याय सर्वज्ञ हैं, तो जान लें कि चन्द्रमा (चन्द्र) किसे अच्छा नहीं लगता । शिष्य – इसके जानने से क्या होता है ? – ऐसा उपक्रम होने पर – 'चाणक्य – इस कथन से यह प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त से विद्रोह करने वाले व्यक्तियों को (मैं) जानता हूँ।'

{प्रकृत में चर के द्वारा हास्य से युक्त एवं गूढार्थ से समन्वित पहेली–'बताओ चन्द्र किसे अच्छा नहीं लगता ?' – का प्रयोग किया गया है। यहाँ चन्द्र का गूढ़ार्थ चन्द्रगुप्त (मौर्य) है। अतः यह 'नालिका' है।}

परामर्श – नाट्यदर्पण के अनुसार 'नालिका' का यह स्वरूप है – 'हास्याय वञ्चना नाली' पर प्रतारणकारि यदुत्तरं हास्याय हासनिमित्तं निगूढार्थत्वात् भवति सा नाली व्याजरूपा प्रणालिका ।' (ना० द० २ विवेक) ॥ १९ ॥

११. असत्प्रलाप –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'असत्प्रलाप' नामक वीथी के ग्यारहवें अङ्ग का निरूपण करते हैं –

असम्बद्धकथाप्रायः यथोत्तरः असत्प्रलापः इत्यन्वयः ॥

कारिकार्थ – असम्बद्धेति । 'प्रायः एक के पश्चात् दूसरी असम्बद्ध बात जहाँ कही जाती है, वहाँ 'असत्प्रलाप' वीथ्यङ्ग होता है ।'

वृत्त्यर्थ – नन्विति । प्रकृत में यह शङ्का होती है कि असम्बद्ध अर्थवाले वचन का प्रयोग होने पर तो असङ्गति नामक 'वाक्य–दोष' कहा गया है। (अतः रूपक में असत्प्रलाप का प्रयोग किया जाना उचित नहीं है।)

तन्नेति। उक्त शङ्का का उत्तर देते हुए धनिक कहते हैं कि इस प्रकार की शङ्का करना उचित नहीं है, क्योंकि स्वप्नावस्था में बड़बड़ाना, तथा मद, उन्माद एवं

मदोन्मादशैशवादीनामसम्बद्धप्रलापितैव विभावो यथा –

'अर्चिष्मन्ति विदार्य वक्त्रकुहराण्यासृक्कतो वासुके –
रङ्गुल्या विषकर्बुरान्गणयतः संस्पृश्य दन्ताङ्कुरान् ।
एकं त्रीणि नवाष्ट सप्त षडिति प्रध्वस्तसंख्याक्रमा
वाचः क्रौञ्चरिपोः शिशुत्वविकलाः श्रेयांसि पुष्णन्तु वः ।।'

यथा च –

'हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वया हृता ।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ।।' (विक्रमो० ४.३३)

यथा वा –

'भुक्ता हि मया गिरयः स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियत् ।
हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ।।'

शैशवजन्य असम्बद्ध प्रलाप तो विभाव होता है। {अर्थात् स्वप्नावस्था की बड़बडाहट, मदावस्था की वाचालता तथा शैशवावस्था की असम्बद्ध बातें तो रूपक में दोषास्पद नहीं होतीं, अपितु इन्हें देख–सुनकर तो सामाजिक गण आनन्द का ही अनुभव करते हैं।} जैसे – {प्रस्तुत श्लोक में **बालक कार्तिकेय** का शैशवावस्था का यह असम्बद्ध असत्प्रलाप} –

अर्चिष्मन्तीति। 'वासुकि नागराज के प्रकाशमान मुख छिद्रों को, ओष्ठ के कोने वाले भाग की ओर से, विदीर्ण कर, विषजन्य चितकबरे दाँतों के अङ्कुरों को अंगुली से स्पर्श कर एक, तीन, नौ, आठ, सात, छः इस प्रकार (क्रमहीनता से) गिनते हुए क्रौञ्च (नामक पर्वत) के शत्रु कार्तिकेय की संख्या के क्रम से रहित एवं बचपन के कारण असम्बद्ध बातें आपके कल्याण की अभिवृद्धि करें' ।।

यथेति। और जैसे {**'विक्रमोर्वशीय'** में उर्वशी के वियोग में **उन्मत्त पुरूरवा** का यह प्रलाप } –

हंसेति। 'हे हंस ! मुझे मेरी प्रिया को लौटा दो, उसकी चाल को तुमने हरण (चुरा) कर लिया है, क्योंकि जिस चोर के पास चोरी के सामान का एक अंश–भाग–भी मिलता है तो उस व्यक्ति को पूरा सामान वस्तु के मालिक को देना पड़ता है' ।

यथावेति। अथवा जैसे –

भुक्तेति। 'मैंने पर्वतों का भक्षण कर लिया है, मैंने अग्नि में स्नान कर लिया है, मैं आकाश को पीता हूँ, विष्णु, शङ्कर और ब्रह्मा मेरे पुत्र हैं। इसीलिए मैं नाच रहा हूँ ।' {उक्त कथन भी उन्मादावस्था में ही कहा गया है।}

परामर्श – असत्प्रलाप की विवेचना में आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि–यदि एक उत्तर को शब्दच्छल के द्वारा किसी मूढ़ जन के प्रति उसके हित में कहा जाता है और जो मूढ़ उत्तर को बिना समझे उसे अपने प्रियांश में लेता है और

अथ **व्याहार:** –

अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकरं वच: ॥ २० ॥

यथा **मालविकाग्निमित्रे** लास्यप्रयोगावसाने – '(मालविका निर्गन्तुमिच्छति) **विदूषक:** – मा दाव । उवएससुद्धा गमिस्ससि ।' ('मा तावत् । उपदेशशुद्धा गमिष्यसि') इत्युपक्रमे '**गणदास:** – (विदूषकं प्रति) आर्य उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षित:। **विदूषक:** – पढमं पच्चूसे बह्मणस्स पूआ भोदि । सा तए लङ्घिता।' (मालविका स्मयते)।' (प्रथमं प्रत्यूषे ब्राह्मणस्य पूजा भवति । सा तया लङ्घिता ।') इत्यादिना नायकस्य विश्रब्धनायिकादर्शनप्रयुक्तेन हास्यलोभकारिणा वचनेन **व्याहार:** ॥

हितकारी पक्ष की उपेक्षा करता है तो इस प्रकार उत्तरादि की शैली से प्राप्त तथ्य में से वह दो में से एक की ही सिद्धि होने के कारण आश्रय लेता है– वह **असत्प्रलाप है।**

इस प्रकार करने से जिसका फल होता है – 'प्रिय मधुर वाक्य होने से तात्कालिक कोप का न होना' किन्तु यथार्थ का कथन होने से ऐसे कथन से कालान्तर में कोप की सम्भावना रहती है –

॥ यदुत्तरं मूर्खं प्रति वस्तुतो हितमपि शब्दच्छलाद्यथा प्रियं तादृशं च मूर्खै: प्रियांशेन गृह्यते न तु हितांशेन। तथाभूतमङ्गीभूतं द्वयाश्रयणं च सिद्धत्वात्करोति। एवं हि तात्कालिक: कोपोऽपि रक्षितो भवति प्रियाभिधायित्वात् कालान्तरसम्भाव्यश्च यथार्थभिधायित्वात् ॥ (अभि०भा० १८।११९)

१२. **व्याहार** –

अथेति। अब ग्रन्थकार '**व्याहार**' नामक वीथी के बारहवे अंङ्ग का निरूपण करते हैं –

हास्यलोभकरम् अन्यार्थम् वच: एव व्याहार: **इत्यन्वय:** ॥ २० ॥

कारिकार्थ – अन्यार्थेति । जिस (वचन) का प्रयोजन कुछ और ही होता है, ऐसे हास्य के लोभ को उत्पन्न करने वाला वचन 'व्याहार' कहलाता है ॥ २०॥

{ अर्थात् हास्य की यह प्रक्रिया और बढ़े ऐसी अभिलाषा को रूपक के नायकादि पात्रों के मन में उत्पन्न करने वाला तथा अन्य किसी प्रयोजनवश कथित वचन 'व्याहार' नामक वीथ्यङ्ग होता है।}

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे '**मालविकाग्निमित्र**' में मालविका के द्वारा लास्य के प्रदर्शन किये जाने के पश्चात् वह जाना चाहती है । इस पर **विदूषक** कहता है –

विदूषक – अभी नहीं, उपदेश सुनकर शुद्ध होकर जाओ, इसी क्रम में – (यहाँ से प्रारम्भकर – गणदास और विदूषक के उत्तर–प्रत्युत्तर पर्यन्त 'व्याहार' वचन है।) **गणदास** – (विदूषक के प्रति) आर्य ! यदि आपने (इनके इस कार्य में) क्रम–भेद देखा हो तो कहिए । **विदूषक** – सर्वप्रथम प्रात:काल ब्राह्मण की पूजा का विधान है। उसी का इसने उल्लंघन किया है। (मालविका मुस्कराती है।)

इत्यादिनेति। यहाँ नायिका (मालविका) को विश्वस्त करके नायक को

अथ मृदवम् –

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत् ।

यथा शाकुन्तले –

'मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामुपलक्ष्यते विकृतिमच्चितं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ।।' (२.५)

इति मृगयादोषस्य गुणीकारः ।।

उसका दर्शन कराने के लिए प्रयुक्त वचन के द्वारा विदूषक ने उसका प्रयोग किया है, जो हास्यजनक है । इसलिए यहाँ **'व्याहार'** नामक वीथ्यङ्ग है ।। २० ।।

परामर्श – आचार्य अभिनवगुप्त ने भरतोक्त 'व्याहार' का विवेचन करते हुए कहा है कि – जहाँ भावी प्रत्यक्ष अर्थ में दैववशात् में जिसकी वृत्ति हो उसे 'व्याहार' कहते हैं। **'व्याहार'** अर्थात् जिसमें विविध अर्थ आहरणीय या अभिनेय होते हैं – ।। भाविनि प्रत्यक्षेऽर्थे दैववशाद् वृत्तिर्यस्य स व्याहारः विविधोऽर्थोऽभिनीयते येन ।। (अभि० भा० १८।१२५)

'व्याहार' की निरुक्ति इस प्रकार की जाती है – **'विविधोऽर्थ आह्रियतेऽनया (उक्तया) इति 'व्याहारः'** और इससे वीथ्यङ्ग का स्वरूप स्पष्ट होता है। अभिनवभारतीकार के अनुसार 'व्याहार' की निरुक्ति इस प्रकार की गई है – 'विविधोऽर्थोऽभिनीयते येन (स व्याहारः)' ।। २० ।।

१३. मृदव –

अथेति। 'मृदव' नामक तेरहवें वीथ्यङ्ग का प्रतिपादन करते हैं –

यत्र दोषाः गुणाः गुणाः दोषाः स्युः तत् मृदवम् **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – दोषा इति । जहाँ दोष के गुण एवं गुण को दोष रूप में प्रदर्शित किया जाय अथवा गुणदोष या दोष गुण का व्यत्यय हो वह 'मृदव' होता है ।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे – शाकुन्तल के इस पद्य में {राजा, सेनापति को 'मृगया' को दोषों और गुणों के रूप में बताता है} –

मेदच्छेदेति। '(मृगया शिकार खेलने से) शरीर, चर्बी के कम हो जाने के कारण पतले पेट वाला, हल्का या चुस्त और उद्योग करने योग्य हो जाता है। जन्तुओं का भी भय तथा क्रोध की अवस्था में मन क्षुब्ध अथवा विकार युक्त हो जाता है (देखा जाता है)। यह धनुर्धारियों के उत्कर्ष की बात है कि चंचल लक्ष्य पर उसके बाण सफल होते हैं। शिकार खेलने को व्यर्थ ही लोग 'व्यसन' कहते हैं। ऐसा मनोरंजन अन्यत्र कहाँ है ?' इस प्रकार यहाँ मृगया के दोषों का गुणरूप में वर्णन ही 'मृदव' है।

यथा च –

'सततमनिर्वृतमानसमायाससहस्रसङ्कुलक्लिष्टम् ।
गतनिद्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीषुरयम् ॥'

इति राज्यगुणस्य दोषीभावः ॥

उभयं वा –

'सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दुःखं सदा ।
अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः ॥'

इति प्रस्तावनाङ्गानि ॥

यथेति । अथवा जैसे उक्त पद्य में राज्य के गुणों को दोषों के रूप में वर्णित किया गया है –

सततमिति। 'विजय का अभिलाषी यह राजा अनेक कष्टों के साथ जी रहा है – इसका मन कभी शान्त या स्वस्थ (स्थिर) नहीं रहता, विविध क्लेश इसे त्रस्त करते हैं। इसे भली प्रकार से निद्रा भी नहीं आती तथा यह किसी पर विश्वास भी नहीं करता है।'

इतीति। इस प्रकार यहाँ प्रकृत में राज्य अर्थात् राजा के गुणों का दोष के रूप में वर्णन होने से मृदव है।

उभयमिति। दोष का गुण के रूप में और गुण का दोष के रूप में एक साथ वर्णन का उदाहरण अधोलिखित है –

सन्त इति। '(इस संसार में) प्रशंसार्ह कार्यों के करने में सदा अभ्यस्त सज्जन पुरुष, लोकनिन्दा के भय से यन्त्रणाग्रस्त और सदा क्लेश में रहते हैं। किन्तु उचित–अनुचित के विचार से शून्य हृदय वाले शुभ या अशुभ कर्मों से व्याकुल न होने वाले, प्राकृत जन धन्य – अर्थात् सुखी हैं ॥'

{यहाँ सज्जनता को अर्थात् गुणों को दोषों के रूप में बतलाया गया है। और मूर्खता को, जो दोष हैं, उन्हें गुणों के रूप में, वर्णित किया गया है।} इस प्रकार ये (उक्त) (१६) प्रस्तावना के अङ्ग हैं।}

परामर्श – आचार्य भरत ने 'मृदव' का और अधिक स्पष्ट रूप से कथन किया है – उनके अनुसार–यदि विवाद में किसी वैकल्पिक प्रकार से किसी के गुणों को दोष के रूप में तथा दोषों को गुण के रूप में हेतु पुरस्सर बतलाया जाए उसे 'मृदव' समझना चाहिए – ॥ यत्कारणाद्गुणानां दोषीकरणं भवेद्विवादकृतम् । दोषगुणीकरणं वा तन्मृदवं नाम विज्ञेयम् ॥ (ना० शा० १८।११९–१२०)

आचार्य अभिनव गुप्त ने 'मृदव' की व्युत्पत्ति देकर इसे और स्पष्ट किया है। उनके अनुसार 'मृदव' पद में 'मृत्' तथा 'अव' दो शब्द हैं जिनमें मृत् का अर्थ

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं चाक्षिप्य सूत्रभृत् ।। २१ ।।
प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत् ।

तत्र —

अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ।। २२ ।।
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ।। २३ ।।
तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

यत्रेतिवृत्ते सत्यवागविसम्वादकारिनीतिशास्त्रप्रसिद्धाभिगामिकादिगुणैर्युक्तो रामायणमहाभारतादिप्रसिद्धो धीरोदात्तो वा नायकस्तत्प्रख्यातमेवात्र नाटक आधिकारिकं

है मर्दन तथा **अव** का अर्थ है रक्षण । अतः जहाँ परपक्ष का उपमर्दन कर अपने पक्ष का रक्षण किया जाता हो तो वहाँ 'मृदव' होगा । — मृदवमिति मर्दनं मृत्परपक्षमर्दनेन स्वपक्षमवति रक्षातीति ।। (अभि० भा० १८।११९—१२०)

{अधुना ग्रंथकार आमुख के विवेचन का उपसंहार करते हैं} —

सूत्रभृत् एषाम् अन्यतमेन अर्थम् पात्रम् च आक्षिप्य प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्, ततः वस्तु प्रपञ्चयेत् **इत्यन्वयः** ।। २१—२२।।

कारिकार्थ — एषामिति । इस प्रकार सूत्रधार इन (प्ररोचना, वीथी, प्रहसन तथा आमुख आदि) में से किसी एक के द्वारा कथावस्तु अथवा पात्र की सूचना देकर प्रस्तावना के अन्त में (रङ्गमञ्च से) बाहर चला जाय तथा उसके पश्चात् नाटक की कथावस्तु के अभिनय का प्रपञ्च (अर्थात् अभिनय की तैयारी व प्रस्तुतीकरण) करे ।। २१—२२ ।।

तत्रेति । उस (नाटक) में — {इस तृतीय प्रकाश में नाटक के विषय में ही चर्चा चल रही है, अतः ग्रन्थकार नाटक के ही नायक तथा उससे सम्बन्धित कथा—वस्तु की विशेषता को बतलाते हुए कहते हैं —}

यत्र अभिगम्यगुणैः युक्तः धीरोदात्तः प्रतापवान् कीर्तिकामः महोत्साहः त्रय्याः त्राता महीपतिः प्रख्यातवंशः राजर्षिः वा दिव्यः नायकः अत्र आधिकारिकम् वृत्तम् तत् प्रख्यातम् विधातव्यम् **इत्यन्वयः** ।। २२—२४।।

कारिकार्थ — अभिगम्येति । जिस (कथावस्तु) में नायक प्रशंसार्ह उत्कृष्ट अभिगम्य — सेवनीय, या रमणीय गुणों से समन्वित, धीरोदात्त, प्रतापी, कीर्ति—यश— की अभिलाषा रखने वाला हो उत्साह सम्पन्न, वेदत्रयी का रक्षक, पृथ्वी का पालक, और प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न या तो कोई राजर्षि अथवा दिव्य (स्वर्गीय) पुरुष हो, ऐसे इतिहास— प्रसिद्ध (प्रख्यात) इतिवृत्त का, अधिकारिक कथावस्तु के रूप में विधान करना चाहिए ।। २२—२४ ।।

वृत्त्यर्थ — यत्रेति । जिस इतिवृत्त में सत्यवादी, वाणी और कर्म में साम्यता रखने वाला तथा नीतिशास्त्र में प्रसिद्ध (आदर्श) सेवनीय गुणों से सम्पन्न, रामायण महाभारत आदि {अर्थात् भागवतादि पुराण} में प्रसिद्ध धीरोदात्त राजर्षि अथवा दिव्य

वस्तु विधेयमिति ॥

यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ॥ २४ ॥
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।

यथा छद्मना बालिवधो मायुराजेनोदात्तराघवे परित्यक्तः । वीरचरिते तु रावणसौहृदेन बाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृतः ॥

आद्यन्तमेवं निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ॥ २५ ॥

पुरुष नायक होता है। उस इतिहास–प्रसिद्ध कथानक को ही यहाँ नाटक में प्रधान {अधिकारिक} कथावस्तु के रूप में रखना चाहिए ॥ २२–२४ ॥

परामर्श — जिस प्रकार **अभिज्ञान शाकुन्तल** का कथानक **महाभारत** में प्रसिद्ध है, उसका नायक दुष्यन्त **धीरोदात्त राजर्षि है** । भवभूति के **उत्तररामचरित** की कथावस्तु भी **रामायणादि** में प्रसिद्ध है, तथा नायक **धीरोदात्त राजर्षि है**, साथ ही मानवरूप में अवतार ग्रहण करने के कारण राम को **दिव्य** भी माना जा सकता है।

{अब ग्रन्थकार नाट्यकथा–वस्तु के उपादेय और हेय अंशों के विषय में निर्देश देते हुए कहते हैं –}

तत्र नायकस्य वा रसस्य यत्किञ्चित् अनुचितम् वा विरुद्धम् तत् परित्यज्यताम् वा अन्यथा प्रकल्पयेत् **इत्यन्वयः** ॥ २४–२५॥

कारिकार्थ — यत् तत्रेति। उस (प्रख्यात इतिवृत्त) में नायक (की प्रकृति अर्थात् धीरोदात्तता) के लिए जो अंश अनुचित हों अथवा (नाटकीय) रस के अनुरूप न हों (अर्थात् नाटक के लिए निर्धारित प्रमुख रस वीर या शृङ्गार आदि के विरुद्ध हों) उन्हें त्याग देना चाहिए; अथवा उनकी अन्यरूप में परिकल्पना करनी चाहिए ॥ २४–२५ ॥

वृत्त्यर्थ — यथेति । {जिससे नायक के चारित्रिक दोष का परिहार हो जाय और रस का वह प्रतिकूलत्व दूर हो जाय} जैसे **मायुराज** ने अपने **'उदात्तराघव'** नामक नाटक में (राम के द्वारा) छल से बालि वध करने का वृत्तान्त (नायक के चारित्रिक दोष को दूर करने के लिए) त्याग दिया है। **भवभूति** प्रणीत **(महा) वीर चरित** में रावण की मित्रतावश; बाली, राम के वध के लिए आता है, और राम उसका वध कर देते हैं, इस प्रकार उस घटना को कवि ने परिवर्तित कर दिया है। उक्त दोनों नाटकों में कथा को ही अन्यथा (परिवर्तित) करके वर्णित किया गया है।

{इसी प्रकार कालिदास ने अपने **'अभिज्ञान शाकुन्तल'** में नायक दुष्यन्त के चारित्रिक दोष (कामुकता) को दूर करने के लिए दुर्वासा के शाप की कल्पना की है} ॥ २४–२५ ॥

{अब ग्रन्थकार नाटकीय प्रधान कथा का विभाजन निरूपित करते हैं} —

एवम् आद्यन्तम् निश्चित्य तत् पञ्चधा विभज्य च तान् खण्डशः सन्धिसंज्ञान् विभागान् अपि खण्डयेत्, तानि अङ्गानि तु चतुःषष्टिः स्युः इत्यन्वयः ॥ २५–२६॥

कारिकार्थ — आद्यन्तमिति। (धनञ्जय कहते हैं कि) नाटककार को चाहिए कि

खण्डशः सन्धिसंज्ञांस्तान् विभागानपि खण्डयेत् ।
चतुःषष्टिस्तु तानि स्युरङ्गानीति —

अनौचित्यरसविरोधपरिहारपरिशुद्धीकृतसूचनीयदर्शनीयवस्तुविभागफलानुसारेणोपक्लृप्तबीजबिन्दुपताकाप्रकरीकार्यलक्षणार्थप्रकृतिकं पञ्चावस्थानुगुण्येन पञ्चधा विभजेत् । पुनरपि चैकैकस्य भागस्य द्वादश त्रयोदश चतुर्दशेत्येवमङ्गसंज्ञान् सन्धीनां विभागान्कुर्यात् ॥

— अपरं तथा ॥ २६ ॥
पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसन्धिभिः ।
अङ्गान्यत्र यथालाभमसन्धिं प्रकरीं न्यसेत् ॥ २७ ॥

उस प्रसिद्ध कथानक का आदि और अन्त कहाँ रहेगा इसका निश्चय करके उस (अधिकारिक) कथानक को पाँच (सन्धिनामक) भागों में विभक्त करके (पुनः) सन्धि नामक उन पाँच भागों को भी खण्डों (अर्थात् सन्ध्यङ्गों) में विभक्त करें। इस प्रकार उस आधिकारिक कथावस्तु के चौंसठ (६४) अङ्ग हो जाते हैं ॥ २५—२६ ॥

वृत्त्यर्थ — अनौचित्येति। नायक के अनौचित्य तथा (अङ्गी) रस विरोध का परिहार करने के पश्चात् नाटकीय कथावस्तु परिशुद्ध होने पर कवि, कथाभाग में सूच्य एवं दृश्य का विभाजन कर ले । {अर्थात् नाटकीय कथावस्तु में किन—किन बातों को रङ्गमञ्च पर दिखाना है, और किन—किन बातों को नहीं, अर्थात् किन—किन घटना क्रमों को विष्कम्भकादि के द्वारा सूचित करना है।} पश्चात् कथावस्तु में उसी के फल के अनुसार नाटककार **बीज, बिन्दु,** पताका, प्रकरी एवं कार्य नामक पाँच अर्थ प्रकृतियों की कल्पना करे; इस प्रकार उपक्लृप्त कथावस्तु को पाँच कार्यावस्थाओं — **आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा नियताप्ति, एवं फलागम** — के अनुरूप—मुखसन्धि, आदि पाँच खण्डों में विभक्त कर दें। पुनः एक—एक भाग के **बारह—तेरह—चौदह** 'अङ्ग—संज्ञक' विभाग सभी सन्धियों के कर ले। अर्थात् प्रथम प्रकाश में वर्णित सन्ध्यङ्ग की कल्पना के अनुसार मुख व गर्भ को बारह, प्रतिमुख व विमर्श को तेरह तथा निर्वहण सन्धि को चौदह अङ्गों में विभक्त कर दें ।

{इस प्रकार नाटकीय आधिकारिक इतिवृत्त के ६४ अङ्ग होते हैं} —

तथा अपरम्, पताकावृत्तम् अपि एकाद्यैः अनुसन्धिभिः ऊनम्, अत्र यथालाभम् अङ्गानि, प्रकरीम् असन्धिम् न्यसेत् इत्यन्वयः ॥ २६—२७॥

कारिकार्थ — अपरमिति । और दूसरे प्रकार के पताकानामक प्रासंगिक इतिवृत्त में (प्रधान इतिवृत्त की अपेक्षा) एक, दो आदि अनुसन्धियों की न्यूनता रखनी चाहिए । और इसमें यथावश्यकरूप से सन्ध्यङ्गों का समावेश करना चाहिए। किन्तु प्रकरी (प्रासङ्गिक कथा के भेद) में सन्धि निवेश नहीं होना चाहिए, अर्थात् इसे सन्धिरहित ही उपन्यस्त करना चाहिए ॥ २६—२७ ॥

अपरमपि प्रासङ्गिकमितिवृत्तमेकाद्यैरनुसन्धिभिर्न्यूनमिति प्रधानेतिवृत्तादेक– द्वित्रिचतुर्भिरनुसन्धिभिर्न्यूनं पताकेतिवृत्तं न्यसनीयम् । अङ्गानि च प्रधानाविरोधेन यथालाभं न्यसनीयानि । प्रकरीतिवृत्तं त्वपरिपूर्णसन्धि विधेयम् ॥

तत्रैवं विभक्ते –

आदौ विष्कम्भकं कुर्यादङ्कं वा कार्ययुक्तितः ।

इयमत्र कार्ययुक्तिः –

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ॥ २८ ॥
यदा सन्दर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा ।

वृत्त्यर्थ – अपरमिति । दूसरा (अर्थात् प्रधान इतिवृत्त की अपेक्षा) एक आदि अनुसन्धियों से न्यून होना चाहिए, अर्थात् प्रधान इतिवृत्त की अपेक्षा पताका नामक इतिवृत्त एक, दो, तीन, या चार अनुसन्धियों से न्यून (कम) होना चाहिए। उसमें उन्हीं अङ्गों का उपन्यास करना चाहिए जो स्वयं प्राप्त हों और जिनका प्रधान इतिवृत्त से विरोध न हो। (प्रासङ्गिक इतिवृत्त के दूसरे भेद) प्रकरी नामक इतिवृत्त तो सन्धि रहित (अपरिपूर्ण) ही होना चाहिए ॥ २६–२७ ॥

परामर्श – 'अनुसन्धि' – भरतमुनि ने कहा है कि पताका नामक इतिवृत्त की सन्धियाँ अधिकारिक इतिवृत्त का अनुसरण करती हैं, अतः उन्हें **'अनुसन्धि'** कहा जाता है । (ना० शा० १९।२८)॥ २६–२७ ॥

तत्रैवमिति । पूर्वोक्त प्रकार से नाटक के इतिवृत्त का विभाजन कर लेने के पश्चात् – (नाटकारम्भ की विधि को बताते हैं –)

आदौ कार्ययुक्तितः विष्कम्भकम् वा अङ्कम् कुर्यात् **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ – आदाविति । (कवि–नाटककार) नाटक के आरम्भ में नाटकीय–कार्य की प्रकृति, या कार्य के औचित्य (अथवा कार्य के समायोजन) के अनुसार विष्कम्भक अथवा अङ्क की योजना करे ।

इयमिति। इस सन्दर्भ में कार्य की युक्ति यह है कि –

अपेक्षितम् परित्यज्य शेषम् नीरसम् वस्तुविस्तरम् यदा सन्दर्शयेत् तदा विष्कम्भकम् कुर्यात् **इत्यन्वयः** ॥ २८–२९ ॥

कारिकार्थ – अपेक्षितमिति । अङ्क में प्रदर्शित होने योग्य–आवश्यक भाग को छोड़कर नाटकीय–इतिवृत्त का शेष नीरस भाग या वह भाग जो अङ्क में प्रदर्शित करने के लिए जो नाट्य शास्त्र द्वारा निषिद्ध है,–को यदि प्रदर्शित करना हो तो नाटक के आरम्भ में 'विष्कम्भक' का विधान करना चाहिए ॥ २८–२९ ॥

यदा तु मूलात् एव सरसं वस्तु प्रवर्तते तदा आदौ एव आमुखाक्षेपसंश्रयः अङ्कः स्यात् **इत्यन्वयः** ॥ २९–३०॥

कारिकार्थ – यदेति । किन्तु यदि कथावस्तु में आरम्भ से ही सरसता परिलक्षित

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥ २९ ॥
आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः ।

स च –

प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ॥ ३० ॥
अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः ।

रङ्गप्रवेशे साक्षान्निर्दिश्यमाननायकव्यापारो बिन्दूपक्षेपार्थपरिमितोऽनेकप्रयोजन–संविधानरसाधिकरण उत्सङ्ग इवाङ्कः ॥

होती हो तब आरम्भ में ही अङ्क का विधान करना चाहिए। तथा उस अङ्क का आधार आमुख (प्रस्तावना) में सूचित किये गये पात्र का प्रवेश होता है ॥ २९–३० ॥

परामर्श – जैसे **भवभूति** के **मालतीमाधव** के आरम्भ में नीरस वस्तु की सूचना देने के लिए **विष्कम्भक** की योजना की गई है। **शाकुन्तल** में आरम्भ से ही सरस कथावस्तु का समावेश है, अतः नाटक के आरम्भ में ही अङ्क की योजना है।

विष्कम्भक के मुख्यतः दो कार्य हैं – **प्रथम नाटकीय इतिवृत्त (कथा) को जोड़ने का आवश्यक सूत्ररूप कार्य, और द्वितीय है–नीरस वस्तु की सूचना देने का कार्य।** उदाहरणार्थ – **'रत्नावली'** नाटिका में यौगन्धरायण द्वारा प्रयुक्त **'विष्कम्भक'**। किन्तु सरस कथा वस्तु में विष्कम्भक की आवश्यकता नहीं पड़ती, इसमें आमुख (प्रस्तावना) के पश्चात् ही **'अङ्क'** प्रारम्भ हो जाता है। जैसे **शाकुन्तल** की कथा प्रारम्भ से ही सरस होने से आमुख के पश्चात् तुरंत **'अङ्क'** का प्रारम्भ हो गया है।

स इति। ग्रन्थकार **विष्कम्भक** व **अङ्क** के अन्तर को निर्दिष्ट करते हुए कहते है –

प्रत्यक्षनेतृचरितः बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः अङ्कः **इत्यन्वयः** ॥ ३०–३१ ॥

कारिकार्थ – प्रत्यक्षेति । अङ्क में रङ्गमञ्च पर नायक का चरित (या व्यवहार) प्रत्यक्षरूप से परिलक्षित होता है। क्योंकि वह स्वयं मञ्च पर उपस्थित रहता है और घटित होने वाली घटनाएँ उसके चरित्र से प्रत्यक्ष सम्बद्ध रहती है। अङ्क में बिन्दु नामक अर्थप्रकृति व्याप्त रहती है। साथ ही यह विविध प्रकार के नाटकीय प्रयोजन, उनके संविधान एवं रस का आश्रय होता है ॥ ३०–३१ ॥

वृत्त्यर्थ – रङ्गेति । (नाटकीय) पात्र के रङ्गमञ्च पर प्रवेश करने पर जहाँ प्रत्यक्ष रूप से नायक का व्यापार निर्दिष्ट किया जाता है, जो बिन्दु के उपक्षेपरूप अर्थ से परिमित होता है, जो– विविध प्रकार के प्रयोजन, संविधान और रसों का, गोद की तरह आधार होता है। उसे अङ्क कहा जाता है ॥ ३०–३१ ॥

परामर्श – 'अङ्क' नाटक का अवच्छेद अथवा अन्तर्विभाग है। जैसे श्रव्य काव्य का चिह्न उसका 'सर्ग' विभाग है, वैसे ही दृश्यकाव्य का चिह्न उसका अङ्क विभागरूप अध्याय है । इसमें सहृदय दर्शकों की दृष्टि नायक चरित का साक्षात्कार किया करती है । यह रस–भावों से आप्लावित रहता है 'अङ्क' का अभिप्राय गोद भी

तत्र च –

अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः ।। ३१ ।।
गृहीतमुक्तैः कर्तव्यमङ्गिनः परिपोषणम् ।

अङ्गिन इत्यङ्गिरसस्थायिनः संग्रहात्स्थायिनेति रसान्तरस्थायिनो ग्रहणम्। गृहीतमुक्तैः परस्परव्यतिकीर्णैरित्यर्थः ।।

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ।। ३२ ।।
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः ।

है। नाटक के एक–एक अवच्छेद रस–भावों के लालन–पालन के लिये गोद का कार्य करते हैं, इसलिये इसे 'अङ्क' भी कहा जाता है। **रसार्णवसुधाकरकार** ने इसीलिये कहा भी है – 'रसालङ्कारवस्तूनामुपलालनकांक्षिणाम् । जनकाङ्कवदाधार–भूतत्वादङ्क उच्यते ।।' (३।१९७) ।। ३०–३१ ।।

तत्र चेति। और उस अङ्क में नाटककार कवि को चाहिए कि – {इस प्रकार अङ्क व्यवस्था कर लेने के पश्चात्}

अनुभावविभावाभ्याम् गृहीतमुक्तैः व्यभिचारिभिः स्थायिना अङ्गिनः परिपोषणम् कर्तव्यम् **इत्यन्वयः** ।। ३१–३२।।

कारिकार्थ – अनुभावेति । अनुभाव, विभाव, (अन्य रसों के) स्थायीभाव एवं व्यभिचारी भावों का ग्रहण व त्याग करते हुए उनसे अङ्गी रस का परिपोषण करना चाहिए {अर्थात् वह नाटक के प्रधान रस (अङ्गीरस) को अनुभाव, विभाव तथा (अन्य रस के) स्थायीभाव एवं व्यभिचारीभावों के द्वारा पुष्ट करे। यहाँ ध्यातव्य यह है कि रस का यह परिपोषण कभी भावों को ग्रहण करते हुए और कभी अर्थात् परिपुष्ट हो जाने पर, उन्हें छोड़ते हुए करना चाहिए ।} ।। ३१–३२ ।।

वृत्त्यर्थ – अङ्गिन इति । मूल कारिका में प्रयुक्त – **'अङ्गिनः'** –इस पद से अङ्गी रस के साथ ही उसके स्थायीभाव का भी ग्रहण हो जाता है। अतः कारिकागत **'स्थायिना'** – इस पद से अन्य (प्रधान से इतर) रस के स्थायी भाव का भी ग्रहण होता है । **'गृहीत मुक्तैः'** – इस पद का तात्पर्य –परस्पर मिलने से बचाए गए, अर्थात् परस्पर अमिश्रित होने से है ।। ३१–३२।।

{अब ग्रन्थकार कथावस्तु एवं रस की उपस्थापन विधि के विषय में निर्देश देते हैं} –

अतिरसतः वस्तु दूरम् विच्छिन्नताम् न च नयेत् वा **वस्त्वलङ्कारलक्षणैः** रसं न तिरोदध्यात् **इत्यन्वयः** ।। ३२–३३।।

कारिकार्थ – नेति । वह नाटक में रस का प्रमाणाधिक परिपोष भी न करे जिससे कि कथावस्तु (प्रधान इतिवृत्त) ही विच्छिन्न हो जाय; और न वस्तु, अलङ्कार या नाट्कीय लक्षणों से रस–प्रवाह को ही अवरुद्ध किया जाए ।।

मदोन्मादशैशवादीनामसम्बद्धप्रलापितैव विभावो यथा –

'अर्चिष्मन्ति विदार्य वक्त्रकुहराण्यासृक्कतो वासुके –
रङ्गुल्या विषकर्बुरान्गणयतः संस्पृश्य दन्ताङ्कुरान् ।
एकं त्रीणि नवाष्ट सप्त षडिति प्रध्वस्तसंख्याक्रमा
वाचः क्रौञ्चरिपोः शिशुत्वविकलाः श्रेयांसि पुष्णन्तु वः ।।'

यथा च –

'हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वया हृता ।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ।।' (विक्रमो० ४.३३)

यथा वा –

'भुक्ता हि मया गिरयः स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियत् ।
हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ।।'

शैशवजन्य असम्बद्ध प्रलाप तो विभाव होता है। {अर्थात् स्वप्नावस्था की बड़बडाहट, मदावस्था की वाचालता तथा शैशवावस्था की असम्बद्ध बातें तो रूपक में दोषास्पद नहीं होतीं, अपितु इन्हें देख–सुनकर तो सामाजिक गण आनन्द का ही अनुभव करते हैं।} जैसे – {प्रस्तुत श्लोक में **बालक कार्तिकेय** का शैशवावस्था का यह असम्बद्ध असत्प्रलाप} –

अर्चिष्मन्तीति। 'वासुकि नागराज के प्रकाशमान मुख छिद्रों को, ओष्ठ के कोने वाले भाग की ओर से, विदीर्ण कर, विषजन्य चितकबरे दाँतों के अङ्कुरों को अंगुली से स्पर्श कर एक, तीन, नौ, आठ, सात, छः इस प्रकार (क्रमहीनता से) गिनते हुए क्रौञ्च (नामक पर्वत) के शत्रु कार्तिकेय की संख्या के क्रम से रहित एवं बचपन के कारण असम्बद्ध बातें आपके कल्याण की अभिवृद्धि करें' ।।

यथेति। और जैसे { **'विक्रमोर्वशीय'** में उर्वशी के वियोग में **उन्मत्त पुरूरवा** का यह प्रलाप } –

हंसेति। 'हे हंस ! मुझे मेरी प्रिया को लौटा दो, उसकी चाल को तुमने हरण (चुरा) कर लिया है, क्योंकि जिस चोर के पास चोरी के सामान का एक अंश–भाग–भी मिलता है तो उस व्यक्ति को पूरा सामान वस्तु के मालिक को देना पड़ता है' ।

यथावेति। अथवा जैसे –

भुक्तेति। 'मैंने पर्वतों का भक्षण कर लिया है, मैंने अग्नि में स्नान कर लिया है, मैं आकाश को पीता हूँ, विष्णु, शङ्कर और ब्रह्मा मेरे पुत्र हैं। इसीलिए मैं नाच रहा हूँ ।' {उक्त कथन भी उन्मादावस्था में ही कहा गया है।}

परामर्श – असत्प्रलाप की विवेचना में आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि–यदि एक उत्तर को शब्दच्छल के द्वारा किसी मूढ़ जन के प्रति उसके हित में कहा जाता है और जो मूढ़ उत्तर को बिना समझे उसे अपने प्रियांश में लेता है और

अथ **व्याहारः** –

अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकरं वचः ॥ २० ॥

यथा **मालविकाग्निमित्रे** लास्यप्रयोगावसाने – '(मालविका निर्गन्तुमिच्छति) **विदूषकः** – मा दाव । उवएससुद्धा गमिस्ससि ।' ('मा तावत् । उपदेशशुद्धा गमिष्यसि') इत्युपक्रमे '**गणदासः** – (विदूषकं प्रति) आर्य उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः। **विदूषकः** – पढमं पच्चूसे बह्मणस्स पूआ भोदि । सा तए लङ्घिता।' (मालविका स्मयते)।' (प्रथमं प्रत्यूषे ब्राह्मणस्य पूजा भवति । सा तया लङ्घिता ।') इत्यादिना नायकस्य विश्रब्धनायिकादर्शनप्रयुक्तेन हास्यलोभकारिणा वचनेन **व्याहारः** ॥

हितकारी पक्ष की उपेक्षा करता है तो इस प्रकार उत्तरादि की शैली से प्राप्त तथ्य में से वह दो में से एक की ही सिद्धि होने के कारण आश्रय लेता है– वह **असत्प्रलाप** है।

इस प्रकार करने से जिसका फल होता है – 'प्रिय मधुर वाक्य होने से तात्कालिक कोप का न होना' किन्तु यथार्थ का कथन होने से ऐसे कथन से कालान्तर में कोप की सम्भावना रहती है –

॥ यदुत्तरं मूर्खं प्रति वस्तुतो हितमपि शब्दच्छलाद्यथा प्रियं तादृशं च मूर्खैः प्रियांशेन गृह्यते न तु हितांशेन। तथाभूतमङ्गीभूतं द्वयाश्रयणं चं सिद्धत्त्वात्करोति। एवं हि तात्कालिकः कोपोऽपि रक्षितो भवति प्रियाभिधायित्वात् कालान्तरसम्भाव्यश्च यथार्थभिधायित्वात् ॥ (अभि०भा० १८।११९)

१२. **व्याहार** –

अथेति। अब ग्रन्थकार '**व्याहार**' नामक वीथी के बारहवे अंङ्ग का निरूपण करते हैं –

हास्यलोभकरम् अन्यार्थम् वचः एव व्याहारः **इत्यन्वयः** ॥ २० ॥

कारिकार्थ – अन्यार्थेति । जिस (वचन) का प्रयोजन कुछ और ही होता है, ऐसे हास्य के लोभ को उत्पन्न करने वाला वचन 'व्याहार' कहलाता है ॥ २०॥

{ अर्थात् हास्य की यह प्रक्रिया और बढ़े ऐसी अभिलाषा को रूपक के नायकादि पात्रों के मन में उत्पन्न करने वाला तथा अन्य किसी प्रयोजनवश कथित वचन 'व्याहार' नामक वीथ्यङ्ग होता है।}

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे 'मालविकाग्निमित्र' में मालविका के द्वारा लास्य के प्रदर्शन किये जाने के पश्चात् वह जाना चाहती है । इस पर **विदूषक** कहता है –

विदूषक – अभी नहीं, उपदेश सुनकर शुद्ध होकर जाओ, इसी क्रम में – (यहाँ से प्रारम्भकर – गणदास और विदूषक के उत्तर–प्रत्युत्तर पर्यन्त 'व्याहार' वचन है।) **गणदास** – (विदूषक के प्रति) आर्य ! यदि आपने (इनके इस कार्य में) क्रम–भेद देखा हो तो कहिए । **विदूषक** – सर्वप्रथम प्रातःकाल ब्राह्मण की पूजा का विधान है। उसी का इसने उल्लंघन किया है। (मालविका मुस्कराती है।)

इत्यादिनेति। यहाँ नायिका (मालविका) को विश्वस्त करके नायक को

अथ मृदवम् –

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत् ।

यथा शाकुन्तले –

'मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामुपलक्ष्यते विकृतिमच्चितं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥' (२.५)

इति मृगयादोषस्य गुणीकारः ॥

उसका दर्शन कराने के लिए प्रयुक्त वचन के द्वारा विदूषक ने उसका प्रयोग किया है, जो हास्यजनक है । इसलिए यहाँ 'व्याहार' नामक वीथ्यङ्ग है ॥ २० ॥

परामर्श – आचार्य अभिनवगुप्त ने भरतोक्त 'व्याहार' का विवेचन करते हुए कहा है कि – जहाँ भावी प्रत्यक्ष अर्थ में दैववशात् में जिसकी वृत्ति हो उसे 'व्याहार' कहते हैं। **'व्याहार'** अर्थात् जिसमें विविध अर्थ आहरणीय या अभिनेय होते हैं – ॥ भाविनि प्रत्यक्षेऽर्थे दैववशाद् वृत्तिर्यस्य स व्याहारः विविधोऽर्थोऽभिनीयते येन ॥ (अभि० भा० १८।१२५)

'व्याहार' की निरुक्ति इस प्रकार की जाती है – **'विविधोऽर्थ आह्रियतेऽनया (उक्तया) इति 'व्याहारः'** और इससे वीथ्यङ्ग का स्वरूप स्पष्ट होता है। अभिनवभारतीकार के अनुसार 'व्याहार' की निरुक्ति इस प्रकार की गई है – 'विविधोऽर्थोऽभिनीयते येन (स व्याहारः)' ॥ २० ॥

१३. मृदव –

अथेति। 'मृदव' नामक तेरहवें वीथ्यङ्ग का प्रतिपादन करते हैं –

यत्र दोषाः गुणाः गुणाः दोषाः स्युः तत् मृदवम् **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ – दोषा इति । जहाँ दोष के गुण एवं गुण को दोष रूप में प्रदर्शित किया जाय अथवा गुणदोष या दोष गुण का व्यत्यय हो वह 'मृदव' होता है ।

वृत्त्यर्थ – यथेति । जैसे – **शाकुन्तल** के इस पद्य में {राजा, सेनापति को 'मृगया' को दोषों और गुणों के रूप में बताता है} –

मेदच्छेदेति। '(मृगया शिकार खेलने से) शरीर, चर्बी के कम हो जाने के कारण पतले पेट वाला, हल्का या चुस्त और उद्योग करने योग्य हो जाता है। जन्तुओं का भी भय तथा क्रोध की अवस्था में मन क्षुब्ध अथवा विकार युक्त हो जाता है (देखा जाता है)। यह धनुर्धारियों के उत्कर्ष की बात है कि चंचल लक्ष्य पर उसके बाण सफल होते हैं। शिकार खेलने को व्यर्थ ही लोग 'व्यसन' कहते हैं। ऐसा मनोरंजन अन्यत्र कहाँ है ?' इस प्रकार यहाँ मृगया के दोषों का गुणरूप में वर्णन ही 'मृदव' है।

यथा च –

'सततमनिर्वृतमानसमायाससहस्रसङ्कुलक्लिष्टम् ।
गतनिद्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीषुरयम् ।।'

इति राज्यगुणस्य दोषीभावः ।।

उभयं वा –

'सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दुःखं सदा ।
अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः ।।'

इति प्रस्तावनाङ्गानि ।।

यथेति । अथवा जैसे उक्त पद्य में राज्य के गुणों को दोषों के रूप में वर्णित किया गया है –

सततमिति। 'विजय का अभिलाषी यह राजा अनेक कष्टों के साथ जी रहा है – इसका मन कभी शान्त या स्वस्थ (स्थिर) नहीं रहता, विविध क्लेश इसे त्रस्त करते हैं। इसे भली प्रकार से निद्रा भी नहीं आती तथा यह किसी पर विश्वास भी नहीं करता है।'

इतीति। इस प्रकार यहाँ प्रकृत में राज्य अर्थात् राजा के गुणों का दोष के रूप में वर्णन होने से मृदव है।

उभयमिति। दोष का गुण के रूप में और गुण का दोष के रूप में एक साथ वर्णन का उदाहरण अधोलिखित है –

सन्त इति। '(इस संसार में) प्रशंसार्ह कार्यों के करने में सदा अभ्यस्त सज्जन पुरुष, लोकनिन्दा के भय से यन्त्रणाग्रस्त और सदा क्लेश में रहते हैं। किन्तु उचित–अनुचित के विचार से शून्य हृदय वाले शुभ या अशुभ कर्मों से व्याकुल न होने वाले, प्राकृत जन धन्य – अर्थात् सुखी हैं ।।'

{यहाँ सज्जनता को अर्थात् गुणों को दोषों के रूप में बतलाया गया है। और मूर्खता को, जो दोष हैं, उन्हें गुणों के रूप में, वर्णित किया गया है।} इस प्रकार ये (उक्त) (१६) प्रस्तावना के अङ्ग हैं।}

परामर्श – आचार्य भरत ने **'मृदव'** का और अधिक स्पष्ट रूप से कथन किया है – उनके अनुसार–यदि विवाद में किसी वैकल्पिक प्रकार से किसी के गुणों को दोष के रूप में तथा दोषों को गुण के रूप में हेतु पुरस्सर बतलाया जाए उसे **'मृदव'** समझना चाहिए – ।। यत्कारणाद्गुणानां दोषीकरणं भवेद्विवादकृतम् । दोषगुणीकरणं वा तन्मृदवं नाम विज्ञेयम् ।। (ना० शा० १८।११९–१२०)

आचार्य अभिनव गुप्त ने **'मृदव'** की **व्युत्पत्ति** देकर इसे और स्पष्ट किया है। उनके अनुसार 'मृदव' पद में **'मृत्'** तथा **'अव'** दो शब्द हैं जिनमें मृत् का अर्थ

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं चाक्षिप्य सूत्रभृत् ॥ २१ ॥
प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत् ।

तत्र —

अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ॥ २२ ॥
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ॥ २३ ॥
तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

यत्रेतिवृत्ते सत्यवागविसम्वादकारिनीतिशास्त्रप्रसिद्धाभिगामिकादिगुणैर्युक्तो रामायणमहाभारतादिप्रसिद्धो धीरोदात्तो वा नायकस्तत्प्रख्यातमेवात्र नाटक आधिकारिकं

है मर्दन तथा **अव** का अर्थ है रक्षण । अतः जहाँ परपक्ष का उपमर्दन कर अपने पक्ष का रक्षण किया जाता हो तो वहाँ 'मृदव' होगा । — मृदवमिति मर्दनं मृत्परपक्षमर्दनेन स्वपक्षमवति रक्षातीति ॥ (अभि० भा० १८।११९–१२०)

{अधुना ग्रंथकार आमुख के विवेचन का उपसंहार करते हैं} —

सूत्रभृत् एषाम् अन्यतमेन अर्थम् पात्रम् च आक्षिप्य प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्, ततः वस्तु प्रपञ्चयेत् इत्यन्वयः ॥ २१–२२॥

कारिकार्थ — एषामिति । इस प्रकार सूत्रधार इन (प्ररोचना, वीथी, प्रहसन तथा आमुख आदि) में से किसी एक के द्वारा कथावस्तु अथवा पात्र की सूचना देकर प्रस्तावना के अन्त में (रङ्गमञ्च से) बाहर चला जाय तथा उसके पश्चात् नाटक की कथावस्तु के अभिनय का प्रपञ्च (अर्थात् अभिनय की तैयारी व प्रस्तुतीकरण) करे ॥ २१–२२ ॥

तत्रेति । उस (नाटक) में — {इस तृतीय प्रकाश में नाटक के विषय में ही चर्चा चल रही है, अतः ग्रन्थकार नाटक के ही नायक तथा उससे सम्बन्धित कथा–वस्तु की विशेषता को बतलाते हुए कहते हैं —}

यत्र अभिगम्यगुणैः युक्तः धीरोदात्तः प्रतापवान् कीर्तिकामः महोत्साहः त्रय्याः त्राता महीपतिः प्रख्यातवंशः राजर्षिः वा दिव्यः नायकः अत्र आधिकारिकम् वृत्तम् तत् प्रख्यातम् विधातव्यम् **इत्यन्वयः** ॥ २२–२४॥

कारिकार्थ — अभिगम्येति । जिस (कथावस्तु) में नायक प्रशंसार्ह उत्कृष्ट अभिगम्य — सेवनीय, या रमणीय गुणों से समन्वित, धीरोदात्त, प्रतापी, कीर्ति–यश– की अभिलाषा रखने वाला हो उत्साह सम्पन्न, वेदत्रयी का रक्षक, पृथ्वी का पालक, और प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न या तो कोई राजर्षि अथवा दिव्य (स्वर्गीय) पुरुष हो, ऐसे इतिहास– प्रसिद्ध (प्रख्यात) इतिवृत्त का, अधिकारिक कथावस्तु के रूप में विधान करना चाहिए ॥ २२–२४ ॥

वृत्त्यर्थ — यत्रेति । जिस इतिवृत्त में सत्यवादी, वाणी और कर्म में साम्यता रखने वाला तथा नीतिशास्त्र में प्रसिद्ध (आदर्श) सेवनीय गुणों से सम्पन्न, रामायण महाभारत आदि {अर्थात् भागवतादि पुराण} में प्रसिद्ध धीरोदात्त राजर्षि अथवा दिव्य

वस्तु विधेयमिति ॥

यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ॥ २४ ॥
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।

यथा छद्मना बालिवधो मायुराजेनोदात्तराघवे परित्यक्त: । वीरचरिते तु रावणसौहृदेन बाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृत: ॥

आद्यन्तमेवं निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ॥ २५ ॥

पुरुष नायक होता है। उस इतिहास–प्रसिद्ध कथानक को ही यहाँ नाटक में प्रधान {अधिकारिक} कथावस्तु के रूप में रखना चाहिए ॥ २२–२४ ॥

परामर्श — जिस प्रकार **अभिज्ञान शाकुन्तल** का कथानक **महाभारत** में प्रसिद्ध है, उसका नायक दुष्यन्त **धीरोदात्त राजर्षि** है । भवभूति के **उत्तररामचरित** की कथावस्तु भी **रामायणादि** में प्रसिद्ध है, तथा नायक **धीरोदात्त राजर्षि** है, साथ ही मानवरूप में अवतार ग्रहण करने के कारण राम को **दिव्य** भी माना जा सकता है।

{अब ग्रन्थकार नाट्यकथा–वस्तु के उपादेय और हेय अंशों के विषय में निर्देश देते हुए कहते हैं –}

तत्र नायकस्य वा रसस्य यत्किञ्चित् अनुचितम् वा विरुद्धम् तत् परित्यज्यताम् वा अन्यथा प्रकल्पयेत् **इत्यन्वय:** ॥ २४–२५॥

कारिकार्थ — यत् तत्रेति। उस (प्रख्यात इतिवृत्त) में नायक (की प्रकृति अर्थात् धीरोदात्तता) के लिए जो अंश अनुचित हों अथवा (नाटकीय) रस के अनुरूप न हों (अर्थात् नाटक के लिए निर्धारित प्रमुख रस वीर या शृङ्गार आदि के विरुद्ध हों) उन्हें त्याग देना चाहिए; अथवा उनकी अन्यरूप में परिकल्पना करनी चाहिए ॥ २४–२५ ॥

वृत्त्यर्थ — यथेति । {जिससे नायक के चारित्रिक दोष का परिहार हो जाय और रस का वह प्रतिकूलत्व दूर हो जाय} जैसे **मायुराज** ने अपने **'उदात्तराघव'** नामक नाटक में (राम के द्वारा) छल से बालि वध करने का वृत्तान्त (नायक के चारित्रिक दोष को दूर करने के लिए) त्याग दिया है। **भवभूति** प्रणीत **(महा) वीर चरित** में रावण की मित्रतावश; बाली, राम के वध के लिए आता है, और राम उसका वध कर देते हैं, इस प्रकार उस घटना को कवि ने परिवर्तित कर दिया है। उक्त दोनों नाटकों में कथा को ही अन्यथा (परिवर्तित) करके वर्णित किया गया है।

{इसी प्रकार कालिदास ने अपने **'अभिज्ञान शाकुन्तल'** में नायक दुष्यन्त के चारित्रिक दोष (कामुकता) को दूर करने के लिए दुर्वासा के शाप की कल्पना की है} ॥ २४–२५ ॥

{अब ग्रन्थकार नाटकीय प्रधान कथा का विभाजन निरूपित करते हैं} —

एवम् आद्यन्तम् निश्चित्य तत् पञ्चधा विभज्य च तान् खण्डश: सन्धिसंज्ञान् विभागान् अपि खण्डयेत्, तानि अङ्गानि तु चतु:षष्टि: स्यु: **इत्यन्वय:** ॥ २५–२६।

कारिकार्थ — आद्यन्तमिति। (धनञ्जय कहते हैं कि) नाटककार को चाहिए कि

खण्डशः सन्धिसंज्ञांस्तान् विभागानपि खण्डयेत् ।
चतुःषष्टिस्तु तानि स्युरङ्गानीति —

अनौचित्यरसविरोधपरिहारपरिशुद्धीकृतसूचनीयदर्शनीयवस्तुविभागफलानुसारेणोपक्लृप्तबीजबिन्दुपताकाप्रकरीकार्यलक्षणार्थप्रकृतिकं पञ्चावस्थानुगुण्येन पञ्चधा विभजेत् । पुनरपि चैकैकस्य भागस्य द्वादश त्रयोदश चतुर्दशेत्येवमङ्गसंज्ञान् सन्धीनां विभागान्कुर्यात् ॥

— अपरं तथा ॥ २६ ॥
पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसन्धिभिः ।
अङ्गान्यत्र यथालाभमसन्धिं प्रकरीं न्यसेत् ॥ २७ ॥

उस प्रसिद्ध कथानक का आदि और अन्त कहाँ रहेगा इसका निश्चय करके उस (अधिकारिक) कथानक को पाँच (सन्धिनामक) भागों में विभक्त करके (पुनः) सन्धि नामक उन पाँच भागों को भी खण्डों (अर्थात् सन्ध्यङ्गों) में विभक्त करें। इस प्रकार उस आधिकारिक कथावस्तु के चौंसठ (६४) अङ्ग हो जाते हैं ॥ २५—२६ ॥

वृत्त्यर्थ — अनौचित्येति। नायक के अनौचित्य तथा (अङ्गी) रस विरोध का परिहार करने के पश्चात् नाटकीय कथावस्तु परिशुद्ध होने पर कवि, कथाभाग में सूच्य एवं दृश्य का विभाजन कर ले । {अर्थात् नाटकीय कथावस्तु में किन—किन बातों को रङ्गमञ्च पर दिखाना है, और किन—किन बातों को नहीं, अर्थात् किन—किन घटना क्रमों को विष्कम्भकादि के द्वारा सूचित करना है।} पश्चात् कथावस्तु में उसी के फल के अनुसार नाटककार **बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी** एवं **कार्य** नामक पाँच अर्थ प्रकृतियों की कल्पना करे; इस प्रकार उपक्लृप्त कथावस्तु को पाँच कार्यावस्थाओं — **आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा नियताप्ति,** एवं फलागम — के अनुरूप—मुखसन्धि, आदि पाँच खण्डों में विभक्त कर दें। पुनः एक—एक भाग के **बारह—तेरह—चौदह** 'अङ्ग—संज्ञक' विभाग सभी सन्धियों के कर ले। अर्थात् प्रथम प्रकाश में वर्णित सन्ध्यङ्ग की कल्पना के अनुसार मुख व गर्भ को बारह, प्रतिमुख व विमर्श को तेरह तथा निर्वहण सन्धि को चौदह अङ्गों में विभक्त कर दें ।

{इस प्रकार नाटकीय आधिकारिक इतिवृत्त के ६४ अङ्ग होते हैं} —

तथा अपरम्, पताकावृत्तम् अपि एकाद्यैः अनुसन्धिभिः ऊनम्, अत्र यथालाभम् अङ्गानि, प्रकरीम् असन्धिम् न्यसेत् इत्यन्वयः ॥ २६—२७॥

कारिकार्थ — अपरमिति । और दूसरे प्रकार के पताकानामक प्रासंगिक इतिवृत्त में (प्रधान इतिवृत्त की अपेक्षा) एक, दो आदि अनुसन्धियों की न्यूनता रखनी चाहिए । और इसमें यथावश्यकरूप से सन्ध्यङ्गों का समावेस करना चाहिए। किन्तु प्रकरी (प्रासङ्गिक कथा के भेद) में सन्धि निवेश नहीं होना चाहिए, अर्थात् इसे सन्धिरहित ही उपन्यस्त करना चाहिए ॥ २६—२७ ॥

अपरमपि प्रासङ्गिकमितिवृत्तमेकाद्यैरनुसन्धिभिर्न्यूनमिति प्रधानेतिवृत्तादेक–द्वित्रिचतुर्भिरनुसन्धिभिर्न्यूनं पताकेतिवृत्तं न्यसनीयम् । अङ्गानि च प्रधानाविरोधेन यथालाभं न्यसनीयानि । प्रकरीतिवृत्तं त्वपरिपूर्णसन्धि विधेयम् ।।

तत्रैवं विभक्ते –

आदौ विष्कम्भकं कुर्यादङ्कं वा कार्ययुक्तितः ।

इयमत्र कार्ययुक्तिः –

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ।। २८ ।।
यदा सन्दर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा ।

वृत्त्यर्थ – अपरमिति । दूसरा (अर्थात् प्रधान इतिवृत्त की अपेक्षा) एक आदि अनुसन्धियों से न्यून होना चाहिए, अर्थात् प्रधान इतिवृत्त की अपेक्षा पताका नामक इतिवृत्त एक, दो, तीन, या चार अनुसन्धियों से न्यून (कम) होना चाहिए। उसमें उन्हीं अङ्गों का उपन्यास करना चाहिए जो स्वयं प्राप्त हों और जिनका प्रधान इतिवृत्त से विरोध न हो। (प्रासङ्गिक इतिवृत्त के दूसरे भेद) प्रकरी नामक इतिवृत्त तो सन्धि रहित (अपरिपूर्ण) ही होना चाहिए ।। २६–२७ ।।

परामर्श – 'अनुसन्धि' – भरतमुनि ने कहा है कि पताका नामक इतिवृत्त की सन्धियाँ अधिकारिक इतिवृत्त का अनुसरण करती हैं, अतः उन्हें **'अनुसन्धि'** कहा जाता है । (ना० शा० १९।२८)।। २६–२७ ।।

तत्रैवमिति । पूर्वोक्त प्रकार से नाटक के इतिवृत्त का विभाजन कर लेने के पश्चात् – (नाटकारम्भ की विधि को बताते हैं –)

आदौ कार्ययुक्तितः विष्कम्भकम् वा अङ्कम् कुर्यात् **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – आद्याविति । (कवि–नाटककार) नाटक के आरम्भ में नाटकीय–कार्य की प्रकृति, या कार्य के औचित्य (अथवा कार्य के समायोजन) के अनुसार विष्कम्भक अथवा अङ्क की योजना करे ।

इयमिति। इस सन्दर्भ में **कार्य की युक्ति** यह है कि –

अपेक्षितम् परित्यज्य शेषम् नीरसम् वस्तुविस्तरम् यदा सन्दर्शयेत् तदा विष्कम्भकम् कुर्यात् **इत्यन्वयः** ।। २८–२९ ।।

कारिकार्थ – अपेक्षितमिति । अङ्क में प्रदर्शित होने योग्य–आवश्यक भाग को छोड़कर नाटकीय–इतिवृत्त का शेष नीरस भाग या वह भाग जो अङ्क में प्रदर्शित करने के लिए जो नाट्य शास्त्र द्वारा निषिद्ध है,–को यदि प्रदर्शित करना हो तो नाटक के प्रारम्भ में 'विष्कम्भक' का विधान करना चाहिए ।। २८–२९ ।।

यदा तु मूलात् एव सरसं वस्तु प्रवर्तते तदा आदौ एव आमुखाक्षेपसंश्रयः अङ्कः स्यात् **इत्यन्वयः** ।। २९–३०।।

कारिकार्थ – यदेति । किन्तु यदि कथावस्तु में प्रारम्भ से ही सरसता परिलक्षित

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ।। २९ ।।
आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः ।

स च –

प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ।। ३० ।।
अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः ।

रङ्गप्रवेशे साक्षान्निर्दिश्यमाननायकव्यापारो बिन्दूपक्षेपार्थपरिमितोऽनेकप्रयोजन–संविधानरसाधिकरण उत्सङ्ग इवाङ्कः ।।

होती हो तब आरम्भ में ही अङ्क का विधान करना चाहिए। तथा उस अङ्क का आधार आमुख (प्रस्तावना) में सूचित किये गये पात्र का प्रवेश होता है ।। २९–३० ।।

परामर्श – जैसे **भवभूति** के **मालतीमाधव** के आरम्भ में नीरस वस्तु की सूचना देने के लिए **विष्कम्भक** की योजना की गई है। **शाकुन्तल** में आरम्भ से ही सरस कथावस्तु का समावेश है, अतः नाटक के आरम्भ में ही अङ्क की योजना है।

विष्कम्भक के मुख्यतः दो कार्य हैं – **प्रथम नाटकीय इतिवृत्त (कथा) को जोड़ने का आवश्यक सूत्ररूप कार्य, और द्वितीय है–नीरस वस्तु की सूचना देने का कार्य।** उदाहरणार्थ – **'रत्नावली'** नाटिका में यौगन्धरायण द्वारा प्रयुक्त **'विष्कम्भक'**। किन्तु सरस कथा वस्तु में विष्कम्भक की आवश्यकता नहीं पड़ती, इसमें आमुख (प्रस्तावना) के पश्चात् ही **'अङ्क'** प्रारम्भ हो जाता है। जैसे **शाकुन्तल** की कथा प्रारम्भ से ही सरस होने से आमुख के पश्चात् तुरंत **'अङ्क'** का प्रारम्भ हो गया है।

स इति। ग्रन्थकार **विष्कम्भक** व **अङ्क** के अन्तर को निर्दिष्ट करते हुए कहते है –

प्रत्यक्षनेतृचरितः बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः अङ्कः **इत्यन्वयः** ।। ३०–३१ ।।

कारिकार्थ – प्रत्यक्षेति । अङ्क में रङ्गमञ्च पर नायक का चरित (या व्यवहार) प्रत्यक्षरूप से परिलक्षित होता है। क्योंकि वह स्वयं मञ्च पर उपस्थित रहता है और घटित होने वाली घटनाएँ उसके चरित्र से प्रत्यक्ष सम्बद्ध रहती है। अङ्क में बिन्दु नामक अर्थप्रकृति व्याप्त रहती है। साथ ही यह विविध प्रकार के नाटकीय प्रयोजन, उनके संविधान एवं रस का आश्रय होता है ।। ३०–३१ ।।

वृत्त्यर्थ – रङ्गेति । (नाटकीय) पात्र के रङ्गमञ्च पर प्रवेश करने पर जहाँ प्रत्यक्ष रूप से नायक का व्यापार निर्दिष्ट किया जाता है, जो बिन्दु के उपक्षेपरूप अर्थ से परिमित होता है, जो– विविध प्रकार के प्रयोजन, संविधान और रसों का, गोद की तरह आधार होता है। उसे अङ्क कहा जाता है ।। ३०–३१ ।।

परामर्श – 'अङ्क' नाटक का अवच्छेद अथवा अन्तर्विभाग है। **जैसे श्रव्य काव्य का चिह्न उसका 'सर्ग' विभाग है, वैसे ही दृश्यकाव्य का चिह्न उसका अङ्क विभागरूप अध्याय है । इसमें सहृदय दर्शकों की दृष्टि नायक चरित का साक्षात्कार किया करती है । यह रस–भावों से आप्लावित रहता है 'अङ्क' का अभिप्राय गोद भी**

तत्र च –

अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभि: ।। ३१ ।।
गृहीतमुक्तै: कर्तव्यमङ्गिन: परिपोषणम् ।

अङ्गिन इत्यङ्गिरसस्थायिन: संग्रहात्स्थायिनेति रसान्तरस्थायिनो ग्रहणम्। गृहीतमुक्तै: परस्परव्यतिकीर्णैरित्यर्थ: ।।

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ।। ३२ ।।
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणै: ।

है। नाटक के एक–एक अवच्छेद रस–भावों के लालन–पालन के लिये गोद का कार्य करते हैं, इसलिये इसे **'अङ्क'** भी कहा जाता है। **रसार्णवसुधाकरकार** ने इसीलिये कहा भी है – 'रसालङ्कारवस्तूनामुपलालनकांक्षिणाम् । जनकाङ्कवदाधार–भूतत्वादङ्क उच्यते ।।' (३।१९७) ।। ३०–३१ ।।

तत्र चेति। और उस अङ्क में नाटककार कवि को चाहिए कि – {इस प्रकार अङ्क व्यवस्था कर लेने के पश्चात्}

अनुभावविभावाभ्याम् गृहीतमुक्तै: व्यभिचारिभि: स्थायिना अङ्गिन: परिपोषणम् कर्तव्यम् **इत्यन्वय:** ।। ३१–३२।।

कारिकार्थ – अनुभावेति । अनुभाव, विभाव, (अन्य रसों के) स्थायीभाव एवं व्यभिचारी भावों का ग्रहण व त्याग करते हुए उनसे अङ्गी रस का परिपोषण करना चाहिए {अर्थात् वह नाटक के प्रधान रस (अङ्गीरस) को अनुभाव, विभाव तथा (अन्य रस के) स्थायीभाव एवं व्यभिचारीभावों के द्वारा पुष्ट करे। यहाँ ध्यातव्य यह है कि रस का यह परिपोषण कभी भावों को ग्रहण करते हुए और कभी अर्थात् परिपुष्ट हो जाने पर, उन्हें छोड़ते हुए करना चाहिए ।} ।। ३१–३२ ।।

वृत्त्यर्थ – अङ्गिन इति । मूल कारिका में प्रयुक्त – **'अङ्गिन:'** –इस पद से अङ्गी रस के साथ ही उसके स्थायीभाव का भी ग्रहण हो जाता है। अत: कारिकागत **'स्थायिना'** – इस पद से अन्य (प्रधान से इतर) रस के स्थायी भाव का भी ग्रहण होता हैं । **'गृहीत मुक्तै:'** – इस पद का तात्पर्य –परस्पर मिलने से बचाए गए, अर्थात् परस्पर अमिश्रित होने से है ।। ३१–३२।।

{अब ग्रन्थकार कथावस्तु एवं रस की उपस्थापन विधि के विषय में निर्देश देते हैं} –

अतिरसत: वस्तु दूरम् विच्छिन्नताम् न च नयेत् वा वस्त्वलङ्कारलक्षणै: रसं न तिरोदध्यात् **इत्यन्वय:** ।। ३२–३३।।

कारिकार्थ – नेति । वह नाटक में रस का प्रमाणाधिक परिपोष भी न करे जिससे कि कथावस्तु (प्रधान इतिवृत्त) ही विच्छिन्न हो जाय; और न वस्तु, अलङ्कार या नाट्कीय लक्षणों से रस–प्रवाह को ही अवरुद्ध किया जाए ।।

नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च ।

अधिकृतनायकवधं प्रवेशकादिनापि न सूचयेत् । आवश्यकं तु देवपितृकार्याद्यवश्यमेव क्वचित्कुर्यात् ॥

॥ किंच यत्र प्रत्यापत्तिशून्यं मरणं तत्प्रक्रियाविलोपकत्वान्न प्रयोज्यम्। यत्तु क्वचित् प्रत्यापत्तिः यथा जीमुतवाहनस्य तदेव क्षणमात्रानिश्चितचेष्टात्मकं प्रयोज्य मेवेति। (अभि० भा० १८।३८) अतएव इस प्रकार की मृत्यु को रंगमंच पर प्रदर्शित करने के लिए मृत्यु के अनुभावों का ज्ञान परमावश्यक है ॥

यहाँ उल्लेखनीय यह है कि **पाश्चात्य नाट्यशास्त्रविद्**, मञ्च पर **वध, युद्ध, संरोध** आदि के दृश्यों को प्रदर्शित करना अनुचित नहीं समझते, अपितु त्रासद (Tragedy) नाटकों में तो वे इन दृश्यों को मंच पर अवश्य प्रदर्शित करते हैं। तथापि वस्तुतः वह प्रदर्शन अत्यन्त अनुचित है ॥ ३४—३५॥

{प्रवेशक आदि के द्वारा दी जाने वाली सूचना में कुछ विशेष बातों का उल्लेख करते हैं} —

अधिकारिवधम् क्वापि न, आवश्यकम् च न त्याज्यम् **इत्यन्वयः** ॥ ३६॥

कारिकार्थ — नाधिकेति । अधिकारी नायक — जिस पर अधिकारिक वृत्त अवलम्बित रहता है, उसके वध की सूचना (नाटक में) कहीं भी नहीं दी जानी चाहिए, तथा आवश्यक वस्तु का परित्याग भी नहीं करना चाहिए ॥

वृत्त्यर्थ — अधिकृतेति । अधिकारी (प्रधान) नायक (अथवा नायिका) के वध की सूचना प्रवेशक आदि के द्वारा भी नहीं देना चाहिए और यदि आवश्यक हो, जैसे — देव—पितृ—कार्य आदि का निर्देश अवश्य ही (नाटक में) कहीं न कहीं कर देना चाहिए ॥

परामर्श — उपर्युक्त नियम — अधिकारी नायक का वध—केवल नायक के वध का निषेध करता है, अतएव भासकृत **प्रतिमा नाटक** में दशरथ का मञ्च पर मरण दिखलाया जाना या '**ऊरुभङ्गम्**' में दुर्योधन का मंच पर वध दिखलाना नाटकीय नियम के प्रतिकूल नहीं है। इस तथ्य को **विश्वनाथ** ने स्पष्टतः हृदयङ्गम् न करते हुए मंच पर सामान्यतः सभी पात्रों के मरण का निषेध समझलिया तथा इसी को आधार मानकर **श्री ए० बी० कीथ** ने भी अपने ग्रन्थ Sanskrit Drama (p.293) में लिख दिया है — कि संस्कृत नाटक में वध के दृश्य निषिद्ध हैं परन्तु यह सभी **भरतोक्त** (ना० शा०२०।२२—२३) नियमों को देखने से स्वतः निरस्त हो जाते हैं ।

रूपकों के प्रधान नायक की मृत्यु का प्रदर्शन किसी भी रूप में एवं किसी भी दशा में सर्वथा निषिद्ध है। इस कारण उसकी मृत्यु का प्रदर्शन न तो रङ्गमञ्च पर ही कर सकते हैं और न रूपक के सूच्यांश दृश्यों से ही उसको सूचित कर सकते हैं

॥ प्रकरणे नाटके नायकस्य प्रत्यक्षेण वा वर्णनया वा न मरणं वर्णनीयम्। अङ्क इति प्रत्यक्षेण प्रवेशक इति वर्णनया ॥ (अभि० भा० १८।३९)

एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम् ॥ ३६ ॥
पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ।

एकदिवसप्रवृत्तैकप्रयोजनसम्बद्धमासन्ननायकमबहुपात्रप्रवेशमङ्कं कुर्यात् । तेषां पात्राणामवश्यमङ्कस्यान्ते निर्गमः कार्यः ॥

शारदातनय के अनुसार नायक के वध की सूचना दृश्य या सूच्य वस्तु के अन्तर्गत आ सकती है, जब कि मृत पुरुष या स्त्री पुनः जीवित हो उठें ।
(भा० प्र० ८।१०५)

नाट्यदर्पणकार के अनुसार विशेष फल की अपेक्षा से **प्रधान–नायक** का भी बन्धन–पलायन व सन्धि आदि दिखलाया जा सकता है – जैसे – **वासवदत्ता** के नृत्य के अवसर पर उज्जयिनी में **वत्सराज** का ग्रहण–बन्धन उसके राज्यलाभादि–विशिष्ट फल के लिए है। इसी प्रकार पलायन के विषय में भी है । (ना० द० १।२१)

अङ्कों में प्रदर्शनीयवस्तु और पात्र – {ग्रन्थकार **अङ्क के विभाजन**, उसकी वस्तु की **समय सीमा** तथा **पात्र–संख्या** का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि} –

इत्थम् एकाहाचरितैकार्थम् आसन्ननायकम् त्रिचतुरैः पात्रैः (युक्तम्) अङ्कम् (कुर्यात्) अन्ते तेषाम् निर्गमः च **इत्यन्वयः** ॥ ३६–३७॥

कारिकार्थ – एकाहेति। (नाटककार को चाहिए कि वह) नाट्य वस्तु को इस प्रकार समायोजित करे कि एक अंक में एक प्रयोजन से सम्बन्धित एक दिन का ही (चरित से सम्बद्ध) कार्य वर्णित हो। साथ ही कथा–नायक भी अङ्क में उपस्थित रहे। इसके अतिरिक्त तीन या चार पात्र ही इसमें प्रविष्ट हों, तथा इन पात्रों का अंक की समाप्ति पर (रङ्गमञ्च से) निर्गमन वर्णित हो ॥ ३६–३७ ॥

वृत्त्यर्थ – एकदिवसेति । अङ्क को एक दिन में समाप्त होने वाले एक प्रयोजन से युक्त होना चाहिए, साथ ही वह आसन्न नायक (नायक की उपस्थिति से समन्वित) होकर उसे बहुत से पात्रों के प्रवेश से रहित होना चाहिए । अङ्क की समाप्ति पर उसमें अङ्क के सभी पात्रों का रङ्गमञ्च से बहिर्गमन वर्णित होना चाहिए ॥ ३६–३७॥

परामर्श – एकान्विति – कथावस्तु का आधारभूत गुण है **एकान्विति**। अर्थात् – **कार्य का ऐक्य** । इस एकान्विति का प्रतिपादन भारतीय नाट्यशास्त्र में पंचसंधियों तथा पंच अवस्थाओं के विवेचन द्वारा किया गया है। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के **आचार्य अरस्तू** ने नाटकों के लिए **'अन्विति–त्रय'** (Three Unities) की आवश्यकता मानी है। भारतीय नाट्यशास्त्र में अङ्क में एक ही दिन की घटना का, तथा एक ही प्रयोजन का सन्निवेश, क्रमशः **कालान्विति** (Unity of Time) तथा **कार्यान्विति** (Unity of Action) की ओर संकेत करता है। साथ ही भारतीय नाटकों के अङ्कों की एक दृश्यता (अर्थात् दृश्यों में विभाजन का अभाव, दृश्यों की अविभक्तता) **स्थलान्विति** (Unity of Place) में ही सन्निहित है ॥ ३६–३७ ॥

पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत् ।। ३७ ।।
एवमङ्काः प्रकर्तव्याः प्रवेशादिपुरस्कृताः ।
पञ्चाङ्कमेतदवरं दशाङ्कं नाटकं परम् ।। ३८ ।।

इत्युक्त नाटकलक्षणम् ।।

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम् ।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ।। ३९ ।।

अत्र पताकास्थानकानि, बिन्दुः, अन्ते च बीजवत् एवम् प्रवेशादिपुरस्कृताः अङ्काः कर्त्तव्या । एतत् नाटकम् पञ्चाङ्ककम् अवरम् दशाङ्ककम् परम् **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ — पताकेति । इस (अङ्क) में भावी भावों के सूचकों—पताकास्थानकों का भी यथोचित स्थान पर सन्निवेश किया जाना चाहिए। साथ ही बीज के ही सदृश अंक के अन्त में बिन्दु को भी रखा जाना चाहिए। इस प्रकार पात्रों का प्रवेश आदि कराते हुए अंकों का समुचित समायोजन करना चाहिए।। नाटक के अंकों की संख्या पाँच अंकों या दस अंकों की होती है। पांच अंकों का नाटक निम्न कोटि का होता है, तथा दस अंकों का श्रेष्ठ। इस प्रकार नाटक के लक्षणों का निरूपण समाप्त हुआ ।। ३७—३८।।

परामर्श — नाटकों को देखने पर पाँच से लेकर चौदह अंकों वाले संस्कृत नाटक उपलब्ध होते हैं । १. सामान्यतः संस्कृत नाटक सात अंकों के हैं — यथा **अभिज्ञान शाकुन्तल, उत्तररामचरित, मुद्राराक्षस, वेणीसंहार** नाटक छः अंकों का ही है। **विक्रमोर्वशीय** पांच अंकों का और **हनुमन्नाटक** चौदह अंकों का है। २. कुछ आचार्यों ने **'तोटक'** या (त्रोटक) नामक नाटक के विशिष्ट प्रकार का भी उल्लेख किया है — जैसा कि **अश्मकुट्ट** नामक आचार्य ने कहा है — 'तोटक में दिव्य और मानव पात्रों का मिश्रण होता है तथा हर अङ्क में विदूषक नामक पात्र विद्यमान रहता है।' **नखकुट्ट** आचार्य का मत है कि — 'दिव्य और मानव पात्रों का मिश्रण या संयोग रहना ही **'त्रोटक'** है, क्योंकि इसके अतिरिक्त इसका सारा स्वरूप नाटक के समान ही होता है। **बादरायण** आचार्य का भी यही मत है। (ना०ल०रु०वो० पृ० २६२) ।। ३७—३८।।

२. प्रकरण —

{अब ग्रन्थकार प्रकरण नामक रूपक के द्वितीय भेद का निरूपण करते हैं} —

अथ, प्रकरणे उत्पाद्यम् लोकसंश्रयम् वृत्तम्, अमात्यविप्रवणिजाम् एकम् धीरप्रशान्तम् सापायम् धर्मार्थकामतत्परम् नायकम् च शेषम् सन्धिप्रवेशकरसादिकम् नाटकवत् कुर्यात् **इत्यन्वयः** ।। ३९—४०।।

कारिकार्थ — अथेति । 'प्रकरण' का इतिवृत्त (कथानक ऐतिहासिक न होकर) कविकल्पना से निर्मित एवं सर्वसाधारणजन के जीवन पर आधारित (लोकसंश्रय) होना चाहिए । इसका नायक मन्त्री, ब्राह्मण या वणिक् में से कोई एक होता है । वह 'धीरप्रशान्त' कोटि का होता है; जो विघ्न—बाधाओं से संघर्ष करते हुए धर्म, अर्थ और

धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम् ।
शेषं नाटकवत्सन्धिप्रवेशकरसादिकम् ।। ४० ।।

कविबुद्धिविरचितमितिवृत्तं लोकसंश्रयम् अनुदात्तम् अमात्याद्यन्यतमं धीर–प्रशान्तनायकं विपदन्तरितार्थसिद्धिं कुर्यात् । प्रकरणे, मन्त्री अमात्य एव । सार्थवाहो वणिग्विशेष एवेति । स्पष्टमन्यत् ।।

नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा ।
क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ।। ४१ ।।

काम की सिद्धि के लिए सदा तत्पर रहता है। इस प्रकरण में सन्धि, प्रवेशक तथा रसादि का सन्निवेश, नाटक के समान ही होता है ।। ३९–४० ।।

वृत्त्यर्थ – कवीति । प्रकरण का इतिवृत्त **कवि–बुद्धि विरचित** (अर्थात् कपोल कल्पित) एवं लोकाश्रयी (अर्थात् सामान्य जन–जीवन की घटनाओं पर आधारित, अनुदात्त,) होता है। **मन्त्री आदि** में से कोई एक इसका नायक होता है। जो **धीरप्रशान्त** कोटि का होता है, तथा उसकी कार्यसिद्धि **विघ्न–बाधाओं** से अन्तर्हित (युक्त) होती है । मन्त्री ही **अमात्य** होता है । एक विशेष प्रकार का वणिक् ही **'सार्थवाह'** होता है। कारिका का शेष अंश स्पष्ट ही है ।। ३९–४० ।।

परामर्श – मृच्छकटिक प्रकरण का इतिवृत्त **कविबुद्धिकल्पित** है तथा लोक जीवन पर आधारित (लोक संश्रय – अनुदात्त) है। इसका नायक **चारुदत्त** ब्राह्मण है और **धीरप्रशान्त** कोटि का है। इसका रस **शृङ्गार** है। दूसरा प्रकरण **मालतीमाधव** है। इसकी कथा भी कल्पित है। इसका **नाययक** अमात्य है। **'पुष्पभूषित'** नामक प्रकरण का **नायक** वैश्य है। इनमें नायकों की कार्यसिद्धि विघ्न–बाधाओं से युक्त है। **मृच्छकटिक** में शकार की दुष्टता के कारण और दूसरे **मालतीमाधव** में मालती के पिता के वैर तथा नियति–चक्र की क्रूरता–के कारण, जिसमें मालती, अघोरघण्ट–कापालिक के फँदें में फँस जाती है।}

भरत के अनुसार प्रकरण का लक्षण इस प्रकार है – विप्रवणिक्सचिवानां पुरोहितामात्यसार्थवाहानाम् । चरितं **यन्नैकविधं** ज्ञेयं तत्प्रकरणं नाम ।। (ना० शा० १८।४८) **शारदातनय** ने भी इसी प्रकार लक्षण निरूपित किया है ।। ३९–४० ।।

प्रकरण की नायिका –

{प्रकरण का इतिवृत्त और उसके नायक के विषय में बतलाने के पश्चात् अब ग्रन्थकार प्रकरण की नायिका के विषय में बताते हैं} –

नेतुः नायिका तु कुलस्त्री तथा गणिका द्विधा, क्वचित् कुलजा एका एव, क्वापि वेश्या क्वचित् द्वयम् कुलजा अभ्यन्तरा वेश्या बाह्या अनयोः न अतिक्रमः, आभिः प्रकरणं त्रेधा, धूर्तसङ्कुलम् संकीर्णम् इत्यन्वयः ।। ४१–४२ ।।

कारिकार्थ – नायिकेति। प्रकरण में नायक की नायिका दो प्रकार की होती है– १. कुलस्त्री (विवाहिता) और २. वेश्या । किसी प्रकरण में एक कुलजा (कुलीन परिवार

कुलजाभ्यन्तरा, बाह्या वेश्या, नातिक्रमोऽनयोः ।
आभिः प्रकरणं त्रेधा, सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ॥ ४२ ॥

वेशो भृतिः सोऽस्या जीवनमिति वेश्या । तद्विशेषो गणिका । यदुक्तम् –

'आभिरभ्यर्थिता वेश्या रूपशीलगुणान्विता ।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि ॥' (का० सू० १.३.१७)

एवं च कुलजा वेश्या उभयमिति त्रेधा प्रकरणे नायिका । यथा वेश्यैव

में उत्पन्न) स्त्री ही नायिका होती है । किसी—किसी प्रकरण में केवल वेश्या ही नायिका होती है, और किसी प्रकरण में दोनों (अर्थात् कुलजास्त्री और वेश्या) भी नायिका होती हैं । इन दोनों नायिकाओं में कुलस्त्री आभ्यन्तर (घर के भीतर ही रहने वाली) नायिका होती है, और वेश्या (गणिका) बाहरी (अर्थात् घर के बाहर ही रहनेवाली) नायिका । इस प्रकार प्रकरण की नायिका या तो कुलस्त्री या गणिका या दोनों ही होंगी । कवि को इस नियम का व्यतिक्रम (उल्लंघन) नहीं करना चाहिए । अर्थात् आभ्यन्तर विवाहिता पत्नी की तरह कुलस्त्री का और वेश्या का बाह्य रूप से ही वर्णन करना चाहिए । इस प्रकार उक्त तीन प्रकार की नायिकाओं के कारण प्रकरण तीन प्रकार का होता है । १. कुलजा—नायिका युक्त, २. वेश्या—नायिका युक्त और ३. दोनों प्रकार (कुलजा और वेश्या) की नायिकाओं से युक्त । उपर्युक्त तीन प्रकारों में संकीर्ण (कुलजा एवं वेश्या—दोनों प्रकार की नायिकाओं वाला) प्रकरण धूर्त पात्रों (जुआरी विट आदि) से सङ्कुल अर्थात् व्याप्त होता है ॥ ४१—४२ ॥

{वेश्या शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए वृत्तिकार धनिक कहते हैं कि} –

वृत्त्यर्थ – वेश इति । 'वेशः' – भृतिः, सोऽस्या जीवनमितिवेश्या। तद्विशेषो गणिका । अर्थात् वेश के द्वारा 'भृतिः' जो अपना जीविकोपार्जन करती है, तद्द्वारा अपना पालन—पोषण करती है। दूसरे शब्दों में वेश ही जिसका जीवन है, वह वेश्या है। गणिका उस वेश्या का ही एक भेद है। **कामसूत्रकार वात्स्यायन** ने भी कहा है –

आभिरिति। गुण, शील और रूप सम्पन्न वेश्या (कामसूत्रोक्त) इन कलाओं के द्वारा उत्कर्ष प्राप्त कर **'गणिका'** का पद प्राप्त करती है और जनसमाज में आदरणीय बनती है। अतः जनसमाज उस गुण—शील और रूप संपन्न वेश्या को 'वेश्या' के रूप में परिगणित नहीं करता अपितु राजा उसका सम्मान करता है, गुणवान् लोग उसकी प्रशंसा करते हैं और उससे कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने के लिए लोग प्रार्थना करते हैं, इस प्रकार वह सबका लक्ष्य बिन्दु बन जाती हैं।

{'पूजिता सा सदा राज्ञा गुणवद्भिश्च संस्तुता । प्रार्थनीयाभिगम्या च लक्ष्यभूता च जायते ॥' (का० सू० १, ३, १८)}॥

एवमिति । इस प्रकार प्रकरण में – **कुलजा, वेश्या और दोनों** – तीन प्रकार की नायिका होती हैं। जैसे १. **'तरङ्गदत्त'** प्रकरण में **वेश्या** नायिका है;

तरङ्गदत्ते, कुलजैव **पुष्पदूषितके**, ते द्वेऽपि **मृच्छकटिकायामिति** । कितवद्यूतकादिधूर्त– सङ्कुलं तु मृच्छकटिकादिवत्सङ्कीर्णप्रकरणमिति ॥

अथ नाटिका –

लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये ।

अत्र केचित् –

'अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः ।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसंज्ञाश्रिते काव्ये ॥' (ना० शा० १८.५७)

इत्यमुं भारतीयं श्लोकम् 'एको भेदः प्रख्यातो नाटिकाख्य इतरस्त्वप्रख्यातः प्रकरणिकासंज्ञो नाटीसंज्ञया द्वे काव्ये आश्रिते' इति व्याचक्षाणाः प्रकरणिकामपि मन्यन्ते, तदसत् । उद्देशलक्षणयोरनभिधानात् । समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात् ।

---

२. **'पुष्पदूषितक'** में **कुलजा** नायिका है तथा ३. **'मृच्छकटिक'** में दोनों (**कुलजा + गणिका**) नायिकाएँ हैं । धूर्त, जुआरी आदि पात्रों से सङ्कुल (व्याप्त) होने पर 'प्रकरण' संकीर्ण कहलाता है । जैसे – **मृच्छकटिक** ॥ ४१–४२ ॥

{उक्त प्रकरण के भेदों में प्रथम दो शुद्ध प्रकरण हैं और तीसरा संकीर्ण प्रकरण है। संकीर्ण का तात्पर्य है – मिश्रित मिला–जुला अर्थात् दो नायिकाओं वाला प्रकरण} ॥ ४१–४२ ॥

नाटिका –

अथेति। अब ग्रन्थकार **नाटिका** का निरूपण करते हैं – {नाटक तथा प्रकरण दोनों के लक्षणों का निरूपण करने के पश्चात्} इन दोनों (नाटक और प्रकरण) के मिश्रित – संकीर्ण भेद (अर्थात् नाटक और प्रकरण के मिश्रित स्वरूप से समुत्पन्न) नाटिका का भी लक्षण इसी प्रसंग में अन्य उपरूपकों का निराकरण करने के लिये प्रस्तुत करते हैं –

वृत्त्यर्थ – अत्र केचिदिति। इस प्रकरणिका के संदर्भ में कुछ लोग भरतमुनि का यह श्लोक (१८.५७) उद्धृत करते हैं –

अनयोरिति। 'नाटक एवं प्रकरण इन दोनों के समायोग से काव्य के दो भेद होते हैं – एक भेद प्रख्यात है नाटिका और दूसरा अप्रख्यात प्रकरणिका दोनों को ही नाटी इस संज्ञा से जाना जाता है' ।

इतीति। यहाँ **भरतमुनि** के **'अनयोश्च'** श्लोक की व्याख्या 'नाटी संज्ञा के दो काव्य हैं एक प्रख्यात और दूसरा अप्रख्यात, प्रख्यात है – नाटिका और अप्रख्यात – प्रकरणिका' करके कुछ लोग प्रकरणिका को भी एक काव्य भेद मानते हैं । वह ठीक नहीं है ।

उद्देशेति। क्योंकि **भरतमुनि** ने प्रकृत श्लोक में न तो प्रकरणिका को नाम से ही निर्दिष्ट किया है और न तो उसका लक्षण ही किया है । अथवा दोनों का लक्षण समान ही है – यदि यह उनका अभिप्राय है तो फिर दोनों में कोई भेद न होने से

वस्तुरसनायकानां प्रकरणभेदात् प्रकरणिकायाः । अतोऽनुद्दिष्टाया नाटिकाया यन्मुनिना लक्षणं कृतं तत्रायमभिप्रायः — शुद्धलक्षणसङ्करादेव तल्लक्षणे सिद्धे लक्षणकरणं सङ्कीर्णानां नाटिकैव कर्त्तव्येति नियमार्थं विज्ञायते ॥

तमेव सङ्करं दर्शयति —

तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः ॥ ४३ ॥
प्रख्यातो धीरललितः शृङ्गारोऽङ्गी सलक्षणः ।

उत्पाद्येतिवृत्तत्वं प्रकरणधर्मः, प्रख्यातनृपनायकादित्वं तु नाटकधर्म इति । एवं च नाटकप्रकरणनाटिकातिरेकेण वस्त्वादेः प्रकरणिकायामभावादङ्कपात्रभेदात् यदि भेदः तत्र (तदा) —

प्रकरणिका को पृथक् कैसे माना जा सकता है? यदि यह कहो कि प्रकरणिका और प्रकरण में वस्तु, रस और नायक एक जैसे होते हैं तो पुनः प्रकरण के व्यतिरिक्त प्रकरणिका को पृथक् सिद्ध करना व्यर्थ है ।

अत इति। अतएव नाटिका का नामोद्देशपूर्वक परिगणन न करके भी भरतमुनि ने जो (नाटिका) का लक्षण किया है उसका अभिप्राय यह है कि (नाटक और प्रकरण के) शुद्ध लक्षण के मिश्रण से ही उस (नाटिका) के लक्षण के स्वतः सिद्ध हो जाने पर भी जो लक्षण किया गया है वह 'संकीर्ण रूपकों में विशेषतः कवि को नाटिका की ही संरचना करनी चाहिए' इस नियम के सूचनार्थ ही किया गया है।

तमेवेति। ग्रन्थकार नाटिका में नाटक एवं प्रकरण के उसी सङ्कर—मिश्रण को इस कारिका (नं ४३) में बताते हैं —

कारिकार्थ — तत्रेति। उस (नाटिका) में प्रकरण से कथा—वस्तु ली जाती है। अर्थात् वह कवि—कल्पित होती है। उसका नायक नाटक से लिया जाता है, अर्थात् इसका नायक नाटक के समान होता है। वह प्रख्यात तथा धीर—ललित गुणों से युक्त राजा होता है। इसका प्रधान रस (अपने लक्षणों से पूर्ण) शृङ्गार होता है ॥ ४३—४४ ॥

वृत्त्यर्थ — उत्पाद्येति। नाटिका में **कवि—कल्पित इतिवृत्त** का होना **प्रकरण** की विशेषता (धर्म) है और **प्रख्यात नृप का नायक होना नाटक** की विशेषता है। इस प्रकार इन दोनों की विशेषताओं को ग्रहण करके ही नाटिका की रचना की जाती है।

एवं चेति। इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि नाटक, प्रकरण, और नाटिका इन तीनों से वस्तु आदि के द्वारा प्रकरणिका में कोई भेद परिलक्षित नहीं होता। अर्थात् प्रकरणिका में नाटक, प्रकरण तथा नाटिका से पृथक् वस्तु आदि का अभाव होता है, इसलिए प्रकरणिका नामक कोई अलग भेद प्रतीत नहीं होता। यदि अङ्कों एवं पात्रों की संख्या के आधार पर नाटिका और प्रकरणिका में भेद स्वीकार किया जाय तो रूपकों एवं उपरूपकों के अनन्त भेद हो जायेंगे। {इसी तथ्य को ग्रन्थकार अग्रिम कारिका में बताते हैं।} ॥ ४३—४४ ॥

स्त्रीप्रायचतुरङ्कादिभेदकं यदि चेष्यते ॥ ४४ ॥
एकद्वित्र्यङ्कपात्रादिभेदेनानन्तरूपता ।

तत्र नाटिकेतिस्त्रीसमाख्ययौचित्यप्राप्तं स्त्रीप्रधानत्वम् । कैशिकीवृत्त्याश्रय–त्वाच्च । तदङ्गसंख्ययाऽल्पावमर्शत्वेन चतुरङ्कत्वमप्यौचित्यप्राप्तमेव ॥

विशेषस्तु –

देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥ ४५ ॥
गम्भीरा मानिनी, कृच्छ्रात्तद्वशान्नेतृसङ्गमः ।

प्राप्या तु –

नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा ॥ ४६ ॥

कारिकार्थ – स्त्रीति। (ग्रन्थकार कहते हैं कि) स्त्री प्राय: अर्थात् स्त्रीपात्रों का बाहुल्य तथा अङ्कों का चतुष्टयत्व – ये दो तत्त्व (नाटिका और प्रकरणिका के) भेदक माने जाँय तो एक, दो, या तीन अंकों अथवा पात्रों आदि के भेद से रूपकों के अनन्तरूप हो जायेंगे ॥ ४४–४५ ॥

{अर्थात् नाटिका में स्त्री–पुरुषों की अधिकता तथा (उसके) चार अङ्कों के कारण यदि उसको प्रकरणिका से भिन्न माना जाय तो एक, दो, तीन अंकों या पात्रों के भेद से रूपकों के अनन्तरूप हो जायेंगे}

वृत्त्यर्थ – तत्रेति। वस्तुत: 'नाटिका' – यह एक स्त्री लिङ्गवाची संज्ञा है, अत: उसे स्त्री पात्रों की प्रधानता का औचित्य प्राप्त है; और कैशिकीवृत्ति का नाटिका में आश्रयण होने के कारण तथा उस कैशिकीवृत्ति के नर्म आदि चार अङ्गों की संख्या के अनुसार तथा उसमें अवमर्श–सन्धि का स्वल्पत्व होने के कारण भी नाटिका का चार अङ्कों का होना उचित ही है ॥ ४४–४५ ॥

विशेष इति। नाटिका की विशेषता यह है –

कारिकार्थ – देवीति। नाटिका में महारानी ज्येष्ठा नायिका होती है; जो स्वभाव से प्रगल्भ, गम्भीर एवं मानिनी तथा राजकुल में उत्पन्न होती है। नायक उसके वश में होने के कारण कनिष्ठा या प्रेमिका–नायिका (प्राप्या नायिका) के साथ नायक का मिलन बड़ी कठिनाई से हो पाता है ॥ ४५–४६ ॥

प्राप्येति। प्राप्या (प्रेमिका) नायिका (भी) तो – {ग्रन्थकार प्राप्या नायिका का स्वरूप निर्देश करते हुए कहते हैं कि –

कारिकार्थ – नायिकेति। यह प्राप्या अर्थात् प्रेमिका नायिका भी उस ज्येष्ठा नायिका की तरह ही राजकुल में उत्पन्न, (अवस्था की दृष्टि से) मुग्धा (अर्थात् प्रगल्भा, गम्भीर या मानिनी नहीं) तथा दिव्य गुण–लक्षणों से युक्त होती है। उसका रूप–सौन्दर्य अत्यन्त मनोहर (मन को लुभानेवाला) होता है । {जैसे – रत्नावली नाटिका में रत्नावली (सागरिका) राजकुल में उत्पन्न है, वह मुग्धा तथा सुन्दरी भी है।} ॥ ४६ ॥

तादृशीति नृपवंशजत्वादिधर्मातिदेशः।

अन्तःपुरादिसम्बन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः ।
अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम् ।। ४७ ।।
नेता तत्र प्रवर्तेत देवीत्रासेन शङ्कितः ।

तस्यां मुग्धनायिकायामन्तःपुरसम्बन्धसङ्गीतकसम्बन्धादिना प्रत्यासन्नायां नायकस्य देवीप्रतिबन्धान्तरित उत्तरोत्तरो नवावस्थानुरागो निबन्धनीयः ।।

कैशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिव नाटिका ।। ४८ ।।

प्रत्यङ्कोपनिबद्धाभिहितलक्षणकैशिक्यङ्गचतुष्टयवती नाटिकेति ।।

अथ भाणः –

वृत्त्यर्थ – तादृशीति। कारिका में **तादृशी** – 'वैसी' शब्द के द्वारा प्राप्या (प्रेमिका) का भी राजकुलोत्पन्न होना आदि (पूर्वोक्त कारिकाओं में कथित) धर्मों का अतिदेश करना चाहिए ।। ४६ ।।

कारिकार्थ – अन्तःपुरेति। (वह प्राप्या नायिका) अन्तःपुर आदि के सम्बन्ध के कारण नायक (राजा) के समीप रहती है। उस प्राप्या नायिका के गुण एवं रूप सौन्दर्यादि के विषय में सुनकर तथा प्रसंगवश देखकर नायक का उसके प्रति उत्तरोत्तर नवीन अनुराग बढ़ता रहता है। नायक ज्येष्ठा नायिका अर्थात् देवी महारानी के भय से सशङ्कित रहकर उस प्राप्या नायिका की ओर प्रवृत्त होता है ।। ४७–४८।।

वृत्त्यर्थ – तस्यामिति। अन्तःपुर में ही उस प्राप्या नायिका के रहने के कारण अथवा उसमें आयोजित होने वाले संगीत आदि के प्रसंग से निकट में आयी हुई उस प्राप्या–मुग्धा–नायिका के प्रति नायक के नित्य नवीन और उत्तरोत्तर बढ़ते हुए तथा महारानी के द्वारा प्रतिबन्धित अनुराग का निबन्धन (वर्णन) कवि को करना चाहिए ।। ४७–४८ ।।

कारिकार्थ – कैशिकीति। नाटिका जिस प्रकार चार अङ्कों की होती है, उसी प्रकार इसे कैशिकीवृत्ति के चारों अङ्गों – नर्म, नर्म–स्फिञ्ज, नर्मस्फोट, एवं नर्म–गर्भ से **युक्त कहा गया है ।। ४८ ।।**

वृत्त्यर्थ – प्रत्यङ्केति। नाटिका के प्रत्येक अङ्क में उपर्युक्त लक्षण वाले कैशिकीवृत्ति के चारों अङ्गों (नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट, नर्मगर्भ) का सन्निवेश किया जाना चाहिए । {नाटिका के उदाहरणस्वरूप – **रत्नावली, प्रियदर्शिका,** बिल्हणकृत **कर्णसुन्दरी,** आदि काव्य उपन्यस्त किये जा सकते हैं। इसी का एक प्रतिरूप–भेद– **'सट्टक'** माना जा सकता है, जहाँ केवल प्राकृतभाषा का ही प्रयोग होता है। **सट्टक** का उदाहरण राजशेखर कृत **'कर्पूरमञ्जरी'** है । नाटिका की व्याख्या समाप्त हुई } ।। ४८ ।।

३. भाण –

अथेति। अब ग्रन्थकार भाण नामक रूपक के तीसरे भेद का निरूपण करते हैं –

भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा ।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ।। ४९ ।।
सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।
सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवैः ।। ५० ।।
भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्के वस्तु कल्पितम् ।
मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च ।। ५१ ।।

धूर्ताश्चौरद्यूतकारादयस्तेषां चरितं यत्रैक एव विटः स्वकृतं परकृतं वोपवर्णयति स भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद्भाणः । एकस्य चोक्तिप्रत्युक्तय आकाशभाषितैराशङ्कितोत्तरत्वेन भवन्ति । अस्पष्टत्वाच्च वीरशृङ्गारौ सौभाग्यशौर्योपवर्णनया सूचनीयौ ।।

कारिकार्थ — भाण इति। 'भाण' नामक रूपक के भेद में कोई चतुर तथा बुद्धिमान् (पण्डित) विट अपने द्वारा अनुभूत अथवा अन्य किसी के द्वारा अनुभूत धूर्त–चरित्र का वर्णन करता है ।। ४९ ।।

सम्बोधनेति। वह (विट) आकाशभाषित के द्वारा सम्बोधन और उत्तर–प्रत्युत्तर करता है। वह शौर्य और सौभाग्य (विलास) के वर्णन के द्वारा वीर तथा शृङ्गार–रस की सूचना देता है ।। ५० ।।

भूयसेति। इसमें भारती वृत्ति की प्रधानता होती है। यह एक अङ्क का (एकांकी) होता है। इसकी कथावस्तु कवि–कल्पित होती है। इसमें अपने अंगों के सहित मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं तथा दस लास्याङ्गों का सन्निवेश भी होता है ।। ५१ ।।

वृत्त्यर्थ — धूर्ता इति। कारिका में प्रयुक्त 'धूर्त' शब्द का अर्थ–चोर, जुआरी आदि है। जहाँ स्वयं के द्वारा किए गए अथवा अन्य किसी के द्वारा किए गए उन धूर्तों के चरित्र का वर्णन अकेले विट ही करता है, वह भारती वृत्ति की प्रधानता के कारण 'भाण' कहलाता है । एक ही विट आकाशभाषित के द्वारा आशङ्का तथा उत्तर देकर उक्ति–प्रत्युक्ति का प्रयोग करता है । रस की अस्पष्टता होने के कारण सौभाग्य एवं शौर्य के वर्णन के द्वारा क्रमशः शृङ्गार तथा वीर रस की सूचना दी जाती है ।। ४९–५१ ।।

परामर्श — 'आकाशभाषित' — यहाँ आकाशभाषित की योजना का तात्पर्य यह है कि इस रूपक–भेद–'भाण' में विट ही अकेला पात्र होता है। अतः रङ्गमञ्च पर अकेला होने के कारण विट स्वयं ही 'शून्य' में अन्य (अदृश्य) पात्र की कल्पना कर उससे बातचीत करता है तथा उसकी उक्ति को सुनकर (अर्थात् सुनने का अभिनय करके — "क्या कह रहे हो?".....आदि, की आशंका करके) उत्तर–प्रत्युत्तर रूप में विषय का विस्तार करता चलता है। 'भाण' — अभिनय में पाश्चात्य पद्धति के एकलभिनय (Mono-Acting) से मिलता है । उसमें भी भाण की तरह एक ही पात्र मञ्च पर अभिनय करता हुआ परिलक्षित होता है।

संस्कृत साहित्य के रूपक–साहित्य में 'भाण' का विशेष स्थान रहा है।

लास्याङ्गानि –

गेयं पदं स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ।
प्रच्छेदकस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ॥ ५२ ॥

आठवीं शती से लेकर १७वीं, अठारहवीं शती तक सैकड़ों भाणों की रचना की गई है। फिर भी उत्तर कालीन शतियों में भी भाण–साहित्य की वीथी एकदम शुष्क भी नहीं हुई है। सन् १९३८ ई० में कुम्भकोणम् के सुदर्शन शर्मा ने 'शृङ्गारशेखर' एवं सन् १९५१ ई० में वाइ० महालिंगशास्त्री ने 'मर्कटमदलिका' नामक भाण की रचना कर भाण–परम्परा को २० वीं शती मे भी अक्षुण्ण रक्खा है। वामनभट्टबाण, युवराजराज वर्मा जैसे अनेक लेखकों ने भाणों को एक सुन्दर साहित्यिक रूप से मण्डित किया है। 'भाण' के द्वारा कवि सामाजिक कुरीतियों पर विशेष रूप से व्यंग्यात्मक प्रहार करता है। इसीलिए 'भाण' को 'लोकानुरञ्जक' होना अत्यन्त आवश्यक होता है। इसकी उपयोगिता एवं उद्देश्य का निर्देश करते हुए नाट्यदर्पणकार ने यह कहा है – 'अत्र विटादीनां परवञ्चनात्मकं वृत्तं प्रेक्षकाणाम–वञ्चनीयत्वापादनार्थं व्युत्पाद्यत इति ।' – अर्थात् भाण में वर्णित 'विट चरित' का उद्देश्य धूर्तजन की वञ्चना से सामाजिकों को अवगत और सतर्क करना है। वस्तुत: सामाजिक कुरीतियों को स्पष्टरूप से प्रकट करने के लिए कवि के पास भाण व प्रहसन ये दो बड़े सशक्त साधन हैं। किन्तु दोनों साधनों की प्रणाली में विशेष अन्तर है। **भाण की व्यंग्य प्रणाली प्रहसन की अपेक्षा अधिक गम्भीर व उदात्त होती है, जबकि प्रहसन की छिछली । क्योंकि प्रहसनों का उद्देश्य होता है येन – केन–प्रकारेण प्रेक्षकों को हँसाना । जबकि भाणों में समाज के परिष्करण करने की भावना अधिक सशक्त एवं तीक्ष्ण होती है** । इसीलिए भाण का रस हास्य नहीं होता है, प्रहसन का हास्य होता है।

इस प्रकार 'भाण' रूपक भेद की ये विशेषताएँ हैं –

१. इसका इतिवृत्त कपोल–कल्पित तथा धूर्तचरित पर आधारित होती है।
२. इसमें मुख और निर्वहण दो सन्धियाँ होती हैं।
३. इसका एकमात्र ही नायक विट होता है जो निपुण तथा बुद्धिमान होता है।
४. वह आकाशभाषित के द्वारा किसी कल्पित पात्र के साथ वार्तालाप करता है।
५. इसमें भारती वृत्ति का आश्रय लिया जाता है ॥ ४९–५१ ॥
६. इसमें मौखिक रूप से वीर तथा शृङ्गार रस की सूचना दी जाती है। साथ ही दस लास्याङ्गों का भी सन्निवेश होता है।
७. यह एकाङ्की रूपक होता है।

लास्य के अङ्ग –

लास्येति। (भाण के लक्षण में निरूपित) लास्य के अङ्ग इस प्रकार हैं –

कारिकार्थ – गेयमिति। १. गेयपद २. स्थितपाठ्य ३. आसीन ४. पुष्पगण्डिका

उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च ।
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशकल्पनम् ॥ ५३ ॥

शेषं स्पष्टमिति ॥

---

५. प्रच्छेदक ६. त्रिगूढ ७. सैन्धव ८. द्विगूढक ९. उत्तमोत्तमक तथा १०. उक्त–प्रत्युक्त– लास्य में इन दस प्रकार के अङ्गों का निरूपण किया गया है ॥ ५२–५३ ॥

वृत्त्यर्थ – **शेषमिति।** शेष स्पष्ट है, अर्थात् उपरोक्त कारिकाओं का अर्थ स्पष्ट है ॥ ५२–५३ ॥

परामर्श – दशरूपकार ने लास्याङ्गों के लक्षण नहीं दिये हैं। अत: इन लास्याङ्गो का विवेचन हम शारदातनय के अनुसार कर रहे हैं। तथा उपयोगी लास्याङगों को **आचार्य अभिनवगुप्त** के वचनों से परिपुष्ट कर दिखा रहे हैं।

लास्याङ्ग – एक प्रकार के **एकांकी रूपक** थे जिसमें **'लास्य'** नृत्य की प्रमुखता रहती थी तथा लास्य का ही प्रामुख्येन प्रदर्शन भी रहता था। इस आधार पर लास्याङ्ग का अर्थ होगा – **लास्यमङ्गं यस्या:** अर्थात् जिसमें लास्य अङ्ग होता हो अथवा जिसमें सभी अभिनय लास्य के अङ्गभूत होकर रहते हों। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि लास्य के ये अंग लास्य के विभेद ही हैं । ये लास्य के तत्त्व नहीं हैं। वैसे ही वीथी भी एकांकी रूपकों का ही विभेद मात्र है । अतएव वीथ्यङ्ग भी वीथी की प्रमुखता लिए हुए विभेद मात्र ही हैं यह समझना चाहिए ।

उपर्युक्त तथ्य को **आचार्य अभिनवगुप्त** भी स्वीकार करते है। उनकी इस विषय में स्पष्ट धारणा हैं। वे कहते हैं कि – कैशिकीवृत्ति के आविर्भावक होने से काव्यादि के आत्मभूत रसभावादि के अभिनिवेश से सम्पन्न इन लास्याङ्गों का 'नाट्य' में संयोजन किया जाता है जो कि कवि तथा प्रयोक्ता के द्वारा अभिनेतव्य हैं – ॥ अत एवात्मभूतरसभावभागाभिनिवेशशालीन्येव लास्याङ्गान्यपि कवि–प्रयोक्तृभिरभिनेतव्य काव्यविषये सर्वथैव योज्यानीति ॥ (अ० भा० १९।११७)

इस पर यदि कोई शंका करे कि – 'अङ्गों के अभेद से अङ्गियों का अभेद होने के कारण लास्याङ्ग का नाटकादि से क्या विभेद होगा ? तो उत्तर स्पष्ट है कि ये लास्याङ्ग नाटक से विनि:सृत एक पात्र द्वारा अभिनेय भाण रूपक के समान हैं। भाण में (अनुकाररूप अभिनेय लक्षण होने से) नाट्य के रूप की समानता रहती है परन्तु यह समानता नाट्य में नहीं, क्योंकि वह नाट्य से भिन्नता वाला होता है। (अ० भा० १९।११७–११८)॥

१. गेयपद – जब नायिका वीणा आदि वाद्य के योग से कर्णसुखद गीत गाती है तो उसे **'गेयपद'** कहते हैं –

॥ वीणादिवाद्ययोगेन सहितं यत्र भाव्यते । ललितं नायिकागीतं तद्गेयपद–मुच्यते ॥ (भा० प्र० ८।१६३)॥

आचार्य अभिनवगुप्त ने परिपुष्ट लक्षण दिया है। उनके अनुसार आसन पर

स्वस्थभाव से बैठकर तन्त्रीभाण्डादि वाद्यों से युक्त होकर पुरुष या स्त्री पात्रका 'शुष्कज्ञान' गेयपद होता है – आशय यही है कि ध्रुवागान, अन्तरालाप के स्वरों को छोड़कर, जहाँ प्रयोग योग्य पद हो वह काव्य (प्रयोग) में 'गेयपद' है, जिसके प्रयोग में सामाजिक का रञ्जन तथा अभिनिवेश रहता है । (अभि०भा० १९।१२१)।।

२. **स्थितपाठ्य** – चञ्चत्पुट आदि के साथ भौमाचारी प्रस्तुत करते हुए नायिका वाक्य अभिनय को प्रस्तुत करती है तो उसे **'स्थित पाठ्य'** कहा जाता है –

।। चञ्चत्पुटादिना वाक्याभिनयो नायिका कृतः। भूमिचारिप्रचारेण स्थितपाठ्यं तदुच्यते ।। (भा० प्र०८।१६४)।।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार–प्रिय से वियुक्त होकर नारी वियोगाग्नि में संतप्त होकर प्राकृतभाषा में सरस पद्य का गान करती है तो ऐसा रसोपयोगी लौकिक लास्याङ्ग से उपजीव्य **'स्थितपाठ्य'** है । – यद्वियुक्ता आतप्तापि सती प्राकृतभाषालक्षणयुक्तं तथात्तरसमिति रसोपयोगी स्थायिरसग्रहणपूर्वकं पठेत् । एतल्लौकिकं यल्लास्याङ्गादुपजीव्यमानं स्थितपाठ्यम् ।। (अभि० भा० १९।१२३)

३. **आसीन** – ज़ब नायिका बैठकर **भौंह, नेत्र,** और **पैर** की व्यञ्जक **मुद्राओं** के साथ किसी गीत को प्रस्तुत करती है तो उसे **'आसीन'** कहते हैं –

।। भ्रूनेत्रपादचलनविलासाभिनयान्वितम् । योज्यमासीनया पाठ्यमासीनं तदुदाहृतम् ।। (भा० प्र० ८।१६५)।।

आचार्य अभिनवगुप्त ने **'आसीन'** नामक लास्याङ्ग को **करुणादि रस** में रञ्जनोपयोगी कहा है ।।

४. **पुष्पगुण्डिका** – जब अनेक प्रकार के वाद्य तथा भिन्न–भिन्न ताल और लय के साथ लास्य (नृत्य) को प्रस्तुत किया जाय तो उसे **'पुष्पगुण्डिका'** कहते हैं–

।। नानाविधेन वाद्येन नानाताललयान्वितम् । लास्यं प्रयुज्जते यत्र सा ज्ञेया पुष्पगुण्डिका ।। (भा० प्र० ८।१६६)।।

आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि – जिसमें गीत को कभी **तत वाद्य** से, बीच में **वंशी जैसे सुषिरवाद्य, अवनद्धवाद्य** तथा **मिश्रितभाव** से तथा पात्रों के सुकुमार प्रयोग को अभिनेय में भी रञ्जक रूप में रखें तो अलौकिक भाव तथा वैचित्र्यसम्पन्न माला की समानता को धारण करने के कारण **'पुष्पगुण्डिका'** होता है । (अभि० भा० १९।१२६)।।

५. **प्रच्छेदक** – **नायक** को अन्यासक्त समझकर **क्रोध** से युक्त जब **नायिका** प्रेम–विच्छेद को प्रकट करने वाले लास्य को प्रस्तुत करती है, उसे **प्रच्छेदक** कहते हैं – ।। अन्यासङ्गमशङ्किन्या नायकस्यात्तरोषया ।। प्रेमच्छेदप्रकटनं लास्यं प्रच्छेदकं विदुः ।। (भा० प्र० ८।१६७)।।

आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि – यदि चन्द्रज्योत्सना से प्रकाशित रात्रि में जल क्रीडा के समय जल में, प्रसाधन के समय दर्पण में तथा पानगोष्ठी में पान पात्र में प्रतिफलित उन–उन आकृतियों के प्रतिबिम्ब दर्शन से प्रिंया को प्रहर्ष होने से वह प्रच्छेदक तीन स्थितियों का होता है, जिसमें स्त्रियों का प्रणयकोप दूर हो जाता है। (अभि० भा० १९।१२७)।।

६. त्रिगूढ़ (त्रिमूढ़) — कोमल और मधुर पद वाला समवृत्तों से अलङ्कृत तथा पुरुषभावों से युक्त नाट्य **'त्रिमूढक'** है —

।। अनिष्ठुरश्लक्ष्णपदं समवृत्तैरलङ्कृतम् । नाट्यं पुरुषभावाढ्यं त्रिमूढक–मुदाहृतम् ।। (भा० प्र०८।१६८)।।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार **त्रिमूढक** में नायक के अपराधवश एक (के प्रति दूसरी नायिका) के द्वेष वश अभिनव नायिका को प्रथमानुराग के कारण लज्जा से मोह होता है और इस स्थिति में नायक का रसोपयोगी गुण तथा अलंकार के अंशों से युक्त मृदुलवचन रहता ही है । (अभि० भा० १९।१२८)।।

७. **सैन्धवम्** — देश की भाषा की विशेषता से चञ्चल वलय एवं शृंखला से युक्त लास्य जहाँ से प्रयुक्त होता है, उसे **सैन्धव** कहते हैं —

।। देशभाषाविशेषेण चलद्वलयशृंखलम् । लास्यं प्रयुज्यते यत्र तत्सैन्धव–मुदाहृतम् ।। (भा० प्र० ८।१६९)।।

आचार्य अभिनवगुप्त ने **'सैन्धव'** के अर्थ को कहा है। सैन्धव का अर्थ होगा — **सिन्धु देशोद्भव लवण** या **सिन्धु देशोद्भव अश्व** । इसमें जब प्रयोक्ता खिन्नता की स्थिति में रहता है तो ऐसा लगता है कि जैसे किसी सरस वस्तु में नमक डाल दिया हो अथवा जो अश्व की तरह व्याकुल हो । (अभि० भा० १९।१३१)

८. **द्विगूढ** — ललित चारियों से युक्त, भिन्न–भिन्न अभिनय से युक्त, स्पष्टभाव और रस से युक्त लास्य (नृत्य) **'दिगूढक'** कहा जाता है —

।। चारीभिर्ललिताभिश्च चित्रार्थाभिनयात्मकम् । स्पष्टभावरसोपेतं लास्यं यत्तद्विमूढकम् ।। (भा० प्र० ८।१७०)।।

साहित्यदर्पण के टीकाकारों ने **विश्वनाथ कविराज** के लक्षण में प्रयुक्त **'मुखप्रतिमुखान्वितम्'** का अर्थ–'मुख और प्रतिमुख संधियों से युक्त' किया है, जो सर्वथा अनुचित है ।

आचार्य **अभिनवगुप्त** ने 'मुख–प्रतिमुख' का अर्थ स्पष्ट किया है। उनके अनुसार 'जिसमें नायक तथा नायिका दोनों का व्यामोह प्रदर्शित किया जाता है वह 'द्विगूढक' होता है। इसमें चतुरस्र अर्थात् चारों दिशाओं में पदन्यास विचित्रता के साथ रखा जाता है। यह अपने सौम्यभाव तथा रस से चित्तवृत्ति को रस के अनुगत स्पष्ट प्रदर्शित करता है। यहाँ मुख–प्रतिमुख से तात्पर्य–चारों ओर गतिशील पादचक्रक से युक्त **'ताल'** को आवृत्त करने में है। इसमें चारो ओर गीति का समापन रहता है तथा इस साम्य अथवा सम से आनन्दांश के साथ रसांश को रसोपयोगी अर्थात् उपयुक्त बना दिया जाता है। इसमें प्रथम **'मुख'** को सामाजिक से आगे रखकर तत्पश्चात् अन्य दिशा में लास्याङ्ग में **प्रतिमुख** को करते हैं। ये मुख–प्रतिमुख गीतक के अङ्ग हैं। यहाँ नाट्य संधियों का अर्थ लेना प्रकृत प्रसङ्ग में अनुकूल नहीं है।

आचार्य **शंकुक** आदि का मत है कि इसमें गीतक के मुख तथा प्रतिमुख नामक अंगों के द्वारा तथा अङ्गसौष्ठव से रस तथा भावों से दो नायिकाओं को दिखाया जाता है ।। (अभि० भा० १९।१३३)

अथ प्रहसनम् —

तद्वत्प्रहसनं त्रेधा शुद्धवैकृतसङ्करैः ।

तद्वदिति — भाणवद्वस्तुसन्धिसन्ध्यङ्गलास्यादीनामतिदेशः ॥

---

९. **उत्तमोत्तमकम्** — समीप में बैठे हुए को न जानकर, गेय भाव से विभूषित होकर उत्कष्ठावशा नायिका का किया गया लास्य (नृत्य) **'उत्तमोत्तमक'** कहा जाता है — अपरिज्ञातपार्श्वस्थं गेयभावविभूषितम्। लास्यं सोत्कण्ठवाक्यंयदुत्त–मोत्तमकम् ॥ (भा० प्र०८।१७१)

'उत्तमोत्तमक' की नाट्य में स्वरूप स्थिति को **आचार्य अभिनवगुप्त** ने इंगित करते हुए कहा है कि — जो हेला, हाव आदि चेष्टालंकारों के द्वारा विद्यमान या स्थित चित्तवृत्ति का परिपोष है वह यहाँ उपजीव्य होता है । यद्यपि लास्य के अङ्ग स्वयं उत्तम होते हैं परन्तु यह उनमें भी उत्तम तथा रसपर्यायी है। इसमें हेला तथा भाव आदि की विशेषता से दीप्ति आ जाती है तथा सर्वत्र सात्विकभाव तथा अनुभावों की प्रोज्वल स्थिति रहती है । (अभि० भा० १९।१३४)॥

१०. **उक्त–प्रत्युक्तं** — नायक–नायिका दोनों के मध्य कोप और प्रसन्नता से उत्पन्न और आक्षेप से युक्त होने वाले प्रश्नोत्तरात्मक विवाद को **'उक्ति–प्रत्युक्ति'** कहते हैं — कोपप्रसादजनितं साधिक्षेपपदाश्रयम् । वाक्यं तदुक्त प्रत्युक्तं द्वयोः प्रश्नोत्तरात्मकम् ॥ (अभि० भा० ८।१७२) ॥ ५२–५३ ॥

४. प्रहसन —

अथेति । अब ग्रन्थकार **प्रहसन** नामक रूपक के चतुर्थ भेद का निरूपण करते हैं —

तद्वत् प्रहसनम् शुद्धवैकृतसङ्करैः त्रेधा **इत्यन्वयः** ॥

कारिकार्थ — तद्वदिति । प्रहसन भी भाण की तरह ही होता है। वह तीन प्रकार का होता है — १. शुद्ध, २. वैकृत और ३. सङ्कर ॥ ५४ ॥

वृत्त्यर्थ — तद्वदितीति । ''तद्वत् — भाण (रूपकभेद) **की तरह''** का तात्पर्य **यह है कि** भाण की ही तरह प्रहसन में भी वस्तु, सन्धि, सन्ध्यङ्ग और लास्य आदि धर्मों का समावेश (विधान) करना चाहिए ॥ ५४ ॥

परामर्श — अतिदेश — उसे कहते हैं जो अन्यत्र विहित धर्म हैं उसका (कहे हुए स्थान का) अतिक्रमण करके अन्यत्र उनका निर्देश करना । अतिदेशो नाम ये परत्र विहिता धर्मास्तमतीत्यान्यत्र तेषां देशः ॥ (शा० भा० ७१११२) ॥

जैसे — 'रमेश के भोजन का विधान किया कि दाल, भात, खीर से रमेश को भोजन कराना चाहिए ।' तत्पश्चात् उसी विधि का नरेश में अतिदेश करते हैं — 'रमेश के समान नरेश को भोजन कराना चाहिए । यही अतिदेशं का स्वरुप है ।

प्रकृत प्रसङ्ग में जब कथं भावाकांक्षा? (अर्थात् प्रहसन का प्रयोग कैसे करें) होती है तब भाण में कथित धर्मों का प्रहसन में अतिदेश किया जाता है । तब अर्थ

तत्र शुद्धं तावत् –

पाखण्डिविप्रप्रभृतिचेटचेटीविटाकुलम् ॥ ५४ ॥
चेष्टितं वेषभाषाभिः शुद्धं हास्यवचोन्वितम् ।

पाखण्डिनः शाक्यनिर्ग्रन्थप्रभृतयः । विप्राश्चात्यन्तमृजवः, जातिमात्रोपजीविनो वा । प्रहसनाङ्गिहास्यविभावाः, तेषां च यथावत्स्वव्यापारोपनिबन्धनं चेटचेटीव्यवहारयुक्तं शुद्धं प्रहसनम् ॥

विकृतं तु –

कामुकादिवचोवेषैः षण्ढकञ्चुकितापसैः ॥ ५५ ॥
विकृतम्, –

कामुकादयो भुजङ्गचारभटाद्याः । तद्वेषभाषादियोगिनो यत्र षण्ढकञ्चुकितापस–

यह होगा की भाण के समान (वस्तु, सन्धि, सन्ध्यङ्ग और लास्य से युक्त) प्रहसन का अनुष्ठान करना चाहिए ॥

तत्रेति। १. उक्त तीन प्रकारों में **शुद्ध प्रहसन** का स्वरूप इस प्रकार है –

पाखण्डिविप्रभृतिचेटचेटीविटाकुलम् वेषभाषाभिः चेष्टितम् हास्यवचोन्वितम् शुद्धम् **इत्यन्वयः** ॥ ५४–५५ ॥

कारिकार्थ – पाखण्डीति । शुद्ध प्रहसन वह है– जो पाखण्डी विप्र आदि एवं चेट, चेटी तथा विट आदि से व्याप्त होता है; (अर्थात् ये सब उसमें होते हैं।) जो उनके चरित, वेश तथा भाषा से युक्त होता है तथा जो हास्यपूर्ण वचनों से समन्वित होता है ॥ ५४–५५॥

वृत्त्यर्थ – पाखण्डिन इति । पाखण्डी का तात्पर्य ढोंगी संन्यासी – **बौद्ध** जैन आदि भिक्षुओं से है । **विप्र** का तात्पर्य सरल प्रकृति के ब्राह्मण से है; अथवा एकमात्र जाति के नाम पर जीविकार्जन करने वालों से है। ये लोग प्रहसन के अङ्गीरस–हास्य के विभाव होते हैं । जिसमें उपर्युक्त पाखण्डी तथा विप्र आदि के यथोचित व्यापारों – व्यवहारों का समुचित वर्णन किया जाता है, और जो चेट एवं चेटी के (सेवक–सेविका के) व्यवहारों से युक्त होता है – वह **शुद्ध प्रहसन** होता है ॥ ५४–५५ ॥

२. विकृत–प्रहसन –

विकृतमिति । विकृत–प्रहसन का लक्षण इस प्रकार है –

कारिकार्थ – कामुकेति । जो कामुक आदि (पुरुषों) के वचनों को बोलने वाले एवं उनकी वेष–भूषा को धारण करने वाले नपुंसकों, कंचुकियों एवं तपस्वियों से युक्त होता है, वह विकृत प्रहसन है ॥ ५५–५६ ॥

वृत्त्यर्थ – कामुकादय इति । कामुक आदि का तात्पर्य है – कामुक, दूत तथा योद्धा आदि। जिस प्रहसन में कामुक आदि के वेष तथा भाषा बोलने वाले

वृद्धादयस्तद्विकृतम् । स्वस्वरूपप्रच्युतविभावत्वात् । वीथ्यङ्गैस्तु सङ्कीर्णत्वात् सङ्कीर्णम् ॥

— सङ्कराद्वीथ्या सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ।

वीथ्यङ्गैस्तु सङ्कीर्णत्वात् सङ्कीर्णम् ॥

रसस्तु भूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव तु ॥ ५६ ॥

इति स्पष्टम् ॥

नपुंसक, कञ्चुकी, तपस्वी, तथा वृद्ध आदि का समावेश होता है, वह विकृत प्रहसन कहलाता है। इसे विकृत प्रहसन कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें जो (कामुक आदि पात्र) विभाव हैं, वे अपने–अपने यथार्थ (नपुंसक आदि) स्वरूप का परित्याग करके विकृत नकली रूप के इन कामुक आदि विभावों के रूप में मञ्च पर आते हैं। अर्थात् वे पात्र नपुंसक आदि के रूप में उपस्थित होते हैं किन्तु उनकी चेष्टाएँ कामुक पुरुषों, योद्धा–वीरों जैसी होती है ॥ ५५–५६ ॥

३. सङ्कीर्ण प्रहसन –

कारिकार्थ – संकरादीति । जो वीथी (के अङ्गों) से मिश्रित तथा धूर्त–जनों से संकुल (व्याप्त) रहता है, वह सङ्कीर्ण प्रहसन कहा जाता है ॥ ५६ ॥

वृत्त्यर्थ – वीथ्यङ्गैरिति। वीथी के अङ्गों – उद्धात्यकादि से संकीर्ण (मिश्रित) होने के कारण इसे संकीर्ण प्रहसन कहते हैं ॥ ५६ ॥

कारिकार्थ – रस इति । (उपर्युक्त प्रहसन के तीनों भेदों में) छः प्रकार के हास्य–रस का प्रचुरता से उपनिबन्धन करना चाहिए ॥ ५६ ॥

वृत्त्यर्थ – इतीति। कारिका का अर्थ स्पष्ट है। {हास्य के छः प्रकार – १. स्मित, २. हसित, ३. विहसित, ४. उपहसित, ५. अपहसित, ६. अतिहसित हैं।}॥ ५६ ॥

परामर्श – उपर्युक्त नाट्यकृति हास्योत्पादक कथनों से परिपूर्ण होती है। इसका नायक बौद्धभिक्षु, शैवसन्यासी, तपस्वी या गृहस्थ हो सकता है। इसके परिहास पूर्ण संवादों से प्रेक्षकों में हास्य उत्पन्न होता है। प्रहसन में मिथ्याचारी नायक को अत्यन्त सुसंस्कृत भाषा में व्यवहार करते हुए प्रदर्शित किया जाता है। नाटकीय कथानक के कुछ अंश में एक विशेषभाव को प्रकट करते हैं एवं उसके अवशिष्ट भागों में मिथ्याचारी नायक के जीवन के उन अंशों को प्रदर्शित करते हैं जिसका उपहास करना नाटक का एक उद्देश्य है ।

प्रहसन के भेदों के विषय में भारी मतभेद है। आचार्यभरत, आचार्य अभिनव आदि दो भेद स्वीकार करते हैं इसके विपरीत दशरूपकार एवं भावप्रकाशनकार तीन भेद स्वीकार करते हैं । एक अन्य भेद वीथ्यङ्गों के सम्मिश्रण को लेकर है । दशरूपकार का मत है कि वीथी के अंगों से मिश्रित 'सङ्कीर्ण' प्रहसन होता है जबकि आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रहसन में यथायोग वीथ्यङ्गों के समायोजन पर बल दिया है – ॥ वीथ्यङ्गैरिति वक्ष्यमाणैः यथायोगमिति तेषां संप्रयोगे संख्यायाः क्रमस्य तु न कश्चिन्नियमइति दर्शयति ॥ (अभि० भा० १८।१०६–७)

अथ डिमः —

डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्याद्वृत्तयः कैशिकीं विना ।
नेतारो देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः ॥ ५७ ॥
भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः ।
रसैरहास्यशृङ्गारैः षड्भिर्दीप्तैः समन्वितः ॥ ५८ ॥
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।

कुछ आचार्यों का मत यह है कि संकीर्ण प्रहसन वह है जिसमें उन पात्रों को प्रदर्शित करते हैं जिनका जीवन संस्कृति शून्य होने के कारण सुसंस्कृत समाज के मध्य हास्यास्पद होता है। परन्तु जब इसके पात्र स्वरूप के कारण स्वभावतः हास्यास्पद नहीं होते अपितु दुष्ट व्यक्ति के संसर्ग के कारण हास्य जनक हो जाते हैं तब उसे **शुद्ध प्रहसन** कहते हैं — ॥ अन्ये त्वाहुःयेषां स्वभावत एव चरितं शिष्टमध्ये सभ्येतरतमत्वेन प्रहसनार्ह तद्विशुद्धत्वात्सङ्कीर्णम्, तद्योगाच्च रूपकम्। ये स्वभावतो न गर्हिता भगवत्तापसादिचेष्टा विशेषास्तेषां प्राकृत पुरूषसंक्रान्तिदौरात्म्योदितामन्य—सम्बन्धदूष्यमाणतया प्रहसनीयतां यातास्ते स्वभावशुद्धा तद्योगाद्रूपकं शुद्धमिति ॥
(अभि० भा० १८।१०५)

कुछ शास्त्रकारों का मत है कि **शुद्ध प्रहसन** में एक ही अंक होता है। और **संकीर्ण प्रहसन** में मिथ्याचारी नायक के वेश्या आदि कुसंगियों के संख्या के अनुसार अनेक अंक होते हैं॥ हास्य के छः प्रकारों का उल्लेख चतुर्थ प्रकाश की ७६—७६ कारिकाओं में किया गया है, जो इस प्रकार हैं — १. स्मित २. हसित ३. विहसित ४. उपहसित ५. अपहसित और ६. अतिहसित ॥ ५६ ॥

५. डिम —

अथेति । अब ग्रन्थकार 'डिम' नामक रूपक के पाँचवें भेद का निरूपण **करते हैं —**

डिमे वस्तु प्रसिद्धम् स्यात्, कैशिकीं विना वृत्तयः, नेतारः अत्यन्तम् उद्धताः देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडश, दीप्तैः अहास्यशृङ्गारैः षड्भिः रसैः मायेन्द्रजालसङ्ग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः चन्द्रसूर्योपरागैः समन्वितः, न्याय्ये रौद्ररसे आङ्गिनि चतुरङ्कः निर्विमर्शः चतुस्सन्धिः डिमः स्मृतः इत्यन्वयः ॥ ५७—६० ॥

कारिकार्थ — डिम इति । डिम (नामक रूपक भेद) की कथावस्तु प्रसिद्ध (अर्थात् इतिहास प्रसिद्ध रामायणादि से गृहीत) होती है। इसमें कौशिकी—वृत्ति के अतिरिक्त शेष अन्य (सात्वती, आरभटी और भारती) वृत्तियों का नियोजन—प्रयोग होता है। इसमें नेता देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग आदि होते हैं। अथवा भूत, प्रेत, पिशाच आदि १६ सोलह उद्धत नायक होते हैं। हास्य और शृङ्गार के अतिरिक्त शेष छः दीप्त रसों से यह समन्वित होता है न्यायतः इसमें रौद्ररस अङ्गी होता है (और शेष रस अङ्गरूप में होते हैं)

चन्द्रसूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि ॥ ५९ ॥
चतुरङ्कः चतुस्सन्धिर्निर्विमर्शो डिमः स्मृतः ।

'डिम सङ्घाते' इति नायकसङ्घातव्यापारात्मकत्वाड्डिमः । तत्रेतिहासप्रसिद्ध-मितिवृत्तम् । वृत्तयश्च कैशिकीवर्जास्तिस्रः । रसाश्च वीररौद्रबीभत्साद्भुतकरुणभयानकाः षट् । स्थायी तु रौद्रो न्यायप्रधानः । विमर्शरहितामुखप्रतिमुखगर्भनिर्वहणाख्याश्चत्वारः सन्धयः साङ्गाः । मायेन्द्रजालाद्यनुभावसमाश्रयाः (यः) । शेषं प्रस्तावनादि नाटकवत् ॥ एतच्च –

'इदं त्रिपुरदाहे तु लक्षणं ब्रह्मणोदितम् ।
ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः ॥' (ना० शा० ४.१०)

इति स्वयमेव त्रिपुरदाहेतिवृत्तस्य तुल्यत्वं दर्शितम् ॥

यह माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उन्मत्त आदि की चेष्टाओं तथा सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण आदि के दृश्यों से युक्त होता है। इसमें चार अङ्क तथा विमर्श सन्धि को छोड़कर शेष चार सन्धियाँ होती हैं। उपर्युक्त लक्षणों से समन्वित 'डिम'—रूपक कहा गया है ॥ ५७—६० ॥

वृत्त्यर्थ – डिम संघात इति । 'डिमसंघाते' – 'डिम' शब्द की व्युत्पत्ति संघात समूहार्थ वाचक **'डिम'** धातु से होती है। नायकों के संघात व्यापार के कारण इसे **'डिम'** कहा जाता है। इसका इतिवृत्त इतिहास—प्रसिद्ध होता है। कैशिकी वृत्ति को छोड़कर शेष तीन वृत्तियाँ इसमें होती है। यह छः रसों – वीर, रौद्र, बीभत्स, अद्भुत, करुण और भयानक से समन्वित होता है। न्यायतः इसमें अङ्गीरस रौद्र होता है। विमर्श सन्धि को छोड़कर शेष – मुख, प्रतिमुख, गर्भ और निर्वहण – सन्धियाँ अपने अङ्गों के सहित इसमें होती हैं। इसमें माया तथा इन्द्रजाल आदि अनुभावों का आश्रय लिया जाता है। शेष बातें प्रस्तावना आदि नाटक के समान ही इसमें होती हैं। और इसी बात को – अर्थात् डिम के लक्षण को –

इदमिति। 'ब्रह्मा ने त्रिपुरदाह नामक रूपक में डिम का यह लक्षण प्रदर्शित किया था । उसी लक्षण के अनुसार त्रिपुरदाह नामक डिम का अभिनय किया था ।' इसीलिए त्रिपुरदाह को 'डिम' कहा गया है । इस प्रकार भरतमुनि के द्वारा (ना० शा० ४। १० में) स्वयं ही त्रिपुरदाह के इतिवृत्त की समानता प्रदर्शित की गई है ॥ ५७—६० ॥

परामर्श – वस्तुतः 'डिम' का प्राचीनरूप आज उपलब्ध नहीं है। वत्सराज कृत 'त्रिपुरदाह' ही आज उपलब्ध होने वाला 'डिम' है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद के अनुसार डिम, डिम्ब, तथा विद्रव शब्द पर्यायवाची हैं, अतः जिस रूपक में विद्रव आदि का निबन्धन किया गया हो उसे 'डिम' कहा जाना चाहिए । अन्य आचार्य 'ड्यन्ते' इति 'डिमः' कहकर उद्धत नायकों की नैसर्गिक प्रवृत्तियों का इसमें प्रदर्शन होने से इसे 'डिम' कहते हैं' ॥ ५७—६० ॥

अथ व्यायोगः –

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः ।। ६० ।।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः ।
अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा ।। ६१ ।।
एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः ।

व्यायुज्यन्तेऽस्मिन्बहवः पुरुषा इति व्यायोगः । तत्र डिमवद्रसाः षट् हास्यशृङ्गार – रहिताः । वृत्त्यात्मकत्वाच्च रसानामवचनेऽपि कैशिकीरहितेतरवृत्तित्वं रसवदेव लभ्यते । अस्त्रीनिमित्तश्चात्र संग्रामो यथा परशुरामेण पितृवधकोपात्सहस्रार्जुनवधः कृतः । शेषं स्पष्टम् ।।

---

६. व्यायोग –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'व्यायोग'** नामक रूपक के छठवें भेद का निरूपण करते हैं –

ख्यातेतिवृत्तः ख्यातोद्धतनराश्रयः गर्भविमर्शाभ्याम् हीनः डिमवत् दीप्ताः रसाः स्युः अस्त्रीनिमित्तसङ्ग्रामः यथा जामदग्न्यजये एकाहाचरितैकाङ्कः बहुभिः नरैः (व्यायोगः) व्यायोगः **इत्यन्वयः** ।। ६०–६२ ।।

कारिकार्थ – ख्यातेति इति । व्यायोग का इतिवृत्त इतिहास प्रसिद्ध होता है जो पुराण प्रसिद्ध उद्धत नायक पर आश्रित होता है। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होती। इसमें 'डिम' रूपक–भेद की तरह ही छः दीप्त रस होते हैं। अर्थात् हास्य और शृङ्गार से भिन्न रसों का नियोजन इसमें होता हो सकता है। इसमें स्त्री के निमित्त युद्ध नहीं होता। जैसे 'जामदग्न्य–जय' में पितृवध के कारण परशुराम ने युद्ध किया है। इसमें एक अङ्क होता है, जिसमें एक ही दिन की कथा वर्णित होती है। इसमें पुरुष पात्रों की बहुलता होती है ।। ६०–६२ ।।

वृत्त्यर्थ – व्यायुज्यन्त इति । इसमें अनेक पुरुष–पात्र प्रयुक्त होने से इसे व्यायोग कहा जाता है – **व्यायुज्यन्ते अस्मिन् बहवः पुरुषाः** । इसमें 'डिम' रूपक–भेद की तरह हास्य शृङ्गारवर्जित छः रस होते हैं। (व्यायोग की वृत्ति का कारिका में) कथन न होने पर भी रसों के वृत्त्यात्मक होने के कारण (डिम के रसों के समान ही) कैशिकी वृत्ति को छोड़कर शेष तीन वृत्तियों का प्रयोग इसमें किया जाता है। इसका संकेत कारिका में उल्लिखित **'डिमवद्रसाः'** – इस पद से मिलता है। इसमें स्त्री निमित्त युद्ध नहीं होता, जैसे परशुराम ने पिता के वध से क्रुद्ध होकर सहस्रार्जुन का वध कर दिया था । कारिका का शेष अंश स्पष्ट है ।। ६०–६२ ।।

परामर्श – वृत्त्यात्मकत्वाच्च रसानाम् – वस्तुतः रस वृत्ति से अभिन्न है। जहां रस होते हैं, वहाँ वृत्तियाँ भी होती हैं। इसलिए कारिका में व्यायोग की वृत्ति का उल्लेख यद्यपि नहीं किया गया है, तथापि रस के अनुकूल कैशिकी वृत्ति रहित अन्य वृत्तियों का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है ।। ६०–६२ ।।

अथ समवकार: –

कार्यं समवकारेऽपि आमुखं नाटकादिवत् ॥ ६२ ॥
ख्यातं देवासुरं वस्तु निर्विमर्शास्तु सन्धय: ।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नेतारो देवदानवा: ॥ ६३ ॥
द्वादशोदात्तविख्याता: फलं तेषां पृथक्पृथक् ।
बहुवीररसा: सर्वे यद्वदम्भोधिमन्थने ॥ ६४ ॥
अङ्कैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिशृङ्गारस्त्रिविद्रव: ।
द्विसन्धिरङ्क: प्रथम: कार्यो द्वादशनालिक: ॥ ६५ ॥
चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ नालिका घटिकाद्वयम् ।
वस्तुस्वभावदैवारिकृता: स्यु: कपटास्त्रय: ॥ ६६ ॥
नगरोपरोधयुद्धे वाताग्न्यादिकविद्रवा: ।
धर्मार्थकामै: शृङ्गारो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥ ६७ ॥
वीथ्यङ्गानि यथालाभं कुर्यात्प्रहसने यथा ।

---

७. समवकार –

अथेति। अब ग्रन्थकार समवकार नामक रूपक के सातवें भेद का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – कार्यमिति । समवकार में भी नाटक आदि की तरह आमुख की नियोजना करनी चाहिए। इसमें देवों तथा असुरों से सम्बद्ध पुराण प्रसिद्ध कथा होती है। इसमें विमर्श–सन्धि को छोड़कर शेष चार सन्धियाँ होती है। वृत्तियाँ सभी होती हैं, किन्तु कैशिकी–वृत्ति की स्वल्पता का समावेश इसमें होता है। इसके नायक संख्या में १२ बारह होते हैं जो इतिहास प्रसिद्ध देव तथा दानव होते हैं। इन बारह नायकों की फल–प्राप्ति भी भिन्न–भिन्न (पृथक्–पृथक्) होती है। ये सभी नायक वीर रस से पूर्ण होते है, जैसे समुद्रमन्थन में परिलक्षित होते हैं। इसमें तीन अङ्क होते हैं, जिनमें तीन प्रकार के कपट, तीन प्रकार के विद्रव और त्रिविध शृङ्गार रहता है। इसके प्रथम अङ्क में–मुख तथा प्रतिमुख–दो सन्धियाँ होती हैं। इसकी कथा २४ घड़ी (१२ नालिका) की होती है। शेष दो अङ्कों–द्वितीय और तृतीय–में क्रमश: ४ तथा २ नालिका की कथा होती है। नालिका से तात्पर्य दो घड़ी से है। इसमें तीन कपट होते हैं, जो वस्तु–स्वभाव के द्वारा, दैव के द्वारा तथा शत्रु के द्वारा घटित होते हैं। इसमें नगरोपरोध, युद्ध, वात, अग्नि आदि उत्पातों के कारण विद्रव (पलायन) का वर्णन किया जाता है। इसमें धर्म, अर्थ तथा काम तीनों प्रकारों का शृङ्गार पाया जाता है। बिन्दु नामक अर्थप्रकृति, प्रवेशक नामक अर्थोपक्षेपक की नियोजना नहीं की जाती। प्रहसन की तरह ही इसमें यथायोग्य (यथासम्भव) वीथ्यङ्गों का समावेश किया जाना चाहिए ॥ ६२–६८ ॥

समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति **समवकार:** । तत्र नाटकादिवदामुखमिति समस्त–रूपकाणामामुखप्रापणम् । विमर्शवर्जिताश्चत्वार: सन्धय: । देवासुरादयो द्वादश नायका: । तेषां च फलानि पृथक्पृथग्भवन्ति । यथा **समुद्रमन्थने** वासुदेवादीनां लक्ष्म्यादिलाभा:, वीरश्चाङ्गी, अङ्गभूता: सर्वे रसा:, त्रयोऽङ्का:, तेषां प्रथमो द्वादशनालिकानिर्वृत्तेतिवृत्तप्रमाण:, यथासंख्यं चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ । नालिका च घटिकाद्वयम् । प्रत्यङ्कं च यथासंख्यं कपटा:। तथा नगरोपरोधयुद्धवाताग्न्यादिविद्रवाणां मध्य एकैको विद्रव: कार्य: । धर्मार्थ–कामशृङ्गाराणमेकैक: शृङ्गार: प्रत्यङ्कमेव विधातव्य: । वीथ्यङ्गानि च यथालाभं कार्याणि । बिन्दुप्रवेशकौ नाटकोक्तावपि न विधातव्यौ । इत्ययं **समवकार:** ।।

वृत्त्यर्थ — समवकीर्यन्त इति । सम्यक्रूप से जिसमें काव्यार्थों को फैला दिया जाता है, वह **'समवकार'** कहलाता है। **'इसमें नाटक आदि के समान आमुख की नियोजना की जानी चाहिए'** — इस कारिकागत कथन से सभी रूपक — भेदों में आमुख का रहना निरूपित होता है। इसमें विमर्श–सन्धि को छोड़कर अन्य चार सन्धियाँ होती हैं। देव तथा असुर आदि बारह नायक होते हैं; और उन नायकों के फल भी पृथक्–पृथक् ही होते है। जैसे — **समुद्रमन्थन** में विष्णु आदि को लक्ष्मी — रत्नों आदि का अलग–अलग लाभ हुआ है। इसमें वीररस अङ्गी होता है और शेष सभी रस इस वीररस के अंगभूत होकर रहते हैं। इसमें तीन अङ्क होते हैं। उनमें से प्रथम अंक का इतिवृत्त १२ नाड़ी तक की समयावधि का होता है। द्वितीय तथा तृतीय अंक का इतिवृत्त क्रमश: चार और दो नाड़ी में समाप्त हो जाने वाला होता है। दो घड़ी की एक नाड़ी होती है। प्रत्येक अंक में क्रमश: कपट — त्रय (स्वाभाविक, दैविक और शत्रुकृत —कष्ट) तथा नगरोपरोध, युद्ध, वायु, अग्नि, आदि उपद्रवों में से किसी एक का सन्निवेश करना चाहिए। धर्मशृङ्गार — शास्त्रविहित (या धर्म पत्नी के साथ की गई) शृङ्गारिक चेष्टा, और कामशृङ्गार परकीया नायिका के साथ ही शृङ्गारिक चेष्टा–में से एक — एक शृङ्गार का प्रत्येक अङ्क में समावेश किया जाना चाहिए । साथ ही वीथी के अङ्गों का नियोजन यथासंभव करना चाहिए । नाटक में यद्यपि बिन्दू और प्रवेशक के होने का विधान है, फिर भी उनकी योजना समवकार में नहीं की जानी चाहिए। यही **समवकार है** ।। ६२–६८ ।।

परामर्श — 'समवकार' की उपयोगिता के विषय में **आचार्य अभिनवगुप्त पाद कहते हैं कि समवकार के अभिनय का स्थान देवमन्दिर का प्राङ्गण है और समय देवयात्रा का दिवस। देवभक्त जनसमाज के सम्मुख देवों की चरित चर्चा का अभिनय करते हैं, जिससे यह रूपक देवभक्ति के प्रचार का सुन्दर साधन बन जाता है। इसमें 'विद्रव' (बहुविध उत्पात) के अभिनय से अव्युत्पन्न जन–समाज का भी पर्याप्त मनोरंजन हो जाता है । (अभिनवभारती–ना०शा० अ० १८)।।**

नाट्य दर्पणकार ने भी इसी तात्पर्य को व्यक्त किया है — वे कहते हैं कि इस रूपक भेद के दर्शक सामान्यजन ही होते हैं, जो इसमें चित्र–विचित्र रूप का मनोरंजन प्राप्त करते हैं । (ना० द० २।१४–१५)

अथ वीथी –

वीथी तु कैशिकीवृत्तौ सन्ध्यङ्गाङ्कैस्तु भाणवत् ॥ ६८ ॥
रसः सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम् ।
युक्ता प्रस्तावनाख्यातैरङ्गैरुद्घात्यकादिभिः ॥ ६९ ॥
एवं वीथी विधातव्या द्व्येकपात्रप्रयोजिता ।

विथीवद्विथी मार्गः । अङ्गानां पङ्क्तिर्वा भाणवत्कार्या । विशेषस्तु रसः शृङ्गारोऽपरिपूर्णत्वाद्भूयसा सूच्यः । रसान्तराण्यपि स्तोकं स्पर्शनीयानि । कैशिकी वृत्तिरिह रसौचित्यादेवेति । शेषं स्पष्टम् ॥

समवकार का प्राचीन रूप आज उपलब्ध नहीं है । वत्सराज (१२ वीं शती) कवि की **समुद्रमन्थन** नामक रचना इस रूपक का उदाहरण है । **भास** के **'पंचरात्र'** को **कीथ** ने समवकार माना है। किन्तु इस पर विद्वानों का मतैक्य नहीं है। (द्रष्टव्य कीथ – Skt. ăa. पृ० २६७ तथा Bhasa by Pusalkar पृ० २०२.२१०) एक ही रचना में तीनों प्रकार के कपट, विद्रव, तथा शृङ्गार के साथ–साथ उसका अठारह नाडिका का समय बहुत लम्बा हो जाता है तथा किसी नाट्य रचना में ये सभी बातें मुश्किल से आ सकती हैं। अंकों के स्वरूप को देखने से स्पष्ट है कि **'समवकार'** में कथान्विति शिथिल रहती होगी। या प्रत्येक पात्र का दूसरे से प्रगाढ़ सम्बन्ध नहीं रह पाता होगा। नाटकीय लक्षणों के अनुसार **कवि घनश्याम** कृत **'नवग्रहचरित'** (१७ वीं शती) भी **समवकार** है। इसमें कवि ने 'स्रग्धरा' या शार्दूल–विक्रीडित छन्दों का प्रचुर प्रयोग किया है ॥ ६२–६८ ॥

८. वीथी –

अथेति । अब ग्रन्थकार **'वीथी'** नामक रूपक के आठवें भेद का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – वीथिति। वीथी कैशिकी वृत्ति में होती है, (अर्थात् इसकी रचना कैशिकी वृत्ति में की जानी चाहिए।) इसमें सन्धि के अङ्ग तथा अङ्क भाण की तरह होते हैं। (अर्थात् इसमें केवल दो सन्धियाँ– मुख और निर्वहण–होती हैं और एक अङ्क की नियोजना की जाती है।) इसका रस शृङ्गार होता है जो सूच्य होता है। किन्तु अन्य रसों का भी इसमें स्वल्पमात्रा में स्पर्श (झलक) होना चाहिए। यह प्रस्तावना के पूर्व कथित १३ अङ्गों से समन्वित होती है। इस प्रकार एक या दो पात्रों के द्वारा प्रयुक्त वीथी की योजना की जानी चाहिए ॥ ६८–७० ॥

वृत्त्यर्थ – वीथीति । वीथी का अर्थ है – मार्ग अथवा अङ्गों की पंक्ति – (सन्ध्यङ्गों की पंक्ति) । वीथी (गली) की तरह यह टेढ़ा–मेढ़ा होने के कारण इस रूपक भेद को वीथी कहा जाता है –' वक्रोक्तिमार्गेणगमनाद वीथीव वीथी' । इसमें सन्ध्यङ्गों की योजना भाण की तरह ही होना चाहिए। इसमें शृङ्गार रस का पूर्ण परिपाक न होने के कारण वह प्रायः सूच्य होता है। तथा अन्य रसों का भी स्वल्प

अथाङ्कः –

उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ।। ७० ।।
रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः ।
भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गैर्युक्तः स्त्रीपरिदेवितैः ।। ७१ ।।
वाचा युद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ ।

उत्सृष्टिकाङ्क इति नाटकान्तर्गताङ्कव्यवच्छेदार्थम् । शेषं प्रतीतमिति ।।

मात्रा में स्पर्श किया जाता है। शृङ्गार रस के औचित्य के कारण ही इसमें कैशिकी वृत्ति का विधान किया जाता है। कारिका का शेष भाग स्पष्ट है ।। ६८–७० ।।

९. अङ्क या उत्सृष्टिकाङ्क –

अथेति । अब ग्रन्थकार अङ्क (या उत्सृष्टिकाङ्क) नामक रूपक के नौवें भेद का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – उत्सृष्टिकाङ्कमिति । उत्सृष्टिकाङ्क नामक रूपक भेद के लिए कवि इतिहास–प्रसिद्ध इतिवृत्त को ग्रहण करे और अपने बुद्धि–बल से उसमें परिवर्तन कर विस्तृत कर ले। इसमें अङ्गीरस करुण होता है, और इसके नायक–पात्र–प्राकृत (सामान्य) जन होते हैं। इसमें भाण की तरह ही (मुख एवं निर्वहण) सन्धि, (भारती) वृत्ति तथा उनके अङ्गों की योजना की जाती है। इसमें एक ही अङ्क होता है। (करुण रस प्रधान होने के कारण) यह स्त्रियों के विलापों से युक्त होता है। इसमें वाग्युद्ध तथा (मौखिक) जय–पराजय के वर्णन का समावेश किया जाना चाहिए ।। ७०–७२ ।।

वृत्त्यर्थ – उत्सृष्टिकाङ्कमिति । कारिका में अङ्क को उत्सृष्टिकाङ्क इसलिए कहा गया है, कि नाटकान्तर्गत (परिच्छेद–भाग के रूप में) प्रयुक्त होने वाले अङ्क से इसका भेद प्रदर्शित हो सके । कारिका के शेष अंश स्पष्ट हैं ।। ७०–७२।।

परामर्श – कतिपय नाट्याचार्य इस रूपक प्रकार को 'उत्सृष्टिकाङ्क' नाम से अभिहित करना अधिक उचित समझते हैं।

(क) उनका तर्क यह है कि 'अङ्क' तो नाटकादि रूपक–प्रबन्धों का सर्वसम्मत अन्तर्विभाग है और इसलिए इस रूपक प्रकार को 'अङ्क' शब्द के द्वारा अभिहित करना ठीक नहीं।

(ख) कुछ नाट्याचार्य 'उत्सृष्टिकाङ्क' की ऐसी व्युत्पत्ति करते हैं – वह रूपकप्रकार 'उत्सृष्टिकाङ्क' है जिसकी (इतिवृत्तरचना आदि) सृष्टि उत्क्रान्त अथवा अन्यरूपक प्रकारों से उलटी हुआ करती है । 'उत्सृष्टिकाङ्क' का उदाहरण 'शर्मिष्ठाययाति' है ।

(ग) अभिनव भारती मे 'उत्सृष्टिकाङ्क' पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार देखने को मिलती है – 'उत्क्रमणीया सृष्टिर्जीवितं प्राणा यासां ता उत्सृष्टिकाः शोचन्त्यः स्त्रियस्ताभिरङ्कित इति तथोक्तः।' (अभि० भा० १८)।। ७०–७२।।

अथेहामृगः —

मिश्रमीहामृगे वृत्तं चतुरङ्कं त्रिसन्धिमत् ॥ ७२ ॥
नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत् ॥ ७३ ॥
दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत् ॥ ७४ ॥
संरम्भं परमानीय युद्धं व्याजान्निवारयेत् ।
वधप्राप्तस्य कुर्वीत वधं नैव महात्मनः ॥ ७५ ॥

मृगवदलभ्यां नायिकां नायकोऽस्मिन्नीहते इतीहामृगः । ख्याताख्यातं वस्तु । अन्त्यः प्रतिनायको विपर्यासाद्विपर्ययज्ञानादयुक्तकारी विधेयः । स्पष्टमन्यत् ॥

---

१०. ईहामृगः —

अथेति । अब ग्रन्थकार **'ईहामृग'** नामक रूपक के दसवें भेद का निरूपण करते हैं —

कारिकार्थ — मिश्रमिति । ईहामृग —रूपक का इतिवृत्त मिश्रित होता है (अर्थात् कुछ इतिहास प्रसिद्ध और कुछ कविकल्पित।) इसमें चार अङ्क और (मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण) तीन सन्धियाँ होती हैं। इसमें मानव तथा देव में से कोई एक नायक तथा अन्य प्रतिनायक होता है। { वस्तुतः कौन नायक हो और कौन प्रतिनायक, इस विषय में कोई नियम न होने के कारण — अनियमात् — यह व्यवस्था है।}

ये दोनों ही नायक — नायक और प्रतिनायक — इतिहास प्रसिद्ध तथा प्रकृति से धीरोद्धत होते हैं। इनमें अन्तिम अर्थात् प्रतिनायक ज्ञान की विपरीतता के कारण अनुचित कार्य करता है। वह उसको न चाहने वाली (अनिच्छन्तीम्) दिव्याङ्गना को अपहरण आदि के द्वारा प्राप्त करना चाहता है। (ऐसी स्थिति में कवि को चाहिए कि वह) उस प्रतिनायक के आश्रय से शृङ्गाराभास का कुछ — कुछ वर्णन इसमें करें। साथ ही कवि नायक तथा प्रतिनायक दोनों के मध्य में युद्ध की उत्तेजना को चरमावस्था तक ले आकर किसी न किसी बहाने से युद्ध को रोक दे, और वध की अवस्था प्राप्त होने पर भी उस वीर (माहात्मा) का वध कदापि न करावें ॥ ७२—७५ ॥

{इस रूपक को **'ईहामृग'** कहने का अर्थ बताते हुए वृत्तिकार धनिक कहते हैं कि} —

वृत्त्यर्थ — मृगवदिति । इसमें नायक मृग की तरह अलभ्य किसी नायिका को प्राप्त करने की इच्छा करता है, अतः यह रूपक ईहामृग कहलाता है। कारिका में प्रयुक्त — **'अन्त्यः'** पद का अर्थ है प्रतिनायक। इसका इतिवृत्त प्रख्यात तथा उत्पाद्य का मिश्रण होता है । प्रतिनायक की भ्रमात्मक व विपरीत बुद्धि के कारण अनुचित—कर्मों को करने वाला उसे चित्रित (वर्णित) किया जाना चाहिए। (कारिका का) शेष अंश स्पष्ट है ॥ ७२—७५ ॥

इत्थं विचिन्त्य दशरूपकलक्ष्ममार्ग—
मालोक्य वस्तु परिभाव्य कविप्रबन्धान् ।
कुर्यादयत्नवदलंकृतिभिः प्रबन्धं
वाक्यैरुदारमधुरैः स्फुटमन्दवृत्तैः ।। ७६ ।।

।। इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य तृतीयः प्रकाशः समाप्तः ।। ३ ।।

स्पष्टम् ।।

।। इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके रूपकलक्षणप्रकाशो नाम तृतीयः प्रकाशः समाप्तः ।। ३ ।।

परामर्श — शृङ्गाराभासम् — जहाँ शृङ्गाररस का स्थायी 'रति' भाव नायक—नायिका में से किसी एक में हीं होता है, जहाँ अनुचित एवं बलात् कामेच्छा की तृप्ति का प्रयास होता है, वहाँ रति तथा शृङ्गार न होकर रत्याभास एवं शृङ्गाराभास होता है । **वधप्राप्तस्य** — रूपक के मूल कथानक में महापुरुष के वध का वर्णन भले ही अंकित हो, किन्तु रूपक में उसे कदापि प्रदर्शित नहीं करना चाहिए ।

कारिकार्थ — इत्थमिति। इस प्रकार दशरूपकों के लक्षणों के मार्ग का सम्यक् प्रकार से चिन्तन करके, सम्पूर्ण नाट्य कथावस्तु को भलीभाँति देखकर तथा पूर्ववर्ती महाकवियों के प्रबन्धों का परिशीलन करके अयत्नज (स्वाभाविक) अलंकारों से युक्त, स्फुट, अत्यन्त स्पष्ट व सरल छन्दों के द्वारा तथा उदार एवं मधुर वाक्यों से युक्त कवि रूपक—प्रबन्ध की रचना करे ।। ७६ ।।

वृत्त्यर्थ — स्पष्टमिति। प्रकृत श्लोक का अर्थ स्पष्ट ही है ।। ७६ ।।

श्रीमन्महामहोपाध्यायश्रीसदाशिवशास्त्रिचरणतनूजन्मना **मुसलगाँवकरोपनामकेन श्रीकेशवशास्त्रिणा** विरचितायां प्रदीपव्याख्यायां धनञ्जयकृतदशरूपकस्य रूपकलक्षणप्रकाशो नाम तृतीयः प्रकाशः समाप्तः ।। ३ ।।



चतुर्थः प्रकाशः

अथेदानीं रसभेदः प्रदर्श्यते —

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥ १ ॥

वक्ष्यमाणस्वभावैर्विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकैः काव्योपात्तैरभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरताम्

यत्र भान्ति रसाः सर्वे मूर्ता इव महेश्वरे ।
स्वस्वोपभोगभोग्याः स्यु र्गिरिजाद्यैर्नमामि तम् ॥ *(नृपति कुम्भकर्ण)*

प्रकाश—सङ्गति — {रूपकों की विशेषताओं का निरूपण करते हुए धनञ्जय ने प्रथम प्रकाश में "वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः।" (वस्तु, नेता तथा रस रूपकों के भेदक तत्त्व हैं।) यह कहकर वस्तु का साङ्गोपाङ्ग (सविस्तार) वर्णन किया है। द्वितीय प्रकाश में सपरिकर नायक का विवेचन, तथा तृतीय प्रकाश में रूपकों के विभिन्न प्रकारों के सलक्षण स्वरूपों को बताया है। अब इस चतुर्थ प्रकाश में रूपकों के निरतिशय आनन्दभूत रस का विश्लेषणात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।}

प्रदीप — अथेति। अब यहाँ (धनञ्जय) रस के भेदों का निरूपण करते हैं—

विभावैः अनुभावैः सात्त्विकैः व्यभिचारिभिः च स्वाद्यत्वम् आनीयमानः स्थायीभावः रसः स्मृतः इत्यन्वयः ॥ १ ॥

कारिकार्थ — विभावैरिति। विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव तथा व्यभिचारी भावों के द्वारा जब रत्यादि स्थायीभाव आस्वाद्य चर्वणा के योग्य — बना दिया जाता है, तब वही रस कहलाता है ॥ १ ॥

वृत्त्यर्थ — वक्ष्यमाणेति । {इसी चतुर्थ प्रकाश में} आगे वर्णित किये जाने वाले विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव तथा सात्त्विक भावों के द्वारा, (श्रव्य) काव्य में प्रयुक्त वर्णन को पढ़कर अथवा (दृश्यकाव्य) के श्रोताओं या पाठकों और दृश्य काव्य—(रूपक) के अभिनय को देखने वाले सामाजिकों के हृदय में परिवर्तनशील रत्यादि स्थायीभाव (जिसका लक्षण हम आगे वर्णित करेंगे) जब स्वाद के योग्य या स्वादगोचरता को प्राप्त करा दिया जाता है, या निरतिशय आनन्दात्मक अनुभूति के स्वरूप को — प्राप्त करा दिया जाता है तब वही 'रस' कहलाता है।

निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रस:। तेन रसिका: सामाजिका:। काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवद् आयुर्घृतमित्यादिव्यपदेशवत् ॥

तत्र विभाव: —

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत् ।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ॥ २ ॥

'एवमयम्' 'एवमियम्' इत्यतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशिष्टरूपतया ज्ञायमानो विभाव्यमान: सन्नालम्बनत्वेनोद्दीपनत्वेन वा यो नायकादिरभिमतदेशकालादिर्वा

तेनेति। (श्रव्य) काव्य या (दृश्यकाव्य अर्थात्) नाटक से प्राप्त होने वाला यह स्वाद निरतिशय (परम) आनन्द से समन्वित चेतना वाला होता है। रस का स्वाद लेने वाले सामाजिक रसिक कहलाते हैं। क्योंकि काव्य या नाटक को पढ़ने या देखने से परमानन्द की अनुभूति सामाजिकों में ही होती है इसलिए सामाजिक गण ही **'रसिक'** हैं। और काव्य (श्रव्य या दृश्य) तो केवल इस प्रकार की अलौकिक आनन्दानुभूति (निर्भर आनन्द चेतना) को प्रकट या उद्‌बोधन का कारण, उसका हेतु होने से **'रसवत्'** अर्थात् रसयुक्त, सरस कहलाता है, जैसे कि घृत आयु की वृद्धि में कारण होने से **'आयुर्घृतम्'** (घृत ही आयु है।) कहा जाता है। {यहाँ वृत्तिकार धनिक का तात्पर्य यह है कि घृत मनुष्य की आयु और बल को बढ़ाता है, वह तो आयु तथा बल की वृद्धि करने में हेतु मात्र (कारण) है, अत: हम घृत को भी आयु की संज्ञा देते हैं ठीक इसी प्रकार काव्य (श्रव्य हो या दृश्य) परमानन्दरूप रस के उद्‌बोधन का कारण है, इसलिए कार्यकारणभाव जन्य लक्षणा के आधार पर हम काव्य को **'रसवत्'** कहते हैं। वस्तुत: काव्य रसवान् नहीं होता, वह तो केवल रस—आनन्द—का हेतु मात्र होता है, रसवान् होते हैं सामाजिक} ॥ १ ॥

तत्रेति। अब ग्रन्थकार उनमें **विभाव के स्वरूप** का निरूपण करते हैं —

तत्र ज्ञायमानतया भावपोषकृत् विभाव: स च आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन द्विधा **इत्यन्वय:** ॥ २ ॥

कारिकार्थ — ज्ञायमानतयेति। उन (विभाव आदि रस के कारणभूतों) में विभाव वह है जो स्वयं जाना हुआ (परिज्ञात) होकर स्थायीभाव को पुष्ट करता है। वह (विभाव) आलम्बन तथा उद्दीपन के भेद से दो प्रकार का होता है ॥ २ ॥

वृत्त्यर्थ — एवमयमिति। यह (दुष्यन्त आदि नायक) ऐसा है'' तथा **''यह** (शकुन्तला आदि नायिका) **ऐसी है''**— इस प्रकार नायक आदि अथवा अभीष्ट **देश—काल आदि के अतिशयोक्ति रूप में काव्य द्वारा चित्रित किये हुए वर्णन एक विशिष्ट रूप के हो जाने के कारण अथवा एक विशिष्ट व्यक्ति के चित्र को उभारनेवाले होने के कारण, वे आलम्बनरूप में अथवा उद्दीपनरूप में जाने जाते हैं, वे ही विभाव कहे गये हैं ।**

{तात्पर्य यह है कि कवि अपने काव्य में (वह श्रव्य हो या दृश्य हो) राम, दुष्यन्त आदि नायकों तथा सीता, शकुन्तला आदि नायिकाओं और अभीष्ट

स विभाव:। यदुक्तम् – 'विभाव इति विज्ञानार्थः' इति तांश्च यथास्वं यथावसरं च रसेषूपपादयिष्याम: ।

अमीषां चानपेक्षितबाह्यसत्त्वानां शब्दोपधानादेवासादिततद्भावानां सामान्यात्मनां

देश—काल के अतिशयोक्ति रूप वर्णन के द्वारा विशिष्ट दुष्यन्तादि या देश—काल के ही रूप को चित्रित, रेखांकित करता है और सामाजिक (दर्शक) या पाठक यह समझ लेता है कि दुष्यन्त ऐसा है, शकुन्तला ऐसी है, या वसन्त ऋतु ऐसा होता है।' इस प्रकार के विशिष्ट रूप में सामाजिकों के ज्ञान का विषय बनाने वाले वर्णन विभाव कहलाते हैं। ये आलम्बन रूप में नायक नायिकाएँ हो सकती है या उद्दीपन रूप में देश—काल आदि।}

यदुक्तमिति। जैसा कि (भरत द्वारा) कहा गया है—'**विभाव का अर्थ है विज्ञान**' {अर्थात् जिनके द्वारा विशेषरूप से ज्ञान करवाया जाता है वे विभाव कहलाते हैं।} जिस रस के जो विभाव होते हैं उन्हें यथावसर रसों के विवेचन के प्रसंग में प्रतिपादित करेंगे ।।

परामर्श – **विभाव** शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए आचार्य भरत के द्वारा नाट्यशास्त्र में विभाव का अर्थ '**विज्ञान**' बताया गया है और विभाव के '**कारण, निमित्त या हेतु**' – ये पर्यायवाची या समानार्थक शब्द कहे गए हैं। क्योंकि वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनय के द्वारा जो विशिष्टतया ज्ञात होते हैं, वे **विभाव** हैं। अथवा वाचिकादि अभिनयों के आश्रय करने वाले अनेक अर्थों का अवबोध होता है, (जाने जाते हैं) अत: इसे '**विभाव**' संज्ञा से अभिहित किया गया है। (ना०शा० ७।३—४)।। जैसा कि ऊपर बताया है कि विभाव, वे कारण, हेतु या निमित्त हैं जिनसे रसानुभूति होती है। वे दो प्रकार के होते हैं – (१) **आलम्बन** विभाव और (२) **उद्दीपन** विभाव । जिसका आलम्बन करके (अर्थात् जिसका आश्रय लेकर) रस की उत्पत्ति होती है, उसे "**आलम्बन विभाव**" कहते हैं। यथा – **शकुन्तला** को देखकर **दुष्यन्त** के मन में और दुष्यन्त को देखकर शकुन्तला के मन में रति की उत्पत्ति होती है और उन दोनों को देखकर दर्शकों के मन में रस की उत्पत्ति होती है। अत: सीता, राम, शकुन्तला—दुष्यन्त आदि शृङ्गाररस के 'आलम्बन विभाव' कहलाते हैं। चाँदनी, उद्यान, एकान्त स्थल, नदी—तट एवं वसंत ऋतु के द्वारा उस रति का उद्दीपन होता है। अत: उन्हें शृङ्गाररस का 'उद्दीपनविभाव' कहा जाता है। प्रत्येक रस के अनुसार उसके आलम्बन और उद्दीपन विभाव भिन्न—भिन्न होते हैं। **अतिशयोक्ति रूप** – द्वि०।४ कारिका की वृत्ति में प्रयुक्त '**अतिशयोक्तिरूप का व्यापार**' वाक्यांश का अर्थ यहाँ अलङ्कार विशेष नहीं है, अपितु कवि की लोकोत्तर या लोकातिशायी वर्णन शैली है। इस वर्णन शैली के द्वारा ही कवि सामान्य पात्रों को भी असाधारण और आकर्षक रूप में प्रस्तुत करता है ।।

वृत्त्यर्थ – अमीषामिति। और ये विभाव अर्थात् राम और सीता, दुष्यन्त—शकुन्तला एवं वसंत आदि ऋतु उद्दीपन विभाव (नायक नायिकाएँ) बाह्यसत्ता

स्वस्वसंबन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामालम्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता। तदुक्तं **भर्तृहरिणा** –

(अर्थात् मूर्तरूप) की अपेक्षा न करके केवल शब्द की उपाधि की शक्ति से उन–उन भावों को प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने–अपने रूप में प्रकट होते हैं। इस प्रकार ये विभाव अपने विशिष्टरूप में न उभरकर साधारणीकृत (सामान्य) रूप वाले होकर सहृदयों (भावकों) पाठकों या दर्शकों के द्वारा अपने से ही सम्बन्धित समझे जाते हैं। इस प्रकार सहृदयों–दर्शकों या–पाठकों के हृदय में साक्षात् रूप से विस्फुरित–उभरते हुए ये आलम्बन आदि भाव हो जाते हैं। अत: {श्रव्यकाव्य का नायक जो वस्तुत: आलम्बन विभाव है, दृश्य काव्य के समान प्रत्यक्षरूप से दिखाई न देने पर भी उन–सीता–राम आदि } नायक–का अभाव नहीं होता। (न **वस्तु शून्यता**)।।

परामर्श – काव्य में वर्णित विभाव और लौकिक विभावों में अन्तर होता है। काव्य में कवि अतिशयोक्तिरूप काव्य व्यापार के द्वारा विशिष्ट दुष्यन्तादि के रूप को प्रस्तुत करता है। और सहृदय दर्शक यह समझता है कि 'दुष्यन्त' ऐसा है। लौकिक ज्ञान में विभाव के भौतिकसत्त्व की नितान्त आवश्यकता होती है जैसे पुस्तक के ज्ञान में प्रत्यक्षरूप से पुस्तक इन्द्रियग्राह्य होनी चाहिए, किन्तु काव्य में वर्णित विभावों को बाह्यसत्त्व–भौतिक सत्ता की आवश्यकता–अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि काव्य में वर्णित विभावों की भावना, उनका ज्ञान तो काव्य में प्रयुक्त शब्दों के द्वारा ही हो जाता है। इसके अतिरिक्त लौकिक ज्ञान के विषय विशिष्ट होते हैं, जबकि काव्य–वर्णित विभाव सामान्यरूप–सामान्यात्मना के होते हैं। सहृदय–दर्शकों के हृदय में इन विभावों के सामान्यरूप का अर्थात् साधारणीकृत रूप का–प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इसलिए इनमें वस्तुशून्यता नहीं होती। वस्तुत: शब्दों के द्वारा, जब हम किसी वस्तु के बौद्धिक ज्ञान को प्राप्त करते हैं, तो वह प्रत्यक्ष–सा ही होता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दोनों ही साहित्यशास्त्री (भारतीय और पाश्चात्य) लौकिक ज्ञान व काव्यसम्बन्धी ज्ञान में यह भेद मानते हैं, कि लौकिक ज्ञान में व्यक्ति व विशिष्ट का ज्ञान होता है और काव्य में जाति या सामान्य का । **अरस्तु** के मत में काव्य **सामान्य** (सार्वभौम) की अभिव्यक्ति है और **इतिहास विशेष** की। नामरूप से विशिष्ट व्यक्तियों के माध्यम से इसी सामान्य या सार्वभौमिकता की सिद्धि काव्य का प्रयोजन होता है। इसी को भारतीय साहित्यविद् **'साधारणीकरण'** कहते हैं। **अरस्तू** काव्य का वर्ण्य–विषय विशिष्ट न मानकर, उसमें निहित सामान्य मानव–अनुभव को मानते हैं । 'नामरूप से विशिष्ट व्यक्तियों के माध्यम से सार्वभौमता की सिद्धि' भारतीय काव्य शास्त्र में प्रतिपादित प्रख्यात **'साधारणीकरण'** व्यापार है –

'भावकत्वं साधारणीकरणम् । तेन हि व्यापारेण विभावादय: स्थायी च साधारणी क्रियन्ते । साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादि–सामान्येनोपस्थिति:' । (काव्यप्रकाश टीका)

'शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान् ।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते ।।' इति (वाक्० ३.७.५)
षट्साहस्त्रीकृताप्युक्तम् – 'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते' इति ।।

'अर्थात् –भावकत्व ही साधारणीकरण है। उस व्यापार से विभावादि और स्थायीभाव का साधारणीकरण हो जाता है। और साधारणीकरण का अर्थ है–सीतादि विषयों का कामिनीरूप में उपस्थित होना।' इस की व्याख्या करते हुए **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** जी ने लिखा है–' जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यत: सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती है। (विषय का) इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ **साधारणीकरण** कहलाता है।'' (चिन्तामणि, भाग १ पृ० २२७)।।

वृत्त्यर्थ – तदुक्तमिति। इसी बात को **भर्तृहरि** ने { वाक्यपदीय के साधन समुद्देश–प्रकरण में} कहा है –

शब्दोपहितेति। 'काव्यानुशीलन के अवसर पर सहृदय पाठक शब्द के सामर्थ्य से उपस्थापित रूप को धारण करने वाले, बुद्धि के विषय–भाव को प्राप्त हुए अर्थात् बुद्धि या ज्ञान के विषय बने हुए, कंस आदि को, प्रत्यक्ष की तरह, वीरादि रसों का साधन समझने लगता है' ।

{तात्पर्य यह है कि 'वाक्यादि में जब हम 'कंस' आदि शब्द का प्रयोग करते हुए उच्चारण करते हैं, तो शब्दोच्चारण के साथ ही साथ वे शब्द कंसादि के रूप को बुद्धि का विषय बना देते हैं, और फिर बुद्धिगत कंसादि को हम प्रत्यक्ष–मूर्तरूप की तरह (कर्म आदि) कारक आदि साधन के रूप में ग्रहण करते हैं।}

षट्साहस्त्री के कर्ता **आचार्यभरत** ने भी कहा है – ''(शब्दों के द्वारा उपस्थापित) इन (विभावादि) से सामान्य गुणों के योग से रसों की निष्पत्ति हो जाती है।'' अर्थात् ये विभाव, सामान्य गुणयुक्त होकर ही रस को निष्पन्न करते हैं।

परामर्श – अमीषाम् – इस पद का अर्थ है – **विभावादिकों का** । अब यहाँ एक **शङ्का** उत्पन्न होती है कि श्रव्य काव्य में विभावादि तो शब्दों तक ही सीमित रहते हैं, उन विभावादि पात्रों–नायक–नायिका–की वास्तविक सत्ता मूर्तरूप में तो पाठकों के सम्मुख होती ही नहीं है, ऐसी ही स्थिति दृश्यकाव्य में होती है, मञ्च पर दुष्यन्तादि वास्तविक न होकर अवास्तविक ही रहते हैं, यही बात उद्दीपन विभाव – मालिनी तटादि – की भी रहती है, तो फिर वस्तुशून्यता के कारण उन विभावादिकों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता, अत: काव्य के विभावादि में ज्ञायमानत्व घटित नहीं होता। तो फिर वे सहृदय पाठकों की रसानुभूति में आलम्बन आदि विभाव कैसे बनेंगे ? इस शङ्का का उत्तर **धनिक** ने **''अमीषां''** से **''निष्पद्यन्ते''** तक के अंश के द्वारा दिया है । **अपनेक्षितबाह्यसत्त्वानाम्** – लोक की वस्तुओं के ज्ञान के लिए तो उन वस्तुओं के भौतिकसत्त्व (मूर्तरूप) की आवश्यकता होती है, किन्तु काव्य में रसानुभूति के लिए विभावों–नायक–नायिका आदि की बाह्य सत्ता, मूर्तरूप की कतई

तत्रालम्बनविभावो यथा –

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकनिधिः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ।। (विक्रमो० १.१०)

आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि – **शब्दोपधानादेवासादिततद्भावानाम्** – काव्य के नायक–नायिका आदि विभावों की भावना, उनका ज्ञान, उनका मूर्तरूप तो काव्यपाठ करते समय काव्य में प्रयुक्त शब्दों में निहित उनके सामर्थ्य से ही हो जाता है। कारण यह है कि काव्यगत विभाव सामान्यरूप (सामान्यात्मना) के होते हैं। वे विशिष्टव्यक्ति न होकर सर्वसाधारण के से प्रतीत होते हैं। इसलिए सहृदय दर्शकों के हृदय में इन विभावों के सामान्यरूप का–सार्वभौमता का अर्थात् साधारणीकृतरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अतः इनमें वस्तुशून्यता नहीं होती। निश्चय ही ये रसोब्दोधक होते हैं।

तत्रालम्बनेति। उन (उपर्युक्त दो प्रकार के विभावों) में **आलम्बन विभाव** यह है – {कालिदास कृत **विक्रमोर्वशीय** में **पुरुरवा** की रति के आलम्बनरूप **उर्वशी** का वर्णन इस प्रकार है–}

अस्या इति। {राजा **पुरुरवा** उर्वशी को देखकर मन में सोचता है –} इसके निर्माण में क्या कान्ति प्रदान करने वाला चन्द्रमा ही प्रजापति (निर्माणकर्ता) बना था ? अथवा केवल शृङ्गारमय कामदेव स्वयं अथवा पुष्पाकर मास (वसन्त ऋतु) इसका निर्माता बना ? क्योंकि वेदाभ्यास के कारण जड़मति और भोगविलास के शृङ्गारोचित विषयों के प्रति कौतूहल रहित (अर्थात् विरत) बूढ़ा (पुराना) मुनि अर्थात् वृद्ध–ब्रह्मा इस मनोहररूप का निर्माण करने में कैसे समर्थ हो सकता है।'' {कदापि नहीं, क्योंकि इतनी सुन्दर सृष्टि करने का सामर्थ्य चन्द्रमा, कामदेव, या वसन्तऋतु में ही हो सकता है, उस जरठ ब्रह्मा में कहाँ?}।।

परामर्श – नाटक देखने वाले सहृदय सामाजिक के लिए नायक व नायिका दोनों ही आलम्बन विभाव होते हैं। किन्तु नाटक के नायक के लिए नायिका और नायिका के लिए नायक आलम्बन विभाव होते हैं। यहाँ प्रस्तुत उदाहरण में **उर्वशी नायिका** ही नायक **पुरुरवा** के लिए आलम्बन है। अर्थात् पुरुरवा (नायक) की रति का आलम्बन उर्वशी है ।।

उद्दीपनेति। उद्दीपन विभाव (का उदाहरण) जैसे –

{उद्दीपन विभाव – इसका अर्थ है,– उत्तेजित करने वाला पदार्थ, वे विभाव अर्थात् हेतु, निमित्त या कारण जो हृदयस्थ स्थायीभाव को उत्तेजित करते हैं। इसके अन्तर्गत देश–काल आदि का समावेश होता है। किसी भी आलम्बन विभाव (नायक या नायिका) के कारण उद्बुद्ध स्थायीभाव को ये उद्दीपन विभाव और अधिक उद्दीप्त कर रसत्व को पहुँचाते हैं। यहाँ चन्द्रिकारूप उद्दीपनविभाव का उदाहरण है} –

उद्दीपनाविभावा यथा –

'अयमुदयति चन्द्रश्चन्द्रिकाधौतविश्वः–
परिणतविमलिम्नि व्योम्नि कर्पूरगौरः ।
ऋजुरजतशलाकास्पर्धिभिर्यस्य पादै–
र्जगदमलमृणालीपञ्जरस्थं विभाति ॥'

अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः ।

स्थायिभावाननुभावयन्तः सामाजिकान् सभ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रसपोषकारिणोऽनुभावाः। एते चाभिनयकाव्ययोरप्यनुभावयतां साक्षाद्भावकानुभवकर्म–तयानुभूयन्त इत्यनुभवनमिति चानुभावा रसिकेषु व्यपदिश्यन्ते। विकारो

अयमिति। 'कर्पूर के समान श्वेत वर्णवाला, तथा (अपनी निर्मल) चान्दनी से अखिल विश्व को प्रक्षालित करने वाला यह चन्द्रमा अत्यन्त निर्मल आकाश में उदित हो रहा है। इसकी सीधी–सीधी चाँदी की शलाकाओं से स्पर्धा करने वाली श्वेत किरणों से (चरणों से) यह जगत् निर्मल एवं कोमल मृणालनिर्मित पिंजरे में स्थित सा परिलक्षित हो रहा है ॥''

परामर्श – उक्त श्लोक में चन्द्रमा की निर्मल चांदनीरूप उद्दीपनविभाव का वर्णन किया गया है। मान लीजिये नायिका शकुन्तला को देखकर नायक दुष्यन्त के हृदय में सुप्तावस्था में स्थित रति स्थायीभाव उद्बुद्ध हो उठता है। इस रतिभाव के उद्बुद्ध होने में चन्द्रमा की चांदनी और एकान्त का समय आदि विभाव हैं जो उस उद्बुद्ध रतिभाव को दुष्यन्त के हृदय में उद्दीप्त करते हैं । इसलिए ये उद्दीपनविभाव कहे जाते हैं ॥

अब ग्रन्थकार **अनुभाव** का लक्षण बताते हैं –

कारिकार्थ – अनुभाव इति। { सहृदय सामाजिक (दर्शक या पाठक) के हृदय में स्थित रति आदि} भावों की सूचना करने वालें विकार { अर्थात् नायक के शरीर में परिलक्षित होने वाले परिवर्तन} ही 'अनुभाव' हैं। (कहे जाते हैं।) ॥ ३ ॥

वृत्त्यर्थ – स्थायीति। (सहृदय) सामाजिकों को (रति आदि) स्थायीभावों का अनुभव कराने वाले, एवं रस का परिपोष करने वाले, (आश्रय के) भ्रूविक्षेप तथा कटाक्ष आदि (शरीर के विकार या व्यापार आदि) अनुभाव हैं । { इन्हें (अनुभाव) इसलिए कहा जाता है} क्योंकि ये अभिनय (अर्थात् दृश्यकाव्य नाटक) तथा काव्य (अर्थात् श्रव्य–काव्य, महाकाव्यादि) में इन अनुभावों (शारीरिक विकृतियों, भ्रूविक्षेप, तथा कटाक्ष आदि) का साक्षात् (प्रत्यक्ष) अनुभव करने वाले (दर्शकों) रसिकों के अनुभव के कर्म के रूप में अनुभूत होते हैं, (अर्थात् सहृदय सामाजिकों के अनुभव के विषय होते हैं) इसलिए रसिकों में इनका अनुभवन (अनु–पश्चात्–भवनम् उत्पत्तिः येषां ते, अर्थात् जिनकी उत्पत्ति पश्चात् होती है।) होने से इन्हें अनुभाव (अनुभूयन्ते इत्यनुभावाः) कहा गया है। कारिकागत–'**विकारोभावसंसूचनात्मकः**'–भावों को सूचित

भावसंसूचनात्मक इति तु लौकिकरसापेक्षया, इह तु तेषां कारणत्वमेव। यथा ममैव —

'उज्जृम्भाननमुल्लसत्कुचतटं लोलभ्रमद्भ्रूलतं
स्वेदाम्भः स्नपिताङ्गयष्टिविगलद्व्रीडं सरोमाञ्चया ।

करने वाला विकार अनुभाव है—यह कथन लौकिक रस की दृष्टि से ही है। यहाँ अर्थात् अभिनयात्मक नाट्य या काव्य में तो ये (अनुभाव रस परिपोष) के कारण ही होते हैं। अर्थात् — { लोक में नायक नायिका का जो प्रेम—प्रसंग देखने में आता है, वह लौकिक रस कहा जाता है। लौकिक प्रेम रस में भ्रूविक्षेप आदि शारीरिक विकार उस प्रेम (रस) जन्य होते हैं, इसलिए वे '**कार्य**' कहलाते हैं। नाटक (दृश्य) व काव्य (श्रव्य) का रस, जिसकी चर्वणा सहृदय दर्शकों और पाठकों द्वारा की जाती है, वह **अलौकिक रस** है। वह अनुभाव के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता, इसलिए यहाँ (नाट्य या काव्य में) इन्हें कारण कहा जाना ही उपयुक्त होगा। अनुभाव शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी—'**सामाजिकान् स्थायिभावान् अनुभावयन्तीति अनुभावाः**'। अनुभावों को काव्य में पढ़कर या नाटक में देखकर सहृदय दर्शकों को दुष्यन्त आदि के रति का अनुभव होता है। इसीलिए अनुभाव रस के पोषक निमित्त कारण हो जाते हैं। या ऐसा भी कहा जा सकता है—'**अनुभूयन्ते इत्यनुभावाः।**' जिनका अनुभव किया जाय, वे अनुभाव हैं।}

परामर्श — अनुभाव — वे सब शारीरिक परिवर्तन जो किसी स्थायीभाव की जाग्रति के कारण उत्पन्न होते हैं और जिनको व्यावहारिक लोक में किसी स्थायीभाव का कार्य माना जाता है **अनुभाव** कहे जाते हैं। व्यावहारिक जगत् में स्थायीभाव के कार्यरूप शारीरिक परिवर्तनों से इनकी भिन्नता द्योतित करने के लिए ही इनको अनुभाव कहा जाता है क्योंकि रंगमंच पर स्थित पात्रों को नायकान्तर्गत स्थायीभाव के स्वरूप का ज्ञान इनसे ही होता है। और इस कारण भी इनको अनुभाव कहा जाता है कि ये दर्शकों में समान स्थायीभाव को जाग्रत करते हैं। यहाँ विशेष उल्लेख करने की बात यह है कि आलम्बन (नायक नायिका) के शारीरिक विकार 'अनुभाव' के अन्तर्गत नहीं आते हैं। वे 'हाव' 'हेला' आदि के अन्तर्गत आते हैं, तथा उद्दीपन विभाव के अङ्गभूत हैं — (दश० रू० २।३३) '**अल्पालापः सशृङ्गारो हावोऽक्षिभ्रूविकारकृत ।' स एव हेला सुव्यक्तशृङ्गाररससूचिका ।**' (२।३४) ॥

वृत्त्यर्थ — यथेति। अनुभावों के उदाहरण के लिए (वृत्तिकार धनिक कृत) मेरा पद्य उपन्यस्त किया जा सकता है — {इसमें किसी युवक को देखकर रति भाव से आविष्ट सुन्दरी के अनुभावों का वर्णन किया गया है — कवि सुन्दरी के अनुभावों को देखकर कहता है —}

उज्जृम्भेति। हे मुग्धे! वह युवक निश्चित ही धन्य है, जिसे देखने पर तुमने कामासक्त होकर, जँभाई लेते हुए, स्तनतट को ऊपर की ओर उठाकर, भ्रू—लता को चञ्चलता के साथ घुमाते हुए, शरीर को स्वेदाम्बु से नहलाते हुए तथा लज्जा का त्याग करते हुए, रोमाञ्चित होकर, जिसके मुख पर दुग्ध—महासागर के फेन समूह के

धन्यः कोऽपि युवा स यस्य वदने व्यापारिताः सस्पृहं
मुग्धे दुग्धमहाब्धिफेनपटलप्रख्याः कटाक्षच्छटाः ।।' {धनिकस्य}
इत्यादि यथारसमुदाहरिष्यामः ।।

हेतुकार्यात्मनोः सिद्धिस्तयोः संव्यवहारतः ।। ३ ।।

तयोर्विभावानुभावयोर्लौकिकरसं प्रति हेतुकार्यभूतयोः संव्यवहारादेव सिद्धत्वान्न पृथग्लक्षणमुपयुज्यते । तदुक्तम्—'विभावानुभावौ लोकसंसिद्धौ लोकयात्रानुगामिनौ लोकस्वभावानुगतत्वाच्च न पृथग्लक्षणमुच्यते' इति ।।

अथ भावः —

सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम् ।

अनुकार्याश्रयत्वेनोपनिबध्यमानैः सुखदुःखादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो

सदृश श्वेत कटाक्षों की छटा को बिखेर दिया है। (वह युवक निश्चित ही भाग्यशाली है।') इत्यादि, (इन अनुभावों को) रसों के अनुसार, उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया जायगा ।।

कारिकार्थ — हेत्विति। ये दोनों {विभाव तथा अनुभाव लौकिक} रस के कारण तथा कार्य हैं तथा लोक व्यवहार में इनका प्रत्यक्ष स्वरूप परिलक्षित होने से ये व्यवहार से सिद्ध हैं, (अतः इनका पृथक् लक्षण नहीं किया गया है।) ।। ३ ।।

वृत्त्यर्थ — **तयोर्विभावेति।** (अर्थात्) ये दोनों विभाव तथा अनुभाव जो लौकिक रस (अर्थात् रति आदि भाव) के प्रति हेतु तथा कार्य हैं, लौकिक व्यवहार से ही सिद्ध होने से जाने जाते हैं, इसलिए इनका पृथक् लक्षण बतलाना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। जैसा कि (आचार्य भरत ने) कहा भी है—'विभाव तथा अनुभाव लोक से ही सिद्ध हैं अर्थात् प्रसिद्ध हैं, और सदा लोक—व्यवहार में प्रचलित हैं, या मानव प्रकृति के अतिशय अनुगामी हैं अथवा लोकयात्रानुगामी हैं — इसलिए इनका अलग से लक्षण नहीं दिया गया है।' (ना०शा०अ० ७। श्लो० ५—६)।। ३ ।।

अथेति। अब ग्रन्थकार यहाँ {चतुर्थ प्रकाश की प्रथम कारिका में विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारीभाव के साथ जुड़े हुए} **'भाव'** — का निरुपण करते हैं —

कारिकार्थ — सुखदुःखेति। (श्रव्य) काव्य या (दृश्यकाव्य) नाटक में आश्रयरूप में वर्णित अनुकार्य (राम—दुष्यन्तादि) के सुख—दुःख, हर्ष—शोक आदि भावों के द्वारा सहृदय (पाठक या सामाजिक) के अन्तःकरण को भावित (अर्थात् वासित) करना ही भाव कहलाता है । {अर्थात् आश्रय के भाव तथा सहृदय सामाजिक भाव की तन्मयता (एकतानता) को ही 'भाव' कहा जाता है।}

वृत्त्यर्थ — **अनुकार्येति।** नाटक में अनुकार्य (राम—दुष्यन्तादि) को आश्रयत्वेन वर्णित किये गये व्यक्तियों के सुख—दुःखादि भावों के द्वारा, सहृदय के अन्तःस्थ (अन्तर्वर्ती) तद्—तद् भावों के भावन अर्थात् वासन को ही 'भाव' कहा

भावनं वासनं भावः। तदुक्तम्—'अहो ह्यनेन रसेन गन्धेन वा सर्वमेतद्भावितम् वासितम्' इति।

यत्तु 'रसान् भावयन् भावः' इति 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भावः' इति च, तदभिनयकाव्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनंम् । ते च स्थायिनो व्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणाः ।

जाता है। जैसा कि (नाट्यशास्त्र में) कहा गया भी है – "अहो, इस रस से अथवा गन्ध से यह सब (पदार्थ) भावित अर्थात् वासित (सुवासित) कर दिया गया है।" {यह इस प्रकार है, जैसे नाटक देखते समय शकुन्तला की वियोग पीड़ा से अत्यन्त दुःखित दुष्यन्त को देखकर जो उसके दुःख के साथ हमारे हृदय की तदाकारता अर्थात् तन्मयता या एकतानता हो जाती है, वही भाव है। अनुकार्य (दुष्यन्तादि) के सुख–दुःखादि भाव हमारे (सहृदय दर्शकों के) हृदय को उसी प्रकार वासित कर देते हैं जैसे अगरबत्ती में निहित सुवास–सुगन्ध–स्फुटित होने पर समीप के प्रदेश को सुवासित कर देता है।}

यत्त्विति। और जो आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में (७–२,३) 'भाव' शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए कहा है कि – 'रसों को भावित करने के कारण ये भाव कहे जाते हैं' अथवा 'कवि के आन्तरिक भावों को भावित करने के कारण ये भाव कहे जाते हैं' – वह तो अभिनय (नाट्य–दृश्य काव्य) तथा (श्रव्य) काव्य के लिए प्रयुक्त होने वाले भाव शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त कथन है। और वे भाव दो प्रकार के हैं – १. स्थायी और २. व्यभिचारी, जिनके स्वरूप का वर्णन आगे किया जायगा ।।

परामर्श – अब यहाँ शंका उत्पन्न होती है कि भरत ने भाव शब्द की व्युत्पत्ति दूसरे प्रकार से की है– और धनिक ने जो भाव शब्द की व्युत्पत्ति ऊपर दी है, वह अन्य प्रकार की है, अतः धनिक कृत व्युत्पत्ति भरत से विपरीत होने के कारण स्वीकार्य नहीं है। इस शंका का उत्तर धनिक ने यह दिया है कि भरत द्वारा दी हुई दो व्युत्पत्तियाँ उस भाव शब्द की हैं, जो काव्य व अभिनय का बोधक या प्रवर्तक है तथा उनका प्रयोग उन्हीं दोनों काव्यों से सम्बद्ध भाव के लिए होता है। अर्थात् भरतकृत प्रथम लक्षण भावात्मक काव्य की दृष्टि से और दूसरा लक्षण भावात्मक अभिनय की दृष्टि से किया गया है। जबकि मेरे द्वारा अर्थात् धनिक कृत भाव शब्द की व्युत्पत्ति रसिक (सहृदय) के हृदय को भावित (वासित) करने वाले भाव की दृष्टि से की गई है। अतः दोनों ही व्युत्पत्तियों का विषय भेद होने से धनिक कृत व्युत्पत्ति का भरतकृत व्युत्पत्ति से कोई विरोध परिलक्षित नही होता ।

तात्पर्य यह है कि 'भाव' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है – १. वह जो किसी वस्तु के होने का कारण होता है (भावन) और २. वह जो प्रभावित करता है (वासन)। इन दोनों ही प्रयोगों में 'भाव' शब्द एक प्रकार के कारण का वाचक होता है। इस प्रकार से अभिनेता के अन्तःकरण में वर्तमान भाव जिनको वह तीन प्रकार के अभिनयों से प्रकट करता है रंगमंच के प्रदर्शन में रस को उत्पन्न करने

के कारण होते हैं। इसी प्रकार से नाटककार के अन्त:करण में वर्तमान भाव उस समय रस को उत्पन्न करते हैं जब उन भावों को स्वाभाविकरूप में प्रकट करने वाले शारीरिक परिचालनों एवं परिवर्तनों को उपयुक्त भाषा में प्रकट किया जाता है ।

परन्तु **'भाव'** शब्द का दूसरा अर्थ 'व्याप्त होना' **दर्शक के दृष्टिकोण** से ही संभव है, जिसका प्रयोग **'धनिक'** ने किया है। आचार्य **अभिनव गुप्त** ने बहुत ही उपयुक्त उदाहरण के द्वारा इसे स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि—कस्तूरी के समान सुगन्धित वस्तु अपने संयोग से दूसरी वस्तुओं को सुगन्धित कर देती है अथवा उसमें व्याप्त हो जाती है। कस्तूरी के तत्त्वत: व्याप्त होने के कारण वह वस्त्र सुवासित हो जाता है जिसमें उसको रखा जाता है। वह प्रक्रिया जिससे कोई निर्गंध वस्तु दूसरी वस्तु की सुगन्ध को ग्रहण कर लेती है 'भाव अथवा 'भावना' कही जाती है। इस प्रकार से दर्शक के दृष्टिकोण से मानसिक दशाओं को इसलिए भाव कहा जाता है क्योंकि वे दर्शक के अन्त:करण में उसी प्रकार से व्याप्त होते हैं जिस प्रकार से कस्तूरी अपने सम्पर्क में आने वाले वस्त्र में व्याप्त हो जाती है —

।। न हि कस्तूरिका गन्धेन प्रस्तुतं तद्‌गन्धं क्रियते गुणस्यासङ्क्रान्ते: न च तत्सदृशगुणान्तरोत्पत्ति: । यावद्द्रव्यभावित्वाद्‌गन्धादीनां वस्त्रादौ च विनाशप्रतिपत्ते: केवलं कस्तूरिकाद्रव्यमेव तावद्रूपदेशचैतन्याक्रमणस्वभावं वस्त्रादिकेऽपि तथा प्रतिपत्ति—माधत्ते ।। (अभि० भा० ७।१)।।

भरतकृत भाव—विवेचन का तात्पर्य यह है कि जो रस का भावन करे वे भाव हैं, अर्थात् भरत के मत में भाव रस—व्यंजक सामग्री का ही द्योतक है, जिसके अन्तर्गत स्थायी, संचारी के साथ विभाव और अनुभावों का भी समावेश हो जाता है। किन्तु आगे चलकर उन्होंने विभाव और अनुभाव को पृथक् कर दिया है और भावों की संख्या **उनचास** मानी है **आठ** स्थायी भाव, **तैतींस** संचारीभाव और **आठ** सात्त्विक भाव — 'एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहोतव एकोनपंचाशद्‌भावा: प्रत्यवगन्तव्या: ।।' (ना० शा० ७। पृ० ३७६)

काव्यशास्त्र का आलोड़न करने के पश्चात् यह **स्पष्ट** हो जाता है कि **'भाव'** का सामान्यत: तीन अर्थों में प्रयोग हुआ है : (१) संपूर्ण रसव्यंजक सामग्री के अर्थ में जिसमें विभाव, अनुभाव, स्थायी, संचारी सभी का समावेश हो जाता है, (२) काव्यगत स्थायी, संचारी, और सात्त्विकभावों के अर्थ में — जिसमें शारीरिक अनुभूतियों का समावेश है, (३) अनुपचित स्थायी या उपचित संचारीभाव के अर्थ में। इनके अतिरिक्त दो प्रयोग और भी देखने में आते हैं (४) सामान्य मनोवेग के अर्थ में और (५) कवि की सर्जक अनुभूति (कवेरन्तर्गतं भावम्) के अर्थ में ।

संक्षेप में भाव का सामान्यत: यह लक्षण उपन्यस्त किया जा सकता है जो चेतना को व्याप्त करें वे भाव हैं। भाव को मनोविकार या मनोवेग की संज्ञा से भी अभिहित किया गया है। अत: जगत् के सम्पर्क से उत्पन्न मन के विकार जो चेतना को व्याप्त कर लेते हैं, भाव कहलाते हैं — "बाह्य जगत् के संवेदनों से मनुष्य के हृदय में जो विकार उठते हैं वे ही मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं।" (रस सिद्धान्त — डॉ० नगेन्द्र पृ० २१७) ।।

पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः ॥ ४ ॥
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम् ।

परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं – सत्त्वं, यदाह –'सत्त्वं नाम मनःप्रभवम् । तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते' एतदेवास्य सत्त्वं यतः खिन्नेन प्रहर्षितेन वाश्रुरोमाञ्चादयो निर्वर्त्यन्ते । तेन सत्त्वेन निर्वृत्ताः सात्त्विकाः। तद्भावभावनं च भावाः । तत उत्पद्यमानत्वादश्रुप्रभृतयोऽपि भावाः, भावसंसूचनात्मक–विकाररूपत्वाच्चानुभावा इति द्वैरूप्यमेतेषाम् ।

सात्त्विक भाव –

कारिकार्थ – पृथग्भावेति। यद्यपि सात्त्विकभाव में अनुभावत्व है; {अर्थात् सात्त्विकभाव अनुभाव (ही) (भावों के पश्चात् होने से तथा अनुभावों की तरह आश्रय के विकार होने से) हैं } तथापि ये (सात्त्विक भाव) पृथक् रूप से भाव कहे जाते हैं। इन सात्त्विक भावों को 'भाव' इसलिए कहा जाता है कि ये सत्त्व–मन (मानसिक स्थिति) से ही उत्पन्न होते हैं। {सत्त्व का अर्थ है – अनुकार्य राम–दुष्यन्त आदि के दुःखादि} भाव से भावक के (सहृदय के) चित्त को भावित करना ॥ ४–५ ॥

वृत्त्यर्थ – परगतेति। दूसरे लोगों के दुःख, हर्ष आदि की भावना में {अर्थात् श्रव्यकाव्य या नाटक में वर्णित आश्रय राम–दुष्यन्त आदि के दुःख एवं हर्ष की भावना में } भावक (सहृदय) के अन्तःकरण का अत्यन्त एकतान या अनुकूल हो जाने का नाम **सत्त्व** है, अर्थात् काव्यगत नायक–नायिका के हृदय की तरह सहृदय–दर्शक के हृदय का भी उसी तरह दुःखी या हर्षित हो जाने का नाम ही सत्त्व है। {**भरत** ने नाट्यशास्त्र) (७।९४–९५) में भी} कहा भी है–'मन से उत्पन्न होने वाले भाव को सत्त्व कहते हैं, और वह सत्त्व मन के समाहित (एकाग्र) होने पर उत्पन्न होता है।'

एतदेवेति। इस मन का सत्त्व यही है कि उसके खिन्न (दुःखी) या हर्षित होने पर अश्रुरोमाञ्च आदि निकल पड़ते हैं। { अर्थात् काव्यगत या नाटक में वर्णित नायक–नायिका के दुःख–सुख से स्वयं दुःखी–या सुखी होकर अश्रु–रोमाञ्चादि का निकल पड़ना ।} उस **'सत्त्व'** से उत्पन्न होने के कारण वे भाव सात्त्विक कहे जाते हैं या 'सात्त्विकभाव' के नाम से जाने जाते हैं। तथा उन (भावों) से उत्पन्न होने के कारण अश्रु आदि भी भाव ही कहलाते हैं। {अश्रु आदि भाव के द्योतक होने के कारण भाव ही कहलाते हैं}

तत इति। दूसरी ओर अश्रु आदि सूचक विकाररूप भी हैं, अतः अनुभाव भी होते हैं। इस प्रकार इन अश्रु आदि भावों की द्विरूपता है अर्थात् ये सत्त्व मन से उत्पन्न होने के कारण **सात्त्विकभाव** तथा भावों के सूचनात्मक विकार होने के कारण **अनुभाव** दोनों ही होते हैं ॥ ४–५ ॥

परामर्श – सात्त्विक भाव – सात्त्विक शब्द की व्युत्पत्ति है – ॥ अवहितं मनः सत्त्वं, तत्प्रयोजनं हेतुरस्येति सात्त्विकः॥ अर्थात् एकाग्र मन का नाम सत्त्व है, यह

ते च –

स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथूः ॥ ५ ॥
अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ, स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियाङ्गता ।
प्रलयो नष्टसंज्ञत्वम् शेषाः सुव्यक्तलक्षणाः ॥ ६ ॥

यथा –

'वेवइ सेअदवदनी रोमञ्चिअ गत्तिए ववई ।
विलुल्लु तु वलअ लहु वाहोअल्लीए रणेत्ति ॥
मुहऊ सामलि होई खणे विमुच्छइ विअग्घेण ।
मुद्धा मुहअल्ली तुअ पेम्मेण सावि ण धिजइ ॥'

सत्त्व जिसका प्रयोजन अर्थात् हेतु हो वह 'सात्त्विक' कहलाता है। यहाँ इस रहस्य को जान लेना चाहिए कि –

किसी स्थायीभाव की जाग्रति के समनन्तर होने वाली शारीरिक चेष्टाएँ और गतियाँ दो प्रकार की होती है (१) **इच्छाजन्य** (२) **स्वयंभूत** । कुछ गतियाँ एवं चेष्टाएँ ऐसी होती हैं जिनको स्थायीभावयुक्त व्यक्ति निश्चित रूप में अपनी इच्छाशक्ति से प्रकट करता है और जो स्थायीभाव के इच्छाकृत–भाव प्रकटन के रूपों में होती है जैसे कि आँखों और भौंहों का परिचालन। स्थायीभाव के आवेश में ये इच्छा जनित चेष्टाएँ दूसरों को अपने भावों को अवगत करानें के उद्देश्य से की जाती हैं। परन्तु एक दूसरे प्रकार की भी चेष्टाएँ और गतियाँ हैं जो भावों के उदय होने पर अपने आप बिना किसी इच्छा के प्रकट होने लगती हैं। जैसे विवर्णता, रोमांच, व्रीडा आदि। जो शारीरिक चेष्टाएँ एवं गतियाँ अपनी इच्छा से प्रकट की जाती हैं उनको केवल **'अनुभाव'** कहते हैं परन्तु जो अपने आप प्रकट होती हैं उनको **'सात्त्विकभाव'** कहते हैं ॥ ४–५ ॥

त इति। और वे { सात्त्विक भाव आठ प्रकार के होते हैं } –

कारिकार्थ – स्तम्भेति। (१) स्तम्भ, (२) प्रलय (अचेतनता), (३) रोमाञ्च (४) स्वेद, (५) वैवर्ण्य (मुख आदि का रङ्ग फीका पड़ जाना), (६) वेपथु (कम्प), (७) अश्रु, (८) वैस्वर्य (आवाज में परिवर्तन)। – { ये आठ सात्त्विक भाव हैं } स्तम्भ का अर्थ है अङ्गों का निष्क्रिय हो जाना, तथा प्रलय का अर्थ है मूर्छित हो जाना या चेतना–संज्ञा का नष्ट हो जाना । शेष के स्वरूप स्पष्ट ही है ॥ ५–६ ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – {एक सखी नायिका की काम–पीड़ा का कथन करती हुई नायक से कहती है } –

वेवइ इति। हे युवक ! तेरे प्रेम के कारण वह नायिका स्वल्प भी धैर्य धारण नहीं करती। वह काँपने लगती है। उसके मुख पर पसीना आ जाता है। और उसके शरीर पर रोमाञ्च हो आता है। उसका चंचल कड़ा (हाथ का वलय) बाहुरूपी लता में

('वेपते स्वेदवदना रोमाञ्चं गात्रे वपति ।
विलोलस्ततो वलयो लघु बाहुवल्ल्यां रणति ।।
मुखं श्यामलं भवति क्षणं विमूर्च्छति विदग्धेन ।
मुग्धा मुखवल्ली तव प्रेम्णा सापि न धैर्यं करोति ।।')

अथ **व्यभिचारिणः** । तत्र सामान्यलक्षणम् –

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ।। ७ ।।

यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला उद्भवन्ति विलीयन्ते च तद्वदेव रत्यादौ स्थायिनि सत्येवाविर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरन्तो वर्तमाना निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावाः ।।

मन्द–मन्द शब्द करता है । उसका मुख श्याम वर्ण का हो जाता है, तथा वह क्षण भर के लिए मूर्च्छित हो जाती है । उसकी मुग्धा (भोली) मुखरूपी लता थोड़ा भी धैर्य धारण नहीं करती है ।'

{उपर्युक्त उदाहरण में ऊपर उल्लिखित सात्त्विक–भावों का वर्णन किया गया है।}

अथेति। अब क्रम प्राप्त **व्यभिचारीभाव** का निरूपण कर रहे हैं। व्यभिचारीभाव का सामान्यलक्षण इस प्रकार है –

विशेषात् स्थायिनि आभिमुख्येन वारिधौ उन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव चरन्तः व्यभिचारिणः स्यु **इत्यन्वयः** ।। ७ ।।

कारिकार्थ – विशेषादिति। विशेषरूप से स्थायीभाव के अभिमुख होकर चलने वाले भाव व्यभिचारीभाव होते हैं । {अर्थात् जो भाव विशेषरूप से (आमने–सामने होकर) स्थायीभाव के अन्तर्गत कभी उठते और कभी विलीन होते परिलक्षित होते हैं, वे भाव व्यभिचारी कहलाते हैं } जैसे समुद्र में तरङ्गें उत्पन्न होती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं ।। ७ ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे समुद्र के होने पर ही (सत्येव) तरङ्गे उत्पन्न होती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही रत्यादि स्थायीभाव के होने पर ही उनके अभिमुख (अनुकूल) होकर चलने वाले (चरन्तः) निर्वेदादि व्यभिचारीभाव उत्पन्न होते रहते हैं और विलीन–तिरोहित होते रहते हैं ।

{संचारी या व्यभिचारिभाव के स्वरूप को पण्डितराज ने 'यानि सह चरन्ति तानि व्यभिचारिशब्देन व्यपदिश्यन्ते' – कहा है। अर्थात् स्थायीभावों के साथ रहने वाली चित्तवृत्तियाँ जैसे चिन्ता आदि व्यभिचारिभाव है । अर्थात् स्थिरता से विद्यमान रहने वाले रत्यादि स्थायीभाव में उत्पन्न और विलीन होने वाले, स्थायिभावरूपी जल में तरंगों की तरह संचरण करने वाले–भाव संचारी कहलाते हैं } ।। ७ ।।

ते च –

निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता –
स्त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः ।
व्रीडापस्मारमोहाः समतिरलसतावेगतर्कावहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ॥ ८ ॥

कारिकार्थ – निर्वेदेति। व्यभिचारीभाव ३३ होते हैं – (१) निर्वेद, (२) ग्लानि, (३) शंका, (४) श्रम, (५) धृति, (६) जड़ता, (७) हर्ष, (८) दैन्य, (९) उग्रता, (१०) चिन्ता, (११) त्रास, (१२) असूया, (ईर्ष्या) (१३) अमर्ष, (१४) गर्व, (१५) स्मृति, (१६) मरण, (१७) मद, (१८) सुप्त, (१९) निद्रा, (२०) विबोध, (२१) व्रीड़ा, (२२) अपस्मार, (२३) मोह, (२४) मति, (२५) अलसता, (२६) आवेग, (२७) तर्क, (२८) अवहित्था, (२९) व्याधि, (३०) उन्माद, (३१) विषाद, (३२) औत्सुक्य, और (३३) चपलता ॥ ८ ॥

परामर्श – व्यभिचारीभाव अस्थायीभाव हैं । उनको व्यभिचारीभाव इस कारण कहा जाता है–क्योंकि विविध रसों के अनुभव में दर्शक के सामने मानों वे प्रत्यक्षरूप में प्रकट होते हैं। यद्यपि यथार्थतः वे मानसिक दशायें ही होती हैं फिर भी जब समुचित परिस्थिति में अनेक प्रकार के अभिनयों से उनको प्रकट किया जाता है तो वे प्रत्यक्ष साकार के रूप में दृष्टिगत होते हैं। एक अन्य कारण से भी उनकों व्यभिचारी कहा जाता है क्योंकि वे विविध रसों को भी मानों प्रत्यक्षरूप में दर्शकों के समक्ष प्रकट करते हैं ।

संचारियों–भावों के विषय में तथा उनकी संख्या के विषय में विद्वानों का मतैक्य नहीं है। आधुनिक विद्वानों ने मनोविज्ञान के स्थूल सिद्धान्तों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि ३३ संचारियों में से –

(१) केवल १४ भाव या **मनोविकार हैं**– निर्वेद, शंका, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिन्ता, त्रास, असूया, अमर्ष, गर्व, व्रीड़ा, आवेग, विषाद और औत्सुक्य। (२) ४ मनोवेग न होकर **ज्ञानात्मक अनुभव** मात्र हैं – धृति, मति, वितर्क, अवहित्थ। (३) ५ शारीरिक **संवेदन मात्र हैं** – ग्लानि, श्रम, आलस्य, मद, और मोह। (४) १० **मानसिक अनुभव की कोटि में ही नहीं आते–स्मृति, स्वप्न, निद्रा, विबोध, जड़ता चपलता, अपस्मार, व्याधि, उन्माद और मरण ।**

निश्चय ही संचारीभावों की स्थिति उतनी पुष्ट नहीं है और स्वयं पण्डिराज जगन्नाथ जैसे परम्परानिष्ठ आचार्य ने भी इस–इस तथ्य का अनुभव किया है– **'अथ कथमस्य संख्या नियमः'** ? अर्थात् भावों को तैतीस या चौंतीस की संख्या के कटघरे में कैसे बांधा जा सकता है ? अन्त में उन्होंने – **'मुनिवचनानुपालनस्य सम्भव उच्छृंखलताया अनौचित्यात्'** – यह तर्क देकर ही परम्परा का पालन करना उचित समझा है ॥ ८ ॥

तत्र निर्वेद: —

तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेद: स्वावमाननम् ।
तत्र चिन्ताश्रुनि:श्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनता: ।। ९ ।।

तत्त्वज्ञानान्निर्वेदो यथा —

'प्राप्ता: श्रिय: सकलकामदुघास्तत: किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां तत: किम् ।
संप्रीणिता: प्रणयिनो विभवैस्तत: किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्तत: किम् ।।' (वैरा० श० ६७)

आपदो यथा —

'राज्ञो विपद्‌बन्धुवियोगदु:खं देशच्युतिर्दुर्गममार्गखेद: ।
आस्वाद्यतेऽस्या: कटुनिष्फलाया: फलं मयैतच्चिरजीविताया: ।।'

ईर्ष्यातो यथा —

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापस:
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटान् जीवत्यहो रावण: ।

तत्रेति। {अब ग्रन्थकार यहाँ ३३ व्यभिचारियों के लक्षण तथा उदाहरण क्रमश: दे रहे हैं} उन व्यभिचारियों में **निर्वेद** का लक्षण इस प्रकार है —

कारिकार्थ — तत्त्वज्ञानेति। तत्त्वज्ञान, आपत्ति तथा ईर्ष्या आदि के कारण अपना तिरस्कार करना ही निर्वेद (नामक व्यभिचारी भाव) है। इस निर्वेद होने की दशा में चिन्ता, अश्रु, नि:श्वास, वैवर्ण्य (मुख की विवर्णता) और दैन्य (परिलक्षित) होता है ।। ९ ।।

वृत्त्यर्थ — तत्त्वज्ञानेति। तत्त्वज्ञान से होने वाले **निर्वेद** का उदाहरण इस प्रकार है —

प्राप्ता इति। 'यदि सम्पूर्ण मनोरथों को पूर्ण करने वाली सम्पत्तियाँ प्राप्त हो भी जाय तो उससे क्या ? शत्रुओं के मस्तकों पर पैर रख दिया गया तो उससे क्या? सम्पत्तियों के प्रदान कर देने से प्रेमी–जनों को सन्तुष्ट कर दिया हो, तो क्या लाभ? शरीर धारियों के शरीर प्रलय–काल तक स्थित भी रहे तो उससे क्या लाभ?' (अर्थात् उक्त लाभ से क्या लाभ, सब व्यर्थ है, मिथ्या है।।) ।।

(ii) आपद इति । **आपत्ति से होने वाले निर्वेद का उदाहरण इस प्रकार है—**

राज्ञ इति। 'मेरे द्वारा इस कटु और निष्फल चिरजीवन का यह फल भोगा जा रहा है कि—राजा से विपत्ति, बन्धु–जनों के वियोग से होने वाला दु:खानुभव, देश से च्युति, और दुर्गम–मार्ग में यात्रा का कष्ट हो रहा है ।।'

(iii) ईर्ष्यात इति। ईर्ष्या से उत्पन्न **निर्वेद** का उदाहरण इस प्रकार है —

{श्रीराम के द्वारा लंका में राक्षसों का वध किये जाने पर रावण ईर्ष्या से अपने पुत्र तथा भाई का तिरस्कार करते हुए तथा शत्रु–राम–की तुच्छता व्यक्त करते हुए इस प्रकार कहता है —}

धिग्धिक्शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा

स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनपरैः पीनैः किमेभिर्भुजैः ॥' (हनु० ना० १४.६)

वीरशृङ्गारयोर्व्यभिचारी निर्वेदो यथा –

'ये बाहवो न युधि वैरिकठोरकण्ठ–

पीठोच्छलद्रुधिरराजिविराजितांसाः ।

नापि प्रियापृथुपयोधरपत्रभङ्ग–

संक्रान्तकुङ्कुमरसाः खलु निष्फलास्ते ॥'

आत्मानुरूपं रिपुं रमणीं वाऽलभमानस्य निर्वेदादियमुक्तिः । एवं रसान्तराणामप्यङ्गभाव उदाहार्यः ।

रसानङ्गः स्वतन्त्रो निर्वेदो यथा –

'कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं

वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्माद्यतः श्रूयताम् ।

न्यक्कार इति। 'मेरे जैसे का शत्रु हो यही मेरा बड़ा अपमान है, उस पर भी यह तपस्वी ! (क्षुद्रजीव) और वह भी यहाँ अर्थात् लंका में ही रावण के जीवित रहते, राक्षस–कुल का नाश (वध) कर रहा है। इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद को धिक्कार है । कुम्भकर्ण को जगाने से भी क्या लाभ हुआ ? और एक छोटे से गाँव जैसे स्वर्ग को लूटने वाली इन पीन भुजाओं का भी क्या लाभ है ?' ॥ ९ ॥

(iv) वीरेति। वीर रस और शृङ्गार रस में आने वाले व्यभिचारी निर्वेद का उदाहरण इस प्रकार है –

ये बाहव इति। 'निश्चय ही वे भुजाएँ निष्फल हैं, जो युद्ध में शत्रु के कठोर कण्ठ–स्थल से निकले हुए रक्त–प्रवाह से स्कन्ध–स्थल पर सुशोभित न हुई और प्रियाङ्गना के पीन–स्तनों की पत्र रचना के कुंकुम–रस से युक्त भी न हुई ॥'

आत्मानुरूपमिति। प्रस्तुत निर्वेदपूर्ण–कथन ऐसे वीर पुरुष का है जिसे अपने योग्य – शत्रु युद्ध में प्राप्त न हुआ था, अथवा ऐसे विलासी पुरुष की निर्वेद सूचक उक्ति है जिसे मनोनुकूल रमणी के पीन–स्तनों को स्पर्श करने का अवसर प्राप्त न हुआ हो। {प्रस्तुत सन्दर्भ में वीर एवं शृङ्गार–रस के अङ्ग के रूप में निर्वेद नामक भाव का चित्रण अंकित किया गया है।} इसी प्रकार निर्वेद का अन्य रसों के अङ्ग के रूप में भी उपन्यास किया जा सकता है ।

५. **रसानङ्ग इति।** जहाँ निर्वेद किसी रस विशेष का अङ्ग नहीं रहता,ऐसे स्वतंत्र निर्वेद का उदाहरण निम्नोक्त है – {कोई व्यक्ति शाखोटक वृक्ष से पूछता है, तथा वृक्ष उस व्यक्ति को उत्तर देता है – इस प्रकार उत्तर–प्रत्युत्तर के रूप में शाखोटक वृक्ष का निर्वेद यहाँ निर्दिष्ट किया गया है।}

कस्त्वमिति। 'अरे भाई, तुम कौन हो ? 'कहता हूँ' 'मुझे अभागा शाखोटक वृक्ष जानो' 'तुम तो वैराग्य से बोल रहे हो ।' 'तुमने ठीक समझा' 'ऐसा क्यों ? 'तो

वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकरणी मार्गस्थितस्यापि मे ।।'

विभावानुभावरसाङ्गानङ्गभेदादनेकशाखो निर्वेदो निदर्शनीयः ।।

अथ ग्लानिः –

रत्याद्यायासतृट्क्षुद्भिर्ग्लानिर्निष्प्राणतेह च ।
वैवर्ण्यकम्पानुत्साहक्षामाङ्गवचनक्रियाः ।। १० ।।

निधुवनकलाभ्यासादिश्रमतृट्क्षुद्वमनादिभिर्निष्प्राणतारूपा ग्लानिः । अस्यां च वैवर्ण्यकम्पानुत्साहादयोऽनुभावाः ।

यथा माघे –

'लुलितनयनताराः क्षामवक्त्रेन्दुबिम्बा
रजनय इव निद्राक्लान्तनीलोत्पलाक्ष्यः ।
तिमिरमिव दधानाः स्रंसिनः केशपाशा–
नवनिपतिगृहेभ्यो यान्त्यमूर्वारवध्वः ।।' (शिशु० ११.२०)

सुनो' यहाँ से बाईं ओर एक वटवृक्ष है। पथिक जन सब प्रकार से उसका आश्रय ग्रहण करते हैं। किन्तु मैं मार्ग में स्थित हूँ, तथापि मेरी छाया भी परोपकार करने में समर्थ नहीं है ।' (यही मुझे विशेष दुःख है।)।।

विभावेति। यह निर्वेद विभाव, अनुभाव, तथा रस के अङ्गरूप में तथा स्वतन्त्ररूप में विविध प्रकार में निर्देशित किया जा सकता है ।। ९।।

२. ग्लानि –

अथेति। अब ग्रन्थकार ग्लानि का स्वरूप निर्देश करते हैं –

कारिकार्थ – रत्याद्येति। रति–क्रीड़ा जन्य परिश्रम, तृषा तथा क्षुधा से होने वाली शक्तिहीनता ही 'ग्लानि' है। इसके अन्तर्गत वैवर्ण्य, कम्प, अनुत्साह, अङ्ग (शरीर) वचन, व क्रिया की क्षीणता आदि (अनुभाव) परिलक्षित होते हैं।। १०।।

वृत्त्यर्थ – निधुवनेति। रति–क्रीड़ा के विविध प्रकारों को बार–बार करने से उत्पन्न थकान, प्यास, भूख, एवं वमन आदि से होने वाली क्षीणतारूप ग्लानि होती है; इसमें शरीर का फीका पड़जाना, कम्पन तथा अनुत्साह आदि अनुभाव होते हैं।

यथेति। जैसे माघ काव्य में –

लुलितेति। 'निद्रा से कलुषित नेत्रों की पुतलियों वाली अर्थात् निद्रालु नेत्र–कनीनिकाओं वाली (चन्द्रनक्षत्रवाली) रतिक्रीड़ा से क्षीण (म्लान) मुखचन्द्रवाली तथा निद्राक्लान्त नीलकमलाक्षी अन्धकार के सदृश खुले हुए घने एवं काले केशों को धारण करती हुई ये वाराङ्गनाएँ राजा के भवनों (शिविरों) से प्रभात वेला में जा रही हैं ।'

शेषं निर्वेदवदूह्यम् ॥

अथ शङ्का –

अनर्थप्रतिभा शङ्का परक्रौर्यात्स्वदुर्नयात् ।
कम्पशोषाभिवीक्षादिरत्र वर्णस्वरान्यता ॥ ११ ॥

तत्र **परक्रौर्याद्यथा** रत्नावल्याम् –

'ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं
द्वयोर्दृष्ट्वाऽऽलापं कलयति कथामात्मविषयाम् ।
सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरा ॥' (रत्ना० ३.४)

स्वदुर्नयाद्यथा वीरचरिते –

'दूराद्दवीयो धरणीधराभं यस्ताटकेयं तृणवद्व्यधूनोत् ।
हन्ता सुबाहोरपि ताडकारिः स राजपुत्रो हृदि बाधते माम् ॥' (महावीर० २.१)

शेषमिति। शेष निर्वेद की तरह ही समझना चाहिए, {अर्थात् विभाव अनुभाव–रसाङ्ग–रसानङ्ग आदि के भेद से ग्लानि के भी उसी तरह कई प्रकार होते हैं जैसे कि निर्वेद के।} ॥ १० ॥

३. शङ्का –

अथेति। अब ग्रन्थकार '**शङ्का**' नामक तृतीय व्यभिचारीभाव के स्वरूप को बताते हैं –

परक्रौर्यात् स्वदुर्नयात् वा अनर्थप्रतिभा शङ्का, अत्र कम्पशोषाभिवीक्षादिः वर्णस्वरान्यता च (अनुभावाः भवन्ति) **इत्यन्वयः** ॥ ११ ॥

कारिकार्थ – अनर्थेति। दूसरे की क्रूरता अथवा स्वयं की दुर्नीति के कारण उत्पन्न होने वाली अनर्थ की आशङ्का ही शङ्का कहलाती है। इसमें – शरीर का कम्पन या सूखना, यत्र–तत्र देखना, तथा स्वरभङ्ग (स्वर का परिवर्तन) आदि (अनुभाव) होते हैं ॥ ११ ॥

(i) **तत्रेति।** पर अर्थात् दूसरे की **क्रौर्यजनित शङ्का जैसे रत्नावली नाटिका में** (राजा **उदयन** रत्नावली की दशा का वर्णन करते हुए कह रहे हैं) –

ह्रियेति। 'सब लोगों को (मेरा वत्सराज उदयन के प्रति प्रेम) ज्ञात हो गया है, ऐसा विचार कर (सागरिका) सबसे अपना मुख छिपाती है। (कहीं) दो व्यक्तियों को वार्तालाप करते हुए देखकर यह समझती है कि ये लोग मेरे विषय में ही बात कर रहे हैं, सहेलियों के मुस्कराने पर और भी अधिक लज्जित हो जाती है। इस प्रकार प्रिया (सागरिका) प्रायः हृदय में निहित आतङ्क से (भय से) त्रस्त रहती है' ॥

(ii) **स्वदुर्नयादिति।** अपने **दुर्व्यवहार** से होनेवाली **शङ्का** का उदाहरण **'महावीरचरित'** में {रावण के मंत्री माल्यवान् की उक्ति में} इस प्रकार है –

दूरादिति। 'जिसने पर्वत के सदृश (विशालकाय) ताड़का–पुत्र (मारीच) को तिनके की तरह बहुत दूर फेंक दिया, जो सुबाहु का हन्ता एवं ताड़का का शत्रु है,

अनया दिशाऽन्यदनुसर्तव्यम् ॥

अथ श्रमः –

श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः स्वेदोऽस्मिन्मर्दनादयः ।

अध्वतो यथोत्तररामचरिते –

'अलसलुलितमुग्धान्यध्वसञ्जातखेदा–
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि ।
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥' (उत्तर० १.२४)

रतिश्रमो यथा माघे –

'प्राप्य मन्मथरसादतिभूमिं दुर्वहस्तनभराः सुरतस्य ।
शश्रमुः श्रमजलार्द्रललाटश्लिष्टकेशमसितायतकेश्यः ॥' (शिशु० १०.८०)

इत्याद्युत्प्रेक्ष्यम् ॥

वह राजपुत्र (राम) मुझे हृदय में व्यथित कर रहा है' ॥

अनयेति। इसी प्रकार (शङ्का के) अन्य प्रकारों को भी समझना चाहिये॥

४. श्रम –

अथेति। अब ग्रंथकार **'श्रम'** नामक चतुर्थ व्यभिचारी–भाव के स्वरूप को बताते हैं –

कारिकार्थ – श्रम इति। मार्ग में चलने अथवा रति–क्रीड़ा के कारण उत्पन्न थकान को 'श्रम' कहा जाता है। इसमें स्वेद (पसीना आना) तथा मर्दन (शरीर को मलना) आदि (अनुभाव) होते हैं ।

(i) **अध्वत इति। मार्ग जनित श्रम** का उदाहरण **'उत्तररामचरित'** में इस प्रकार है – {राम सीताजी से कहते हैं}

अलसेति। 'हे सीते! यह वही स्थान है, जहाँ मार्ग में चलने के कारण उत्पन्न थकान से म्लान हुए मनोहर एवं मुग्ध अङ्गों को, जो म्लान हुए विसतन्तु सदृश थे, तथा जिन्हें मैंने प्रगाढ़ आलिङ्गनों के द्वारा दबा दिया था, मेरे वक्षःस्थल पर रखकर तुम सो गई थीं' ॥

(ii) **रतिश्रमइति। रतिजन्यश्रम** का उदाहरण **शिशुपालवध** में इस प्रकार है–

{सुरत जन्य श्रम के कारण} कठिनाई से स्तनभार वहन कर सकने वाली अङ्गनाएँ, जिनके काले एवं लम्बे केश थे – 'मन्मथ राग के कारण सुरत की पराकाष्ठा को (अत्यधिक सुरत क्रीड़ा करके) प्राप्त कर इस प्रकार थक गयीं कि पसीने से गीले ललाट पर उनके केश चिपक गए ।'

श्रम के विषय में इसी तरह अन्य उदाहरणों को समझना चाहिए ॥

अथ धृतिः –

सन्तोषो ज्ञानशक्त्यादेर्धृतिरव्यग्रभोगकृत् ॥ १२ ॥

ज्ञानाद्यथा भर्तृहरिशतके –

'वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥' (वैराग्य० ५३)

शक्तितो तथा रत्नावल्याम् –

'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनपालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ॥ (१.९)

इत्याद्यूह्यम् ॥

---

५. धृति –

अथेति। अब ग्रन्थकार **धृति** नामक पाँचवें व्यभिचारीभाव के स्वरूप को बताते हैं –

कारिकार्थ – सन्तोष इति। ज्ञान और शक्ति आदि के कारण होने वाला सन्तोष ही धृति है। व्यग्रता रहित भोग ही उसका अनुभाव है ॥ १२ ॥

(i) **ज्ञानादिति।** ज्ञान से होने वाली **धृति** का उदाहरण, जैसे भर्तृहरि के **वैराग्यशतक** में इस प्रकार है – {कोई **सन्तोषी** व्यक्ति सम्पत्तिशाली व्यक्ति से कह रहा है।}

वयमिति। 'हम लोग इन वल्कलों से ही सन्तुष्ट हैं और तुम सम्पत्ति (लक्ष्मी) से प्रसन्न हो। इस प्रकार तुम्हारा और हमारा सन्तोष समान है, उसमें कुछ भी विशेष अन्तर नहीं है। वस्तुतः वही व्यक्ति दरिद्र है जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है। मन के सन्तुष्ट हो जाने पर कौन व्यक्ति धनी है और कौन निर्धन? (अर्थात् मन की प्रसन्नता ही प्रधान वस्तु है।)॥

(ii) **शक्तित इति। शक्ति** से होने वाली **धृति** का उदाहरण **'रत्नावली'** नाटिका में इस प्रकार है – {विदूषक से राजा उदयन इस प्रकार कहते हैं –}

राज्यमिति। 'राज्य के समस्त शत्रु परास्त कर दिये गये हैं । राज्य का समस्त कार्य–भार योग्य मन्त्री (यौगन्धरायण) पर सौंप दिया गया है। सम्यक् प्रकार से रक्षित प्रजाएँ समस्त उपद्रवों से रहित है। प्रद्योत की पुत्री (वासवदत्ता मेरी पत्नी है), वसन्त ऋतु का समय है। तुम मेरे प्रिय मित्र हो ! इस प्रकार भले ही कामदेव अपने {'मदनोत्सव'–इस} नाम से सन्तोष प्राप्त कर ले, किन्तु (मैं) समझता हूँ (कि यह) महोत्सव मेरा ही है ॥' {अर्थात् इस उत्सव से कामदेव का नाम मात्र से सम्बन्ध है,

अथ जड़ता —

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र ॥ १३ ॥

इष्टदर्शनाद्यथा —

'एवमालि निगृहीतसाध्वसं शङ्करो रहसि सेव्यतामिति ।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत् प्रमुखवर्तिनि प्रिये ॥' (कुमार० ८.५)

अनिष्टश्रवणाद्यथोदात्तराघवे — 'राक्षसः —

तावन्तस्ते महात्मानो निहताः केन राक्षसाः ।
येषां नायकतां यातास्त्रिशिरः खरदूषणः ॥

द्वितीयः — गृहीतधनुषा रामहतकेन । **प्रथमः** — किमेकाकिनैव ?। **द्वितीयः** — अदृष्ट्वा कः प्रत्येति ? पश्य तावतोऽस्मद्बलस्य —

वास्तव में यह उत्सव मेरे लिए ही है।} इत्यादि समझ लेना चाहिए। { यह उदाहरण दश० रू० २.३ में भी उद्धृत किया गया है।}॥ १२ ॥

६. जड़ता —

अथेति। अब ग्रन्थकार जड़ता नामक छठवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं —

इष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः अप्रतिपत्तिः जड़ता स्यात् तत्र अनिमिषनयननिरीक्षण—तूष्णींभावादयः (अनुभावाः भवन्ति) **इत्यन्वयः** ॥ १३ ॥

कारिकार्थ — अप्रतिपत्तिरिति। प्रिय अथवा अप्रिय के दर्शन या श्रवण से उत्पन्न किंकर्त्तव्यविमूढता (अर्थात् कर्तव्य एवं अकर्तव्य का ज्ञान न होना) को जड़ता कहा जाता है। इसमें एकटक दृष्टि से (निर्निमेषदृष्टि से) देखना तथा चुप हो जाना आदि (अनुभाव) होते हैं ॥ १३ ॥

वृत्त्यर्थ — (i) **इष्टदर्शनादिति।** इष्टदर्शन से उत्पन्न जड़ता का उदाहरण (कुमारसंभव) में इस प्रकार है —

एवमिति। 'हे सखी ! एकान्त में भय को छोड़कर (अर्थात् स्थिर चित्त से) इस प्रकार शङ्कर के साथ व्यवहार करना' इस प्रकार सखियों के द्वारा दिये हुए उपदेश को, शङ्कर को सन्मुख देखकर व्याकुल पार्वती स्मरण न कर सकी' ॥

(ii) **अनिष्टश्रवणादिति।** अनिष्टश्रवणजन्य जड़ता का उदाहरण 'उदात्तराघव' नाटक में इस प्रकार है — राक्षस —

तावन्त इति। जिनके सेनानायक त्रिशिरा, खर, और दूषण थे, उन शक्तिशाली बहुसंख्यक राक्षसों का वध किसने किया?

दूसरा (राक्षस) — धनुर्धारी अधम राम ने.। **पहला (राक्षस)** — क्या अकेले ही ? **दूसरा (राक्षस)** — बिना देखे कौन विश्वास करेगा? देखो हमारी सेना के —

सद्यश्छिन्नशिरःश्वभ्रमज्जत्कङ्कुलाकुलाः ।
कबन्धाः केवलं जातास्तालोत्ताला रणाङ्गणे ॥

प्रथमः – सखे, यद्येवं तदाहमेवंविधः किं करवाणि ।' इति ॥

अथ हर्षः –

प्रसत्तिरुत्सवादिभ्यो हर्षोऽश्रुस्वेदगद्गदाः ।

प्रियागमनपुत्रजननोत्सवादिविभावैश्चेतः प्रसादः हर्षः । तत्र चाश्रुस्वेदगद्–गदादयोऽनुभावाः । यथा –

'आयाते दयिते मरुस्थलभुवामुत्प्रेक्ष्य दुर्लङ्घ्यतां
गेहिन्या परितोषबाष्पकलिलामासज्य दृष्टिं मुखे ।
दत्त्वा पीलुशमीकरीरकवलान् स्वेनाञ्चलेनादरा–
दुन्मृष्टं करभस्य केसरसटाभाराग्रलग्नं रजः ॥'

निर्वेदवदितरदुन्नेयम् ॥

सद्य इति। 'केवल ताड़–वृक्ष के सदृश लम्बे–लम्बे कबन्ध ही समर भूमि में बचे हुए हैं, जो तत्काल काटे गये शिरों के छिद्रों में शीघ्रता से झपटते हुए कङ्क नामक पक्षियों से घिरे हुए हैं।।''

पहला (राक्षस) – मित्र! यदि ऐसा है तो मैं इस अवस्था में कर ही क्या सकता हूँ ?''।। १३ ।।

७. हर्ष –

अथेति। अब ग्रन्थकार **हर्ष** नामक सातवें व्यभिचारीभाव का स्वरूप निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – प्रसत्तिरिति। उत्सव आदि से होने वाली (मन की) प्रसन्नता ही 'हर्ष' है। इसमें अश्रु, स्वेद तथा गद्–गद्–चित्त होना आदि अनुभाव होते हैं ।।

वृत्त्यर्थ – प्रियागमनेति। प्रिय के आगमन तथा पुत्रजन्मोत्सवादि विभावों से जो मन की प्रसन्नता होती है, उसे 'हर्ष' कहते हैं। इसमें अश्रु, स्वेद आ जाना और वाणी का गद्गद् हो जाना आदि अनुभाव होते हैं। जैसे – {प्रिय के आगमन से प्रसन्न युवती का निम्नोक्त पद्य में चित्रित **हर्ष** का उदाहरण इस प्रकार है –}

आयात इति। 'प्रोषितपतिका नायिका का पति सुदीर्घ प्रवास के अनन्तर घर आया है, अगम्य तथा दुर्लङ्घ्य मरुभूमि के मार्ग को उसने पार किया है । मरुभूमि के इस कठिन मार्ग की कल्पना कर गृहिणी ने उसके मुख की ओर प्रसन्नता से उत्पन्न अश्रुपूर्ण दृष्टि से देखा। {लेकिन मेरी प्रसन्नता का प्रमुख कारण तो ऊँट है, जिसने मरुभूमि के कठिन मार्ग को पारकर मेरे प्रियतम को मुझसे मिलाया है, यह सोचकर} नायिका ने ऊँट को पीलु (खजूर) शमी, तथा करील (बबूल) के ग्रासों को बड़े आदर से देकर अपने आँचल से ऊँट के बच्चे के गर्दन के बालों पर पड़ी हुई धूल को पोंछ दिया ।'

निर्वेदेति। शेष बातें निर्वेद की ही तरह समझनी चाहिए ।।

अथ दैन्यम् –

दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं काष्ण्यर्मृजादिमत् ।। १४ ।।

दारिद्र्यन्यक्कारादिविभावैरनौजस्कता चेतसः दैन्यम् । तत्र च कृष्णता–मलिनवसनदशनादयोऽनुभावाः । यथा –

'वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो ।
यत्नात् सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां सुतवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ।।'

शेषं पूर्ववत् ।।

अथौग्र्यम् –

दुष्टेऽपराधदौर्मुख्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ।। १५ ।।

---

८. दैन्य –

अथेति। अब ग्रन्थकार दैन्य नामक आठवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – दौर्गत्याद्यैरिति। दुर्गति आदि से उत्पन्न निस्तेजस्विता (कान्तिहीनता) को 'दैन्य' कहते हैं। इसमें कालापन, मलिनता आदि अनुभाव पाए जाते हैं ।। १४ ।।

वृत्त्यर्थ – दारिद्र्येति। दारिद्र्य एवं तिरस्कार (अपमान) आदि विभावों से होने वाली चित्त की उदासीनता को 'दैन्य' कहते हैं । ऐसी दशा में शरीर मुख आदि का काला पड़ जाना, वस्त्रों तथा दाँतों का मलिन हो जाना आदि अनुभाव होते हैं।

यथेति। जैसा कि निम्न पद्य में {किसी वृद्धा के दारिद्र्य का तथा तज्जन्य दैन्य का चित्रण अंकित किया गया है –}

वृद्ध इति। 'यह वृद्ध और अन्धा पति खाट पर पड़ा है, घर का स्थूणा मात्र शेष है, {स्थूनी = छप्पर में टेका लगाने का काष्ठ का खम्भा} वर्षा काल समीप है, और (प्रवास पर गये हुए) पुत्र की भी कोई कुशलवार्ता प्राप्त नहीं हुई है। बड़े यत्न से एकत्र किये हुए तेल की हंड़िया भी फूट चुकी है। इन सब बातों का विचार कर तथा आसन्नप्रसवा (कठोरगर्भा) पुत्रवधू को देखकर सास देर तक रोती रही' ।।

शेषमिति। शेष बातें पूर्ववत् (अर्थात् निर्वेद आदि में कही हुई) ही है।। १४।।

९. उग्रता –

अथेति। अब ग्रंथकार उग्रता नामक नौवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – दुष्ट इति। अपराध, दुष्टता, क्रूरता आदि के कारण दुष्ट व्यक्ति के प्रति उत्पन्न होने वाले क्रोध तथा कर्कश भाव को उग्रता कहते हैं। इसमें स्वेद आना, शिर को कम्पित करना, भयभीत करना, तथा पीटना आदि अनुभाव होते हैं ।। १५ ।।

यथा वीरचरिते – 'जामदग्न्यः –

उत्कृत्योत्कृत्य गर्भानपि शकलयतः क्षत्रसन्तानरोषा–
दुद्दामस्यैकविंशत्यवधि विशसतः सर्वतो राजवंश्यान् ।
पित्र्यं तद्रक्तपूर्णह्रदसवनमहानन्दमन्दायमान–
क्रोधाग्नेः कुर्वतो मे न खलु न विदितः सर्वभूतैः स्वभावः ।।' (२.४८)

अथ चिन्ता –

ध्यानं चिन्तेहितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

यथा –

'पक्ष्माग्रग्रथिताश्रुबिन्दुनिकरैर्मुक्ताफलस्पर्धिभिः
कुर्वन्त्या हरहासहारि हृदये हारावलीभूषणम् ।
बाले बालमृणालनालवलयालङ्कारकान्ते करे
विन्यस्याननमायताक्षी सुकृती कोऽयं त्वया स्मर्यते ।।'

वृत्त्यर्थ – **यथेति।** जैसे महावीरचरित में परशुराम की यह उक्ति

उत्कृत्येति। 'क्षत्रियों के सन्तान के प्रति निहित क्रोध के कारण गर्भ में स्थित भ्रूणों को भी निकाल–निकालकर उन्हें खण्ड–खण्ड करने वाले, राजवंशोत्पन्न क्षत्रियों का २१ बार विनाश करने वाले, तथा हत क्षत्रियों के रक्त से भरे हुए सरोवर में अवगाहन करने से होने वाली आनन्द की धारा से क्रोधाग्नि को शान्त करके पितृ–तर्पण करने वाले, मेरे उद्दाम स्वभाव को समस्त प्राणि जगत् में नहीं जाना है, ऐसा नहीं है, अर्थात् मेरा उग्र स्वभाव सर्वविदित है' ।। १५ ।।

१०. चिन्ता –

अथेति। अब ग्रन्थकार चिन्ता नामक दसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं–

ईहितानाप्तेः ध्यानम् चिन्ता, तत् च शून्यताश्वासतापकृत् इत्यन्वयः ।। १६ ।।

कारिकार्थ – ध्यानमिति। अभिलषित वस्तु की प्राप्ति न होने पर उसी के विषय में ध्यान करना ही चिन्ता है। इसमें {अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति न होने के कारण} जीवन की शून्यता (बुद्धि की जड़ता) श्वास–प्रश्वास का बढ़ जाना तथा ताप आदि अनुभाव होते हैं। यह सन्ताप की जननी होती है ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – {एक सखी किसी नायिका से कह रही है –}

पक्ष्मेति। 'हे आयताक्षि ! (बड़ी–बड़ी आँखों वाली) सुन्दरी ! मोतियों के समान पलकों के अग्रभाग पर ग्रथित अश्रु–बिन्दुओं से अपने वक्षःस्थल पर, शङ्कर के हास्य की तरह श्वेत, हार के आभूषण की रचना करती हुई तुम कोमल मृणाल–नाल के कङ्कण नामक आभूषण से सुशोभित हाथ पर अपना मुख रखकर किस सौभाग्यशाली व्यक्ति का स्मरण कर रही हो ?।।'

यथा वा –

'अस्तमितविषयसङ्गा मुकुलितनयनोत्पला बहुश्वसिता ।
ध्यायति किमप्यलक्ष्यं बाला योगाभियुक्तेव ।।'

अथ त्रासः –

गर्जितादेर्मनःक्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः ।। १६ ।।

यथा माघे –

'त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरू–
वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य ।
क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतो–
र्लीलाभिः किमु सति कारणे रमण्यः ।।' (शिशु० ८.२४)

अथासूया –

यथावेति। अथवा– जैसे –

अस्तमितेति। 'विषय–वासनाओं में अनासक्त मनवाली, नेत्रकमलों को बन्दकर अत्यधिक (बार–बार) श्वास लेती हुई, यह बाला, योगिनी के समान किसी अलक्ष्य वस्तु के ध्यान में मग्न है' ।।

११. त्रास –

अथेति। अब ग्रन्थकार त्रास नामक ग्यारहवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – गर्जितादेरिति। मेघों की गर्जना आदि से { अथवा इसी प्रकार की अन्य भयजनक घटनाओं से } उत्पन्न मनःक्षोभ को 'त्रास' कहा जाता है। इसमें कम्प आदि अनुभाव परिलक्षित होते हैं ।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे, माघ के **शिशुपालवध** में त्रास का वर्णन इस प्रकार है –

त्रस्यन्तीति। 'जल विहार करती हुई उस सुन्दरी के जाँघों से छोटी सी चंचल मछली क्या टकरा गई, उसके हृदय में भय भर गया और वह विचित्र विभ्रम–विलास करने लगी युवतियों की तो यह नैसर्गिक प्रकृति ही है कि बिना किसी कारण के ही विक्षोभ–लीला करने लगती हैं और यदि कोई कारण हो तो कहना ही क्या।' ।। १६ ।।

१२. असूया –

अथेति। अब ग्रंथकार असूया नामक बारहवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं –

परोत्कर्षाक्षमा गर्वदौर्जन्यमन्युजा असूया, तत्र दोषोक्त्यवज्ञे भ्रुकुटिमन्यु–क्रोधेङ्गितानि च (अनुभावाः भवन्ति) इत्यन्वयः ।। १७ ।।

परोत्कर्षाक्षमाऽसूया गर्वदौर्जन्यमन्युजा ।
दोषोक्त्यवज्ञे भ्रुकुटिमन्युक्रोधेङ्गितानि च ॥१७॥

गर्वे यथा वीरचरिते –

'अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः प्रत्युत
द्रुह्यन् दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया ।
उत्कर्षं च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चात्मनः
स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो दृप्तः कथं मृष्यते ॥' (२.९)

दौर्जन्याद् यथा –

'यदि परगुणा न क्षम्यन्ते यतस्व गुणार्जने
नहि परयशोनिन्दाव्याजैरलं परिमार्जितुम् ।
विरमसि न चेदिच्छाद्वेषप्रसक्तमनोरथो
दिनकरकरान् पाणिच्छत्रैर्नुदञ्छ्रममेष्यसि ॥'

कारिकार्थ – परोत्कर्षेति। दूसरे के उत्कर्ष (उन्नति) को न सह सकना ही 'असूया' है। यह 'असूया' गर्व, दुर्जनता तथा क्रोध से उत्पन्न होती है। (दूसरे के) दोषों का अन्वेषण करना, अवज्ञा, (अनादर) भौहें चढ़ाना, क्रोध, शोक आदि इसके अनुभाव होते हैं ॥१७॥

वृत्त्यर्थ – (i) **गर्वेयथेति।** गर्व से उत्पन्न होने वाली **असूया** का उदाहरण **वीरचरित** में इस प्रकार है। {इसमें **माल्यवान्** राम के प्रति रावण की असूया का वर्णन कर रहा है} –

अर्थित्व इति। '{राजा जनक से सीता के लिए} याचना करने पर भी स्वामी रावण को (सीतारूप) फल की प्राप्ति न हो सकी, प्रत्युत स्वामी से द्रोह करने वाले, विपरीत आचरण करने वाले दशरथ पुत्र (राम) को वह कन्या (सीता) प्राप्त हो गयी । इस प्रकार शत्रु का उत्कर्ष, अपने मान एवं यश का अपकर्ष (हानि) तथा स्त्री–रत्न की अनुपलब्धि – इन सबको जगत्–पति रावण कैसे सहन कर सकता है ?' ॥

(ii) **दौर्जन्यादिति। दुष्ट स्वभाव** से उत्पन्न होने वाली **असूया**, जैसे – {सुभाषितरतनभाण्डागार, पृ० ३२५ में अंकित **महेन्द्र कवि** के श्लोक में इस प्रकार है }–

यदिपरगुणेति। 'यदि तुम दूसरों के गुणों को सहन नहीं कर सकते हो तो गुणों के अर्जन के लिए (स्वयं) यत्न करो। {हाँ, इतना ध्यान में रखो कि } निन्दा के बहाने से दूसरों का यश मिटाया नहीं जा सकता। {दूसरों के यश को मिटाने में तुम समर्थ नहीं हो सकते।} इच्छा व द्वेष से युक्त मनोरथ वाले यदि तुम दूसरों की निन्दा करने से नहीं रुकते हो, तो सूर्य की किरणों को हाथ के छत्र से रोकने की चेष्टा करते हुए तुम स्वयं ही थक जाओगे' ॥

मन्युजा यथामरुशतके –

'पुरस्तन्व्या गोत्रस्खलनचकितोऽहं नतमुखः
प्रवृत्तो वैलक्ष्यात्किमपि लिखितुं दैवहतकः ।
स्फुटो रेखान्यासः कथमपि स तादृक्परिणतो
गता येन व्यक्तिं पुनरवयवैः सैव तरुणी ॥ (५२)
'ततश्चाभिज्ञाय स्फुरदरुणगण्डस्थलरुचा
मनस्विन्या रोषप्रणयरभसाद्गद्गदगिरा ।
अहो चित्रं चित्रं स्फुटमिति निगद्याश्रुकलुषं
रुषा ब्रह्मास्त्रं मे शिरसि निहितो वामचरणः ॥' (५१)

अथामर्षः –

अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥ १८ ॥

(iii) मन्युजेति। क्रोध से उत्पन्न होने वाली असूया का उदाहरण– जैसे {'अमरुशतक' के इन श्लोकों में कवि ने अंकित किया है। इनमें मानिनी नायिका को मनाने में असमर्थ नायक अपने मित्र से इस प्रकार कह रहा है –}

पुरस्तन्व्येति। 'उस कृशाङ्गी के सम्मुचख (बातों ही बातों में) अकस्मात् ही दूसरी प्रिया का नाम { अपने मुख से} निकलजाने के कारण चकित हुआ सा मैं लज्जावश अधोमुख करके सहजरीत्या कुछ रेखाएँ खींचने लगा। किन्तु (आश्चर्य तो इस बात का है कि) वह रेखाङ्कन भी ऐसा हो गया कि उसी अङ्गना के {जिसका नामोच्चारण अनायास ही हो गया था } शरीर के सभी अवयव वैसे ही उभरकर आ गए जिसमें उस रमणी का रूप प्रत्यक्ष परिलक्षित होने लगा ।'

तत इति। 'तत्पश्चात् उस रमणी को पहचानकर उस मानिनी के कपोल मारे क्रोध के लालिमा को धारण करते हुए फड़कने लगे, क्रोध एवं प्रणय के आवेग वश उसका कण्ठ अवरुद्ध होकर वाणी गद्गद् हो उठी, आँखों में आँसुओं को भरकर अरे! चित्र तो बिल्कुल स्पष्ट है, बड़ा आश्चर्य है, – ऐसा कहते हुए क्रोध से ब्रह्मास्त्ररूप अपने बाएँ पैर को मेरे सिर पर रख दिया' ॥ १७ ॥

१३. अमर्ष –

अथेति। अब ग्रन्थकार **अमर्ष** नामक तेरहवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं –

अधिक्षेपापमानादेः अभिनिविष्टता अमर्षः तत्र स्वेदशिरः कम्पतर्जनाताडनादयः (अनुभावाः भवन्ति) इत्यन्वयः ॥ १८ ॥

कारिकार्थ – अधिक्षेपेति। तिरस्कार (अधिक्षेप) तथा अपमान आदि से उत्पन्न होने वाला अभिनिवेश (अर्थात् प्रतीकाररूप में उस व्यक्ति से बदला लेने का दृढ़ आग्रह

यथा **वीरचरिते** –

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ।।' (३.८)

यथा वा **वेणीसंहारे** –

'युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थितं
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि ।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवा–
नद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव ।।' (१.१२)

अथ गर्वः –

गर्वोऽभिजनलावण्यबलैश्वर्यादिभिर्मदः ।
कर्माण्याधर्षणावज्ञा सविलासाङ्गवीक्षणम् ।। १९ ।।

ही) अमर्ष कहलाता है । इसमें पसीने का आना, सिर का कम्पन, तर्जना (धमकाना) तथा ताड़न आदि अनुभाव परिलक्षित होते हैं ।। १८ ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे **'महावीरचरित'** में – {परशुराम विश्वामित्र से इस प्रकार कहते हैं}

प्रायश्चित्तमिति। 'आप जैसे पूज्य–जनों का मैंने अतिक्रमण किया है, अतः तदर्थ मैं प्रायश्चित्त करूँगा । शस्त्रग्रहण की महती प्रतिज्ञा को मैं इस प्रकार दूषित न करुँगा' ।।

यथा वेति। अथवा जैसे **'वेणीसंहार'** नाटक में {**भीम सहदेव के द्वारा** युधिष्ठिर के पास इस प्रकार सन्देश भेजते है –}

युष्मदिति। 'आप की आज्ञा के उल्लंघनरूपी जल में डूबता हुआ मैं, आज्ञापालन में रत भाइयों के मध्य में गर्हित भले ही समझा जाऊँ, किन्तु क्रोध से उठाई हुई तथा रक्तरंजित गदा को घुमाते हुए और कौरवों का नाश करते हुए आज केवल एक दिन के लिए न तो आप मेरे ज्येष्ठ भाई हैं और न तो मैं आपका आज्ञापालन करने वाला छोटा भाई हूँ' ।। १८ ।।

१४. गर्व –

अथेति। अब ग्रन्थकार गर्व नामक चौदहवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं–

अभिजनलावण्यबलैश्वर्यादिभिः मदः गर्वः, तत्र कर्माणि आधर्षणा–वज्ञासविलासाङ्गवीक्षणम् **इत्यन्वयः** ।। १९ ।।

कारिकार्थ – गर्व इति। उच्चकुल, सुन्दरता, बल एवं ऐश्वर्य आदि के कारण उत्पन्न होने वाले मद को 'गर्व' कहा जाता है। दूसरे के चित्त को दुःखी करना (आधर्षणा – परचित्तपीडनम्) तिरस्कार करना, तथा विलासपूर्वक अपने अङ्गों को देखना आदि

यथा वीरचरिते –

'मुनिरयमथ वीरस्तादृशस्तत्प्रियं मे
विरमतु परिकम्पः कातरे क्षत्रियाऽसि ।
तपसि विततकीर्तेर्दर्पकण्डूयदोष्णः
परिचरणसमर्थो राघवः क्षत्रियोऽहम् ॥' (२.२७)

यथा वा तत्रैव –

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥' (२.१०)

अथ स्मृतिः –

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरत्र च ।
ज्ञातत्वेनार्थभासिन्यां भ्रूसमुन्नयनादयः ॥ २० ॥

अनुभाव इसमें परिलक्षित होते हैं ॥ १९ ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे **महावीर चरित** में – {परशुराम से भयभीत हुई सीता को राम कहते हैं –}

मुनिरयमिति। 'हे प्रिये ! यह (परशुराम) मुनि हैं और वीर भी हैं, अतः मुझे प्रिय हैं। हे भय–विह्वल प्रिये ! तुम क्षत्रिया (क्षत्रिय–पत्नी) हो। अतः भय से कम्पित होना छोड़ दो। तपस्या में यश–कीर्ति को प्राप्त करने वाले, तथा मद–गर्व के कारण जिनके बाहुओं में खुजली चल रही है, ऐसे परशुराम का परिचर्या–(स्वागत)– करने में रघुवंशीय–क्षत्रिय मैं भली–भाँति समर्थ हूँ' ।

यथावेति। अथवा, जैसे वहीं (**'महावीरचरित'** में) – {**परशुराम के द्वारा** रावण को प्रेषित सन्देश में –}

ब्राह्मणेति। 'ब्राह्मणों के अतिक्रमण का परित्याग करना आपके लिए श्रेयस्कर है। जमदग्नि का पुत्र परशुराम तुम्हारा मित्र है। यदि तुम ब्राह्मणों का अतिक्रमण करना नहीं त्यागो गे, तो वह अत्यन्त क्रोधी है ।' {यह उदाहरण दशरूपक० २, ६ में भी उद्धृत किया गया है}

१५. स्मृति –

अथेति। अब ग्रन्थकार **स्मृति** नामक पन्द्रहवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – सदृशज्ञानेति। सादृश्यज्ञान {पूर्व में देखी हुई वस्तु के सदृश अन्य किसी वस्तु को देखकर} अथवा चिन्ता आदि से संस्कार जाग्रत होने के कारण {पूर्व में देखी हुई वस्तु का मन में जो रूप अंकित हो जाता है वह} 'स्मृति' होती है। ''इसे मैंने पहले देखा था या सुना है'' – इस रूप में यह किसी वस्तु को अवभासित करती है। इसमें भौंहों का ऊपर संकुचित होकर चढ़ना आदि अनुभाव देखे जाते हैं ॥ २० ॥

यथा –

'मैनाकः किमयं रुणद्धि गगने मन्मार्गमव्याहतं–
शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद् भीतो महेन्द्रादपि ।
तार्क्ष्यः? सोऽपि समं निजेन विभुना जानाति मां रावण–
माः! ज्ञातं, स जटायुरेष जरसा क्लिष्टो वधं वाञ्छति ।।' (हनुमन्० ४.९)

यथा वा मालतीमाधवे–'**माधवः** – मम हि प्राक्तनोपलम्भसंभावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतीयमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः प्रियतमा स्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसंतानस्तन्मयमिव करोति वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम् –

'लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
प्रत्युप्तेव च वज्रसारघटितेवान्तर्निखातेव च ।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि–
श्चिन्तासंततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया ।।' (५.१०)

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – {**हनुमन्नाटक** में सीता को रथ में बैठाकर आकाश मार्ग से जाता हुआ **रावण** जटायु को देखकर यह सोचता है –}

मैनाक इति। 'क्या यह मैनाक है ? जो आकाश में मेरे अबाधित मार्ग को रोक रहा है। किन्तु उसमें इतनी शक्ति कहाँ ? (क्योंकि) वह तो इन्द्र के वज्र प्रहार से ही भय–भीत है। तो यह क्या गरुड़ है ? किन्तु वह भी अपने स्वामी (विष्णु) के सहित मुझ रावण को जानता है। हाँ, अब ज्ञात हुआ, यह तो जटायु है, जो अपनी वृद्धावस्था से दुःखित होकर (मेरे हाथों) अपना वध चाहता है।'

यथावेति। अथवा, जैसे '**मालतीमाधव**' मे–'**माधव** (कहता है) प्राक्तन ज्ञान से अपना जन्म प्राप्त करने वाले (अर्थात् मदनोद्यान में मालती के साक्षात्कारात्मक ज्ञान से उत्पन्न होने वाले) –भावनारूप संस्कार के निरन्तर उद्‌बोध से प्रतीत होने वाली, उससे भिन्न अर्थात् मालती स्मृति के विजातीय[1] । अन्य ज्ञानों के द्वारा अबाधित प्रवाहवाली, प्रियतमा (मालती) की स्मृतिरूपी–ज्ञान की उत्पत्ति की धारा (परम्परा) अन्तःकरण वृत्ति के सारूप्य से मेरी चेतना को तन्मय सा अर्थात् (मालतीमय सा) बना रही है ।

{**माधव** अपने आप से कहता है,}

लीनेवेति। **'मालती का सतत चिन्तन करने से मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मानों वह सदा मेरे सम्मुख ही उपस्थित है। कारण–मेरी प्रिया मालती मानों मेरे मन में लीन, प्रतिबिंबित, चित्रित, उत्कीर्ण, जड़ी हुई, वज्रलेप से चिपकाई हुई, अंदर गहरी उत्कीर्ण की हुई, मदन के पांचों बाणों से कीलित, सतत चिन्तनरूपी सूत्र से दृढ़ सिली हुई सी हो गई है'** ।।

---

१. भावना का लक्षण – 'भावनाऽऽख्यस्तु संस्कारो जीववृत्तिरतीन्द्रियः । उपेक्षा–ऽनात्मकस्तस्त निश्चयः कारणं भवेत् ।।'

अथ मरणम् –

मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते ।

यथा –

'संप्राप्तेऽवधिवासरे क्षणमनु त्वद्वर्त्मवातायनं
वारंवारमुपेत्य निष्क्रियतया निश्चित्य किंचिच्चिरम् ।
संप्रत्येव निवेद्य केलिकुररीं सास्रं सखीभ्यः शिशो–
र्माधव्याः सहकारकेण करुणः पाणिग्रहो निर्मितः ।।'

इत्यादिवच्छृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम् ।

अन्यत्र कामचारः । यथा वीरचरिते – 'पश्यन्तु भवन्तस्ताडकाम् –

{प्रस्तुत माधव की उक्ति दश० २।३४ में भी उद्धृत है । कहा गया है – 'बुद्धितस्थ चिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्। तत्राऽज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ।।' (पञ्चदशी ७।९१) माधव के कथन में यौगिक कल्पनाओं के निर्देश प्राप्त होते हैं।}।। २० ।।

१६. मरण –

अथेति। अब ग्रन्थकार मरण नामक सोलहवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं–

कारिकार्थ – मरणमिति। मरण के सुप्रसिद्ध और अनर्थकारी होने से इसका लक्षण नहीं किया गया है ।। २१ ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – {प्रोषितभर्तृका नायिका के इस वर्णन में – कोई दूती घर लौटते हुए किसी नायक से उसकी प्रियतमा के विषय में इस प्रकार कहती है –}

सम्प्राप्त इति। 'तुम्हारे (घर लौट आने की) अवधि का दिन उदित होने पर प्रत्येक क्षण तुम्हारे आने के मार्ग की सामने वाली खिड़की पर आकर निश्चल होकर देर तक कुछ विचार करती रही वह अभी–अभी (कुछ समय पूर्व ही) क्रीड़ा के लिए पाली हुई कुररी (पक्षिणी) को आँखों में आँसू भरकर उसे सहेलियों के हाथों में सौंप कर उस (तुम्हारी प्रियतमा) ने छोटी सी माधवीलता का आम्रवृक्ष के साथ करुणापूर्ण विवाह सम्पन्न कर दिया' ।

इत्यादीति। इस प्रकार से (उपर्युक्त वर्णन के समान ही) शृङ्गार रस के आलम्बन के रूप में जहाँ–जहाँ मरण का वर्णन करना हो वहाँ–वहाँ यथार्थ मरण का चित्रण अंकित न कर मरण का केवल आभास मात्र का ही निबन्धन करना चाहिए। साक्षात् मरण का वर्णन नहीं करना चाहिए।

अन्यत्रेति। शृङ्गार रस के अतिरिक्त अन्य रसों में स्वेच्छापूर्वक मरण का चित्रण कवि कर सकता है। जैसे **'महावीरचरित'** में {ताड़का के प्रत्यक्ष रूप से मरण का वर्णन इस प्रकार है –}

'हृन्मर्मभेदिपतदुत्कटकङ्कपत्र
संवेगतत्क्षणकृतस्फुरदङ्गभङ्गा ।
नासाकुटीरकुहरद्वयतुल्यनिर्य—
दुद्बुद्बुदध्वनदसृक्प्रसरा मृतैव ॥' (१.३९)

अथ मदः —

हर्षोत्कर्षो मदः पानात् स्खलदङ्गवचोगतिः ॥ २१ ॥
निद्रा हासोऽत्र रुदितं ज्येष्ठमध्याधमादिषु ।

यथा माघे —

'हावहारि हसितं वचनानां कौशलं दृशि विकारविशेषाः ।
चक्रिरे भृतमृजोरपि वध्वाः कामिनेव तरुणेन मदेन ॥' (शिशु० १०.१३)

इत्यादि ॥

'आप ताड़का को देखें —

हृन्मर्मेति। 'हृदय के मर्मस्थल का भेदन करने वाले, गिरते हुए (रामचन्द्र के) तीक्ष्ण बाणों के द्वारा वेग से शीघ्र ही उसके अङ्गों का भङ्ग कर दिया गया। उसकी नासिका रूपी कुटी के छिद्र द्वय से एक सा ही बुद्बुद् ध्वनि करता हुआ रक्त टपक रहा है। इस प्रकार वह एक प्रकार से मर ही गयी है' ॥

अथेति। अब मद नामक सत्रहवें व्यभिचारी भाव का निरुपण करते हैं —

पानात् हर्षोत्कर्षः मदः (स च) स्खलदङ्गवचोगतिः अत्र ज्येष्ठमध्यमाध—मादिषु निद्रा हासः रुदितम् **इत्यन्वयः** ॥ २१—२२ ॥

कारिकार्थ — हर्षोत्कर्ष इति। (मद्य) पान करने से उत्पन्न होने वाली हर्ष की उत्कृष्टता या अत्यन्त प्रसन्नता को 'मद' कहा जाता है। इसमें मद के प्रभाववश अङ्ग, वाणी एवं गति शिथिल हो जाती है । इस प्रकार उत्तम, मध्यम और अधम प्रकार के मद्यपान करने वालों में क्रमशः नशा हो जाने पर १—सो जाना; २— हँसी करना, तथा ३—रुदन करना आदि अनुभाव पाए जाते हैं॥ २१—२२॥

वृत्त्यर्थ — यथेति। जैसे माघ (शिशुपालवध) में —

हावहारीति। 'कामी तरुण के समान अत्यधिक वृद्धिंगत मद ने सरल प्रकृति की भोली—भाली भी अङ्गना की हँसी को विलास से मनोहर, वचनों को चातुर्यपूर्ण तथा आँखों में विशेष प्रकार के कटाक्षादि विलासरूप विकारों को अत्यधिक मात्रा में उत्पन्न कर दिया॥' {जब मद के नशे में मुग्धा नायिकाओं की ऐसी दशा—स्थिति थी, तो फिर मदमस्त प्रौढ़ा नायिकाओं की हावपूर्ण हँसी, वचन भङ्गिमा, तथा कटाक्षपातों की बात ही क्या है ?} इसी प्रकार अन्यों को भी समझना चाहिए ॥ २१—२२॥

अथ सुप्तम् –

सुप्तं निद्रोद्भवं तत्र श्वासोच्छ्वासक्रिया परम् ॥ २२ ॥

यथा –

'लघुनि तृणकुटीरे क्षेत्रकोणे यवानां
नवकलमपलालस्रस्तरे सोपधाने ।
परिहरति सुषुप्तं हालिकद्वन्द्वमारात्
कुचकलशमहोष्माबद्धरेखस्तुषारः ॥'

अथ निद्रा –

मनः संमीलनं निद्रा चिन्तालस्यक्लमादिभिः ।
तत्र जृम्भाङ्गभङ्गाक्षिमीलनोत्स्वप्नतादयः ॥ २३ ॥

---

१८. सुप्त –

अथेति। अब ग्रन्थकार सुप्त नामक अट्ठारहवें व्यभिचारीभाव का स्वरूप वर्णन करते हैं –

कारिकार्थ – सुप्तमिति। निद्रा से उत्पन्न होने वाली {स्वप्नावस्था या सुषुप्ति की} स्थिति को 'सुप्त' कहा जाता है। प्रधानरूप से श्वास और उच्छ्वास ही इसके अनुभाव हैं ॥ २२ ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – {कमलायुध नामक कवि कृत इस पद्य में सुप्त का वर्णन इस प्रकार है – सुभाषितरत्नभाण्डागार, पृ० २२३, पद्य–२८}

लघुनीति। 'जौ के खेत के एक कोने में निर्मित घास की छोटी सी कुटिया में, नवीन पुआल के बिछौने पर लगी हुई पुआल की ही बनी हुई तकिया है, सोये हुए कृषक दम्पत्ति को – (कृषक पत्नी के) कुच कलश की अत्यधिक उष्णता के कारण तुषार, रेखाङ्कितरूप से अर्थात् सीमा सी बनाए हुए, उन पर अपनी शीतलता का प्रभाव न डालते हुए – छोड़ देता है, अर्थात् दूर ही स्थित है' ॥ २२॥

१९. निद्रा –

अथेति। अब ग्रन्थकार निद्रा नामक उन्नीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं –

चिन्तालस्यक्लमादिभिः मनःसंमीलनं निद्रा, तत्र जृम्भाङ्गभङ्गाक्षिमीलनोत्स्वप्तादयः **इत्यन्वयः** ॥ २३ ॥

कारिकार्थ – मनस्सम्मीलनमिति। चिन्ता, आलस्य, एवं थकान आदि से मन का सम्मीलन {अर्थात् मन का अन्य इन्द्रियों से सम्बन्ध विच्छेद होना} ही निद्रा है । इसमें जँभाई का आना, अँगड़ाई लेना, आँखों का मूँदना तथा बड़बड़ाना आदि अनुभाव होते हैं ॥ २३ ॥

यथा –

'निद्रार्धमीलितदृशो मदमन्थराणि
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।
अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या–
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥' (चौ० पं० ३०)

यथा च माघे –

'प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति ।
मुहुरविशदवर्णा निद्रया शून्यशून्यां
दददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥' (११.४)

अथ विबोधः –

विबोधः परिणामादेस्तत्र जृम्भाक्षिमर्दने ।

यथा माघे –

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – {बिल्हण कृत 'चौरपञ्चाशिका' में नायिका की निद्रा जनित अवस्था का वर्णन है –}

निद्रार्धेति। 'निद्रा के प्रभाववश अर्धोन्मीलित आँखों वाली और मद से मन्थर–मन्थर मन्द स्वर में उच्चारित किये गये उस मृगनयनी के मधुर अक्षर आज भी मेरे हृदय में कुछ–कुछ ध्वनित से हो रहे हैं, जो न तो निरर्थक ही थे और न सार्थक ही' ।

यथा चेति। और जैसे माघ के पद्य में – {एक पहरेदार दूसरे को जगा रहा है –}

प्रहरकमिति। 'किसी (पहरेदार) ने अपना पहरा समाप्त करके सोने की इच्छा करते हुए (दूसरे पहरेदार को) 'जागो, जागो' ऐसा उच्च स्वर से बार–बार कहकर जगाया, किन्तु वह दूसरा साथी नींद के कारण अस्पष्ट अक्षरों को शून्यवाणी में (अर्थात् निरर्थक सा) उत्तर देते हुए भी भीतर से (अच्छी तरह से) नहीं जागा'॥ २२॥

२०. विबोध –

अथेति। अब ग्रन्थकार **विबोध** नामक बीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – विबोध इति। परिणाम आदि {अर्थात् अवस्था के परिवर्तन आदि} के कारण से उत्पन्न (जागरण को) विबोध होता है। इसमें जंभाई–अँगड़ाई, और आँख मलना आदि अनुभाव होते हैं ।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – माघ के एकादश सर्ग के ही इस पद्य–वर्णन में –

'चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां
चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः ।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणा–
मशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ।।' (११.१३)

अथ व्रीडा –

दुराचारादिभिर्व्रीडा धाष्टर्याभावस्तमुन्नयेत् ।
साचीकृताङ्गावरणवैवर्ण्याधोमुखादिभिः ।। २४ ।।

यथाऽमरुशतके –

'पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठाश्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम् ।
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः ।।' (४१)

चिररतीति। 'युवक तथा युवतियों ने रात में दीर्घकाल तक सुरतक्रीड़ा की। अत्यधिक सुरतक्रीड़ा के कारण थके हुए तरुण तथा तरुणियों ने निद्रासुख को भलीप्रकार से प्राप्त किया । दीर्घ सुरतक्रीड़ा की थकान के कारण निद्रासुख में लीन प्रियतमों के पहले ही अच्छी तरह सोकर जागी हुई युवतियाँ अपने शरीर के अवयवों को थोड़ा भी नहीं हिलाती–डुलातीं, तथा अपनी भुजाओं के प्रगाढ़ परिम्भण को भी नहीं छोड़ती। (कहीं प्रियतम की निद्रा भंग न हो जाय)' ।।

२१. व्रीडा –

अथेति। अब ग्रंथकार **व्रीडा** नामक इक्कीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – दुराचारेति। दुराचार आदि कारणों से उत्पन्न धृष्टता के अभाव को 'व्रीड़ा' कहा जाता है। इसमें मुख को छिपाना, (मुख के) रङ्ग का फीका पड़ जाना तथा मुख को नीचा कर लेना आदि अनुभाव होते हैं ।। २४ ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – **अमरुशतक** के पद्य में – {प्रियतम के व्यवहार से लज्जित होने वाली नववधू का वर्णन है –}

पटालग्न इति। '{प्रथम मिलन के अवसर पर} पति द्वारा आँचल पकड़े जाने पर वह (वधू) अत्यन्त विनम्र होकर अपना मुख नीचा कर लेती है। पति के हठात् आलिङ्गन करने की इच्छा करने पर धीरे से अपने अङ्गों को संकुचित कर लेती है। इस प्रकार सखियों से मुस्कान के साथ देखी जाती हुई वह कुछ कह नहीं पाती है। वह नववधू प्रथम परिहास के अवसर लज्जा के मारे अन्दर ही अन्दर गड़ी जा रही है' ।। २४ ।।

अथापस्मारः –

आवेशो ग्रहदुःखाद्यैरपस्मारो यथाविधिः ।
भूपातकम्पप्रस्वेदलालाफेनोद्गमादयः ॥ २५ ॥

यथा माघे –

'आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम् ।
फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥' (३.७२)

अथ मोहः –

मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेशानुचिन्तनैः ।
तत्राज्ञानभ्रमाघातघूर्णनादर्शनादयः ॥ २६ ॥

यथा कुमारसम्भवे –

'तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥' (३.७३)

---

२२. अपस्मार –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'अपस्मार'** नामक बाइसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – आवेश इति। ग्रहजनित दुःख आदि के कारण से उत्पन्न आवेश { चित्तविक्षेप अथवा मिर्गी } को 'अपस्मार' कहा जाता है । इसमें भूमि पर गिरना, काँपना, पसीना आना, मुख से लार का गिरना, तथा फेन का निकलना आदि अनुभाव होते हैं ॥ २५ ॥ { अपगता स्मृतिर्यत्र सोऽपस्मार इति तस्य निरुक्तिरिति।}

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे माघ के पद्य में –

आश्लिष्टेति। 'श्रीकृष्ण ने भूमि का आलिंगन करते हुए अर्थात् भूमि पर पड़े हुए, उच्च ध्वनि करते हुए, चञ्चल बाहु के समान विशाल तरङ्गों वाले, फेन युक्त नदियों के पति (समुद्र) को अपस्मार (मिर्गी के) रोगी के सदृश समझा' ॥ २५ ॥

२३. मोह –

अथेति। अब ग्रन्थकार **मोह** नामक तेइसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – मोह इति। भय, दुःख का आवेश तथा चिन्ता के कारण होने वाली चित्त की विफलता या ज्ञानलोप को 'मोह' कहते हैं। इसमें अज्ञान, भ्रम, आघात, और घूर–घूरकर देखना आदि अनुभाव पाये जाते हैं ॥ २६ ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे कुमारसंभव के पद्य में –

तीव्राभिषङ्गेति। 'तीव्र आघात से उत्पन्न , इन्द्रियों की ज्ञानवृत्ति को (अर्थात् उनके व्यापारादि को) अवरुद्ध कर देने वाली मूर्च्छा से, क्षण भर के लिए रति को

यथा चोत्तररामचरिते –

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ।।' (१.३५)

अथ मतिः –

भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्मतिः ।

यथा किराते –

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ।।' (२.३०)

अपने पति–कामदेव के भस्म हो जाने का ध्यान ही न रहा। अर्थात् अपने पति कामदेव की मृत्यु के विषय में कुछ भी न जान सकी। इस प्रकार मोह ने, एक प्रकार से, उसका उपकार ही कर दिया' ।।

यथाचेति। और जैसे **उत्तरराम चरित** में – {सीता के विषय में रामचन्द्रजी कहते हैं –}

विनिश्चेतुमिति। 'यह निश्चय करना सम्भव नहीं है कि यह सुख है या दुःख है, यह मूर्च्छा है या निद्रा, यह विष का प्रभाव है या मद, तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में मेरे इन्द्रिय–ग्राम को मूढ़ कर देने वाला (या स्तब्ध कर देने वाला) कोई ऐसा विकार निहित है, जो मेरे अन्तःकरण को जड़ बना देता है तथा ताप भी उत्पन्न कर देता है' ।। २६ ।।

२४. मति –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'मति'** नामक चौबीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं –

शास्त्रादेः तत्त्वधीः मतिः सा च भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्याम् **इत्यन्वयः** ।।

कारिकार्थ – भ्रान्तीति। अनेक शास्त्रार्थों के विचिन्तन, तर्क–वितर्क आदि के द्वारा तत्त्व अर्थात् वास्तविक अर्थ का ज्ञान होना 'मति' है। शिष्य को उपदेश देना, अर्थों का अन्वेषण तथा संशयापनोदन इसके अनुभाव होते हैं ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे किरातार्जुनीय के पद्य में – {युधिष्ठिर कहते हैं –}

सहसेति। 'बिना विचार किये कोई भी कार्य न करे, क्योंकि अविवेक (ज्ञान न होना) ही परम आपत्तियों का कारण है। विचार पूर्वक कार्य करने वाले व्यक्ति के गुणों से आकृष्ट होकर सम्पत्ति स्वयं ही उसका वरण करती है अर्थात् उसके पास आ जाती है' ।

यथा च –

'न पण्डिताः साहसिका भवन्ति श्रुत्वापि ते संतुलयन्ति तत्त्वम् ।
तत्त्वं समादाय समाचरन्ति स्वार्थं प्रकुर्वन्ति परस्य चार्थम् ।।

अथालस्यम् –

आलस्यं श्रमगर्भादिर्जाड्यंजृम्भासितादिमत् ।। २७ ।।

यथा ममैव –

'चलति कथञ्चित्पृष्टा यच्छति वचनं कथञ्चिदालीनाम् ।
आसितुमेव हि मनुते गुरुगर्भभरालसा सुतनुः ।।' {धनिकस्य}

अथावेगः –

आवेगः सम्भ्रमोऽस्मिन्नभिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगो
वातात् पांसूपदिग्धस्त्वरितपदगतिर्वर्षजे पिण्डिताङ्गः ।

यथा चेति। और जैसे –

न पण्डिता इति। 'बुद्धिमान् तथा पण्डित व्यक्ति साहसी (अर्थात् किसी कार्य को सहसा करने वाले) नहीं होते । किसी बात को सुन लेने के पश्चात् वे उसके तत्त्व का तुलनात्मक विचार करते हैं – (छानबीन करते हैं) पश्चात् तत्त्व को ग्रहण कर अपने कार्य की सिद्धि के साथ–साथ दूसरे के प्रयोजन को भी सिद्ध करते हैं' ।।

२५. आलस्य –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'आलस्य'** नामक पच्चीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – आलस्यमिति। थकान तथा गर्भ–धारण आदि के कारण उत्पन्न होने वाली जड़ता को 'आलस्य' कहते हैं। इसमें जँभाई लेना तथा एक स्थान पर बैठे रहना आदि अनुभाव देखें जाते हैं ।। २७ ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – मेरी (**धनिक**) की ही निर्मित निम्न आर्या में –

चलतीति। 'गर्भ के अत्यधिक भार के कारण अलसाई हुई सुन्दरी किसी तरह चलती अवश्य है, तथा सखियों के पूछने पर किसी तरह उत्तर भी अवश्य देती है; पर सच पूछा जाय तो वह एक स्थान पर ही बैठी रहना चाहती है' ।। २७ ।।

२६. आवेग –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'आवेग'** नामक छब्बीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं –

सम्भ्रमः आवेगः अभिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगः, वातात् (जनिते) पांसूपदिग्धः त्वरितपदगतिः वर्षजेपिण्डिताङ्गः उत्पातात् (जनिते) अङ्गेषु श्रस्तता अहितहितकृते शोक–हर्षानुभावाः वह्नेः (जनिते) धूमाकुलास्यः करिजम् अनुभयस्तम्भकम्पापसाः इत्यन्वयः ।। २८ ।।

कारिकार्थ – आवेग इति। मन के सम्भ्रम {घबड़ाहट, त्वरा, अथवा हड़बड़ाहट} को 'आवेग' कहते हैं। इसमें कारण और अनुभाव भिन्न–भिन्न होते हैं

उत्पातात् स्रस्तताङ्गेष्वहितहितकृते शोकहर्षानुभावा
वह्नेर्धूमाकुलास्यः करिजमनु भयस्तम्भकम्पापसाराः ।। २८ ।।

अभिसरः — राजविद्रवादिः, तद्धेतुरावेगः। यथा ममैव {—धनिकस्य} —

आगच्छागच्छ सज्जं कुरु वरतुरगं सन्निधेहि द्रुतं मे
खड्गः क्वासौ कृपाणीमुपनय धनुषा किं किमङ्ग प्रविष्टम् ।
संरम्भोन्निद्रितानां क्षितिभृति गहनेऽन्योन्यमेवं प्रतीत्थं
नाथ स्वप्नाभिदृष्टे त्वयि चकितदृशां विद्विषामाविरासीत् ।।'

इत्यादि ।।

'तनुत्राणं तनुत्राणं शस्त्रं शस्त्रं रथो रथः ।
इति शुश्रुविरे विष्वगुद्भटाः सुभटोक्तयः ।।'

यथा वा —

जैसे —} (१) राज्य विप्लवजन्य—आवेग में शस्त्र तथा हाथी आदि की युद्धार्थ तैयारी की जाती है। (२) वायुजन्य आवेग में झंझावात तथा धूलि से पीड़ित व्यक्ति शीघ्रता से चलता है । (३) वर्षा से होने वाले आवेग में शरीर का संकुचन होता है। (४) वज्रपात आदि उत्पात से होने वाले आवेग में अङ्ग शिथिल हो जाते हैं। (५) अनिष्ट = शत्रु से होने वाले आवेग में शोकरूप अनुभाव तथा मित्र अर्थात् हितेच्छुः द्वारा होने वाले आवेग में प्रसन्नता—हर्षरूप अनुभाव होते हैं। (६) अग्नि से होने वाले आवेग में व्यक्ति का मुख व्याकुल हो जाता है और (७) हाथी के द्वारा होने वाले आवेग में भय, स्तम्भ, कम्प, और भागने का प्रयास परिलक्षित होता है ।। २८ ।।

{अब वृत्तिकार **धनिक** उपर्युक्त विभिन्न कारणों से उत्पन्न होने वाले आवेगों के उदाहरण क्रमशः उपन्यस्त करते हैं —}

वृत्त्यर्थ — (i) **अभिसर इति**। सर्वप्रथम **अभिसर** का अर्थ बताते हैं— अभिसर का अर्थ है— राज्यविप्लव—राजविद्रवादि। उसके कारण होने वाले आवेग का उदाहरण मेरा (**धनिक** का) ही पद्य इस प्रकार है —

आगच्छेति। 'हे राजन् ! गहन पर्वत में सोये हुए तुम्हारे शत्रु जब तुम्हें कभी स्वप्न में देख लेते हैं तो सहसा हड़बड़ाकर जाग उठते हैं, उनकी आँखें चकित सी दिखाई देती हैं, और एक—दूसरे को लक्ष्य करके उनका वार्तालाप इस प्रकार होता है — आओ, आओ, श्रेष्ठ घोड़ों को तैयार कर लो, शीघ्रता करो, मेरे पास आओ। मेरी तलवार कहाँ है ? कटार लाओ, ओह ! धनुष से क्या होगा ? अरे ! क्या शत्रु प्रविष्ट हो गये ?' इत्यादि ।

तनुत्राणमिति। इसी प्रकार 'कवच, कवच, शस्त्र, शस्त्र, रथ—रथ, इत्यादि शत्रु—वीरों की समरभूमि में चारों ओर उत्कट उक्तियाँ सुनाई पड़ती थी।' {यहाँ रणभूमि में वीरों की आवेग दशा का वर्णन किया गया है।}

यथा वेति। अथवा जैसे — {किसी राजा की सेना के आश्रम—परिसर में

'प्रारब्धां तरुपुत्रकेषु सहसा संत्यज्य सेकक्रिया—
मेतास्तापसकन्यकाः किमिदमित्यालोकयन्त्याकुलाः ।
आरोहन्त्युटजद्रुमांश्च बटवो वाचंयमा अप्यमी
सद्यो मुक्तसमाधयो निजबृसीष्वेवोच्चपादं स्थिताः ।।'

वातावेगो यथा—'वाताहतं वसनमाकुलमुत्तरीयम्' इत्यादि । **वर्षजो** यथा —

'देवे वर्षत्यशनपचनव्यापृता वह्निहेतो—
र्गेहाद्गेहं फलकनिचितैः सेतुभिः पङ्कभीताः ।
नीध्रप्रान्तानविरलजलान्पाणिभिस्ताडयित्वा
शूर्पच्छत्रस्थगितशिरसो योषितः सञ्चरन्ति ।।'

उत्पातजो यथा —

'पौलस्त्यपीनभुजसम्पदुदस्यमान—
कैलाससम्भ्रमविलोलदृशः प्रियायाः ।
श्रेयांसि वो दिशतु निह्नुतकोपचिह्न—
मालिङ्गनोत्पुलकमासितमिन्दुमौलेः ।।'

प्रविष्ट हो जाने पर उत्पन्न होने वाला आवेश इस प्रकार है —}

प्रारब्धामिति। 'ये तपस्वियों की कन्याएँ, पुत्र-तुल्य स्नेह से पालित एवं संवर्धित इन लघु वृक्षों में प्रारम्भ की हुई सिञ्चन—क्रिया को सहसा (बीच में ही) छोड़कर 'यह क्या है' — ऐसा कहती हुई आकुलतापूर्वक देख रही हैं। ब्रह्मचारी जन आश्रमस्थ वृक्षों पर चढ़ रहे हैं। ये मौनधारण करने वाले तपस्वी—जन भी शीघ्र ही अपनी समाधि को भंग कर अपने आसनों पर ही ऊँचे पैर करके खड़े हो गये हैं' ।।

(ii) **वातवेग इति। वातजन्य आवेग** का उदाहरण इस प्रकार है — 'हवा के तेज झोकें से वस्त्र तथा उत्तरीय (चंचल होकर) इधर—उधर उड़ रहा है।'' इत्यादि।

(iii) **वर्षज इति। वृष्टिजन्य आवेग** का उदाहरण इस प्रकार है —

देवे वर्षतीति। 'चारों ओर घनघार वर्षा हो रही है। स्त्रियाँ भोजन बनाने में व्यस्त हैं। ऐसी स्थिति में स्त्रियाँ जल से भरे हुए छप्पर के छोरों के पानी को हाथों से ठोककर, कीचड़ में सन जाने के भय से काठ के तख्तों के निर्मित पुलों से, (वर्षा से बचने के लिए) सूप की छतरी से सिर को ढ़क कर आग को लाने के लिए एक घर से दूसरे घर में जा रही है।''

(iv) उत्पातज इति। उत्पातजन्य आवेग का उदाहरण इस प्रकार है —

पौलस्त्येति। 'पुलस्त्य के पौत्र रावण की पुष्ट—भुजाओं से कैलाश पर्वत के ऊपर उठाए जाने पर भयभीत हुई पार्वती के नेत्र चञ्चल हो उठे । उनका प्रणय—कोप क्षीण हो जाता है। तथा शिव के प्रति उत्पन्न प्रणय—कोप के सभी चिह्न मिट जाते हैं । पार्वती भय तथा सम्भ्रम से (सहसा) महादेव का आलिंगन कर लेती है, परिणामतः

अहितकृतस्त्वनिष्टदर्शनश्रवणाभ्यां तद्यथोदात्तराघवे– '**चित्रमायः**–(ससम्भ्रमम्) भगवन् कुलपते रामभद्र ! परित्रायतां परित्रायताम् । (इत्याकुलतां नाटयति)' **इत्यादि** । पुनः – '**चित्रमायः** –

मृगरूपं परित्यज्य विधाय विकटं वपुः ।
नीयते रक्षसाऽनेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥

रामः –

वत्सस्याभयवारिधेः प्रतिभयं मन्ये कथं राक्षसात्
त्रस्तश्चैष मुनिर्विरौति मनसश्चास्त्येव मे सम्भ्रमः ।
मा हासीर्जनकात्मजामिति मुहुः स्नेहाद् गुरुर्याचते
न स्थातुं न च गन्तुमाकुलमतेर्मूढस्य मे निश्चयः ॥'

इत्यन्तेनानिष्टप्राप्तिकृतसम्भ्रमः ।

इष्टप्राप्तिकृतो यथाऽत्रैव – '(प्रविश्य पटाक्षेपेण सम्भ्रान्तो वानरः) **वानरः** – महाराज एदं खु पवणणन्दणागमणेण पहरिस – '(महाराज एतत्खलु पवननन्दनागमनेन

इन्दुमौलि महादेव का शरीर (पार्वती के स्पर्श से) रोमाञ्चित हो उठता है। महादेव का यह पार्वती आलिङ्गन जनित पुलक (रोमाञ्च) आप सभी का कल्याण करे' ॥

(v) **अहितकृत इति**। {**अनिष्ट से उत्पन्न होने वाला आवेग**} तो अनिष्ट वस्तु के दर्शन या श्रवण से होता है। जैसे – **उदात्तराघव** नाटक में – '**चित्रमाय** (सम्भ्रम के साथ) भगवन् ! कुल के रक्षक रामभद्र ! रक्षा करो, रक्षा करो। {ऐसा कहकर व्याकुलता का प्रदर्शन करता है} इत्यादि। आगे पुनः '**चित्रमाय कहता है** –

मृगरूपमिति। 'यह राक्षस मृगरूप का त्याग करके भयानक रूप धारण कर युद्ध में लक्ष्मण को संशय में डाल रहा है । {अर्थात् उसके जीवन को संशयग्रस्त बना रहा है।}

राम – वत्सस्येति। 'अभय के समुद्र अर्थात् अत्यन्त निर्भय वत्स (लक्ष्मण) को राक्षस से भय हो, यह मै कैसे स्वीकार कर लूँ। और यह मुनि (चित्रमाय) भी भय–भीत सा होकर चिल्ला रहा है; अतः मेरे चित्त में सम्भ्रम (घबराहट–व्याकुलता) भी है। दूसरी ओर {वन गमन के अवसर पर} गुरु (वसिष्ठ) ने स्नेहपूर्वक बार–बार यही कहा था कि जानकी को अकेली मत रहने देना। इस प्रकार विचार कर मैं किंकर्तव्य विमूढ़ हो गया हूँ। तथा मेरी बुद्धि आकुलता से ग्रस्त हो गई है। अतः मैं न तो रुकने का निश्चय कर पा रहा हूँ और न जाने का ही' ॥

इत्यन्तेनेति। यहाँ तक अनिष्ट से उत्पन्न होने वाले सम्भ्रम का वर्णन किया गया है।

(iv) **इष्टप्राप्तीति**। इष्ट–प्राप्ति से होने वाले सम्भ्रम का उदाहरण वहीं {उदात्तराघव में ही} {पर्दा हटाकर घबराया हुआ वानर प्रवेश करता है –} **वानर** –

प्रहर्ष—') इत्यादि 'देवस्य हिअआणन्दजणणं विअलिदं महुवणम् ।' (देवस्य हृदयानन्दजननं विदलितं मधुवनम्') इत्यन्तम् ।

यथा वा **वीरचरिते** —

'एह्येहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र
चुम्बामि मूर्धनि चिरस्य परिष्वजे त्वाम् ।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करद्वयं ते ।।' (१.५५)

वह्निजो यथाऽमरुशतके —

'क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन्केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ।।' (२)

महाराज (सुग्रीव) पवनपुत्र (हनुमान्) के आगमन से हर्षित — इत्यादि से लेकर —'महाराज (आप) के हृदय को प्रसन्न कर देने वाले मधुवन को ध्वस्त कर दिया।' यहाँ तक। {इष्ट—प्राप्ति से होने वाले सम्भ्रम का वर्णन किया गया है।}

यथावेति। अथवा जैसे **महावीरचरित** में —

एह्येहीति। 'पूर्णचन्द्र के समान, रघुकुल को आह्लादित करने वाले हे वत्स राम! आओ, इधर आओ । मैं तुम्हारे सिर को देर तक चूँम लूँ तथा तुम्हारा आलिङ्गन करुँ। (अर्थात् हृदय से लगा लूँ।) अपने हृदय में बिठाकर दिन—रात तुम्हें धारण या वहन करता रहूँ। या तुम्हारे दोनों चरणकमलों की वन्दना करूँ' ।

(vii) **वह्निज इति। अग्निजनित आवेग** का उदाहरण **'अमरुशतक'** के मंगल श्लोक में इस प्रकार है — {इसमें कवि ने त्रिपुरदहन के अवसर पर भगवान् शंकर के शर से उत्पन्न अग्नि की तुलना प्रणयापराधी कामी से की है — परकीया से प्रणय सम्बन्ध रखने वाले नायक के हाथ को जिस प्रकार नायिका झटक देती है, आँचल ग्रहण करने पर उसे बलात् लीलाकमल से ताड़ित करती है, केश पकड़ने पर उसे ढ़केल देती है, पैरों पर गिरने पर उसकी ओर देखती भी नहीं है, आलिङ्गन करने पर उसे दूर ढकेल देती है, उसी प्रकार त्रिपुरदाह के अवसर पर }

क्षिप्ताविति। 'अश्रुपूर्ण कमलाक्षियों ने शंकर के बाणों से समुत्पन्न अग्नि को हाथ का स्पर्श होने पर सद्यः अपराध करके आए हुए कामी के समान झटक दिया, आँचल पर आ लगने पर उसे करकमलों से ताड़ित किया, (थपथा दिया), केशों में लगने पर उसे मसल दिया, पैरों पर लगने पर उसे देखा भी नहीं और शरीर पर लगने से उसे झाड़ दिया । इस प्रकार विविध लीला करने वाला शंकर के बाणों से उत्पन्न अग्नि आप लोगों के पापों को भस्म कर दे ।'

यथा वा रत्नावल्याम् –

'विरम विरम वह्ने मुञ्च धूमाकुलत्वं
प्रसरयसि किमुच्चैरर्चिषां चक्रवालम् ।
विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियायाः
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि ॥' (४.१६)

करिजो यथा रघुवंशे –

'स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन ।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥' (५.४९)

करिग्रहणं व्यालोपलक्षणार्थम् । तेन व्याघ्रशूकरवानरादिप्रभवा आवेगा व्याख्याताः ।

अथ वितर्कः –

तर्को विचारः संदेहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः ।

यथावेति। अथवा जैसे रत्नावली नाटिका में – {सागरिका को बचाने के लिए दौड़कर जाते हुए उदयन की यह उक्ति –}

विरमेति। 'हे अग्नि ! रुको–रुको (शान्त हो जाओ, शान्त हो जाओ) अपने धूम–जाल को समेटलो, ज्वालाओं के उन्नत समूह को क्यों फैला रहे हो? (आश्चर्य है) अरे, मुझे प्रिया की वियोगाग्नि ही जला न पायी, तो फिर प्रलय काल की अग्नि के सदृश तेज से तुम मेरा क्या कर सकोगे ?'

(viii) करिज इति। हाथी से उत्पन्न होने वाला आवेग, जैसे रघुवंश में –

सछिन्नबन्धेति। 'अज की सेना का पूरा शिविर उस हाथी के आते ही व्याकुल हो गया, हाथी–घोड़े आदि अपने बन्धनों को छिन्न–भिन्न करके भागने लगे, धुरा टूटने से रथ गिरने लगे तथा योद्धाजन स्त्रियों की रक्षा करने में उद्यत हो गए' ।

{प्रस्तुत श्लोक में 'युग्म' से तात्पर्य है – 'युगं वहन्तीति युग्या वाहाः ।' 'युगं' अर्थात् धुरी को जो वहन करते हैं – वे हाथी, घोड़े आदि ।}

करिग्रहणमिति। कारिका में 'करि' शब्द समस्त पशुजन्य विनाश को उपलक्षित कराने के लिए है। (व्यालोपलक्षणार्थम्) इससे व्याघ्र शूकर, तथा वानर आदि से होने वाले आवेगों की भी व्याख्या हो जाती है ॥ २८ ॥

२७. वितर्क –

अथेति। अब वितर्क को कहते हैं –

कारिकार्थ – तर्क इति। सन्देह से उत्पन्न होने वाले विचार को ही 'तर्क' कहा जाता है। इसमें व्यक्ति अपनी भौहों, शिर तथा अङ्गुलि को नचाता है। अर्थात् – भौहों का घुमाना, शिर का कम्पन, तथा अङ्गुलिका घुमाना आदि अनुभाव होते हैं ।

यथा –

'किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
सद्यः स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा ।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु–
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ।।'

अथवा –

'कः समुचिताभिषेकादार्यं प्रच्यावयेद् गुणज्येष्ठम् ।
मन्ये ममैव पुण्यैः सेवावसरः कृतो विधिना ।।'

अथावहित्थम् –

लज्जाद्यैर्विक्रियागुप्ताववहित्थाङ्गविक्रिया ।

यथा कुमारसम्भवे –

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – इस पद्य में – {**लक्ष्मण** तर्क कर रहे हैं –}

किं लोभेनेति। 'क्या भरत (राज्य प्राप्ति के) लोभ के वशीभूत हो गये ? जिन्होंने (राम को वनवास दिलाने का) यह कार्य किया है। अथवा मेरी मझली माँ कैकेयी ही अन्य स्त्रियों की तरह लघुता–क्षुद्रता को प्राप्त हो गई। (किन्तु) मेरे ये दोनों ही विचार सत्य नहीं है। क्योंकि मेरे वे बड़े भाई भरत तो पूज्य राम के अनुज हैं और मेरी वह माँ (कैकेयी) पिता दशरथ की पत्नी है। {निश्चय ही इन दोनों के द्वारा ऐसा निन्द्य–अनुचित कार्य नहीं किया जा सकता।} अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह अनुचित कार्य विधाता (दैव) ने ही किया है' ।

{प्रस्तुत श्लोक **नाट्यदर्पणकार** के अनुसार **उदात्तराघव** का है।}

अथवेति। अथवा {राम–वनवास की वार्ता सुनकर **लक्ष्मण** के तर्क का दूसरा उदाहरण –}

क इति। {यदि ऐसी बात नहीं है तो} 'गुणों में श्रेष्ठ तथा राज्याभिषेक के अधिकारी बड़े भाई रामचन्द्र को राज्याभिषेक से कौन वंचित कर सकता है ? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे ही पुण्यों के कारण विधाता ने मुझे राम की सेवा करने का अवसर प्रदान किया है' ।।

२८. अवहित्थम् –

अथेति। अब ग्रन्थकार **अवहित्था** नामक अट्ठाइसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – लज्जाद्यैरिति। लज्जा आदि के कारण (मुख पर उभरने वाले हृदयस्थ) विकारों को छिपाना ही अवहित्था है । इसमें अङ्गों पर उत्पन्न होने वाले विकार ही अनुभाव होते हैं ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – कुमारसम्भव के पद्य में – {पार्वती का यह

'एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ।।' (६.८४)

अथ व्याधि –

व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः ।। २९ ।।

दिङ्मात्रं तु यथा –

'अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुषु कृतं चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता
दत्तं दैन्यमशेषतः परिजने तापः सखीष्वाहितः ।
अद्य श्वः परिनिर्वृतिं व्रजति सा श्वासैः परं खिद्यते
विश्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तया ।।' (अमरु० १२०)

अवहित्था नामक सञ्चारिभाव –}

एवं वादिनीति। 'जब देवर्षि नारद पार्वती तथा शिव के विवाह के विषय में हिमालय से वार्तालाप कर रहे थे, तो समीप ही बैठी हुई पार्वती अपना सिर झुका कर लीलाकमल के पत्तों को {हिमालय तथा नारद की बातों में कोई कुतूहल न प्रदर्शित करती सी, तथा लज्जावश अपने हृदयस्थ भाव को छिपाती हुई} गिन रही थी' ।।

२९. व्याधि –

***अथेति।** अब ग्रन्थकार 'व्याधि' नामक उन्नीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण* करते हैं –

कारिकार्थ – व्याधय इति। सन्निपात आदि रोगों को व्याधि कहते हैं इन व्याधियों का विशेष वर्णन अन्यत्र अर्थात् आयुर्वेद के ग्रन्थों में किया गया है। {अतः वहीं देखना–चाहिए।} ।। २९ ।।

वृत्त्यर्थ – दिङ्मात्रमिति। प्रकृत में **'व्याधि–सन्निपात'** का संकेत मात्र किया जा रहा है – जैसे { **'अमरुशतक'** में कोई दूती किसी नायक से उसकी नायिका की विरहजन्य पीड़ा का वर्णन करती हुई इस प्रकार कहती है} –

अच्छिन्नमिति। 'निरन्तर बहने वाली अश्रुधारा को उसने अपने सम्बन्धियों को दे दिया, और चिन्ता अपने गुरुजनों–आप्तजनों–के लिए अर्पित कर दी है। अपनी समस्त दीनता सेवक वर्ग को अर्पित कर दी है। और संताप सखियों के लिए दे दिया है। इसलिए अब तुम निश्चिन्त हो जाओ, उसने वियोग जन्य सम्पूर्ण दुःख दूसरों के लिए दे दिया है। वह आज या कल में ही 'परिनिवृत्ति' (मृत्यु) को प्राप्त हो जाने वाली है, अब उसे केवल खेद है, श्वास का ही, जो शेष रह गया है' ।।

{प्रस्तुत श्लोक में विरहजन्य 'मूर्च्छा' नामक व्याधिका ही वर्णन है, जो व्याधि के ही अन्तर्गत आता है।} ।। २९ ।।

अथोन्माद: –

अप्रेक्षाकारितोन्माद: सन्निपातग्रहादिभि: ।
अस्मिन्नवस्था रुदितगीतहासासितादय: ।। ३० ।।

यथा – आ: ! क्षुद्रराक्षस ! तिष्ठ तिष्ठ, क्व मे प्रियतमामादाय गच्छसि' इत्युपक्रमे 'कथम् –

नवजलधर: सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचर:
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ।।' (विक्रमो० ४.७)

इत्यादि ।।

अथ विषाद: –

प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषाद: सत्त्वसंक्षय: ।

---

३०. उन्माद –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'उन्माद' नामक तीसवें व्यभिचारीभाव का निरुपण करते हैं –

सन्निपातग्रहादिभि: अप्रेक्षाकारिता उन्माद: अस्मिन् रुदितहासगीतादय: अवस्था: (भवन्ति) **इत्यन्वय:** ।। ३० ।।

कारिकार्थ – अप्रेक्षेति। सन्निपात तथा ग्रह–आदि के प्रभाव वश बिना विचार के कार्य करने की अवस्था को उन्माद कहा जाता है। इसमें रोना, गाना, हँसना तथा बैठे रहना आदि अवस्थाएँ अनुभाव के रूप में परिलक्षित होती है ।। ३० ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे – {**'विक्रमोर्वशीय'** नाटक में उर्वशी के वियोग से विह्वल होने वाले पुरुरवा का उन्माद कथन इस प्रकार है –} **'राजा – अरे दुष्ट राक्षस ! ठहर, ठहर, मेरी प्रिया को लेकर कहाँ जा रहा है' –इत्यादि उपक्रम के पश्चात्– 'अरे'–**

नवजलधर इति। 'यह तो घिरकर आया हुआ नवीन बादल है, गर्वोन्मत्त निशाचर तो नहीं है। यह तो दूर तक फैला हुआ इन्द्रधनुष है, उस नीच राक्षस का धनुष नहीं है। यह तो तेजधार वाली वर्षा है, बाणों की वर्षा नहीं है। यह तो कसौटी पर कसे हुए सुवर्ण की रेखा के सदृश चिकनी विद्युत् है, मेरी प्रिया उर्वशी नहीं है।' इत्यादि– में उन्माद का ही वर्णन अंकित है ।। ३० ।।

३१. विषाद –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'विषाद' नामक इकत्तीसवें व्यभिचारी भाव का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – प्रारब्धेति। आरम्भ किये गये कार्य की असिद्धि (अर्थात् असफलता आदि के कारण) से सत्त्व (शक्ति या उत्साह) का क्षय (कम) हो जाना ही

नि:श्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥ ३१ ॥

यथा **वीरचरिते** – 'हा आर्ये ताडके! किं हि नामैतत् । अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि, ग्रावाण: प्लवन्ते ।

नन्वेष राक्षसपते: स्खलित: प्रताप:
प्राप्तोऽद्भुत: परिभवो हि मनुष्यपोतात् ।
दृष्ट: स्थितेन च मया स्वजनप्रमाथो
दैन्यं जरा च निरुणद्धि कथं करोमि ॥' (१.४०)

अथौत्सुक्यम् –

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसम्भ्रमै: ।
तत्रोच्छ्वासत्वराश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमा: ॥ ३२ ॥

यथा **कुमारसम्भवे** –

'आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेष: ॥ (७.२२)

विषाद कहलाता है। इसमें नि:श्वास, उच्छ्वास (लम्बी श्वास लेना और छोड़ना) हृदय में संताप का होना, तथा सहायकों को ढूँढ़ना आदि अनुभाव पाये जाते हैं ॥ ३१ ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे **वीरचरित** में – राक्षसपति **रावण** का विषाद – 'हा आर्ये ! ताड़के ! यह क्या है?-कि जल में तुम्बियाँ डूब रही हैं और पत्थर तैर रहे हैं।

नन्वेष इति। ''निश्चय ही, राक्षसपति {रावण} का प्रताप आज क्षीण हो गया है, क्योंकि मानव–बालक (राम) के द्वारा अद्भुत पराभव प्राप्त हुआ है। यहाँ रहते (मरे रहते) मेरे द्वारा अपने स्वजनों का विनाश देखा गया। क्या करूँ दीनता तथा वृद्धावस्था दोनों ही मुझे कुछ कार्य करने से रोक रही हैं ॥ ३१ ॥

३२. औत्सुक्य (उत्सुकता) –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'औत्सुक्य'** नामक बत्तीसवें व्यभिचारी भाव का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – कालाक्षमेति। किसी रम्य (आनन्ददायक) वस्तु के अभिलाष से प्रगाढ़ अनुराग से अथवा (रतिज) घबराहट के कारण {अभिलषित वस्तु की प्राप्ति में} विलम्ब का सहन न कर सकना ही औत्सुक्य (उत्सुकता) कहलाता है। इसमें श्वास–प्रश्वास का आना, शीघ्रता करना, हृदय का सन्तप्त होना, पसीना आना और विभ्रम आदि अनुभाव होते हैं ॥ ३२ ॥

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे **कुमारसम्भव** में –

आत्मानमिति। शिव के पास जाने की तैयारी करती हुई चञ्चल एवं विशालाक्षी पार्वती अपने शोभमान रूप को दर्पण में देखकर शिव के पास जाने के

यथा वा तत्रैव –

'पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादनिनयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ।।' (६.९५)

अथ चापलम् –

मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापलं त्वनवस्थितिः ।
तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ।। ३३ ।।

यथा विकटनितम्बायाः–

'अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
बालामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ।।'

लिए शीघ्रता करती है। क्योंकि स्त्रियों की वेश–भूषा तथा शृङ्गार पति के देखने से ही सफल होता है।'

यथावेति। अथवा, जैसे वहीं (कुमारसंभव में) –

पशुपतिरिति। 'पार्वती से मिलने के लिए उत्सुक भगवान् शंकर के वे दिन बड़े कष्ट से व्यतीत हुए। जब ये काम विषयक भाव धीर एवं जितेन्द्रिय शिव को भी प्रभावित करते हैं तब अन्य असंयमी व्यक्ति को क्यों न विकल करेंगे ?'।। ३२ ।।

३३. चपलता –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'चपलता'** नामक तैंतीसवें व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – मात्सर्येति। मात्सर्य (ईर्ष्या), द्वेष तथा राग आदि के कारण चित्त का स्थिर न रहना 'चपलता' है । इसमें भर्त्सना (डाँटना, फटकारना) कठोरता, स्वच्छन्दता, आदि अनुभाव होते हैं ।। ३३ ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। जैसे विकटनितम्बा (नामकी कवियित्री) के प्रस्तुत पद्य में {भ्रमर की चञ्चलता का वर्णन किया गया है –}

अन्यास्विति। 'हे भ्रमर ! तुम कहीं अन्य पुष्पलताओं पर जाकर अपने चञ्चल मन को बहलाओ, जो तुम्हारे भार तथा मर्दन को सहन कर सकें। अरे मूर्ख, इस नवमल्लिका की कोमल (बाला) कली को, जिसमें अभी पराग भी उत्पन्न नहीं हुआ है, व्यर्थ ही इसे क्यों मसल रहे हो अभी तो इसके विकास का भी समय नहीं आया है, तुम्हारा यह असामयिक प्रयास व्यर्थ है' ।

{यहाँ कवयित्री किसी चञ्चल कामी नायक को सचेतकर कहती है कि यह बाला, जिसे तुम भोगना चाहते हो, अभी अप्राप्त यौवना होने से काम–कलाओं से

यथा वा –

'विनिकषणरणत्कठोरदंष्ट्राक्रकचविशङ्कटकन्दरोदराणि ।
अहमहमिकया पतन्तु कोपात् सममधुनैव किमत्र मन्मुखानि ।।

अथवा प्रस्तुतमेव तावत्सुविहितं करिष्ये।' इति।

अन्ये च चित्तवृत्तिविशेषा एतेषामेव विभावानुभावस्वरूपानुप्रवेशान्न पृथग्वाच्याः ।

अनभिज्ञ है । अतः तुम कहीं प्रौढ़ा नायिका के साथ जाकर विहार करो, इन भोली–भाली बालाओं, जिन्हें अभी रजोधर्म भी प्राप्त नहीं हुआ है, क्यों व्यर्थ ही नष्ट करना चाहते हो । इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुत के द्वारा किसी कामुक नायक को सचेत किया गया है, जो अल्पवयस्का मुग्धा किशोरी के प्रति लोलुप है ।

इसी भाव की छाया के लिए देखिये हिन्दी के महाकवि बिहारी का प्रसिद्ध दोहा –

'नहिं पराग, नहिं मधुरमधु, नहिं विकास इति काल । अली कली ही नैं बँध्यों आगे कौन हवाल ।।' (बिहारी सतसई)}।।

यथावेति। अथवा जैसे – { रावण की निम्नोक्ति में चपलता इस प्रकार वर्णित है –}

विनिकषणेति। 'दांत पीसने के कारण ध्वनि उत्पन्न करती हुई कठोर दाढ़–रूपी आरों से भयंकर कन्दरा के समान मध्यभाग वाले मेरे ये मुख – 'पहले मैं खाऊँ, 'पहले मैं खाऊँ' – इस प्रकार कहते हुए क्या एक साथ ही क्रोधपूर्वक तत्काल ही इन बन्दरों पर न गिर जाएँ ? अथवा पहले अवसर के अनुरूप कार्य ही ठीक तरह से करूँगा' इत्यादि ।।

अन्ये चेति। उपर्युक्त भावों के अतिरिक्त अन्य चित्तवृत्तियाँ है, उनका इन्हीं विभावों तथा अनुभावों के स्वरूपों में ही समावेश हो जाता है, अतः उनका पृथक्–पृथक् कथन नहीं किया गया है ।। ३३ ।।

परामर्श – यद्यपि संस्कृत के सभी आचार्यों ने अन्त में (किसी न किसी कारणवशात्) भरत सम्मत ३३ संचारियों को ही माना है। तथापि इतना तो निश्चित ही है कि संचारियों की संख्या को सीमा में (अर्थात् ३३ में) बाँध देना असम्भव है, कारण वे संचारीभाव चित्तवृत्तियों की अवस्था विशेष ही हैं। यह प्रश्न संस्कृत के आचार्यों के सम्मुख भी आया है। जैसे भानुमिश्र ने 'रसतरङ्गिणी' में 'छल' नामक ३४ वें संचारी की कल्पना की है। इस प्रकार के आचार्यों में नाट्यदर्पणकार तथा रसमञ्जरीकार का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। किन्तु जैसा कि पूर्व में कहा गया है, दशरूपककार उक्त ३३ चित्तवृत्तियों (भावों) को ही मानते हैं, और शेष मिलने वाले (असंख्य) भावों का अन्तर्भाव ३३ में ही स्वीकार करते हैं ।। ३३ ।।

अथ स्थायी —

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥ ३४ ॥

सजातीयविजातीयभावान्तरैरतिरस्कृतत्वेनोपनिबध्यमानो रत्यादिः स्थायी । यथा **बृहत्कथायां** नरवाहनदत्तस्य मदनमञ्जूषायामनुरागः। तत्तदवान्तरानेकनायिका—

स्थायीभाव —

अथेति। अब ग्रन्थकार **स्थायीभाव** का निरूपण करते हैं —

यः विरूद्धैः वा अविरूद्धैः भावैः न विच्छिद्यते, अन्यान् आत्मभावं नयति सः लवणाकरः स्थायी **इत्यन्वयः** ॥ ३४॥

कारिकार्थ — विरुद्धैरिति। जो (रति आदि) भाव अपने विरुद्ध अथवा अनुकूल भावों के द्वारा (अर्थात् किसी भी तरह के भाव से) विच्छिन्न नहीं होता तथा अन्य (प्रतिकूल या अनुकूल) भावों को उसी तरह आत्मसात् कर लेता है जैसे कि समुद्र, {सभी तरह के जल को आत्मसात् करके लवणमय (खारा) बना लेता है}, वह स्थायीभाव कहलाता है ॥ ३४ ॥

{ **भरत** से लेकर पंडितराज **जगन्नाथ** तक सभी आचार्यों ने स्थायी और संचारीभावों का विवेचन किया है। स्थायी—भाव वासना रूप से प्रमाता के चित्त में विद्यमान रहता है। यहाँ तक कि कारण के न रहने पर भी उसकी सत्ता बनी रहती है। जैसा कि **पतंजलि** ने लिखा है — '**न हि चैत्र एकस्यां स्त्रियां रक्त इत्यन्यासु विरक्तः ।**' इत्यादि । चैत्र किसी एक स्त्री के प्रति अनुरक्त है, इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह अन्य स्त्रियों के प्रति विरक्त है अर्थात् उनमें अव्यक्त रूप से राग हो सकता है। अतः स्थायीभाव एक **स्थिर** मनोदशा है और संचारी **अस्थिर** । स्थायीभाव अधिक प्रबल होता है। वही रस दशा को प्राप्त करता है, और प्रत्येक सहृदय के चित्त में वासना रूप से उसकी स्थिति रहने के कारण स्थायी का ही साधारणीकरण सम्भव होता है। (हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४८०}॥ ३४ ॥

वृत्त्यर्थ — सजातीयेति। सजातीय एवं विजातीय भावान्तरों से जो अतिरस्कृत रहकर {काव्य में} उपनिबद्ध होते हैं, उन रत्यादि भावों को 'स्थायीभाव' कहा जाता है। {सजातीय भावों से न तिरस्कृत होने का उदाहरण} जैसे बृहत्कथा में मदनमञ्जुषा के प्रति नरवाहनदत्त के अनुराग का वर्णन किया गया है, वहीं (उसी बृहत्कथा में) अन्य नायकों का भी अन्य नायिकाओं के प्रति अनुराग वर्णित है जो अवान्तर अनुराग से तिरस्कृत नहीं होता है। अतः नरवाहनदत्त का मदमंजूषा के प्रति निहित रत्यानुराग स्थायीभाव है। इस प्रकार बृहत्कथा में वर्णित सजातीयभाव उस रतिभाव को, (स्थायी भाव को) अर्थात् नरवाहन के रतिभाव को जो मदनमञ्जुषा के प्रति है, विच्छिन्न नहीं कर पाते हैं।

नुरागैरतिरस्कृतः स्थायी । यथा च **मालतीमाधवे** श्मशानाङ्के बीभत्सेन मालत्यनुराग-स्यातिरस्कारः – 'मम हि प्राक्तनोपलम्भसंभावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतीयमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः' प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसंतान-स्तन्मयमिव करोति । अन्तर्वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम्' इत्यादिनोपनिबद्धः। तदनेन प्रकारेण विरोधिनामविरोधिनां च समावेशो न विरोधी ।

यथा चेति। {विजातीय भावों से विच्छिन्न न होने का उदाहरण} जैसे, 'भवभूतिकृत **'मालतीमाधव'** {नाटक के पञ्चम व षष्ठ अङ्क} में वर्णित श्मशान का बीभत्स वर्णन तथा बीभत्स रस मालती के प्रति उत्पन्न माधव के रतिभाव को विच्छिन्न (तिरस्कृत) नहीं कर पाता। यह माधव के (उसी अङ्क में वर्णित) इस कथन से स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है –' प्राक्तन ज्ञान के साक्षात्कार से उत्पन्न संस्कार {अर्थात् पहले के ज्ञान से उत्पद्यमान} के पुनः पुनः प्रबुद्ध होने के कारण मन में प्रतीत होता हुआ, तथा दूसरे प्रकार के (अर्थात् उस ज्ञान से भिन्न) ज्ञानानुभावों के द्वारा अतिरस्कृत {अर्थात् पूर्व ज्ञान को अन्य ज्ञानों के द्वारा जो अवरुद्ध नहीं हुआ है।} प्रवाहवाली प्रियतमा (मालती) की स्मृतिरूपी ज्ञान की उत्पत्ति की धारा वृत्तिसारूप्य से मेरे चैतन्य को मालतीमय सा बना रही है। अर्थात् अपनी प्रियतमा–मालती को तन्मयता से याद करते हुए मेरा चित्त मालतीमय ही हो गया है।' इत्यादि–माधव की इस उक्ति से स्थायी रतिभाव वर्णित किया गया है । इसलिए इस प्रकार से विरोधी अथवा अविरोधी–(भावों) का काव्य में वर्णन स्थायी–भाव का विरोधी नहीं होता ।

परामर्श – विरुद्धैरविरुद्धैर्वा – उपर्युक्त दो उदाहरणों से यह तो स्पष्ट हो गया है कि एक नायक का रतिभाव दूसरे नायक के रतिभाव का ही सजातीय होता है। किन्तु जुगुप्सा आदि भाव, रतिभाव के विजातीय भाव हैं । ऊपर उपन्यस्त उदाहरणों में **बृहत्कथा** के नरवाहनदत्त का मदनमंजूषा के प्रति जो रतिभाव है, उसका सजातीय भाव है । अन्य नायकों का रतिभाव, किन्तु भवभूतिकृत **मालतीमाधव** नाटक में माधव का मालती के प्रति निहित जो रतिभाव है; उसका विरोधी भाव है, बीभत्स (जुगुप्सा), जो श्मशान के वर्णन से उद्बुद्ध होता है। किन्तु यह विरोधी भाव (जुगुप्सा) माधव के स्थायी रतिभाव का विरोधी नहीं होता है। यद्यपि माधव की चित्तवृत्ति बीभत्स रस में डूबी हुई है, जो एक विजातीय भाव है, फिर भी इस विजातीय भाव से मालती के प्रति माधव के हृदय में निहित जो रतिभाव है, वह विच्छिन्न (तिरस्कृत) नहीं होता । पाँचवें अङ्क में माधव के हृदय में मालती का करुण क्रन्दन कुछ क्षण के लिए सुप्त रतिभाव को पुनः जगा देता है। इसकी पुष्टि माधव की इस – **'मम हि प्राक्तनोपलम्भ....... प्रियतमास्मृति......तन्मयमिव करोति'** – इत्यादि से हो जाती है। अतः यह स्पष्ट हो गया है कि विरोधी और अविरोधी भाव (सजातीय अथवा विजातीय) का समावेश यदि काव्य में किया जाता है तो वह स्थायीभाव का बाधक या विच्छेदक नहीं होता ॥

तथा हि – विरोधः सहानवस्थानं बाध्यबाधकभावो वा। उभयरूपेणापि न तावत्, तादात्म्यमस्यैकरूपत्वेनैवाविर्भावात् ।

स्थायिनां च विभावादीनां यदि विरोधः, तत्रापि न तावत् सहानवस्थानम्। रत्याद्युपरक्ते चेतसि स्रक्सूत्रन्यायेनाविरोधिनां व्यभिचारिणां चोपनिबन्धः समस्तभावक–

तथेति। इसी अविरोध को अधिक स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार बताते हैं –

भावों में परस्पर विरोध दो प्रकार से संभव हो सकता है । (१) **या तो दो भावों का एक साथ रहना संभव न हो (सह + अनवस्थान)** और (२) **या उन दो भावों में परस्पर बाध्यबाधक भाव हो'** अर्थात् एक भाव दूसरे भाव की प्रतीति में अवरोध (बाधा) उत्पन्न करता हो। इन दोनों ही रूपों (अवस्थाओं) में इस (स्थायीभाव) का (अन्यस्थायीभावों से) विरोध (तादात्म्य) है ही नहीं, क्योंकि तादात्म्यरूप से (एकाकार रूप को प्राप्त होकर) वे एक (रस के) रूप में आविर्भूत होते हैं। {संक्षेप में यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि उन भावों की प्रतीति एक रूप में होती है, यदि वे एक रूप में ही आविर्भूत होते हैं, तो फिर इन दोनों ही अवस्थाओं में उनमें परस्पर कोई विरोध उत्पन्न नहीं होगा । दूसरे शब्दों में हम इसे ऐसा कह सकते हैं कि यदि दोनों भावों की प्रतीति अलग–अलग हो रही हो तो विरोध होगा, किन्तु उनकी प्रतीति मिश्रितरूप से एक रस के रूप में हो रही हो तो विरोध नहीं होगा। क्योंकि विरोध होने की स्थिति में मिश्रण का होना अर्थात् एक रूपता ही असंभव होती है}।।

स्थायिनामिति। यदि यह कहा जाय कि स्थायी भावों का अन्यभावों अर्थात् सञ्चारीभावों के साथ विरोध संभव है, तो यह शंका भी निर्मूल है, क्योंकि इनमें सहानवस्थान रूप विरोध भी संभव नहीं है, {वस्तुतः सञ्चारीभाव तथा स्थायीभाव में कोई विरोध नहीं होता, क्योंकि वे तो साथ ही साथ स्थिर रहते ही हैं। अतः उनमें सहानवस्थान वाला नियम प्रभावशील नहीं हो सकता ।} नित्य प्रति के व्यवहार में हम अनुभव करते हैं कि रति आदि भावों से युक्त व्यक्ति के हृदय में चिन्ता आदि व्यभिचारीभाव अविरुद्धरूप में रहते ही हैं। जिस प्रकार पुष्प–माला बनाते समय एक सूत्र में अन्य कई पुष्प गूँथ दिये जाते हैं, उसी प्रकार **'स्रक्सूत्रन्याय'** से रति–भाव के साथ अनेक संचारीभाव भी रहते ही हैं। समस्त सहृदय पाठक या दर्शक यह अनुभव करते हैं कि रति आदि भावों से आप्लावित चित्त में, अन्य अविरोधी व्यभिचारी भावों का आविर्भाव होता है।

{माला में अनेक रङ्ग–बिरङ्गे दाने एक सूत्र में पिरोए जाते हैं। उन दानों के द्वारा माला को गुंफित रखेन वाले सूत्र के स्वरूप में कोई वास्तविक अन्तर नहीं होता हैं। किन्तु फिर भी उसमें एक वैचित्र्य प्रतीत होने लगता है। जहाँ जहाँ जिस रङ्गके दाने हैं वहाँ–वहाँ सूत्र उसी विचित्ररूप का प्रतीत होता है। किन्तु बीच–बीच में कहीं सूत्र का शुद्धरूप भी प्रतीत होता है। इसी प्रकार रसानुभूति के प्रसङ्ग में अनेक प्रकार के व्यभिचारीभाव एक स्थायीभावरूप में सूत्र में गुंफित होते हैं। वे स्थायी–भावरूप सूत्र के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं करते हैं। विविध प्रकार के स्थायी–भावों को

स्वसंवेदनसिद्धः । यथैव स्वसंवेदनसिद्धस्तथैव काव्यव्यापारसंरम्भेणानुकार्ये-ऽप्यावेश्यमानः स्वचेतःसम्भेदेन तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुः संपद्यते । तस्मान्न तावद्भावानां सहानवस्थानम् ।

सूचित करने वाला स्थायिभाव एक रूप ही रहता है। फिर भी विविध व्यभिचारि-भावों के कारण उसमें विचित्रता प्रतीत होती है, और बीच-बीच में जैसे माला का शुद्ध सूत्र भी दीखता रहता है, इसी प्रकार शुद्ध स्थायीभाव की भी अनुभूति होती रहती है।}

काव्यव्यापारेति। यही तथ्य काव्य या नाटक में वर्णित अनुकार्य राम, दुष्यन्त, माधव या चारुदत्त के भावों के विषय में भी परिलक्षित होता है। अर्थात् जिस प्रकार स्थायीभाव तथा व्यभिचारीभावों की एक साथ स्थिति का हम अनुभव करते हैं, उसी प्रकार काव्य-व्यापार के निबन्धन – {वैशिष्ट्य आरम्भ} से अनुकार्य – राम – दुष्यन्तादि में भी रति आदि भावों से युक्त हृदय में अविरोधी संचारियों की स्थिति (सहावस्थान) दिखलाई जाती है, और वह हमारे चित्त में रस का आविभार्व करती है, क्योंकि अनुकार्य रामादि के चित्त के साथ हमारे चित्त का तादात्म्य हो जाता है, और यह तादात्म्य रस की अलौकिक संवित् को उद्‌बुद्ध करने में सफल हो जाता है। {क्योंकि अनुकार्य रामादि में उपनिबद्ध स्थायीभाव तथा व्यभिचारियों का यह सहावस्थान पाठकों या दर्शकों के हृदय में रस को उद्‌बुद्ध करता है।}

तस्मादिति । इस हेतु स्थायी (भाव) और व्यभिचारीभाव एक साथ नहीं रह सकते, यह नहीं कहा जा सकता। उन दोनों-स्थायी और संचारियों- में सहानवस्थान (एक साथ रहने की अयोग्यता) संभव नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा मानलेना सहृदयानुभव विरुद्ध होगा।

परामर्श – इसे हमें इस प्रकार समझना चाहिए – काव्य या नाटक का वर्ण्य-विषय तो विशेष ही रहता है। अर्थात् काव्य या नाटक में विशिष्ट नाम-रूपधारी व्यक्तियों का और उनके जीवन में घटित घटनाओं का ही वर्णन होता है, परन्तु कवि उनके स्थूलरूप की उपेक्षाकर उनमें सन्निहित सामान्य मानव-अनुभव पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है, जिससे उनकी विशिष्टता गौण हो जाती है और सर्व-संवेद्य सामान्यरूप उभरकर सामने आ जाता है। सहृदय दर्शक जब रङ्गमञ्च पर नट को राम आदि का अभिनय करते देखता है, तब वह कवि के कौशल से बना हुआ काव्य-व्यापार की विशेषता से अनुकार्य राम-दुष्यन्त आदि में रत्यादि भावों को देखता है। किन्तु रति आदि की यह स्थिति उसे सामान्यरूप से प्रतीत होती है। क्योंकि कवि इन भावों को मानव-अनुभव के रूप में उपन्यस्त करता है। परिणामतः रत्यादितत्त्व एक विशेष काल के पुरुष विशेष के या नारी विशेष के जीवनानुभव मात्र नहीं रह जाते, ये ऐसे तत्त्व हैं, जिनका अनुभव किसी भी देश और युग के मानव को हो सकता है, अतः ये सर्व संवेद्य हैं। अतः दर्शक नट को अनुकार्य राम का अभिनय करते हुए देखता है और अनुकार्य राम के हृदय में उद्‌बुद्ध रति उसे सामान्य

बाध्यबाधकभावस्तु भावान्तरैर्भावान्तरतिरस्कारः । स च स्थायिनाम–विरुद्धव्यभिचारिभिः स्थायिनोऽविरुद्धत्वात् तेषामङ्गत्वात् प्रधानविरुद्धस्य चाङ्गत्वायोगात् ।

आनन्तर्यविरोधित्वमप्यनेन प्रकारेणाऽपास्तं भवति । तथा च **मालतीमाधवे** शृङ्गारानन्तरं बीभत्सोपनिबन्धेऽपि न किञ्चिद्वैरस्यं तदेवमेव स्थिते विरुद्धरसैका–वलम्बनत्वमेव विरोधे हेतुः। स त्वविरुद्धरसान्तरव्यवधानेनोपनिबध्यमानो न विरोधी ।

रूप की प्रतीत होती है। किसी विशेष व्यक्ति की या देश–काल से सम्बन्धित नहीं। परिणामतः दर्शक उसके साथ तन्मय हो जाता है। अर्थात् रामादि के चित्त के साथ दर्शक के चित्त का तादात्म्य हो जाता है। तन्मय हो जाने के कारण (तादात्म्य हो जाने से) दर्शक को आनन्द की अनुभूति होती है ।

बाध्यबाधकेति। { दूसरे प्रकार के विरोध } **बाध्यबाधकभाव** का अर्थ है – 'एक भाव का दूसरे भाव से तिरस्कृत हो जाना; अर्थात् उसकी प्रतीति में बाधक हो जाना, उसकी प्रतिति ही न होने देना, वहाँ (ऐसी स्थिति में) उनमें परस्पर बाध्यबाधक भाव की स्थिति मानी जायगी। यह बाध्यबाधकभाव {तिरस्कार} स्थायीभावों का अपने अविरोधी व्यभिचारियों के साथ हो नहीं सकता। (अर्थात्) क्योंकि प्रत्येक स्थायीभाव के अपने कुछ सञ्चारीभाव निर्धारित हैं, उन सञ्चारियों का स्थायीभाव के साथ समावेश होने पर, वहाँ बाध्य–बाधकभाव की स्थिति निर्मित नहीं होगी। क्योंकि अविरोधी सञ्चारीभाव स्थायीभाव के अङ्ग होते हैं, और स्थायीभाव के अङ्ग होने के कारण वे स्थायीभाव के विरोधी नहीं हो सकते । क्योंकि प्रधानभाव का जो विरोधी होता है । वह उसका अङ्ग नहीं हो सकता अर्थात् वह उसका (प्रधानभाव का) अङ्ग बनने के योग्य नहीं होता। {अतः वे स्थायीभाव के विरोधी नहीं कहे जा सकते}

आनन्तर्येति। आनन्तर्य–विरोध {अर्थात् एक स्थायीभाव के किसी विरोधी–भाव का उपनिबन्धन} का भी परिहार हो जाता है। अर्थात् भावों का आनन्तर्य विरोध भी इसी प्रकार दूर कर दिया जाता है। { इसी को अधिक स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार (भवभूतिकृत) **मालतीमाधव** के श्मशान अङ्क से बीभत्स व शृङ्गार के दो विरोधी भावों जुगुप्सा तथा रति की एक साथ योजना को उपन्यास करते हुए बताते हैं –}

तथाचेति। मालतीमाधव में शृङ्गार के अनन्तर ही बीभत्स की योजना (नाटक में) होने पर भी किसी प्रकार की विरसता उत्पन्न नहीं हो पाती । तो ऐसा {अर्थात् सहानवस्थान आदि विरोध नहीं हो सकता इस बात के } सिद्ध हो जाने पर, दो विरोधी रसों का एक ही आलम्बन को ग्रहण कर किया गया निबन्धन विरोध का कारण हो सकता है। { जैसे – एक ही आलम्बन–मालती के प्रति रति तथा जुगुप्सा दोनों ही भावों की प्रतीति हो रही हो, तो निश्चय ही विरोध होगा। किन्तु श्मशान के दृश्य के प्रति जुगुप्सा, मालती के प्रति उद्बुद्ध रति की बाधक नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों भावों (जुगुप्सा और रति) दोनों रसों के आलम्बन अलग–अलग है।} किन्तु एक ही आलम्बन के प्रति दो विरोधी रसों का उपनिबन्धन (समावेश)

यथा –

'अण्णाहो णाहं महेलिअहो जुहु परिमलुसु सुअंधु ।
महु कंतह अग्गत्थणह अंगनु फिट्टंई गन्धः ।।'

कभी–कभी अविरुद्ध भी हो सकता है। यदि उन परस्पर विरोधी रसों के मध्य में किसी ऐसे रस की योजना की जाय जो दोनों ही रसों का विरोधी न हो, तो ऐसा करने पर उन रसों में विरोध न रहेगा ।

परामर्श – यहाँ उदाहरण के रूप में अपभ्रंश का एक दोहा उपन्यस्त किया जा रहा है, जिसे प्राकृत का अस्पष्ट श्लोक मानकर कुछ व्याख्याकारों ने छोड़ दिया है। किन्तु यह अपभ्रंश का दोहा है। कुछ व्याख्याकारों ने उक्त पद्य की संस्कृत–छाया इस प्रकार प्रस्तुत की है – (१) (अन्यास्ता महिला यत्रापरिमलसुगन्धः । मम कान्तस्य आश्रितो व्रणविस्रगन्धः।।) (२) (अन्यासां नाथानां महिलानां यः खलु परिमलः स सुगन्धः। मम कान्तस्य अग्रस्थितस्य अंगेभ्यः भ्रश्यते गन्धः।)

कुछ मुद्रित प्रतियों में इसकी संस्कृत छाया भी उपलब्ध नहीं होती । इसके पाठ में कुछ दोष अवश्य है, पर अर्थ बहुत अस्पष्ट नहीं है । यह **'सत्त्वविरुद्धरसान्तरव्यवधानेन उपनिबध्यमान'** विरोधी नहीं होता का उदाहरण है, अर्थात् विरुद्ध रस भी यदि किसी अविरोधी रसान्तर से व्यवहित होकर उपनिबद्ध किया गया हो तो विरोधी नहीं होता, यह बात स्पष्ट करने के लिये दिया गया है। ७० के दशक में इस उदाहरण का एक पाठान्तर भी प्राप्त हुआ है, जो इस प्रकार है – {**अण्णउ ताउ महिला जह परिमल सुअंधु । मह कन्तह अल्लीणउ वणवीस अगंधु ।।**}

यह किसी दाक्षिणात्य हस्तलेख के अनुसार **श्री वेङ्कटाचार्य** द्वारा १९६८ के **'एनल्स ऑफ ओरिएण्टल कॉनफरेंस'** में उद्धृत किया गया था। उक्त छन्द का संस्कृत रूपान्तर निम्नलिखित प्रस्तुत किया गया है – {**अन्यास्ता महिला यया {?} परिमलगन्धाः । मम कान्तस्य आश्रितो व्रणविस्रगन्धः ।**}

यह पाठान्तर और भी भ्रष्ट है। इस पाठ को कुछ व्याख्याकारों ने (यया) के स्थान पर (यत्रा) करके उद्धृत किया है । यह न तो छंद की दृष्टि से ठीक है और न भाषा की दृष्टि से। संस्कृत छाया भी अशुद्ध है। प्रथम पंक्ति में उन महिलाओं की चर्चा है जिनका परिमल सुगन्धित है। परन्तु दूसरी पंक्ति में कहने वाली के पति के आश्रित दुर्गन्धपूर्ण व्रणों की चर्चा है। अपभ्रंश की परंपरा को ध्यान में रखते हुए विचार करने पर जो दोहे का पाठ पहले मिला है वही प्रायः ठीक जान पड़ता है। इस पाठ को ही हमने स्वीकार किया है । वह पाठ इस प्रकार होगा –

{**'अण्णहो णाहं महेलिअहो जुहु परिमलु सु सुअंधु। महु कन्तह अग्गत्थणह अंगनु फिट्टइ गंधु.।।'**}

अन्यासामिति। '{पति के पराक्रम से गर्वीली नायिका व्याजनिंदा के रूप में अपने पति के बारे में कहती है कि} अन्य महिलाओं के पतियों (के शरीर के)

(अन्यासां नाथानां महिलानां य खलु परिमल: स सुगन्धः ।
मम कान्तस्य अग्रस्थितस्य अंगेभ्यः भ्रश्यते गन्धः ।।)

इत्यत्र बीभत्सरसस्याङ्गभूतरसान्तरव्यवधानेन शृङ्गारसमावेशो न विरुद्धः । प्रकारान्तरेण वैकाश्रयविरोध: परिहर्तव्य: ।

ननु यत्रैकतात्पर्येणेतरेषां विरुद्धानामविरुद्धानां च न्यग्भूतत्वेनोपादानं त: भवत्वङ्गत्वेनाऽविरोध:। यत्र तु समप्रधानत्वेनानेकस्य भावस्योपनिबन्धनं तत्र कथम्?

यथा –

'एक्कत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो ।
पेम्मेण रणरसेण अ भडस्य डोलाइअं हिअअम् ।।'
(एकतो रोदिति प्रियाऽन्यत: समरतूर्यनिर्घोष: ।
प्रेम्णा रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ।।)

इत्यादौ रत्युत्साहयो: ।

परिमल (अङ्गराग आदि) जो है, वे सुगन्धित होते हैं। (इधर लड़ाई में सबसे आगे रहने वाले) मेरे प्रिय के अंगों से (घावों की) दुर्गन्धि भभकती रहती है' ।

इत्यत्रेति। यहाँ पर– 'अण्णहोणाहंमहेलिअ' गाथा में – एक साथ बीभत्स और शृङ्गार रस का समावेश किया गया है। किन्तु बीभत्सरस के अङ्गभूत अन्य {वीर} रस को जो दौनों का विरोधी नहीं है, मध्य में रखकर वर्णन किया गया है। अत: अन्य रस के व्यवधान (मध्य में आने) के कारण बीभत्स व शृङ्गार का एक साथ वर्णन विरोधी नहीं हैं । अथवा आश्रयैक्यविरोध { एक आश्रय में विरोधी रसों की स्थिति} का परिहार किसी अन्य उपाय {प्रकारान्तर – अव्यवधान – अविरूद्ध– रसान्तरों के अव्यवधान से} से करना चाहिए ।

नन्विति। यह विचार तो ठीक है कि जहाँ एक ही तात्पर्य से अन्य विरुद्ध और अविरुद्ध–भावों को इस प्रकार दर्शाया जाय, कि दूसरे भाव कुछ गौणरूप में प्रदर्शित किये गऐ हो, वे न्यग्भूत हो गये हों, वहाँ वे न्यग्भूतभाव, प्रधान भाव (रस) के अङ्गत्व को प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए उनमें परस्पर विरोध नहीं होगा। किन्तु प्रश्न यह है कि जहाँ अनेक भावों की योजना समानरूप से की गई हो, वहाँ कैसे अविरोध होगा ? इस शङ्का के स्पष्टीकरण हेतु वृत्तिकार धनिक ने ६ पद्य उपन्यस्त किये हैं–

यथेति। (१) जैसे – {समान प्रधानता के साथ दो रसों की योजना 'गाथासप्तशती' में इस प्रकार की गई हैं } –

एक इति। 'एक ओर प्रियतमा रो रही है और दूसरी ओर युद्ध दुन्दुभि का निर्घोष हो रहा है। अत: प्रेम एवं समर के आवेग से योद्धा का मन दोलायमान हो रहा है।'

इत्यादिविति। रति और उत्साह का समान रूप से प्राधान्य उक्त पद्य में प्रदर्शित किया गया है ।

यथा वा –

'मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ।।, (शृं०श० ३६)

त्यादौ रतिशमयोः । यथा च –

'इयं सा लोलाक्षी त्रिभुवनललामैकवसतिः
स चायं दुष्टात्मा स्वसुरपकृतं येन मम तत् ।
इतस्तीव्रः कामो गुरुरयमितः क्रोधदहनः
कृतो वेषश्चायं कथमिदमिति भ्राम्यति मनः ।।'

इत्यादौ तु रतिक्रोधयोः ।

'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः स्त्रीहस्तरक्तोत्पल–
व्यक्तोत्तंसभृतः पिनद्धशिरसा हृत्पुण्डरीकस्रजः ।

(ii) **यथावेति।** अथवा, जैसे **'शृङ्गारशतक'** में –

मात्सर्यमिति। 'हे आर्यजन ! मात्सर्य (पक्षपात) का परित्याग करके मर्यादा–पूर्वक आप यह बतलावें कि पर्वतों के नितम्ब (कटिप्रदेश) का सेवन किया जाना चाहिए, अथवा कामजन्य विलासों से मनोहर बनी हुई विलासिनियों के नितम्बों का' ।

इत्यादाविति। इस प्रकार यहाँ 'रति' और 'शम' (का समानरूप से प्राधान्य) है।

{उक्त पद्य में पर्वतों की तलहटियों (कटिप्रदेशों) के सेवन के द्वारा शम या निर्वेद भाव का तथा विलासिनियों के नितम्बों के सेवन के द्वारा रतिभाव की योजना की गई है।}

(iii) **यथा चेति।** अथवा, जैसे (रावण के इस कथन में) –

इयमिति। 'एक ओर तो त्रिभुवन के सौन्दर्य को अपने में समेटे हुए चञ्चलाक्षी यह (सीता) है, और दूसरी ओर यह वही दुष्ट व्यक्ति है, जिसने मेरी बहिन का अपकार किया है। इधर (इस चञ्चलाक्षी के प्रति) काम की तीव्र लालसा है, और उधर इस दुष्ट व्यक्ति के प्रति तीव्र क्रोधाग्नि प्रज्वलित है। और इधर मैंने यह वेष (सन्यासी का) धारण किया हुआ है, यह सब कैसे है ? यह विचार कर मेरा मन भ्रमित हो रहा है' ।

इत्यादाविति। इत्यादि में रतिभाव तथा क्रोध की समान रूप से प्रधानता है।

(iv) **यथेति।** जैसे {'मालतीमाधव' में श्मशान का वर्णन इस प्रकार है}–

अन्त्रैरिति। 'अत्यन्त प्रसन्न ये पिशाचाङ्गनाएँ {अर्थात् पिशाचों की स्त्रियाँ} जो अंतड़ियों से मंगलसूत्र बनाये हुई हैं, स्त्रियों के हस्तरूपी रक्तकमलों के कर्णाभूषण धारण की हुई हैं, हृदयरूपी कमलों की माला को सिर पर बाँधे हुई हैं, रक्त के कीचड़

एता: शोणितपङ्ककुङ्कुमजुष: संभूय कान्तै: पिब-
न्त्यस्थिस्नेहसुरां कपालचषकै: प्रीता: पिशाचाङ्गना: ।।' (मालती० ५.१८)

इत्यादावेकाश्रयत्वेन रतिजुगुप्सयो: ।

एकं ध्याननिमीलनान्मुकुलितं चक्षुर्द्वितीयं पुन:
पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनतटे शृङ्गारभारालसम् ।
अन्यद् दूरनिकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं
शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु व: ।।'

इत्यादौ शमरतिक्रोधानाम् ।

'एकेनाक्ष्णा प्रविततरुषा वीक्षते व्योमसंस्थं
भानोर्बिम्बं सजललुलितेनापरेणात्मकान्तम् ।

का कुङ्कुम लगाये हुई हैं, – अपने प्रियतमों के साथ मिलकर नर– कपालरूपी पान पात्रों में मज्जारूप मदिरा का पान कर रही है' ।।

इत्यादाविति। इस पद्य में – एक ही आश्रय–पिशाचाङ्गनाओं में एक साथ समप्रधान रूप **रति** तथा **जुगुप्सा** दोनों भावों का निबन्धन हुआ है ।

(v) {भगवान् शङ्कर समाधि में स्थित हैं। एक ओर समीप में ही स्थित पार्वती के प्रति उनके मन को चञ्चल करने हेतु कामदेव शरासन पर बाण का सन्धान करता है, परिणामत: शङ्कर के तीनों नेत्र एक साथ खुलते हैं। शङ्कर के तीनों नेत्रों की विविध दशा का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि –}

एकमिति। 'उनका एक नेत्र तो ध्यान में मग्न होने के कारण मुकुलित हैं उनका दूसरा नेत्र पार्वती के मुखरूपी कमल तथा स्तन पर आश्रित होकर – शृङ्गार के भार से अलसाया–सा–हो–गया है। {अर्थात् पार्वती के यौवनोदीप्त अंगों को देखकर उनका दूसरा नेत्र **रति भाव** का अनुभव कर रहा है।} शङ्कर का तीसरा नेत्र दूरवर्ती धनुष को चढ़ाये हुए कामदेव के प्रति उत्पन्न क्रोधरूपी अग्नि से प्रज्वलित हो रहा है। इस प्रकार समाधि के अवसर पर शङ्कर के तीनों नेत्रों में तीन भिन्न–भिन्न रसों की स्थिति हो रही है। महादेव के ये तीनों नेत्र आप सभी की रक्षा करें ।

इत्यादाविति। {इस पद्य में – एक ही आश्रय–शङ्कर में एक साथ **शम** {समाधि– विषयक}, **रति** {पार्वती विषयक}, तथा **क्रोध** {कामदेव विषयक}, इन भावत्रय की योजना समप्रधान रूप में की गई है। {यहाँ भी तीनों भावों –शम, रति और क्रोध में परस्पर कोई विरोध नहीं है, यह कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि इन तीनों भावों में वस्तुत: विरोध माना जाता है।}

(vi) **एकेनेति**। 'दिन के अवसान पर प्रियतमा के वियोग होने की आशङ्का करने वाली चक्रवाकी क्रोधपूर्ण एक नेत्र के द्वारा आकाश में स्थित सूर्य–बिम्ब को देख रही हैं और अश्रुपूर्ण दूसरे नेत्र के द्वारा अपने प्रियतम को देख रही है। इस प्रकार

अङ्गश्छेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी
द्वौ संकीर्णौ रचयति रसौ नर्तकीव प्रगल्भा ।।' (हनु० १२.१७)

इत्यादौ च रतिशोकक्रोधानां समप्राधान्येनोपनिबन्धस्तत्कथं न विरोधः?

अत्रोच्यते— अत्राप्येक एव स्थायी, तथा हि— 'एक्कत्तो रुअइ पिआ' इत्यादौ ायीभूतोत्साहव्यभिचारिलक्षणवितर्कभावहेतुसन्देहकारणतया करुणसंग्रामतूर्ययोरुपादानं

ह) एक कुशल नर्तकी के समान एक साथ मिले हुए दो (भिन्न) भावों को प्रदर्शित र रही हैं' ।।

इत्यादाविति। इत्यादि में **रति, शोक** और **क्रोध**[1] की एक जैसी प्रधानता के ाथ निबन्धन किया गया है। तो भी इनका परस्पर विरोध क्यों नहीं है?।।

{उपर्युक्त छः श्लोकों में पूर्वपक्षी (प्रश्नकर्ता) ने ऐसे स्थलों को उपन्यस्त कया है, जहाँ उसके विचार में एक साथ कई भिन्न भावों (रसों) का समान रूप से ाबन्धन (समावेश) किया गया है, फिर भी वहाँ विरोध क्यों नहीं होता ? }

{इसी आशङ्का का उत्तर **उत्तरपक्ष** (सिद्धान्ती) की ओर से यह कहकर दिया ा रहा है कि उपर्युक्त उदाहरणों में समप्राधान्य—भाव है ही नहीं —}

अत्रोच्यत इति। सिद्धान्ती पूर्वपक्षी की शङ्का का उत्तर इस प्रकार देता है — स विषय में हमारा (सिद्धान्ती का) उत्तर यह है कि उपर्युक्त उदाहरणों में भी एक ही थायी (भाव का प्राधान्य) है। (भले ही वहाँ एक से अधिक परिलक्षित हो रहे हों, न्य भाव तो उस प्रधानभाव के ही अङ्गरूप में उपनिबद्ध किये गये हैं। {अब सेद्धान्ती उपर्युक्त उदाहरणों में से एक—एक लेकर अपने पक्ष को पुष्ट करते हैं —}

(i) **तथाहीति।** सर्वप्रथम **'एकत्तो रुअइ पिआ'** — {एक ओर प्रियतयमा रो ही है....} — इस पहली गाथा को देखते हैं — इस में वीर सैनिक (भट) में एक ाथ प्रिया के प्रति अनुराग (रति) तथा युद्धोत्साह का सञ्चार हो रहा है। क्या यहाँ न दोनों — रति और उत्साह—भावों का समप्राधान्य है ? **(सिद्धांन्ती उत्तर देता है)** नहीं। वस्तुतः इस स्थल में प्रधान स्थायीभाव **'उत्साह'** है, यहाँ वितर्क इस उत्साह स्थायीभाव का व्यभिचारीभाव है। सन्देह उस वितर्क का हेतु (निमित्त) है, अर्थात् सन्देह ही इस व्यभिचारीभाव (वितर्क) का जनक है। तथा उस सन्देह की अभिव्यक्ति के रूप में (प्रियतमा का) का करुण रुदन एवं युद्ध की भेरी का उपादान किया गया है । इस प्रकार रुदन तथा रण—भेरी का वर्णन **वीर रस** को ही पुष्ट करता है। **'भटस्य'** — इस पद के प्रयोग के द्वारा इसी का प्रतिपादन किया गया है। {इसे इस प्रकार समझा जा सकता है — वीरभट का हृदय, प्रियतमा का करुण रुदन तथा युद्ध

---

१. इस पद्य में वस्तुतः दो ही भावों का सन्निवेश है — रति तथा क्रोध का। यहाँ शोक को अलग से भाव मान लेना उपयुक्त न होगा, क्योंकि वह तो भविष्य में होने वाले वियोग अर्थात् विप्रलम्भ शृङ्गार के स्थायी—भाव रति में ही समाविष्ट हो जाता है। कवि के 'द्वौ सङ्कीर्णौ रचयतिरसौ' इस वाक्यांश के द्वारा भी यह प्रकट हो जाता है ।

वैलक्षण्यप्रतिपादनेन शमैकपरतैव 'समाधिसमये' इत्यनेन स्फुटीकृता । 'एकेनाक्ष्णा' इत्यादौ तु समस्तमपि वाक्यं भविष्यद्विप्रलम्भविषयमिति न क्वचिदनेकतात्पर्यम् ।

यत्र तु श्लेषादिवाक्येष्वनेकतात्पर्यमपि तत्र वाक्यार्थभेदेन स्वतन्त्रतया

इत्यादाविति। यहाँ (रति आदि) अन्य भावों से भगवान् शङ्कर को अविचलित दिखलाया गया है। इससे शङ्कर के शमभाव को अन्य योगियों के शमभाव से विलक्षण वर्णित किया गया है। इससे तथा "**समाधिसमये**" – इस पद से भी इसमें एकमात्र '**शम**' की ही प्रधानता स्पष्टतया व्यक्त की गई है। { वस्तुत: यहाँ '**शम**' भाव के अतिरिक्त अन्य भावों का निबन्धन इसलिए किया गया है, कि कवि यह व्यक्त करना चाहता है कि समाधिस्थ होने पर भी शङ्कर की शमभाव की अनुभूति अन्य योगियों से विलक्षण है } अत: यहाँ शम की प्रधानता है। **शम, रति** तथा **क्रोध**–इन तीनों की समप्रधानता **नहीं है**, जैसा की **पूर्वपक्षी** मानता है।

(vi) **एकेनेति**। '**एकेनाक्ष्णा**' – इस छठें उदाहरण में – समस्तवाक्य का (चक्रवाकी के) भावी विप्रलम्भ (होने वाले वियोग) में ही तात्पर्य है। अर्थात् समस्तवाक्य भावी वियोग (विप्रलम्भ) का ही सूचक है। क्योंकि सम्पूर्ण पद्य का एकमात्र विषय है – सायंकाल होने पर चक्रवाकी अपने प्रियतम –चक्रवाक के भावी बिछोह की आशङ्का से दु:खी हो रही है। ऐसी स्थिति में चक्रवाकी का सूर्य के प्रति क्रोध या भावी वियोग जन्य शोक का कोई अलग तात्पर्य यहाँ नहीं है। क्रोध तथा शोक रति के ही अङ्ग बने हुए हैं। इस प्रकार यहाँ कहीं भी अनेक भावों के वर्णन में तात्पर्य नहीं है ।

{पूर्वोक्त छ: उदाहरणों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो चुका है कि अश्लिष्ट–पदों के प्रयोग में एकाधिक भावों का समान प्राधान्य नहीं रहता, क्योंकि वहाँ कवि का अपना अभीष्ट किसी एक ही भाव के वर्णन में निहित रहता है। अब आगे यह बतलाते हैं कि श्लिष्ट स्थलों पर भी, जहाँ एक पद अनेकार्थी होता है, एकाधिक भावों की एक समान प्रधानता तथा भावों का परस्पर विरोध नहीं होता।}

यत्रेति। परन्तु जहाँ श्लेष आदि { ध्वनि, समासोक्ति, अन्योक्ति, व्यतिरेक आदि } से युक्त वाक्यों में अनेक अर्थों में तात्पर्य भी है, वहाँ वाक्यार्थ का भेद करके स्वतन्त्ररूप से ही दो अर्थों की उपस्थिति होती है। अत: ऐसे स्थलों पर भी (वहाँ) कोई दोष या विरोध नहीं होता ।

{भाव यह है कि श्लिष्ट श्लोकों में जहाँ अनेक रसों के तात्पर्य से पद पदार्थों की संघटना है, वहाँ भी विरोध नहीं होता। अर्थात् श्लिष्ट पदों के द्वारा एक ही वाक्य से दो या अधिक अर्थों की प्रतीति होती है। जहाँ इन दोनों अर्थों में उपमानोपमेय भाव होगा, वहाँ तो उपमेयपक्ष वाले अर्थ की प्रधानता होगी। यदि दोनों ही अर्थ स्वतन्त्र हैं, तो फिर तत्तत् प्रकरण में तत्तत् अर्थ की प्रधानता होगी। इस प्रकार श्लेषादि द्वारा एकाधिक (दो या अधिक) भावों का एक साथ समावेश विरोध को उत्पन्न नहीं करेगा।}

चार्थद्वयपरतेत्यदोषः । यथा {आनन्दवर्धनस्य} –

'श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित–
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः ।
बिभ्राणां मुखमिन्दुसुन्दररुचं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात् ।।' (ध्वन्या० २.२१)

इत्यादौ । तदेवमुक्तप्रकारेण रत्याद्युपनिबन्धे सर्वत्राविरोधः । यथा वा

परामर्श – श्लिष्ट–पदों में जब वाक्य भेद के द्वारा दो या अधिक अर्थ ज्ञात होते हैं, वहाँ समप्राधान्य का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। वस्तुतः भिन्न–भिन्न अर्थ वाक्य की पुनरावृत्तियों से ज्ञात किये जाते हैं। एक बार उच्चरित वाक्य एक ही अर्थ को प्रकट कर निवृत्त हो जाया करता हैं फिर दूसरे अर्थ को ज्ञात करने के लिए पुनः वाक्य का उपस्थापन किया जाता है – क्योंकि नियम यह है कि (१) **सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति।** (२) **शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभावः** । अतः जब दो अर्थ एक साथ उपस्थित ही नहीं होंगे तो समप्राधान्य का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता ।।

यथेति। जैसे – {निम्नोक्त (आनन्दवर्धन के) श्लोक के उदाहरण द्वारा उक्त भाव को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं ।}

श्लाघ्येति। 'सुन्दर हाथों वाले (अथवा सुदर्शन–चक्र को हाथ में धारण करने वाले), चरण–कमल के सौन्दर्य से लोकों को जीत लेने वाले (अथवा वामनावतार के समय चरण–कमल की ललित नाम की गति से लोकों को आक्रान्त कर लेने वाले), चन्द्रमा सदृश नेत्र को धारण करने वाले, विष्णु (कृष्ण) ने सम्पूर्ण श्लाघनीय शरीर को धारण करने वाली, सर्वाङ्गकी शोभा से त्रैलोक्य को जीत लेने वाली, चन्द्रमा सदृश मनोहर कान्ति से युक्त मुख को धारण करने वाली जिस रुक्मिणी को, उचित रूप में ही, अपने शरीर से श्रेष्ठतर समझा वह रुक्मिणी आप सब की रक्षा करें ।।'' इत्यादि में ।।

परामर्श – उक्त श्लोक में श्लेष के द्वारा भगवान् विष्णु के शरीर की अपेक्षा रुक्मिणी का शरीर–सौन्दर्य अधिक उत्कृष्ट है, ऐसा प्रदर्शित किया गया है। जैसे– भगवान् के केवल हाथ ही सुन्दर है, उन्होंने केवल पैरों से ही लोकों को आक्रान्त किया, जबकि रुक्मिणी ने सम्पूर्ण शरीर की लीलामात्र से ही त्रैलोक्य को जीत लिया। भगवान् के केवल नेत्र ही चन्द्रात्मक हैं, जबकि रुक्मिणी का सम्पूर्ण मुख 'चन्द्र' है। इस प्रकार उक्त श्लोक में व्यतिरेकालङ्कार वाच्य है, क्योंकि कवि ने स्वयं व्यक्त किया है कि भगवान् ने रुक्मिणी को अपने शरीर की अपेक्षा अधिक माना। यहाँ श्लेष व्यतिरेक का पोषक मात्र है। अतः अनेक रसों के तात्पर्य से पद–पदार्थों की संघटनावाले श्लिष्ट श्लोक में भी कोई विरोध नहीं होता ।।

तदेवमिति। इस प्रकार उपर्युक्त विधि से रत्यादि स्थायीभावों के उपनिबन्धन में सर्वत्र अविरोध रहेगा, (अर्थात् विरोध नहीं आता) अथवा, जिन वाक्यों में रति

श्रूयमाणरत्यादिपदेष्वपि वाक्येषु तत्रैव तात्पर्यं तथाग्रे दर्शयिष्यामः ।

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः ।
शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥ ३५ ॥

आदि शब्दों का काव्य में प्रयोग नहीं होता है, वहाँ भी रति आदि भावों के वर्णन में ही तात्पर्य होता है। अथवा जहाँ रत्यादि पद का काव्य में साक्षात् प्रयोग (श्रूयमाण) होता है वहाँ भी तात्पर्य (फिर से) उन्हीं भावों में होगा। इसे आगे बताया जायगा।

परामर्श — यथा वा श्रूयमाण — रस अथवा भाव का अपने वाचक शब्द द्वारा कथन रसास्वाद में बाधा उत्पन्न करता है। इसके पीछे तर्क यह है कि काव्य में रस अथवा भाव की व्यंजना ही होती है कथन नहीं। इसलिए — लक्षणग्रन्थकारों ने रस के स्थायी एवं व्यभिचारी भाव के शब्द द्वारा कथन को **'स्वशब्दवाच्यत्व'** दोष माना है —(काव्य प्र ० ७ उल्लास ७।९०, ९१) किन्तु इस स्थल को देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वृत्तिकार **धनिक** इस प्रकार के परिगणित दोषों को स्वीकार नहीं करते हैं। **धनिक** के विचारानुसार काव्य में रति आदि पदों का प्रयोग होने पर अथवा विभाव आदि कारणों से उनका आक्षेप होने पर— दोनों ही स्थितियों में—भावों के उपनिबन्धन में कुछ अन्तर नहीं आता। दोनों का ही तात्पर्य रस—योजना में होता है॥

तेचेति। और, वे **स्थायीभाव** अधोलिखित हैं —

कारिकार्थ — रत्युत्साहेति । (१) रति, (२) उत्साह, (३) जुगुप्सा, (४) क्रोध, (५) हास, (६) विस्मय, (७) भय और (८) शोक। { इनके अतिरिक्त } कुछ आचार्य 'शम' को भी (नौवा) स्थायीभाव मानते हैं । किन्तु इस 'शम' की पुष्टि नाट्यों (रूपकों) में नहीं होती ॥ ३५ ॥

{ क्योंकि यह 'शम'—भाव रूपकों के अनुकूल नहीं है। अतः धनञ्जय के मतानुसार नाट्यानुकूल केवल आठ ही भाव है। 'शम' जैसे नवें स्थायीभाव तथा उसके रस—शान्त को धनञ्जय नहीं मानते}

परामर्श — 'शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य' — इसकी व्यंजना यह हो सकती है कि काव्य में नव रस की स्थिति **धनंजय** को मान्य है, परन्तु उनका विवेच्य विषय रूपक होने के कारण उनके लिए शान्तरस का विवेचन करना अप्रासंगिक होता, संभवतः यह सोचकर ही उन्होंने **'शान्त'** रस को स्वीकार नहीं किया होगा । **नाट्यदर्पण** (३।१७७—१८१), **प्रतापरुद्रिय, साहित्यदर्पण** (३।१८२) आदि में **'शम'** भाव का निर्देश किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने रूपकों में भी शान्तरस की योजना को स्वीकार किया है। **धनंजय** के विपरीत **अभिनवगुप्त** ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में शान्त रस की नाट्य और काव्य दोनों में प्रतिष्ठा की है। उन्होंने इस संदर्भ में नाट्य और काव्य के भेद को भी स्वीकार नहीं किया । इस प्रकार अभिनवगुप्त ने निर्भ्रान्त और निश्चितरूप में व्यवस्था दी है कि रस नौ ही होते हैं —'एवं ते नवैव रसाः'— न कम और न ज्यादा ।" (हिन्दी अभिनवभारती, पृ० १४१)॥

इह शान्तरसं प्रति वादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः । तत्र केचिदाहुः — 'नास्त्येव शान्तो रसः' । तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात् । अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति । अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात् । अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति । एवं वदन्तः शममपि नेच्छन्ति । यथा तथास्तु । सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते । तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात् ।

वृत्त्यर्थ — इहेति। यहाँ शान्त रस के प्रति आचार्यो की विविध प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ (विचार भिन्नताएँ) हैं । (१) उनमें से कुछ विरोधी लोग कहते हैं — **"शान्त रस है ही नहीं"** — क्योंकि आचार्य (भरत) ने (नाट्यशास्त्र में) न तो उसके (शान्तरस के) विभावादि ही वर्णित किये हैं और न उसका लक्षण ही दिया है ।

२. **अन्ये त्विति।** दूसरे आचार्य उसका (शान्तरस का) **वास्तविक अभाव ही मानते हैं।** क्योंकि उनके विचार में जो राग और द्वेष अनादिकाल से अनवरत प्रवाह के रूप में (मानव अन्तःकरण में) चलते चले आ रहे हैं, उनका विनाश ही असम्भव हैं। {अर्थात् जब अनादिकाल से बहते चले आते हुए राग—द्वेष का आत्यन्तिक नाश असम्भव है तो फिर शान्त रस कैसे परिपुष्ट हो सकता है ? क्योंकि इनके रहने पर 'शम—भाव' की स्थिति हो ही नहीं सकती और शान्त रस की पुष्टि के लिए आवश्यक है शम भाव का होना। अतः वे व्यावहारिक क्षेत्र में शान्त रस का वास्तविक अभाव मानते हैं।}

३. **अन्येत्विति।** अन्य आचार्य तो **वीर तथा बीभत्स आदि रसों में ही** (शान्त रस का) **अन्तर्भाव** स्वीकार करते हैं, और ऐसा कहते हुए (ये आचार्य) शम भाव को भी स्वीकार नहीं करते हैं। जो कुछ भी हो (अर्थात् उक्त विद्वानों के विचार जैसे भी हों,) किन्तु {इतना तो निश्चित है}

सर्वथेति। हम तो अभिनयात्मक नाटक आदि में शम के स्थायीभाव होने का सर्वथा निषेध करते हैं। क्योंकि उस (शम की स्थिति) में समस्त व्यापारों का {Actions} विलय (अभाव) हो जाता है। {अर्थात् नट का क्रियात्मक (व्यापार रूप) अभिनय ही विरमित—(शान्त) जाता है।} अतः वह (क्रिया रहित दशा) अभिनय के योग्य नहीं है।।

परामर्श — आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में केवल शृङ्गार आदि आठ ही रसों के विभाव आदि कारणों का वर्णन किया है । {"शृङ्गार हास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः। बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।" ६.१६ ना० शा अर्थात् शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अर्थात् अद्भुत । यहाँ ध्यातव्य यह है कि रससंख्या निर्धारण आचार्य भरत ने नहीं किया, अपितु उनसे पूर्व स्वयं ब्रह्मा, अथवा द्रुहिण नाम के कोई प्राचीन आचार्य इस विषय में निर्णय दे चुके थे। (६.१७) 'एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।'} आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में न तो शान्तरस के विभाव आदि का ही वर्णन किया है और न उसका

यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितम्, तत्तु मलयवत्यनुरागेणाऽऽप्रबन्धप्रवृत्तेन विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्याऽविरुद्धम् । न ह्येकानुकार्य-विभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ, अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वम् । तत्रैव शृङ्गारस्याङ्गत्वेन चक्रवर्तित्वावाप्तेश्च फलत्वेनाविरोधात् । ईप्सितमेव च सर्वत्र कर्तव्यमिति परोपकारप्रवृत्तस्य विजिगीषोर्नान्तरीयकफलत्वेनाविरोधादभीप्सितम् । एवं च

लक्षण ही दिया है। ऐसी स्थिति में यह निश्चित हो जाता है कि आचार्य **भरत** को **शान्त** नामक **नवाँ** रस अभीष्ट नहीं है । गच्छताकालेन नाट्यशास्त्र के मेधावी व्याख्याकार आचार्य **अभिनवगुप्त** ने अपने मत के अनुकूल नाट्यशास्त्र के किसी अन्य पाठ के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भरत ने भी रस संख्या ९ ही मानी है "और वे नौ होते हैं। परन्तु नाटक में शान्त रस को अस्वीकृत करने वाले तो – 'बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्यरसा: स्मृता।' के स्थान पर 'बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता:' इस रूप में **'अष्टौ'** ऐसा पाठ मानते हैं " {हिन्दी अभिनव भारती,. पृ० ४२९} किन्तु भरत के पश्चात् रस संख्या में वृद्धि होती गई है। **उद्भट** ने शान्त को मिलाकर नौ रसों का उल्लेख किया है। (काव्यालंकार संग्रह, ४।४) और रसों की संख्या में उत्तरोत्तर होती हुई वृद्धि को इस प्रकार देखकर संस्कृत के अन्तिम मेधावी **आचार्य पंडितराज जगन्नाथ** ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में इस विस्तार–प्रवृत्ति का खण्डन कर–भरतप्रोक्त परम्परा की पुन: प्रतिष्ठा पर बल दिया – **'रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत, इति यथाशास्त्रमेव ज्याय: ।'** अर्थात् भक्ति आदि रसों का समावेश करने से मुनि द्वारा निर्धारित संख्या भंग हो जाएगी, अत: शास्त्र का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर है। (रस० गं० पृ० १७६)।। **अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति** – कुछ विद्वान् शम को वीर–बीभत्स आदि में अन्तर्भावित कर कहते हैं कि शान्त को अलग से रस मान लेने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इस संसार के प्रति जो घृणा भाव है, वह शम का ही एक तत्त्व है और वह बीभत्स के अन्तर्गत आ जाता है। इसी प्रकार अविनाशी परम तत्त्व के प्रति उन्मुखता वीर के स्थायी भाव उत्साह का अङ्ग बन जाता है। अत: 'शान्त' को एक स्वतन्त्र रस स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।।

यत्विति। (वृत्तिकार **धनिक** कहते हैं कि) कुछ लोगों ने (पूर्वपक्षी) हर्षकृत **'नागानन्द'** नाटक में **'शम'** को **स्थायीभाव** बतलाया है, वह तो आप्रबन्ध तक अर्थात् सम्पूर्ण नाटक की समाप्ति तक चलने वाले मलयवती के प्रति {जीमूतवाहन के} अनुराग और विद्याधर–चक्रवर्ती–पद की प्राप्ति के (एकदम) विरुद्ध है। {क्योंकि नाटक की नायिका मलयवती के प्रति अनुराग तथा नायक–जीमूतवाहन को 'विद्याधर–चक्रवर्ती–पद की प्राप्ति–ये दोनों ही 'शम' भाव के नितान्त विरुद्ध है।} एक ही अनुकार्य (जीमूतवाहन आदि) के विभाव का आश्रय (आलम्बन ग्रहण कर) लेकर एक साथ विषयानुराग अर्थात् विषय के प्रति आसक्ति (= मलयवती के प्रति अनुराग) एवं विषयापराग (विषय के प्रति विरक्ति = शम) {अर्थात् परस्पर विरोधी शम एवं रति = शान्त एवं शृङ्गार} इन दोनों की उपलब्धि नहीं हो सकती। अत: {नागानन्द

सर्वत्र द्रष्टव्यमिति -। परोपकारप्रवृत्तस्य विजिगीषोर्नान्तरीयकत्वेन फलं संपद्यत इत्यावेदितमेव प्राक्। अतोऽष्टावेव स्थायिन:।

ननु च –

'रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यै: ।
निर्वेदादिष्वपि तत्प्रकाममस्तीति तेऽपि रसा: ।।'' (काव्यालङ्कारे १२.४)

इत्यादिना रसान्तराणामप्यन्यैरभ्युपगतत्वात् स्थायिनोऽप्यन्ये कल्पिता इत्यवधारणानुपपत्ति: ।

में शम स्थायी भाव न होकर} (दश० ४.७२ के सदृश) वहाँ दयावीर का **उत्साह** ही स्थायीभाव है। और उसी (दयावीर के उत्साह) के ही अंगरूप में शृङ्गार आया है, और चक्रवर्ती के पद की प्राप्ति फलरूप से वर्णित की गई है। अत: वहाँ कोई विरोध नहीं है जो अभीष्ट ही है। सर्वत्र कर्तव्य का पालन करना ही ईप्सित है, ऐसा विचार कर परोपकार करने में संलग्न (प्रवृत्त) विजिगीषु (विजय की अभिलाषा वाले) को अवश्यम्भावी फल की प्राप्ति तो हो ही जाती है – यह {धीरोदात्त नायक के लक्षण बतलाने के अवसर पर (दश. २.४)} पहले बतलाया जा चुका है । अत: (रूपक में) आठ ही स्थायीभाव होते हैं ।।

परामर्श – तत्तुविरुद्धम् – जिन लोगों ने नागानन्द नाटक में **'शम'** को स्थायीभाव होने की बात कही है, वह तो (तत्तु) प्रबन्ध की (नाटक की) समाप्ति तक चलने वाले मलयवती के प्रति (नायक जीमूतवाहन के) अनुराग और **'विद्याधर–चक्रवर्ती'** – पद की प्राप्ति के (एकदम) विपरीत है। क्योंकि 'शम' का तात्पर्य है विषयों के प्रति अनासक्ति (विरक्ति)। विरक्ति की स्थिति में जीमूतवाहन का मलयवती के प्रति अनुराग का होना अनुचित प्रतीत होगा। इसके अतिरिक्त जीमूतवाहन की विद्याधर–चक्रवर्ती के पद की प्राप्ति भी शान्तरस के अनुकूल नहीं जान पड़ती। अत: नागानन्द में शान्त रस की स्थिति नहीं मानी जा सकती ।।

नन्विति। प्रश्न यह है कि – पूर्वपक्षी को रसों को (८) आठ की संख्या में नियन्त्रित करने के विचार पर विशेष आपत्ति है। उसके विचार में निर्वेद आदि भावों को भी रस के रूप में स्वीकार करना ठीक होगा। वह कहता है कि –

रसनादिति। 'जिस प्रकार मधुर, अम्ल आदि पदार्थ आस्वाद्य होने के कारण 'रस' कहलाते हैं; उसी प्रकार इन {रत्यादि स्थायीभावों} को भी **आस्वाद्य** होने के कारण ही आचार्यों ने **'रस'** कहा है। इनका रसन (अर्थात् आस्वादन) होता है, अत: वे रस कहलाते हैं। इस प्रकार की आस्वाद्यता निर्वेद आदि भावों में भी पर्याप्त मात्रा में है। इसलिए वे भी रस है ।'

इत्यादिनेति। इत्यादि कथन के द्वारा अन्य विद्वानों ने दूसरे रसों को भी स्वीकार किया है, और इस प्रकार उन–उन रसों के स्थायी भावों की भी कल्पना की है। अत: (पूर्वपक्षी कहता है कि–) **धनञ्जय** द्वारा कारिका में केवल आठ ही भावों का उल्लेख किया जाना तथा वृत्तिकार **धनिक** का भी **'अष्टावेव'** – इस तरह संख्या

अत्रोच्यते —

निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ।। ३६ ।।

{अताद्रूप्यात् —} विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम्। अत एव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति ।

का निश्चयात्मक उल्लेख भी समुचित नहीं जान पड़ता।

परामर्श — भरत के पश्चात् आचार्य दण्डी ने भी केवल आठ ही रसों का उल्लेख किया है । उनके कुछ ही समयोपरान्त उद्भट ने 'शान्त' रस को मिलाकर नौ रसों का उल्लेख किया है। और यह 'नव रस' का उल्लेख उद्भट के 'काव्यालंकारसंग्रह' में ही सर्वप्रथम देखने को मिलता है । इनके पश्चात् रुद्रट ने 'निर्वेदादि' संचारीभावों में भी आस्वाद्यता स्वीकार की और वे भी रसत्व को प्राप्त होते हैं, यह निर्भ्रान्त शब्दों में कहा। निश्चय ही यह क्रान्तिकारी कल्पना थी । किन्तु परम्परा के प्रभाववश भोज के अतिरिक्त किसी अन्य आचार्य ने इसे स्वीकार नहीं किया ।।

अत्रोच्यत इति। अतः यहाँ पूर्वपक्षी को उत्तर देने के लिए धनञ्जय ने निम्नोक्त कारिका अवतरित की है —

निर्वेदादिः अताद्रूप्यात् अस्थायी तेन सः कथम् स्वदते ? तत्पोषः वैरस्याय एव तेन स्थायिनः अष्टौ मताः इत्यन्वयः ।। ३६ ।।

कारिकार्थ — निर्वेदादिति। निर्वेद आदि में ताद्रूप्य का अभाव होने से {अर्थात् निर्वेद आदि में विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावों से अच्छिन्न न होने का गुण न होने से,} उन्हें स्थायी कैसे माना जा सकता है ? तथा उनका (रस की तरह) आस्वादन भी कैसे किया जा सकता है ? यदि किसी प्रकार इन (निर्वेद आदि) की पुष्टि हो भी जाय तो वह वैरस्य ही उत्पन्न करने के लिये होगी । इसीलिए आठ ही स्थायीभाव माने गए हैं ।। ३६ ।।

परामर्श — अताद्रूप्यात् — 'विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः' — अर्थात् जो विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से विच्छेदित नहीं होता, यह विच्छेदित न होने का गुण उसमें न होने से । स्थायीभाव किसी विरुद्ध या अविरुद्ध भाव से विच्छिन्न नहीं होता, वह समुद्र की तरह उन्हें (विरुद्ध या अविरुद्ध भावों को) आत्मसात कर लेता है। यह ताद्रूप्य होने का गुण निर्वेदादि भावों में न होने से उन्हें स्थायीभाव नहीं माना जा सकता ।।

वृत्त्यर्थ — अताद्रूप्यादिति। पूर्व में (दश० ४।३४) यह बताया जा चुका है कि जो भाव विरोधी तथा अविरोधी भावों से विच्छेदित नहीं होता, वह स्थायीभाव होता है। यह विच्छिन्न न होने की स्थिति निर्वेदादिकों में न होने के कारण उन्हें स्थायीभाव नहीं कहा जा सकता। इसलिए {स्थायी भाव की तरह उनमें रसरूपता न होने के कारण} अपने–अपने चिन्ता आदि व्यभिचारी भावों से अन्तरित (पृथक्) कर दिये जाने पर भी यदि वे (निर्वेदादि) पुष्ट हो जाते हैं तब भी वे वैरस्य को ही उत्पन्न करते हैं। {अतः उन्हें स्थायीभाव नहीं कहा जा सकता}

' च निष्फलावसानत्वमेतेषामस्थायित्वनिबन्धनम्, हासादीनामप्यस्थायित्वप्रसङ्गात् । ारंपर्येण तु निर्वेदादीनामपि फलवत्त्वात् । अतो निष्फलत्वमस्थायित्वे प्रयोजकं न ावति। किन्तु विरुद्धैरविरुद्धैर्भावैरतिरस्कृतत्वम् । न च निर्वेदादीनामिति न ते स्थायिनः। तो रसत्वमपि न तेषामुच्यते । अतोऽस्थायित्वादेवैतेषामरसता ।

न चेति। यदि कोई यह कहे कि निर्वेदादि भावों का अन्त फलरहित होता , अतः उन्हें स्थायीभाव नहीं माना जा सकता, अर्थात् उनका निष्फलावसानत्व ही थायीभाव न होने का कारण है, तो यह बात भी नहीं हैं। निष्फलावसानत्व के आधार र तो हास आदि भावों को भी स्थायित्व नहीं हो पायगा। {क्योंकि हास का भी नोरंजन के अतिरिक्त लौकिक या पारलौकिक फल नहीं होता। यदि यह कहा जाय ७ हास आदि किसी न किसी स्थायी के अङ्ग बनकर सफलावसानत्व को प्राप्त कर ाते हैं, अर्थात् फलयुक्त हो जाते हैं, तब तो —}

पारम्पर्येणेति। परम्परा से तो निर्वेदादि का भी फल हुआ ही करता है। {क्योंकि ास आदि भावों की तरह ही निर्वेद आदि किसी न किसी स्थायी के अङ्ग बनकर ाने पर फलयुक्त हो ही जाते हैं। इस प्रकार परम्परा से वे भी फल रहित नहीं होते}

अत इति। अतः निष्फल होना किसी भाव के अस्थायित्व का प्रयोजक नहीं ' सकता। अपितु विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावों से तिरस्कृत न होना ही किसी भाव के ायित्व का कारण है। विरोधी तथा अविरोधी भावों के द्वारा तिरस्कृत न होने की ाधार शिला ही ऐसी है जिस पर किसी भाव के स्थायित्व की परीक्षा की जाती है। ौर यह बात {अर्थात् किसी भी प्रकार के भावों से विच्छिन्न न होना} निर्वेद आदि परिलक्षित नहीं होतीं अतः उन्हें स्थायीभाव नहीं कहा जा सकता। इसीलिए वे ारूप भी नहीं हो सकते। {अर्थात् जब वे भाव ही नहीं तो उनके शान्त आदि रस । नहीं हो सकते।} इस प्रकार निर्वेदादि भाव स्थायीभाव न होने के कारण, रसरूप ीं होते। अतः स्पष्ट है कि स्थायीभाव तथा उनके रस आठ ही हैं।।

परामर्श — स्थायीभावों का काव्य से सम्बन्ध — ग्रन्थकार के द्वारा भावों व ों का निर्धारण कर दिया जाने पर, तथा रसों की निश्चित संख्या भी निर्धारित कर जाने के पश्चात् एक मौलिक प्रश्न उपस्थित होता है कि रस का काव्य—नाटक से ा सम्बन्ध है ? सहृदय पाठक या दर्शक को काव्य या नाटक के द्वारा रस की ीति किस तरह से किस प्रक्रिया से व कौन से व्यापार से होती है ? इस प्रश्न के ार में आचार्यों ने अपने—अपने सारगर्भित विचार (मत) अभिव्यक्त किये हैं। इनमें ुख मत है — **धनञ्जय** व **धनिक** के मत से विरोधी मत रखने वाले ध्वनिवादी ाचार्यों — **(आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट)** का, जो रस तथा काव्य के य में **व्यङ्ग्य—व्यञ्जक** भाव का सम्बन्ध मानते हैं तथा अभिधा, लक्षणा तथा त्पर्य—इन तीनों वृत्तियों (शब्द शक्तियों) से भिन्न तुरीया—वृत्ति अर्थात् व्यञ्जना—वृत्ति द्वारा रस की प्रतीति मानते हैं। **ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन** रस को वाच्य, क्ष्य या तात्पर्यार्थ मानने के लिए सहमत नहीं, उनके अनुसार न तो रस वाच्य है

और न काव्य उसका वाचक। वे तो इसे अभिव्यङ्ग्य मानते हैं। इसके विपरीत **धनंजय** और **धनिक** व्यंजना वृत्ति को स्वीकार नहीं करते अत: वे काव्य अथवा उसमें वर्णित विभावादि के साथ रस का आचार्य अभिनव के समान व्यंग्य—व्यंजक सम्बन्ध को न मानकर **भाव्य—भावक सम्बन्ध** को ही मानते हैं **'अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्य व्यंजक भाव:, किं तर्हि भाव्य भावक सम्बन्ध: । काव्यं हि भावकं भाव्या रसादय: ।'** (द० रू० चतुर्थ प्रकाश)। वस्तुत: **धनंजय** और **धनिक** अभिधावादी है। उन पर लोल्लट के मत का प्रभाव परिलक्षित होता है। इनके विचार में अभिधाव्यापार बाण की तरह कार्य करता है। **'सोयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापार:।'** श्री लोल्लट के विषय में यह प्रवाद प्रचलित है कि वे मीमांसक थे । **डॉ० भोलाशंकर व्यास** ने **'हिन्दी दशरूपक'** की भूमिका (पृ० ३८) में लोल्लट को मीमांसक ही माना है। आचार्य **विश्वेवर** ने **'काव्य—प्रकाश'** की हिन्दी व्याख्या में (पृ० १०१—१०२) भट्टलोल्लट को मीमांसक पण्डित ही कहा है। उक्त विद्वानों तथा अन्य विद्वानों का लोल्लट को **'मीमांसक'** मान लेने का आधार संभवत: काव्यप्रकाश के भाष्यकार **वामन झलकीकर** की **'बालबोधिनी'** टीका में उल्लिखित उनका यह कथन ही है —**'लोल्लट भट्ट—मतोपजीवी मीमांसक थे ।'** (काव्य प्रकाश—वामन झलकीकर पृ० २२५) संभवत: वहीं से प्रेरणाप्राप्त कर **डॉ० पी० वी० काणे** ने **'अभिनव भारती'** के एक उद्धरण के आधार पर उनके पूर्वमीमांसक होने का अनुमान कर लिया है। इन्हीं दो उल्लेखों के आधार पर गतानगतिकतावश आधुनिक विद्वान् लोल्लट की रस—विवेचना को मीमांसा पर आश्रित मानते रहे। किन्तु वर्तमान शोधकों ने जब इसके मूल स्रोत्र का अन्वेषण किया तो उन्हें कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं मिला और प्रमाण के अभाव में किसी प्राचीन प्रवाद की आवृत्ति करना अनुसन्धान के नियम के विरुद्ध है। अत: यह मानने का कोई कारण आज नहीं मिलता है कि **लोल्लट पूर्व मीमांसक,** अथवा भट्टमतोपजीवी मीमांसक थे। विस्तृत जानकारी के लिए देखिए —

१. **रस सिद्धान्त** — डॉ० नगेन्द्र, २. डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त (रसगंगाधर, शा० अ० पृ० १२६), ३. **हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एस्थेटिक्स**० पृ० २८, ४. **रस सिद्धान्त का दार्शनिक तथा नैतिक विवेचन** पृ० ३०॥

रस निष्पत्ति का सार चित्र

आचार्य	आधारभूत दर्शन	निष्पत्ति का अर्थ	संयोग का अर्थ
१. भट्टलोल्लट	मीमांसा	उत्पत्ति	उत्पाद्य—उत्पादक भाव सम्बन्ध
२. श्रीशंकुक	न्याय	अनुमिति	अनुमाप्य—अनुमापक भाव सम्बन्ध
३. भट्टनायक	मीमांसक	भुक्ति	भोज्य—भोजक भाव सम्बन्ध
४. अभिनव गुप्त	शैवाद्वैत	अभिव्यक्ति	व्यङ्ग्य—व्यंजक भाव सम्बन्ध
५. धनञ्जय—धनिक	मीमांसा	भावित होना	भाव्य—भावक भाव सम्बन्ध

कः पुनरेतेषां काव्येनापि सम्बन्धः ? न तावद् **वाच्यवाचकभावः**, स्वशब्दैरनावेदितत्वात् । न हि शृङ्गारादिरसेषु काव्येषु शृङ्गारादिशब्दा रत्यादिशब्दा वा श्रूयन्ते। येन तेषां तत्परिपोषस्य वाभिधेयत्वं स्यात् । यत्रापि च श्रूयन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्वमात्रेण ।

स्थायीभाव एवं काव्य में सम्बन्ध – {स्थायीभावों एवं उनकी संख्या की चर्चा कर लेने के पश्चात् यह एक मौलिक प्रश्न सम्मुख उपस्थित होता है कि स्थायीभावों का काव्य से किस प्रकार का सम्बन्ध है ? यह तो निर्विवाद रूप से स्पष्ट है कि काव्य (श्रव्य तथा दृश्य) के ही द्वारा पढ़कर (सुनकर) या देखकर सहृदय रस की चर्वणा करते है; किन्तु इस रसचर्वणा काव्य का साक्षात् अर्थ–वाच्यार्थ है, लक्ष्यार्थ है अथवा इन दोनों ही शक्तियों के अतिरिक्त तीसरी शक्ति से प्राप्त होने वाला कोई तीसरा अर्थ इसे समझा जाना चाहिए। यहाँ यह ध्यातव्य है कि **धनञ्जय** एवं **धनिक** स्थायीभाव एवं रसों को पृथक् न मानकर उनका **अभेद** मानते हैं, उन्होनें आगे कारि० ४७ 'लक्षणैक्यं विभावैक्यादभेदाद् रसभावयोः' में स्पष्ट कर दिया है । किन्तु **हिन्दी के व्याख्याकारों** ने 'कः पुनः एतेषां' इस पंक्ति को लगाते हुए **'एतेषाम्'** को **'रस एवं स्थायीभाव'** का वाचक मानकर अर्थ किया है, जो समादरणीय नहीं है ।}

क इति। इन (स्थायीभावों) का काव्य से क्या सम्बन्ध है ? { क्या इनमें परस्पर **वाच्य–वाचक भाव** सम्बन्ध है ? इस प्रश्न का उत्तर **ध्वनिवादी आचार्य** इस प्रकार देते हैं }

न तावदिति। उन ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार काव्य तथा स्थायीभाव में परस्पर (१.) **वाच्य–वाचक भाव** सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् स्थायीभाव न तो वाच्य है और काव्य न उनका वाचक है। क्योंकि अपने शब्दों से {अर्थात् रत्यादि शब्दों के द्वारा स्थायीभाव का} कथन कहीं भी नहीं किया जाता { स्वशब्दैरनावेदित्त्वात्}, और शृङ्गारादि रस के काव्यों में शृङ्गार आदि शब्दों या उनके स्थायीभावों के वाचक शब्दों का उल्लेख या प्रयोग नहीं किया जाता है। (और नहीं सुना जाता है) जिससे यह प्रकट हो सके कि रति आदि भाव अथवा उनके परिपुष्ट स्वरूप (अर्थात् शृङ्गार आदि) वाच्य होते हैं। और जहाँ कहीं भी इन शब्दों का उल्लेख होता है तो वहाँ पर भी विभाव आदि के वर्णन के द्वारा ही इनका (रति आदि का) आस्वादन होता है, केवल रति आदि शब्दों के वाच्य होने से ही उनका आस्वादन नहीं होता ।।

परामर्श – उक्त विवरण को ऐसा समझा जा सकता है – शब्द की शक्ति –अभिधा आदि से जो सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, वह सम्बन्ध **वाच्यवाचक सम्बन्ध** कहलाता है। जैसे – **'गौः'** शब्द **'सास्नादिमान् पशु'** का **वाचक** है और **तद्विशिष्ट पशु** उसका **वाच्य** है । काव्य तथा (उससे निष्पन्न होने वाले) रस के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

क्योंकि उसकी वाच्यता यदि होगी तो 'रसादि' शब्द से या शृङ्गारादि शब्द से ही अपनी अभिधाशक्ति के द्वारा ही होगीं किन्तु रसादि अथवा शृङ्गारादि शब्द

नापि लक्ष्यलक्षकभावः, तत् सामान्याभिधायिनस्तु–लक्षकस्य पदस्या–प्रयोगात् । नापि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्तिः । उक्तं च –

'क्रियासमन्वयायोगाच्छब्दः स्वार्थे स्खलद्गतिः ।
अर्थान्तरं क्रियायोग्यं लक्षयेदिति लक्षणा ॥ इति

यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ । तत्र हि स्वार्थे स्रोतोलक्षणे

अपनी अभिधाशक्ति के द्वारा 'रस' को नहीं बताते । क्योंकि उन रसादि अथवा शृङ्गारादि शब्दों का प्रयोग किये जाने पर भी **'विभाव'** आदि का प्रयोग न करने पर **'रसादि'** का अनुभव नहीं होता है और रसादि अथवा शृङ्गारादि शब्दों का प्रयोग न किये जाने पर भी **'विभाव आदि'** का प्रयोग करने पर उस रसादि का अनुभाव होता है। एवं च विभावादि के प्रयुक्त होने पर ही उस रसादि की प्रतीति होती है – यह बात अन्वय–व्यतिरेक से ही निश्चित होती है । अर्थात् केवल शब्दों के द्वारा ही रस वाच्य नहीं हो सकता । यदि किसी काव्य में केवल रत्यादि भाव या शृङ्गारादि रस के वाचक शब्दों का प्रयोग या उल्लेख कर दिया जाय, और विभावादि का सम्यक् रूप से सन्निवेश काव्य में न हो पाय, तो रस चर्वणा में बाधा उपस्थित हो जायगी। साथ ही ध्वनिवादियों के अनुसार तो रस अथवा भाव का अपने वाचक शब्द द्वारा कथन–काव्य में **'स्वशब्दवाच्यता'** का दोष भी उत्पन्न कर देगा। इसके पीछे तर्क यह है कि काव्य में रस अथवा भाव की व्यंजना ही होती है, कथन नहीं। कथन से केवल तथ्यबोध ही होता है, प्रत्यक्ष प्रतीति तो व्यंजना के द्वारा ही सम्भव है। अतः रस या भाव का अभिधान रसास्वाद का साधक तो हो ही नहीं सकता, अपितु बाधक ही होता है। तात्पर्य यह है कि भाव का वाचक शब्द के द्वारा कथन न कर अनुभावों के द्वारा अभिव्यंजन करना चाहिए। जैसे – **'लक्ष्मण को क्रोध आ गया'** या **'उर्मिला ने लज्जा का अनुभव किया'** – यह सुनकर केवल तथ्य बोध होता है, किन्तु जब हम यह सुनते हैं कि – **'लक्ष्मण के नेत्र लाल हो गये'** या **'उर्मिला के नयन झुक गये'** – तो हमें कल्पना के द्वारा क्रोध या लज्जा का साक्षात्कार हो जाता है।

{ध्वनिवादियों ने सर्वप्रथम भाव या रस की प्रतीति के लिए अभिधा को पूर्णरूप से अस्वीकृत कर दिया, अब वे भाव तथा काव्य में परस्पर **लक्ष्य–लक्षक** सम्बन्ध भी किस प्रकार नहीं माना जा सकता, बताते हैं –}

(२) नापीति। ध्वनिवादियों के मत में रति आदि भावों का काव्य के साथ **लक्ष्य–लक्षकभाव** सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। {अर्थात् वे कहते हैं कि रति आदि भाव लक्ष्य हों और काव्य उन भावों के लक्षक हों, यह भी नहीं माना जा सकता, दूसरे शब्दों में उनके विचारानुसार रति आदि भाव लक्षणा वृत्ति से प्रतीत होने वाले पदार्थ नहीं हैं और न हि काव्य उन भावों को लक्षणा वृत्ति से बोध कराने वाला ही है।}

तदिति। (वस्तुतः) काव्य में सामान्य रस आदि के अभिधायक (वाचक) किसी लक्षक पद का प्रयोग नहीं किया जाता। अर्थात् विशेष रस की प्रतीति के लिए सामान्य पद (रस) का प्रयोग होता ही नहीं। लक्षित लक्षणा के द्वारा भी रस–भाव

घोषस्यावस्थानासम्भवात् स्वार्थे स्खलद्गतिर्गङ्गाशब्दः स्वार्थाविनाभूतार्थलक्षणं तटमुपलक्षयति' । अत्र तु नायकादि शब्दाः स्वार्थेऽस्खलद्गतयः कथमिवार्थान्तरमुपलक्षयेयुः? को वा निमित्तप्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्युपचरितं प्रयुञ्जीत ? 'सिंहो माणवकः' इत्यादिवत् । अत एव गुणवृत्त्यापि नेयं प्रतीतिः ।

आदि की प्रतीति नहीं होती है । जैसा कि कहा भी गया है – **'क्रिया–समन्वय के योग से शब्द के अपने अर्थात् स्वार्थ से स्खलित होने पर क्रिया के अनुरूप योग्य अर्थान्तर को जो लक्षित करता है वह लक्षणा है** । जैसी प्रतीति **'गङ्गायां घोषः'** इत्यादि में होती है। वहाँ अर्थात् 'गङ्गयां घोषः' में तो **गङ्गाशब्द** के अपने **स्रोतरूप** (जल प्रवाह रूप) **अर्थ** में घोष (घर, बस्ती) की स्थिति का होना सम्भव ही नहीं, अतः अपने अर्थ को (अर्थात् गङ्गा के जलप्रवाह के अर्थ को) प्रकट करने में **'गङ्गा'** शब्द की गति **स्खलित्** (कुण्ठित) हो जाती है; तब पुनः वह (गङ्गा शब्द) अपने अर्थ (जल प्रवाह) से नित्य सम्बन्ध रखने वाले (अविनाभूत) **गङ्गा–तट** को **उपलक्षित** कराता है ।

अत्रेति। किन्तु यहाँ अर्थात् काव्य में तो ऐसी स्थिति नहीं है, क्योंकि (दृश्य) काव्य में तो नायक आदि शब्द, (जो विभाव आदि के वर्णन के द्वारा रस प्रतीति में सहायक होते हैं), अपने अर्थ को प्रकट करने में पूर्णरूप से समर्थ होते हैं, अतः वे क्यों किसी भाव आदि अन्य अर्थ को लक्षित करावेंगे? अथवा निमित्त (रूढि) एवं प्रयोजन के बिना तथा मुख्यार्थ के उपपन्न रहने पर कौन व्यक्ति उपचरित–लाक्षणिक शब्द का प्रयोग करेगा ? इसलिए **'सिंहो माणवकः'** – (बालक सिंह है।) आदि की तरह गौणीवृत्ति से भी इन (भाव आदि) की–यह प्रतीति नहीं हो सकती।

परामर्श – काव्य तथा स्थायीभाव अथवा रस में परस्पर **वाच्यवाचक** भाव का निराकरण करने के पश्चात् **पूर्वपक्षी** (अर्थात् **ध्वनिवादी**) काव्य के साथ **लक्ष्य–लक्षकभाव** को भी अस्वीकार करता है। उसके विचार में काव्य तथा रस में **लक्ष्य–लक्षक–भाव** भी नहीं है। पूर्वपक्षी कहता है कि न तो काव्य लक्षक ही है, और न रस लक्ष्य ही। काव्य में अभिधा का निराकरण हो जाने के बाद यदि कुछ विद्वान्[1] रस को लक्ष्य मानकर उसको लक्षणाव्यापारगम्य मान लें, तो यह विचार भी उसकी दृष्टि में युक्तियुक्त नहीं ।

आचार्यों ने अर्थ–बोध कराने की तीन शब्द शक्तियाँ मानी हैं (१) **अभिधा** (२) **लक्षणा** और (३) **व्यंजना** । मुख्य अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ के बोधक शब्द–व्यापार को अभिधावृत्ति कहा जाता है। लोक व्यवहार में प्रायः अभिधा द्वारा ज्ञात होने वाले शब्दों का ही प्रयोग किया जाता है। अतः सर्वप्रथम अभिधा शक्ति के द्वारा ही

---

१. 'अभिधावृत्तिमात्रिका' के लेखक मुकुलभट्ट ने रस को लक्षणा गम्य ही माना है। उन्होंने 'दुर्वारा मदनेषवो' आदि उदाहरण में विप्रलम्भश्रृङ्गार को लक्ष्य मानकर लिखा है – 'तात्पर्यालोचन सामर्थ्याच्च विप्रलम्भ श्रृङ्गारस्याक्षेप इत्युपादानात्मिका लक्षणा ।' (अभिधावृत्तिमात्रिका० पृ० १४।)

वाच्यार्थ का ज्ञान हमें होता है, किन्तु किसी वाक्य में प्रयुक्त कोई शब्द जब उसके साक्षात् अर्थ को ग्रहण करने पर प्रकरणानुसार उसका अर्थ ठीक–ठीक नहीं बैठ पाता, तब हम उस शब्द के मुख्यार्थ को छोड़ देते हैं, और शब्द की दूसरी वृत्ति लक्षणा से वक्ता के अभिप्राय को जान लेने का प्रयत्न करते हैं। निश्चय ही मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ को देने वाली यह लक्षणा **वृत्ति** भिन्न होती है। फिर भी यह (लक्षणा) मुख्य अर्थ के साथ नियत रूप से सम्बन्ध रखने वाले अर्थ को ही प्रकट करती है। **इस 'लक्षणा' के तीन हेतु होते हैं – प्रथम हेतु है – मुख्य अर्थ का बाधित होना** । मुख्य अर्थ का जहाँ वाक्य में यथार्थतः अन्वय नहीं जमता, वहीं लक्षणा होती है। **द्वितीय हेतु है – तद्योग** अर्थात् मुख्य अर्थ के साथ अमुख्य अर्थ (लक्ष्यार्थ) का सम्बन्ध। लक्षणा के द्वारा वही अर्थ द्योतित किया जाता है जो वाच्य अर्थ (मुख्य अर्थ) के साथ सम्बद्ध होता है, असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति लक्षणा के द्वारा कभी भी नहीं होती। **तृतीय हेतु है – रुढ़ि** अथवा **प्रयोजन** के कारण वह (लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया जाता हो। यहाँ उल्लेखनीय यह है कि रूढ़ि या प्रयोजन के होने पर ही **'लक्षणा'** होती है। उदाहरणार्थ – **'वह व्यक्ति कर्म में कुशल है'** – इस वाक्य में कुशल शब्द का अन्वय कर्म के साथ सम्यक् रीति से नहीं जमता । **'कुशल'** का मुख्य अर्थ है – **कुश को लाने वाला (कुशं लातीति कुशलः)** अतः कर्म में 'कुश को लानेवाला' का अर्थ कुछ नहीं होता। इसलिए यहाँ है – **मुख्य अर्थ का बाध** । अतः इस मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थ है **'कुशल'** अर्थात् **'विवेचक'** अर्थ । कुश को वही व्यक्ति ला सकता है जो उस जैसे दिखाई देने वाले अन्य तृणों से 'कुशों' को पृथक्रूप से छाँटने की योग्यता–विवेचक की योग्यता रखता हो,। अतः यहाँ **'कुशल'** से चतुर या **विवेचक अर्थ** की कल्पना **रूढ़ि** के द्वारा है। रूढ़ि से तात्पर्य है परम्परागत अर्थ, अतः 'कुशल' शब्द लाक्षणिक है। जो लक्षणा के द्वारा 'विवेचक' अर्थ को प्रकट करता है ? इसी प्रकार अन्य उदाहरण – 'गङ्गायां घोषः' भी समझा जाना चाहिए। **गङ्गा शब्द का वाच्यार्थ होता है – गङ्गा – जलप्रवाह और घोष का अर्थ है – घर, बस्ती जल प्रवाह में घर या बस्ती । का होना असम्भव है। अतः मुख्यार्थ का बाध हो जाता है, वाच्यार्थ की संगति ठीक नहीं बैठती। अतः मुख्य अर्थ से गंगा प्रवाह से संबद्ध अन्य अर्थ गंगा–तट की कल्पना की जाती है। तब 'गंगायां घोषः' का अर्थ होता है–गङ्गा के तट पर स्थित घर। यहाँ गंगा शब्द के प्रयोग का विशेष प्रयोजन यह है कि गंगा के तट पर स्थित घर की पवित्रता तथा उसमें रहने वाली शीतलता प्रकट हो जाय। इस प्रकार शीतलता और पवित्रता आदि प्रयोजन की प्रतीति के लिए ही 'गंगा' शब्द की 'तट' में लक्षणा मानी जाती है। इसमें प्रयोजन होने के कारण इसे प्रयोजनवती लक्षणा कहा जाता है। यहाँ विशेष उल्लेखनीय यह है कि 'लक्षणा' भी 'अभिधा' के समान ही होती है। अभिधा जिस प्रकार अपनी शक्ति से नियत रहती है, उसी प्रकार 'लक्षणा' भी नियत अर्थ को ही प्रकट करती है।**

तत्सामान्याभिधायिनस्तु। काव्य तथा रस में लक्ष्य लक्षक भाव इसलिए नहीं माना जा सकता कि लक्षणा व्यापार सामान्य शब्द (गंगादि) का प्रयोग विशिष्ट धर्म वाले पदार्थ (गंगातटादि) में किया जाता है। यदि रस को काव्य का लक्ष्य मान लें, तो

काव्य में ऐसे लक्षक शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए, जो अभिधा से नहीं, लक्षणा वृत्ति से रस की प्रतीति करा दें। किन्तु काव्य में ऐसा नहीं होता। काव्य में इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग नहीं होता जो सामान्य रूप से 'रस' की प्रतीतिकाराकर लक्षणा के द्वारा शृङ्गार आदि विशेष रस की प्रतीति करा दें। अतः लक्षित लक्षणा (अजहल्लक्षणा) के द्वारा रस की प्रतीति होती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

{**लक्षित लक्षणया—**} काव्य तथा रस में लक्ष्य लक्षकभाव स्वीकार करने के लिए सर्वप्रथम हमें लक्षणा का आवश्यक कारण—मुख्यार्थ का बाध स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि लक्षणा तो मुख्य अर्थ के बाध होने पर ही होती है। किन्तु काव्य में ऐसा नहीं होता। काव्य के नायकादि शब्द स्खलद् गति नहीं होते। उनके स्खलद्गति न होने पर दूसरे अर्थ—लक्ष्यार्थ (रस) की प्रतीति कैसे होगी ? इसके अतिरिक्त लक्षणा के प्रयोग के लिए रूढ़ि या प्रयोजन का (हेतु) होना भी आवश्यक है, किन्तु यहाँ लक्षणा के तीनों हेतुओं में —मुख्यार्थबाध (शब्द की स्खलद्गति) मुख्यार्थ से नियत सम्बन्ध और रूढ़ि या प्रयोजन—एक भी परिलक्षित नहीं होता। ऐसी दशा में काव्य के रस के विषय में ऐसा कहना अर्थात् रस लक्षणा व्यापार का विषय है।' ठीक नहीं होगा। { रस लक्षणा व्यापार का विषय नहीं है।}

गुणवृत्त्यापि नेयं प्रतीतिः। {रस आदि की प्रतीति गौणीवृत्ति के द्वारा भी नहीं हो सकती} प्रकृत प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि **मीमांसक सम्प्रदाय शुद्धा लक्षणावृत्ति के अतिरिक्त गौणीवृत्ति का भी स्वीकार करता है। यह मीमांसकों के तीनों सम्प्रदायों का सिद्धान्त है । परन्तु दशरूपक के प्रसिद्ध हिन्दी व्याख्याकारों** ने प्रस्तुत प्रसङ्ग को **आचार्य प्रभाकर** के नाम से उल्लिखित किया है जो **समादरणीय नहीं है** —

न च लक्षणातो गौण्या न भेदः, शक्यसम्बन्धमात्रस्य लक्षणात्त्वात् शक्यनिष्ठगुणसजातीयगुणवत्वस्य गौणीत्वात् ।। (तं० सि० र० प्र० परि० आ० निरू०) शुद्धा लक्षणा से यहाँ प्रश्न यह होता है कि **'शुद्धा'** तथा **'गौणी'** लक्षणाओं का परस्पर **'भेदकधर्म'** क्या होता है ? **आचार्य मम्मट भट्ट** 'शुद्धा और 'गौणी' का भेदक धर्म **'उपचार'** कहते हैं। मम्मट के अनुसार उपचार से रहित लक्षणा 'शुद्धा' है और उपचार से युक्त लक्षणा 'गौणी' है। 'उपचार का लक्षण इस प्रकार है — **'उपचारो हि नाम अत्यन्तं विशकलितयोः पदार्थयोः — सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीति—स्थगनमात्रम्'** — अत्यन्त भिन्न दो पदार्थों में अतिशय सादृश्य के कारण उनमें भेद की प्रतीति का न होना ही 'उपचार' है। जैसे किसी बालक के वीरता, क्रूरता आदि के अत्यन्त सादृश्य के कारण **'सिंहो माणवकः'** आदि प्रयोग, उपचार—मूलक ही किये जाते हैं। इसलिए उन्हें **'गौण—प्रयोग'** कहते हैं। ऐसे औपचारिक प्रयोगों में **'गौणीलक्षणा'** की जाती है। जहाँ सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त सामीप्य आदि किसी अन्य सम्बन्ध से जो लक्षणा होती है उसे **'शुद्धा'** लक्षणा कहते हैं। गौणी भी मुख्यार्थ—बाध आदि तीनों हेतुओं के रहने पर ही होती है। अतः रस आदि की प्रतीति गौणी वृत्ति का भी विषय नहीं है। क्योंकि काव्य में मुख्यार्थ का बाध आदि हेतु उपस्थित ही नहीं है। इसी को वृत्तिकार ने संक्षेप में **'अतएव सिंहो ...... नेयं प्रतीति'** के द्वारा प्रतिपादित किया है।।

यदि वाच्यत्वेन रसप्रतिपत्तिः स्यात् तदा केवलवाच्यवाचकभावमात्र-व्युत्पन्नचेतसामप्यरसिकानां रसास्वादो भवेत् ।

न च **काल्पनिकत्वम्**, अविगानेन सर्वसहृदयानां रसास्वादोद्भूते । अतः केचिदभिधालक्षणागौणीभ्यो वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यो व्यतिरिक्तं व्यञ्जकत्वलक्षणं शब्दव्यापारं रसालङ्कारवस्तु विषयमिच्छन्ति ।

यदिवाच्येति। {इसके अतिरिक्त यह है कि –} यदि वाच्यरूप से अर्थात् अभिधाशक्ति के द्वारा रस की प्रतीति होने लगे तब तो केवल **वाच्य–वाचक भाव** अर्थात् काव्य के शब्दार्थ ज्ञान सम्पन्न अव्युत्पन्न चित्तवालों–अरसिकजनों–को भी काव्य का रसास्वाद होने लगेगा। {यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि काव्योपात्त शब्द रस के वाचक हैं तथा रस वाच्यार्थ है, तो जिस व्यक्ति को काव्य में प्रयुक्त शब्दों का वाच्यार्थ, साक्षात् संकेतित अर्थ मात्र का ज्ञान है, तो उसे रसचर्वणा निश्चय ही होगी। किन्तु ऐसा नहीं होता। क्योंकि केवल वाच्यार्थ का ज्ञान रखने पर काव्य के रसानन्द का अनुभव सहृदय को ही होता है, अरसिकजन को नहीं। इस आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रस वाच्यार्थ नहीं है, और न काव्य व रस में वाच्य–वाचक भाव सम्बन्ध ही है । इसी को **आनन्दवर्धन** ने **ध्वन्यालोक** (का ७) में प्रथम उद्योत इस प्रकार समझाया है – **'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणेव न वेद्यते । वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥'** }

(३) **नचेति।** और रस आदि की प्रतीति काल्पनिक भी नहीं है। क्योंकि सभी सहृदयजनों को (नाटक आदि को देखने के अवसर पर) बिना किसी विघ्न–बाधा के समान रूप से रसास्वादन होता रहता है। {यदि ऐसा नहीं होता अर्थात् यदि रस काल्पनिक होता, तो उसकी प्रतीति–(रसास्वादन) इने–गिने व्यक्तियों को ही हो पाती, जिन्हें कवि की उस कल्पना या उस कल्पित संकेतों का ज्ञान होता है। किन्तु ऐसा नहीं होता। जब सभी सहृदयजनों को समानरूप से रसास्वादन होता है, तब निश्चय से रस काल्पनिक नहीं है।}[1] अतः कुछ आचार्य (अर्थात् ध्वनिवादी आचार्य) अन्य अर्थों का बोध कराने में निश्चित शक्तियों वाली अभिधा, लक्षणा तथा गौणी वृत्तियों से नितान्त भिन्न 'व्यञ्जनात्मक' शब्द–वृत्ति–(व्यापार) को मानते हैं। उनके मतानुसार **रस, अलङ्कार तथा वस्तु** की प्रतीति इसी **व्यञ्जनात्मक** शब्द–व्यापार द्वारा संभव होती है। (अर्थात् व्यञ्जना का विषय अर्थ तीन प्रकार का होता है – (१) **रस** (२) **वस्तु** और (३) **अलंकार** । ध्वनि के (व्यंग्यार्थ–रस) अनेक भेदों में तीन ही ध्वनियाँ प्रधान होती हैं – (१) **रसध्वनि**, (जिसमें रस की व्यञ्जना होती है) (२) **वस्तु ध्वनि**

---

१. **आचार्य विश्वनाथ** ने व्यङ्ग्यार्थ को काल्पनिक मानने वालों के मत को कल्पना के स्थान पर **'सूचनबुद्धि'** का प्रयोग करते हुए खण्डित किया है – 'किञ्च, वस्त्रविक्रयादौ तर्जनीतोलनेन दशसंख्यादिवत् सूचन बुद्धिवेद्योऽप्ययं न भवति। (सा० द० परिच्छेद ५ पृ० ३५७) अर्थात् व्यङ्ग्य प्रतीति को 'सूचन–बुद्धि' का भी विषय नहीं माना जा सकता अतः रस अनुमेय (काल्पनिक) नहीं अपितु एकान्ततः अभिव्यंग्य अथवा रसनीय काव्यार्थ है।

तथा हि विभावानुभावव्यभिचारिमुखेन रसादिप्रतिपत्तिरुपजायमाना कथमिव वाच्या स्यात् ? यथा कुमारसम्भवे—

विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ।।' (३.६८)

इत्यादावनुरागजन्यावस्थाविशेषानुभाववद् गिरिजालक्षणविभावोपवर्णनादेवा-ऽशब्दापि शृङ्गारप्रतीतिरुदेति। रसान्तरेष्वप्ययमेव न्यायः । न केवलं रसेष्वेव यावद्वस्तु-मात्रेऽपि । यथा —

(जिसमें किसी सामान्य वस्तु या बात का कथन की ध्वनि होती है; (३) **अलंकार-ध्वनि** (जिसमें किसी अलंकार की अभिव्यक्ति व्यंग्यार्थ के रूप में होती है।

{ जैसा कि पूर्व में बताया है कि ध्वनिवादियों के विचारानुसार प्रतीयमान अर्थ अभिधादि शक्तियों के द्वारा प्रतीत नहीं हो सकता, तदर्थ **व्यञ्जना** नामक व्यापार की कल्पना करनी पड़ेगी। उनके इस विचार को स्पष्ट करने हेतु **धनिक** ने तीन उदाहरणों को प्रस्तुत किया है।}

१. रसव्यञ्जना —

तथा हीति। वस्तुतः काव्य में विभाव — अनुभाव — व्यभिचारीभाव के निबन्धन से रस की प्रतीति होती है । **भाव** या **रस** वाचक शब्दों से नहीं। इसलिए **'रस'** शब्दों या काव्य का वाच्यार्थ नहीं है। इसे ही स्पष्ट करने के लिए **कुमारसम्भव** के इस पद्य को प्रस्तुत किया गया है —

विवृण्वतीति। { जब कामदेव ने शंकर को अपने बाणों का लक्ष्य बनाया।} 'शङ्कर की दृष्टि पड़ते ही पार्वती का संपूर्ण अंग प्रफुल्लित कोमल कदम्ब के पुष्प की तरह रोमांचित हो उठा, जिससे उनके हृदय का (शंकर के प्रति) मधुरभाव छिप न सका। उनकी आँखें लज्जावश झुक गई और वह थोड़ी तिरछी सी होकर खड़ी रह गई। इस अवसर पर उनका मुख और भी सुन्दर परिलक्षित होने लगा ।'

इत्यादाविति। उक्त पद्य में शङ्करभगवान् विषयक **रतिभाव** के आलम्बन विभावरूप **पार्वती** का वर्णन कवि ने किया है। पार्वतीरूप **विभाव** में शंकर के प्रति उनके हृदय में निहित अनुरागवश उत्पन्न **अनुभावों**, अंगों में उभरे हुए पुलक, नेत्रों की चञ्चलता, मुख का साचीकरण आदि को कवि ने अंकित किया है। पार्वती का यह वर्णन अनुभावों के साथ शृङ्गार की प्रतीति कराता है। यद्यपि (रत्यादि वाचक) शब्द पद्य में प्रयुक्त नहीं हैं, फिर भी शृङ्गार की प्रतीति सहजगत्या हो जाती है। यह उपर्युक्त नियम (बात) केवल शृङ्गार के बारे में ही नहीं है। अन्य रसों के विषय में भी लागू होता है ।

२. वस्तुव्यञ्जना —

न केवलमिति। यह नियम केवल रस विषयक ही हो ऐसी बात नहीं है इस हेतु रस ही नहीं वस्तु (अथवा अलंकार) जहाँ प्रतीयमानरूप में प्रतीत होते हैं, वहाँ शब्द के वाचक न होने पर भी उनकी प्रतीति होती ही है।

'भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरअसीहेण ।।'
('भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छ कुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ।।')

इत्यादौ निषेधप्रतिपत्तिरशब्दापि व्यञ्जकशक्तिमूलैव ।

तथालङ्कारेष्वपि — {आनन्दवर्धनस्य} —

{ वह प्रतीयमान (अर्थ) वाच्य से अलग ही है। वस्तु—ध्वनि को वाच्य से अलग दिखाने के लिए **वृत्तिकार धनिक** ने इस गाथा को प्रस्तुत किया है। इसमें शब्द के वाचक न होने पर भी **वस्तु—व्यञ्जना** को बताया गया है — इसमें किसी सामान्य वस्तु या बात या कथन की ध्वनि होती है}

यथेति। 'हे धार्मिक पण्डित जी ! गोदावरी के तट पर स्थित कुंज में रहने वाले मदमत्त सिंह ने आज { आपको तंग करने वाले} उस कुत्ते को मार डाला है। अब आप निश्चिन्त होकर भ्रमण कीजिए ।'

इत्यादाविति। इस गाथा में निषेध—वाचक किसी भी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इस श्लोक का **वाच्यार्थ** तो **विधिरूप** ही है, परन्तु जो उससे **प्रतीयमान** अर्थ {वस्तु—ध्वनि} है, वह **निषेधरूप** है। इसलिए वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ अत्यन्त भिन्न है । अतः यह प्रतीति व्यञ्जनाशक्तिमूलक ही है ।

परामर्श — कोई नायिका अपने प्रियतम से गोदावरी के तट पर स्थित किसी कुञ्ज में मिला करती थी। कोई धार्मिक (पण्डित) भ्रमण के लिए वहीं जाया करते थे। इस कारण उस कुलटा की प्रेम—लीला में विघ्न उपस्थित होता था। वह पण्डित के उस स्थान पर आना पसंद नहीं करती थी। वह धार्मिक कुत्ते से बहुत डरते थे। उस युवती ने सीधा निषेध न करके उस प्रदेश में मत्तसिंह की उपस्थिति की सूचना द्वारा पण्डितजी को भयभीत कर उनके रोकने का यह मार्ग निकाला है। अतः सिंह द्वारा उस कुत्ते को मार डालने की असत्य सूचना उस युवती ने पण्डितजी को दी। उसके कहने का एक विशेष ढंग है। वह कहती है कि पंडितजी ! वह कुत्ता जो आपको रोज तंग किया करता था, कुंज में रहने वाले सिंह ने मार डाला है, अतः अब आप निर्भय होकर भ्रमण किया करें। इस प्रकार इस गाथा का वाच्यार्थ तो **विधिरूप है** — **'स्वच्छन्द विचरण किया करें'** किन्तु **व्यङ्ग्यार्थ निषेध** परक है, अर्थात् वह पण्डितजी से कहती है — **'कभी भूलकर भी इधर पैर न रखना,** नहीं तो फिर आपकी कुशल नहीं। अतः यहाँ वस्तु (कथन) के द्वारा प्रतीयमान अर्थ की व्यंजना कराई गई होने से यहाँ **वस्तु व्यञ्जना** है।

३. अलङ्कार—व्यञ्जना —

. **तथेति।** यही बात **अलङ्काररूप** प्रतीयमान **अर्थ** के विषय में भी कही जा सकती है। जैसे —

'लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥' (ध्वन्या ० २.२७)

इत्यादिषु 'चन्द्रतुल्यं तन्वीवदनारविन्दम्' इत्याद्युपमाद्यलङ्कारप्रतिपत्तिव्यञ्जकत्वनिबन्धनीति ।

न चासावर्थापत्तिजन्या, अनुपपद्यमानार्थापेक्षाभावात् । नापि वाक्यार्थत्वम्,

---

लावण्येति। 'हे चञ्चल आयताक्षी ! सभी दिशाओं को अपने लावण्य (सौन्दर्य) की कान्ति से उज्ज्वल बना देने वाले, मुस्कराते हुए तुम्हारे मुखमण्डल को देखकर भी यह समुद्र किञ्चित् भी क्षुब्धावस्था को प्राप्त नहीं होता, इस बात को देखकर मैं समझता हूँ कि समुद्र निश्चय ही जड़राशि है। {जल का समूह, मूर्ख है, श्लेष की दृष्टि से 'ल और 'ड' का अभेद मान लिया जाता है।}॥

{तात्पर्य यह है कि हे सुन्दरी! तुम्हारा मुख पूर्ण चन्द्रमा है। समुद्र पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखकर चञ्चल और क्षुब्ध होता है किन्तु तुम्हारे मुखरूपी पूर्णचन्द्र को देखकर उसका चञ्चल न होना उसके जल–जडत्व को पुष्ट कर देता है। तुम्हारे लावण्य को देखकर किसका मन चञ्चल न हो उठेगा। यदि कोई व्यक्ति चञ्चल न हो, तो वह मेरे विचार में निश्चय ही मूर्ख–जड़ है।}

इत्यादिष्विति। इत्यादि पद्य में **'तन्वी का मुखकमल चन्द्र के समान है'** यह उपमादि अलंकार की प्रतिपत्ति व्यञ्जना व्यापार से ही होती है ।

{अर्थात् इस पद्य में ऐसी कोई पदावली प्रयुक्त नहीं है, जिससे कि उसके अर्थ को शाब्दिक या वाच्य कहा जा सके। इसलिए इस उपमा अलङ्कार रूप अर्थ को अभिधा का विषय न मानकर व्यञ्जना प्रतिपाद्य ही कहना पड़ेगा ।}

{इस पर यदि कोई यह कहे कि उपर्युक्त प्रतीति अर्थापत्तिमूलक है, इस हेतु व्यञ्जनाशक्ति की कल्पना करना निराधार है।} **ध्वनिवादि इसका उत्तर देते हुए कहते हैं –**

न चासविति। यह {अर्थात् प्रतीयमान अर्थ–रस–भाव–आदि की प्रतीति} अर्थापत्ति जन्य भी नहीं हो सकती, (अर्थापत्ति से भी नहीं हो सकती।) क्योंकि (रस प्रतीति के लिए) अनुपपद्यमान अर्थ की अपेक्षा नहीं होती है। दूसरे शब्दों में इसे ऐसा कहा जा सकता है कि इस प्रतीति (रसप्रतीति) को अर्थापत्तिजन्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अर्थापत्ति के लिए अनुपपद्यमान अर्थ की अपेक्षा रहती है। नियमानुसार अर्थापत्ति तो वहीं लागू होती है जहाँ एक अर्थ अनुपपन्न हो रहा हो।

{ यहाँ हम पहले **'अर्थापत्ति'** को समझ लेते हैं। क्योंकि कुछ लोग व्यङ्ग्यार्थ को अर्थापत्ति जन्य मान लेते हैं, उनका इस प्रकार मानना कहाँ तक ठीक है, देखते हैं – मीमांसक विद्वान् 'प्रत्यक्ष, अनुमान' आदि प्रमाणों के समान

व्यङ्ग्यस्य तृतीयकक्षाविषयत्वात् । तथा हि—'भ्रम धार्मिक' इत्यादौ पदार्थविषयाभिधा—लक्षणप्रथमकक्षातिक्रान्तक्रियाकारकसंसर्गात्मकविधिविषयवाक्यार्थकक्षातिक्रान्ततृतीय —कक्षाक्रान्तो निषेधात्मा व्यङ्ग्यलक्षणोऽर्थो व्यञ्जकशक्त्यधीन: स्फुटमेवावभासते । अतो नासौ वाक्यार्थ: ।

'अर्थापत्ति' को भी स्वतन्त्र प्रमाण मानने के पक्ष में है। उनके अनुसार अर्थापत्ति का लक्षण — **'अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः।'** — इस प्रकार है। किसी अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना जिस प्रमाण के द्वारा की जाती है, उसे **'अर्थापत्ति'** कहते हैं। जैसे — **'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'** — यहाँ पर **'देवदत्त मोटा है ।'** — यह अनुपपद्यमान अर्थ है, और 'रात्रि में भोजन' उसका 'उपपादक अर्थ' है। क्योंकि देवदत्त यदि दिन में न खाय और 'रात में' भी न खाय तो वह मोटा नहीं हो सकता। इसलिए यहाँ पर अनुपपद्यमान अर्थ (दिवा अभुञ्जान व्यक्ति का पीनत्व) को देखकर उसके उपपादक अर्थ — **'रात्रि में भोजन की कल्पना'** अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा कर ली जाती है। इसी मार्ग से या प्रकार से व्यङ्ग्यार्थ—रसादि की भी प्रतीति हो सकती है — यह व्यञ्जना विरोधी का मत है।}

नापीति। वस्तुत: व्यङ्ग्य (प्रतीयमान—रस आदि रूप अर्थ) को वाक्य का अर्थ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह व्यङ्ग्यार्थ तृतीयकक्षा का विषय है। जैसे— **'भ्रम धार्मिक विश्रब्ध:'** इत्यादि स्थल में सर्वप्रथम अभिधाशक्ति के द्वारा प्रत्येक पद के व्याच्यार्थ का ज्ञान होता है। इसे ही प्रथम कक्षा या प्रथमक्षण कहा जाता है। {अर्थात् इस प्रथमक्षण में काव्योपात्त समस्त पद अभिधा से अपना—अपना वाच्यार्थ बता देते हैं।} इस प्रथमक्षण या कक्षा को पार कर लेने के पश्चात् दूसरे क्षण या कक्षा में समस्त वाक्य में क्रिया तथा कारक के संसर्ग या अन्वय के द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, अर्थात् क्रिया तथा कारक के संसर्ग स्वरूप — **'स्वच्छन्द भ्रमण करो'** — इस प्रकार विधिविषयक वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। यह द्वितीय क्षण विधि का ज्ञान करा देता है। इसके पश्चात् अर्थात् द्वितीय क्षण या कक्षा पार कर लेने पर तृतीय क्षण या कक्षा में **'भ्रमणनिषेध'** रूप (कभी भूल कर भी इधर पैर न रखना)' यह — व्यञ्जना वृत्ति के आधार पर व्यंग्यार्थ स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जाता है। इस प्रकार द्वितीय क्षण में ज्ञात होने वाले इस वाक्यार्थ से तृतीय क्षण में ज्ञात होने वाला निषेधरूप व्यंग्यार्थ सदैव भिन्न होता है। इसलिए व्यंग्यार्थ और वाक्यार्थ एकदम भिन्न—भिन्न है। इसलिए यह रस आदि व्यङ्ग्य—अर्थ वाक्यार्थ नहीं है।

{प्रथम क्षण या कक्षा में काव्योपात्त समस्त पद अपना—अपना वाच्यार्थ का स्वतंत्ररूप से परिचय देते हैं, द्वितीय क्षण या कक्षा में वाक्य के समस्त पद आकाङ्क्षा, योग्यता तथा आसत्ति के आधार पर अर्थात् कारक—क्रिया के आधार पर, अन्वित होकर संपूर्ण वाक्य का अर्थ ज्ञात—बोध कराते हैं इसके पश्चात् तृतीय क्षण में व्यञ्जना वृत्ति के आधार पर व्यंग्यार्थ—रसादि की प्रतीति होती है।}

परामर्श — इसके पूर्व बताया जा चुका है कि एक बार उच्चरित वाक्य एक ही अर्थ को ज्ञात कराकर निवृत्त हो जाता है। पुनः दूसरे अर्थ को बोधित कराने के लिए पुनः वाक्य को विचारार्थ प्रस्तुत (उपस्थापन) किया जाता है। नियम के अनुसार कहा गया है कि — (१) **'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति।'** (२) **शब्द बुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभावः।'** अर्थात् शब्द, बुद्धि तथा कर्म की स्थिति एक ही क्षण तक रहती है। अर्थात् पदार्थों का परिचय देने वाली (प्रत्यायक) अभिधा का क्षेत्र तो केवल वाच्यार्थ तक ही सीमित रहता है । दूसरे क्षण में वाक्यार्थ बुद्धि के ज्ञान का विषय बनकर तत्काल समाप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में तीसरे क्षण में बुद्धि के सम्मुख जो अर्थ उपस्थित होता है, वह वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ न होकर उनसे भिन्न व्यंग्यार्थ होता है, जिसका ज्ञान व्यञ्जना वृत्ति के आधीन होता है।

यहाँ ध्यातव्य यह है कि **दशरूपककार धनञ्जय** और **वृत्तिकार धनिक** रस आदि की प्रतीति को वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) के रूप में स्वीकार करते हैं। जैसा कि **दशरूपक** के इसी प्रकाश की **३७वीं कारिका** में स्पष्ट रूप से **धनञ्जय** ने कहा है कि विभावानुभाव व्यभिचारी के द्वारा स्थायीभाव काव्य के वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) के रूप में ही प्रतीत होता है। **मीमांसकों** के मतानुसार रस आदि की प्रतीति वाक्यार्थ के रूप में ही होती है। **ध्वनिवादी आचार्यों** ने **मीमांसकों** के इस मत का खण्डन किया है। परन्तु धनञ्जय एवं धनिक ने बड़े ही मनायोग से ध्वनिवादियों का मुख—स्तम्भन किया है । इस हेतु ध्वनिवादियों द्वारा किये गए खण्डन को इस ग्रंथ में पूर्वपक्ष के रूप में उपन्यस्त किया गया है।

वाक्यार्थ—बोध — वाक्यार्थ का बोध कैसे होता है ? **कुमारिलभट्ट** की धारा के अनुयायी विद्वान् **'अभिहितान्वयवाद'** को मानते है और **प्रभाकर 'गुरु'** की धारा के अनुयायी विद्वान् **'अन्विताभिधानवाद'** को मानते हैं।

अभिहितान्वयवाद — इस सिद्धान्त के अनुसार प्रथमतः पदों से पदार्थों की प्रतीति **अभिधाशक्ति** से होती है। तत्पश्चात् उन अभिहित पदार्थों को परस्पर सम्बन्ध वाक्यार्थ मर्यादा से उपस्थित होता है, जो पदों से उपस्थित नहीं हुआ था अतः प्रथमतः पद अपनी अभिधाशक्ति के द्वारा पदार्थों का बोधन करते हैं। तदनन्तर वक्ता के तात्पर्य के अनुरोध से उनका आपस में अन्वय (सम्बन्ध) होता है। तब उससे वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। इस रीति से वाक्यार्थ बोध होने में अभिधा शक्ति से अभिहित पदार्थों का अन्वय मानने के कारण **कुमारिलभट्ट** के सिद्धान्त को **'अभिहितान्वयवाद'** कहते हैं। इस सिद्धान्त में पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध वक्ता के तात्पर्य के अनुसार होता है, इसलिए उस सम्बन्ध को तात्पर्यार्थ कहते हैं तथा उसी को वाक्यार्थ भी कहते हैं। उस वाक्यार्थ की बोधक शक्ति को **'तात्पर्याख्या वृत्ति'** कहते हैं। यह शक्ति पूर्वोक्त तीनों शक्तियों से भिन्न चौथी शक्ति है। इसका उल्लेख **तन्त्रवार्तिक** की व्याख्या **न्यायसुधा** में **सोमेश्वरभट्ट** भाट्टचिंतामणि में गागाभट्ट ने किया है। मीमांसकों की दृष्टि से वह तीसरी ही है, क्योंकि मीमांसक व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार नहीं करते हैं।

तात्पर्य यह है कि वाक्य में आये हुए पद सर्वप्रथम अभिधा शक्ति के द्वारा अपने अर्थ की प्रतीति कराते है। यही पहली कक्षा है। तदनन्तर अभिधा शक्ति के

ननु च तृतीयकक्षाविषयत्वमश्रूयमाणपदार्थतात्पर्येषु 'विषं भुङ्क्ष्व' इत्यादिवाक्येषु निषेधार्थविषयेषु प्रतीयत एव वाक्यार्थः। न चात्र व्यञ्जकत्ववादिनापि वाक्यार्थत्वं नेष्यते तात्पर्यादन्यत्वाद् ध्वनेः । तन्न, स्वार्थस्य द्वितीयकक्षायामविश्रान्तस्य

द्वारा उपस्थित हुए पदों के अर्थों का **आकाङ्क्षा, योग्यता** एवं **सन्निधि** के आधार पर परस्पर अन्वय होता है। परिणामतः पदों के अन्वय से एक ऐसे अर्थ की प्रतीति होती है, जो पदों का अर्थ न होते हुए भी वाक्यार्थ होता है – इसी अभिप्राय को काव्यप्रकाशकार ने **'तात्पर्यार्थो विशेषवपुः अपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसति'** – इन शब्दों से कहा है। तात्पर्या वृत्ति के द्वारा प्रतीत होने वाला यह वाक्यार्थ दूसरी कक्षा का है। संक्षेप में यह **अभिहितान्वयवादियों (कुमारिल भट्ट के अनुयायियों)** का मत है।

अन्विताभिधानवाद – वाक्यार्थ बोध के सम्बन्ध में दूसरी धारा **'अन्विताभिधान'** के नाम से प्रसिद्ध है। यह धारा **प्रभाकरमत** के अनुयायियों की है। इस धारा के अनुसार प्रथमतः ही अभिधाशक्ति के द्वारा वाक्यगत **पद, 'अन्वित पदार्थों** को ही बताते हैं इसीलिए इसे **'अन्विताभिधान'** कहा गया है। क्योंकि **'अन्वित अर्थ'** का ही इसमें **अभिधान** (अभिधा शक्ति के द्वारा प्रतिपादन) होता है। इस सिद्धान्त में पदार्थों का अन्वय कराने के लिए 'तात्पर्या वृत्ति' मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि अर्थों का अन्वय तो पहले से ही सिद्ध हैं {संक्षेप में इनके अनुसार पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ–वाच्य ही होता है। अतः उसे बोधित कराने के लिए तात्पर्याशक्ति की आवश्यकता नहीं होती}

प्रभाकर मत अर्थात् अन्विताभिधानवाद–में **वाक्यार्थ** और **वाच्यार्थ** एक ही है, भिन्न–भिन्न नहीं है। और **भाट्टमत** (अर्थात् अभिहितान्वादियों के मत) में **वाक्यार्थ** और **वाच्यार्थ** भिन्न–भिन्न हैं, दोनों एक नहीं है। ध्वनिवादी के विचार में वाक्यार्थ द्वितीय क्षण या कक्षा में समाप्त हो जाता है और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति द्वितीय क्षण या कक्षा के पश्चात् होती है, अर्थात् तृतीय क्षण या कक्षा में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। ऐसी स्थिति में व्यङ्ग्यार्थ वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में व्यङ्ग्यार्थ को वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ में ही सम्मिलित नहीं किया जा सकता (जैसा कि धनञ्जय और धनिक चाहते हैं।) यहाँ उल्लेखनीय यह है कि ध्वनिवादी के इसी विरोध को धनिक ने पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है।

{ तात्पर्यार्थ में ही व्यङ्ग्यार्थ का समावेश करने वाला **ध्वनि विरोधी** कहता है कि –}

ननु चेति। ध्वनिविरोधी के विचार में वाक्यार्थ भी तृतीय कक्षा का ही विषय होता है। जैसे – जिन वाक्यों का तात्पर्य वाक्य में अप्रयुक्त (अश्रूयमाण) शब्दों के अर्थ में होता है, वहाँ वाक्य का अर्थ तृतीय कक्षा का ही विषय होता है; जैसे – **'विषं भुङ्क्ष्व'** अर्थात् **'विष खालो'** इत्यादि वाक्यों में, वाक्य का अर्थ (तात्पर्य) {पर, **'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः'** इसके घर न खाना} निषेधार्थ विषय में है। वहाँ वाक्यार्थ

तृतीयकक्षाभावात् । सैव निषेधकक्षा। तत्र द्वितीयकक्षाविधौ क्रियाकारकसंसर्गानुपपत्तेः। प्रकरणात् पितरि वक्तरि पुत्रस्य विषभक्षणनियोगाभावात्।

की तृतीय कक्षा ही है। और, यहाँ पर व्यञ्जनावादी को भी निषेधरूप वाक्यार्थ स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि ध्वनिवादी के अनुसार ध्वनि तो तात्पर्य से नितान्त भिन्न है। {इसलिए यह निषेधार्थ प्रतीति ध्वनि का विषय नहीं हो सकती।}

तत्रेति – {**ध्वनिवादी** का उत्तर–} नहीं, यह – (इस प्रकार कहना) कथन–ठीक नहीं है। कारण यह है कि जब तक द्वितीय कक्षा में वाक्य के अर्थ की परिसमाप्ति नहीं हो जाती तब तक तृतीय कक्षा का अभाव ही रहता है, अर्थात् तृतीय कक्षा प्रारम्भ ही नहीं होती। इसलिए यहाँ निषेधार्थ को बतलाने वाली वही (अर्थात्) द्वितीय कक्षा ही है। **'विषं भुंक्ष्व'** 'विष खालो' – इस विधिपरक वाक्य में (तत्र) द्वितीय कक्षा में {विषखालो' इस प्रकार का} विधिरूप अर्थ ग्रहण करने पर क्रिया एवं कारक का परस्पर अन्वय ठीक रीति से नहीं बैठ पाता । क्योंकि अभिधाशक्ति से प्राप्त होने वाले वाक्यार्थ से जिज्ञासा समाप्त नहीं हो पाती । क्योंकि प्रकरण के अनुसार इस वाक्य के द्वारा आदेश देने वाला पिता है, और पिता अपने पुत्र को विष खा लेने का आदेश (नियोग) नहीं दे सकता ।

परामर्श – ध्वनि विरोधी ध्वनिवादियों से कहता है कि वाक्यार्थ तो तृतीय कक्षा में ही जाकर समाप्त होता हैं उसके द्वितीय कक्षा में परिसमाप्त होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। उदाहरणार्थ 'विषं भुंक्ष्व' इस वाक्य को देखा जा सकता है। (१) **विषं भुंक्ष्व'** तथा (२) **'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः'** { अर्थात् विष खा लो, पर इसके घर मत खाना।) वस्तुतः प्रथम वाक्य – **'विषं भुंक्ष्व'** – का तात्पर्य भी (२) दूसरे वाक्य (**मा चास्य गृहे भुंक्थाः**) के अर्थ में ही निहित है। क्योंकि **'विषं भुंक्ष्व'** इस वाक्य का अर्थ, **'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः'** – इस निषेधार्थरूप तात्पर्यार्थ पर जाकर ही विश्रान्त हो जाता है। इसलिए निषेधार्थ की प्रतीति द्वितीय कक्षा में ही हो जाती है। ऐसी स्थिति में अर्थात् द्वितीय कक्षा के परिसमाप्त हुए बिना ही–इस निषेध रूप अर्थ की तृतीय कक्षा में प्रकट होने की बात उचित नहीं है। इस प्रकार वहाँ तृतीय कक्षा की उपस्थित होने की बात ही नहीं है। यह ज्ञान प्रकरण को देखने पर हो जाता है। यह वाक्य – **'विषं भुंक्ष्व', 'माचास्य गृहे भुङ्क्थाः'** – पिता ने पुत्र को कहा है। पिता होने के कारण वह यह कभी नहीं चाहेगा कि उसका पुत्र विष खाए। अतः **'भुंक्ष्व'** क्रिया के साथ **'त्वं'** कर्ता के कर्म **'विषं'** के कारकों का ठीक अन्वय नहीं हो पाता है। क्योंकि पुत्र के लिए पिता का यथार्थ रूप में विष खाने का आदेश नहीं है। अपितु शत्रु के घर न खाने का निषेधार्थ रूप तात्पर्य है। इस प्रकार वाक्य का संपूर्ण अर्थ द्वितीय कक्षा का ही विषय है। इसलिए ध्वनिवादी ध्वनि विरोधी से कहता है कि आपका इस प्रकार कहना कि 'वाक्यार्थ की परिसमाप्ति तृतीय कक्षा में होती है' सर्वथा मान्य नहीं हो सकता । {धनञ्जय एवं वृत्तिकार धनिक दोनों ही रस एवं अलंकार आदि की प्रतीति को वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) के रूप में मानते हैं। अपने इस

रसवद्वाक्येषु च विभावप्रतिपत्तिलक्षणद्वितीयकक्षायां रसानवगमात्। तदुक्तम् —

'अप्रतिष्ठमविश्रान्तं स्वार्थे यत्परतामिदम् ।
वाक्यं विगाहते तत्र न्याय्या तत्परताऽस्य सा ।।
यत्र तु स्वार्थविश्रान्तं प्रतिष्ठां तावदागतम् ।
तत्प्रसर्पति तत्र स्यात् सर्वत्र ध्वनिनां स्थितिः ।।'

इत्येवं सर्वत्र रसानां व्यङ्ग्यत्वमेव । वस्त्वलङ्कारयोस्तु क्वचिद्वाच्यत्वं क्वचिदव्यङ्ग्यत्वम् । तत्रापि यत्र व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येन प्रतिपत्तिस्तत्रैव ध्वनिः, अन्यत्र

विचार को उन्होंने चतुर्थ प्रकाश की **कारिका ३७** में उपन्यस्त किया है। धनिक ने ध्वनिकार के मत को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है और साथ ही साथ उसका खण्डन भी।}

रसवद्वाक्येष्विति। किन्तु रसान्वित वाक्यों में {रसवद्वाक्येषु} विभाव, अनुभाव, तथा सञ्चारीभाव का बोध द्वितीय कक्षा में होता है, किन्तु विभावादि के ज्ञान वाली द्वितीय कक्षा में रस की प्रतीति नहीं होती, {क्योंकि विभावादि तो रस प्रतीति के साधन हैं, अतः रस की प्रतीति विभाव आदि के पश्चात् अर्थात् उनका प्राग्भाव होने पर— तृतीय कक्षा में होती है} जैसा कि (**ध्वनिकार** ने) कहा है —

अप्रतिष्ठमिति। ''जब तक वाक्य अपने अर्थ पर परिसमाप्त नहीं हो जाता {अविश्रान्त} तथा पूरी तरह सम्यक् रीति से नहीं बैठ जाता है, {**अप्रतिष्ठितं** } तब तक वह वाक्य जिस अर्थ तक पहुँचकर विश्रान्त होता है, उस वाक्य का (**अस्य**) उसी (समाप्त—विश्रान्त होने वाले) अर्थ में तात्पर्य मानना न्याय्य है। किन्तु जब वाक्य अपने अर्थ में विश्रान्त हो जाता है तथा अच्छी तरह बैठ भी जाता है, और फिर वाक्यार्थ उससे आगे जिस किसी भी अर्थ में पहुँचता है (**प्रसर्पति**) तब उस आगे के अर्थ में उस वाक्य की स्थिति व्यंजना से ही होती है। अर्थात् अन्तिम व अग्रिम अर्थ व्यङ्ग्य ही होता है, क्योंकि वाक्यार्थ तो पहले ही विश्रान्त हो चुका होता है, इसलिए यह अन्य अर्थ व्यङ्ग्य ही होता है ।'

इत्येवमिति। इस प्रकार सर्वत्र रस व्यङ्ग्य ही होता हैं, किन्तु वस्तु और अलङ्कार तो कहीं वाच्य और व्यङ्ग्य भी होते हैं। रस आदि के व्यङ्ग्य होने पर भी (तत्रापि) जहाँ व्यंग्य अर्थ का प्राधान्य रहता है अर्थात् जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानरूप से प्रतीति होती है, वहीं, 'ध्वनि' होती है। अन्यत्र—अर्थात् जहाँ व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य नहीं होता है, (गौण हो जाता है) वहाँ वह (ध्वनि) गुणीभूत व्यङ्ग्य हो जाता है। जैसा कि (ध्वनिकार ने) कहा है —

यत्रेति। जहाँ (जिस काव्य में) अर्थ स्वयं अपने को तथा शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यञ्जित करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वानों ने 'ध्वनि' कहा है।' (ध्वन्यालोक १.१३) 'जहाँ (जिस काव्य में) वाक्यार्थ (वाच्यार्थ) के प्रधान होने पर, रसादि (रस, वस्तु, या अलङ्कार, अथवा रस, भावादि) उसके अङ्गभूत हो जाते हैं, वहाँ (उस काव्य में) (रसादि) रसवत् आदि

गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् । तदुक्तम् –

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।
प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ।।

यथा – 'उपोढरागेण' इत्यादि ।

अलङ्कार बन जाते हैं, ऐसा मेरा मत है। {जहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का अङ्ग हो जाता है, वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक काव्य होता है।} (ध्वन्यालोक २।५)

{उपर्युक्त कारिकाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभावादि रूप वाक्यार्थ परिसमाप्त होने पर, प्रतीत होने वाला 'रस' व्यङ्ग्य ही होता है। वाक्यार्थ कदापि नहीं। किन्तु वस्तु और अलङ्कार के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वे कहीं व्यङ्ग्यरूप में होते है और कहीं वाच्य के रूप में परिलक्षित होते हैं परन्तु रस सदा व्यङ्ग्य ही रहता है। 'ध्वनि' वहीं होती है, जहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से प्रधान रहता है। और अन्यत्र वाच्यार्थ से समकक्ष रहने पर या वाच्यार्थ के प्रधान होने पर वहाँ व्यङ्ग्यार्थ गौण होगा, ऐसी स्थिति में जिन काव्यों में वाच्यार्थ प्रधान होता है, वे काव्य गुणीभूत व्यङ्ग्य की कोटि के ही कहलायेंगे।}

यथेति जैसे – 'उपोढरागेण' आदि पद्य में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का अङ्ग हो गया है, तथा प्राधान्य वाच्यार्थ का ही है। इसलिए यहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य है।

परामर्श – ध्वनिकार ने काव्य के **'ध्वनि'** (उत्तम) **'गुणीभूतव्यङ्ग्य'** (मध्यम) और **'चित्र काव्य'** (अधम) के नाम से तीन भेद किये हैं। ये भेद व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता और अप्रधानता के आधार पर किये गए हैं। (१) **ध्वनिकाव्य** में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार जनक तथा प्रधान होता है। (देखिए काव्य प्रकाश (१।२)। (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण – 'उपोढरागेण'– इत्यादि ही है। यह पूर्ण श्लोक इस प्रकार है – 'उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिनानिशामुखम्।। यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ।।' (ध्वन्या० १।१३)

अर्थ इस प्रकार है – 'सायंकालीन लालिमा को धारण किए हुए (अथवा कामोन्मत्त) चन्द्रमा (अथवा नायक) ने निशा (अथवा नायिका) के चञ्चल तारों से युक्त {तारे नक्षत्र, अथवा नायिका के चञ्चल कनीनिका वाले } मुख {प्रदोषकाल} को चुम्बनार्थ इस प्रकार ग्रहण किया कि राग {सायंकालीन लालिमा अथवा नायक के स्पर्श जनित अनुरागातिशय} के कारण संपूर्ण तिमिर (अंधकार) रूप वस्त्र गिर जाने पर भी उस {निशा अथवा नायिका} को ज्ञात न हो सका।।' यहाँ उपन्यस्त उदाहरण में चन्द्रमा का वर्णन वाच्यार्थ है और व्यङ्ग्य से नायक एवं नायिका की रति–क्रीड़ा की प्रारंभिक क्रियाओं की प्रतीति हो रही है। इसलिए यहाँ वाच्यार्थ की प्रधानता के कारण व्यंग्यार्थ गौण हो गया है और इसी कारण यह गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण

तस्य च ध्वनेर्विवक्षितवाच्याविवक्षितवाच्यत्वेन द्वैविध्यम्। अविवक्षितवाच्यो-ऽप्यत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्चेति द्विधा । विवक्षितवाच्यश्च

है। काव्य का तीसरा भेद है – **चित्रकाव्य**। यह व्यङ्ग्य अर्थ से रहित रहता है, इसमें शब्द और अर्थ का ही चमत्कार विशेष रूप से परिलक्षित होता है। इस काव्य के दो भेद होते हैं – १. **शब्द चित्र** और २. **अर्थ चित्र** । {उदाहरणार्थ देखिए काव्यप्रकाश १।५}।।

तस्येति। और उस (ध्वनि) के दो भेद हैं – १. **विवक्षितवाच्य**, एवं २. **अविवक्षित वाच्य** । {'विवक्षितवाच्य' (ध्वनि) का दूसरा नाम है – **'अभिधामूल ध्वनि**, और अविवक्षित वाच्य (ध्वनि) का दूसरा नाम **'लक्षणामूल ध्वनि'** है। लक्षणामूल ध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं की जाती । इसीलिए उसको **अविवक्षितवाच्यध्वनि** कहा जाता है।} अविवक्षितवाच्य (ध्वनि) के भी दो प्रकार हैं – (१) **अत्यन्त-तिरस्कृत–वाच्य**, और (२) **अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य** । विवक्षित–वाच्य, (ध्वनि) के भी दो प्रकार हैं – (क) **असंलक्ष्यक्रम (ध्वनि)** और (ख) **संलक्ष्यक्रम (ध्वनि)**।

तत्रेति। जब रस आदि की प्रतीति प्रधान रूप से होती है, तब असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है; जब रसादि की किसी–वाच्य अथवा व्यंग्यार्थ के अंग–रूप में प्रतीति होती है तब **रसवत् अलंकार** होता है।

परामर्श – मुख्यरूप से ध्वनि के अट्ठारह भेद माने जाते हैं। इनमें भी प्रथमत: लक्षणा और अभिधा के आधार पर दो भेद उपन्यस्त किए गए हैं। इनका विस्तृत विवेचन ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश आदि लक्षण ग्रंथों में देखना चाहिए।

लक्षणा पर आश्रित ध्वनि के भेद –

(१) अविवक्षितवाच्य – (लक्षणामूल) इसे ही लक्षणामूलध्वनि भी कहा जाता है। इस ध्वनि में वक्ता की इच्छा वाच्यार्थ को प्रकट करने की नहीं होती। अत: उसके शब्दों का वाच्यार्थ बाधित होकर लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराता हुआ व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराता है। {उसके द्वारा प्रयुक्त शब्दों के मुख्यार्थ की स्थिति दो प्रकार की होती है। कभी तो उनका मुख्यार्थ दूसरे अर्थ में संक्रमित हो जाता है – बदल जाता है और कभी–कभी तो उसे सर्वथा छोड़ दिया जाता है। और वह अपने से बिल्कुल भिन्न अर्थ को प्रकाशित करने लगता है। जब मुख्य अर्थ अर्थान्तर में बदल जाता है, तब उसे **'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य'** ध्वनि कहते हैं। मुख्य अर्थ का सर्वथा त्याग कर देने पर – **'अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य'** – ध्वनि होती है। {यह ध्वनि वहाँ होती है जहाँ मुख्य अर्थ का एक भिन्न ही अर्थ किया जाता है।} संक्षेप में **'अविवक्षितवाच्य ध्वनि'** के **'अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य'** और **'अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य'** – ये दो भेद होते हैं।

(अ) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य – जहाँ वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) सर्वथा तिरस्कृत हो जाय वहाँ यह ध्वनि होती है, जैसे –

'उपकृतं बहुतत्र किमुच्यते, सुजनता प्रथिता भवता परम् । विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ।।' प्रस्तुत पद्य में कोई व्यक्ति विविध प्रकार

असंलक्षितक्रम: क्रमद्योत्यश्चेति द्विविध: । तत्र रसादीनामसंलक्ष्यक्रमध्वनित्वं प्राधान्येन प्रतीतौ सत्याम् अङ्गत्वेन प्रतीतौ रसवदलङ्कार इति ।

से अपकार करने वाले अपने शत्रु से कहता है – 'हे मित्र ! आपने तो बड़ी सज्जनता प्रदर्शित की है। सदा ऐसे ही उपकार करते हुए आप सैकड़ों वर्षों तक इस संसार में सुखपूर्वक जीवित रहें।' वस्तुत: इसका **वाच्यार्थ उक्त व्यंग्यार्थ से भिन्न है** – वाच्यार्थ है – 'आपने उपकार किया' किन्तु लक्ष्यार्थ है– आप सज्जन नहीं, अपितु नितान्त दुर्जन हैं कि आपने बहुत उपकार किये हैं (अपकार किये हैं) इस प्रकार यहाँ बाच्यार्थ पूर्णत: तिरस्कृत हो गया है, इसलिए यह **अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि** है।

(ब) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य – इसमें वाच्य अर्थ बाधित होकर अपने से सम्बद्ध किसी विशिष्ट अर्थ को बोधित करता है, अर्थात् अपने अर्थ को न छोड़ते हुए अन्य अर्थ में संक्रमित हो जाता है। जैसे – **त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति । आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥**

'मैं तुम्हें कहता हूँ कि यहाँ विद्वानों का समुदाय एकत्र है, अत: अपनी बुद्धि को स्थिर करके व्यवहार करना।' यहाँ पर 'कहता हूँ' (वच्मि) – यह कथन व्यर्थ हो जाता है क्योंकि वक्ता कह रहा है तब 'कहता हूँ'– इस प्रकार का कथन व्यर्थ ही है। अत: उसका लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है – **वच्मि = उपदिशामि** (उपदेश देता हूँ) इस लक्ष्यार्थ के द्वारा शुभेच्छा–हितकारिता–व्यङ्ग्यार्थ है।

(२) विवक्षितवाच्य–(अभिधामूल) ध्वनि – इसे 'विवक्षितान्यपर–वाच्य' ध्वनि भी कहा जाता है। इसमें अभिधाशक्ति के द्वारा होनेवाला वाच्यार्थ ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराता है, अर्थात् इसमें वाच्यार्थ ही विवक्षित होता है जो एक विशेष रमणीय अर्थ की प्रतीति कराने में सहायक हो जाता है। व्यंग्य का तभी बोध होता है, जब वाच्य अर्थ का भी बोध होता है। यहाँ वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ के मध्य में कहीं तो क्रम परिलक्षित होता है और कहीं पर वह क्रम परिलक्षित नहीं होता। इस प्रकार इस ध्वनि के दो भेद होते हैं।

(क) संलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य–(ध्वनि) इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसमें वाच्य अर्थ की प्रतीति प्रथम होती है और तत्पश्चात् विचार करने पर व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है। अत: दोनों अर्थों (वाच्य अर्थ और व्यंग्य अर्थ) के मध्य में क्रम पूर्णरूप से परिलक्षित होता है। इसीलिए इसे 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य' के नाम से अभिहित किया जाता है।

(ख) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (ध्वनि)– इसमें वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम लक्षित नहीं होता है। इस ध्वनि का अभिप्राय रस–भाव आदि से है।

(१) यहाँ यह विशेष स्मर्तव्य है कि ध्वनिवादी आचार्यों ने इस ध्वनि को 'अक्रमव्यंग्य' न कहकर 'असंलक्ष्य क्रमव्यंग्य'–ध्वनि कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि इसमें वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रतीति का क्रम होता तो अवश्य है, परन्तु अत्यन्त

अत्रोच्यते –

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया ।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः ।। ३७ ।।

शीघ्रता के कारण वह क्रम दिखलाई नहीं पड़ता है। वस्तुत: विभावादि की प्रतीति का होना ही रस नहीं होता, अपितु विभावादि की प्रतीति तो रस–प्रतीति का कारणमात्र है। इनकी प्रतीति हो जाने के पश्चात् रसादि की प्रतीति होती है। अत: रसादि की प्रतीति में क्रम तो अवश्य है, परन्तु जैसे कमल के सौ पत्तों को एक साथ रखकर उनमें सुई को गडा दिया जाय तो वह उन एकत्रित पत्तों का भेदन तो क्रम से ही करती है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक साथ सौ पत्तों के पार पहुँच गयी है। इसी प्रकार रस की अनुभूति में विभावादि की प्रतीति का क्रम होने पर भी उसकी प्रतीति न हो सकने के कारण इसे **'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य'** – ध्वनि कहा गया है।

(२) इस प्रकार संक्षेप में कह सकते हैं कि उपर्युक्त विचार वाच्य दृष्टि से किया गया है । लक्षणामूल में वाच्यार्थ विवक्षित ही नहीं होता। इसलिये उसे **'अविवक्षितवाच्य'** भी कहते हैं । अभिधामूल ध्वनि में वाच्य विवक्षित होता है। परन्तु उसका पर्यवसान व्यंग्य प्रतीति में होता है । अतएव उसे **'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि'** भी कहा जाता है । ध्वनि का दूसरा विभाग अभिव्यक्ति के भेद से किया गया हैं। व्यंग्यार्थ जब अभिव्यक्त होता है तब उस अभिव्यक्ति व्यापार में जो क्रम है वह या तो ध्यान में आयेगा या नहीं भी आ सकता । इस दृष्टि से ध्वनि के दो भेद **संलक्ष्यक्रमध्वनि**, तथा **'असंलक्ष्यक्रमध्वनि'** होते हैं आगे भी इसी प्रकार भेदोपभेद हो सकते हैं ।।

दशरूपककार का सिद्धान्त –

अत्रोच्यत इति। इस प्रकार ध्वनिवादियों के इस मत का (पूर्व पक्ष का) अर्थात् जो रस को व्यङ्ग्य मानते हैं और जिसकी प्रतीति व्यञ्जनावृत्ति से होती है – खण्डन करते हुए धनञ्जय निम्नोक्त कारिका ३७ में अपने मत को उपन्यस्त करते हैं –

कारिकार्थ – वाच्येति। जिस प्रकार (शब्दों के द्वारा) वाच्य अथवा प्रकरण (वक्ता, श्रोता, देश, काल,) आदि के द्वारा बुद्धि में स्थित क्रिया ही कारकों से अन्वित होकर वाक्य का अर्थ हुआ करती है, (अर्थात् वाक्य में चाहे क्रिया वाच्य हो, या बुद्धि में स्थित हो, वही वाक्य का वाक्यार्थ होता है) उसी प्रकार अन्यों (विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी) से युक्त होकर स्थायीभाव (रत्यादि) भी वाक्यार्थ (तात्पर्य) होता है। {तात्पर्य यह है कि स्थायीभाव भी वाक्य में बुद्धि में स्थिति क्रिया की तरह ही वाच्य न होकर प्रकरण से संवेद्य है।} ।। ३७ ।।

परामर्श – कारिकाकार धनञ्जय के कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वाक्य की कहीं वाच्या (श्रूयमाणा) और कहीं अश्रूयमाण, क्रिया वाले वाक्यों में

यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणक्रियेषु 'गामभ्याज' इत्यादिष्वश्रूयमाणक्रियेषु च— 'द्वारं द्वारम्' इत्यादिषु स्वशब्दोपादानात् प्रकरणादिवशाद् वा बुद्धिसन्निवेशिनी क्रियैव कारकोपचिता वाक्यार्थः, तथा काव्येष्वपि स्वशब्दोपादानात् क्वचित् 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्येवमादौ, क्वचिच्च प्रकरणादिवशान्नियताभिहितविभावाद्यविनाभावाद्वा साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानो रत्यादिः स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचारि—भिस्तत्तच्छब्दोपनीतैः संस्कारपरम्परया परां प्रौढिमानीयमानो रत्यादिर्वाक्यार्थः।

प्रकरणानुसार {श्रोता, वक्ता, देश—काल आदि के अनुसार} बुद्धिस्थ क्रिया ही वाक्य के अन्य कारकों से अन्वित होकर वाक्यार्थ के रूप में प्रतीत होती है। इसी प्रकार **विभाव, अनुभाव** तथा **सञ्चारीभाव** आदि के साथ मिलकर **रत्यादि स्थायी—भाव** ही **वाक्यार्थ** के रूप में प्रतीत होता है। संक्षेप में **कारिकाकार** और **वृत्तिकार** (धनञ्जय और धनिक) दोनों के ही विचारानुसार काव्य में रत्यादिभाव या रस वाक्यार्थ ही होते हैं। उनकी प्रतीति के लिए व्यञ्जनारूप एक अलग वृत्ति को ग्रहण करने या मान लेने की आवश्यकता नहीं है। {इसी को **धनिक** कारिका की वृत्ति के द्वारा इस प्रकार समझाते है }

वृत्त्यर्थ — यथा लौकिकवाक्येष्विति। जिस प्रकार लौकिक वाक्यों में **'गामभ्याज'** {—गाय लाओ} **'अभ्याज'** — क्रिया वाक्य में प्रयुक्त है और स्वशब्द के प्रयोग से {स्वशब्दोपदानात्} श्रूयमाण है तथा **'द्वारं—द्वारं'** {द्वार को द्वार को } इत्यादि पद वाक्य में प्रयुक्त होकर प्रकरण आदि {अर्थात् श्रोता, वक्ता, देश—कला} वशात् बुद्धि में स्थित {अर्थात् अश्रूयमाण — **'पिधेहि'** — बन्द करो, यह क्रिया वाक्य में प्रयुक्त न होने के कारण सुनाई न देने वाली} क्रिया ही वाक्य के कारकों के साथ अन्वित होकर वाक्यार्थ बनती है। ठीक इसी प्रकार काव्यों में भी कहीं तो {रत्यादि भाव के } **'प्रीत्यैनवोढा प्रिया'** जैसे स्थलों पर स्ववाचक (प्रीति आदि) पदों का प्रयोग होने से और कहीं प्रकरण आदि के वश या काव्य में वर्णित {अभिहित} (किसी रस के साथ) नियतरूप से अभिधा के द्वारा प्रतिपादित विभाव, अनुभावादि भाव के साथ (स्थायीभाव का) नित्य सम्बन्ध {अविनाभाव} होने के कारण भावक (सहृदय) के चित्त में रति आदि स्थायीभाव साक्षात् रूप से स्फुरित होने लगता है। **(विपरिवर्तमानः)** स्फुरित होता हुआ यह रत्यादि स्थायीभाव काव्य में निबद्ध भिन्न—भिन्न शब्दों के द्वारा वर्णित अपने—अपने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के द्वारा संस्कार परंपरा से परिपुष्ट होता हुआ (काव्य में) वाक्यार्थ होता है।

परामर्श — उपर्युक्त विवरण में **धनञ्जय** और **धनिक** ने यह स्पष्ट किया है कि रति आदि स्थायीभाव अथवा रस काव्य में वाक्यार्थ ही होते हैं। उनके लिए (अर्थात् उनकी प्रतीति के लिए) व्यञ्जना वृत्ति को पृथक् रूप से स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मीमांसकों के अनुसार वाक्यार्थ में क्रिया की ही प्रधानता होती है। कारकों से अन्वित होकर क्रिया ही वाक्य का अर्थ होती है। किसी के द्वारा कहे हुये वाक्य को सुनकर, सुनने वाले व्यक्ति को क्रिया का ज्ञान दो प्रकार से होता

है। क्रिया के बोध को वृत्तिकार धनिक ने दो लौकिक उदाहरणों को प्रस्तुत कर समझाया है। (१) **कहीं—कहीं तो वाक्य में ही क्रिया प्रयुक्त होती है, उसे सुनकर क्रिया का बोध हो जाता है,** जैसे – 'गामभ्याज' (अर्थात् 'गाय लाओ') यहाँ 'अभ्याज' ही क्रिया है, जो स्ववाचक श्रूयमाण है। और (२) **कहीं—कहीं क्रिया का प्रयोग वाक्य में होता ही नहीं, वाक्य में प्रयुक्त न होने से वह अश्रूयमाण होती है।** ऐसी स्थिति में श्रोता प्रकरण आदि से क्रिया का ज्ञान कर लेता है। जैसे –**'द्वारं द्वारं'** (अर्थात् द्वार—द्वार को) सुन लेने के पश्चात् 'बन्द—बन्द करो'— इस क्रिया का वह अध्याहार कर लेता है। इस प्रकार के स्थलों पर कारकों से अन्वित होकर क्रिया ही वाक्य का अर्थ समझी जाती है प्रथम वाक्य में प्रयुक्त पदों का बोध होता है, पश्चात् पदों से अन्वित क्रिया का अर्थ परिज्ञान हो जाता है। यही वाक्यार्थ है। अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के अनुसार **'अन्वित अर्थ'** को ही वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) कहा जाता है।

इसी प्रकार काव्य में भी (वाक्यों में क्रिया के बोध के ही समान) रत्यादिभाव के परिज्ञान के लिए दो अवस्थाएँ होती हैं – (१) **कहीं—कहीं स्थायी भाव शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं,** अर्थात् स्ववाचक पद से ज्ञात हो जाते हैं, जैसे **'प्रीत्यै नवोढ़ा प्रिया'** – इत्यादि। इस वाक्य में प्रयुक्त **'प्रीत्यै'** पद से रति भाव का बोध हो जाता है। किन्तु (२) **कहीं—कहीं स्थायीभाव स्ववाचक पद के द्वारा नहीं कहा जाता है।** ऐसी स्थिति में वह **रत्यादि स्थायीभाव** प्रकरणादिवशात् {अर्थात् अनुराग आदि के वर्णन के प्रसंगानुसार} सहृदय भावक (अर्थात् श्रोता) के चित्त में स्फुरित हो जाता है, अथवा काव्य में वर्णित किसी रस विशेष के साथ नियतरूप से अभिधा द्वारा कथित विभावानुभावादि का नित्यसम्बन्ध होता है— इस नियम से परिचित श्रोता के चित्त में उन—उन विभावादि को पढ़कर वे—वे स्थायी भाव उदित (स्फुरित) हो जाते हैं। विभावानुभावों द्वारा स्फुरित तथा संस्कार परंपरा से अत्यन्त पुष्ट हुआ यह रत्यादि स्थायीभाव ही शृङ्गार आदि रस के नाम से जाना जाता है। और वही (काव्य में) वाक्यार्थ होता है। **धनञ्जय** और **धनिक** के मतानुसार तात्पर्यवृत्ति से ही विभावानुभावादि के द्वारा रत्यादि स्थायीभाव का बोध हो जाता है। अत: तदर्थ अलग से व्यञ्जनावृत्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है। {तात्पर्यार्थ को ही वाक्यार्थ कहा जाता है।} (१) **स्वशब्दोपदानात्** – अपने (अर्थात् क्रिया के) वाचक शब्द (स्व शब्द) के प्रयोग से । (२) **बुद्धिसन्निवेशिनी** – बुद्धिस्थ, बुद्धि में स्थित। (३) **नियताभिहित** – किसी रस के साथ नियत रूप से अभिधा द्वारा कथित (अभिहित) विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव के साथ नित्य सम्बन्ध (=अविनाभाव) होने के कारण। (४) **संस्कारपरम्परया** – अर्थात् काव्योपात्त शब्दों के द्वारा परिज्ञात विभाव आदि का ज्ञान तो तीसरे क्षण में नष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में वे विभाव आदि के पोषक किस प्रकार हो सकते हैं ? इसलिए यह मानना पड़ेगा कि वह नष्ट होता हुआ विभाव आदि का ज्ञान अपने संस्कार को छोड़ जाता है। संस्कारों की यह परम्परा आगे भी चलती रहती है। उसी संस्कार परंपरा से रत्यादि भाव पुष्ट होते रहते हैं।

(५) **वाक्यार्थ:** – **धनञ्जय** और **धनिक** के मत में वाक्यार्थ और तात्पर्यार्थ एक ही है। {अन्वितअर्थ को ही वाक्यार्थ कहा जाता है।}

न चाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्, कार्यपर्यवसायित्वात् तात्पर्यशक्तेः । तथा हि – पौरुषेयमपौरुषेयं वा वाक्यं सर्वं कार्यपरम् ।

न चेति। {पूर्वपक्षी–(शङ्का) यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार – कहे कि रसादि–प्रतीयमान अर्थ वाक्य में निबद्ध पदों के अर्थ (वाच्यार्थ) नहीं हैं अतः वे वाक्य के अर्थ (वाक्यार्थ) भी कैसे हो सकते हैं? {अर्थात् जो पदार्थ (पदों का अर्थ) {न च अपदार्थस्य} नहीं है, वह वाक्यार्थ कैसे हो सकता है ? क्योंकि पदों के अर्थों को मिलाकर ही तो वाक्यार्थ बनता है। जो रति–(रस) आदि स्थायी भाव शब्दों–(पदों) के अर्थ नहीं है, तब वे वाक्य के अर्थ कैसे हो सकते हैं ?}

कार्येति। सिद्धान्ती कहता है – यह (उपर्युक्त) कथन उचित नहीं है। इति नचवाच्यम्। {अर्थात् अपदार्थ प्रतीयमान रसादि को वाक्यार्थ नहीं कहा जा सकता, यह कहना उचित नहीं है।} क्योंकि तात्पर्यवृत्ति का पर्यवसान (विश्रान्ति) सदा कार्यपरक ही होता है। {अर्थात् जैसे अभिधाशक्ति का साध्य वाच्यार्थ है, लक्षणा वृत्ति का साध्य लक्ष्यार्थ (को द्योतित करना) है। वैसे ही तात्पर्यवृत्ति का साध्य–पर्यवसान वक्ता के कार्य में होता है।} कहने का तात्पर्य यह है कि वक्ता के कार्यक्षेत्र की अन्तिम सीमा तक ही तात्पर्यवृत्ति की सीमा रहेगी । यदि वक्ता को निषेधार्थ ही अभीष्ट है तो, तात्पर्य वृत्ति वक्ता के अभीष्टार्थ को द्योतित करके ही पर्यवसित हो जायगी। (क्षीण हो जायगी) उसका पर्यवसान वक्ता के कार्य में हो जाता है।

तथा हीति। उदाहरणार्थ – यदि देखा जाय तो यह विदित होता है कि इस संसार में जितने भी वाक्यों का प्रयोग किया जाता है, चाहे वे वाक्य पारुषेय (लौकिक) हों, चाहे अपौरुषेय (वैदिक) हो, समस्त वाक्य कार्य–परक {किसी न किसी लक्ष्य को लेकर} ही होते हैं यदि उन्हें (वाक्यों को) कार्यपरक–उद्देश्य युक्त– न माना जाय तो उनका प्रयोग ही निरर्थक कहा जायगा, उनकी कोई उपादेयता ही नहीं रहेगी और ऐसी स्थिति में उन्हें (उन्मत्तों) पागलों का शब्दजाल मात्र ही माना जायगा। फलतः वे ग्राह्य नहीं होंगे।

परामर्श – प्रकृत प्रसंग में भी आचार्य धनिक ने मीमांसासिद्धान्त का सहज निवेश किया है, भट्टकुमारिलपाद का यह सिद्धान्त है कि लौकिक अथवा वैदिक अर्थात् पौरुषेय या अपौरुषेय सभी वाक्य कार्य–परक ही होते हैं। अर्थात् प्रमाणरूप होते हैं । प्रमाणभूत शब्द पौरुषेय–अपौरुषेय भेद से दो प्रकार का है। उसमें पौरुषेय शब्द को लोक व्यवहार में 'आप्त–वाक्य' कहते हैं – यह कुमारिल का मत है। किन्तु प्रभाकर के सिद्धान्त में लौकिक अर्थात् पौरुषेय शब्द कार्यपरक नहीं है। केवल वेदात्मक अपौरुषेय वाक्य ही प्रमाण शब्द से कहे जा सकते हैं। मीमांसकों की प्रबल युक्ति यह है कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' अर्थात् जिस अर्थ के बोधन कराने के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है वही शब्द का अर्थ होता है । इस हेतु जहाँ केवल वाच्यार्थ के बोधन के लिए शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ उतना ही उसका अर्थ होता है । और जहाँ उसके अतिरिक्त लक्ष्य या व्यङ्ग्य कहे जाने वाले

अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तादि वाक्यवत् । काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते । तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते । अतो वाक्यस्याभिधाशक्तिस्तेन तेन रसेनाऽऽकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायित।—मानीयते । तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः । तदेतत् काव्यवाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ ।

अन्य अर्थों के बोधन के लिए शब्द का प्रयोग किया गया वहाँ वह अन्यार्थ ही उस शब्द का वाच्यार्थ होगा ।}

काव्यशब्दानामिति। काव्य के शब्दों की प्रवृत्ति का विषय (उद्देश्य) विभावादि, स्थायीभाव और रस आदि होता है। अतः काव्य के शब्द विभावादि के **प्रतिपादक** होते हैं और रस आदि उनका **प्रतिपाद्य** होता है। ऐसी दशा में काव्य के शब्दों का विभावादि रूप अर्थ से **अन्वय—व्यतिरेक** रूप सम्बन्ध है। यदि काव्य में तत् सूचक (वाचक) शब्दों का प्रयोग किया जाता है तो विभावादि की प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार काव्य के शब्दों की प्रवृत्ति, उनका प्रयोग, विभावादि स्थायीभाव एवं रस के लिए होती है। अतः वे विभावादि स्थायीभाव या रस के प्रतिपादक हैं और रस एवं भाव उनके प्रतिपाद्य । काव्य में प्रयुक्त होने वाले शब्द, विभावादि, तथा स्थायीभाव एवं रस के परस्पर सम्बन्ध पर दृष्टिपात करने पर काव्यरूप वाक्य का अन्वय—व्यतिरेक के द्वारा निरतिशय आनन्दानुभूति के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन परिलक्षित नहीं होता हैं अतः काव्य के शब्दों का प्रयोजन सहृदय के चित्त में आनन्दानुभूति मात्र करना ही निश्चित (अवधारित) किया जाता है। और उस आनन्दोद्भूति का निमित्त विभावादि के संसर्ग से युक्त स्थायी—भाव ही अवगत होता है।

अतोवाक्यस्येति। अतः काव्य में प्रयुक्त वाक्यों की अभिधानशक्ति {अर्थ कथन की शक्ति} है, जो काव्य के प्रतिपाद्य भिन्न—भिन्न रसों के द्वारा आकृष्ट की जाती है, {अर्थात् कार्य रूप रस उस शक्ति को कार्यशील होने के लिए बाध्य करता है } और उन वाक्यार्थरूप रसों के स्वार्थ की निष्पत्ति के लिए अपेक्षित अवान्तर विभावादि हैं, उनके प्रतिपादन के द्वारा वह शक्ति रस की प्रतीति कराकर पर्यवसित होती है। {अर्थात् काव्य में प्रयुक्त वाक्यों की तात्पर्य—शक्ति अन्य—अन्य रसों का प्रतिपादन करके ही विश्रान्त होती है।}

तत्रेति। रस प्रतीति की इस सरणि—प्रक्रिया— में काव्य में प्रयुक्त पदार्थ (पदों के अर्थ) विभावादि हैं, तथा इन विभावादि से संसृष्ट रत्यादिभाव काव्य का वाक्यार्थ है। (इस प्रकार) यह ऐसा 'काव्य—वाक्य' ही है, जिसके ये दोनो—विभाव तथा रत्यादिभाव पदार्थ तथा वाक्यार्थ हैं। {अतः निःसंदिग्ध है कि रत्यादि स्थायीभाव या रस की प्रतीति व्यङ्ग्य न होकर, काव्य का वाक्यार्थ है, तथा उसकी प्रतीति तात्पर्य शक्ति के द्वारा होती है, किसी व्यञ्जना—शक्ति जैसी कल्पित शक्ति के द्वारा नहीं होती है।}

न चैवं सति गीतादिवत्सुखजनकत्वेऽपि वाच्यवाचकभावानुपयोगः। विशिष्टविभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वादोद्भूतेः, तदनेनातिप्रसङ्गोऽपि निरस्तः।

परामर्श — **अन्वयव्यतिरेक**—'**तत्सत्वे तत्सत्त्वम्' अन्वयस्तदभावे तदभावः व्यतिरेकः।'** — अर्थात् एक वस्तु के होने पर अन्य वस्तु का होना **'अन्वय'** कहलाता है, तथा एक के अभाव में दूसरी वस्तु का भी अभाव होना (न रहना) **'व्यतिरेक'** कहा जाता है।

स्वानन्दोद्भूतिरेव—काव्यरूप वाक्य का अर्थात् काव्य में प्रयुक्त शब्दों का एकमात्र प्रयोजन है—और वह है सहृदय के चित्त में 'आनन्दोद्भूति' करना। इस प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन दिखाई नहीं पड़ता। आनन्द की अनुभूति ही रस है। यह आनन्दोद्भूति विभावादि से युक्त स्थायी भाव के कारण ही होती है। अतः विभाव आदि पदार्थ हैं तथा उनसे संयोजित (संसृष्ट) स्थायीभाव वाक्यार्थ है ।।

न चैवमिति। (प्रश्न—) यदि काव्य आनन्दोद्भूति का हेतु (निमित्त) है, **(एवं सति)** तब तो वह भी गीत आदि के समान (अर्थ ज्ञान के बिना भी) आनन्दानुभूति का निमित्त हो सकता है, फिर ऐसी स्थिति में **वाच्य—वाचक—भाव** का कोई उपयोग न होगा। {गीतादि को सुनने के पश्चात् आनन्दानुभूति होती है, परन्तु गीत आदि उत्पन्न होने वाले सुख के वाचक नहीं, और न वह सुख गीत आदि का वाच्य ही है। इसी प्रकार काव्य तथा उससे होने वाले सुख (आनन्दोद्भूति) के विषय में कहा जा सकता है। अतः काव्य तथा रस के विषय वाच्य—वाचक भाव का उपयोग नहीं हो जाता। यदि **पूर्वपक्षी** उपर्युक्त तर्क—युक्ति—को प्रस्तुत करे, तो **ठीक नहीं** । अर्थात् गीत आदि तथा उससे मिलने वाला सुख का दृष्टान्त काव्य तथा रस के सम्बन्ध में प्रस्तुत करना उचित नहीं होगा।}

विशिष्टेति। सिद्धान्ती — नहीं, ऐसी शङ्का करना उचित नहीं है। क्योंकि काव्य से मिलने वाले आनन्द की अनुभूति उन्हीं सहृदय व्यक्तियों को होती है जो विभावादि विशेष सामग्री से सुपरिचित हैं और उस प्रकार की रति आदि भावना से युक्त हैं, अर्थात् उस रस के अनुरूप भावना भी उनके हृदय में निहित है। {केवल उन्हीं सहृदय व्यक्तियों को काव्य पठन या सुनकर तत्तत् रसपरक आनन्द की अनुभूति होती है।} इस प्रकार इस कथन से ही अतिप्रसङ्ग का भी निवारण हो जाता है। {अर्थात् विभावादि के ज्ञान के अभाव में (विभावादि से सुपरिचित न होने पर) तथा रत्यादि भावों की भावना से रहित नीरस—असहृदय जनों को भी काव्य से वाच्य—वाचक भाव के द्वारा रसानुभूति प्राप्त होने लगेगी— इस अति—प्रसङ्ग का निराकरण भी उपर्युक्त कथन से हो जाता है।}

परामर्श — रसानुभूति दो कारणों से होती है — (१) **तत्तत् विभाव आदि सामग्री का पूर्ण ज्ञान। (२) सहृदय पाठक या दर्शक के हृदय में रस के आस्वाद के योग्य रति आदि वासना का होना** । तात्पर्य यह कि विभाव आदि का ज्ञान

अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तादि वाक्यवत् । काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयो: प्रवृत्तिविषययो: प्रयोजनान्तरानुपलब्धे: स्वानन्दोद्‌भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते । तदुद्‌भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते । अतो वाक्यस्याभिधाशक्तिस्तेन तेन रसेनाऽऽकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायित।—मानीयते । तत्र विभावादय: पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थ: । तदेतत् काव्यवाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ ।

अन्य अर्थों के बोधन के लिए शब्द का प्रयोग किया गया वहाँ वह अन्यार्थ ही उस शब्द का वाच्यार्थ होगा ।}

काव्यशब्दानामिति। काव्य के शब्दों की प्रवृत्ति का विषय (उद्देश्य) विभावादि, स्थायीभाव और रस आदि होता है। अत: काव्य के शब्द विभावादि के **प्रतिपादक** होते हैं और रस आदि उनका **प्रतिपाद्य** होता है। ऐसी दशा में काव्य के शब्दों का विभावादि रूप अर्थ से **अन्वय—व्यतिरेक** रूप सम्बन्ध है। यदि काव्य में तत् सूचक (वाचक) शब्दों का प्रयोग किया जाता है तो विभावादि की प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार काव्य के शब्दों की प्रवृत्ति, उनका प्रयोग, विभावादि स्थायीभाव एवं रस के लिए होती है। अत: वे विभावादि स्थायीभाव या रस के प्रतिपादक हैं और रस एवं भाव उनके प्रतिपाद्य । काव्य में प्रयुक्त होने वाले शब्द, विभावादि, तथा स्थायीभाव एवं रस के परस्पर सम्बन्ध पर दृष्टिपात करने पर काव्यरूप वाक्य का अन्वय—व्यतिरेक के द्वारा निरतिशय आनन्दानुभूति के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन परिलक्षित नहीं होता हैं अत: काव्य के शब्दों का प्रयोजन सहृदय के चित्त में आनन्दानुभूति मात्र करना ही निश्चित (अवधारित) किया जाता है। और उस आनन्दोद्‌भूति का निमित्त विभावादि के संसर्ग से युक्त स्थायी—भाव ही अवगत होता है।

अतोवाक्यस्येति। अत: काव्य में प्रयुक्त वाक्यों की अभिधानशक्ति {अर्थ कथन की शक्ति} है, जो काव्य के प्रतिपाद्य भिन्न—भिन्न रसों के द्वारा आकृष्ट की जाती है, {अर्थात् कार्य रूप रस उस शक्ति को कार्यशील होने के लिए बाध्य करता है } और उन वाक्यार्थरूप रसों के स्वार्थ की निष्पत्ति के लिए अपेक्षित अवान्तर विभावादि हैं, उनके प्रतिपादन के द्वारा वह शक्ति रस की प्रतीति कराकर पर्यवसित होती है। {अर्थात् काव्य में प्रयुक्त वाक्यों की तात्पर्य—शक्ति अन्य—अन्य रसों का प्रतिपादन करके ही विश्रान्त होती है।}

तत्रेति। रस प्रतीति की इस सरणि—प्रक्रिया— में काव्य में प्रयुक्त पदार्थ (पदों के अर्थ) विभावादि हैं, तथा इन विभावादि से संसृष्ट रत्यादिभाव काव्य का वाक्यार्थ है। (इस प्रकार) यह ऐसा 'काव्य—वाक्य' ही है, जिसके ये दोनो—विभाव तथा रत्यादिभाव पदार्थ तथा वाक्यार्थ हैं। {अत: नि:संदिग्ध है कि रत्यादि स्थायीभाव या रस की प्रतीति व्यङ्ग्य न होकर, काव्य का वाक्यार्थ है, तथा उसकी प्रतीति तात्पर्य शक्ति के द्वारा होती है, किसी व्यञ्जना—शक्ति जैसी कल्पित शक्ति के द्वारा नहीं होती है।}

न चैवं सति गीतादिवत्सुखजनकत्वेऽपि वाच्यवाचकभावानुपयोगः। वैशिष्ट्यविभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वादोद्भूतेः, तदनेनातिप्रसङ्गोऽपि निरस्तः।

परामर्श – **अन्वयव्यतिरेक**–'**तत्सत्वे तत्सत्त्वम्' अन्वयस्तदभावे तदभावः व्यतिरेकः।**' – अर्थात् एक वस्तु के होने पर अन्य वस्तु का होना '**अन्वय**' कहलाता है, तथा एक के अभाव में दूसरी वस्तु का भी अभाव होना (न रहना) '**व्यतिरेक**' कहा जाता है।

स्वानन्दोद्भूतिरेव–काव्यरूप वाक्य का अर्थात् काव्य में प्रयुक्त शब्दों का एकमात्र प्रयोजन है–और वह है सहृदय के चित्त में 'आनन्दोद्भूति' करना। इस प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन दिखाई नहीं पड़ता। आनन्द की अनुभूति ही रस है। यह आनन्दोद्भूति विभावादि से युक्त स्थायी भाव के कारण ही होती है। अतः विभाव आदि पदार्थ हैं तथा उनसे संयोजित (संसृष्ट) स्थायीभाव वाक्यार्थ है ।।

न चैवमिति। (प्रश्न–) यदि काव्य आनन्दोद्भूति का हेतु (निमित्त) है, **(एवं सति)** तब तो वह भी गीत आदि के समान (अर्थ ज्ञान के बिना भी) आनन्दानुभूति का निमित्त हो सकता है, फिर ऐसी स्थिति में **वाच्य–वाचक–भाव** का कोई उपयोग न होगा। {गीतादि को सुनने के पश्चात् आनन्दानुभूति होती है, परन्तु गीत आदि उत्पन्न होने वाले सुख के वाचक नहीं, और न वह सुख गीत आदि का वाच्य ही है। इसी प्रकार काव्य तथा उससे होने वाले सुख (आनन्दोद्भूति) के विषय में कहा जा सकता है। अतः काव्य तथा रस के विषय वाच्य–वाचक भाव का उपयोग नहीं हो जाता। यदि **पूर्वपक्षी** उपर्युक्त तर्क–युक्ति–को प्रस्तुत करे, तो **ठीक नहीं** । अर्थात् गीत आदि तथा उससे मिलने वाला सुख का दृष्टान्त काव्य तथा रस के सम्बन्ध में प्रस्तुत करना उचित नहीं होगा।}

विशिष्टेति। सिद्धान्ती – नहीं, ऐसी शङ्का करना उचित नहीं है। क्योंकि काव्य से मिलने वाले आनन्द की अनुभूति उन्हीं सहृदय व्यक्तियों को होती है जो विभावादि विशेष सामग्री से सुपरिचित हैं और उस प्रकार की रति आदि भावना से युक्त हैं, अर्थात् उस रस के अनुरूप भावना भी उनके हृदय में निहित है। {केवल उन्हीं सहृदय व्यक्तियों को काव्य पठन या सुनकर तत्तत् रसपरक आनन्द की अनुभूति होती है।} इस प्रकार इस कथन से ही अतिप्रसङ्ग का भी निवारण हो जाता है। {अर्थात् विभावादि के ज्ञान के अभाव में (विभावादि से सुपरिचित न होने पर) तथा रत्यादि भावों की भावना से रहित नीरस–असहृदय जनों को भी काव्य से वाच्य–वाचक भाव के द्वारा रसानुभूति प्राप्त होने लगेगी– इस अति–प्रसङ्ग का निराकरण भी उपर्युक्त कथन से हो जाता है।}

परामर्श – रसानुभूति दो कारणों से होती है – (१) **तत्तत् विभाव आदि सामग्री का पूर्ण ज्ञान। (२) सहृदय पाठक या दर्शक के हृदय में रस के आस्वाद के योग्य रति आदि वासना का होना** । तात्पर्य यह कि विभाव आदि का ज्ञान

ईदृशे च वाक्यार्थनिरूपणे परिकल्पिताभिधादिशक्तिवशेनैव समस्त-वाक्यार्थावगतेः शक्त्यन्तरपरिकल्पनं प्रयासः। यथावोचाम **काव्यनिर्णये** –

काव्योपात्त शब्दों से भलीभांति होता है। इसलिए काव्य में प्रयुक्त शब्द विभाव आदि के वाचक हैं और विभाव आदि उनके वाच्य हैं। इसी कारण रसानुभूति में **वाच्य-वाचक** भाव का उपयोग है। किन्तु इसके विपरीत संगीत आनन्द का जनक होने पर भी उसमें वाच्य-वाचक भाव का कोई उपयोग नहीं होगा। उसमें कौन सा शब्द वाचक है और उनका वाच्य क्या है ? इसकी अपेक्षा नहीं रहती। ऐसी स्थिति काव्य में नहीं है। इसके अतिरिक्त यहाँ यह स्मर्तव्य है कि काव्यानन्द की अनुभूति उन्हीं सहृदय-पाठकों या दर्शकों को होती है, जो विभावादि विशेष सामग्री से सुपरिचित होते हैं और साथ ही जिनका हृदय रति आदि की वासना से पूर्व से ही वासित रहता है। **अभिनवगुप्तपाद** ने भरतनाट्यशास्त्र की **'अभिनव भारती'** नामक अपनी व्याख्या के प्रसंग में अपने मत को प्रस्तुत किया है **'स्थाय्यनुमानेऽभ्यास-पाटवतां .... सामाजिकानां।'** (का० प्र० वृत्ति ४।२८) उसका तात्पर्य यही है कि रसिक ही रसास्वाद के योग्य होते हैं – 'यति आदि विरक्त' नहीं । **साहित्यदर्पणकार** विश्वनाथ ने भी यही कहा है – **'न जायते तदास्वादोविना रत्यादिवासनाम् ।'** (सा० द० ३।८) इनके कहने का भी तात्पर्य यही है कि रसास्वाद के लिए **'वासना'** का होना नितान्त आवश्यक है। यही मत आलङ्कारिक **धर्मदत्त** ने भी कहा है – **'सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्। निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्म-सन्निभाः ॥'** (सा०द० ३।८)

निष्कर्ष यही है कि रसास्वादन के लिए व्यक्ति का सहृदय होना आवश्यक है। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों कारण ही – (१) **विभाव आदि सामग्री का ज्ञान** (२) रस **के आस्वाद के योग्य, सहृदय में, रति आदि की वासना का होना** – रसास्वाद के कारण होते हैं।

ईदृश इति। इस प्रकार वाक्यार्थ का निरूपण हो जाने पर, समस्त आलङ्कारिकों द्वारा जानी गई-मान ली गई अभिधा आदि {अर्थात् अभिधा, तात्पर्यशक्ति तथा लक्षणा} शक्ति के द्वारा ही सब प्रकार के {श्रूयमाण या अश्रूयमाणरूप} वाक्यार्थ का बोध हो जाने से {रस आदि की प्रतीति के लिए व्यञ्जना नामक} शक्त्यन्तर-अन्य शक्ति -की कल्पना करना केवल प्रयास मात्र है। अर्थात् निरर्थक प्रयास है। इसी तथ्य को हमने अपने **'काव्यनिर्णय'**[1] नामक ग्रन्थ में भी उल्लिखित किया है –

---

१. धनिक ने दशरूपक की 'अवलोक'- वृत्ति के अतिरिक्त 'काव्य निर्णय' नामक अलङ्कार ग्रन्थ की भी रचना की थी। किन्तु आज यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। तथापि 'अवलोक' वृत्ति में उद्धृत इन काव्यनिर्णय की पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि धनिक ने काव्यनिर्णय में व्यञ्जनावृत्ति का विशेषरूप से खण्डन किया था।

'तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः ।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि ॥ १ ॥
विषं भक्षय पूर्वो यश्चैवं परसुतादिषु ।
प्रसज्यते प्रधानत्वाद् ध्वनित्वं केन वार्यते ॥ २ ॥

तात्पर्येति। व्यञ्जना तथा ध्वनि के विरोधियों का कहना है कि 'काव्य में व्यञ्जनीय अर्थ का अन्तर्भाव तात्पर्य में ही हो जाता है' अर्थात् तात्पर्यशक्ति से ही जब प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति हो ही जाती है, तब व्यञ्जना जैसी शक्ति की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है ? या इस प्रतीयमान अर्थ को ध्वनि कहना उपयुक्त नहीं है। अर्थात् व्यंजना—व्यापार तात्पर्य से पृथक् कोई तत्त्व नहीं है। अतः ध्वनि भी कोई पदार्थ नहीं है। {व्यङ्ग्यार्थ और तात्पर्य का अनतिरेक सम्बन्ध है। दोनों में अभेद है।} इसलिए व्यङ्ग्यार्थ को ध्वनि नहीं कहा जा सकता। इस पर ध्वनिवादी कहते हैं कि —

किमुक्तमिति। जहाँ वाच्य का तात्पर्य अश्रुत है— शब्द से नहीं कहा गया है, ऐसे अन्योक्ति रूप वाक्य के विषय में क्या कहा जायगा।? {अर्थात् जहाँ वक्ता का तात्पर्य अश्रुत है, उसका काव्य में प्रत्यक्ष प्रयोग नहीं किया गया है, फिर भी अन्योक्ति के कारण प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति हो रही है, तब ऐसे स्थलों पर अश्रुतपदार्थ में तात्पर्य कैसे माना जायगा ? {उदाहरणार्थ — 'मां विद्धि शाखोटकम्' इस पूर्वोद्धृत अन्योक्ति के उदाहरण में जहाँ तात्पर्य शब्दतः श्रूयमाण नहीं है ऐसी परिस्थिति में अमुक तात्पर्य है, यह कैसे कहा जा सकेगा ? वस्तुतः ''तात्पर्य वक्तुरिच्छा'' — तात्पर्य वक्ता की इच्छा को कहा जाता है। यहाँ पर 'शाखोटक' में इच्छा की सम्भावना नहीं है, अतः यहाँ तात्पर्य कहाँ सम्भव है ? यहाँ निर्वेद जो व्यक्त हो रहा है, उसे शाखोटक का तात्पर्य कैसे कहा जायगा ? ऐसी स्थिति में यह तात्पर्य नहीं हो सकता। इसलिए व्यंग्यार्थ की पृथक् कल्पना करनी ही पड़ेगी इस प्रकार व्यंग्यार्थ का समावेश तात्पर्य में नहीं हो सकता }॥ १ ॥

{प्रथम श्लोक के पूर्वार्ध को तात्पर्यवादी का एवं उत्तरार्ध को व्यञ्जनावादी का मत समझा जाना चाहिए । साथ ही उत्तरार्ध को — 'मां विद्धिशाखोटकं' के साथ अन्वित करना चाहिए } { तात्पर्यवादी 'विषं भक्षय, मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः।' (विष खालो, इसके घर भोजन न करो।') इस वाक्य का आधार लेकर व्यञ्जना तथा ध्वनि का अन्तर्भाव तात्पर्य शक्ति तथा तात्पर्य में करते हैं। किन्तु ध्वनिवादी धनिक के सिद्धान्त पर आक्षेप करते हुए — कहते हैं —

विषमिति। एक व्यक्ति (पूर्वः) दूसरे व्यक्ति (पर) पुत्र आदि से यह कहता है कि 'तुम विष खालो पर इसके घर भोजन मत करो' अर्थात् 'इसके घर भोजन करना विष खाने से भी अधिक बुरा है।' इत्यादि) प्रतीयमान (व्यङ्ग्यार्थ) की प्रधानता के कारण यहाँ (वाक्य—कथन) ध्वनि होगी, इसे कौन रोक सकता है।?॥ २॥

{तात्पर्य यह है कि (ध्वनिवादी कहता है—) जिसे अश्रूयमाणपदादि में आप तात्पर्य मानते हैं, वह समीचीन नहीं है, क्योंकि 'विषं भक्षय'—इस वाक्य से प्रतीत

ध्वनिश्चेत्स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम् ।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ, तन्न विश्रान्त्यसम्भवात् ।। ३ ।।

होने वाला अर्थ जिसका प्रयोग पुत्रादि के लिए किया गया है, वहाँ भी 'जहर खा लेने से भी अधिक बुरा शत्रु के यहाँ भोजन करना है'— यह प्रतीयमान अर्थ तात्पर्य शक्ति के द्वारा ज्ञात नहीं हो पाता, अत: यहाँ ध्वनि ही है, तथा इसकी प्रतीति व्यञ्जना शक्ति से ही होती है। इस अर्थ में निकलने वाले ध्वनि को कौन अस्वीकार कर सकता है ?}

परामर्श — यहाँ यह स्मर्तव्य यह है कि **मम्मट** आदि ध्वनिवादियों ने इस वाक्य के निषेधरूप अर्थ को व्यङ्ग्य न मानकर तात्पर्य ही माना है। पूर्व में यह बताया जा चुका है कि किसी वाक्य का तात्पर्य, उसमें प्रयुक्त हुए शब्दों के 'वाच्य अर्थ' में ही हुआ करता है। उस पर एक आक्षेप किया जा सकता है कि — 'विषं भक्षय, मा च अस्य गृहे भुङ्क्था: ।' — विष खाले' किन्तु इसके घर भोजन मत कर—' यहाँ—'विष खाले'—इस वचन का तात्पर्य, वाक्य में प्रयुक्त हुए शब्दों के 'वाच्य अर्थ' में न होकर 'मा च अस्य गृहे भुङ्क्था:' — इसके घर में भोजन न कर—इसमें है। किन्तु 'ये शब्द' —दूसरे वाक्य के हैं। 'विषं भक्षय'— इस वाक्य के नहीं है। दोनों वाक्य भिन्न—भिन्न हैं। इस शङ्का का समाधान मम्मट ने यह कहकर दिया है कि यद्यपि ये दोनों वाक्य एक—दूसरे से परस्पर भिन्न हैं, तथापि दूसरे वाक्य में प्रयुक्त जो 'च' शब्द है, वह दोनों वाक्यों की 'एकवाक्यता' (समान प्रयोजनता) को सूचित कर रहा है। इस पर कोई यह कहता है कि दोनों वाक्य अपने में स्वयं पूर्ण हैं। अत: इन दोनों वाक्यों में अंगांगिभाव' कैसे संभव होगा ? और **अंगागिभाव** हुए बिना **'एक वाक्यता'** दोनों में कैसे हो सकेगी ? इस आशंका के समाधानार्थ यह कल्पना करनी पड़ती है कि **'विषं भक्षय'** — यह वाक्य, किसी **हितेच्छु:** का है। इस कारण **'विषं भक्षय'** — यह वाक्य, आगे के वाक्य का अंगभूत वाक्य है। इस कल्पित अंगांगिभाव के आधार पर प्रस्तुत वाक्य इस प्रकार होगा — इसके घर का भोजन, 'विष'—खाने से भी बुरा है, अत: तू किसी भी स्थिति में इसके घर में भोजन मत कर। अत: 'विषं भक्षय' वाक्य का तात्पर्य, प्रयुक्त शब्दों के (उत्तरवाक्य के) अर्थ में ही सिद्ध होता हैं इस प्रकार मम्मट आदि ध्वनिवादी इस उदाहरण को व्यञ्जना का उदाहरण नहीं मानते। मम्मट यहाँ तात्पर्य में अश्रूयमाणपदत्व भी नहीं मानते, क्योंकि इस वाक्य के उत्तरार्ध में ' मा चास्य गृहे भुङ्क्था:' में निषेध स्पष्टरूप से वाच्य है। देखिये— **काव्यप्रकाश** — व्याख्याकार **डॉ० गजानन शास्त्री मुसलगांवकर** भूमिका पृ० ५६—५७ {इसके अतिरिक्त ध्वनि और तात्पर्य में विशेष अन्तर भी है}।।

ध्वनिरिति। यदि वाक्य अपने ही अर्थ में (स्वार्थ) विश्रान्त (समाप्त) होकर भी किसी अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है, तो वहाँ दूसरा अर्थ ध्वनि होता है। किन्तु वाक्यार्थ की परिसमाप्ति होने के पूर्व ही यदि दूसरा अर्थ निकले तो वह तत्परक होकर तात्पर्य होता है। (यह है ध्वनिवादियों का कथन।) **धनिक** का मत यह है —

एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम् ।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥ ४ ॥

तन्न) ऐसा नहीं होता। क्योंकि जब तक पूर्ण अभिप्राय प्रकट नहीं होता तब तक वाक्यार्थ की विश्रान्ति असम्भव है' ॥ ३ ॥

{इस तृतीय कारिका में – **'तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ'** तक **पूर्वपक्षी ध्वनिवादी** का मत है, **'तन्न विश्रान्त्यसम्भवात्'** – यह **सिद्धान्तपक्षी धनिक** का मत है। **धनिक ध्वनिवादी** को कहते हैं कि –}

{ध्वनिसिद्धान्त के पक्षधर कहते हैं कि स्वार्थ यदि विश्रान्त नहीं हो सका है, तो उसकी विश्रान्तिसीमा तक तात्पर्य माना जायगा, अर्थात् इनके मतानुसार तात्पर्य के अविश्रान्त होने पर तो तात्पर्य शक्ति का विषय होता है। तथा उसके विश्रान्त होने पर भी, अर्थान्तर की प्रतीति होने पर उसे व्यङ्ग्यार्थ मानते हुए व्यञ्जना–शक्ति तथा प्रतीयमान अर्थ (ध्वनि) का विषय होता है।} इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्तपक्षी (धनिक) ध्वनिवादी से पूछते हैं कि –

एतावत्येवेति। **'तात्पर्य की विश्रान्ति किसी निश्चित सीमा तक ही होती है** (पश्चात्वर्ती अर्थ व्यङ्ग्य होता है) **इस बात का निर्धारण किसने किया है ?** (ऐसा नियम किसने बनाया है।) तात्पर्य तराजू पर तौला हुआ तो होता नहीं कि इतना ही हो सकता है, आगे नहीं। वस्तुत: इसका प्रसार वहाँ तक होता है, जहाँ तक वक्ता का प्रयोजन (कार्य) होता है। (अर्थात् कार्य का अभिप्रेत अर्थ का जब तक बोध नहीं हो जाता।) तब तक वाच्य का अर्थ समाप्त नहीं होता॥ ४॥ {अत: व्यङ्ग्यार्थ भी तात्पर्य में ही समाविष्ट हो जाता है।}

परामर्श – तात्पर्य का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। यह कोई नपा–तुला पदार्थ नहीं है कि इससे अधिक नहीं हो सकता। वह तो यावत्कार्यप्रसारी है। जहाँ जैसी और जितनी आवश्यकता हो वहाँ तक तात्पर्य का व्यापार हो सकता है। **ध्वनिवादी** ने **प्रथमकक्षा में वाच्यार्थ, द्वितीयकक्षा में तात्पर्यार्थ, तृतीयकक्षा में लक्ष्यार्थ** और **चतुर्थ कक्षा में व्यङ्ग्यार्थ** को रखा है। परन्तु इस कक्षा विभाग से तात्पर्य की शक्ति कुण्ठित नहीं होती। उस चतुर्थ कक्षा निविष्ट अर्थ तक तात्पर्य की पहुँच हो सकती है। इस हेतु चतुर्थकक्षा निविष्ट व्यङ्ग्य अर्थ भी तात्पर्य की सीमा में है। इस पर कोई ध्वनिवादी यह शंका करे कि "तात्पर्यावृत्ति का क्षेत्र बहुत सीमित है, असीमित नहीं। उसका काम केवल पदार्थ संसर्ग बोध करना है, उससे अधिक वह कुछ नहीं कर सकती। इस हेतु प्रतीयमान अर्थ का बोध कराना उसके सामर्थ्य के बाहर है । वह तो द्वितीय कक्षा निविष्ट संसर्गबोध तक ही सीमित है। चतुर्थ कक्षा निविष्ट व्यंग्य अर्थ तक उसकी गति नहीं है – तो यह शंका मीमांसा गंधरहित विश्लेषक ही कर सकते हैं, क्योंकि **तात्पर्याशक्ति यावत्कार्य प्रसारिणी है, आवश्यकता अनुसार सर्वत्र पहुँच सकती है, सोमेश्वर भट्ट** ने तन्त्रवार्तिक की टीका न्यायसुधा में कहा है – **तात्पर्याख्यशब्द–व्यापारस्य सर्वत्र भावात्** ॥ (३।४)

भ्रमधार्मिकविश्रब्धमिति भ्रमिकृतास्पदम् ।
निर्व्यावृत्ति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति ॥ ५ ॥
प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद्यदि ।
वक्तुर्विवक्षितप्राप्तेरविश्रान्तिर्न वा कथम् ॥ ६ ॥
पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता ।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते ॥ ७ ॥ इति ।

भ्रमधार्मिकेति। {ध्वनिवादी की आशङ्का—} ध्वनिवादी तात्पर्यवादी से कहता है कि — **'हे धार्मिक स्वच्छन्द होकर भ्रमण करो।** इस वाक्य में भ्रमण ही अपना पूरा स्थान बनाए हुए है । इसमें निषेध परक कोई शब्द प्रयुक्त ही नहीं है। ऐसी स्थिति में यह वाक्य भ्रमण के निषेध रूप अर्थ तक कैसे जा सकता है ? वस्तुतः इस श्लोक के वाक्य का **'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः'** — वाच्यार्थ तो **विधिरूप** ही है। भ्रमणनिषेध का बोधक कोई पद यहाँ प्रयुक्त नहीं है। अतः तात्पर्य विध्यर्थ में ही होगा। ऐसी स्थिति में निषेधपरक अर्थ की प्रतीति तात्पर्य से भिन्न वस्तु है। अर्थात् जो प्रतीयमान अर्थ है वह निषेधरूप है। अतः वह व्यङ्ग्यार्थ (निषेधरूप) व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा ही प्रतिपाद्य है ॥ ५ ॥

अब **धनिक** ध्वनिवादी के मत का खण्डन करते हैं, तथा **तात्पर्यवृत्ति** की **प्रतिस्थापना** करते हुए अपने सिद्धान्तपक्ष को इस प्रकार उपन्यस्त करते हैं —

प्रतिपाद्येति। (हे धार्मिक ! निश्चिन्त होकर भ्रमण करो । — 'भ्रमधार्मिक विश्रब्धः' — इस वाक्य में जिससे (श्रोता—धार्मिक) कहा गया है, उसकी अपेक्षा तो विधिपरक अर्थ से पूर्ण हो गई, किन्तु वक्ता (अर्थात् कुलटा—नायिका) के तात्पर्य की पूर्ति तो नहीं हुई। यदि प्रतिपाद्य (अर्थात् तात्पर्य) की अपेक्षा—पूर्ति से वाक्यार्थ की विश्रान्ति मानी जाती है, तो वक्ता की विवेक्षा के पूर्ण न होने से अविश्रान्ति क्यों नहीं मानी जाती ? (अर्थात वक्ता की दृष्टि से तो यहाँ तात्पर्य की विश्रान्ति अभी नहीं हुई है। कारण वाक्य को कहने वाली तो कुलटा—नायिका है। उसका अभिप्राय विधिपरक अर्थात् धार्मिक के भ्रमण करने में नहीं है, अपितु **निषेध परक** है। अतः वक्ता के तात्पर्य की पूर्ति तो नहीं हुई। इसलिए यदि प्रतिपाद्य (तात्पर्य) की अपेक्षा की पूर्ति से वाक्यार्थ की विश्रान्ति ध्वनिवादियों के अनुसार मान ली जाती है तो वक्ता की विवक्षा के पूर्ण न होने से यहाँ तात्पर्य की अविश्रान्ति क्यों नहीं माना जा सकती ? {अर्थात् कुलटा—नायिका के अभिप्राय—निषेधपरक को जान लेने पर ही तात्पर्य की विश्रान्ति होगी, उसके पहले नहीं।}॥ ६ ॥

पौरुषेयस्येति। धनिक अपने मत की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि समस्त लौकिक या पौरुषेय वाक्य विवक्षा के अधीन होते हैं। अर्थात् वक्ता की कथनेच्छा के अधीन होते हैं। अतएव काव्य का तात्पर्य वहीं होगा जो वक्ता को अभीप्सित हो। तात्पर्य यह है कि वक्ता जितना भी आशय व्यक्त करना चाहता है, वह सब अभिधाशक्ति के अन्तर्गत ही आ जाता है। {भाव यह है कि वक्ता का सम्पूर्ण

अभीष्टार्थ काव्य का तात्पर्य ही कहलायगा। अर्थात् जब तक अभीष्ट अर्थ की पूर्ति न होगी तब तक वाक्यार्थ की परिसमाप्ति न होगी क्योंकि वाक्य की विश्रान्ति हो जाने पर अन्य अर्थ होगा ही क्यों ? यदि अन्य अर्थ होता है तो स्पष्ट ही वाक्य की विश्रान्ति नहीं हुई है। यही बात काव्य के विषय में भी कही जायगी।} काव्य में रसादि अर्थ (जो ध्वनिवादियों के अनुसार व्यङ्ग्य होते हैं।) काव्य के या कवि के अभिप्रेत होते हैं, और इसीलिए वे तात्पर्य के ही अन्तर्गत होते हैं। अत: उनके लिए व्यञ्जना नामक अन्य वृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ।। ७ ।।

परामर्श — **तात्पर्यवादियों** का कहना है — तात्पर्य वृत्ति द्वारा ही ध्वनि का ग्रहण होता है, अतएव ध्वनिरूप पृथक् व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं है। काव्यार्थ में वाच्यार्थ से पृथक् रूप में जो अर्थ प्रतीत होता है वह प्रधान होगा अथवा गौण होगा । जब वह प्रधान होता है, तब वाक्यार्थ की अन्तिम विश्रान्ति उसी में होने से वह उस वाक्य का तात्पर्य ही तो है । इस हेतु उसका ग्रहण तात्पर्यशक्ति से ही होता है । इसके लिये पृथक् व्यापार मानने की आवश्यकता ही क्या है? दूसरी बात यह है कि तात्पर्य ग्रहण की प्रक्रिया में एक पृथक् अर्थ (वाच्यार्थ) मध्यम अवस्था में पाया जाता है । परन्तु वह तात्पर्य प्रतीति के उपाय के रूप में रहता है । जैसे पदार्थ प्रतीति वाक्यार्थ प्रतीति का उपाय है, वैसे ही ये मध्यगत वाक्य तात्पर्य प्रतीति के उपाय हैं ।

इस पर **ध्वनिवादी** यह कहे कि 'शब्द का वाच्यार्थ और प्रतीयमान अर्थ एक ही नहीं होते। प्रथम अर्थ शब्द का वाच्यार्थ होता है, किन्तु द्वितीय अर्थ प्रथम अर्थ की अवगमन शक्ति से ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त, वाचक शक्ति तो केवल शब्द में ही हो सकती है, किन्तु अवगमन शक्ति संगीत आदि अवाचक स्वरों में भी रह सकती है। किं बहुना शरीर चेष्टा से भी अभिप्राय व्यक्त हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में 'तात्पर्य शक्ति जो वाच्यार्थ से ही संबद्ध रहती है— अवगमन व्यापार तथा व्यंजनाव्यापार दोनों को अन्तर्भूत कर लेती है—इस कथन का क्या औचित्य है?

तात्पर्यवादी इस पर कहते हैं कि ध्वनिवादी, प्रथम प्रतीत अर्थ शक्ति में ही तात्पर्य शक्ति को सीमित क्यों मानते हैं ? तात्पर्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वक्ता का अन्तिम अभिप्राय जब तक ज्ञात होता है — वहाँ तक तात्पर्यवृत्ति का विस्तार समझना चाहिए ।

ध्वनिवादियों का सबसे प्रबल आधार है **रसास्वाद** । इनका कहना है कि रसास्वाद की उत्पत्ति के लिये ध्वनि स्वीकार आवश्यक है। इस पर **तात्पर्यवादी** कहते हैं कि रसास्वाद भी तात्पर्य में ही आ जाता है। वाक्य का पर्यवसान नित्य क्रिया में होता है। 'गाम् आनय' इस वाक्य का पर्यवासान गाय को ले आने की क्रिया में होता है। 'दरवाजा...... दरवाजा.......' इस वाक्य का पर्यवसान वक्ता के अभिप्रायानुसार, दरवाजा बन्द करने की अथवा खोलने की क्रिया में होता है। उसी प्रकार विभावादि का पर्यवसान **'आस्वाद क्रिया'** में होता है।

अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः। किं तर्हि ? **भाव्यभावक सम्बन्धः**। काव्यं हि भावकं, भाव्यास्तु रसादयः। ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते ।

न चान्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम् । भावनाक्रियावादिभिस्तथाङ्गीकृतत्वात् । किञ्च मा चान्यत्र

अतो नेति। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट हो गया है कि काव्य का रस के साथ **व्यङ्ग्य–व्यञ्जक** सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् **काव्य** न तो **व्यञ्जक** ही है, और न **रसादि** उसके व्यङ्ग्य ही है। तो फिर इन दोनों में कौन सा सम्बन्ध है ? इनका आपस में **भाव्य–भावकभाव सम्बन्ध** है। **काव्य भावक** हैं और **रस** आदि **भाव्य** होते हैं। वे (रति आदि भाव अथवा रस) सहृदयजनों के हृदय में स्वभावतः ही (सदा) स्थित होते ही है। और तत्तत् रस के अनुकूल विशिष्ट विभावों के द्वारा काव्य उनकी भावना कराता है ।

परामर्श — काव्य तथा रस के परस्पर सम्बन्ध, एवं विभावादि तथा रसादि के परस्पर सम्बन्ध के विषय में रसशास्त्र में चार मतों का विशेष उल्लेख मिलता है। ये मत **भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक** तथा **अभिनवगुप्तपादाचार्य** के हैं — इन मतों का संक्षिप्त विवरण इसी ग्रन्थ की भूमिका में उल्लिखित है। इस ग्रन्थ के पूर्वपृष्ठ (पृष्ठ क्र० ३८०) पर हमने रसनिष्पत्ति का सार चित्र अंकित किया है। जिसमें उक्त चारों आचार्यों के नाम, उनका आधारभूत दर्शन, उनके मत में निष्पत्ति का एवं संयोग का अर्थ क्या है ? इसे दर्शाया है । **भावकेषु** — यहाँ यह स्मर्तव्य है कि **धनिक** के विचार में काव्य तथा सहृदय दोनों ही भावक हैं। रति आदि भावों की भावना (चर्वणा—आस्वादन) कराने में कारण होने से **काव्य भावक** हैं. और सहृदय रतिआदि भाव की भावना करने वाले हैं, अतः **भावक** कहे जाते हैं।

{पूर्वपक्षी—काव्य तथा रस के **भाव्य—भावकभाव सम्बन्ध** के विषय में कहता है कि —}

न चान्यत्रेति। जब अन्यत्र (अर्थात् व्याकरण आदि के) दूसरे शब्दों तथा उनके अर्थों में भाव्य—भावकरूप सम्बन्ध नहीं पाया जाता, तब काव्य के शब्दों तथा उनके अर्थों में भी वह सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि काव्य के शब्द भी तो, अन्य शब्दों की ही तरह है। अतः काव्य तथा उनके अर्थ (रसादि) में भी **भाव्य—भावक सम्बन्ध** नहीं होना चाहिए । इस पर **धनिक** उत्तर देते हैं — कि पूर्वपक्षी के द्वारा उपस्थित यह शङ्का समीचीन नहीं है। क्योंकि —

भावनेति। 'भावना' के रूप में क्रिया को मानने वाले भावनावादी मीमांसकों ने अन्यत्र अर्थात् **'स्वर्गकामो यजेत'** या **'पुत्रकामोयजेत'** आदि स्थलों पर **यागादि क्रिया** तथा **'स्वर्गादि'** फल में क्रिया की कल्पना कर **भाव्य—भावक सम्बन्ध** को माना ही है। मीमांसकों के अनुसार **यागादि क्रिया भावक** है और उसके द्वारा प्राप्त होने वाला **स्वर्गप्राप्तिरूप फल भाव्य** है । {मीमांसकों भावनावादियों— द्वारा भाव्य—भावक

तथास्तु । अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथाऽवगमात् । तदुक्तम् —

भावाभिनयसम्बन्धान्भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभि ।।'

सम्बन्ध स्वीकार किया जाने के कारण भाव्य—भावक की यह कल्पना निराधार नहीं है, अपितु शास्त्रानुमोदित ही है।}

किञ्चेति। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि अन्यत्र (अर्थात् शब्दों के अन्य लौकिक प्रयोगों में) भले ही भाव्य—भावक सम्बन्ध नहीं, किन्तु काव्य में तो यह **भाव्य—भावक सम्बन्ध** अन्वय—व्यतिरेक से ज्ञात होता ही है। { क्योंकि यदि काव्य में रसादि के भावक पदों का प्रयोग न किया गया तो निश्चय ही रस की 'भावना' (चर्वणा) न हो सकेगी। किन्तु भावक पदों के होने पर सहृदय जनों के हृदय में निहित रसादि अवश्य ही भावित होंगे। इस अन्वय—व्यतिरेक सरणि से काव्य में भाव्य—भावक सम्बन्ध है, इसकी पुष्टि हो जाती है।

परामर्श — भावना **मीमांसाशास्त्रीय** संज्ञा है। भावना का लक्षण है — **'भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापार विशेषः'**। अर्थात् निर्माण होने वाली वस्तु के निर्माण के प्रति अनुकूल, निर्माता का व्यापार (प्रयत्न) ही भावना है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि **भावना मानसिक क्रिया** है, शारीरिक क्रिया नहीं । वेद में विधिवाक्य हैं — **'यजेत स्वर्गकामः'** इस वाक्य का अर्थ है 'स्वर्ग की इच्छा वाला याग करे। स्वर्ग निर्माण होने वाली वस्तु है तथा याग इसका साधन है। इस वाक्य का अभिप्राय है — **यागेन स्वर्गं भावयेत्** । अर्थात् यागरूप साधन से स्वर्ग का भावन करना चाहिये अर्थात् स्वर्ग उत्पन्न करना चाहिये। इस विधि वाक्य के अनुसार स्वर्ग उत्पन्न होने के प्रयोजन से होने वाला पुरुष निष्ठ व्यापार ही भावना है। **भावना के दो** प्रकार हैं — **शाब्दी भावना** और **आर्थी भावना** । प्रवृत्ति को कराने वाला जो प्रेरक (प्रवर्तक) का प्रेरणा (प्रवर्तना) रूप मनोगत व्यापार **शाब्दी भावना** कहा जाता है। तथा **शाब्दी भावना का साध्य आर्थी भावना** है। काव्य और रस के भाव्य—भावक सम्बन्ध को हम इस प्रकार घटा सकते हैं — काव्यगत भावना में **रस साध्य (भाव्य)** है, **विभावादि साधन (भावक) हैं**, तथा **गुणालंकार तथा अभिनय इतिकर्त्तव्यता है। 'काव्यं रसान् भावयति'** इस वाक्य का अर्थ यह हुआ कि—गुणालंकार अथवा अभिनय द्वारा सम्पन्न होने वाले विभावादि साधन से काव्य रसों का निर्माण करता है। **काव्यगत शब्दों में स्थित यह व्यापार ही भावना है। भावना का अर्थ है भावकत्व। काव्य रसों का भावक है, अर्थात् काव्य में भावकत्व है।**

तदिति। जैसा कि { ना० शास्त्र ७.३ में भी) कहा गया है —

भावाभिनयेति। { ये भाव आस्वादन के योग्य चित्तवृत्ति विशेष को भावित करते हैं, अतः ये भाव हैं।} क्योंकि ये अनेकविध अभिनयों से युक्त रसों का { इन सामाजिकों को रसप्रतीति करवाने के कारण } भावना कराते हैं, अतएव इन्हें नाट्यनिर्माता या प्रयोक्ता गण 'भाव' कहते हैं।।

उनकी शृङ्गारिक चेष्टाओं को देखकर वयोवृद्ध जनों को लज्जा होगी, और अन्यों को ईर्ष्या–द्वेष होगा। ऐसी स्थिति में अनुकार्य नायकादि पात्रों में रस की स्थिति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि उनमें रस मान लेने पर लज्जादि दोष आ जाता है। अतः सामाजिक में ही रस की स्थिति माननी पड़ेगी।}

परामर्श — वस्तुतः रस के स्थान का निर्णय रस–निष्पत्ति के विवेचन का ही एक अङ्ग है। **नाट्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों** ने अपने मतानुसार इसका उल्लेख किया है। आचार्य **भरत** के अनुसार रंगमंच पर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के साथ स्थायीभाव का संयोग होने पर रस की सिद्धि होती है। उनके विचार में रस आस्वाद्य है, आस्वाद नहीं। उसका स्थान सहृदय का चित्त नहीं है। वह तो उसका आस्वादन कर हर्षादि का अनुभव करता है। **आचार्य लोल्लट** ने रस का स्थान **अनुकार्य** माना है। उनका संकेत नाटक के मूलपात्र (रामादि) की ओर ही है। उनके मत में रस के आस्वादयिता राम दुष्यन्तादि ऐतिहासिक मूलपात्र ही हैं। और गौण रूप से नट भी अपने में रामादि मूलपात्रों का अभिमान कर उसका आस्वाद कर लेता है। सहृदय (रसिक) इस रस का अनुभव नहीं करता, वह तो केवल चमत्कृत होता है।

आचार्य शंकुक—लोल्लट द्वारा प्रस्तुत रसस्थान विषयक मत से सहमत नहीं हुए। उनके विचार में राम–दुष्यन्तादि ऐतिहासिक मूलपात्रों का जब अस्तित्व ही नहीं था (रहा) तो उनके द्वारा अनुभूत रस की सत्ता वर्तमान में (नाट्क रंगमञ्च पर प्रदर्शित होने के अवसर पर) कैसे हो सकती है। शंकुक के विचार में नट स्थायीभाव का अनुकर्ता है, आस्वादयिता या अनुभवकर्ता नहीं। उनके अनुसार रस का स्थान नट का चित्त नहीं, नट का अभिनय ही रस का स्थान है। इस दृष्टि से शंकुक लोल्लट को बीच से हटाकर पुनः भरत की ओर लौट जाते हैं। क्योंकि भरत ने भी तो रस का स्थान प्रकारान्तर से नाट्य ही माना है। निष्कर्ष यह है कि श्री **शंकुक** के मत में रस **का स्थान नट का अभिनय है।**

भट्टनायक के अनुसार रस का स्थान सहृदय (रसिक) का चित्त ही है।

अभिनव गुप्तपाद के अनुसार रस आस्वाद्य न होकर आस्वादरूप है। इनके अनुसार रस का अर्थ है — **आत्मानन्द** । इस आत्मानन्द का स्थान निश्चय ही सहृदय (रसिक) का चित्त या आत्मा है।

उक्त आचार्यों के मतों का सारांश इस प्रकार है —

१	२	३	४
आचार्य	**रस का स्वरूप**	**रस का स्थान**	**सहृदय का अनुभव**
भरत	नाट्यकलागत भाव सौन्दर्य	नाट्य	हर्ष, विस्मय आदि।
लोल्लट	मूलपात्रों का भावास्वाद अर्थात् काव्यवस्तुगतभाव सौन्दर्य	मूलपात्र–काव्यवस्तु	चमत्कार।

काव्यार्थोपप्लावितो रसिकवर्ती रत्यादिः स्थायी भावः स इति प्रतिनिर्दिश्यते, स च स्वाद्यतां निर्भरानन्दसंविदात्मतामापाद्यमानो रसः, रसिकवर्तीति वर्तमानत्वात्, नानुकार्यरामादिवर्ती वृत्तत्वात्तस्य ।

शंकुक	अभिनयगतभाव सौन्दर्य	नट—अभिनय	रस का अनुमान और तज्जन्य रागात्मक—कलात्मक प्रतीतियाँ।
भट्टनायक	(सहृदय द्वारा) भाव सौन्दर्य की अनुभूति	सहृदय का चित्त	रस और उसका भोग रसजन्य आनन्द
अभिनव	(सहृदय द्वारा) भाव सौन्दर्य का आनन्द	सहृदय का चित्त	रस—आनन्द।
धनञ्जय और धनिक	सहृदयगत आनन्द	सहृदयगत	आनन्द

धनञ्जय और धनिक के रस की स्थिति सहृदयगत ही मानी है। साथ ही यह स्वीकार किया है कि सहृदयगत स्थायी—भाव ही रसत्त्व को प्राप्त होता है। उन्होंने कारिका ४१—४२ में कहा है कि —'मिट्टी के हाथी आदि से खेलने वाले बालकों की तरह, सामाजिक अर्जुनादि का वर्णन पढ़कर या अभिनय देखकर अपने ही उत्साहादि स्थायीभावों का आस्वादन करता है। अर्थात् (कारिका ४१ के अनुसार) विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा व्यभिचारी भावों द्वारा आस्वाद्य होकर स्थायीभाव ही रस बन जाता है। किन्तु वे व्यंजनावृत्ति को स्वीकार नहीं करते, वे काव्य में वर्णित विभावादि के साथ रस की व्यंग्य—व्यंजक संबन्ध न मानकर भट्टनायक की तरह भाव्य—भावक सम्बन्ध ही मानते हैं'. ।।

वृत्त्यर्थ — काव्यार्थेति। कारिका क्र० ३८ में प्रयुक्त 'सः' — इस सर्वनाम पद से काव्यार्थ से उद्भावित रसिकवर्ती (सहृदय के चित्त में रहने वाला) रत्यादिरूप स्थायीभाव का निर्देश किया गया है। और वह रति आदि स्थायीभाव ही जब आस्वाद्यता को प्राप्त होता है अर्थात् आस्वादवाला बनता है, सहृदय के चित्त में अलौकिक निर्भरानन्द चेतना को विकसित करता है, तब 'रस' कहा जाता है, क्योंकि यह रस सहृदय (सामाजिक) के चित्त में ही रहता है { वस्तुतः काव्य का पाठ करने वाला प्रत्येक पाठक या नाटक को देखने वाला प्रत्येक दर्शक रस चर्वणा नहीं कर सकता, उसके लिए (आनन्दानुभव करने के लिए) सहृदय होना नितान्त आवश्यक होता है।} क्योंकि रसिक सामाजिक ही नाटक के अभिनय के अवसर पर वर्तमान रहता है, (उपस्थित रहता है) अनुकार्य अर्थात् मूलपात्र—रामादि तो अतीत काल के होते हैं। इस प्रकार रस की स्थिति अनुकार्य (मूलपात्र) रामादि में नहीं मानी जा सकती।

अथ शब्दोपहितरूपत्वेनावर्तमानस्यापि वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव, तथापि तदवभासस्यास्मदादिभिरनुभूयमानत्वादसत्समतैकाऽऽस्वादं प्रति, विभावत्वेन तु रामादेर्वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव । किञ्च न काव्यं रामादीनां रसोपजननाय कविभिः प्रवर्त्यते, अपि तु सहृदयानानन्दयितुम् । स च समस्तभावकस्वसंवेद्य एव ।

यदि चानुकार्यस्य रामादेः शृङ्गारः स्यात् ततो नाटकादौ तद्दर्शनेन लौकिके इव नायके शृङ्गारिणि स्वकान्तासंयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्रं भवेन्न रसानां स्वादः, सत्पुरुषाणां च लज्जा, इतरेषां त्वसूयानुरागापहारेच्छादयः प्रसज्येरन् ।

अथेति। रङ्गमञ्च पर अभिनीति होने वाले नाटक के अनुकार्य—मूलपात्र रामादि का अभिनय देखकर यदि कोई यह कहे कि वे अनुकार्य— (मूल पात्र रामादि) अविद्यमान होकर (अर्थात् वर्तमान में न होकर) भी काव्य में प्रयुक्त शब्दों के द्वारा वर्तमान की तरह ही ज्ञात होते हैं {वस्तुतः प्रतिभाशाली कवि अपने काव्य या नाटक में प्रयुक्त शब्दों के द्वारा अनुकार्य (ऐतिहासिक, अतीतकाल के मूल पात्रों) रामादि का स्वरूप वर्णन इस प्रकार अंकित करता है कि प्रत्यक्षरूप में वे मूलपात्र उपस्थित न होने पर भी नाटकादि में वे वर्तमान की तरह (जीवित की तरह) होने का सहृदय सामाजिकों को आभास होता है।} देखा जाय तो सहृदय सामाजिक को इस प्रकार का आभास इष्ट भी है, क्योंकि विद्यमान की तरह आभास न होने पर उसे रस प्रतीति न होगी। किन्तु रसास्वादन के लिये तो वे अविद्यमान ही रहते हैं। {अर्थात् अनुकार्य रामादि रसास्वाद की दृष्टि से तो अवर्तमान ही रहते हैं।} फिर भी विभाव के रूप में अनुकार्य राम आदि की वर्तमान की तरह प्रतीति तो वाञ्छित ही है। क्योंकि उनका वर्तमान की तरह अवभास सहृदय सामाजिकों की रस प्रतीति का कारण है। इसलिए उन अनुकार्य राम आदि पात्रों का काव्य में इस प्रकार का अंकन सामाजिक को अभीष्ट है।

किञ्चेति। यहाँ स्मर्तव्य है कि (कालिदास—भवभूति आदि) कवि (मूलपात्र) राम दुष्यन्त आदि के रसास्वादन के लिए काव्य की रचना नहीं करते, अपितु सहृदय—सामाजिकों को आनन्दित करने के लिए ही उनकी रचना करते हैं। कवि के काव्य का मूल प्रयोजन सामाजिक को रसास्वाद कराना होता है। यह तो समस्त भावकों के अन्तःकरण हेतु स्वतः प्रमाण का विषय है।

यदिचेति। यदि (कुछ समय के लिये) यह मान भी लें कि शृङ्गार (रस) की प्रतीति अनुकार्य राम आदि को होती है, तो नाटकादि को देखने पर सहृदय सामाजिक को वैसे ही कोई भी रसास्वाद न होगा, जैसे लौकिक नायक (व्यक्ति) को अपनी कान्ता से युक्त देखकर दर्शकों को केवल इतनी ही प्रतीति होती है कि यह व्यक्ति (नायक) शृङ्गार से युक्त है, किन्तु रसास्वाद नहीं होगा, अपितु देखने वाले सत्पुरुषों को लज्जा होगी, {लज्जा का अनुभव इसलिए होगा क्योंकि उन्हें दूसरों की शृङ्गारिक चेष्टाएँ देखना अरुचिकर होतीं हैं} और अन्यों को (अपनी—अपनी प्रकृति के अनुसार) ईर्ष्या, राग आदि होगा। संभव है, उन प्रेमियों को देखकर कुछ व्यक्तियों को इच्छा

एवं च सति रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमपास्तम् । अन्यतो लब्धसत्ताकं वस्त्वन्येनापि व्यज्यते। प्रदीपेनेव घटादि, न तु तदानीमेवाभिव्यञ्जकत्वाभिमतैरापाद्यस्वभावम् । भाव्यन्ते च विभावादिभिः प्रेक्षकेषु रसा इत्यावेदितमेव ।

ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः ? कथं च सीतादीनां देवीनां विभावत्वेनाऽविरोधः ? उच्यते –

होने लगे कि इस सुन्दरी का अपहरण कर लिया जाय। इसलिए रस की स्थिति अनुकार्य (ऐतिहासिक मूल) पात्रों में नहीं मानी जा सकती।

एवञ्चेति। और, ऐसा सिद्ध हो जाने पर {काव्य के द्वारा सहृदय सामाजिक के हृदय में भावित रति आदि भाव ही रस है –, ऐसा स्वीकार कर लिया जाने पर} रस आदि के व्यङ्ग्यत्व के सिद्धान्त का निराकरण–खण्डन–हो जाता है। अर्थात् रस व्यङ्ग्य नहीं हो सकता । क्योंकि जो पदार्थ अन्य कारणों से अस्तित्व में आ चुका होता है, वही अन्य कारण के द्वारा व्यञ्जित होता है। {अर्थात् व्यञ्जना उसी वस्तु या पदार्थ की हो सकती है, जो पूर्व से ही अस्तित्व में हो, स्वतन्त्ररूप से विद्यमान हो, तब अन्य कारण से व्यञ्जित हो।} उदाहरण के लिए–घटादि प्रदीप के द्वारा व्यक्त होने की तरह अर्थात् घट की सत्ता प्रदीप से पूर्व ही है तथा स्वतन्त्र है, तभी तो प्रदीप घट को व्यञ्जित करता है। वह वस्तु व्यङ्ग्य नहीं की जा सकती जिसका अस्तित्व (स्वभाव) अभिव्यञ्जक कारणों के द्वारा उसी समय (अर्थात् व्यञ्जना के अवसर पर ही) उत्पन्न किया जाता है। {अर्थात् अभिव्यक्त होने वाली वस्तु का अस्तित्व पूर्व से ही होना चाहिए तभी वह अभिव्यञ्जक कारणों के द्वारा प्रदर्शित हो सकती है, अन्यथा नहीं } इसी प्रकार रस के विषय में भी यही बात कही जा सकती है, कि यदि रसादि पूर्व से ही विद्यमान होते तो उनके अभिव्यञ्जक विभावादि अथवा काव्य में प्रयुक्त शब्दादि उनकी व्यञ्जना करा सकते थे। इसलिए रस आदि की सत्ता पूर्व से न होने पर व्यञ्जनावादी उन्हें व्यङ्ग्य नहीं कह सकते। विभावादि के द्वारा रसों की भावना (आस्वाद या चर्वणा) सहृदय दर्शकों–सामाजिकों में होती है, यह पूर्व में बताया जा चुका है। {इसलिए रस की सत्ता पूर्व से न होने के कारण व्यञ्जनावादी 'रस' को व्यङ्ग्य नहीं कह सकते हैं।}

नन्विति। सामाजिकों में रस की स्थिति मानने पर स्वभावतः ही एक प्रश्न उपस्थित होता है कि सहृदय सामाजिकों में स्थित रस का विभाव कौन है ? तथा सीता आदि पूज्य देवियों को शृङ्गारादि का (आलम्बन) विभाव मानने में अविरोध कैसे होगा? {अर्थात् दर्शकों के लिए दोष क्यों नहीं होता ?} भाव यह है कि सामाजिकों के रसास्वाद के विभाव कौन है? तथा सीता जैसी पूज्य देवियों को विभाव मानने में अविरोध कैसे स्थापित होगा? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर देने के लिए धनञ्जय ने निम्न कारिका को उपन्यस्त किया है – उच्यत इति।

रामादिः धीरोदात्ताद्यवस्थानम् प्रतिपादकः रत्यादीन् विभावयति च, ते रसिकस्य स्वदन्ति इत्यन्वयः ॥ ४० ॥

धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः ।
विभावयति रत्यादीन् स्वदन्ते रसिकस्य ते ।। ४० ।।

नहि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासवदुपनिबध्नन्ति । किं तर्हि ? सर्वलोकसाधारणा स्वोत्प्रेक्षाकृत–सन्निधीः धीरोदाताद्यवस्थाः {तन्निबद्धाः} क्वचिदाश्रयमात्रदायिनीः (वि) दधति ।

कारिकार्थ — धीरोदात्तेति। {कवि द्वारा नाटकादि काव्यों में वर्णित अनुकार्य} रामादि तदनुकूल धीरोदात्त आदि अवस्था के प्रतिपादक होते हैं। (अर्थात् धीरोदात्त अवस्थाओं को प्रदर्शित करने वाले होते हैं) वे (अनुकार्य राम आदि) रत्यादि स्थायी भावों को {रसिक सामाजिकों के चित्त में) विभावित करते हैं, (अर्थात् रत्यादि स्थायीभाव की प्रतीति में कारण होते हैं।) फलतः अंकुरित हुए रत्यादि स्थायी भावों का रसिक सामाजिकों के द्वारा आस्वादन किया जाता है ।। ४० ।।

वृत्त्यर्थ — नेति। कवि योगियों की तरह ध्यानचक्षु से देखकर अपने काव्य में, इतिहास–पुराणादि की तरह, राम आदि की व्यक्तिगत (प्रतिस्विकी) यथार्थ अवस्था का उपनिबन्धन (वर्णन) नहीं करते हैं। { अर्थात् प्रतिभाशाली कवि अतीत के ऐतिहासिक मूल पात्रों–राम आदि के चरित्र का वर्णन ठीक उसी प्रकार (यथार्थ रूप से अक्षरशः) नहीं करते, जैसा कि इतिहास पुराणों में किया होता है।} तो फिर कवि कैसा वर्णन करते हैं?

सर्वलोकेति। कवि अपनी उत्प्रेक्षा (कल्पना) से राम आदि जैसे किसी विशिष्ट–महापुरुष का आश्रय ग्रहण कर उसमें निहित तत्तत् प्रकार की उन धीरोदात्तादि अवस्थाओं का वर्णन करते हैं, जो सर्वलोक साधारण होती हैं। { अर्थात् कवि अपने ही लौकिक जीवन में प्रत्यक्षरूप में अनुभूत या परिलक्षित किये राजा आदि की धीरोदात्तादि अवस्थाओं में कुछ कल्पना का समावेश कर राम आदि की अवस्था का चित्रण करते हैं।} ।। ४० ।।

परामर्श — काव्य और इतिहास (पुराण) में विशेष अन्तर है। **काव्य सर्व सामान्य की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की। काव्य में सामान्य मानव–अनुभव का वर्णन होता है। इतिहास का सम्बन्ध विशिष्ट व्यक्तियों से होता है, और सम्भव है, वे विशिष्ट व्यक्ति वर्तमान में न हो । अतः कवि ऐसे विषयों को ग्रहण करता है, जो सहज मानव–अनुभव के विषय होते हैं — जिनका प्रायः सभी सहृदय व्यक्ति अनुभव कर सकते हैं। काव्य में विशिष्ट नामरूपधारी राम–दुष्यन्त आदि व्यक्तियों का और उनके जीवन घटित विशेष घटनाओं का ही वर्णन तो होता है, परन्तु कवि उनके स्थूलरूप की अपनी कल्पना से उपेक्षा कर उनमें सन्निहित सामान्य मानव अनुभव पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है। जिससे उनकी विशिष्टता गौण हो जाती है और सर्व–संवेद्य सामान्यरूप उभरकर सामने आ जाता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'नामरूप से विशिष्ट व्यक्तियों के माध्यम से सर्वसामान्यतया सार्वभौमता की सिद्धि काव्य का लक्ष्य होता है' ।। ४० ।।**

तां एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः ।

तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः किमिवानिष्टं कुर्युः ।

किमर्थं तर्ह्युपादीयन्त इति चेत् ? उच्यते –

क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद् बालानां द्विरदादिभिः ।। ४१ ।।
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः ।

कारिकार्थ – ता एवेति। काव्य में वर्णित वे सीतादि (अतीतकाल के व्यक्ति) ही जब अपने विशेष व्यक्तित्व { सतीत्वादि रूप } को त्याग कर सामान्य (नायिका मात्र) का रूप धारण कर लेती हैं, तो रसिक के चित्त में रस चर्वणा–भावित–कराने के कारण (विभाव) बन जाती हैं ।।

वृत्त्यर्थ – तत्रेति। काव्य में सीता आदि शब्द 'जनकतनया' 'जनक की कन्या होना' (या राम की पत्नी होना') आदि विशेषताओं का त्यागकर केवल स्त्री वाचक होते हैं। (ऐसा होने पर फिर) क्या दोष हो सकता है ? (अर्थात् कुछ नहीं) {भाव यह है कि जब सीता अपनी विशेषता का अर्थात् राम की पत्नी –'जनक तनया' आदि पूज्यभाव का त्याग कर सामान्य स्त्री के रूप में उपस्थित होती हैं तब उनको सामाजिक जनों के आलम्बन विभाव बनने में कोई दोष नहीं है।}

किमर्थमिति। { इस पर प्रश्न यह उठता है कि जब सीता आदि शब्द व्यक्ति विशेष के वाचक न होकर केवल सर्वसामान्य स्त्री के वाचक होते हैं} तो फिर काव्य में सीता आदि पूज्य देवियों का उपादान ही क्यों किया जाता है ? इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए धनञ्जय कहते हैं –

यद्वत् मृण्मयैः द्विरदादिभिः क्रीडताम् बालानाम् तद्वत् श्रोतृणाम् अर्जुनादिभिः सोत्साहः स्वदते **इत्यन्वयः** ।। ४१–४२ ।।

कारिकार्थ – क्रीडतामिति। जिस प्रकार मिट्टी से बने हुए हाथी आदि खिलौने से खेलते हुए बालकों को अपने ही उत्साह का आस्वादन होता है – अर्थात् आनन्दानुभूति होती है, उसी प्रकार श्रोतागण को अर्जुन के रूप में अभिनय करने वाले पात्रों के द्वारा अपने ही उत्साह का आस्वादन होता है ।। ४१–४२ ।।

{भाव यह है कि बालक मिट्टी के बने हुए हाथी–घोड़ों आदि को सच्चे हाथी–घोड़े समझकर उनसे खेलते हैं और आनन्दित होते हैं, इसी प्रकार सहृदय–दर्शक रंगमञ्च पर अर्जुन आदि का अभिनय करने वाले पात्रों में उत्साह देखकर स्वयं उत्साह का आस्वाद लेते हैं। यद्यपि मंच पर अभिनय करने वाले अर्जुनादि नट मिट्टी के हाथी–घोड़ों की तरह ही अवास्तविक होते हैं, केवल (मूल अर्जुन के) प्रतिकृति मात्र होते हैं, फिर भी सामाजिकों को उनसे आनन्द की प्राप्ति होती है।}।। ४१–४२ ।।

परामर्श — साधारणीकरण — काव्य या नाटक के पात्रों की भावाभिव्यक्ति सर्वसाधरण के आस्वाद का कारण किस प्रकार बनती है ? जबकि उन (राम आदि) पात्रों और हमारे बीच देश और काल का एक बड़ा व्यवधान होता है, फिर भी उनके भाव हमारे आस्वाद्य किस प्रकार बन जाते हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर हमें भारतीय काव्य शास्त्र में मिलता है। और वह है — **साधारणीकरण** । भरत के नाट्यशास्त्र में साधारणीकरण सिद्धान्त के सूत्ररूप में बीज देखने को मिल जाते हैं—यथा— **'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते'** — अर्थात् जब इन भावों को सामान्यरूप से प्रस्तुत किया जाता है तब रसों की निष्पत्ति होती है। (ना० शास्त्र० का० मा० पृ० १०६) परन्तु स्पष्ट और निश्चित उल्लेख **भट्टनायक** के उद्धरणों में देखने को मिलता है— यथा — ।। 'विभावादि साधारणीकरणात्मना भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानो रस: भोगेन परं भुज्यत इति' ।।

अर्थात् विभावादि के साधारणीकरणरूप **भावकत्व** नामक व्यापार द्वारा **भाव्यमान** स्थायीभावरूप रस **भोजकत्व** व्यापार के द्वारा आस्वादित किया जाता है। अर्थात् **भावकत्व व्यापार** द्वारा भाव्यमान स्थायीभाव ही रस रूप में परिणत हो जाता है। वस्तुत: साधारणीकरण रसास्वाद से पूर्व की प्रक्रिया है, यह वह प्रक्रिया है जो रस के विभिन्न अवयवों को अपने–अपने वैशिष्ट्य से मुक्त कर आस्वाद्यरूप में प्रस्तुत कर देती है। **अभिनव गुप्तपादानुसार** सामाजिकों की आत्मा में संस्कार के रूप में स्थित रहने वाला 'रति आदि स्थायीभाव' ही (जो अनादि संस्कारों से चित्रित चित्तवाले समस्त सामाजिकों को एक जैसा होता है, और इसीलिए सभी को एक जैसी ही प्रतीति होती है।) साधारणीकरण को प्राप्त हुए विभावादिकों से अभिव्यक्त हो जाता है और तन्मयीभाव हो जाने से 'वेद्यान्तर' के सम्बन्ध से रहित ब्रह्मास्वाद के सदृश 'परम आनन्द' के रूप में अनुभूत होने लगता है।

काव्य प्रकाश के टीकाकार **गोविन्द ठक्कुर** ने भट्टनायक के साधारणीकरण — सिद्धान्त को इस प्रकार उपस्थित किया है — 'भावकत्वं साधारणीकरणम् । तेन हि व्यापारेण विभावादय: स्थायी च साधारणीक्रियन्ते । साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थिति: । स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धि–विशेषानवच्छिन्नत्वेन ।' (काव्य प्र०, निर्णयसागर प्रेस पृ० ६६)

अर्थात् **भावकत्व** का अर्थ है **साधारणीकरण** । इस व्यापार के द्वारा विभावादि का और स्थायीभावों का साधारणीकरण होता है । साधारणीकरण से अभिप्राय है **सीतादि विशेष पात्रों का कामिनी आदि सामान्यरूपों में उपस्थित होना। स्थायीभाव और अनुभाव के साधारणीकरण का आशय है विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्ति।' अर्थात् आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारीभाव देश–काल की सीमा में परिबद्ध अपने विशेषरूप का परित्याग कर सामान्य भूमिका में अवस्थित तथा सम्बन्ध–सम्बन्धी की भावना से मुक्त हो जाते हैं। अर्थात् सीता–पार्वती अपने मातृरूप का परित्याग कर रूप–गुण सम्पन्न सहज नारी की और राम आदि देव अपने दिव्य स्वरूप को त्याग कर रूप–मुग्ध पुरुष की भूमिका में उपस्थित हो जाते हैं। दूसरी ओर सहृदय का चित्त भी, व्यक्ति सम्बन्धों से मुक्त होकर रस समुद्र में मग्न हो जाता है।'**

एतदुक्तं भवति—नात्र लौकिकशृङ्गारादिवत् स्त्र्यादिविभावादीनामुपयोगः : किं तर्हि? प्रतिपादितप्रकारेण (उपयोगः) लौकिकरसविलक्षणत्वं नाट्यरसानाम् । यदाह—'अष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः' इति ।

काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ॥ ४२ ॥

नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् भवति । तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् । काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत्काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते ।

इसी साधारणीकरण को धनञ्जय ने बड़े ही विशदरूप से प्रतिपादित किया है । सामाजिक में रस की प्रतीति बिना 'साधारणीकरण' के असम्भव है । धनिक और धनञ्जय ने इस प्रकाश में एकाधिक स्थानों पर साधारणीकरण को स्पष्ट किया है — 'अमीषां चानपेक्षितबाह्यसत्त्वानां शब्दोपधानादेवासादिततद्भावानां सामान्यात्मनाम् स्वसंबधित्वेन विभावितानां साक्षद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामा—लम्बनादिभाव इति' (४।२)॥

वृत्त्यर्थ — एतदुक्तमिति। कहने का तात्पर्य यह है कि— काव्य का शृङ्गार ठीक उसी प्रकार नहीं है जैसा लौकिक शृङ्गार । लौकिक शृङ्गार की तरह स्त्री आदि विभावों का प्रयोग काव्य में नहीं होता है। तो फिर यहाँ क्या होता है ? काव्य रस (नाट्य रस) लौकिक (सांसारिक) रस से सर्वथा विलक्षण, जैसा कि पूर्व बताया जा चुका है। {भरत ने नाट्यशास्त्र ६।१५ में} कहा भी है — अष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः — 'नाट्य रस संख्या में केवल आठ ही होते हैं।। ४१—४२।।

कारिकार्थ — काव्यार्थेति। {यद्यपि मुख्य रूप से सहृदय सामाजिक को ही रस का आस्वाद होता है तथापि } काव्यार्थ की भावना से {अद्भुत रस का} नर्तक (नट) को भी आस्वाद हो जाए तो हम उसे अस्वीकार नहीं कर सकते। { धनञ्जय कहते हैं कि नर्तक को भी रस का आस्वादन प्राप्त हो सकता है। अतः हम नर्तक के काव्यार्थ भावना (रस) के आस्वाद का निषेध नहीं करते} ॥ ४२ ॥

वृत्त्यर्थ — नर्तक इति। { रंगमञ्च पर काव्यार्थ का अभिनय करने के अवसर पर } नाटकादि में अनुकार्य मूलपात्र—रामादि का अनुकरणकर्ता नट भी लौकिक रस से रसवान्—रसयुक्त नहीं होता, क्योंकि वह अभिनय के अवसर पर अभिनेत्री (नाटक में अनुकरण करने वाली महिला पात्र) को अपनी स्त्री के रूप में (भोग्यत्वेन) ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिए उसमें लौकिक रस की स्थिति नहीं मानी जा सकती। किन्तु काव्यार्थ की भावना से हमारी तरह (अर्थात् सहृदय समाजिक की तरह) उसे (नर्तक को) भी रसास्वाद हो सकता है। { तात्पर्य यह है कि यदि नर्तक सहृदय है, तो वह सामाजिक के रूप में, एक सहृदय दर्शक की दृष्टि से, वह रसास्वाद कर सकता है। इस तथ्य को अस्वीकारा नहीं जा सकता।}॥ ४२॥

परामर्श — दृश्य—काव्य में रस की स्थिति नट—नटी के हृदय में भी माननी पड़ेगी। नट—नटी भी अनिवार्यतः सहृदय ही होने चाहिए, नहीं तो वे संवेद्य—भावना

कथं च काव्यात् स्वादोद्भूतिः, किमात्मा चासाविति व्युत्पाद्यते –

स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः ।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ॥ ४३ ॥
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥ ४४ ॥
अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम् ।

काव्यार्थेन विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः सम्भेदे –

विशेष को सहृदय सामाजिक के हृदय में संप्रेषित नहीं कर सकते। जब वे संवेद्य अनुभूति को प्रथम स्वयं अनुभूत कर सकेंगे–ग्रहण कर सकेंगे– तभी वे सहृदय सामाजिक तक संवेद्य को संप्रेषित करने में सफल हो सकेंगे। तात्पर्य यह है कि श्रव्य काव्य की रचना करने के अवसर पर कवि और दृश्य–काव्य में अभिनय के अवसर पर नट–नटी अपने हृदय–स्थित रस का आस्वादन तो करते ही हैं, साथ ही उनका यह रसास्वादन सहृदय के हृदय में वासनारूप में स्थित रत्यादि स्थायी–भावों को उद्बुद्ध कर रस–दशा तक संप्रेषित करने में भी निश्चितरूप से सहयोग देता है ॥ ४२॥

रस–प्रक्रिया एवं उसका स्वरूप –

कथमिति। काव्य द्वारा आनन्दानुभूति कैसे होती है? तथा उसका स्वरूप क्या है ? – अब ग्रन्थकार इसी का प्रतिपादन करते हैं –

कारिकार्थ – कथमिति। काव्यार्थ के साथ तन्मयता होने से (सहृदय के चित्त में) जो आनन्द अनुभव होता है, वहीं स्वाद (रस) कहलाता हैं। अर्थात् आत्मानन्दानुभूति को ही 'रस' कहा जाता है। वह (स्वाद) चार प्रकार का माना जाता है – (१) चित्त का विकास, (२) चित्त का विस्तर, (३) चित्त का क्षोभ, (४) तथा चित्त का विक्षेप। ये उपर्युक्त चारों प्रकार के मनोविकार–विकास, विस्तार, क्षोभ तथा विक्षेप– क्रमशः शृङ्गार, वीर, बीभत्स तथा रौद्र रसों में पाए जाते हैं। हास्य, अद्भुत, भयानक, एवं करुण रसों में भी (मन की) उक्त (विकास आदि अवस्थाएँ) क्रमशः मिलती हैं ॥ ४४–४४ ॥

इस प्रकार शृङ्गार तथा हास्य में विकास, वीर तथा अद्भुत में विस्तर, बीभत्स तथा भयं में क्षोभ, एवं रौद्र तथा करुण में विक्षेप की स्थिति होती है। इसीलिए हास्यादि चार रसों को (क्रमशः) शृङ्गार आदि रसों से उत्पन्न माना जाता है, और इसीलिए – 'आठ ही रस हैं'– इस प्रकार का अवधारण भी किया जाता है। ॥ ४३–४५ ॥

{ क्योंकि मन की चार विकास आदि अवस्थाओं से चार शृङ्गारादि तथा चार तज्जन्य हास्यादि का ही सम्बन्ध घटित होता है । नौ या दस रस संख्या का नहीं }

वृत्त्यर्थ – काव्यार्थेनेति। { कारिका में प्रयुक्त} 'काव्यार्थ' शब्द से तात्पर्य है – विभाव आदि से संसृष्ट स्थायीभाव, उस (स्थायीभाव) के साथ सहृदय के चित्त

अन्योन्यसंवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः स्वादः । तस्य च सामान्यात्मनैकत्वेऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्यत्वेन सम्भेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति । तद्यथा — शृङ्गारे विकासः, वीरे विस्तरः, बीभत्से क्षोभः, रौद्रे विक्षेप इति । तदन्येषां चतुर्णां हास्याद्भुतभयानककरुणानां स्वसामग्रीलब्धपरिपोषाणां त एव चत्वारो विकासाद्याश्चेतसः सम्भेदाः । अत एव —

> शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
> वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥'

इति हेतुहेतुमद्भाव एव सम्भेदापेक्षया दर्शितः । न कार्यकारणभावाभिप्रायेण। तेषां कारणान्तरजन्यत्वात् ।

का सम्भेद हो जाने पर अर्थात् परस्पर एक दूसरे में घुल–मिल जाने पर–तथा 'स्व' एवं 'पर' का भेद विस्मृत हो जाने पर जो प्रबलतर आत्मानन्दानुभूति होती है, वही स्वाद (रस) है।[1] {तात्पर्य है कि रसानुभव अन्य प्रकार के ज्ञान या अनुभव से रहित या शून्य होता है। वस्तुतः रस पूर्ण तन्मयीभाव की स्थिति है अतः इसमें अन्य ज्ञान के लिए अवकाश नहीं रहता । रस की स्थिति में प्रमाता स्व, पर, तटस्थ आदि की भावना से मुक्त हो जाता है– देश–काल का बन्धन उसे नहीं बांधता और वह प्रस्तुत प्रसंग के साथ पूर्ण तादात्म्य का अनुभव करता हुआ कुछ समय के लिए सर्वथा आत्मलीन हो जाता है।}

तस्य चेति। यह स्वाद वैसे तो सभी रसों में सामान्यरूप से पाया जाता है, फिर भी भिन्न–भिन्न रस के भिन्न प्रकार के विभाव होते हैं। अतः इस भेद के कारण सहृदय के चित्त की चार प्रकार की अवस्थाएँ हो जाती हैं । जैसे कि– (१) शृङ्गाररस में चित्त का विकास होता है। (२) वीर रस में चित्त का विस्तार, (३) बीभत्स में क्षोभ और (४) रौद्र में विक्षेप होता है। शृङ्गार आदि इन चार रसों से भिन्न हास्य, अद्भुत, भयानक, तथा करुण–इन चार रसों में भी–जिसकी पुष्टि अपनी–अपनी प्राप्त सामग्री अर्थात् विभावों (कारणों) के अनुसार होती है, — वे ही (शृङ्गारादि रसों में होने वाली) चार विकास आदि चित्त की अवस्थाएँ क्रमशः (हास्यादि रसों में भी) प्राप्त होती हैं। अतः शृङ्गारादि के हास्यादि का कारण इसी सम्भेद के आधार पर माना जाता है। अतः भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में कहा है —

शृङ्गारादिति। 'शृङ्गार से हास्य की, रौद्र से करुण की, वीर से अद्भुत की तथा बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है।

इति हेत्विति। यहाँ चित्त के सम्भेद (चित्तवृत्ति की एकता) की अपेक्षा से ही हेतु–हेतुमान् का भाव (अर्थात् शृङ्गार आदि को हेतु तथा हास्य आदि को हेतुमान् = कार्य) कहा गया है। कार्य–कारण भाव के अभिप्राय से नहीं । क्योंकि हास्यादि

---

१. परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च । तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥ सा० द० ३।११

शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति कीर्तितः।'

इत्यादिना विकासादिसम्भेदैकत्वस्यैव स्फुटीकरणात् अवधारणमप्यत एव 'अष्टौ' इति सम्भेदान्तराणामभावात् ।

ननु च युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसम्भेदात् आनन्दोद्भव इति। करुणादौ तु दुःखात्मकत्वे कथमिवासौ प्रादुःष्यात् ? तथा हि तत्र— करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति, न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते ।

अन्य कारणों अर्थात् अपने विभाव आदि से उत्पन्न होते हैं और शृङ्गार आदि भिन्न कारणों—अपने विभाव आदि— से उत्पन्न होते हैं। {तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्ति एक सी पाई जाने के कारण शृङ्गारादि को क्रमशः हास्यादि का हेतु — (कारण) तथा हास्यादि को हेतुमान् (कार्य) कहा गया है। यह एक सी चित्तवृत्ति दूसरे रसों में नहीं पाई जाती है। अतः इस भेद को दर्शाने को ही इस कार्य—कारण का उल्लेख किया गया है।}

शृङ्गारेति। शृङ्गार की जो अनुकृति है, उसे हास्य कहा जाता है। (ना०शा० ६।४१) {अर्थात् शृङ्गार का अनुकरण करने वाली प्रवृत्ति (—अनुकृति) 'हास्य कही जाती है। यथा—शृङ्गार प्रथम रस है तो शृङ्गार रस से युक्त अनुकरणभूत 'हास्य' (द्वितीय रस) हुआ ।}

इत्यादिनेति। इस उक्ति के द्वारा (शृङ्गार तथा हास्य आदि में) विकासादि के सम्भेद को ही अधिक स्पष्ट किया गया है। इसीलिए — **'आठ ही रस हैं'** — यह अवधारण भी दिया गया है, क्योंकि चित्त की चार अवस्थाएँ हैं और एक—एक अवस्था का दो—दो रसों से सम्बन्ध है। इस प्रकार आठ ही रस हो सकते हैं। नौ या दस नहीं। वस्तुतः अन्तःकरण की तन्मयता की अवस्थाएँ चार ही होती हैं, इन चार से भिन्न चित्त की तन्मयता (सम्भेदावस्था) की अवस्थाएँ नहीं होती हैं। इसलिए **'आठ ही रस हैं'** — यह कहा जाना— अवधारण करना—युक्ति संगत है।

पूर्वपक्षी — {ग्रन्थकार के द्वारा—रस का स्वरूप, उसकी निश्चित संख्या, तथा उनकी चित्तभूमियों का निर्देश किया जाने पर, रस के आनन्द—स्वरूप के विषय में एक शङ्का उत्पन्न होती है क्या सभी रस आनन्दात्मक होते हैं ? या दुःखात्मक भी?}

नन्विति। क्योंकि—शृङ्गार, वीर, एवं हास्य आदि प्रमोदात्मक रसों में काव्यार्थ के साथ सहृदय सामाजिक के चित्त का पूर्ण सम्भेद हो जाने से आनन्द की उत्पत्ति—अर्थात् आनन्द की अनुभूति—हो सकती है, किन्तु करुण आदि दुःखात्मक रसों में आनन्दानुभूति कैसी हो सकती है? क्योंकि जैसे करुणात्मक काव्यों (करुण—प्रधान) के श्रवण करने से दुःख का आविर्भाव एवं अश्रुपात आदि का प्रादुर्भाव सहृदय—सामाजिकों में भी होता है, यदि वे आनन्दात्मक होते तो ऐसा (देखने में, या अनुभव में) क्यों होता ?

सत्यमेतत् । किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम्, अन्यश्च लौकिकात् करुणात् काव्यकरुणः । तथा हि — अत्रोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः । यदि च लौकिककरुणवद् तद्दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात् तदा न कश्चित् तत्र प्रवर्तेत । ततः करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद

परामर्श — तात्पर्य यह है कि रस–दशा में सहृदय–सामाजिक की चित्तवृत्ति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूति से युक्त हो जाती है। यही आनन्दानुभूति–आनन्दास्वाद–रस है। (व्यवहारिक जीवन में) शृङ्गार, वीर, हास्य आदि रसों के काव्यों से पाठक को या उनके अभिनय को देखने वाले सहृदय दर्शक को सुखानुभव होता है, अतः ये रस सुखात्मक हैं। इसलिए इन रसात्मक काव्य के अर्थ से सहृदय के चित्त में आनन्दोद्भूति का होना तो ठीक प्रतीत (स्वाभाविक प्रतीत) होता है, किन्तु करुण आदि रसों के विषय में यह अनुभव ठीक नहीं बैठता। प्रश्न यह है कि दुःखात्मक करुण, बीभत्स, भयानक तथा रौद्र रसों से आनन्दानुभूति अर्थात् आनन्दोत्पत्ति कैसी संभव हो सकती है ? पूर्वपक्षी अपने विचार को अधिक सुसंगत करने के लिए कहता है कि करुणात्मक काव्य को सुनकर सहृदय के अश्रु गिरने लगते हैं, उसके हृदय में दुःख का आविर्भाव होता है। यदि करुणात्मक काव्य को (या करुण को) आनन्दात्मक कहा जाय, तो सहृदय को उनके आस्वाद के अवसर पर रोना नहीं चाहिए ।।

सिद्धान्ती का उत्तर— उक्त शङ्का का उत्तर देते हुए वृत्तिकार धनिक अपने सिद्धान्तपक्ष को प्रस्तुत करते हैं। —

सत्यमिति। आपकी शङ्का ठीक है, अर्थात् आपका यह कथन निश्चित ही ठीक है { कि करुणरसात्मक काव्यों के श्रवण से सहृदय सामाजिक दुःखी हो जाते हैं, वे रोते हैं और आँसू गिराते है}; किन्तु वस्तुतः लौकिक करुणादि से काव्य के करुण में बहुत अन्तर है। लौकिक करुण आदि से काव्य का करुण भिन्न होता है। क्योंकि काव्य का करुण दुःखात्मक होने पर भी आनन्दात्मक है। यह काव्योद्भूत आनन्द उसी प्रकार सुख–दुःखात्मक होता है, जिस प्रकार सुरतकाल में कुट्टमित {—कुपित हाव} नखक्षत–दन्तक्षतरूप प्रहारादि से उत्पन्न आनन्द स्त्रियों के लिए सुख–दुःखात्मक होता है। अर्थात् मिश्रित सुख–दुःखानुभव होता है। उसी प्रकार काव्यगत करुण से सहृदय–पाठक या सामाजिक को आनन्द की प्रतीति होती है।

अन्यश्चेति। इसके अतिरिक्त लौकिक करुण की अपेक्षा काव्य का करुण अलग ही होता है, (इसमें एक प्रकार की विलक्षणता अलौकिकता रहती है।) इसीलिए काव्यगत करुण रस के प्रति सहृदय पाठकों या सामाजिकों की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। अर्थात् सहृदय काव्य के करुण के प्रति विशेषरूप से प्रवृत्त होते हैं। यदि लौकिक करुण के समान ही यहाँ का करुण भी (अर्थात् काव्य का करुण भी), दुःखात्मक ही होता तो कोई भी सहृदय पाठक या दर्शक ऐसे दुःखद काव्य का अनुशीलन नहीं करता, उनकी प्रवृत्ति कभी नाटक देखने या काव्य श्रवण

एव भवेत् । अश्रुपातादयश्चेतिवृत्तवर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्य-दर्शनादिवत् प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते । तस्माद् रसान्तरवत् करुणस्याप्या-नन्दात्मकत्वमेव ।

करने में नहीं होती। ऐसा होने पर तो करुण—रस—प्रधान रामायणादि महाप्रबन्धात्मक काव्यों का उच्छेद ही हो जाता। किन्तु ऐसा नहीं हुआ है, सहृदयजन करुण—रस—प्रधान काव्य रामायण आदि को विशेष रुचि से पढ़ते हैं और सुनते भी हैं। अत: निश्चय ही करुण—रस प्रधान काव्यों से सहृदयजन को आनन्दानुभूति होती है। सहृदय पाठकों या दर्शकों के अश्रुपातादि के विषय में तो बात यह एकान्त सत्य है कि कथा के वर्णन को सुनकर उन्हें दु:ख का अनुभव होता है और उनके आँसू उसी प्रकार गिरते हैं, जैसे लौकिक व्यवहार में किसी व्यक्ति की विकलता को देखकर हमारे आँसू गिरते हैं। किन्तु सहृदय सामाजिकों का ऐसे करुणप्रधान वर्णनों को सुनकर आँसू गिराना, उनका अश्रुपात रस या आनन्द का विरोधी नहीं है। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि {शृङ्गारादि} अन्य रसों के समान **करुण रस भी आनन्दात्मक ही है**। इस करुण रस से भी सहृदय पाठकों या दर्शकों में आनन्दोत्पत्ति होती है।

परामर्श — रसों की सुख—दु:खात्मकता के विषय में आचार्यों के विचार अलग—अलग हैं —

(१) **सभी रस सुखात्मक ही होते हैं** — (आचार्य विश्वनाथ — साहित्यदर्पण इस विषय में विश्वनाथ का विचार निर्भ्रान्त है (सा० द० ३. ४—५)

(२) **सभी रस सुख—दु:खात्मक होते हैं** — अभिनवभारतीकार, **शृङ्गारप्रकाशकार** (भोज) एवं **रसकलिका** के रचयिता 'रुद्रभट्ट' **भरत** ने 'अर्थ' या उसके पर्याय 'नाट्य' को सुखदु:ख समन्वित माना है। और उसकी व्याख्या करते हुए **अभिनवगुप्तपाद** ने रति—हास—उत्साह—विस्मय को सुखप्रधान तथा क्रोध—भय—शोक—जुगुप्सा को दु:ख प्रधान माना है। अभिनवगुप्तपाद का यह विवेचन निश्चय ही नितान्त मार्मिक है। उन्होंने नौ स्थायी भावों की प्रकृति का विश्लेषण कर यह सिद्ध किया है कि इनमें से आठ का स्वरूप उभयात्मक है और एक का अर्थात् निर्वेद का शुद्ध सुखात्मक ।

(३) संस्कृत के प्राय: सभी प्रतिनिधि आचार्य रस को अनिर्वायत: सुखात्मक—आनन्दरूप ही मानते हैं।

(४) शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत तथा शान्त रस सुखात्मक होते हैं, किन्तु रौद्र, बीभत्स, भयानक तथा करुण रस दु:खात्मक होते हैं — नाट्यदर्पणकार—रामचन्द्र— गुणचन्द्र। विरोधी पक्ष में जैन आचार्यद्वय—रामचन्द्र—गुणचन्द्र का स्वर सबसे प्रखर और स्पष्ट है।

(५) **शृङ्गार आदि रस सुखात्मक होते हैं, किन्तु करुण आदि सुखदु:खात्मक होते हैं। दशरूपककार—धनञ्जय—धनिक। दशरूपक के वृत्तिकार** ६

ानिक ने सभी रसों की सुखरूपता का मण्डन किया है। तथापि उन्होंने करुण में होने वाले आनन्द को सुख–दु:खात्मक ही माना है – **'तादृश एवासावानन्दः सुखदु:खात्मक:।'** (द० रू० ४।४५ की वृत्ति)।

करुण रस का आस्वाद – भारतीय काव्य–शास्त्र के प्रतिनिध मतानुसार तो करुण–रस का आस्वाद भी शृङ्गार आदि रसों की तरह ही सुखात्मक होता है। अपने विचार की पुष्टि में यह कहा जाता है कि करुण के साथ –'रस' शब्द का प्रयोग ही उसके आनन्दात्मकता का स्पष्ट द्योतक है। फिर भी इस प्रश्न के समाधान के लिए तीन तर्क उपन्यस्त किये जाते हैं –

(१) लौकिक रस की अपेक्षा काव्य का रस अलौकिक होता है। अत: उसे लौकिक कार्य–कारण सम्बन्ध की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। लौकिक नियमानुसार दु:ख से दु:ख की उत्पत्ति होती है; किन्तु काव्य के क्षेत्र में कवि की अम्लान प्रतिभा के स्पर्श से (काव्य में) दु:ख से सुख की उत्पत्ति सम्भव हो जाती है– यही काव्य की अलौकिकता है । अत: काव्यगत करुण रस से सुखानुभव सर्वथा सम्भव है।

(२) **भट्टनायक** की साधारणीकरण की स्थापना के अनुसार काव्य में प्रत्येक भाव साधारणीकृत होकर अन्तत: भोग्य बन जाता है। परिणामत: साधारणीकृत भाव की विशिष्टता समाप्त हो जाती है। राग–द्वेष से ग्रस्तता से मुक्ति मिल जाती है। अत: करुण आदि रसों में शोकादि का दंश नष्ट हो जाता है, और शुद्धभाव केवल आस्वादरूप में शेष रह जाता है।

(३) **अभिव्यक्तिवादियों** के अनुसार रस की उत्पत्ति नहीं होती, अभिव्यक्ति होती है। इसलिए शोक से शोक की उत्पत्ति होने का यहाँ नियम लागू नहीं होता। यहाँ तो रस की अभिव्यक्ति होने के कारण काव्य–नाट्य–गुणों के प्रभाव वश प्रेक्षक की आत्मा में रजोगुण तथा तमोगुण का तिरोभाव और सतोगुण का उद्रेक हा जाता है, परिणामत: उसका आत्मानन्द 'रस' रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। सत्व का उद्रेक और रजोगुण–तमोगुण का तिरोभाव आनन्द की स्थिति है, जिसमें अन्य भाव की स्थिति नहीं रहती या उसके लिए अवकाश नहीं रहता। अत: शोक आदि की कटुता स्वत: नष्ट हो जाती है और आनन्दमयी चेतना ही शेष रह जाती है।

(४) **भावप्रकाशनकार शारदातनय** के अनुसार आत्मा नित्य आनन्दरूप है। उनका विचार शैव–दर्शन पर आधृत है। वे कहते हैं कि आत्मा की आनन्दमयी प्रवृत्ति इतनी सशक्त है कि वह लौकिक दु:ख–मोहादि मायाजन्य कलुषों पर अप्रतिहतगति से विजय प्राप्त कर उन्हें भोग्य बना लेती है। करुण रस के आस्वाद्य होने का मूल कारण आत्मा की यही आनन्दमयी प्रवृत्ति है। (भावप्रकाशन; पृ० ५३)।

(५) करुण रस को दु:खात्मक मानने वाले **नाट्यदर्पण** के लेखकद्वय ने – 'सामाजिक करुण आदि का प्रेक्षण या श्रवण क्यों करता है ? – इसका उत्तर विस्तार से नाट्यदर्पण में दिया है। (ना० दर्पण, पृ० १५) उनके अनुसार करुण, रौद्र आदि के द्वारा भी जो चमत्कार की प्रतीति होती है, उसका प्रधान कारण है– यथार्थ वस्तु

ननु च शान्तरसस्याऽनभिनेयत्वात् यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यते । अतस्तदुच्यते –

शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ।। ४५ ।।

प्रदर्शन में अम्लान प्रतिभाशाली कवि का नैपुण्य और नट का अभिनय कौशल। शौर्यगर्वित वीर शत्रु के शिरश्छेदकारी प्रहार कौशल को देखकर दर्शक विस्मय–विमुग्ध हो जाता है। प्रेक्षक इसी चमत्कार को देखने के लोभ से करुणादि के दृश्यों को देखने का मोह संवरण नहीं कर पाता है। वस्तुत: इस चमत्कार से ही प्रवंचित होकर प्रेक्षक दु:खात्मक दृश्यों को देखने में आनन्द की प्रतीति करता है दूसरी ओर निष्णात कवि भी सुखदु:खात्मक संसार के अनुरूप रामादि के चरित्र को सुखदु:खात्मक रस से आप्लावित कर काव्य में अंकित करता है। जिस प्रकार मिर्च आदि मिश्रण से पानक के स्वाद में एक विशेष स्वाद–चमत्कार आ जाता है, इसी प्रकार दु:ख के तीक्ष्ण आस्वाद से सुख और अधिक आस्वाद्य हो जाता है।

(६) **बौद्ध दर्शन** के अनुसार **दु:ख** प्रथम आर्यसत्य है। इसका सम्यक् ज्ञान जीवन की प्रथम सिद्धि है। इसलिए करुण रस जीवन का आद्य–रस है। सत्य की उपलब्धि में जो आनन्द समाविष्ट रहता है, वही आनन्द जीवन में करुण का अंगित्व प्रतिपादन करने वाले काव्य से भी प्राप्त होता है।।

शान्तरस और उसका चित्त की विकासादि चार अवस्थाओं में अन्तर्भाव –

नन्विति। शान्तरस का (कारिका ३५, में कथित) अनभिनेयत्व होने के कारण नाट्य में उसका (शान्तरसका) अनुप्रवेश नहीं हो सकता, तथापि सूक्ष्म तथा अतीत आदि सभी वस्तुओं का शब्द के द्वारा प्रतिपादन किया जा सकता है, अत: शान्तरस भी श्रव्य काव्य का विषय बनता है, – उसके इस काव्य–विषयत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

{ तात्पर्य यह है कि शान्तरस का अभिनय न हो सकने के कारण, नाटक में उसका निबन्धन नहीं होता। किन्तु सूक्ष्म, अतीत आदि सभी वस्तुओं का प्रतिपादन शब्दों के द्वारा कराया जा सकता है – इस आधार पर शान्त रस श्रव्य–काव्य का विषय तो बन सकता है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी को कारिका में स्पष्ट किया गया है} –

कारिकार्थ – शमेति। शम नामक स्थायी–भाव का प्रकर्ष (परिपाक) (शान्त रस) अनिर्वाच्य है, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। { क्योंकि वह सुख, दु:ख, चिन्ता आदि सभी से परे हैं } किन्तु { उस शान्त रस को प्रकट करने की उपायभूत} जो मुदिता, मैत्री, करुणा तथा उपेक्षा आदि वृत्तियाँ हैं, वे {इन चित्त की विकासादि चार अवस्थाओं के ही रूप में होती है} अत: शान्त रस का भी चित्त की उक्त चार अवस्थाओं में ही समावेश हो जाता है ।। ४५ ।।

शान्तो हि यदि तावत् –

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ।।'

इत्येवंलक्षणः, तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्, तस्य च स्वरूपेणानिर्वचनीयता । तथा हि – श्रुतिरपि 'स एष नेति नेति' इत्यन्यापोहरूपेणाह । न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति। अथापि तदुपायभूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च विकासविस्तार–क्षोभविक्षेपरूपतैवेति । तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपितः ।

वृत्त्यर्थ – शान्त इति। यदि शान्त–रस का यह लक्षण माना जाय –

न यत्रेति। ''जहाँ न दुःख है, न सुख है, न चिन्ता है, न राग–द्वेष ही है, और जहाँ न कोई इच्छा ही है, सभी भावों में शम की ही प्रधानता है, उस रस को मुनीन्द्रों के द्वारा शान्त रस कहा गया है।''

इत्येवमिति। यदि शान्त–रस का उक्तप्रकार का लक्षण (स्वरूप) हो तो उस का प्रादुर्भाव मोक्ष की उस अवस्था में ही सम्भव है जहाँ की आत्मस्वरूप की उपलब्धि हो जाती है। { तात्पर्य यह है कि शान्त रस का उक्त प्रकार का लक्षण होने पर तो शान्त रस की यह अवस्था केवल मोक्षावस्था में ही प्राप्त हो सकती है, जहाँ आत्मस्वरूप की प्राप्ति या उसका ज्ञान होता है।}

तस्यचेति। उस मोक्षावस्थारूप आत्मोपलब्धि स्वरूपेण (स्वरूपतः) अनिर्वचनीय है, उसका शब्दों द्वारा वर्णन करना असम्भव है। उस आत्मा की स्वरूपतः अनिर्वचनीयता को श्रुति ने भी **'स एष नेति नेति'** – वह (आत्मा) यह नहीं है, यह नहीं है – इत्याकारक अन्यापोह के रूप में अभिहित किया है, अर्थात् अन्य से व्यावृत्त के रूप में कहा है। { तात्पर्य यह है कि श्रुति भी उस आत्मा की अनिर्वचनीयता को स्वीकार करती है, वह भी उसके स्वरूप को स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर पाती है, केवल यह कहती है कि उसका स्वरूप **यह नहीं है, यह नहीं है।**}

न चेति। इसके अतिरिक्त यह भी है कि उस प्रकार के अनिर्वचनीय शान्तरस का आस्वादन सांसारिक सहृदय सामाजिक (दर्शक) नहीं कर सकते ।

अथेति। अथापि (अपितु) उस (शम) की उपायभूत जो **मुदिता, मैत्री, करुणा** और **उपेक्षादिरूप** चित्त की चार वृत्तियाँ हैं, और जो क्रमशः **विकास, विस्तार, क्षोभ** एवं **विक्षेप** की ही प्रतिरूप हैं, उनसे शान्त रस का आस्वाद होता है। इस प्रकार उन–विकास, विस्तार आदि के कथन के द्वारा ही उस शान्त रस के आस्वादन का निरूपण हो जाता है।। ४५।।

परामर्श – मुदिता = आनन्द, चित्त की वह अवस्था जिसमें दूसरे का सुख देखकर सुख होता है। **मैत्री** = सुखी व्यक्तियों के प्रति मैत्रीभाव, **करुणा** – दुःखी जनों के प्रति दयाभाव, **उपेक्षा** = पापीजनों के प्रति विरक्ति का भाव– इनसे ही चित्त की

इदानीं विभावादिविषयावान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकः प्रकरणोपसंहारः प्रतिपाद्यते –

पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः ।
काव्याद् विभावसञ्चार्यनुभावप्रख्यतां गतैः ।। ४६ ।।
भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ।

शुद्धि हो जाती है, और उसी से शान्त रस का आविर्भाव–प्राकट्य हो जाता है। इन चार चित्तवृत्तियों – **मुदिता, मैत्री, करुणा** और **उपेक्षा** – का समावेश जब उन्हीं चित्त की चार अवस्थाओं – **विकास, विस्तार, क्षोभ** एवं **विक्षेप** – में हो जाता है तो शान्त रस का भी अन्तर्भाव उन्हीं आठ–रसों में हो जाता है, अतः शान्त रस को अलग से स्वीकार कर लेने की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है ।।

इदानीमिति। {रस के सम्बन्ध में अलग–अलग सिद्धान्तों के विवेचन करने के उपरान्त} अब ग्रन्थकार धनञ्जय विभावादि से सम्बन्धित जो काव्य का अन्य व्यापार होता है उसके प्रदर्शन के साथ–साथ प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार करते हैं –

काव्यात् विभावसञ्चार्यनुभावप्रख्यात् गतैः इन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः पदार्थैः भावितः स्थायी स्वदते स रसः परिकीर्तितः **इत्यन्वयः** ।। ४६–४७।।

कारिकार्थ – पदार्थैरिति। काव्य में विभाव, सञ्चारीभाव एवं अनुभाव के नाम से प्रख्यात होने वाले {अर्थात् विभाव, सञ्चारीभाव तथा अनुभाव के नाम से कहलाने वाले} क्रमशः चन्द्रमा, निर्वेद एवं रोमाञ्चादि स्वरूप के पदार्थों के द्वारा भावित (अर्थात् परिपुष्ट होने वाले रत्यादि) स्थायी भावों का जो आस्वादन किया जाता है, उसे ही 'रस' नाम से कहते हैं ।। ४६–४७ ।।

{तात्पर्य यह है कि **चन्द्रमा सदृश विभाव, निर्वेद सदृश सञ्चारी भाव** तथा **रोमाञ्च सदृश अनुभावों** के द्वारा भावित (रत्यादि) स्थायी (भाव) ही (वस्तुतः) 'रस' है। काव्य में प्रयुक्त शब्दार्थ चन्द्रमा आदि विभाव के वाचक, निर्वेद आदि भाव के वाचक तथा रोमाञ्च आदि अङ्ग विकार के वाचक होते हैं। ये ही क्रमशः चन्द्र, निर्वेद, रोमाञ्च आदि विभाव, सञ्चारी तथा अनुभाव के नाम से (काव्य शास्त्र में) प्रसिद्ध हैं। इन विभावादियों के द्वारा स्थायी भाव ही भावित होकर 'रस' कहा जाता है।}

परामर्श – अन्यत्र हमने बताया है कि भरतप्रोक्त नाट्यसूत्र **'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'** – के **'संयोगात्'** पद का अर्थ आचार्यों ने अलग–अलग बताया है। भट्टलोल्लट के मतानुसार उसका अर्थ है – **'उत्पाद्यउत्पादक–भाव'**, शङ्कुक के विचार से उसका अर्थ है – **'अनुमाप्यानुमापकभाव'**, भट्टनायक के मत में उसका अर्थ है – **'भोग्य–भोजकभाव'** तथा **अभिनवगुप्तपाद** के विचारानुसार उसका अर्थ है – **'व्यङ्ग्य–व्यञ्जकभाव'** ग्रन्थकार धनञ्जय और

अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशेषैश्चन्द्राद्यैरुद्दीपनविभावैः प्रमदाप्रभृति-
ालम्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभावै रोमाञ्चाश्रुभ्रूक्षेपकटाक्षाद्यैरनुभावैरवान्तर-
ापारतया पदार्थीभूतैर्वाक्यार्थः स्थायीभावो विभावितः — भावरूपतामानीतः स्वदते स
 इति प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम् ।

तिकार धनिक — आचार्यद्वय के मत में 'संयोगात्' का अर्थ है — **'भाव्यभावक म्बन्ध'**। लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त के मत क्रमशः **उत्पत्तिवाद, नुमितिवाद, भुक्तिवाद** तथा **अभिव्यक्तिवाद** के नाम से प्रसिद्ध है। धनञ्जय के मत ो **'भावनावाद'** के नाम से अभिहित किया जा सकता है।।

वृत्त्यर्थ — अतिशयोक्तिरूपेति। अतिशयोक्तिरूप {चमत्कारपूर्ण कथन रूप मत्काराधायक} काव्य के व्यापार के द्वारा लोकोत्तरता (अलौकिकता) प्राप्त करके, न्द्रादि उद्दीपन–विभावों के द्वारा, प्रमदा प्रभृति आलम्बन–विभावों के द्वारा, निर्वेदादि यभिचारी भावों के द्वारा और रोमाञ्च, अश्रु, भ्रू–विक्षेप–कटाक्षादि पदार्थभूत नुभावों के द्वारा अवान्तरव्यापारतया जो वाक्यार्थरूप स्थायीभाव है, वह विभावित ोकर अर्थात् भावरूपता को प्राप्त होकर जब आस्वाद्य रूप में प्रतिपन्न होता है, तो ही 'रस' कहा जाता है। यही पूर्वोक्त {दश० रू० ४. ३७–४७} प्रकरण का ात्पर्य है।

{तात्पर्य यह है कि **'लोकोत्तरवर्णना निपुण–कवि–कर्म'** ही काव्य का व्यापार है। इस काव्य–व्यापार में विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव पदार्थीभूत होते हैं, और स्थायीभाव वाक्यार्थ होता है, यह वाक्यार्थरूप स्थायीभाव ही पदार्थीभूत अनुभावादि के द्वारा पुष्ट होकर आस्वादन के योग्य बनता है और वही (सः) 'रस' कहलाता है ।। वस्तुतः विभावादि के द्वारा भावित स्थायीभाव की परिपुष्ट दशा ही 'रस' है । यही रस के प्राकट्य की प्रक्रिया और उसका स्वरूप कहा जाता है।}

परामर्श — अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापार — आचार्य मम्मट ने काव्य को— **'लोकात्तरवर्णनानिपुण–कवि–कर्म–शब्द** से अभिहित किया है। उसमें लोक से विलक्षणता निहित रहती है। वस्तु का चमत्कारिकरीत्या वर्णन ही काव्य का व्यापार होता है। इस अलौकिकता के अभाव में काव्य का वर्णन काव्य के क्षेत्र में नहीं आता। अतः उसे अतिशयोक्ति से समन्वित होना चाहिए।

अहितविशेषैः — कवि का काव्य–व्यापार साधारण से साधारण वस्तु में भी अलौकिकता का आधान कर देता है। इस प्रकार अलौकिकता प्राप्त वस्तुओं के द्वारा।

अवान्तर व्यापारः — शाब्द–बोध की प्रक्रिया में भाट्ट मीमांसकों के अनुसार दो प्रकार के व्यापार होते हैं — (१) अवान्तर व्यापार और (२) प्रधान व्यापार । वाक्य में प्रयुक्त सभी पद पहिले अपने–अपने पदार्थ का बोध कराते हैं। यही अवान्तर — गौण व्यापार कहलाता है। पदार्थबोध होने के पश्चात् आकाङ्क्षा आदि से अन्वित होकर वाक्य से तात्पर्यवृत्ति के द्वारा अन्वित अर्थ–वाक्यार्थ का बोध होता है। यही प्रधान व्यापार होता है। इसी प्रकार काव्य में भी अवान्तर (गौण) व्यापार के

विशेषलक्षणान्युच्यन्ते—तत्राचार्येण स्थायिनां रत्यादीनां शृङ्गारादीनां च पृथग्लक्षणानि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि । अत्र तु —

लक्षणैक्यं विभावैक्यादभेदाद् रसभावयोः ।। ४७ ।।

क्रियत इति वाक्यशेषः।

द्वारा पदार्थ स्थानीय विभावादि की प्रतीति होती है। प्रधान व्यापार के द्वारा विभावआदि से संयोजित (अन्वित) स्थायी—भाव की प्रतीति होती है। जो वाक्यार्थ के सदृश होती है।

प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम्। कारिका (क्र० ४६—४७) की वृत्तिभाग के अन्त में प्रयुक्त — 'प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम्' से तात्पर्य है — **'विभावैः'** (४।१), **'वाच्या प्रकरणादिभ्यो'** (४।३७), **'रसः स एव स्वाद्यत्वात्'** (४।३८) **'धीरोदात्ताद्यवस्थानाम्'** (४।४०), **'ता एव'** (४।४१), **'स्वादः काव्यार्थसम्भेदात्'** (४।४३) **'पदार्थैः'** (४।४६), तथा **'अभेदाद्रसभावयोः** (४।४७) इन कारिकाओं का ।। ४६—४७।।

रसों के लक्षण, उनके भेद और उदाहरण —

विशेषेति। ग्रन्थकार कहते हैं कि अब तक सामान्यरूप से रस का विवेचन किया था, किन्तु अब उन रसों के विशेष लक्षणों को बताते हैं । नाट्यशास्त्र के पूजनीय आचार्य भरत के द्वारा विभाव आदि का प्रतिपादन करते हुए (नाट्यशास्त्र के ६ अ० में) रति आदि स्थायी—भावों तथा (७ अ० में) शृङ्गार आदि रसों के पृथक्—पृथक् लक्षणों का उल्लेख किया गया है। किन्तु यहाँ —

कारिकार्थ — लक्षणैक्यमिति। {शृङ्गार आदि रसों और रत्यादि} स्थायीभावों का एक ही लक्षण बतलाया जा रहा है, क्योंकि { शृङ्गार आदि} रसों और { रत्यादि} स्थायीभावों के {आलम्बन तथा उद्दीपन} विभाव एक ही होते हैं। इस कारण उनमें कोई भेद नहीं है। वस्तुतः रस तथा स्थायीभाव दोनों में अभिन्नता होती है। {स्थायीभाव की परिपुष्ट—स्थिति ही 'रस' के नाम से अभिहित की जाती है।} ।। ४७ ।।

वृत्त्यर्थ — क्रियत इति। कारिका में प्रयुक्त — **'लक्षणैक्यम्'** पद के साथ **'क्रियते'**— अर्थात् 'किया जाता है' — यह वाक्यांश जोड़ा जाना चाहिए ।। ४७ ।।

परामर्श — भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में विभाव आदि का निर्देश करते हुए शृङ्गार आदि रसों का लक्षण (ना० शा० ४।४५ में) किया है, तत्पश्चात् सप्तम अध्याय में विभाव आदि का निर्देश करते हुए रति आदि स्थायी भावों के लक्षणों का उल्लेख किया है । जबकि शृङ्गार—रस और रतिभाव का विभाव एक ही है। धनञ्जय के मतानुसार विभाव आदि के द्वारा आस्वादित रतिरूप स्थायीभाव ही 'शृङ्गार—रस' कहलाता है । वस्तुतः स्थायीभाव और रस में कोई भिन्नता नहीं हैं। इसलिए उनके लक्षणों को पृथक्—पृथक् रूप में निरूपित करने की कोई आवश्यकता न होने से धनञ्जय ने शृङ्गार आदि रसों और रत्यादि स्थायीभावों के एक ही लक्षण बतलाए हैं ।। ४७ ।।

तत्र तावच्छृङ्गारः –

रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः ।
प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः ।
प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥ ४८ ॥

इत्थमुपनिबध्यमानं काव्यं शृङ्गारास्वादाय प्रभवतीति । कव्युपदेशपरमेतत्। तत्र **देशविभावो** यथोत्तररामचरिते –

'स्मरसि सुतनु तस्मिन्पर्वते लक्ष्मणेन
प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि ।
स्मरसि सरसतीरां तत्र गोदावरीं वा
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ॥' (उत्तर० १.२६)

---

(१) **शृङ्गार–रस** –

तत्रेति। उन रसों में सर्वप्रथम '**शृङ्गार**' रस का लक्षण बताते है –

कारिकार्थ – रम्यदेशेति। रमणीय देश, कला, काल, वेष तथा भोग आदि के सेवन से एक दूसरे पर अनुरक्त युवक एवं युवति को जो 'प्रमोद' होता है, वही रति–भाव कहलाता है और जब वही (रति–भाव) अङ्गों की मधुर चेष्टाओं के द्वारा परिपुष्ट (प्रहृष्यमाण) हो जाता है तब शृङ्गार (रस) कहा जाता है ॥ ४७–४८ ॥

वृत्त्यर्थ – इत्थमिति। इस प्रकार {उपवन, एकान्तस्थान, कला आदि में निपुणता, सन्ध्याकालीन रमणीय–समय, सुन्दर–भोग–विलास एवं अंगों की उद्दीपक–कटाक्षविक्षेपादि–चेष्टाओं} का वर्णन करने वाला काव्य शृङ्गार (रस) का आस्वादन कराने में समर्थ होता है, इस प्रकार (उक्त कारिका में) कवि के लिए यह उपदेश–परक (मार्गदर्शनात्मक) कथन किया गया है।

परामर्श – काव्य के हृदयावर्जक वर्णन से सहृदयों के चित्त में जो विशेष प्रकार की आनन्दानुभूति होती है वही शृङ्गार–रस है। ऐसे वर्णनों में मनोहर स्थान, सुहावना–समय, आदि उद्दीपनविभाव कहलाते हैं, नायिका की मधुर आङ्गिक–चेष्टाएँ अनुभावों के अन्तर्गत आती हैं। कारिका क्र० (४।४९) में इसके व्यभिचारियों का निरूपण किया जायगा । अब आगे ग्रन्थकार देश, काल आदि की मनोरमतारूप उद्दीपनविभाव को स्पष्ट करते हुए तत्तत् विभाव के द्वारा चित्त में कैसे रतिभाव का स्फुरण होकर शृङ्गार–रस की चर्वणा होती है, यह उदाहरणों के द्वारा निर्देशित करते हैं –

(i) तत्रेति । उनमें {उद्दीपन विभाव में} देश (स्थान) रूप विभाव का उदाहरण भवभूतिकृत उत्तररामचरित में इस प्रकार है –

स्मरसीति। {श्रीराम सीता से कहते हैं–} 'हे चार्वङ्गी ! लक्ष्मण के द्वारा की गई शुश्रूषा से स्वस्थ बने हुए हम दोनों के द्वारा उस पर्वत पर व्यतीत किये हुए उन दिनों का स्मरण करती हो ? अथवा सरसतटवाली गोदावरी का स्मरण है ? तथा

कलाविभावो यथा –

हस्तैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासैर्लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पोऽनुवृत्तौ –
भावो भावं नुदति विषयाद् रागबन्धः स एव ।।' (मालवि० २.८)

गोदावरी के तटवर्ती प्रान्तों में हम दोनों के इधर–उधर परिभ्रमणों को (विहार को) स्मरण करती हो ना' ।।

(ii) **कलाविभाव इति। कला–विभाव** का उदाहरण–यथा कालिदास के **मालविकाग्निमित्र** के इस पद्य में, {जिसमें मालविका की नृत्यकला के द्वारा अग्निमित्र के हृदय में स्फुरित होने वाला रत्यादि स्थायी भाव शृङ्गार–रस के रूप में परिपुष्ट हो रहा है।}

हस्तैरिति। इस मालविका (नृत्याङ्गना) ने अपने हस्तान्दोलन से अर्थात् अभ्यस्त हाथों के सञ्चालन के द्वारा–भावार्थ की व्यञ्जना सम्यक् रूप से व्यक्त करा दी है, जिनके सञ्चालन में मानों शब्द अन्तर्निहित हों। { तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शब्द व्यक्त होने पर उसमें निहित अर्थ का ज्ञान सम्यक् रूप से हो जाता है, उसी प्रकार इसके हस्तान्दोलन से भावार्थ की व्यञ्जना व्यक्त हो रही है, मानों वचन इसके हाथों में ही छिपे बैठे हों।} इसके पाद–न्यास ने लय को रस में मग्न कर दिया है अर्थात् जब यह एक क्रिया के पश्चात् क्षणभर द्रुत, मध्य या विलम्बित विश्राम (लय) का आश्रय ग्रहण करती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानों इसके पादन्यास ने लय को रस में मग्न ही कर दिया हो। दर्शक का हृदय इसके लय के साथ रस से आप्लावित हो जाता है। हस्तसञ्चालन तथा पादन्यास के द्वारा संपादित छः प्रकार का शाखा वाला मृदु–अभिनय प्रत्येक भावाभिव्यक्ति के साथ–साथ हृदय में विषयों को प्रेरित कर रहा है। यही अनुराग है, यही रागसम्बन्ध है।

परामर्श – मालविका का नृत्य आदर्श नृत्य था । नाट्यशास्त्र में कहा गया है – कण्ठेनालम्बयेद्गीतम् हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत् । चक्षुर्भ्याम् दर्शयेद्भावं पादाभ्याम् तालमाचरेत्। यतो हस्तस्ततो दृष्टिः यतो दृष्टिस्ततो मनः। यतो मनस्ततो भावः यतो भावस्ततो रसः ।।

(१) लय तीन प्रकार का होता है – क्रियानन्तर विश्रान्तिर्लयः स त्रिविधोमतः। द्रुतो मध्यो विलम्बश्च द्रुत शीघ्रतमो मतः। द्विगुणाद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ ।।

(२) अभिनय – आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा। ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकल्पितः । त्रिविधस्त्वाङ्गिको ज्ञेयः शारीरो मुखजस्तथा । तथा चेष्टाकृतश्चैव शाखाङ्गोपाङ्गसंयुतः ।।

(३) शाखानृत्य – विहाय त्रीनभिनयानाङ्गिकोऽत्राभिधीयते । तस्य शाखाङ्कुरो नृत्तं प्रधानं त्रितयं मतम्। तत्र शाखेति विख्याता विचित्रा करवर्तना ।। (सङ्गीतरत्नाकर अ० ५)।।

यथा च –

व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धाऽमुना
  विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधाऽयं लयः ।
गोपुच्छप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता–
  स्तावौघानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक् त्रयो दर्शिताः ॥' (नागा० १.१५)

यथाचेति। अथवा जैसे – { हर्षदेव कृत 'नागानन्द' नाटक में नायिका के गीत को सुनकर नायक कहता है – 'मित्र ! यह संगीत कितना श्रवणसुभग (मधुर) है और वीणा का बजाना भी कितना अद्भुत है।}

व्यक्तिरिति। 'इस संगीत में वीणा बजाने की दस प्रकार की व्यञ्जनरीति स्पष्टरूप से अभिव्यक्त हो रही है। त्रिविधलय (द्रुत, मध्य तथा विलम्बित) स्पष्टरूप से व्यक्त हो रहे हैं। गोपुच्छा आदि त्रिविध प्रकार की 'यति' इस गीत में यथा स्थान पर स्थित है। साथ ही त्रिविध प्रकार की बजाने की विधियों (शैलियों) – तत्त्व–ओघ–अनुगत– को इसमें सम्यक्रूप से प्रदर्शित किया गया है। इसमें वीणावादक की निपुणता को व्यक्त किया गया है ।

परामर्श – भरतमुनि के अनुसार वीणा बजाने के चार प्रकार होते हैं – 'विस्तारः करणश्चैव आविद्धो व्यञ्जनस्तथा। चत्वारो धातवो ज्ञेया वादित्रकरणाश्रया ॥' (ना० शा० २९।८१)

इन बजाने की विधियों में 'व्यञ्जनरीति सबसे श्रेष्ठ है। इसके दस प्रकार होते हैं – व्यञ्जनधातुर्ज्ञेयः कल–तल–निष्कोटि–तान्यथोन्मृष्टम् । रेफावमृष्ट – पुष्पा–नुस्वनित बिन्दु–रबन्धः॥ (ना०शा० २९।८९)

तालान्तरालवर्ती काल को ही लय कहा जाता है। यह तीन प्रकार का होता है – (१) **द्रुत** (२) **मध्य**, और (३) **विलम्बित** । कहा गया है –' तालान्तरालवर्ती यः स कालो लय उच्यते। त्रिविधः स च विज्ञेयो द्रुतो मध्यो विलम्बिताः॥

ताल के विराम को **'यति'** – कहा जाता है। यह तीन प्रकार का होता है – १. **समा**, २. **स्रोतोवहा** और ३. **गोपुच्छ** । कहा गया है – वाद्यैर्हीनः श्रवणसुभगो नामतः सा यति स्यात्। लयगानाद् यतिः सम्यक् कथिता दत्तिलादिभिः ॥ समा स्रोतोवहा चैक गोपुच्छा चेति सा त्रिधा। वीणा वादन के तीन प्रकार होते हैं – १. **तत्त्व**, २. **अनुगत**, ३. **ओघ** । कहा गया है – त्रिविधं वैणवं वाद्यं कर्तव्यं गीतसंश्रयं तज्ज्ञैः। तत्त्वं तथानुगतमोघश्चानेककणसंयुक्तम् ॥ **विशेष अध्ययन** तथा सभी प्रकार के पारिभाषिक शब्दों के लक्षणों को जानने के लिए नाट्यशास्त्र का २९ वाँ अध्याय देखना चाहिए ॥

इस प्रकार उपर्युक्त दो पद्यों को धनिक ने उदाहरण रूप में उद्धृत किया है, जिनमें शास्त्रीय नृत्य, गान तथा वाद्यविधान का वर्णन अंकित है। 'व्यक्ति' आदि श्लोक हर्ष के ही अन्य नाट्यग्रन्थ **'प्रियदर्शिका'** में भी उपलब्ध होता है।

कालविभावो यथा कुमारसंभवे –

असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात् प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमाशिञ्जितनूपुरेण ।।' (कुमार० ३.२६)

इत्युपक्रमे –

'मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्त्तमानः ।
शृङ्गेण संस्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ।।' (कुमार० ३.३६)

वेषविभावो तथा तत्रैव –

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ।। (कुमार० ३.५३)

(iii) **कालविभाव इति।** काल (समय) के **विभावपक्ष** का उदाहरण **'कुमारसम्भव'** में इस प्रकार है –

असूतेति। 'शिवजी के आश्रम में वसन्त के आविर्भाव से अशोक वृक्ष ने झंकृत नूपुरों वाले सुन्दरियों के चरणस्पर्श (पाद–प्रहार) की भी अपेक्षा नहीं की, उसने (अशोक ने) शाखाओं के कंधों तक पल्लवों तथा पुष्पों को तत्काल उत्पन्न कर दिया'। {कहा जाता है कि अशोक में पुष्पोत्पत्तिरूप दोहद सुन्दरियों के चरणाघात के कारण होता है, कहा भी गया है – 'पादाघातादशोकः'। किन्तु अशोक ने कामदेव के सहायक वसन्त के आविभार्व के कारण तत्काल ही तने से लेकर ऊपर तक पल्लवों एवं पुष्पों को उत्पन्न कर दिया। सुन्दरियों के चरणाघात की अपेक्षा नहीं की।}

इत्युपक्रम इति। इस प्रकार उपक्रम करके –

मधुद्विरेफ इति। 'काम के परममित्र वसन्त का वनक्षेत्र में आगमन होने पर पशु–पक्षियों में भी रति का सञ्चार होने लगा, ठीक उसी प्रकार जैसे कोई विलासी युवक अपनी प्रेयसी के साथ एक ही चषक से मधुपान करता है। (दूसरी ओर) काला हिरण अपने स्पर्शजन्य सुख के कारण बन्द आखों वाली मृगी को अपने सींग से खुजलाने लगा'।

{इन पद्यों में भ्रमर तथा भ्रमरी का एक ही पुष्प–पात्र से मधुपान करना तथा मृग का मृगी को अपने सींग से खुजलाना तथा मृगी का मृग के स्पर्श से उत्पन्न सुख के कारण आँखें बन्द कर लेना, शृङ्गार रस के ही अनुभाव हैं। इस प्रकार जहाँ वसन्त आदि कालविशेष के कारण रतिभाव का आविर्भाव हो वहाँ **कालविभाव** पक्ष होता है}

(iv) **वेषविभाव इति।** वेषरूप विभाव का उदाहरण वहीं कुमारसंभव में इस प्रकार है { यहाँ पार्वतीरूप आलम्बन के वेष उद्दीपन विभाव का वर्णन कवि ने किया है। यह शिव के मानस में रति को पुष्ट करता है –

अशोकेति। '{भगवान् शङ्कर की पूजा–अर्चना–करने के लिए आती हुई} पद्मरागमणि (की लालिमा) को भी निर्भर्त्सित (तिरस्कृत) कर देने वाले अशोक के पर्णों के, सुवर्ण की शोभा को भी खींच लेने वाले कर्णिकार के फूलों के, मुक्ता–हार

उपभोगविभावो यथा –

'चक्षुर्लुप्तमषीकणं कवलितस्ताम्बूलरागोऽधरे
विश्रान्ता कबरी कपोलफलके लुप्तेव गात्रद्युतिः ।
जाने सम्प्रति मानिनि प्रणयिना कैरप्युपायक्रमै–
र्भग्नो मानमहातरुस्तरुणि ते चेतःस्थलीवर्धितः ।।'

प्रमोदात्मा रतिर्यथा मालतीमाधवे –

'जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ।।' (मालती० १.३९)

के समान सिन्दुवार के पुष्पों के, वसन्तऋतु में उत्पन्न होने वाले पुष्पों से निर्मित आभरणों को धारण करने वाली {पार्वती को कामदेव ने देखा।}'

(v) **उपभोगविभाव इति।** उपभोग **विभाव** का उदाहरण इस प्रकार है – {इस पद्य में नायक एवं नायिका के रति–क्रीड़ा के द्वारा रतिभाव परिलक्षित होता है, अतः यहाँ उपभोग विभाव का वर्णन है। यहाँ युवती के कज्जल की लुप्तता आदि रति चिह्नों से नायक का रति–भाव व्यञ्जित होता है। प्रातःकाल नायिका की सखी ने उसके शरीर पर सम्भोग के चिह्नों को देखकर कहा –}

चक्षुरिति। 'हे सखी ! तुम्हारे नेत्रों का कज्जल–कण ईषत् पोंछा गया है, अधरोष्ठ पर ताम्बूल के कारण उत्पन्न ललाई को कवलित कर दिया गया है, अर्थात् अधर का ताम्बूल–राग भी नष्ट हो गया है। तुम्हारा केशपाश कपोल पर शिथिल होकर पड़ा हुआ है अर्थात् रतिक्रीड़ा के कारण केवल तुम ही नहीं, तुम्हारी कबरी भी श्रान्त सी परिलक्षित हो रही है। और तुम्हारे शरीर की कान्ति भी जैसे नष्ट हो गई है, अर्थात् शरीर की आभा भी लुप्त सी हो गई है। उपर्युक्त समस्त शरीर के चिह्न स्पष्ट रूप से बताते हैं कि रात को तुमने नायक के साथ यथेष्ट सुरत क्रीड़ा की है। जबकि तुम तो कल मान किये बैठी थी ऐसा प्रतीत होता है, कि हे मानिनि ! तुम्हारे प्रियतम ने विविध उपायों द्वारा, तुम्हारे चित्त की स्थली पर बढ़ा हुआ मान का विशाल वृक्ष अन्त में तोड़ दिया है।' {अर्थात् किसी न किसी प्रकार तुम्हारा मान दूर कर दिया गया है।}

{जहाँ नायक एवं नायिका के सम्भोग चिह्नों के द्वारा रति–भाव परिलक्षित हो वहाँ उपभोग विभाव होता है}

(vi) **प्रमोदात्मेति।** **प्रमोदात्मक–रतिरूप विभाव** का उदाहरण **'मालती–माधव'** में इस प्रकार है –

जगतीति। 'इस संसार में नवीन–चन्द्रकला आदि अनेक पदार्थ चित्ताकर्षक हैं। मन को मत्तता प्रदान करने वाले निसर्गतः सुन्दर अन्य पदार्थ भी हैं, किन्तु संसार

युवतिविभावो यथा मालविकाग्निमित्रे —

'दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः स्पष्टं तथाऽस्या वपुः ।।' (मालवि० २.३)

यूनोर्विभावो यथा मालतीमाधवे —

'भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्
गाढोत्कण्ठा लुलितललितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ।।' (मालती० १.१६)

में नेत्रों के लिए कौमुदी—स्वरूप यह (मालती) मेरे नेत्रों का विषय बन चुकी है, वही मेरे लिये जीवन का एक महोत्सव है।'

{शृङ्गार के लक्षण में यह कहा गया है कि रति—स्थायीभाव में आत्मा (हृदय) प्रसन्न रहता है, वह एकदम प्रफुल्लित रहता है। अतः रतिभाव की इसी विशेषता को प्रदर्शित करने के लिए मालतीमाधव के इस उदाहरण को उदाहृत किया गया है। मालती को देखकर माधव के हृदय की प्रसन्नता को इस में व्यक्त किया गया है।}

(vii) **युवतिविभाव इति।** युवति—विभाव का उदाहरण **'मालविकाग्निमित्र'** में इस प्रकार है — {जहाँ नायिका के यौवन का वर्णन नायक के रति—भाव को जाग्रत करने का निमित्त होता है, वहाँ युवति—भाव होता है। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में नृत्यकरती हुई मालविका की मुद्रा का तथा स्पष्टरूप से परिलक्षित होने वाला उसके यौवन एवं शरीर रचना का वर्णन इस पद्य में अंकित किया है। उसके यौवनोद्दीप्त शरीरसौन्दर्य को देखकर **अग्निमित्र** कहता है} —

दीर्घाक्षमिति। 'इसका मुख बड़ी—बड़ी आँखों से युक्त शरद्कालीन चन्द्रमा के सदृश मनोहर है, इसके दोनों हाथ कन्धों के पास से झुके हुए हैं, पीन तथा उन्नत स्तनों से इसका वक्षःस्थल संकुचित हो रहा है, दोनों पार्श्व—भाग सिमटे से हैं। इसका कटिभाग इतना सूक्ष्म है कि जो मुट्ठी से नापा जा सकता है, इसका जघनस्थल नितम्बों के भार से उभरा हुआ (दिखाई देता) है, तथा इसके दोनों पैरों की अङ्गुलियाँ झुकी हुई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों नृत्य सिखाने वाले उपदेशकों के अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर ही इसके शरीर की रचना की गई है'।

(viii) **यूनोर्विभाव इति।** युवक तथा युवति दोनों के विभाव का उदाहरण **(मालतीमाधव)** में इस प्रकार है —

भूयोभूय इति। {**कामन्दकी कहती है**} — 'राजमहल की अटारी के उत्तुङ्ग वातायन में स्थित रतिसदृशी मालती, अपने पार्श्वनगर की गली से बार—बार

अन्योन्यानुरागो यथा तत्रैव –

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त–
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ।।' (मालती० १.३२)

मधुराङ्गविचेष्टितं यथा तत्रैव –

'स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम् ।
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चितानां
विविधमहमभूवं पात्रमालोकितानाम् ।। (मालती० १.२८)

आने–जानेवाले प्रत्यक्ष नूतन कामदेव की तरह माधव को देख–देखकर अत्यधिक उत्कण्ठित होकर, स्पन्दित होने वाले सुन्दर अङ्गों से पीड़ित हो रही है'।।

{जहाँ युवक तथा युवती–दोनों ही के यौवन का वर्णन हो, वहाँ दोनों युवकों का विभाव होता है। इस पद्य में मालती तथा माधव–दोनों के तरलित यौवन का आकर्षक वर्णन किया गया है। दोनों ही एक–दूसरे की ओर आसक्त है। दोनों ही के हृदय में एक दूसरे को प्राप्त करने की अभिलाषा है। इस प्रकार दोनों का यौवन ही पारस्परिक रतिभाव का कारण है।}

(ix) **अन्योन्येति**। {नायक–नायिका के} परस्पर–अनुरागरूप विभाव का उदाहरण वहीं – **(मालतीमाधव)** में इस प्रकार है –

यान्तयेति – (माधव अपने मित्र मकरन्द से कहता है) – 'जाती हुई, बार–बार (मुझे देखने के लिए) मुड़ी हुई गर्दन होने से जिसका मुख वलित मृणालवाले कमल सदृश था, उस घनी भौहों से सुशोभित आँखों वाली मालती ने मेरे हृदय पर अमृत तथा विष से सिक्त (सना) हुआ कटाक्ष मानों गहराई से रोप दिया'। {इस पद्य में मालती और माधव के परस्पर अनुराग के वर्णन से अन्योन्यानुरागरूप विभाव वर्णन किया गया है।}

(x) **मधुराङ्गेति**। **अङ्गों की मधुरचेष्टारूप विभाव** का उदाहरण वहीं **(मालतीमाधव)** में इस प्रकार है – {**माधव** मकरन्द से मालती की मधुर चेष्टाओं का वर्णन करते हुए कहता है} –

स्तिमितेति। 'उसने मुझ पर विविध प्रकार के नेत्र–कटाक्षों की वर्षा की। कुछ कटाक्षों में उसके नेत्र निश्चल और पूर्णतः विकसित थे, और भृकुटियाँ सुन्दर रीति से उल्लसित थीं, तो कुछ में उसके नेत्र मंद और कलियों की तरह किंचित् आकुंचित थे। कुछ कटाक्षों में उसके नेत्र–प्रान्त विस्तृत तो कुछ में किंचित् आकुंचित हो रहे थे। इस प्रकार के बहुविध कटाक्षों को उसने मेरी ओर फेंका । {तात्पर्य यह है कि मालती ने भौंहें नचाकर दीर्घ नेत्रों के द्वारा स्निग्ध

ये सत्त्वजाः स्थायिन एव चाष्टौ
त्रिंशत्त्रयो ये व्यभिचारिणश्च ।
एकोनपञ्चाशदमी हि भावा
युक्त्या निबद्धाः परिपोषयन्ति ।
आलस्यमौग्र्यं मरणं जुगुप्सा
तस्याश्रयाद्वैतविरुद्धमिष्टम् ॥ ४९ ॥

त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणश्चाष्टौ स्थायिनः, अष्टौ सात्त्विकाश्चेत्येकोनपञ्चाशत्– भावा युक्त्या – अङ्गत्वेनोपनिबध्यमानाः शृङ्गारं सम्पादयन्ति । आलस्यौग्र्यजुगुप्सा– मरणादीन्येकालम्बनविभावाश्रयत्वेन साक्षादङ्गत्वेन चोपनिबध्यमानानि विरुध्यन्ते । प्रकारान्तरेण चाऽविरोधः प्राक् प्रतिपादित एव ।

तथा कभी मंद होते एवं कभी विकसित होते कटाक्षपात को विविध प्रकार से मेरी ओर किया । ये ही उक्त मधुर चेष्टाएँ हैं।}॥ ४८ ॥

शृङ्गार के पोषक एवं विरोधीभाव –

कारिकार्थ – ये सत्त्वजा इति। आठ सत्त्वज (सात्त्विक) भाव, आठ स्थायीभाव, और तैंतीस व्यभिचारी भावों (८ + ८ + ३३ = ४९) का काव्य में युक्ति पूर्वक निबन्धन शृङ्गार रस की पुष्टि करता है। किन्तु आलस्य, उग्रता तथा मरण नामक सञ्चारीभाव और जुगुप्सा नामक स्थायीभाव का (शृङ्गार के साथ) एक ही आलम्बन विभाव को आश्रय बनाकर किया गया उपनिबन्धन विरुद्ध होता है ॥ ४९ ॥

वृत्त्यर्थ – त्रयस्त्रिंशदिति। तैंतीस व्यभिचारी, आठ स्थायी तथा आठ सात्त्विकभाव मिलकर उन्चास भाव होते हैं। 'युक्ति' – से तात्पर्य है, अङ्गरूप में उपनिबद्ध होना। इनका अङ्गरूप में निबन्धन किया जाने पर, ये शृङ्गार–रस की पुष्टि करते हैं। आलस्य, औरग्र्य (उग्रता) जुगुप्सा, मरण आदि का एक ही आलम्बन विभाव को आश्रय बनाकर किया हुआ निबन्धन या साक्षात्रूप से उन्हें रस का अङ्ग बना देना शृङ्गार–रस के विरुद्ध होता है। किन्तु अन्य प्रकार से बिन्धन करने पर विरोध नहीं होगा, इसे हम पूर्व में (दश० ४।३४ में) बता चुके हैं ॥ ४९ ॥

परामर्श – आश्रयाद्वैतविरुद्धम् – इसका तात्पर्य है कि जो नायिका शृङ्गार रस का आलम्बन हो, वहीं शृङ्गार के विरोधी आलस्य आदि का आलम्बन नहीं बन सकती । **प्रकारान्तरेण** – अन्य आलम्बन विभाव का आश्रय ग्रहण कर आलस्य आदि का प्रतिपादन–वर्णन किया जा सकता है । भरतमुनि ने कहा है कि आलस्य, उग्रता, तथा जुगुप्सा को छोड़कर शेष सभी भाव (अपने नामों से) 'शृङ्गार' रस को उत्पन्न करते हैं । 'आलस्यौग्र्यजुगुप्साख्यैरेवं भावैस्तु वर्जिताः । उद्भावयन्ति शृङ्गारं सर्वेभावाः स्वसंज्ञया ॥' (ना० शा० ७।१०९) ॥ ४९ ॥

तद्विभागस्तु –

अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिधा ।

अयोगविप्रयोगविशेषत्वाद् विप्रलम्भस्यैतत्सामान्याभिधायित्वेन विप्रलम्भशब्द उपचरितवृत्तिर्मा भूदिति न प्रयुक्तः। तथा हि – दत्त्वा सङ्केतमप्राप्तेऽवध्यतिक्रमे साध्येन नायिकान्तरानुसरणाच्च विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोगो वञ्चनार्थत्वात् ।

तद्विभाग इति। {ग्रन्थकार शृङ्गार का विवेचन कर लेने के पश्चात्} अब शृङ्गार के विभाजन का उल्लेख करते हैं –

शृङ्गार के भेद –

कारिकार्थ – अयोग इति। वह {शृङ्गार रस} तीन प्रकार का होता है – अयोग, विप्रयोग तथा सम्भोग ।।

{यहाँ प्रश्न – यह उठता है कि विप्रयोग और विप्रलम्भ जब एक ही अर्थ को व्यक्त करते हैं तब विप्रयोग के स्थान पर कारिका में 'विप्रलम्भ' शब्द का ही प्रयोग क्यों नहीं किया गया है ?}

वृत्त्यर्थ – अयोगेति। {उत्तर–} **'विप्रलम्भ'** शब्द का प्रयोग इसलिए नहीं किया गया है कि अयोग और विप्रयोग तो विप्रलम्भ के ही प्रकार हैं। **'अयोग'** का अर्थ है– **न मिलना,** अर्थात् नायक का नायिका से या नायिका का नायक से न मिलना, और **'विप्रयोग'** का अर्थ है– **मिलकर वियुक्त–अलग हो जाना** । इस प्रकार विप्रलम्भ सामान्यतः नायक व नायिका के संयोगाभाव को ही अभिव्यक्त करता है। इसके अतिरिक्त 'विप्रलम्भ'– शब्द इतना सामान्य है कि कहीं उसका उपचार के द्वारा 'प्रवञ्चना' अर्थ ही ग्रहण न कर लिया जाय। क्योंकि वह (विप्रलम्भ) सामान्यतः नायक–नायिका के संयोगाभाव को ही व्यक्त करता है। अतः कारिका में **'विप्रलम्भ'** – शब्द (जो अयोग और विप्रयोग का ही वाचक होता है) का प्रयोग नहीं किया गया है। जैसा कि प्रसिद्ध है कि विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग, तीन अर्थों में विशेषतः किया जाता है – (१) आने का वादा करके या संकेत देकर नायक का संकेतस्थल पर न पहुँचना, (२) नायक के द्वारा अपने आने की समयावधि का अतिक्रमण कर जाना और (३) नायक के अन्य नायिका में आसक्त हो जाने के अर्थ में (किया जाता है) क्योंकि इसका अर्थ है – (प्र) 'वञ्चना' ।।

परामर्श – आचार्य भरत के अनुसार विप्रलम्भ शृङ्गार के दो भेद होते हैं – (१) सम्भोग और (२) विप्रलम्भ । (ना. शा० ६ अ०) किन्तु धनञ्जय ने शृङ्गार के तीन भेद बताए हैं – वृत्तिकार धनिक अयोग और विप्रयोग दोनों का अन्तर्भाव विप्रलम्भ में करते हैं। वे विप्रलम्भ को शब्द–सामान्य वाचक स्वीकार करते हैं। इनके विचार में अयोग और विप्रयोग विप्रलम्भ के ही विशेष रूप हैं। किन्तु सभी प्रकार का अयोग व विप्रयोग तो विप्रलम्भ नहीं कहलाता । ऐसी स्थिति में यदि आयोग एवं विप्रयोग को सूचित करने के लिए विप्रलम्भ का प्रयोग किया जाता है तो वह मुख्य

तत्रायोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयोः ॥ ५० ॥
पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसङ्गमः ।

योगः — अन्योन्यस्वीकारः, तदभावस्तु — **अयोगः** । पारतन्त्र्येण विप्रकर्षाद् देवीपित्राद्यायत्तत्वात् सागरिकामालत्योर्वत्सराजमाधवाभ्यामिव, दैवाद् गौरीशिवयोरिवा- समागमः — अयोगः ॥

न होकर औपचारिक कहलायगा । इसीलिए विप्रलम्भ का प्रयोग न कर **अयोग** तथा **विप्रयोग** का यहाँ प्रयोग किया गया है।

(१) **अयोगविप्रयोगविशेषत्वात्** = अयोग और विप्रयोग विप्रलम्भ के ही विशेष प्रकार होने से ।

(२) **एतत्सामान्याभिधायित्वेन** = विप्रलम्भ शब्द सामान्याभिधायक होने के कारण, अर्थात् विप्रलम्भशब्द सामान्य वाचक होने से।

(३) **उपचरितवृत्तिः** = औपचारिक। विशेष अर्थ का वाचक शब्द जब सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता है तो वह औपचारिक (लाक्षणिक) माना जाता है।।

१. अयोग शृङ्गार और उसकी अवस्थाएँ —

कारिकार्थ — तत्रेति। उन (शृङ्गार के भेदों) में 'अयोग' वहाँ होता है, जहाँ दो नवयुवकों (नायक—नायिका) का एक दूसरे के प्रति परस्पर अनुराग होता है; अर्थात् परस्पर अनुरक्त होते हैं, किन्तु परतन्त्रता {माता—पिता आदि के कारण} या दैववशात् वे एक दूसरे से दूर रहते हैं, उनका परस्पर मेल नहीं होने पाता। इस अयोगावस्था में दोनों में, एक—दूसरे के प्रति पूर्वानुराग की स्थिति तो रहती है, किन्तु वे एक दूसरे से, कुछ कारणों से, मिल नहीं पाते। उनका समागम नहीं हो पाता ॥ ५०—५१ ॥

वृत्त्यर्थ — योगइति। 'योग' का अर्थ है, — एक दूसरे को स्वीकार करना, **'अन्योन्यस्वीकारः'** और उस (अर्थात् स्वीकार) का अभाव ही **'अयोग'** है। {तात्पर्य यह है कि नायक—नायिका का परस्पर मिलन या समागम ही योग कहलाता है। इस मिलन (या समागम) के अभाव को **'अयोग'** कहा जाता है।} यह अयोग तीन कारणों से हो सकता है — १. परतन्त्रता के कारण दूरवर्ती प्रदेश में रहने से, २. देवी तथा ३. माता—पिता के अधीन रहने के कारण। {इन्हीं तीनों कारणों का क्रमशः उदाहरण—वत्सराज + सागरिका, मालती + माधव, और गौरी + शिव से धनिक उपन्यस्त करते हैं।} प्रथम उदाहरण सागरिका और वत्सराज का है, जो रत्नावली नाटिका का है। यहाँ सागरिका देवी वासवदत्ता के आधीन है, वासवदत्ता की परतन्त्रता के कारण दोनों का (सागरिका और वत्सराज) मिलन नहीं होने पाता। मालतीमाधव की मालती अपने पिता के आधीन है, यहाँ भी पारतन्त्र्य के कारण ही अयोग रहता है। दैव के कारण अयोग का उदाहरण कुमारसंभव के नायक—नायिका—शिव—पार्वती के अयोग को लिया जा सकता है। यहाँ शिव की प्रतिज्ञा के कारण दैववश दोनों का समागम नहीं हो पाता ॥ ५०—५१ ॥

दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम् ॥ ५१ ॥
स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वराः ।
जडता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ॥ ५२ ॥
अभिलाषः स्पृहा तत्र कान्ते सर्वाङ्गसुन्दरे ।
दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः ॥ ५३ ॥
साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासु दर्शनम् ।
श्रुतिर्व्याजात् सखीगीतमागधादिगुणस्तुतेः ॥ ५४ ॥

अभिलाषो यथा शाकुन्तले –

'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥' (१.१९)

अयोग शृङ्गार की दस अवस्थाएँ –

कारिकार्थ – दशावस्थ इति। इस अयोग–शृङ्गार की दस अवस्थाएँ होती हैं – सर्वप्रथम उन {नायक–नायिका} में १. अभिलाषा, फिर २. चिन्तन, उसके पश्चात् ३. स्मृति, फिर ४. गुणकथन; तत्पश्चात् ५. उद्वेग, फिर ६. प्रताप, ७. उन्माद, ८. संज्वर, ९. जड़ता और १०. मरण–अवस्थाएँ होती हैं । इनमें उत्तरोत्तर दुरवस्था बढ़ती जाती है; अर्थात् प्रत्येक उत्तर अवस्था पूर्व की अपेक्षा अधिक तीव्र या कष्टकारक होती है ॥ ५१–५२ ॥

{उपर्युक्त दस अवस्थाओं का स्वरूप तथा उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं –}

अभिलाष –

कारिकार्थ – अभिलाष इति। उन {दस अवस्थाओं} में {समागम रूप}, उत्कट–इच्छा अर्थात् 'स्पृहा' को 'अभिलाष' कहते हैं। यह (अभिलाष) हृदय में तब उत्पन्न होता है, जब सर्वाङ्गसुन्दर प्रियतम को नायिका देख लेती है या प्रियतमा (नायिका) को नायक देख लेता है, देख लेने पर (दोनों के हृदय में) समागम की इच्छा उत्पन्न होती है। यह समागम इच्छा प्रियतम/प्रियतमा को साक्षात् देखने पर उसके चित्र को देखने पर अथवा उसके विषय में सुनने पर होती है। इस दशा में – विस्मय, आनन्द, तथा सम्भ्रम (साध्वस–भय) ये तीन अनुभाव होते हैं। {नायक अथवा नायिकारूप प्रियतम का} दर्शन साक्षात् रूप से, चित्र के द्वारा, स्वप्न के द्वारा या इन्द्रजाल आदि माया के द्वारा होता है। उस (प्रिय) का श्रवण – (१) सखी के द्वारा, (२) गीत के द्वारा, तथा (३) मागध आदि के द्वारा गुण कीर्तन के व्याज से होता है ॥ ५३–५४ ॥

वृत्त्यर्थ – अभिलाष इति। अभिलाष का उदाहरण, यथा अभिज्ञान शाकुन्तल में – {शकुन्तला को देखने पर राजा दुष्यन्त के मन में इस प्रकार का अभिलाष उत्पन्न होता है –}

असंशयमिति। 'निस्सन्देह यह (शकुन्तला) क्षत्रिय के द्वारा पत्नी के रूप में स्वीकार किये जाने योग्य है। क्योंकि मेरा पवित्र (श्रेष्ठ) मन इसके प्रति अभिलाषा से

विस्मयो यथा –

'स्तनावालोक्य तन्वङ्ग्याः शिरः कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिर्मग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ।।'

आनन्दो यथा विद्धशालभञ्जिकायाम् –

सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैः कवलितां
किरन् ज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनीम् ।
उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना–
· गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ।।'

साध्वसं यथा कुमारसम्भवे –

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि–
र्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ।। (कुमार० ५.८५

युक्त है। (क्योंकि) सन्देहास्पद विषयों में सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती है।'

(i) **विस्मय इति। विस्मययुक्त अभिलाषा** का उदाहरण, जैसे –

स्तनेति। 'उस कृशाङ्गी के स्तनों को देखकर (वह) युवक शिर हिलाने लगता है। (वह अपने शिर को इसलिए कंपित करता है) मानों स्तनों के मध्य में फँसी (गड़ी) हुई अपनी दृष्टि को (हिलाकर) बलात् बाहर निकाल रहा है।' {वस्तुतः तात्पर्य यह है कि उस तन्वङ्गी के पीन और उन्नत स्तनों को देखकर वह युवक उनके काठिन्य की कल्पना से आश्चर्यान्वित हो जाता है। अतः आश्चर्य से अपना सिर हिलाने लगता है।}

(ii) **आनन्द इति। आनन्दयुक्त अभिलाष, जैसे विद्धशालभञ्जिका में** {राजमहल के प्राचीर के समीप नायिका के मुख को देखकर नायक कहता है –}

सुधेति। 'प्राचीर के अग्रभाग पर तो थोड़ी दृष्टि डालो और विचार करो कि बिना आकाश के ही मृग से रहित अर्थात् निष्कलङ्क यह कौन चन्द्रमा है, जो श्वेत परिपक्व लवलि–फल के सदृश अपने निर्मल किरणों को फैलाता हुआ अमृत–पान में तत्पर उपवन के चकोरों से आस्वादित है।'

(iii) **साध्वसमिति। सम्भ्रम से युक्त अभिलाषा** का उदाहरण **'कुमारसम्भव'** में {शिव को सम्मुख देखकर पार्वती की यह दशा } –

तमिति। 'शिव को अपने सम्मुख स्थित देखकर सरस (प्रस्वेद युक्त) अङ्गों वाली·हिमालय की पुत्री पार्वती काँपने लगी। उस स्थान से आगे जाने के लिए उठाये हुए एक पैर को धारण करती हुई पार्वती इतनी सम्भ्रमित हो गई कि वह मार्ग में पर्वत

यथा वा —

'व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिन: ।।' (कुमार०८.२)

सानुभावविभावास्तु चिन्ताद्या: पूर्वदर्शिता: ।

गुणकीर्तनं तु स्पष्टत्वान्न व्याख्यातम् ।

दशावस्थत्वमाचार्यै: प्रायोवृत्त्या निदर्शितम् ।। ५५ ।।
महाकविप्रबन्धेषु दृश्यते तदनन्तता ।

दिङ्मात्रं तु —

के द्वारा अवरुद्ध हो जाने के कारण चञ्चल तथा तरङ्गाकुल नदी के समान न तो वहाँ से जा सकी और न वहाँ ठहर सकी'।

यथा वेति। अथवा, जैसे { **'कुमारसम्भव'** में ही पार्वती के सम्भ्रम युक्त अभिलाष का वर्णन इस प्रकार है —}

व्याहृतेति। 'शंकर के कुछ पूँछने पर यद्यपि पार्वती उत्तर ही नहीं देती थी, और उनके आँचल पकड़ लेने पर उठकर जाना चाहती थी, तथा एक शय्या पर सोते समय वह दूसरी ओर मुँह करके सोती थी, तथापि वह शङ्कर में रति (अनुराग) की वृद्धि ही करती थी ।'

{प्रस्तुत श्लोक दशरूपक २।१६ में भी उद्धृत है। अभिलाष उत्पन्न होने पर— विस्मय, आनन्द तथा सम्भ्रम (साध्वस) अनुभाव होते हैं, जिन्हें देखकर यह ज्ञात किया जा सकता है कि तरुणी के हृदय में किसके प्रति उत्कट चाह है।}।। ५४ ।।

कारिकार्थ — सानुभावेति। अनुभाव तथा विभाव के सहित चिन्ता आदि तो पूर्व में ही प्रदर्शित किये जा चुके हैं ।।

वृत्त्यर्थ — गुणेति। यहाँ गुणकीर्तन (गुणकथा) की अलग से व्याख्या नहीं की गई है, क्योंकि वह स्पष्ट ही है। {**पूर्वम्** — व्यभिचारी भावों के वर्णन के अवसर पर (४।९—३३) गुणकथा = प्रिय के गुणों का कथन किया जा चुका है।}

कारिकार्थ — दशावस्थत्वमिति। आचार्यों ने प्राय: (अयोग की) इन्हीं दस अवस्थाओं का निदर्शन किया है। वैसे महाकवियों के प्रबन्धों में इन अवस्थाओं की अनन्तता देखी जा सकती है। {तात्पर्य यह है कि इन—अयोग अवस्थाओं के असंख्य प्रकार देखे जा सकते हैं, किन्तु आचार्यों ने प्राय: इन्हीं दस अवस्थाओं का निदर्शन अपने ग्रंथों में किया है। वैसे महाकवियों के प्रबन्धों में भी इन अवस्थाओं के अनेक प्रकार देखे जा सकते हैं।} ।। ५५—५६ ।।

दिङ्मात्रमिति। इस प्रकार निर्देशन मात्र के लिए यहाँ अवस्थाओं का दिग्दर्शन किया जा रहा है । {अधिक माहिती के लिए कामसूत्र आदि ग्रंथों में इनके विस्तृत वर्णन देखने चाहिए} —

दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाच्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ॥ ५६ ॥
अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नातिचिन्तनात् ।

शेषं प्रच्छन्नकामितादि कामसूत्रादवगन्तव्यम् ।

अथ विप्रयोगः —

विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविस्रम्भयोर्द्विधा ॥ ५७ ॥
मानप्रवासभेदेन, मानोऽपि प्रणयेर्ष्ययोः ।

प्राप्तयोरप्राप्तिः — **विप्रयोगः** । तस्य द्वौ भेदौ — **मानः, प्रवासश्च** । मानविप्रयोगोऽपि द्विविधः — **प्रणयमानः, ईर्ष्यामानश्चेति** ।

तत्र प्रणयमानः स्यात् कोपावसितयोर्द्वयोः ॥ ५८ ॥

कारिकार्थ — दृष्ट इति। (प्रिय को) देखने अथवा उसके गुणों के विषय में सुनने पर हृदय में जो अभिलाषा उत्पन्न होती है, तो क्या उस अभिलाषा से समागम प्राप्त करने की उत्सुकता जाग्रत नहीं होती? और (प्रिय के) न प्राप्त होने पर क्या निर्वेद नहीं होता ? तथा उसके विषय में अत्यधिक चिन्तन करने से क्या ग्लानि उत्पन्न नहीं होती ? {इस प्रकार अभिलाष—दशा में औत्सुक्य, निर्वेद तथा ग्लानि की भी अवस्थाएँ पायी जाती हैं।} ॥ ५६—५७ ॥

वृत्त्यर्थ — शेषमिति। बाकी छिपकर प्रेम करना आदि (प्रच्छन्नरूप से अनुराग करना) अयोग की अवस्थाओं का परिचय कामसूत्रादि ग्रन्थों से प्राप्त करना चाहिए ॥ ५६—५७ ॥

२. विप्रयोग —

अथेति। अब विप्रयोग का वर्णन करते हैं —

कारिकार्थ — विप्रयोग इति। {एक दूसरे के प्रति अत्यधिक प्रेमासक्त होने के कारण} जिनका एक—दूसरे के प्रति विश्वास अत्यधिक दृढ़ हो चुका है, ऐसे नायक एवं नायिका का वियुक्त हो जाना ही 'विप्रयोग' कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है — (१) मान जनित, जो मानविप्रयोग कहलाता है और (२) प्रवास जनित, जो प्रवास वियोग कहा जाता है। मानविप्रयोग भी दो कारणों से होता है (क) प्रणय के कारण (ख) ईर्ष्या के कारण ॥ ५७—५८ ॥

वृत्त्यर्थ — प्राप्तयोरिति। मिले हुए नायक—नायिका का अलग हो जाना **'विप्रयोग'** (वियोग) कहलाता है । इसके दो भेद हैं — **मान** तथा **प्रवास** । मान भी दो प्रकार का होता है — **प्रणयमान** तथा **ईर्ष्यामान** ।

(अ) मान—विप्रयोग —

(क) प्रणयमान —

कारिकार्थ — तत्रेति। नायक—नायिका में से एक के या दोनों के कोप युक्त होने पर, प्रणयमान होता है ॥ ५८ ॥

प्रेमपूर्वको वशीकारः — प्रणयः, तद्भङ्गे मानः — प्रणयमानः । स च द्वयोर्नायकयोर्भवति । तत्र नायकस्य यथोत्तररामचरिते —

'अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते ।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ।।' (३.३७)

नायिकाया यथा श्रीवाक्पतिराजदेवस्य —

'प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित—
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत् ।

वृत्त्यर्थ — प्रेमेति। प्रेम के द्वारा (प्रिय या प्रिया को) वश में— अधीन कर लेना ही **'प्रणय'** है। इस प्रणय को भङ्ग करने से जो मान होता है, उसे प्रणय—मान कहा जाता है। यह प्रणय—मान दोनों —नायक एवं नायिका में हो सकता है।

(i) **तत्रेति।** उनमें नायक में होने वाले **प्रणयमान** का उदाहरण, यथा **उत्तररामचरित** में —

{(राम का मान) — वनदेवी **वासन्ती** राम को पुरानी बातों का स्मरण कराती हुई कहती है —}

अस्मिन्निति। 'इसी लताकुञ्ज में तुम सीता के मार्ग की ओर अपनी आँखें लगाए हुए थे अर्थात् उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। किन्तु वह गोदावरी नदी के बालुकामय तट पर स्थित हंसों के साथ खेलती रही, और इस कारण उसे आने में विलम्ब हो गया था। वहाँ से लौटती हुई सीता ने आपको कुपित सा देखकर आपको प्रसन्न करने के लिए उसने कातरता से कमल की कली की तरह सुन्दर प्रणामाञ्जलि बाँध ली थी। {अर्थात् अत्यन्त भोलेपन से आपको प्रणाम किया था।}

(ii) **नायिकाया इति। नायिकागत प्रणयमान** का उदाहरण **वाक्पतिराजदेव** के मङ्गल—श्लोक में इस प्रकार है —

प्रणयकुपितामिति। 'देवी (पार्वती) को प्रणय से कुपित देखकर सम्भ्रम तथा आश्चर्य से चकित होकर त्रिभुवन के अधिपति शिव भयवश प्रणाम करने लगे। किन्तु नतमस्तक होने पर शिर पर गङ्गा को देखकर पार्वती ने पैर से उन्हें मार दिया। त्रिलोचन भगवान् शंकर की यह विचित्र अवस्था आप सब की रक्षा करें' ।।

(iii) {**नायक एवं नायिका**} दोनों के **प्रणयमान** का उदाहरण **'गाथा सप्तशती'** में इस प्रकार है —)

प्रणयेति — '{रात्रि में शैय्या पर} प्रणय—कोप में मान धारण करके एक—दूसरे की आवाज सुनने के लिए अत्यन्त आतुर, निश्चल एवं श्वास को रोककर कृत्रिमरूप से सोये हुए (आप दोनों में से) कौन मल्ल निकला ?' {तात्पर्य

नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता
 वततु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ॥'

उभयोः प्रणयमानो यथा –

'पणअकुविआण दोण्हवि अलिअपसुत्ताणं माणइंताणं ।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णअण्णाण को मल्लो । (गाथा १.२७)
('प्रणयकुपितोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः ।
निश्चलनिरुद्धनिःश्वासदत्तकर्णयोः कः मल्लः ॥')

स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये ।
श्रुते वाऽनुमिते दृष्टे, श्रुतिस्तत्र सखीमुखात् ॥ ५९ ॥
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनकल्पितः ।
त्रिधाऽनुमानिको, दृष्टः साक्षादिन्द्रियगोचरः ॥ ६० ॥

ईर्ष्यामानः पुनः स्त्रीणामेव नायिकान्तरसङ्गिनि स्वकान्ते उपलब्धे सति अन्यासङ्गस्तु श्रुतो वाऽनुमितो वा दृष्टो वा स्यात्। तत्र श्रवणं सखीवचनात्, तस्या

यह है कि नायक एवं नायिका ने एक दूसरे के अपराध पर कुपित हो मान कर लिया है। प्रणयकुपित होने के कारण एक ही शय्या पर सोये हुए भी निश्चल स्थिति में श्वास को रोककर कृत्रिम निद्रा (झूठ–मूठ) में सो रहे हैं। दोनों का एक–दूसरे के प्रति तीव्र आकर्षण है; क्योंकि दोनों ही एक–दूसरे का शब्द सुनने के लिए व्यग्र हैं। किन्तु मान के कारण कौन किसे प्रथम मनावें ? सुबह होने पर सखी नायिका से पूँछती है कि सोए हुए दोनों में कौन मल्ल (जोरदार) सिद्ध हुआ ? अर्थात् किसने अपना मान अन्त तक नहीं छोड़ा ? (किसने किसको मनाया ?)}॥

(ख) **ईर्ष्यामान –**

कारिकार्थ – स्त्रीणामिति। अपने प्रिय को अन्य किसी नायिका में अनुरक्त (आसक्त) सुनकर, अनुमान कर, अथवा स्वयं देखकर स्त्रियों में जो कोप–भाव (उत्पन्न) होता है, उसे ईर्ष्यामान कहा जाता है। यह कोप (ईर्ष्यामान) तो (अपनी विश्वसनीय) सखी के मुख से सुनकर होता है, किन्तु अनुमान करने के तीन कारण होते हैं – १. {प्रिय द्वारा की गई} स्वप्न की बड़बड़ाहट से; २. {प्रिय के शरीर पर अन्य नायिका के साथ की हुई } रति–क्रीड़ा के चिह्नों को देखने से; तथा (प्रिय के द्वारा) ३. भूल से (वार्तालाप के अवसर पर} अन्य नायिका का नामोच्चारण करने से। नेत्रेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष देख लेने को ही (देखा गया) 'दृष्ट' कहा जाता है ॥ ५९–६० ॥

वृत्त्यर्थ – ईर्ष्यामान इति। अपने प्रिय को किसी अन्य नायिका में आसक्त (अनुरक्त) जानकर **'ईर्ष्यामान'** होता है। यह भाव केवल स्त्रियों में ही (जाग्रत) होता है। {अपने प्रिय की} अन्या नायिका में इस अनुरक्ति (आसक्ति) का ज्ञान सुनकर होता है, या अनुमानों के आधार पर होता है अथवा प्रत्यक्ष रूप से देखकर होता है। इनमें सुनकर जो ज्ञान होता है, वह सखी के मुख से होता है; क्योंकि वह

विश्वास्यत्वात् । यथा ममैव –

'सुभ्रूस्त्वं नवनीतकल्पहृदया केनापि दुर्मन्त्रिणा
मिथ्यैव प्रियकारिणा मधुमुखेनास्मासु चण्डीकृता ।
किं त्वेतद्विमृश क्षणं प्रणयिनामेणाक्षि कस्ते हितः
किं धात्रीतनया वयं किमु सखी किंवा किमस्मत्सुहृत् ।।' (धनिकस्य)

उत्स्वप्नायितो यथा रुद्रस्य –

'निर्मग्नेन मयाऽम्भसि स्मरभरादाली समालिङ्गिता
केनालीकमिदं तवाद्य कथितं राधे मुधा ताम्यसि ।
इत्युत्स्वप्नपरम्परासु शयने श्रुत्वा वचः शार्ङ्गिणः
सव्याजं शिथिलीकृतः कमलया कण्ठग्रहः पातु वः ।।'

भोगाङ्कानुमितो यथा –

विश्वसनीय–विश्वास करने के योग्य होती है।

(क) **यथेति**। जैसा मेरा (पद्य) ही इस प्रकार है – {सखी के द्वारा अपने प्रिय की अन्या नायिका में आसक्ति की वार्ता को सुनकर ईर्ष्या–मानको की हुई नायिका को नायक कहता है –}

सुभ्रूस्त्वमिति। 'हे सुन्दर भौहों वाली ! तुम्हारा हृदय तो मक्खन की तरह अत्यन्त कोमल है, किन्तु दुष्टमन्त्रणा देने वाले, तुम्हारे मिथ्या हितैषी बनने वाले, एवं ऊपर ही ऊपर मधुर भाषण करने वाले किसी व्यक्ति के द्वारा तुम्हें हम पर क्रुद्ध करा दिया गया है । किन्तु हे मृगाक्षी ! क्षण भर तो थोड़ा विचार करो कि यथार्थ में तुम्हारा हितेच्छुः (शुभेच्छुः) कौन है ? यह धाय–कन्या है या यह सखी है या हमारे मित्र हैं अथवा हम।'

(ख) **उत्स्वप्नायित इति**। उत्स्वप्नायित, {जहाँ नायक स्वप्न में अन्या नायिका के नाम का उच्चारण करे और नायिका उसे सुनकर प्रिय की अन्यासक्ति को अनुमानतः समझ ले और ईर्ष्यामान कर बैठे } – यथा, रुद्र कवि के इस पद्य में –

निमग्नेनेति – जल में डूबे हुए मैंने काम के आवेग से उस सखी का आलिङ्गन कर लिया, हे राधे ! यह मिथ्या बात किसने आज तुमसे कह दी ? तुम व्यर्थ में ही क्यों दुःखी हो रही हो। इस प्रकार स्वप्न में की हुई बड़बड़ाहट में शय्या पर सोये हुए कृष्ण के वचन को सुनकर रुक्मिणी (लक्ष्मी) ने किसी बहाने से (कृष्ण के) कण्ठालिङ्गन को शिथिल कर दिया। इस प्रकार से कमला के द्वारा शिथिलित किया हुआ कृष्ण (विष्णु) का आलिङ्गन तुम्हारी रक्षा करें'।

भोगाङ्केति। {संभोग के अवसर पर शरीर पर अंकित हुए चिह्नों को देखकर अनुमान के द्वारा प्रिय की अन्यासक्ति को ज्ञात कर ईर्ष्यामान करने वाली नायिका का उदाहरण इस प्रकार है –}

'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥' (शिशु० ११.३४)

गोत्रस्खलनकल्पितो यथा –

'केलीगोत्तक्खलणे विकुप्पए केअवं अआणंती ।
दुट्ठ उअसु परिहासं जाआ सच्चं विअ परुण्णा ॥'
('केलीगोत्रस्खलने विकुप्यति कैतवमजानन्ती ।
दुष्ट पश्य परिहासं जाया सत्यमिव प्ररुदिता ॥')

दृष्टो यथा श्रीमुञ्जस्य –

'प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित–
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत् ।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता–
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ॥'

नवनखेति। 'नायिका नायक से कह रही है – नवीन नखक्षतों से चिह्नित अंग को वस्त्र से (ढँककर) छिपाते हो, दाँतों से क्षत हुए ओष्ठ को हाथ से छिपा रहे हो, (किन्तु यह तो बताओ कि) चारों ओर फैलने वाले एवं अन्य स्त्री के साथ हुए समागम को सूचित करने वाले इस नूतन परिमलगन्ध को कैसे, किससे (ढँककर) छिपा सकते हो ?' {इस प्रकार इस गन्ध से तुम्हारा परस्त्री–संभोग स्पष्टरूप से अनुमित होता है।'} (प्रस्तुत उदाहरण दशरू० २।२५ में भी उद्धृत है।)

गोत्रस्खलनेति। गोत्रस्खलन {वार्तालाप में भूलवश अन्य नायिका का नामोच्चारण करने} से अनुमित अन्यासक्ति का उदाहरण **'गाथासप्तशती'** में इस प्रकार है –

केलीगोत्रेति। {नायक से नायिका की सखी ने कहा} – रे {अन्यासक्त} दुष्ट ! रति क्रीड़ा के अवसर पर परिहास में तुम्हारे द्वारा अन्य स्त्री का नाम ले लेने पर छल–कपट को न जानने वाली सरल स्वभाव की तुम्हारी पत्नी यथार्थ में ही रोने लगी है। अपने परिहास का परिणाम तो देख लो' । {गोत्र स्खलन = भूल से किसी अन्या नायिका का नाम ले लेना }॥

(ग) **दृष्ट इति।** प्रत्यक्ष रूप से देख लेने से ईर्ष्यामान का उदाहरण **वाक्पतिराजदेव श्रीमुञ्ज** के श्लोक में इस प्रकार है –

प्रणयेति। 'प्रणयकुपित देवी (पार्वती) को देखकर सम्भ्रम एवं आश्चर्य चकित त्रैलोक्य के स्वामी भगवान् शङ्कर भय से तत्क्षण उनके चरणों में नतमस्तक हो गये। किन्तु भगवान् शङ्कर के अवनत होने पर प्रत्यक्षरूप में गङ्गारूपी अपनी सौत को

एषाम् —

यथोत्तरं गुरुः षड्भिरुपायैस्तमुपाचरेत् ।
साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ॥ ६१ ॥

एषाम् — श्रुतानुमितदृष्टान्यसङ्गप्रयुक्तानामुक्तानां मानानां मध्ये उत्तरोत्तरं मानो गुरुः — क्लेशेन निवार्यो भवतीत्यर्थः । तम् — मानम् । उपाचरेत् — निवारयेत् ।

तत्र प्रियवचः साम, भेदस्तत्सख्युपार्जनम् ।
दानं व्याजेन भूषादेः, पादयोः पतनं नतिः ॥ ६२ ॥
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम् ।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥ ६३ ॥
कोपचेष्टाश्च नारीणां प्रागेव प्रतिपादिताः ।

देखकर अत्यधिक क्रुद्ध होकर पार्वती ने उन्हें चरणों से ठुकरा दिया। इस प्रकार तिरस्कृत हो जाने के कारण विरूपता को प्राप्त हुए भगवान् शङ्कर की दैन्यावस्था आप सभी की रक्षा करे' ॥ ६० ॥

एषामिति। इन (श्रुत, अनुमित तथा दृष्ट अन्यासक्ति के कारण होने वाले ईर्ष्यामानों) में —

कारिकार्थ — यथोत्तरमिति। (श्रुत, अनुमित, तथा दृष्ट—अन्यासक्ति के कारण होने वाले मानों में) क्रमशः पूर्ववर्ती की अपेक्षा उत्तरवर्ती (मान) अधिक श्रमसाध्य होता है। {अर्थात्—श्रुत, अनुमित तथा दृष्ट प्रमाण से स्पष्टरूप से प्रमाणित होने वाली नायक की अन्यासक्ति के कारण होने वाला नायिका का मान पूर्ववर्ती की अपेक्षा अधिक कठिन होता है। अर्थात् कठिनाई से दूर होता है।} इन मानों का छः ६— प्रकार के उपायों से उपशमन करना चाहिए। ये उपाय हैं — (१) साम, (२) भेद, (३) दान, (४) प्रणति, (५) उपेक्षा, तथा (६) अन्य रस ॥ ६१ ॥

वृत्त्यर्थ — एषामिति। एषाम् अर्थात् उपर्युक्त श्रुत, अनुमित तथा दृष्ट अन्यासक्ति के कारण होने वाले मान उत्तरोत्तर अधिकगुरु अर्थात् श्रम साध्य होते हैं । यहाँ 'तम्' का अर्थ है — उस मानको। उपाचरेत् = अर्थात् निवारयेत् — दूर करे ॥ ६१ ॥

कारिकार्थ — तत्रेति। उन (६) छः उपायों में मधुर (प्रिय) वचन को 'साम' कहते हैं। नायिका की सखियों को अपनी ओर मिला लेने को 'भेद' कहा जाता है। किसी बहाने से आभूषण आदि का दे देना ही 'दान' कहलाता है। पैरों पर — 'मुझे क्षमा करो'— ऐसा कहते हुए गिर पड़ना ही 'नति' है ॥ ६२ ॥

सामादाविति। 'साम' — आदि (इन चारों) उपायों के क्षीण अर्थात् विफल हो जाने पर नायिका के प्रति उदासीन हो जाना ही 'उपेक्षा' है। शीघ्रता में उत्पन्न भय तथा हर्ष आदि के द्वारा नायिका के कोप का उपशमन करना अर्थात् उसे नष्ट—शान्त कर देना ही 'रसान्तर' कहलाता है। स्त्रियों की कोप चेष्टाओं का वर्णन पूर्व में (दश रू० २।२५—२८) ही किया जा चुका है ॥ ६३—६४ ॥

तत्र प्रियवच: साम । यथा ममैव –

'स्मितज्योत्स्नाभिस्ते धवलयति विश्वं मुखशशी
दृशस्ते पीयूषद्रवमिव विमुञ्चन्ति परित: ।
वपुस्ते लावण्यं किरति मधुरं दिक्षु तदिदं
कुतस्ते पारुष्यं सुतनु हृदयेनाद्य गुणितम् ।।' (धनिकस्य)

यथा वा –

'इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन
कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन ।
अङ्गानि चम्पकदलै: स विधाय वेधा:
कान्ते कथं रचितवानुपलेन चेत: ।।' (शृङ्गारतिलके)

नायिकासखीसमावर्जनभेदो यथा ममैव –

कृतेप्याज्ञाभङ्गे कथमिव मया ते प्रणतयो
धृता: स्मित्वा हस्ते विसृजसि रुषं सुभ्रु बहुश: ।

---

(१) **तत्रेति।** उपर्युक्त (मानों को दूर करने के) उपायों में प्रिय वचनों के द्वारा मानवती नायिका को प्रसन्न करने के उपाय को 'साम' कहा जाता है। {अर्थात् प्रिय वचनों का प्रयोग साम कहलाता है।} जैसे – (धनिक के) ही इस पद्य में {नायिका को नायक इस प्रकार मना रहा है} –

स्मितेति – 'हे सुन्दर अङ्गों वाली प्रिये ! तुम्हारा मुखचन्द्र स्मितरूपी अपनी ज्योत्स्ना से सारे संसार को धवलित कर रहा है। तेरी (निर्मल) दृष्टि चारों ओर मानों अमृत–रस की वर्षा कर रही है। तेरा यह शरीर सभी दिशाओं में मधुर–लावण्य बिखेर रहा है, इन सब बातों पर विचार करते हुए आश्चर्य हो रहा है कि आज तेरे हृदय के साथ कठोरता का सम्बन्ध कहाँ से हो गया ?'

यथावेति। अथवा, जैसे इस पद्य में – {कोई नायक नायिका से इस प्रकार कह रहा है –}

इन्दीवरेणेति। 'हे कान्ते ! उस विधाता ने तेरे नेत्रों को नील कमल से, मुख को लाल कमल से, दाँतों को कुन्द–कली से, अधर को नवीन लाल कोपल से, तथा अङ्गों को चम्पे की पंखुड़ियों से बना कर तेरी रचना की है, पर ज्ञात नहीं होता, तेरे हृदय की रचना पत्थर से क्यों कर दी है ? {तू हृदय से इतनी कठोर क्यों है ? जबकि शरीर के अन्य अङ्ग प्रकृति के कोमल–उपकरणों से निर्मित है।}

(२) **नायिकेति।** नायिका की सखियों को अपनी ओर मिला लेने वाले उपाय 'भेद' का उदाहरण, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य इस प्रकार है –

कृत इति। {नायक अपनी प्रिया से कहता है} – हे सुन्दर भौहों वाली, प्रिये ! बहुश: तुम्हारी आज्ञा न मानकर भी जब मैं तुम्हारे सम्मुख चरणों का स्पर्श

प्रकोपः कोऽप्यन्यः पुनरयमसीमाऽद्य गुणितो
वृथा यत्र स्निग्धाः प्रियसहचरीणामपि गिरः ॥' (धनिकस्य)

दानं व्याजेन भूषादेर्यथा माघे –

मुहुरुपहसितामिवालिनादै–
वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।
अधिरजनि गतेन धाम्नि तस्याः
शठ कलिरेव महांस्त्वयाऽद्य दत्तः ॥' (शिशु० ७.५५)

पादयोः पतनं नतिर्यथा –

'णेउरकोडिविअग्गं चिउरं दइअस्स पाअपडिअस्स ।
हिअअं माणपउत्थं उम्मोअंत्ति व्विअ कहेइ ॥
(नूपुरकोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।
हृदयं मानपदोत्थमुन्मुक्तत्येव कथयति ॥)

उपेक्षा तदवधीरणं यथा –

करने के लिए नत होने लगता था तो तुम मुस्कराते हुए बीच में ही मुझे हाथ से पकड़कर अपने कोप का त्याग कर देती थी पर आज (आश्चर्य है) यह कैसा अपूर्व कोप है कि जिसके समक्ष प्रिय सखियों के स्नेहपूर्ण वचन भी व्यर्थ हो रहे हैं' ॥

(३) **दानमिति।** आभूषण आदि को देकर प्रसन्न करने का दान नामक उपाय जैसे (**शिशुपालवध** के सप्तम सर्ग में) –

मुहुरिति। {कोई मानिनि नायिका नायक से कहती है–} 'भ्रमरों के गुंजारव से मानो जिसका बार–बार उपहास किया जा रहा है, ऐसी (छोटी सी) कली मुझे क्यों दे रहे हो ? हे शठ ! उस (सपत्नी) के घर रात्रि में जाकर तुमने आज यह बड़ी भारी कली (कलह) मुझे पहले ही दे दी है'।

{तात्पर्य यह है कि मानसिक अशान्तिरूपी एक कली दे चुकने पर पुनः दूसरी कली (पुष्प की) देना व्यर्थ है।}

(४) **पादयोरिति।** चरणों में पड़कर मानवती को प्रसन्न करने का **'नति'** नामक उपाय का उदाहरण (**गाथा सप्तशती** में इस प्रकार है) –

नूपुरेति। 'नायिका के चरणों में पड़े हुए नायक के केश नायिका के नूपुरों के अग्रभाग में उलझ गये हैं, वे यह सूचित कर रहे हैं कि नायिका का मानी हृदय अब मान से उन्मुक्त हो गया है'।

(५) **उपेक्षेति।** प्रिया के प्रति उदासीनता दर्शाना उपेक्षा कहलाता है, जैसे – {यह मानभङ्ग करने का उपेक्षा नामक उपाय का उदाहरण है, प्रस्तुत पद्य में नायिका एवं उसकी सखी का वार्तालाप है –}

'उच्यतां स वचनीयमशेषं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।
आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ।।'
'किं गतेन नहि युक्तमुपैतुं कः प्रिये सुभगमानिनि मानः ।' (किरात० ९.३९.४०)

रभसत्रासहर्षादि रसान्तरात् कोपभ्रंशो यथा ममैव –

'अभिव्यक्तालीकः सकलविफलोपायविभव–
श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम् ।
इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृतश्लेषां धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम् ।।' (धनिकस्य)

अथ प्रवासविप्रयोगः –

कार्यतः सम्भ्रमाच्छापात् प्रवासो भिन्नदेशता ।। ६४ ।।
द्वयोस्तत्राश्रुनिःश्वासकार्श्यलम्बालकादिता ।

उच्यतामिति। **नायिका** – सखि ! उस (वञ्चक) से स्पष्ट कह देना, कुछ भी छुपाना नहीं। **सखी** – पति के साथ क्रूरता का व्यवहार ठीक नहीं है । **नायिका** – ठीक है तो फिर किसी प्रकार मनाकर उसे यहाँ बुला ला । **सखी** – अप्रियकारी उस व्यक्ति के साथ अच्छा व्यवहार कर क्यों बुलाया जाय। **नायिका** – तो फिर उसके पास जाना ठीक नहीं, वहाँ जाने का प्रयोजन ही क्या है ? **सखी** – हे सुन्दरता का अभिमान करने वाली ! प्रियतम के विषय में मान ही क्या ? अर्थात् मान करना व्यर्थ है ।

(६) **रभसेति।** शीघ्रता, त्रास (भय) एवं हर्ष आदि के द्वारा किसी अन्य रस की उत्पत्ति के कारण क्रोध का शान्त होना, जैसे मेरा (धनिक) कृत यह पद्य –

अभिव्यक्तेति। 'नायक का अपराध स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाने पर नायिका मान कर बैठी हुई है। नायक विविध प्रकार से उसे मनाने या प्रसन्न करने का उपाय करता है, किन्तु वह सफल नहीं होता है। इसके पश्चात् वह बहुत विचार करके एक उपाय सोचता है, और एकाएक झूठे भय का निपुणता के साथ बहाना करके वह 'पीछे क्या है ? यह इधर पीछे क्या है?' इस प्रकार नायिका को एकदम डरा देता है। डरकर नायिका नायक की ओर झुकती है, नायक मुस्कराहट व मधुरता के साथ नायिका का आलिङ्गन करता है। {प्रस्तुत उदाहरण दश० २।४० में भी उद्धृत है}।।

(आ) प्रवास–विप्रयोग –

अथेति। अब ग्रन्थकार **'प्रवास–विप्रयोग'** का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – कार्यत इति। (क) कार्यवश, (ख) किसी सम्भ्रम से अथवा (ग) शाप के कारण नायक एवं नायिका का अलग–अलग प्रदेशों में रहना 'प्रवास–विप्रयोग' कहलाता है । उस (प्रवास–विप्रयोग) में दोनों ही (नायक–नायिका) में (एक का दूसरे को स्मरण कर) अश्रु, निःश्वास, दुर्बलता एवं केशों का बढ़ जाना आदि अनुभाव होते हैं ।। ६४–६५ ।।

स च भावी भवन् भूतस्त्रिधाद्यो बुद्धिपूर्वकः ॥ ६५ ॥

आद्यः कार्यजः समुद्रगमनसेवादिकार्यवशप्रवृत्तौ बुद्धिपूर्वकत्वाद् भूतभविष्य–द्वर्तमानतया त्रिविधः ।

तत्र यास्यत्प्रवासो यथा –

'होंतपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्सम् ।
पुच्छन्ती भमइ घरं घरेसु पिअविरहसहिरीआ ॥'
(भविष्यत्पथिकस्य जाया आयुःक्षणजीवधारणरहस्यम् ।
पृच्छन्ती भ्रमति गृहाद्गृहेषु प्रियविरहसहनशीला: ॥)

गच्छत्प्रवासो यथाऽमरुशतके –

'प्रहरविरतौ मध्ये वाऽह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
दिनकृति गते वास्तं नाथ त्वमद्य समेष्यसि ।

(क) स चेति। कार्यवशात् प्रवास – इनमें प्रथम (कार्यवशात् होने वाला) प्रवास बुद्धिपूर्वक अर्थात् सोच समझकर होता है; और वह तीन प्रकार का होता है – १. भावी २. वर्तमान तथा ३. भूत ॥ ६५ ॥

वृत्त्यर्थ – आद्य इति। उक्त तीनों प्रवासों में नायक का प्रथम प्रवास कार्य के कारण होने वाला होता है, जैसे – नायक समुद्र यात्रा में गया हो, अथवा नौकरी आदि के लिए परदेश गया हो, यह प्रवास भी बुद्धि के अनुसार तीन प्रकार का होता है – १. भूत, २. भविष्यत् ३. तथा वर्तमान । इन्हीं के उदाहरणों को क्रमशः प्रस्तुत करते हैं –

(१) **तत्रेति।** उनमें से भविष्य में परदेश जाने वाले नायक के प्रवास का उदाहरण (गाथा सप्तशती में) इस प्रकार है –

{प्रथम उदाहरण **'यास्यत्प्रवास'** का है, जबकि प्रिय परदेश गया नहीं है, किन्तु जाने वाला है}',

भविष्यदिति – 'प्रिय के भावी विरह की आशङ्का से दुःखी भावी पथिक की पत्नी पड़ोसियों से पति के परदेश चले जाने पर जीवन को धारण करने के रहस्य के विषय में घर–घर पूछती हुई घूम रही है'। {तात्पर्य यह है कि भावी पथिक की पत्नी भविष्य में होने वाले वियोग जनित दुःख की आशङ्का से भय–भीत होकर पड़ोसियों से प्रिय के विदा होने के अवसर पर प्राणों को धारण करने के रहस्य के विषय में पूँछती है, अर्थात् विरहावस्था में जीवित कैसे रहा जाता है ?}

(२) **गच्छदिति।** वर्तमान में प्रवास पर जाने वाले – **गच्छत्प्रवास** का उदाहरण **'अमरुशतक'** में इस प्रकार है –

प्रहरेति। {परदेश जाने वाले नायक से नायिका कहती है –} 'हे नाथ ! एक प्रहर व्यतीत होने पर या (दो या तीन प्रहर) दिन के मध्याह्न में अथवा पूरा दिन

इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥' (अमरु० १२)

यथा वा तत्रैव —

'देशैरन्तरिता शतैश्च सरितामुर्वीभृतां काननै-
र्यत्नेनापि न याति लोचनपथं कान्तेति जानन्नपि ।
उद्ग्रीवश्चरणार्धरुद्धवसुधः कृत्वाऽश्रुपूर्णे दृशौ
तामाशां पथिकस्तथापि किमपि ध्यात्वा चिरं तिष्ठति ॥' (अमरु० ९९)

गतप्रवासो यथा मेघदूते —

'उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥' (उ० मेघ० २३)

आगच्छदागतयोस्तु प्रवासाभावादेष्यत्प्रवासस्य च गतप्रवासाऽविशेषात्

व्यतीत हो जाने पर सायंकाल को तो यहाँ लौट आओगे न, — इस प्रकार आँसू तथा आहें (उसासों को) भरती हुई वाणी को कहकर वह बाला बड़े दूर (सौ दिन में प्राप्य) देश को जाने की इच्छा करने वाले प्रिय को जाने से रोक रही है'।

यथावेति। अथवा वहीं **अमरुशतक** के निम्न पद्य में {किसी विरही पथिक की मनोदशा का वर्णन इस प्रकार है —}

देशैरिति। 'सैकड़ों प्रदेशों, सैकड़ों नदियों, पर्वतों और वनों से भी परवर्ती स्थान में स्थित प्रिया यत्न करने पर भी दृष्टिगोचर नहीं हो सकती— यह जानते हुए भी वह विरही पथिक अपनी ग्रीवा उठा—उठाकर, पञ्जों के बल खड़े हो—होकर आँसुओं से भरी आँखों को पोंछ—पोंछकर, किसी ध्यान में मग्न होकर बार—बार उसी दिशा की ओर देख रहा है'।

(३) **गतेति।** भूतकाल —अतीत समय में प्रवास पर गए हुए — गतप्रवास का उदाहरण **'मेघदूत'** में इस प्रकार है —

उत्सङ्ग इति। {विरही यक्ष मेघ से कहता है —} 'अथवा, हे सौम्य ! (मेरे घर पहुँचकर तुम मेरी प्रिया को ऐसी दशा व मनोदशा में देखोगे 'वह अपनी गोद में या अपने मलिन वस्त्र पर वीणा को रखकर स्वयं के द्वारा रचित मेरे नाम से अङ्कित गीत को गाने की इच्छा कर रही होगी। परन्तु मेरा स्मरण हो आने के कारण अश्रुधारा से गीली हुई वीणा को किसी प्रकार सँवार कर अपने द्वारा विरचित गीत की मूर्च्छना को बार—बार भूलती हुई सी तुम्हारे दृष्टि—पथ में आयगी'।

आगच्छदिति। कुछ विद्वान् प्रवास के और अधिक भेद मानने के पक्ष में हैं— यथा आगतपतिका आगच्छत्पतिका, तथा एष्यत्पतिका । किन्तु ये भेद मानना

त्रैविध्यमेव युक्तम् ।

द्वितीयः सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात् ।

उत्पातनिर्घातवातादिजन्यविप्लवात् परचक्रादिजन्यविप्लवाद्वाबुद्धिपूर्वकत्वादकेरूप एव संभ्रमजः प्रवासः । यथोर्वशीपुरूरवसो र्विक्रमोर्वश्याम् । यथा च कपालकुण्डलापहृतायां मालत्यां मालतीमाधवयोः ।

स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः सन्निधावपि ॥ ६६ ॥

यथा कादम्बर्यां वैशम्पायनस्येति ।

समीचीन नहीं है। क्योंकि प्रिय प्रवास से लौटकर आ रहा हो {आगच्छत्} अथवा आ गया हो {आगत} तब तो यहाँ प्रवास का ही अभाव होता हे, (वह प्रवास ही नहीं होता) और जब प्रिय परदेश से लौटकर आने वाला हो {एष्यत्} तब तो गतप्रवास, {भूतकालीन प्रवास} से उसका कोई भेद या अन्तर ही नहीं रहता। इसलिए 'प्रवास—विप्रयोग' को तीन प्रकार का ही मानना तर्क सङ्गत है ।

(ख) सम्भ्रमवश प्रवास —

कारिकार्थ — द्वितीय इति। दूसरा {अर्थात् सम्भ्रम जनित} प्रवास दैवी उपद्रव या मनुष्य के द्वारा किये हुए विप्लव से सहसा होता है। {और इस प्रकार के उपद्रव के कारण नायक—नायिका सहसा एक दूसरे से वियुक्त हो जाते हैं }

वृत्त्यर्थ — उत्पातेति। भू—कम्प, अतिवृष्टि तथा जल—प्लावन आदि विपत्तियों तथा बिजली के गिरने, तूफान आने आदि से उत्पन्न होने वाले (दिव्य) उपद्रव के कारण अथवा शत्रु—राजा के द्वारा नगर का घेरा डाले जाने, आदि से होने वाले (मानुष कृत) उपद्रव के कारण होने वाला सम्भ्रमजन्य प्रवास एक ही प्रकार का होता है; क्योंकि दोनों ही दिव्य या अदिव्य अबुद्धिपूर्वक (बिना पूर्व सोचे समझे) होते हैं। यथा — **विक्रमोर्वशीय** में पुरुरवा और उर्वशी का वियोग (प्रवास) दैवी उपद्रव के कारण होता है, और **मालती तथा माधव** का वियोग—प्रवास, कपाल कुण्डला के द्वारा मालती का अपहरण कर लिये जाने से अदिव्य—मानुषी होता है।

(ग) शापवशात्—प्रवास—

कारिकार्थ — स्वरूपेति। नायक एवं नायिका दोनों एक दूसरे के समीप रहने पर भी जहाँ उनका स्वरूप—या रूप—शाप के कारण बदल जाता है, वह शाप से होने वाला प्रवास कहलाता है ॥ ६६ ॥

वृत्त्यर्थ — यथेति। जैसे — (बाणभट्ट की) कादम्बरी में शाप के कारण वैशम्पायन का प्रवास है। इसमें वैशम्पायन {पुण्डरीक} तथा महाश्वेता का शापज—वियोग अंकित है ॥ ६६ ॥

मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः ।
व्याश्रयत्वान्न शृङ्गारः, प्रत्यापन्ने तु नेतरः ।। ६७ ।।

यथेन्दुमतीमरणादजस्य करुण एव रघुवंशे । कादम्बर्यां तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासशृङ्गार एवेति ।

प्रवास–विप्रयोग और करुण में भेद –

{प्रवास विप्रयोग तथा करुण में भेद (अन्तर) बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि –}

कारिकार्थ – मृत इति। एक व्यक्ति {अर्थात् नायक या नायिका में से} की मृत्यु हो जाने पर जहाँ अन्य व्यक्ति प्रलाप करे, वहाँ प्रवास–विप्रयोग नहीं होता, वहाँ तो शोकभाव तथा करुण रस ही माना जायगा। क्योंकि वहाँ शृङ्गार रस का आलम्बन ही विद्यमान नहीं रहता, अतः वहाँ शृङ्गार नहीं माना जा सकता और यदि मृत्यु के पश्चात् भी किसी दैवी शक्ति से वह पुनः जीवित हो जाता है, तो वहाँ करुण {इतरः न} रस नहीं होगा, अपितु वहाँ शृङ्गार–रस ही रहेगा ।। ६७ ।।

वृत्त्यर्थ – यथेति। उदाहरणार्थ – **रघुवंश** के अष्टम सर्ग में इन्दुमती की मृत्यु हो जाने पर अज का विलाप करुण ही है, (वहाँ प्रवास–विप्रयोग नहीं) **कादम्बरी** में तो पहले करुण है; किंतु आकाशवाणी के सुन लेने के पश्चात् पुण्डरीक तथा महाश्वेता का वियोग 'प्रवास–विप्रयोग' रूप शृङ्गार ही है।

परामर्श – करुण तथा विप्रलम्भ की स्थिति के विषय में कभी–कभी भ्रम हो जाता है । उनकी सीमा अलग अलग है । भ्रम की सम्भावना मुख्यतः प्रेमियों के वियोग की अवस्थाओं में रहती है । प्रेमियों के वियोग के दो प्रकार हो सकते हैं – १. स्थायी वियोग, २. अस्थायी वियोग । दोनों प्रेमियों के जीवनकाल में जो वियोग किसी भी कारण से होता है वह विप्रलम्भ शृङ्गार की सीमा में आने वाला अस्थायी वियोग होता है, किन्तु दोनों प्रेमियों में से किसी एक का मरण हो जाने पर जो वियोग होता है, उसमें फिर मिलने की कोई आशा या सम्भावना नहीं रहती है । इस हेतु वह स्थायी वियोग होता है और वह करुण रस की सीमा में आ जाता है । अतः जहाँ तक प्रेमियों के वियोग का सम्बन्ध है, उसमें विप्रलम्भ शृङ्गार तथा करुण रस की सीमा रेखा 'मृत्यु' है । मरण से पूर्व तक का वियोग विप्रलम्भ शृङ्गार है और मृत्यु पश्चात् करुण रस का क्षेत्र होता है ।

कुछ आचार्यों ने मृत्यु के पश्चात् पुनः समागम होने की स्थिति मे करुण–विप्रलम्भ नामक एक पृथक् विप्रलम्भ के भेद की कल्पना की है – जैसा वि **साहित्यदर्पणकार** – ।। यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये । विमनायतं यदैकस्तदा भवेत् करूण विप्रलम्भः ।।

इस प्रकार का उदाहरण **कादम्बरी** में पुण्डरीक तथा महाश्वेता के वृत्तान्त ं मिलता है । पुण्डरीक के मरणोपरांत महाश्वेता और कपिञ्जल आदि विलाप कर र हैं । इसी मध्य कोई दीव्य ज्योति आकर पुण्डरीक के मृतशरीर को उठा ले जाती और महाश्वेता को आश्वासन दे जाती है तुम्हारा इससे पुनः समागम होगा । आचा

तत्र नायिकां प्रति नियमः –

प्रणयायोगयोरुत्का, प्रवासे प्रोषितप्रिया ।
कलहान्तरितेर्ष्यायां विप्रलब्धा च खण्डिता ।। ६८ ।।

अथ संभोगः –

अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोगो मुदान्वितः ।। ६९ ।।

धनञ्जय एवं **धनिक** ने प्रकृत स्थल में आकाशवाणी के पूर्व महाश्वेता आदि का जो विलाप है उसे करुण रस का विषय माना है और उसके बाद मिलने की आशा हो जाने से विप्रलम्भ का क्षेत्र मानकर 'प्रवास–विप्रयोग' माना है ।

परन्तु आचार्य मम्मट ने 'करुण विप्रलम्भ' अथवा 'प्रवास–विप्रयोग' नामका शृङ्गार का कोई भेद नहीं माना है । उनके मत में यह करुण रस की सीमा के ही अन्तर्गत है । हाँ आकाशवाणी के पश्चात् उसे कथञ्चित विप्रलम्भ माना जा सकता है । परन्तु यह उदाहरण केवल कवि की कल्पना मात्र से रचा हुआ है । यथार्थ में तो अन्त तक करुण ही रह सकता है । **उत्तररामचरितकार** ने रामचन्द्र के मुख से दोनों प्रकार के वियोगों का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है –

उपायानां भावादविरलविनोदव्यतिकरैः
विमर्दैर्वीराणां जनितजगदत्यद्भुत रसः ।
वियोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभूत्
कटुस्तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं तु प्रविलयः ।। ६७ ।। (३.४४)

तत्रेति। उनमें (अर्थात् अयोग तथा विप्रयोग के भेदों में) नायिका (की अवस्था) के विषय में यह नियम है –

कारिकार्थ – प्रणयेति। प्रणयमान (विप्रयोग) में तथा अयोग में नायिका का उत्कण्ठिता (विरहोत्कण्ठिता) होती है, प्रवास–विप्रयोग में प्रोषित–प्रिया, ईर्ष्यामान (से उत्पन्न होने वाले विप्रयोग) में कलहान्तरिता, विप्रलब्धा तथा खण्डिता कहलाती है। इस प्रकार विप्रयोग की दशा में नायिका की पाँच प्रकार की अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है ।। ६८ ।।

{दशरूपक के द्वितीय प्रकाश में २३ से २७ कारिका तक नायिका की आठ अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है। उनमें ही 'उत्कण्ठिता' आदि प्रकार का भी उल्लेख है।}।। ६८ ।।

३. संभोग शृङ्गार –

अथेति। अब ग्रन्थकार संभोग शृङ्गार का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – अनुकूलाविति। जहाँ विलासी नायक एवं नायिका एक दूसरे के अनुकूल होकर, एक दूसरे का अवलोकन एवं स्पर्श के द्वारा परस्पर उपभोग करते हैं, वहाँ प्रसन्नता तथा उल्लास से युक्त 'सम्भोग शृङ्गार' होता है ।। ६९ ।।

यथोत्तररामचरिते —

'किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा—
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण ।
सपुलकपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥' (उत्तर० १.२७)

अथवा । 'प्रिये, किमेतत् —

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दु:खमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्प: किमु मद: ।

वृत्त्यर्थ — यथेति। जैसे (भवभूति कृत) **उत्तररामचरित** नाटक में {राम तथा सीता का यह सम्भोग—शृङ्गार वर्णन — **श्रीराम** अपने पूर्व के अनुभवों को बताते हुए सीता से कहते हैं}

किमिति। 'यह वही स्थान है जहाँ हम दोनों को अनुरागवश होने वाली बातों में रात व्यतीत होने का ध्यान नहीं रहता था' — राम कहते हैं — 'यहाँ पर्णकुटी में रात के समय अत्यधिक अनुराग और सान्निध्य के होने से गाल से गाल सटाकर, एक एक बाहु से परस्पर गाढ़ आलिङ्गन कर कुछ धीरे—धीरे, क्रम के बिना, बातें करते हुए रात इस प्रकार व्यतीत हो जाती थी कि उसके प्रहरों के व्यतीत होने का ज्ञान नहीं होता था।' (अर्थात् रात ही व्यतीत हो गई, किन्तु हमारी बातें समाप्त नहीं हुई थीं।)॥

परामर्श — इस श्लोक के चतुर्थ चरणान्तर्गत **'एवम्'** — इस प्रकार शब्द के अनुस्वार को हटाने के लिए **कालिदास** ने **भवभूति** से कहा, और भवभूति ने उसे स्वीकार कर लिया, यह पण्डितों में परंपरागत प्रसिद्धि है । **'रात्रिरेव व्यरंसीत्'** — इस चरणांश से **'रात ही समाप्त हो जाती थी पर बातें पूरी नहीं होती थीं'** — यह व्यङ्ग्यार्थ निकलता है। इसलिये यह दूसरा पाठ ही नि:सन्देह अधिक सरस है, और यही प्राय: सभी प्रतियों में दृष्टिगोचर होता है। **डॉ० बेल्वल्कर** को **'रात्रिरेवं व्यरंसीत्'** पाठ नेपाल की ई० सन्० ११९६ के आसपास लिखी एक हस्तलिखित प्रति में मिला। यद्यपि उक्त आख्यायिका में कुछ तथ्य प्रतीत नहीं होता, तथापि इसमें भी सन्देह नहीं कि **'एवं'** जैसे मूलपाठ के स्थान पर भवभूति ने स्वयं या अन्य किसी सहृदय ने 'एव'— पाठ को रखकर उक्त श्लोक में अधिक सुन्दर व्यञ्जना कर दी है। **देखिए व्याख्याकार का हिन्दी अनुवाद 'भवभूति'** पॉप्युलर प्रकाशन, मुंबई पृ० ७२, प्रथम संस्करण १९७२)॥

अथवेति। अथवा, जैसे, वहीं — हे प्रिये, यह क्या है ?

विनिश्चेतुमिति। 'यह निश्चय करना कठिन है कि यह तुम्हारा स्पर्श मेरे लिए सुख है अथवा दु:ख, यह विशेष मोह है या नींद की बेहोशी। अथवा तुम्हारे स्पर्श से मेरे शरीर में विष का सञ्चार हो रहा है या कोई विशेष मद का प्रवाह। तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श से मेरे हृदय में एक विशेष प्रकार का विकार उत्पन्न होता है, जो

तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥' (उत्तर० १.३५)

यथा च ममैव –

'लावण्यामृतवर्षिणी प्रतिदिशं कृष्णागरुश्यामले
वर्षाणामिव ते पयोधरभरे तन्वङ्गि दूरोन्नते ।
नासावंशमनोज्ञकेतकतनुर्भ्रूपत्रगर्भोल्लसत्
पुष्पश्रीस्तिलकः सहेलमलकैर्भृङ्गैरिवापीयते ॥' (धनिकस्य)

चेष्टास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाद्या दश योषिताम् ।
दाक्षिण्यमार्दवप्रेम्णामनुरूपाः प्रियं प्रति ॥ ७० ॥

ताश्च सोदाहृतयो नायकप्रकाशे दर्शिताः।

रमयेच्चाटुकृत्कान्तः कलाक्रीडादिभिश्च ताम् ।
न ग्राम्यमाचरेत् किंचिन्नर्मभ्रंशकरं न च ॥ ७१ ॥

मेरे इन्द्रिय ग्रामों को निष्क्रिय कर देता है। तथा हृदय में जड़त्व उत्पन्न कर देता है। साथ ही ताप को भी देता है' ॥

यथाचेति। अथवा, जैसे मेरा (धनिक का) ही यह पद्य है। {नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए नायक कहता है –}

लावण्येति। 'हे कृशाङ्गी ! वर्षा कालीन उमड़कर आयी हुई घटाओं के समान बहुत दूर तक ऊँचा उठा हुआ तथा कृष्णअगरु (की पत्र रचना) से श्यामल तुम्हारा यह स्तनभार प्रत्येक दिशा में लावण्यरूपी अमृत की वर्षा करने वाला है। हे प्रिये ! तुम्हारी नासिका–वंश केतकी के सदृश है। सुन्दर भौहों का आकार ही उसके पर्ण हैं, माथे पर अंकित सुन्दर कस्तूरी का तिलक ही उसका पुष्प हैं और हेला–युक्त तेरी यह अलकावली ही पुष्प–रस का पान करने वाली भ्रमर–पंक्ति है' ॥ ६९ ॥

सम्भोग–शृङ्गार में नायिकाओं की शृङ्गारिक चेष्टाएँ –

कारिकार्थ – चेष्टाइति। इस (सम्भोग शृङ्गार) में अपने प्रियतमों के प्रति नायिकाओं की लीला इत्यादि दस चेष्टाएँ हुआ करती हैं। ये सभी चेष्टाएँ दाक्षिण्य, मृदुता एवं प्रेम के अनुरूप होती हैं ॥ ७० ॥

वृत्त्यर्थ – ता इति। उन चेष्टाओं का विवेचन उदाहरण सहित नायक प्रकाश (द्वितीय प्रकाश) में किया जा चुका है ॥ ७० ॥

कारिकार्थ – रमयेदिति। नायक नायिका के साथ चाटुकारिता युक्त वचनों से कला एवं क्रीड़ा आदि के साथ रमण करे। किन्तु इन क्रियाओं के करने के अवसर पर उसे ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जो ग्राम्य हो या नर्म (शृङ्गार) को नष्ट करने वाला हो ॥ ७१ ॥

ग्राम्याः संभोगो रङ्गे निषिद्धोऽपि काव्येऽपि न कर्तव्य इति पुनर्निषिध्यते ।

यथा **रत्नावल्याम्** (१.२१) —

स्पृष्टस्त्वयैष दयिते स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन ।
उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलय इव लक्ष्यतेऽशोकः ।।' इत्यादि ।

नायकनायिकाकैशिकीवृत्तिनाटकनाटिकालक्षणाद्युक्तं कविपरम्परावगतं स्वयमौचित्यसम्भावनानुगुण्येनोत्प्रेक्षितं चानुसन्दधानः सुकविः शृङ्गारमुपनिबध्नीयात् ।

अथ वीरः —

वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व—
मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः ।
उत्साहभूः स च दयारणदानयोगात्
त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः ।। ७२ ।।

वृत्त्यर्थ — ग्राम्या इति। ग्राम्य—सम्भोग रङ्गमञ्च पर निषिद्ध है ही, किन्तु पुनः यहाँ निषेध इसलिए किया गया है कि काव्य में भी इसका वर्णन नहीं किया जाना चाहिए। {नायक के सभ्य आचरण का उदाहरण है} — जैसे **रत्नावली** में राजा की वासवदत्ता के प्रति यह उक्ति —

स्पृष्ट इति। 'हे प्रिये ! कामदेव की पूजा करने के अवसर पर व्यस्त तेरे हाथ से स्पृष्ट यह अशोक ऐसा दिखाई दे रहा है, जैसे इसमें कोई अत्यधिक कोमल किसलय निकल आया हो।'' इत्यादि ।।

नायकेति। सुकवि को नाटक की रचना करते समय कुछ बातें विशेष ध्यान में रखनी चाहिए — जैसे (१) **नायक, नायिका, कैशिकी वृत्ति, नाटक,** नाटिका आदि के लक्षणों को बताए जाने के अवसर पर निर्दिष्ट (बातों) तथा (२) **कवि—परंपरा** का स्मरण, एवं (३) **औचित्य की सम्भावना के अनुरूप स्वकल्पित विषयों को ध्यान में रखते हुए शृङ्गार—रस का उपनिबन्धन** । {नाटक में शृङ्गार रस का प्रधान रस के रूप में उपनिबन्धन करते समय शृङ्गार रस के अनुरूप नायक—नायिका की विशेषताओं को विशेषरूप से ध्यान में रखना चाहिए । उस रस के अनुरूप ही वृत्ति अर्थात् कैशिकी की योजना, कविपरम्परा तथा औचित्य की सम्भावना के अनुरूप ही स्वकल्पित विषयों की रचना होनी चाहिए। इति। अर्थात् सभी तत्त्व शृङ्गार के अनुरूप होने चाहिए।}

२. वीर रस —

अथेति। अब ग्रन्थकार वीर नामक दूसरे रस का निरूपण करते हैं —

कारिकार्थ — वीर इति। प्रताप, विनय, अध्यवसाय {प्रयास या सङ्कल्प} सत्त्व {बल} मोह, अविषाद, नय {नीति} विस्मय, एवं पराक्रम आदि {विभावों} से होने वाले उत्साह {स्थायी—भाव} से वीर रस होता है। वह वीर रस दया, युद्ध तथा दान {रूप अनुभावों} के कारण तीन प्रकार का हो जाता है, {अर्थात् दयावीर, युद्धवीर, एव दानवीर,} इस रस में मति, गर्व, धृति, और प्रहर्ष {सञ्चारीभाव} होते हैं ।। ७२ ।।

प्रतापविनयादिभिर्विभावितः करुणायुद्धदानाद्यैरनुभावितो गर्वधृतिहर्षामर्ष-स्मृतिमतिवितर्कप्रभृतिभिर्भावित उत्साहः स्थायी स्वदते — भावकमनोविस्तारानन्दाय प्रभव-तीत्येष वीरः । तत्र दयावीरो यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य, युद्धवीरो वीरचरिते रामस्य, दानवीरः परशुरामबलिप्रभृतीनाम् — 'त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः' इति ।

'खर्वग्रन्थिविमुक्तसन्धिविकसद् वक्षःस्फुरत्कौस्तुभं
निर्यन्नाभिसरोजकुड्मलकुटीगम्भीरसामध्वनि ।
पात्रावाप्तिसमुत्सुकेन बलिना सानन्दमालोकितं
पायाद् वः क्रमवर्धमानमहिमाश्चर्यं मुरारेर्वपुः ॥'

यथा च ममैव —

'लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्गकुङ्कुमारुणितो हरेः ।
बलिरेष स येनास्य भिक्षापात्रीकृतः करः ॥' (धनिकस्य)

वृत्त्यर्थ — प्रतापेति। प्रताप, विनय आदि विभावों द्वारा विभावित, करुणा, युद्ध, दान आदि अनुभावों से अनुभावित गर्व, धृति, हर्ष, अमर्ष, स्मृति, मति, वितर्क आदि व्यभिचारीभावों के द्वारा भावित उत्साह नामक स्थायी-भाव आस्वादित होता है, अर्थात् सहृदय सामाजिकों के चित्त को विकसित करते हुए आनन्द प्रदान करता है, यही वीर रस होता है । {यह त्रिविधरूप का वीर रस (दयावीर, युद्धवीर, और दानवीर) होता है।} इनमें **दयावीर** का उदाहरण है, यथा नागानन्द नाटक में **जीमूत वाहन का उत्साह** । **वीरचरित नाटक में राम का उत्साह युद्धवीर** का उदाहरण है। तथा **परशुराम** और **बलि आदि** का **दानविषयक उत्साह दानवीर** का उदाहरण है। जैसे परशुराम के लिए राम कहते हैं — 'सातों समुद्रों तक विस्तृत पृथ्वी को निष्कपटरूप से दान में दे देना आपके त्याग का परिचायक है।' {और बलि की दानवीरता का उदाहरण इस प्रकार है, प्रस्तुत श्लोक में कवि ने राजा बलि से दान ग्रहण करते समय वामन अवतार के विराट रूप का वर्णन किया है —}

खर्वेति। 'भगवान् वामन के शरीर की छोटी-छोटी ग्रन्थियों ने जब सन्धियों के बन्धनों से मुक्ति पाई, अर्थात् जैसे ही भगवान् का शरीर वृद्धिंगत हुआ, वैसे ही उनके विशाल वक्षःस्थल पर कौस्तुभ-मणि चमकने लगा, प्रकट होते हुए नाभिकमल के कुड्मलरूपी कुटीर से गम्भीर साम-ध्वनि होने लगी । अपने याचक को इस प्रकार बड़े ही औत्सुक्य एवं आनन्द के साथ राजा बलि ने उन्हें देखा । इस प्रकार क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होने वाला आश्चर्यजनक मुरारि (भगवान् विष्णु) का विराट शरीर आप सभी की रक्षा करे।'

यथा चेति। अथवा, यथा मेरा ही (धनिक का) श्लोक {दानवीरता के विषय में इस प्रकार है —}

लक्ष्मीति — 'यह वही राजा बलि है, जिसने लक्ष्मी के स्तनमण्डल पर लिप्त कुङ्कुम से आरुणित (रक्ताभ) हुए भगवान् विष्णु के हाथों को भिक्षा के पात्र

विनयादिषु पूर्वमदाहृतमनुसन्धेयम् । प्रतापगुणावर्जनादिना वीराणामपि भावात् त्रैधं प्रायोवाद: । प्रस्वेदरक्तवदननयनादिक्रोधानुभावरहितो युद्धवीर:, अन्यथा रौद्र:।

अथ बीभत्स: —

बीभत्स: कृमिपूतिगन्धिवमथुप्रायैर्जुगुप्सैकभू—
रुद्वेगी रुधिरान्त्रकीकसवसामांसादिभि: क्षोभण: ।
वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घृणाशुद्धोऽनुभावैर्वृतो
नासावक्त्रविकूणनादिभिरिहावेगार्तिशङ्कादय: ।। ७३ ।।

अत्यन्ताहृद्यै: कृमिपूतिगन्धिप्रायविभावैरुद्भूतो जुगुप्सास्थायिभावपरिपोषण—

बना दिया था ।।' {इस प्रकार प्रतापादि से होने वाले उत्साह का वर्णन सोदाहरण उपन्यस्त किया गया ।}

विनयेति। विनय आदि से होने वाले उत्साह का उदाहरण पूर्व में {द्वितीय प्रकाश के प्रारम्भ में —धीरोदात्त नायक के पक्ष में} दिया गया है। वहीं उसका अनुसन्धान (समझ लेना) करना चाहिए । अन्य विद्वानों के मतानुसार वीर के **प्रतापवीर, गुणवीर, आवर्जनवीर** आदि भेद भी होते हैं। अत: 'त्रैधा—वीर' का कारिका में कहा हुआ (कथन) प्राय: कथन में अन्य भेदों की स्वीकृति अन्तर्निहित है।

अर्थात् प्राय: कहने से अन्य भेदों की स्वीकृति दे दी गई है। {युद्धवीर और रौद्र—रस में परस्पर भेद यह है कि} पसीना आना, मुख तथा आँखों का (कोप के कारण) लाल हो जाना आदि जो क्रोध के अनुभाव हैं, (आश्रय में न हों) उनसे रहित होने पर, युद्धवीर होता है, और उनके सद्भाव में रौद्ररस होता है। {क्योंकि वीर रस का स्थायी—भाव उत्साह होता है और रौद्ररस का स्थायी भाव क्रोध होता है। अत: रौद्ररस में ही मुंह का लाल हो जाना, नेत्रों का लाल हो जाना, पसीना आना आदि अनुभाव होते हैं । वीर रस में नहीं।}।। ७२ ।।

३. बीभत्स रस —

अथेति। अब ग्रन्थकार **बीभत्स** नामक तीसरे रस का निरूपण करते हैं —

कारिकार्थ — बीभत्स इति। 'जुगुप्सा' नामक स्थायीभाव से उत्पन्न होने वाला {जुगुप्सैकभू: } रस बीभत्स—रस कहा जाता है। इसके तीन प्रकार होते हैं १. कृमि, दुर्गन्ध तथा वमन आदि विभावों से होने वाला 'उद्वेगी—बीभत्स' (रस) होता है। २. रुधिर, अँतड़ियाँ, हड्डी, मज्जा, तथा मांस आदि विभावों से जायमान 'क्षोभण—बीभत्स' होता है । ३. जघन, स्तन, आदि रमणी के अवयवों के प्रति वैराग्य से होने वाला घृणा 'शुद्ध—बीभत्स'—होता है। यह नाक एवं मुख के सिकोड़ लेने (विकूणन) आदि अनुभावों से युक्त होता है, अर्थात् इस रस के अनुभाव नाक को सिकोड़ना, आदि हैं और उसके सञ्चारीभाव आवेग, व्याधि एवं शङ्का आदि हैं ।। ७३ ।।

वृत्त्यर्थ — अत्यन्तेति। (i) अत्यधिक बुरे तथा असुन्दर कीड़े, दुर्गन्ध आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न, जुगुप्सा स्थायी—भाव को पुष्ट करने वाले लक्षणों से युक्त

लक्षण उद्वेगी — बीभत्सः । यथा मालतीमाधवे —

> उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयाँसि मांसा—
> न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्ड्याद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
> आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का—
> दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ।।' (मालती० ५.१६)

रुधिरान्त्रवसाकीकसमांसादिविभावितः **क्षोभणो बीभत्सः** । यथा वीरचरिते —

> 'अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कङ्कण —
> प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम् ।
> पीतोच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लसद्—
> व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ।।' (महावीर० १.३५)

'उद्वेगी बीभत्स' होता है। यथा भवभूति के **'मालतीमाधव'** नाटक के इस दृश्य में — {यहाँ कोई प्रेत मांस—भक्षण में मग्न है, **माधव** उसकी बीभत्स—चेष्टाओं का वर्णन इस प्रकार करता है —}

उत्कृत्येति — 'सर्वप्रथम शरीर के चर्म को चीर—चीर कर कन्धे, कूल्हे तथा पीठ पिंडली आदि के अधिक सूजे हुए—उभरे हुए, अधिक मात्रा में सहजगत्या उपलब्ध होने वाले तथा अत्यधिक दुर्गन्धयुक्त सड़े—गले मांस को खा चुकने के पश्चात्, क्षुधा से आतुर दृष्टि से अपनी आँखों को विशेषरूप से इधर—उधर फैलाता हुआ, दाँतों को निकाले हुए, दरिद्र प्रेत अपनी गोद में रखे हुए मुर्दे की हड्डी के अन्दर संलग्न और गढ़ों में स्थिति (स्थपुटगत) कच्चे मांस को भी बिना किसी प्रकार की व्यग्रता के बड़ी ही रुचिपूर्वक खा रहा है।'

{इस श्लोक में दरिद्र प्रेत एवं शव **आलम्बन विभाव** के अन्तर्गत आते हैं; शरीर के चर्म को चीरना, दुर्गन्ध और मांस का भक्षण आदि **उद्दीपन विभाव** हैं। इस दृश्य को देखने वाले का नाक बन्द करना, मुख फेर लेना, थूकना आदि **अनुभाव** हैं। और माधव की उक्ति से उद्वेग आदि **व्यभिचारी भाव** हैं। इनसे परिपुष्ट जुगुप्सा नामक स्थायी भाव ही यहाँ **'उद्वेगी बीभत्स'** है।}

रुधिरेति। (ii) रक्त, अंतड़ी, चर्बी, हड्डी, मांस आदि को देखने अर्थात् इन विभावों से उत्पन्न क्षोभजनित रस को **'क्षोभण—बीभत्स—रस'** कहा जाता है। जैसे **महावीरचरित** में — {बीभत्सरूप से अपने सम्मुख दौड़ती हुई ताड़का को देखकर लक्ष्मण विश्वामित्र से उसके बीभत्स स्वरूप का वर्णन करते हुए पूँछते हैं कि यह कौन दौड़ रही है —}

अन्त्रप्रोतेति। 'अँतड़ियों में ग्रथित किये हुए बड़े—बड़े कपाल और जाँघ की हड्डियों से निर्मित, भयानक शब्द—ध्वनि करने वाले कङ्कण आदि अनेक चञ्चल आभूषणों की ध्वनि से आकाश को ध्वनित करती हुई, बहुत अधिक मात्रा में पी जाने के पश्चात् वमन किये हुए रक्त के कीचड़ से लथपथ शरीर के ऊपरी भाग पर

रम्येष्वपि रमणीजघनस्तनादिषु वैराग्याद् घृणाशुद्धःबीभत्सः। यथा –

'लालां वक्त्रासवं वेत्ति मांसपिण्डौ पयोधरौ ।
मांसास्थिकूटं जघनं जनः कामग्रहातुरः ॥'

न चायं शान्त एव विरक्तः – यतो बीभत्समानो विरज्यते ।

अथ रौद्रः –

क्रोधो मत्सरवैरिवैकृतमयैः पोषोऽस्य रौद्रोऽनुजः
क्षोभः स्वाधरदंशकम्पभ्रुकुटिस्वेदास्यरागैर्युतः ।

भयंकर आकृति वाले हिलते हुए स्तनों के भार से भयङ्कर शरीर वाली, यह कौन है? जो दर्प से उद्धत हुई दौड़ रही है' ॥

रम्येष्विति। (iii) रमणीय प्रतीत होने वाले भी, रमणी के जँघा तथा स्तन आदि (शरीर के अङ्गों) में वैराग्य से उत्पन्न घृणा **'शुद्ध–बीभत्स'** रस के अन्तर्गत हैं। जैसे –

लालामिति। 'काम–वासना से ग्रस्त व्यक्ति लार को मुख की मदिरा समझता है, मांस के पिण्डों को स्तन मानता है तथा मांस एवं हड्डी के उभरे हुए भाग को जघन समझता है।'

न चायमिति। उक्त श्लोक में वर्णित विरक्त पुरुष को शान्त रस से युक्त नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इसकी विरक्ति (वैराग्य) शान्ति जनित नहीं है, अपितु इसकी विरक्ति का कारण है घृणा ॥ ७३ ॥

{'बीभत्स के अन्य तीन भेद भी विद्वानों ने माने हैं – १. **आङ्गिक,** २. **वाचिक** और ३. **मानसिक** । यह अन्तिम भेद – **'मानसिक' बीभत्स** संस्कृत–काव्य साहित्य में यत्र–तत्र अभिव्यक्त किया गया है – जैसे, इसका स्वरूप 'रुधिरादिषु दृष्टेषु मनः क्षुभ्यति चञ्चलम् । अतो हि मानसः सद्भिर्बीभत्सः क्षोभनः स्मृतः ॥ बिभेति म्लायति द्वेष्टि मुहुर्मुह्यति बुद्ध्यति । क्रन्दत्यपक्रामति च विषीदति च निन्दति ॥ दयते भ्राम्यति त्रस्यत्यास्ते तूर्ष्णीं च गूहते । यत्ततो मानस–क्षोभजन्मा बीभत्स उच्यते ॥''}

४. रौद्ररस –

अथेति। अब ग्रन्थकार रौद्र नामक चौथे रस का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – क्रोध इति। मत्सर {ईर्ष्या} या अरि के द्वारा किए गए अपकार आदि विभावों (कारणों) से उत्पन्न क्रोधरूप स्थायीभाव का परिपोष ही रौद्र–रस कहलाता है। इसके पश्चात् (मानसिक अनुभाव) उत्पन्न होने वाला (अनुजः) उसका साथी 'क्षोभ' है, जो अपने ओष्ठ को चबाना, काँपना, भौहों को वक्राकार करना शरीर पर स्वेद आ जाना, मुख का लाल हो जाना एवं शस्त्र को उठाना, डींग हाँकना (आत्मश्लाघा–प्रशंसादि) {हाथों से} कंधे पर और {पैर से} भूमि पर चोट मारना, प्रतिज्ञा करना आदि {आङ्गिक,

शस्त्रोल्लासविकत्थनांसधरणीघातप्रतिज्ञाग्रहै –
रत्रामर्षमदौ स्मृतिश्चपलतासूयौग्र्यवेगादयः ॥ ७४ ॥

मात्सर्यविभावो रौद्रो यथा वीरचरिते–

'त्वं ब्रह्मवर्चसधरो यदि वर्तमानो
यद्वा स्वजातिसमयेन धनुर्धरः स्याः ।
उग्रेण भोस्तव तपस्तपसा दहामि
पक्षान्तरस्य सदृशं परशुः करोति ॥' (महावीर० ३.४४)

वैरिवैकृताद् तथा वेणीसंहारे –

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥ (वेणी० १.८)

इत्येवमादिभिर्विभावैः प्रस्वेदरक्तवदननयनाद्यनुभावैरमर्षादिव्यभिचारिभिः क्रोध–परिपोषः – रौद्रः । परशुरामभीमसेनदुर्योधनादिव्यवहारेषु वीरचरितवेणीसंहारादेरनुगन्तव्यः।

एवं वाचिक अनुभावों तथा सात्त्विक भावों} से युक्त होता है। इस रस में अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता तथा वेग आदि सञ्चारीभाव होते हैं ॥ ७४ ॥

मात्सर्येति। १. **मात्सर्य विभाव** से उत्पन्न होने वाले **'रौद्र'** का उदाहरण **'महावीर चरित'** में इस प्रकार है –

त्वमिति। '(परशुराम विश्वामित्र से कहते हैं–) तुम चाहे ब्रह्मतेज धारण करने वाले हो; अथवा तुम अपनी जाति के व्यवहार के अनुकूल यदि धनुर्धारी बने हो; {तो दोनों ही स्थितियों में मैं तुम्हारे तेज को तुम्हारी तपस्या को जलाता हूँ (जला दूंगा) और यदि तुम धनुर्धारी क्षत्रिय हो तो मेरा यह परशु तुम्हारे योग्य उपयुक्त आचरण करेगा {अर्थात् मैं तुम्हें अपने परशु से पराजित कर तुम्हारा वध कर दूंगा।}'

वैरिवैकृतादिति। २. शत्रु कृत अपकार से उत्पन्न **रौद्र** का उदाहरण **'वेणीसंहार'** में इस प्रकार है – { नेपथ्य से भीम का यह कथन –}

लाक्षेति। 'लाक्षागृह में आग लगाकर, विष मिश्रित भोजन देकर, तथा सभा में प्रवेश के द्वारा हम–पाण्डवों के प्राणों तथा धन–संग्रहों पर प्रहार करके और पाण्डवों की वधू–द्रौपदी के वस्त्र तथा केशों को खींच कर क्या धृतराष्ट्र के पुत्र मेरे जीवित रहते स्वस्थ रह सकेंगे ? { यह श्लोक दशरू० ३।९ में भी उद्धृत किया गया है।}

इत्येवमिति। इस प्रकार के (मात्सर्य आदि) विभावों के द्वारा उत्पन्न होने वाले प्रस्वेद, रक्तवदन, आरक्त आँखें आदि अनुभावों तथा अमर्ष आदि व्यभिचारीभावों से उत्पन्न होने वाला क्रोध का परिपोष ही 'रौद्र रस' होता है। रक्तवदन, रक्तनयन आदि के उदाहरण महावीरचरित तथा वेणीसंहार आदि नाटकों में परशुराम, भीम तथा दुर्योधन आदि के व्यवहारों में देखे जा सकते हैं।

अथ हास्यः –

विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा ।
हासः स्यात् परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः ।। ७५ ।।

आत्मस्थान् विकृतवेषभाषादीन् परस्थान् वा विभावानवलम्बमानः – हासः, तत्परिपोषात्मा हास्यो रसो द्व्यधिष्ठानो भवति, स चोत्तममध्यमाधमप्रकृतिभेदात् षड्विधः ।

{'लाक्षागृहानल' – आदि श्लोक में **दुर्योधन आदि आलम्बन विभाव हैं,** उनके द्वारा आग लगाया जाना, विषान्न भोजन आदि दिया जाना **उद्दीपन है** तथा उनके नाश का द्योतित संकल्प ही **अनुभाव** है। इनसे परिपुष्ट होने वाला **क्रोधस्थायीभाव** ही **रौद्ररस है।**}।। ७४ ।।

५. हास्य–रस –

अथेति। अब ग्रन्थकार **हास्य** नामक पाँचवें रस का निरूपण करते हैं

कारिकार्थ – विकृतेति। अपने अथवा दूसरे के विकृत आकार, वाणी तथा वेष आदि विभावों से अर्थात् इन्हें देख कर जो हास उत्पन्न होता है, उस हासरूप स्थायीभाव का परिपोष 'हास्य–रस' कहलाता है। यह हास 'त्रिप्रकृति' कहा गया है, अर्थात् तीन प्रकार के आश्रयों में रहने वाला होता है ।। ७५ ।।

वृत्त्यर्थ – आत्मेति। अपने अथवा दूसरे के विकृत वेष एवं भाषा आदि का अवलम्बन करके या इन्हें (देखकर) – इन विभावों के द्वारा उत्पन्न स्थायीभाव 'हास' होता है, उस हासरूप स्थायीभाव का परिपोष ही हास्य रस है। इस हास के दो आश्रय (अधिष्ठान) होते हैं – स्वयं या अन्य, और वह उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के भेद से छः प्रकार का होता है।

परामर्श – नाट्यशास्त्र के अनुसार जब व्यक्ति स्वयं हँसता है, तो आत्मस्थ हास्य और दूसरों को हँसाता है, तो परस्थ हास्य कहलाता है – **यदा स्वयं हसति तदाऽऽत्मस्थाः । यदा तु परं हासयति तदा परस्थः ।।** (अध्याय ६)

इस विषय में **आचार्य अभिनवगुप्त** का विवेचन अत्यन्त प्रासङ्गिक है। उन्होंने उन विचारकों का विरोध किया है जो आत्मस्थ और परस्थ भेदों का अर्थ यह समझते हैं कि आत्मस्थ में विकृत वेषादि विभावों के कारण विदूषक स्वयं हँसता है और परस्थ में दूसरों को हँसाता है। उनके अनुसार इस प्रकार आत्मस्थ तथा परस्थ रूप विभावों के दो भेद माने गये हैं, हास्य के नहीं। वे इस सन्दर्भ में दूसरा तर्क देते हैं कि स्वामी का शोक परिजनों में भी शोक उत्पन्न करता है तो शोक के प्रसंग में भी परस्थता माननी पड़ेगी। अथवा देवी आदि किसी अन्य में व्यक्त होने वाला हास्य परस्थ माना जाय, तो गंभीर प्रकृति के स्वामी में सेवकों के अनुभावों से उत्पन्न होने वाला क्रोध भी परस्थ मानना पड़ेगा। अतः आत्मस्थ और परस्थ की यह व्याख्या दोषपूर्ण है ।

कुछ विचारक यह कहते हैं कि स्वयं जिसमें विभाव हों वह हास्य आत्मस्थ तथा दूसरा जिसमें विभाव हो वह हास्य परस्थ होता है, यह भी अनुचित व्याख्या है ।

आत्मस्थो तथा रावणः –

'जातं मे परुषेण भस्मरजसा तच्चन्दनोद्धूलनं
हारो वक्षसि यज्ञसूत्रमुचितं क्लिष्टा जटाः कुन्तलाः ।
रुद्राक्षैः सकलैः सरत्नवलयं चित्रांशुकं वल्कलं
सीतालोचनहारि कल्पितमहो रम्यं वपुः कामिनः ।।'

परस्थो यथा –

'भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे ? किं तेन मद्यं विना
किं ते मद्यमपि प्रियम् ? प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ।

क्योंकि दूसरे का हास्य भी आत्मस्थ हास्य में विभाव होता है। इस आधार पर हास्य के भेद करने पर तो रति आदि सभी के ये भेद किये जा सकते हैं। अतः इन दो विभावों का अभिप्राय यह है कि विभावों को स्वतः न देखकर दूसरों को हँसता देखकर लोग हँसने लगते हैं, ऐसा लोक व्यवहार में देखा जाता है और गंभीर प्रकृति होने के कारण विभावादि से भी जो नहीं हँसते वे भी दूसरों को हँसता देखकर थोड़ा हँस ही देते हैं, क्योंकि मनुष्यों का ऐसा स्वभाव देखा जाता है। उदाहरण हेतु खट्टे अनार आदि का स्वभाव ऐसा संक्रमणशील होता है कि उनको देखकर भी लोगों के मुँह में पानी आ जाता है । इसी प्रकार हास भी संक्रमणशील है और लकड़ी में अग्नि के समान फैल जाता है । अतः स्वगतरूप हास्य **आत्मस्थ** और संक्रमणशील हास्य **परस्थ** माना जाना चाहिए । (अभि० भा० ६।४९)। **रसगंगाधरकार** ने भी **आचार्य अभिनवगुप्त** का अनुसरण करते हुए कहा है कि हास्य विषय को देखने से उत्पन्न हास्य **आत्मस्थ** और दूसरों को हँसता हुआ देखकर हँसने से **परस्थ** हास्य की सिद्धि होती है । प्रकृत प्रसंग में अभिनव गुप्तपाद ने भी हास्य के छः भेदों की व्यवस्था निर्धारित की है । जिसके अनुसार, स्मित, विहसित, उपहसित आत्मस्थ के भेद हैं और हसित, उपहसित, अतिहसित परस्थ के भेद हैं ।।

आत्मस्थ इति। (१) **आत्मस्थ–हास्य** – इसका उदाहरण रावण की उक्ति में इस प्रकार है {रावण स्वयं को देखकर कहता है –}

जातमिति। 'मेरे शरीर पर (लिप्त) रूक्ष–भस्म के द्वारा चन्दन के चूर्ण की भूषा की गई है, यज्ञोपवीत वक्षःस्थल पर हार का काम कर रहा है, ये उलझी हुई लम्बी जटाएँ की सुकोमल केश हैं, इन सम्पूर्ण रुद्राक्षों के साथ शरीर पर रत्नों के वलयों की तुलना की जा सकती है तथा यह धारण किया हुआ वल्कल ही सुन्दर चित्रांशुक है। आश्चर्य है, इस प्रकार स्वयं कामी ने सीता की दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए कितना सुन्दर कामी–व्यक्ति जैसा शृङ्गारी–वेष धारण किया हुआ है ।'

परस्थ इति। (२) **परस्थ–हास्य** – {दूसरे को विकृत वाणी एवं वेष से देखकर होने वाले हास्य का उदाहरण इस प्रकार है –}

गृहस्वामी – 'भिक्षुक ! क्या मांस खा रहे हो ? **भिक्षुक** – बिना मदिरा के मांस खाना भी कोई मजा है ? (अर्थात् केवल मांस खाना व्यर्थ है, उसे तो मदिरा

वेश्या द्रव्यरुचिः कुतस्तव धनम् ? द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो ? नष्टस्य काऽन्या गतिः ?॥'

स्मितमिह विकासिनयनं, किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तु हसितं स्यात् ।
मधुरस्वरं विहसितं, सशिरःकम्पमिदमुपहसितम् ॥ ७६ ॥
अपहसितं सास्राक्षं, विक्षिप्ताङ्गं भवत्यतिहसितम् ।
द्वे द्वे हसिते चैषां ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः ॥ ७७ ॥

उत्तमस्य स्वपरस्थविकारदर्शनात् स्मितहसिते, **मध्यमस्य** विहसितोपहसिते, **अधमस्या**ऽपहसितातिहसिते । उदाहृतयः स्वयमुत्प्रेक्ष्याः ।

के साथ खाना चाहिए) **गृहस्वामी** – तो क्या मदिरा भी चाहिए ? **भिक्षुक** – मदिरा तो चाहिए ही, किन्तु उसके साथ–वाराङ्गना भी प्राप्त हो जाय तो और भी अधिक अच्छा होगा । **गृहस्वामी** – वाराङ्गना तो पैसों से प्राप्त हो सकेगी, किन्तु आपके पास पैसा कहाँ है ? **भिक्षुक** – धन–पैसों– की क्या कमी है, चोरी और द्यूत से प्राप्त हो सकता है । **गृहस्वामी** – आश्चर्य है, आप तो चोर और जुआड़ी भी है ?। **भिक्षुक** – अरे भाई ! जो नष्ट हो चुका है अर्थात् जो भ्रष्ट हो चुका है, उसके लिए अन्य कौन सा मार्ग है शेष रह जाता है' ।

{आत्मस्थ के उदाहरण –'जातं मे'– में रावण स्वयं ही हास का आलम्बन है। उसकी विकृत वेष–भूषा उद्दीपन है। स्वयं के विकृत वेष को देखकर मुस्कराना आदि अनुभाव हैं। शङ्का–ग्लानि आदि संचारी भाव हैं। इसी प्रकार परस्थ का उदाहरण भी समझ लेना चाहिए }

उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के अनुसार होने वाले हास के भेद –

कारिकार्थ – स्मितमिति। इस हास में (१) जब केवल नेत्र ही विकसित होते हैं, तब स्मित हास होता है। (२) जब थोड़े–थोड़े दाँत ही परिलक्षित होते हैं, तब हसित होता है, (३) जब (मुख से) मधुर स्वर निकल पड़ते हैं, तब विहसित होता है, (४) जब यह विहसित शिर हिलाने के साथ–साथ होता है, तब उपहसित होता है, (५) जब (हँसते समय) आँखों में आँसू भर आते हैं तब अपहसित होता है और (६) जब (हँसते–हँसते) सारा शरीर कँपने लगता है, तब 'अतिहसित' होता है। उक्त हास के छः भेदों में से क्रमशः दो–दो उत्तम मध्यम तथा अधम प्रकृति (के व्यक्ति) में पाये जाते हैं ॥ ७६–७७॥

वृत्त्यर्थ – उत्तमस्येति। अपने या दूसरे के विकृत वेष आदि को देखकर उत्तम जन का स्मित और हसित होता है, मध्यम जन का विहसित और उपहसित होता है तथा अधम जन का अपहसित एवं अतिहसित होता है। इन छः के उदाहरणों की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिए ॥ ७६–७७ ॥

व्यभिचारिणश्चास्य –

निद्रालस्यश्रमग्लानिमूर्च्छाश्च सहचारिणः ।

अथाद्भुतः –

अतिलोकैः पदार्थैः स्याद् विस्मयात्मा रसोऽद्भुतः ॥ ७८ ॥
कर्माऽस्य साधुवादाश्रुवेपथुस्वेदगद्गदाः ।
हर्षावेगधृतिप्राया भवन्ति व्यभिचारिणः ॥ ७९ ॥

लोकसीमातिवृत्तपदार्थवर्णनादिविभावितः साधुवादाद्यनुभावपरिपुष्टो विस्मयः स्थायिभावो हर्षावेगादिभावितो रसः – अद्भुतः। यथा –

'दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्धत–
ष्टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्याप्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर –
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमसौ नाद्यापि विश्राम्यति ॥' (महावीर० १.५४)

इत्यादि।

व्यभिचारिण इति। और, इस हास्य के व्यभिचारीभाव अधोलिखित हैं –

कारिकार्थ – निद्रेति। व्यभिचारीति निद्रा, आलस्य, श्रम, ग्लानि तथा मूर्च्छा– ये व्यभिचारी भाव हैं ।

६. अद्भुत रस –

अथेति। अब ग्रन्थकार 'अद्भुत' नामक छठवें रस का निरूपण करते हैं –

कारिकार्थ – अतिलोकैरिति। अलौकिक पदार्थों {के दर्शन या श्रवण करने} से 'अद्भुत' रस उत्पन्न होता है, यह विस्मय नामक स्थायी भाव से परिपुष्ट होता है । साधुवाद (प्रशंसा करना) अश्रु, वेपथु, (कम्पन) प्रस्वेद, गद्गद वाणी आदि उसके अनुभाव हैं। हर्ष, आवेग, और धृति आदि व्यभिचारी भाव हैं ॥ ७८–७९ ॥

वृत्त्यर्थ – लोकेति। लोक सीमा का अतिक्रमण करने वाले पदार्थों के वर्णन आदि से विभावित होकर, साधुवाद आदि अनुभावों से परिपुष्ट होकर एवं हर्ष–आवेग आदि व्यभिचारीभावों से भावित होकर विस्मय नामक स्थायी–भाव ही 'अद्भुत–रस' कहा जाता है। जैसे – 'महावीर चरित' में – {राम के द्वारा धनुष के तोड़े जाने पर दीर्घ काल तक उस धनुर्भङ्ग के शब्द से उत्पन्न प्रतिध्वनिरूप गूँज से विस्मित लक्ष्मण की यह उक्ति –}

दोर्दण्डेति। 'भुजदण्ड से उठाए हुए भगवान् शङ्कर के धनुष के टूटने से उत्पन्न हुई टङ्कार ध्वनि, ऐसी प्रतीत होती है, मानो आर्य राम के बालचरित आरम्भ होने का डिण्डिम घोष हो, यह टङ्कार–ध्वनि दो कपालों के सम्पुट से निर्मित इस ब्रह्माण्डरूपी भाण्ड के मध्य में घूमकर तथा गूँज–गूँजकर और अधिक गम्भीर बन गई है किन्तु ज्ञात नहीं होता, यह अभी भी शान्त क्यों नहीं हो रही है ।' इत्यादि ॥

अथ भयानकः —

विकृतस्वरसत्त्वादेर्भयभावो भयानकः ।
सर्वाङ्गवेपथुस्वेदशोषवैवर्ण्य — लक्षणः॥
दैन्यसम्भ्रमसम्मोहत्रासादिस्तत्सहोदरः ॥ ८० ॥

रौद्रशब्दश्रवणाद् रौद्रसत्त्वदर्शनाच्च भवस्थायिभावप्रभवो भयानको रसः। तत्र सर्वाङ्गवेपथुप्रभृतयोऽनुभावाः। दैन्यादयस्तु व्यभिचारिणः।

भयानको यथा —

'शस्त्रमेतत्समुत्सृज्य कुब्जीभूय शनैः शनैः ।
यथातथागतेनैव यदि शक्नोषि गम्यताम् ॥

परामर्श — उक्त उदाहरण में लक्ष्मण का विस्मय स्थायीभाव है। धनुष की टङ्कार ध्वनि आलम्बन है। उस ध्वनि का दीर्घ काल तक गूँजते रहना उद्दीपन है। उसकी महिमा का वर्णन प्रशंसा आदि अनुभाव है और इस वर्णन से होने वाला हर्ष आदि संचारीभाव है। इन सभी उपकरणों से यहाँ अद्भुत रस की पुष्टि होती है।

अद्भुत रस के विभावों में दिव्य दर्शन, वनविहार, अलौकिक शिल्पदर्शन आदि की भी गणना की जाती है। 'इन्द्रजाल' को भी विस्मय का विभावक माना गया है। भरतमुनि ने इस रस के अधिदैवत ब्रह्मा को माना है। ('अद्भुतो ब्रह्मदैवतः') भावप्रकाशनकार ने इसीलिए कहा है — 'अद्भुतस्याप्यधिष्ठानं नानाशिल्पात्मिकैव धीः । ब्रह्मणः सेयमस्तीति सोऽयमस्याधिदैवतम् ॥' किन्तु साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने 'गन्धर्व' को इसका अधिदैवत माना है। (सा० द० ३।२४२)॥ ७९ ॥

७. भयानक रस —

अथेति। अब ग्रन्थकार 'भयानक' नामक सातवें रस का निरूपण करते हैं—

कारिकार्थ — विकृतेति। किसी जीव के भयोत्पादक स्वर या शरीर आदि को देखकर उत्पन्न होने वाले भय नामक स्थायीभाव का परिपोष ही 'भयानक—रस' है। सम्पूर्ण शरीर में कम्पन, पसीना आना, मुख का सूखजाना, मुख का पीला पड़ जाना, चिन्ता होना आदि इसके अनुभाव (लक्षण) होते हैं। दैन्य, भगदड़, किङ्कर्तव्यविमूढ हो जाना एवं त्रास आदि इसके व्यभिचारीभाव सहोदर होते हैं॥ ७९—८०॥

वृत्त्यर्थ — रौद्रशब्देति। भयजनक (डरावने) शब्द को सुनने या डरावने प्राणी को देखने से उत्पन्न होने वाले भय नामक स्थायी—भाव से उत्पन्न होने वाला भयानक—रस होता है। इस रस में सम्पूर्ण शरीर में कम्पन आदि होना इसके अनुभाव हैं, और दैन्य आदि इसके संचारी—व्यभिचारी भाव हैं।

भयानक इति। भयावह {ध्वनि} का उदाहरण इस प्रकार है —

शस्त्रमिति। 'इस शस्त्र को छोड़कर, शनैः शनैः कुबड़े की तरह छिपकर, किसी प्रकार यदि तुम यहाँ से जा सको तो चले जाओ ।'

यथा च रत्नावल्यां (२.३) प्रागुदाहृतम् (दश० २.५९) — 'नष्टं वर्षवरैः' इत्यादि । यथा —

'स्वगेहात् पन्थानं तत उपचितं काननमथो
गिरिं तस्मात् सान्द्रद्रुमगहनमस्मादपि गुहाम् ।
तदन्वङ्गान्यङ्गैरभिनिविशमानो न गणय-
त्यरातिः क्वालीये तव विजययात्राचकितधीः ।।'

अथ करुणः —

इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणोऽनुतम् ।
निःश्वासोच्छ्वासरुदितस्तम्भप्रलपितादयः ।। ८१ ।।

यथाचेति। अथवा, जैसे **'रत्नावली'** नाटिका में {भयजनक प्राणी दिखाई देने से उत्पन्न त्रास के रूप में बन्दर के अश्वशाला से छूटकर भागने से घटित हुए अन्तःपुर की भगदड़ का वर्णन} **'नष्टं वर्षवरैः'** इत्यादि उदाहरण में पूर्व ही (दशरू० २।५९) प्रस्तुत किया जा चुका है।

यथा चेति। अथवा, जैसे इस उपर्युक्त पद्य में — {कोई कवि राजा से कहता है कि महाराज ! }

स्वगेहादिति। 'आपकी विजययात्रा { की वार्ता सुनकर} आश्चर्य चकित बुद्धिवाला आपका शत्रु राजा भयभीत होकर अपने घर से मार्ग पर, मार्ग से घने जङ्गल में, वहाँ से भी सघन वृक्षों से आवृत्त पर्वत पर और वहाँ से भी (भागकर) गुफा में जाकर छिप गया। गुफाओं में रहते हुए भी उसने अपने शरीर के सभी अंगों को ऐसा संकुचित कर लिया मानो उसका एक अंग दूसरे अंग में प्रविष्ट होता जा रहा है, और इस प्रकार वह यह विचार करने में पूर्ण असमर्थ है कि आपके भय से वह कहाँ छिपकर सुरक्षित रह सकेगा ?'।।

परामर्श — जिस पदार्थ या व्यक्ति से भय उत्पन्न होता है, वह भयानक रस का आलम्बन होता है, और उसके द्वारा विहित कार्य—कलाप या पराक्रम ही उद्दीपन विभाव होता है। **'स्वगेहात्'** — आदि उपर्युक्त श्लोक में विजयार्थ निकला हुआ राजा आलम्बन विभाव है, और उसका पराक्रम आदि उद्दीपन विभाव है। उस राजा के पराक्रम से भयभीत होकर शत्रु का इधर—उधर छिप जाना—अनुभाव है, दैन्य, सम्भ्रम आदि व्यभिचारी भाव है। इन सभी से परिपुष्ट भय नामक स्थायीभाव भयानक रस है ।। ८० ।।

८. करुण रस —

अथेति। अब ग्रन्थकार करुण नामक आठवें रस का निरूपण करते है —

कारिकार्थ — इष्टेति। इष्ट के नाश एवं अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाले शोक नामक स्थायीभाव से परिपुष्ट 'करुण—रस' होता है। निःश्वास, उच्छ्वास, रुदित, स्तम्भ, प्रलपित आदि इस रस के अनुभाव हैं। इस (करुण) रस में स्वाप, अपस्मार,

स्वापापस्मारदैन्याधिमरणालस्यसम्भ्रमाः ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ।। ८२ ।।

इष्टस्य बन्धुप्रभृतेर्विनाशादनिष्टस्य तु बन्धनादेः प्राप्त्या शोकप्रकर्षजः — करुणः, तमन्विति तदनुभावनिःश्वासादिकथनम्, व्यभिचारिणश्च स्वापापस्मारादयः।

इष्टनाशात् करुणो यथा कुमारसंभवे —

'अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः ।
ददृशे पुरुषाकृतिः क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ।।' (कुमार० ४.३)

इत्यादि रतिप्रलापः । **अनिष्टावाप्तेः** सागरिकाया बन्धनाद् यथा रत्नावल्याम् ।

दैन्य, आधि, मरण, आलस्य, सम्भ्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद, चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं ।। ८१—८२ ।।

वृत्त्यर्थ — इष्टस्येति। इष्ट के अर्थात् बान्धव आदि के नाश से, या अनष्टि के अर्थात्, बन्धन आदि की प्राप्ति से उत्पन्न शोक का परिपोश करुण रस होता है। कारिका में प्रयुक्त 'तम् अनु' {उसके पश्चात्} इस शब्द से उसके अनुभाव निःश्वास आदि का कथन है। और निद्रा अपस्मार आदि उसके व्यभिचारीभाव निर्देशित किये गए हैं।

इष्टनाशादिति। १. इष्टनाश से उत्पन्न होने वाले **करुण रस** का उदाहरण **'कुमारसंभव'** में इस प्रकार है —

अयीति। 'हे प्राणनाथ, तुम जीवित हो ? इतना कहकर उठती हुई उस (रति) ने अपने सम्मुख भूमि पर स्थित पुरुषाकारवाली भगवान् शङ्कर के कोपरूप अग्नि से भस्मसात हुई आकृति को देखा' । इत्यादि रति के विलाप में इष्टनाश से उत्पन्न करुण रस है ।

अनिष्टेति। २. **अनिष्ट—प्राप्ति** से होने वाले करुण—रस का उदाहरण 'रत्नावली' नाटिका में सागरिका के बन्धन से उत्पन्न (सागरिका का शोक) है ।

परामर्श — करुण—रस का स्थायीभाव शोक होता है। इस रस का आलम्बन विभाव होता है— नष्ट बन्धु—बान्धव। उस नष्ट हुए व्यक्ति का दाह—संस्कार आदि उद्दीपन होता है। प्रस्तुत कुमारसंभव के उदाहरण में रति का पति (जो इष्ट है) कामदेव जो शङ्कर की कोपाग्नि से भस्म हुआ है, (करुण रस का) आलम्बन विभाव है। उसके शरीर की भस्म उद्दीपन विभाव है, रति का प्रलाप आदि अनुभाव हैं, तथा दैन्य, ग्लानि आदि सञ्चारी भाव है, इन सबसे परिपुष्ट रति का शोक ही करुण रस है ।

एको रसः करुण एव — ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार **भवभूति** ही **सर्वप्रथम कवि** हैं, जिन्होंने सब रसों में करुण को ही प्रधानरस माना है। **'उत्तररामचरित'** में अत्यन्त मार्मिक शब्दों में **भवभूति** ने **'तमसा'** — नाटक के विशेष पात्र के माध्यम से अपनी यह सम्मति उद्घोषित की है — **'एको रसः करुण एव**

निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयतेविवर्तान् । आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम् ॥' (उत्तररामचरित ३।४७)॥

"एक ही करुण–रस निमित्त भेद से विभिन्न रूपों को धारण करता है। एक ही जल कभी भँवर के रूपको, कभी बुद्बुदों तरङ्गों के रूप को धारण करता है, किन्तु वस्तुतः वह सब जल ही है।" इसे विद्वानों ने भवभूति की सैद्धान्तिक मान्यता के रूप में ग्रहण किया है। यदि यह यथार्थ है तो निश्चित ही ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार सबसे पहले **भवभूति** ने करुण–रस को प्रमुख रस के रूप में उद्घोषित कर **मुनि प्रवर्तित** नाट्य परम्परा के प्रति विद्रोह करने का प्रयास किया है – ऐसा माना जायगा । किन्तु मेरे विचार में ऐसा समझना समुचित नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण नाटकीय परिस्थिति पर गंभीरता से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह वचन केवल एक विशेष–पात्र **'तमसा'** का एक विशेष नाटकीय परिस्थिति में हृदय से निकला हुआ एक काव्यमय उद्गार मात्र है। नाटक का वातावरण उस समय नितान्त करुणामय हो गया था। सीता–राम–वासन्ती सभी के हृदय करुणार्द्र थे। उसी करुणाप्लावित परिस्थिति का **वाचिक प्रतीक** है यह श्लोक । अतः इसे भवभूति का करुण–रस विषयक सैद्धान्तिक मत के रूप में ग्रहण करना कदाचित् समुचित न होगा। यदि इसे उसी रूप में मान भी लिया जाए तो भी अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं हो पाती, क्योंकि काव्यशास्त्र में करुण रस का स्थायी–भाव तो शोक माना गया है, (और यह शास्त्र सम्मत तथ्य भवभूति जैसे उद्भट विद्वान् को विदित नहीं था, ऐसा नहीं माना जा सकता।) जिसका आधार होता है **इष्ट का नाश, इष्ट का वियोग** मात्र नहीं, और इस शास्त्र की कसोटी पर उत्तररामचरित का अंगी रस **विप्रलम्भ** सिद्ध होता है, **करुण** नहीं। यदि भवभूति को करुण–रस ही मूल–रस के रूप में मान्य होता तो उसने उत्तररामचरित को नाट्य परम्परा के अनुसार सुखान्त ही क्यों बनाया होता ? जबकि उसके काव्य का मूल आधार थी राम–कथा जो वस्तुतः करुण कथा है – **'पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः'** ।

भवभूति से पूर्व और उसके पश्चात् भी काव्य शास्त्र के किसी आचार्य ने करुण को मूल रस के रूप में नहीं माना है। **भरत मुनि** ने तो उसे प्रधान रसों में ही न मानकर रौद्र से उद्भुत गौण रस माना है और उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी उसे महाकाव्य अथवा नाटक का अंगीरस तक यह कहकर – **'एक एवं भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा । अङ्गमन्ये रसाः सर्वे** ... ... ।' – मानने से अस्वीकार कर दिया है। फिर भवभूति की इस उद्घोषणा का क्या कारण हो सकता है ? कारण कदाचित् ये हो सकते हैं – एक तो यह कि मूलतः गम्भीर और उग्रस्वभाव के भवभूति देश और काल के विषम थपेड़ों से अत्यधिक संवेदनशील हो चुके थे, अतः उनका हृदय करुण के प्रति पक्षपाती होना नितान्त स्वाभाविक था। दूसरा यह कि वेदोपनिषदादि की तरह अनेक दर्शनों का अध्ययन करने वाले भवभूति पर मानव जीवन में **सांख्य** प्रोक्त **त्रिविध दुःखों** की सत्ता का तथा **कठोपनिषद्** के **'सर्वं दुःखम्'** – **'सर्वमनित्यम्'** जैसे उपदेशों का अमिट प्रभाव होना स्वाभाविक था। उक्त बातों पर विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि देश और काल तथा जागतिक सत्य से खिन्न भवभूति ने

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः ॥ ८३ ॥

स्पष्टम् ।

जीवन में प्राचुर्य से प्राप्त करुण को केवल इष्टनाश तक ही सीमित नहीं माना—अपितु राम और सीता के ऐसे विषम वियोग को भी उसमें समाविष्ट कर लिया जिसमें पीड़ा की तीव्रता हो और मिलन की आशा भी धूमिल हो गई हो, और अन्त की अपेक्षा से हृदय में व्याप्त पीड़ा को ही अंगीरस का निर्णायक मान लिया है। इस अर्थ—विस्तार के आधार पर यही कहा जा सकता है कि भवभूति के करुण रस का स्थायी—भाव **'शोक'** न होकर **'करुणा'** है जो हृदय—द्रुति की द्योतक है । आचार्य **शङ्कुक** ने करुणा का यही अर्थ ग्रहण किया था —

'सदय—हृदयता हि करुणेति लोके प्रसिद्धा । सा लिङ्गैरनुकर्तरि शोकं प्रतीयतां सामाजिकानामिति तत्र करुणव्यपदेशः इति श्री शङ्कुकः ।'

{सदय—हृदयता लोक में 'करुणा' के नाम से प्रसिद्ध है। वह (अपने दृश्यमान रोदन, विलपन आदि) लिंगों द्वारा अनुकर्ता (नट) में स्थित —शोक का अनुभव करने वाले सामाजिकों में रहती है। इसलिए इस रस का 'करुण' — यह (सार्थक) नाम है। **यह श्री शङ्कुक का मत है।** (हिन्दी अभिनवभारती पृ० ५७९) इसी तर्क के आधार पर **आनन्द वर्धन** ने करुण रस में आर्द्रता या द्रुति की मात्रा शृङ्गार से भी अधिक मानी है। निश्चय ही इस व्यापक अर्थ में भवभूति ने करुण को मूलरस माना है। क्योंकि चित्त द्रुति अथवा संवेदना ही मूल चेतना के रूप में सभी मनोवेगों में विद्यमान रहती है। इसी व्यापक अर्थ में **सुखान्त** होने पर भी **उत्तररामचरित** का अंगीरस **'करुण'** माना जा सकता है । {क्योंकि करुण ही इसमें सर्वाधिक संवेदनात्मक रस है} (डॉ० राघवन ने **'सिम्पैथी'** के शब्दार्थ के आश्रय से करुण रस की मौलिकता की सिद्धि की है — देखिए — दी नम्बर ऑफ र० पृ० १६५) **डॉ० नगेन्द्र** — 'मेरा विचार है कि 'पैथेटिक' के आधार पर यह सिद्धि अधिक सरल एवं ग्राह्य हो जाती है।' देखिए — डॉ० नगेन्द्र का — रस सिद्धान्त, पृ० २५३—५४) ॥ ८२ ॥

अन्य भावों का, उपर्युक्त भावों में अन्तर्भाव —

कारिकार्थ — प्रीतीति। प्रीति, भक्ति आदि भावों का और शिकार खेलना आदि रसों का अन्तर्भाव हर्ष एवं उत्साह आदि में ही स्पष्टरूप से हो जाता है। अतः उनका पृथक् रूप से निरूपण नहीं किया गया है ॥ ८३ ॥

वृत्त्यर्थ — स्पष्टमिति। इस कारिका का अर्थ स्पष्ट है। (अतः वृत्ति लिखकर अर्थ स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है।) ॥ ८३ ॥

परामर्श — भरतमुनि और दण्डी के पश्चात् रूद्रट ने स्वीकृत रस संख्या में प्रेयान् नामक रस की वृद्धि कर दी है। इस रस का स्थायीभाव 'स्नेह' है। धनंजय ने प्रेयान् तथा भक्ति रसों का खण्डन किया है— उनके समय में या उनसे पूर्व एकाध

षट्त्रिंशद्भूषणादीनि सामादीन्येकविंशतिः ।
लक्ष्यसंध्यन्तराख्यानि सालङ्कारेषु तेषु च ।। ८४ ।।

'विभूषणं चाक्षरसंहतिश्च शोभाभिमानौ गुणकीर्तनं च' (ना०शा० १६.१) इत्येवमादीनि षट्त्रिंशत् (विभूषणादिनि) काव्यलक्षणानि । 'साम भेदः प्रदानं च' (ना० शा० १९.१०७) इत्येवमादीनि संध्यन्तराण्येकविंशतिरुपमादिष्वलङ्कारेषु हर्षोत्साहादिषु चान्तर्भावान्न पृथगुक्तानि ।।

।। इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके 'रसविचारो' नाम चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः ।। ४ ।।

विद्वान् ने 'मृगया' रस तथा अक्ष (द्यूत) रस का भी उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने इन सभी का निराकरण किया है (दशरू० ४।८३) ।। ८३।।

कारिकार्थ — षट्त्रिंशदिति। {इसी प्रकार नाट्य, अथवा काव्य के} छत्तीस (३६) भूषण आदि का और इक्कीस 'सन्ध्यन्तर' नामक साम आदि का भी अन्तर्भाव {उपमा आदि} अलंकारों में तथा उन {तेषु} {हर्ष एवं उत्साह आदि} भावों में ही हो जायगा ।। ८४ ।। {अतः उनका अलग से विवेचन नहीं किया गया है।}

वृत्त्यर्थ — विभूषणमिति। विभूषण, अक्षरसंहति, शोभा, अभिमान तथा गुणकीर्तन आदि {भरतमुनिप्रोक्त} छत्तीस काव्य के लक्षण बताये गए हैं; और साम, भेद एवं दान आदि इक्कीस 'सन्ध्यन्तरों' (ना० शा० १९।१०७) का उल्लेख किया गया है। उपमा आदि अलंकारों में तथा हर्ष, उत्साह आदि भावों में इन सभी का अन्तर्भाव हो जाने के कारण उनका पृथक् रूप से विवेचन नहीं किया गया है।। ८४।।

परामर्श — भरतमुनि के अनुसार {ना०शा० १६।१–४} काव्य को रस, अलङ्कार आदि से युक्त करने के साथ ही छत्तीस लक्षणों से भी विभूषित करना चाहिए। ये छत्तीस लक्षण इस प्रकार हैं— १. भूषण, २. अक्षरसंहति, ३. शोभा, ४. अभिमान, ५. गुणकीर्तन, ६. प्रोत्साहन, ७. उदाहरण, ८. निरुक्त, ९. गुणानुवाद, १०. अतिशय, ११. सहेतुः, १२. सारूप्य, १३. मिथ्याध्यवसाय, १४. सिद्धि, १५. पदोच्चय, १६. आक्रन्द, १७. मनोरथ, १८. आख्यान, १९. याच्ञा, २०. प्रतिषेध, २१. पृच्छा, २२. दृष्टान्त, २३. निर्भासन, २४. संशय, २५. आशीः, २६. प्रियोक्ति, २७. कपट, २८. क्षमा, २९. प्राप्ति, ३०. पश्चात्ताप, ३१. अर्थानुवृत्ति, ३२. उपपत्ति, ३३. युक्ति, ३४. कार्य, ३५. अनुनीति, ३६. परिदेवन । **धनञ्जय के अनुसार इनका उपमादि अलंकारों में ही अन्तर्भाव हो जायगा ।**

इसी प्रकार भरतमुनि के निर्देशानुसार { ना० शा० १९।४७–४९} काव्य को सन्धियुक्त करने के साथ–साथ साम आदि सन्ध्यन्तर से भी समन्वित करना चाहिए। ये इक्कीस सन्ध्यन्तर इस प्रकार हैं — १. साम, २. भेद, ३. प्रदान, ४. दण्ड, ५. वध, ६. प्रत्युत्पन्नमतित्व, ७. गोत्र–स्खलित, ८. साहस, ९. भय, १०. धी, ११. माया, १२. क्रोध, १३. ओज, १४. संवरण, १५. भ्रान्ति, १६. हेत्वधारण,

अथ ग्रन्थोपसंहारः —

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ॥ ८५ ॥

विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः ।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥ ८६ ॥

॥ इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरुपावलोके रसविचारो नाम
चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः ॥ ३ ॥

(हेत्वपधारण) १७. दूत, १८. लेख, १९. स्वप्न, २०. चित्र, २१. मद । इनका अन्तर्भाव हर्ष, उत्साह आदि में हो जायगा। अतः धनञ्जय ने इनका पृथक् विवेचन नहीं किया है ।

ग्रन्थोपसंहार —

कारिकार्थ — रम्यमिति। रमणीय या घृणित, उत्तम (उदार) या अधम, उग्र या प्रसन्न (आह्लादकारी) गहन या विकृत (अर्थात् किसी भी प्रकार की वस्तु क्यों न हो) कोई भी वस्तु अथवा अवस्तु (इस) संसार में ऐसी नहीं है जो कवि की भावना प्राप्त होने पर, रस तथा भाव को प्राप्त न हो सके ॥ ८५ ॥

विष्णोरिति। मुञ्जराज की पण्डित—सभा में विदग्धता {अपनी विद्वता} का प्रभाव जमाने वाले विष्णु के पुत्र, धनञ्जय ने विद्वानों के हृदयों में आनन्द का उपनिबन्धन करने के लिए इस 'दशरूपक' की रचना की है ॥ ८६ ॥

श्रीमन्महामहोपाध्यायश्रीसदाशिवशास्त्रिचरणतनूजन्मना मुसलगाँवकरोपनामकेन
श्रीकेशवशास्त्रिणा विरचितायां प्रदीपव्याख्यायां धनञ्जयकृतदशरूपकस्य
रसविचारो नाम चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः ॥ ४ ॥

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

॥ श्रीहरिः शरणम् ॥



कारिकानुक्रमणिका

उदाहृतपद्यानुक्रमणिका



12803

...म्। हर्षदेव कृत। बलदेव उपाध्याय कृत 'भावार्थदीपिका' संस्कृत-
...। संशोधित संस्करण

- **नाट्यशास्त्रम्।** भरतमुनि कृत। बाबूलाल शुक्लशास्त्री कृत 'प्रदीप' हिन्दी टीका, भूमिकादि (१-७ अध्यायात्मक) प्र० भाग, (८-१९ अध्यायात्मक) द्वितीय भाग, (२० से २७ अध्याय) तृतीय भाग (२८-३६ अध्यायत्मक) चतुर्थ भाग, १-४ भाग सम्पूर्ण
- **भासनाटकचक्रम।** (महाकवि भास के संपूर्णनाटकों का संकलन)। 'गंगा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्यायुक्त। १-२ भाग संपूर्ण डॉ. गंगा सागर राय
- **मुद्राराक्षस-नाटकम्।** विशाखदत्त कृत। 'कला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम्। डॉ. गंगासागर राय
- **मृच्छकटिकम्।** महाकविशूद्रक कृत। 'गंगा' संस्कृत हिन्दी व्याख्योपेतम्। डॉ. गंगासागर राय
- **रत्नावली नाटिका।** श्री हर्षदेव विरचित। किरणावली संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेतम। पं. राजेश्वरशास्त्री-मुसलगांवकर
- **ललितमाधवनाटकम्।** रूपगोस्वामी कृत। नारायण प्रणीत टीका। बाबूलाल शुक्ल कृत भूमिका समालोचनात्मक टिप्पणी आदि। रसिका विहारी जोशी कृत प्रस्तावना।
- **वेणीसंहारनाटकम्।** भट्टनारायण कृत। 'गंगा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम्। डॉ. गङ्गासागर राय
- **स्वप्नवासवदत्तम्।** महाकवि भास प्रणीतम्। 'गंगा' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेतम् डॉ. गंगासागर राय

प्रधान कार्यालय :

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

पो० बा० नं. ११३९

के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी - २२१ ००१

शाखा :

चौखम्भा पब्लिकेशन्स

४२६२/३ अंसारी रोड, दरियागंज

नई दिल्ली- ११०००२